आनन्दरूपममृतं यद्विभाति

वर्ष २३ : अंक १; अप्रैल, १९८३ ई०

●●●

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय
पं० रामदयाल पाण्डेय
डॉ० कुमार विमल

●

सम्पादक

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

●

समाचारपत्र-निबन्धन-अधिनियम के अन्तर्गत विज्ञप्ति

प्रपत्र-सं० ४ (नियम ८ द्रष्टव्य)

१. **प्रकाशन-स्थान** : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

२. **प्रकाशनावधि** : त्रैमासिक

३. **मुद्रक का नाम** : श्रीकृष्णचन्द्र बिश्नोई; **राष्ट्रीयता** : भारतीय
पता : रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, लगरटोली, पटना-८००००४

४. **प्रकाशक का नाम** : पं० रामदयाल पाण्डेय; **राष्ट्रीयता** : भारतीय
पता : उपाध्यक्ष-सह-निदेशक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

५ **सम्पादक का नाम** : डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव; **राष्ट्रीयता** : भारतीय
पता : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

६. **स्वत्वाधिकारी** : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, बिहार-सरकार, पटना-८००००४

मैं **रामदयाल पाण्डेय** घोषित करता हूँ कि उपरिमुद्रित विज्ञप्ति मेरी जानकारी के अनुसार यथार्थ है ।

(ह०) रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

'परिषद्-पत्रिका'-नियमावली

'परिषद्-पत्रिका' मे केवल उच्च कोटि के गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धो, परिषद्-प्रकाशनो के समीक्षात्मक निबन्धो, सम्पादकीय टिप्पणियो, अन्य प्रकाशनो की समीक्षाओ, परिषद् के शोधकार्यो की प्रगति, 'परिषद्-पत्रिका' अथवा अन्य पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित निबन्धो के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय, साहित्यिक गतिविधियो आदि का प्रकाशन हुआ करेगा । 'परिषद्-पत्रिका' मे कविता, कहानी नाटक आदि का प्रकाशन नही होगा । परिषद्-प्रकाशनो के विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य प्रकाशन-संस्थाओ के विज्ञापन भी पत्रिका मे प्रकाशित होंगे ।

गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबन्धो पर ही यथानिर्दिष्ट दर से अधिकतम ५०.०० रु० तक ही साम्मानिक दिया जा सकेगा . निबन्ध के मुद्रित प्रथम तीन पृष्ठो के लिए १०.०० रु० प्रतिपृष्ठ और शेष मुद्रित पृष्ठो के लिए ५ ०० रु० प्रतिपृष्ठ की दर से साम्मानिक दिया जायगा । परन्तु, निदेशक को यह अधिकार होगा कि लेखक-विशेष की कृति और व्यक्तित्व को दृष्टि मे रखकर कम पृष्ठ रहने पर भी ५० ०० रु० तक साम्मानिक दे सकेंगे ।

सभी तरह की रचनाएँ स्वत॰ पूर्ण एव उत्तम कोटि की होने पर ही स्वीकृत हो सकेगी । निबन्धो के सम्पादन मे काट-छाँट, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि का अधिकार सम्पादक के अधीन सुरक्षित रहेगा ।

उपाध्यक्ष-सह-निदेशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

परिषद्-पत्रिका

[शोध-त्रैमासिक]

[८६]

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय : पं० रामदयाल पाण्डेय

डॉ० कुमार विमल

●

सम्पादक

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

●

विषय-प्रस्तुति

'परिषद्-पत्रिका' मे प्रकाशित निबन्धों में प्रतिपादित विचारों और तथ्यो का उत्तरदायित्व निबन्ध-लेखकों का है, सम्पादक का नही ।—सं०

// परिषद्-पत्रिका
[शोध-त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ॥—भारतेन्दु

वर्ष : २३ } चैत्र, विक्रमाब्द २०४०; शकाब्द १९०५; अप्रैल, १९८३ ई० { वार्षिक : २५·००
अंक : १ } { एक प्रति : ७·००

अतीत-दर्शन

ग्रीक-पत्रसाहित्य के प्रारम्भिक लेखक

"ग्रीक-भाषा में पत्र-साहित्य का प्रारम्भिक विकास-काल ईसा के लगभग छ. शताब्दी पूर्व हुआ था। इन छ· शताब्दियों मे ग्रीक में एक से एक नामी गणितज्ञ, ज्योतिषी, दार्शनिक, विद्वान्, लेखक और वक्ता हुए। प्रायः इन सबो ने कुछ न कुछ पत्र-साहित्य के विकास मे योग दिया।... पत्र-साहित्य का सबसे पहला ग्रीक-लेखक फेलेरीज़ (Phalaris) था। इसका जन्म ईसा के ५७० वर्ष पूर्व हुआ था।... फेलेरीज़ के पत्र आकर्षक, पठनीय तथा उपयोगी हैं। यह सिसिली (Sicily) प्रान्त का रहनेवाला था और उसके पत्र उस समय की सामाजिक एव राजनीतिक स्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश डालते है। फेलेरीज के पश्चात् दूसरा प्रसिद्ध पत्र-लेखक हेलैनिकस (Hellanicus) था। यह ईसा के पूर्व पाँचवी शताब्दी मे हुआ था। यह अपने समय का अत्यन्त प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियों का लेखक था। यह उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् और ऐतिहासिक कहानी-लेखक हेरोडोटस (Herodotus) का समकालीन था और ये दोनो ही अपनी कला में सिद्ध-हस्त थे। . हेलैनिकस और हेरोडोटस दोनों ही आयोनिक भाषा के लेखक थे। इनमें कुछ पुस्तकें पत्रों के रूप में थी।"

△ मासिक 'चाँद' (इलाहाबाद), पत्रांक मई, १९२८ ई०; वर्ष ६ : खण्ड २

△ पं० नन्दकिशोर तिवारी
(सम्पादकीय विचारधारा से)

प्रकीर्ण सामग्री का शोध-महत्त्व

किसी भी सामग्री को हेय न मानकर बराबर उपादेय समझने और उसे यत्नपूर्वक सँजोने की वृत्ति शोधकर्त्ताओ की अपनी उल्लेखनीय विशिष्टता होती है। इसीलिए, संग्रह की प्रवृत्ति ही उनकी मूल वृत्ति होती है। वर्त्तमान स्थिति मे जो सामग्री निर्मूल्य प्रतीत होती है, वही कालान्तर मे शोध की दृष्टि से मूल्यवान् हो उठती है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है, शोध के क्रम मे प्राप्त साधारण-सी प्रकीर्ण सामग्री भी असाधारण प्रतीत होती है। यहाँतक कि चिट्ठियो के लिफाफों या पैकेटों के आवरण भी शोध-संग्रह की दृष्टि से बहुमूल्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के सग्रहो मे लिफाफो या आवरणो पर लिखे प्रेषक-प्रेषितियो के नाम-पतो के अतिरिक्त, उस समय प्रयुक्त होनेवाले कागज और डाक-टिकटों के प्रकारों की परम्परा का विकासात्मक इतिहास तो सुरक्षित रहता ही है, लिफाफों और आवरणो से, भेजने और पानेवाले सम्बद्ध सस्थानो और व्यक्तियो की तत्कालीन सामाजिक-साहित्यिक स्थितियो और चेतनाओ का भी ऐतिहासिक सन्धान मिलता है। यही कारण है कि आचार्य शिवपूजन सहाय या उनके जैसे समधर्मी अन्यान्य साहित्यकार प्राप्त पत्रो और पैकेटों के लिफाफो और आवरणो को सावधानी से सुरक्षित रखने के पक्षपाती रहे है। क्योकि, उनकी शोधमूलक यह सहज अवधारणा थी कि साहित्यिक पत्रो का जितना महत्त्व है, उतना ही मूल्य लिफाफो और आवरणो का भी है। तभी तो, विभिन्न पत्र-सग्रहों या पत्र-साहित्य पर आधृत पुस्तको मे या फिर स्मृति-ग्रन्थो और स्मारिकाओं मे जहाँ सम्बद्ध साहित्यसेवियो के पत्रो की अण्वादर्श या यथादर्श-प्रतियो को मुद्रित कराया जाता है, वही लिफाफो और आवरणो की भी उक्तविध प्रतियों के मुद्रण को मूल्य दिया जाता है।

इसी प्रकार, सामान्यत: मूल्यहीन समझे जानेवाले फटे-पुराने पुरजे-पन्ने भी शोध की दृष्टि से महत्त्व रखते है, क्योकि उनमे भी अनेक ऐसे तथ्यपूर्ण विचार या सूक्तियाँ अंकित रहती है, जो शोध के क्रम मे शोधकर्त्ताओ के लिए दिशानिर्देशक प्रमाणित होती है। आचार्य शिवजी तो अपने घर के दैनिक आय-व्यय को भी ईमानदारी के साथ विधिवत् नियमित रूप से वहियो में टाँकते थे। आज यदि विभिन्न साहित्यकारो की उस प्रकार की वहियाँ सुलभ हो, तो उनसे तत्कालीन क्रेय वस्तुओ की मूल्य-दर या बाजार-भाव आदि की सही जानकारी प्राप्त हो सकती है और कृषि-वाणिज्य, समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र विषयो के शोधकर्त्ताओ के लिए तुलनात्मक अध्ययन की प्रामाणिक सामग्री भी उपलब्ध की जा

सकती है, साथ ही तद्‌युगीन आय-व्ययकर्त्ताओं की अर्थव्यवस्था-विषयक मानसिकता और उनकी आर्थिक स्थिति का सन्धान भी सहज सम्भव है।

इसी प्रकार, काशी के प्रसिद्ध हिन्दीसेवी **श्रीबैजनाथ केडियाजी** को साहित्यकारों के हस्ताक्षरों और उनके पतों के संग्रह का व्यसन था। उन्होंने सैकड़ो साहित्यकारों के स्वाक्षर और पते संकलित किये थे। निश्चय ही, **श्रीकेडियाजी** का यह कार्य तात्त्विक शोधकार्य के अन्तर्गत परिगणित होता है। सचमुच, उक्त संग्रह साहित्यसेवियों के इतिहासकारों के लिए अतिशय उपयोगी उपजीव्य सिद्ध हो सकता है।

कुछ लोगों को साहित्यिकों द्वारा व्यवहृत वस्तुओं को संगृहीत-सुरक्षित रखने का भी व्यसन होता है। इस तरह की व्यापक संग्रह-वृत्ति पाश्चात्त्य चेतना में अत्यधिक उद्‌ग्रीव है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य और कला की जो विभिन्न प्राचीन वस्तुएँ भारत में उपलब्ध नहीं होतीं, वे भारतीयेतर देशों के कला-संग्रहालयों में सुरक्षित मिलती है।

आचार्य शिवजी कहा करते थे कि शोध की दृष्टि से एक-एक चिट-पुरजे का मूल्य होता है। अपने समय की मूल्यहीन पत्र-पत्रिकाएँ कालान्तर में ततोऽधिक मूल्यवान् हो जाती है। **आचार्य शिवजी** को विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों के संकलन के प्रति अतिशय आग्रह रहता था। फोर्ट विलियम कॉलेज के समय से आधुनिक काल तक की हिन्दी-पाठ्यपुस्तकों का संकलन यदि किया जाय, तो वह शैक्षिक विधि के विकास के शोध की दिशा में अवश्य ही बहुमूल्य साधन सिद्ध हो।

खेद है कि आज प्रबुद्ध भारतीय जनमानस से शोध-संग्रहवृत्ति की सारस्वत भावना सर्वथा लुप्त होती जा रही है। इससे भारत के अतीत इतिहास के बहुमूल्य पृष्ठ नष्ट होते जा रहे हैं। आधुनिक काल में भारतीयों की आवासीय व्यवस्था भी इस प्रकार लघु से लघुतर होती जा रही है कि उनके लिए जनावास के अतिरिक्त, कूड़ा-करकट या कबाड़खाना समझी जानेवाली वस्तुओं के संग्रह की गुंजाइश ही कहाँ रह गई है? शोध-संस्थानों में भी संग्रह की अभिरुचि का प्राय. अभाव हो गया है। यहाँतक कि पूर्वसुरक्षित सामग्री के रख-रखाव की समस्या भी दुर्वह हो गई है।

इस प्रकार, नये संग्रह की बात तो दूर, पुराने संग्रह की सुरक्षा भी सन्दिग्ध हो उठी है। आधुनिक युग नीतिकारों की '**सञ्चयो नावसीदति**' उक्ति के अवमूल्यन का युग हो गया है। विश्वविद्यालयों में भी शोध को जितना बढ़ावा दिया जा रहा है, उतना संग्रह-कार्य को नहीं। फलत, आज का शोध स्तरीय और तात्त्विक न होकर, आर्थिक लाभ की दृष्टि से नियुक्ति और प्रोन्नति के लिए औपचारिकता के निर्वाह का माध्यम-मात्र बन गया है!

△ **सूरिदेव**

०

'गीता-प्रवचन'-स्मरणिका : आदर्श स्मारिका-साहित्य

गीता के व्याख्यारो की सुदीर्घ परम्परा मे पुण्यश्लोक **आचार्य सन्त विनोबा भावे** का विशिष्ट स्थान है। उनका 'गीता-प्रवचन' कालजयी ग्रन्थ है, क्योंकि उसमे उन्होने गीता के निगूढ तत्त्वो का प्रवचन जनजीवन को राष्ट्रीय भावना या जनतान्त्रिक विचार-धारा से जोड़ने के उद्देश्य से किया है, इसलिए वह प्रवचन स्वभावत. सर्वजनोपयोगी और बोधगम्य है। परमार्थ का सकल जन के उपयुक्त सुलभ विवेचन होने के कारण वह 'गीता-प्रवचन' न केवल राष्ट्रीय, अपितु अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर जन-जन का कण्ठहार बन गया है।

कर्मवाद की व्यावहारिक व्याख्या की अद्वितीयता की दृष्टि से 'गीता-प्रवचन' भारतीय मनीषा का सारभूत ग्रन्थ है। 'गीता' जैसे गहन दार्शनिक विषय की विशुद्ध जनोपयोगी साहित्यिक परिवेश मे अवतारणा **विनोबाजी** जैसे ऋजुप्राज्ञ तथा सरस्वती के वश्यवाक् वरद पुत्र के ही वश की बात है। हिन्दी के अतिरिक्त, अन्यान्य भारतीय तथा भारतीयेतर भाषाओं मे 'गीता-प्रवचन' के रूपान्तरो तथा उनके सस्करण-बाहुल्य से उस महार्घ ग्रन्थ की व्यापक लोकप्रियता स्वतः स्पष्ट है।

'गीता-प्रवचन' ग्रन्थ के ५१वे जन्मदिवस के मंगलमय पर्व के अवसर पर 'गीता-प्रवचन-सुवर्ण-महोत्सव-समिति', आश्रम पवनार, जिला वर्धा (महाराष्ट्र) की ओर से 'गीता-प्रवचन-सुवर्ण-महोत्सव-स्मरणिका (सन् १९३२–१९८२ ई०)' के प्रकाशन द्वारा समिति के प्रज्ञावान् सदस्यो ने अपनी कालिक चेतना का अनुकरणीय सारस्वत परिचय उपन्यस्त किया है। इस स्मरणिका मे यथाप्रस्तुत सामग्री को चार प्रकरणो में विनियुक्त किया गया है १. प्रभा, २. प्रणिपातेन, ३. परिप्रश्नेन तथा ४ सेवया। और फिर, अन्त में, परिशिष्ट खण्ड भी समाविष्ट है। इन प्रकरणो मे, विनोबाजी के मूलमन्त्र 'रामहरि' से अंकित उपान्त(बॉर्डर)वाले पृष्ठो पर, अँगरेजी और हिन्दी मे निबद्ध जितनी भी रचनाएँ मुद्रित है, सब-की-सब आधिकारिक लेखनियो द्वारा प्रसूत हैं और उनमें 'गीता-प्रवचन' तथा उसके स्रष्टा **सन्त विनोबा भावे** के सत्य, प्रेम और करुणा की त्रिपुटी पर आधृत वैचारिकता से सातिशय वरेण्य व्यक्तित्व एवं भौतिकी से आध्यात्मिकी की ओर उत्प्रेरित करनेवाले उनके सर्वधर्मसमन्वयवादी या सर्वोदयी जीवन-दर्शन का, विशाल फलक पर, श्लाघनीय मूल्यांकन अक्षरबद्ध किया गया है। और फिर, यथावकाश 'टेलपीस' के रूप में विन्यस्त **आचार्य विनोबा** की अमरवाणियाँ मधुर पायस मे सरस किशमिश का आस्वाद उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार, यह स्मरणिका भारतीय धर्म-दर्शन की विवेचना-विभूति का अमूल्य महाकोष बन गई है।

श्रीमहिला गृह-उद्योग लिज्जत पापड़ के 'प्रिण्टिंग डिवीजन' द्वारा मुद्रित, कुल तीस रुपये मे प्राप्य, डबल क्राउन १।४ साइज के दो सौ अट्ठाईस पृष्ठो की यह सचित्र स्मरणिका उच्चतम मुद्रण-कला के आवर्जक सौन्दर्य-प्रतिमान को प्रतीकित-प्रतिबिम्बित करती है। निस्सन्देह, शोध-संग्राहकों एवं अध्ययन-अध्यापन से सम्बद्ध प्रबुद्ध व्यक्तियो तथा शैक्षिक

प्रतिष्ठानों के लिए अनिवार्यतः संग्रहणीय यह स्मरणिका हिन्दी के स्मारिका-साहित्य के लिए अभिनन्दनीय आदर्श तो है ही, **सन्त विनोबाजी** के भागवत संस्कार से मण्डित विराट् वन्दनीय व्यक्तित्व का भव्यतम प्रतिरूप भी है।

सम्पादन-कला की विचक्षणता से विभूषित इस क्रोशशिलात्मक स्मरणिका के प्रशंसनीय प्रस्तवन के लिए सम्पादक-मण्डल के प्रज्ञापूत सदस्य—सर्वश्री **दत्तोबा दास्ताने, कान्तिशाह, प्रवीणा देसाई** एवं कार्यकारी सम्पादक **श्रीअशोक चौधरी** तथा मनस्वी प्रकाशक **श्रीरामभाऊ म्हसकर** निश्चय ही हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

△ **सूरिदेव**

o

राजर्षि टण्डन-जन्मशती-स्मारिका : अनुत्तर स्मृति-साहित्य

उपरिचर्चित स्मारिका की भाँति ही अतिशय मूल्यवान्, हिन्दी के विनोबाकल्प शलाकापुरुष **राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डनजी** की स्मृति मे प्रकाशित 'राजर्षि टण्डन-जन्मशती-स्मारिका : सन् १९८२ ई०' हिन्दी-स्मारिकाओ की परम्परा मे अपना ततोऽधिक विशिष्ट महत्त्व रखती है। **राजर्षि टण्डनजी** और हिन्दी मे परस्पर व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध था। वह हिन्दी के प्रतिकल्प थे और हिन्दी उनका अनुकल्प। उन्होने अपने हिन्दीव्रत जीवन मे राजनीति को राजनीति के लिए नही, अपितु हिन्दी के लिए अगीकृत किया था। मूलत, उनका सम्पूर्ण जीवन हिन्दी के लिए ही अर्पित था। वह हिन्दी के सस्थाकल्प उन्नायक थे। उनका सस्थाकल्प व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के स्थापत्य-प्रतीक मे प्राण-स्पन्दन बनकर समाहित हो गया है। इसलिए, सम्मेलन ने उनकी स्मृति मे स्मारिका ('स्मृति-ग्रन्थ' नाम ही, राजर्षिजी के व्यक्तित्व की विशालता की दृष्टि से, उपयुक्त होता) का प्रकाशन करके उनके सातिशय वन्दनीय लोकातिगामी व्यक्तित्व की सारस्वत अर्चा का अनुकरणीय उदाहरण उपस्थापित किया है।

पाँच सौ से भी अधिक पृष्ठोवाली इस स्मारिका मे यथाकलित सामग्री को तीन प्रकरणो मे उपन्यस्त किया गया है : १. काव्यांजलि, २. संस्मरणाजलि और ३. विविधा। इन प्रकरण-शीर्षको से स्पष्ट है कि प्रथम प्रकरण मे हिन्दी के कवियो की ओर से राजर्षिजी की काव्यार्चा की गई है, तो द्वितीय प्रकरण मे समकालीन एवं परवर्त्ती साहित्यिको द्वारा प्रस्तुत उनके तपोमय व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व की आदर्श सारस्वत स्मृतियाँ परिगुम्फित है और तृतीय प्रकरण मे उनके जीवन के विभिन्न प्रेरक और महत्त्वपूर्ण पक्षो पर चर्चा करके आधिकारिक लेखनियो ने अपने को पवित्र और कृतार्थ किया है। कुल मिलाकर, यह स्मारिका अन्तरग और बहिरंग आकल्पन की दृष्टि से राजर्षिजी की तपोदीप्त विराट् आत्मिक चेतना की अक्षरकल्प उद्भाविका बन गई है।

सम्मेलन के मनीषी प्रधान मन्त्री **श्रीप्रभात शास्त्री** तथा विद्वान् साहित्य-मन्त्री **डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल** द्वारा सम्पादित एवं राजर्षिजी के विविध अप्राप्य चित्रो तथा

बहुमूल्य प्रेरणाप्रद पत्रो की अण्वादर्श-प्रतियों से सुसज्जित यह अनुत्तर स्मारिका सम्पादन-कौशल, सुव्यवस्थित सामग्री-सज्जा एव शुचि-रुचिर कलात्मक मुद्रण के श्रेष्ठ प्रतिमान का प्रतीक तो है ही, विषय के आकलन और विनियोग की दृष्टि से भी इसकी द्वितीयता नही है। हिन्दी के शोध-सन्दर्भपरक स्मारिका-साहित्य के लिए दिव्य अवदान-स्वरूप यह साहित्यिक आकलन स्वाध्यायप्रेमी हिन्दीज्ञों के लिए अवश्यम्पठनीय तथा शोध-पाठागारो के लिए अनिवार्यत सग्रहणीय है।

△ सूरिदेव

o

'हिन्दी का पत्र-साहित्य' : पत्र-साहित्य की वरेण्य कृति

हिन्दी का पत्र-साहित्य अतिशय समृद्ध है, इसमे सन्देह नही। किन्तु, उसके शोध और प्रकाशन मे अपेक्षित श्रम एव अभिरुचि की कमी के कारण उसका अभाव परिलक्षित होता है। किन्तु, वर्त्तमान अवधि मे पत्र-साहित्य के शोध और प्रकाशन की ओर लेखको और प्रकाशको की आग्रहशीलता बढी है, फलत: तद्विषयक कतिपय ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सामने आई है, जिनसे पत्र-साहित्य की समृद्धि के विकास मे ततोऽधिक योगदान हुआ है। उसी सन्दर्भ मे जामनगर (गुजरात) के शोधश्रमी लेखक डॉ० **कमल पुंजाणी** द्वारा लिखित 'हिन्दी का पत्र-साहित्य' नामक शोधकृति का उल्लेखनीय महत्त्व है।

डॉ० पुंजाणी की यह कृति मूलत महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध की पुस्तकाकार प्रस्तुति है। इसमें यथास्वीकृत विषय को छह अध्यायो मे उपस्थापित किया गया है : १ पत्र-साहित्य . सैद्धान्तिक विवेचन, २. पत्र-साहित्य की पृष्ठभूमि तथा हिन्दी मे उसका विकास; ३. हिन्दी के प्रमुख पत्रलेखक, उनका पत्र-साहित्य और पत्रो मे प्रतिबिम्बित उनका व्यक्तित्व, ४. हिन्दी-पत्रसाहित्य मे समसामयिक-सन्दर्भ, ५ हिन्दी-पत्रसाहित्य मे शिल्प और शैली तथा ६ उपसहार। और फिर, परिशिष्ट मे विशदता से विवृत ग्रन्थानुक्रमणी तथा अन्य सहायक सामग्री के समावेश से प्रस्तुत ग्रन्थ की शोधोपादेयता मे स्वभावत: कीर्त्तनीय वृद्धि हुई है। इस प्रकार, पत्र-साहित्य के आधिकारिक अध्ययन-अनुशीलन की उपन्यासिका इस कृति मे कृतधी लेखक ने हिन्दी के पत्र-साहित्य की तात्त्विक विशेषताओ को विस्तृत फलक पर उपस्थापित करने का श्लाघ्यतम प्रयास किया है।

इस महार्घ कृति की प्रयोजनीयता इस बात के लिए रेखाकन के योग्य है कि इसमे पत्र-साहित्य के माध्यम से हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक सन्दर्भो का दिग्दर्शन सुलभ कराया गया है। पत्रों के द्वारा पत्रलेखको के व्यापक व्यक्तित्व और उनकी रचना-प्रक्रिया की मानसिकता एव तत्सामयिक पर्यावरण की जो रूपरेखा उभरकर सामने आती है, उसका रोचक और आवर्जक वर्णन करने मे अधीती लेखक ने न केवल रचना-नैपुण्य का प्रदर्शन किया है, अपितु उसने अपनी भाषिक पटुता का भी पुष्ट परिचय दिया है। पत्र-साहित्य के विशाल ससार को समेकित दृष्टि से पर्याप्त वाक्सयम के साथ उपस्थापित करने में

लेखक ने जिस धैर्यंयोग और भावविनियोग से काम लिया है, वह उसके विषयाभिनिवेश की अन्तरगता और हिन्दी के विभिन्न कूटस्थ पत्रलेखकों के पत्रांशो के उद्धरणपूर्वक, तद्विषयक अपने मन्तव्यो की सटीक अभिव्यक्ति की पुंगवता का प्रायोदुर्लभ प्रमाण है। लेखक द्वारा स्थापित उसकी अपनी अपेक्षित मान्यता का ख्यातव्य निष्कर्ष यह है कि पत्र-साहित्य मे साहित्य की शिल्प और शैलीगत विभिन्न विधाओ का समाहार रहता है और वह प्राय. जीवन की समग्रता से संवलित एवं पत्रलेखक के व्यक्तित्व की विशिष्टता से विमण्डित एक नये साहित्य का पुन सर्जन हुआ करता है, इसलिए इतर साहित्य से पत्र-साहित्य का आस्वाद कुछ और ही आनन्द का उद्भावक होता है। लेखक की इस धारणा से भी पाठकों की सहज सहमति होगी कि पत्रो का आकलन और उनका वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन-प्रकाशन हिन्दी-साहित्य के अध्ययन मे प्रामाणिकता का संचार करेगा तथा उनसे साहित्य-जगत् के अनेक अज्ञात तथ्यो का उद्घाटन होगा।

कृष्णा ब्रदर्स, महात्मा गान्धी मार्ग, अजमेर : ३०५००१ से प्रकाशित तथा इक्यासी रुपये मे प्राप्य ३८० पृष्ठो की यह प्रशस्य कृति, निश्चय ही, पत्र-साहित्य के शोध-अध्येताओ के लिए नई दिशा की निर्देशिका प्रमाणित होगी। △ सूरिदेव

o

उल्लेखनीय विशेषांक : 'लोक-साहित्य'

हिन्दी मे लोक-साहित्य का विपुल अध्ययन हुआ है, फिर भी उसका विषय इतना अशेप है कि उसपर अभी बहुत कुछ लिखने को शेष है। वस्तुत., लोकजीवन का अस्तित्व जबतक रहेगा, तबतक उसकी नई-नई व्याख्याओ के रूप मे लोक-साहित्य की अनन्त सृष्टि होती रहेगी। इसी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य मे, मेरठ-विश्वविद्यालय की 'हिन्दी-परिषद्' एवं 'कुरु-लोकसस्थान' के संयुक्त प्रयास से, प्रज्ञावान् लोकसाहित्यानुरागी पुण्यश्लोक **डॉ० कृष्णचन्द्र शर्मा 'चन्द्र'** की स्मृति मे प्रकाशित, उक्त परिषद् की शोध-पत्रिका के 'लोक-साहित्य'-विशेषाक का उल्लेखनीय महत्त्व है।

इस महनीय विशेषांक मे लोक-साहित्य के अधिकारी एवं अधीती लेखको द्वारा लिखित कुल बयालीस रचनाएँ आकलित है, जिनमे लोक-साहित्य के स्वरूप-निरूपण के साथ-साथ उसके विभिन्न पक्षों—जैसे जनपदीय साहित्य, नगरो का लोक-साहित्य, लोकतात्त्विक शोध, भाषा और भाषाविज्ञान, मिथकीय चेतना के आयाम, प्रतीक एव बिम्ब, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, लोकछन्द, लोकधुन, लोकगीत, लोकोक्ति, लोकनाट्य-परम्परा, ऋतुगीत आदि के अतिरिक्त तेलुगु तथा रूसी लोक-साहित्य पर भी सागोपांग रूप से शास्त्रगर्भ एव प्रामाणिक प्रकाश-निक्षेप किया गया है। इस प्रकार, इस विशेषाक के स्वीकृत विवेच्य विषय का फलक बहुव्यापक है, अतएव यह लोक-साहित्य के शोध-अध्ययन की दिशा मे विशिष्ट क्रोशशिला का संस्थापक बन गया है।

यथाविनिवेशित सामग्री मे लोक-साहित्य के सम्बन्ध मे सैद्धान्तिक या पारिभाषिक निष्कर्ष के प्रतिपादक तथ्यो का प्रचुर विनियोग तो हुआ ही है, किन्तु कुछ सामग्री ऐसी

भी है, जो शोध के व्यावहारिक और तात्त्विक आयामों को सकेतित करती है। इस सन्दर्भ में 'लोकतात्त्विक शोध मे समानान्तरवाद और प्रसारवाद की अवधारणा का उपयोग' (कुलदीप सिंह मन्हास), 'लोक-साहित्य पर सम्पन्न शोधकार्य' (**गिरिराजशरण अग्रवाल**), 'कुमाउँनी लोकगाथा के पारम्परिक गायक' (**प्रयाग जोशी**), 'कुरु-जनपद की स्वाँग-परम्परा' (**वेदप्रकाश गर्ग**), 'मेरठ जिले की स्वाँग-परम्परा' (**नारायणस्वरूप शर्मा**) आदि रचनाएँ द्रष्टव्य है। इसी क्रम मे यदि प्राचीन और अर्वाचीन लोकगायको के परिचयात्मक साहित्यिक इतिहास की सामग्री का समावेश होता, तो विशेषांक की उपयोगिता में ततोऽधिक वृद्धि होती।

साहित्य-सर्जना के लिए सतत सचेष्ट कर्मचेता प्राध्यापक **डॉ० सुरेशचन्द्र त्यागी** (हिन्दी-विभागाध्यक्ष, एम्० एस्० कॉलेज, सहारनपुर) तथा उनके मनस्वी सहयोगी **डॉ० कृष्णचन्द्र गुप्त** एवं **डॉ० कमल सिंह** (हिन्दी-विभाग, एस्० डी० कॉलेज,मुजफ्फरनगर) की सम्पादन-मनीषा से दीप्त, साथ ही स्वच्छ-निर्दोष मुद्रण तथा सनातन धर्म कॉलेज, मुजफ्फरनगर के चित्रकला-विभाग के **श्रीसुबोध मिश्र**-कृत रमणीय आवरण-आकल्पन से मण्डित इस विशेषांक (मूल्य : चालीस रुपये; पृ० सं० २९४) का प्रस्तुतीकरण ततोऽधिक श्लाघ्य तो है ही, रचनात्मक साहित्य-सेवा के प्रति प्रायः तन्द्रिल बने रहनेवाले आधुनिक विश्वविद्यालय-जगत् के लिए नेत्रोन्मीलक अनुकरणीय आदर्श भी है।

△ **सूरिदेव**

o

'कल्याण' का अविस्मरणीय विशषांक : 'चरित्र-निर्माणांक'

गीता प्रेस, गोरखपुर के यशोभूयिष्ठ मासिक 'कल्याण' के विशेषांकों की परम्परा का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके वर्त्तमान ५७वे वर्ष (सन् १९८३ ई०) का विशेषांक 'चरित्र-निर्माणाक' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जो साम्प्रतिक चारित्रिक ह्रास के युग के लिए सन्मार्ग-निर्देश की दृष्टि से अतिशय उपयोगी है। इस विशेषांक की मूल सज्ञापना है. '**वृत्तं यत्नेन सरक्षेत्।**' अर्थात्, चरित्र की रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिए। चारित्रिक च्युति के कारण ही आज का मानव-जीवन विनाशोन्मुख होता जा रहा है। भोगलिप्सा और तज्जनित अनुशासनहीनता के कारण 'स्व' के लिए 'पर' की हिंसा आज सामान्य वात हो गई है। प्रस्तुत विशेषाक उक्त हिंसामूलक दृष्टि से मुक्त राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान की प्रेरणा देनेवाली वहुमूल्य सामग्री का विशाल कोष है। चरित्र-निर्माण के प्रति सतत जागरूक सन्त-महात्माओ, धर्माचार्यो, धर्मचिन्तको और युगचेता मनीषी लेखको द्वारा वहुकोणीय दृष्टि से लिखी गई चिन्तनप्रधान रचनाओ से संवलित इस विशेषाक के प्रकाशन से हिन्दी मे चरित्रनिर्माणोपयोगी साहित्य की विविधता समेकित रूप मे सुलभ हो गई है। युगानुरूप साहित्य-परिवेषण करने के कारण यह विशेषांक युगप्रहरी के रूप मे अविस्मरणीय बना रहेगा।

[शेष पृ० १७४ पर

अरब-संस्कृति को संस्कृत-वाङ्मय की देन

△ डॉ० उपेन्द्र ठाकुर

प्राचीन काल से ही अरब के देशों का भारत के साथ गहरा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। प्रारम्भ में यह सम्बन्ध व्यापार के माध्यम से हुआ था, किन्तु साम्राज्य स्थापित करने के बाद मुसलमान-शासक भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा कला मे पर्याप्त अभिरुचि लेने लगे। प्राचीन काल से ही बगदाद इसलामी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहाँ के विद्वान् भारतीय दर्शन एवं कला मे अत्यधिक रुचि दिखलाते थे। एक ओर जहाँ अरब के विद्वान् भारतीय संस्कृति को अधिक-से-अधिक समझने का प्रयास कर रहे थे, वहीं दुर्भाग्य-वश भारतीय विद्वान् उनके प्रति प्राय. उदासीन-से थे। वस्स, केजाहिज, अलबेरूनी, सुलेमान, अमीर खुसरो आदि मुसलमान विद्वानो ने हिन्दी, संस्कृत, दर्शन, ज्यौतिष, कला आदि विषयों के सम्बन्ध मे यत्र-तत्र चर्चा की है। 'पचतन्त्र', पातंजल महाभाष्य, सांख्य-दर्शन, ब्रह्मगुप्त-कृत 'ब्रह्मसिद्धान्त' आदि अनेक सस्कृत-ग्रन्थों का फारसी तथा अरबी में अनुवाद किया गया था। मुगलों के समय इस क्षेत्र में और भी प्रगति हुई। अकबर के दरबार में अनेक संस्कृत-पण्डितों को संरक्षण प्राप्त था और उस समय कई संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए थे।[1]

[१]

प्राक्-इसलाम अरब, विशेषकर दक्षिणी अरब के लोग जहाँ एक ओर उत्कृष्ट व्यापारी होते थे, वहीं दूसरी ओर अति साहसिक यात्री भी, जो एक प्रकार से पाश्चात्य और प्राच्य देशों के बीच 'व्यापारिक मध्यस्थ' की भाँति काम करते थे। भारत के पश्चिमी तट, चीन, श्रीलंका तथा हिन्दचीन ने बाद की अरब-सस्कृति को समृद्ध बनाने मे प्रशंसनीय भूमिका का निर्वाह किया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है, प्राचीन चीनी-ग्रन्थों में इस बात की यत्र-तत्र चर्चा की गई है कि 'मेहदी' (हिना) तथा 'चमेली' (बेला) जैसी भारतीय वस्तुएँ लगभग ३०० ई० मे ही अरब-व्यापारियों द्वारा चीन ले जाई गई थी।

यह सही है कि प्राक्-इसलाम-काल के अरब-निवासी दक्ष नाविक होते थे, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वे बहुत ही पिछड़े हुए थे। फलस्वरूप, तत्कालीन सभ्यता के अग्रणी

---

१. विशेष विवरण के लिए द्र० मेरा लेख 'दाराशिकोह और उपनिषद्', 'परिषद्-पत्रिका', जनवरी, सन् १९७६ ई०।

तथा मध्य-पूर्व और यूरोप पर शासन करनेवाले फारसी (पर्सियन) और रोमनिवासी उनसे अत्यन्त घृणा करते थे। तथाकथित सभ्यता और संस्कृति से दूर वे मूलतः बर्बर आदिम निवासियो की भाँति जीवन-यापन करते थे और अपनी राष्ट्रीय एकता के प्रति उनमें लेशमात्र भी जागरूकता नही थी।

किन्तु, सातवी शती से अरब के इतिहास मे एक नये युग का प्रारम्भ होता है। इसलाम का उदय क्या था, मानो उनके राष्ट्रीय उत्कर्ष का काल था। वे एक अतिशय शक्तिशाली राष्ट्र के रूप मे उभरकर सामने आये और देखते-देखते एक विशाल साम्राज्य के शासक बन बैठे। इस राजनीतिक विजय के फलस्वरूप यूनान (ग्रीस), ईरान (पर्सिया), सीरिया, मिस्र (इजिप्ट) तथा भारत की महान् सस्कृतियाँ अब उनके चरणो पर लोट रही थी, जिन्हे उन्होने अपनाया ही नही, वरन् आत्मसात् कर लिया। यह अरब-निवासियो की ही विशेषता थी कि अन्य असभ्य और बर्बर जातियो के विपरीत, उन्होने तत्कालीन संस्कृतियो की रक्षा की, उनमे निहित प्रतिभाओ को आगे बढ़ाया और इस प्रकार मानवता के विकास मे अक्षुण्ण योगदान देकर, विश्व-सभ्यता और सस्कृति को और भी अधिक समृद्ध किया।

इन प्राचीन सस्कृतियो से सम्पर्क होने पर विभिन्न विधाओ, ज्ञान एव बौद्धिक उपलब्धियो के प्रति अरबो का झुकाव इस प्रकार बढ़ा, मानो युग-युग से वे इनकी खोज मे रहे हो। आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) हो अथवा विज्ञान अथवा दर्शन, उन्होने एतद्विषयक यूनानी (ग्रीस), सीरियाई, फारसी तथा सस्कृत-ग्रन्थो का संग्रह कर, अरबी-भाषा में उनका अनुवाद किया। किन्तु, अन्य क्षेत्रो की अपेक्षा गणित, ओषधि-विज्ञान, ज्यौतिष, भाषा एव साहित्य के क्षेत्र मे अरब-सस्कृति को सस्कृत-वाङमय की विशेष देन रही है।

खलीफाओ के शासनकाल में, भारत एव अन्य प्राचीन देशो के विज्ञान तथा धर्म में अरब के विद्वानों ने जो अभूतपूर्व बौद्धिक अभिरुचि दिखाई, उसका दृष्टान्त कही अन्यत्र मिलना कठिन है। बगदाद मे अबू जफर अल-मंसूर (सन् ७५५–७७३ ई०) ने 'बैत-अल-हिकमत' नामक शोध एव अनुवाद-प्रतिष्ठान की स्थापना की थी, जिसमे दर्शनशास्त्र, ज्यौतिष तथा चिकित्साविज्ञान-सम्बन्धी यूनानी, सीरियाई, जेन्द, लैटिन तथा संस्कृत-ग्रन्थो का अध्ययन और अनुवाद किया जाता था। हारून-अल-रसीद (सन् ७८९–८१२ ई०) तथा मामू (सन् ८१७–८२७ ई०) के शासनकाल मे इसलामी वाङमय के साथ-साथ विदेशी साहित्य और विज्ञान को पर्याप्त सरक्षण प्राप्त था। मामू का दरबार तो मानो साहित्यिकों, कवियो, हकीमो, वैद्यो तथा दार्शनिको का सगम-स्थल था, जहाँ भारतीय, यहूदी तथा ईसाई विद्वान् सरक्षण पाते थे।[1]

---

१. विस्तृत विवरण के लिए द्र० मुहर-कृत 'दि कैलिफेट : राइज, डिक्लाइन ऐण्ड फॉल', एडिनबरा, सन् १९२४ ई०, पृ० ५०९।

[२]

प्राचीन काल में भारत विज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्र मे संसार के अन्य देशो से बहुत आगे था। उस समय भारतीय वस्तुओ का प्राच्य (चीन-सहित) तथा पाश्चात्य (यूरोप) देशो मे पर्याप्त आदर था। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय तक भारत मे रसायनशास्त्र तथा लौह-तकनीक का पर्याप्त विकास हो चुका था, जिसके फलस्वरूप यहाँ उत्कृष्ट लौह-शस्त्रास्त्रों का उत्पादन होता था, जिनकी उन देशों मे काफी माँग थी। इस प्रकार, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो मे भारत की उपलब्धियाँ अरब-निवासियो के लिए कालक्रम से प्रेरणा-स्रोत बन गई थी। गणित एवं ज्यौतिष-विज्ञान विशेष रूप से उनके आकर्षण-केन्द्र थे, कारण इन दोनो क्षेत्रो मे भारत की अत्यधिक मौलिक देन थी। जैसा कि सर्वविदित है, वैदिक युग से ही इस देश में ज्यौतिष-विज्ञान की प्रधानता रही है और अरब के विद्वानो ने सर्वप्रथम 'सिद्धान्त' ('ब्रह्मसिद्धान्त') नामक ज्यौतिष-ग्रन्थ का अध्ययन एव अरबी-भाषा मे उसका अनुवाद किया, जिसके फलस्वरूप वहाँ नक्षत्रो के वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा प्रारम्भ हुई थी। अरबी-भाषा के विद्वान् **मुहम्मद इब्न इब्राहीम अल-फजरी** (सन् ७९६–८०० ई०) ने उक्त ग्रन्थ का अनुवाद किया था और इसके बाद ही इसलाम के प्रथम ज्योतिर्विद् के रूप मे उनकी ख्याति सर्वत्र फैल गई।

भारतीय दार्शनिक विचारधारा मुसलमानी देशो मे विभिन्न स्रोतो से पहुँची। बरमाक-परिवार के मन्त्री, जिन्होंने अरब पर अर्द्धशती से अधिक समय (सन् ७५५–८०५ ई०) तक एकच्छत्र शासन किया था, सम्भवत. सबसे बड़े 'भारतीयतावादी' थे, जिनकी भारतीय विद्याओं मे अगाध अभिरुचि थी। प्रारम्भ मे वह भारतीय बौद्ध थे, किन्तु बाद मे उन्होने इसलाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। सम्भवत, इसी भारतीय पृष्ठभूमि ने **खालिद बरमाक** को अरबदेश मे भारतीय ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रोत्साहित किया था। किन्तु, यह मानना गलत होगा कि अरबी विद्वानो की समस्त बौद्धिक अभिरुचि बगदाद के शासको के सरक्षण पर ही मुख्यत आधृत थी। **हारून-अल-रसीद** द्वारा बरमाको की हत्या कर दिये जाने के बाद भी भारत-अरब-सांस्कृतिक सम्पर्क अक्षुण्ण रहा। कारण, भारतीय ज्ञान-विज्ञान से अरब-विद्वान् इस प्रकार प्रभावित हो चुके थे कि इसके बाद भी कई शतियो तक अरब-इतिहासकार, भूगोलवेत्ता, विद्वान् तथा यात्री प्रचुर सख्या मे भारत आकर यहाँ के लोगो का जीवन, धर्म, भूगोल, ज्यौतिषशास्त्र, गणित तथा रीति-रिवाजो का अध्ययन करते और इस ज्ञान-भाण्डार को लेकर अपने देश को लौट जाते। वास्तव मे, अरब और भारत का यह सास्कृतिक सम्पर्क अरब-पुनर्जागरण-आन्दोलन का एक प्रमुख अग बन गया, जिसका मुख्य उद्देश्य ससार के विभिन्न देशो के ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठाना था। किन्तु, एक ओर जहाँ भारतीय ज्ञान-विज्ञान मे अरब के विद्वानो की रुचि अजस्र भाव से प्रवाहित थी, वहीं दूसरी ओर यह कहना कठिन है कि उनके चिकित्साविज्ञान, ज्यौतिष तथा गणितशास्त्र पर भारतीय प्रभाव कहाँतक पड़ा, यद्यपि **निकोलसन** के शब्दो मे यह प्रभाव 'पर्याप्त मात्रा' में था।[१]

---

१. विक्रमजीत हसरत : 'दाराशिकोह : लाइफ ऐण्ड वर्क्स', पृ० १७६।

बाद के युग में भी अरब के अनेक विद्वानों ने भारतीय विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन जारी रखा। अलबेरूनी के समय में, अरब मे विद्वानों के अनेक ऐसे दल थे, जो भारत के वैज्ञानिक ग्रन्थों का अरबी-भाषा मे अनुवाद करवाते थे। साथ ही, उन्हे इन विषयो का इतना अच्छा ज्ञान था कि वे इन ग्रन्थो पर लिखी गई विभिन्न टीकाओ की समीक्षा करते और सर्वोत्तम टीका को ही ग्रहण करते थे। इसके पहले भी बगदाद मे मुसलमान विद्वानों एवं अन्य धर्मोपदेशको के बीच विभिन्न धर्मों पर चर्चाएँ हुआ करती थी। कहते है, बरमाक-मन्त्रियो के समय इन धार्मिक चर्चाओ मे बहुत-से संस्कृत-पण्डित भी भाग लेते थे और उस समय दो-तीन मुसलमान-विद्वानों को भारतीय विद्याओ का अध्ययन करने के लिए भारत भेजा गया था।[१]

सचउ का मत है कि भारतीय-अरबी वैज्ञानिक साहित्य प्रायः लुप्त-सा हो गया है, और कुछ ग्रन्थों के नामो के अतिरिक्त अब कुछ भी शेष नही रह गया है। कभी-कभी तो ये नाम इतने भ्रष्ट रूप मे मिलते है कि उनका कोई अर्थ निकालना भी दुष्कर है।[२] इस तरह के कुछ नाम अल-मंसूर के शासनकाल मे तैयार किये गये वैज्ञानिक ग्रन्थो के सूचीपत्र मे मिलते है।[३] इससे पता चलता है कि चिकित्साविज्ञान के क्षेत्र मे भारतीयों की देन सर्वोपरि थी। अब्बासीद के शासनकाल के पहले (सातवी शती) से ही मुसलमान-विद्वान् विदेशी चिकित्साविज्ञान का अध्ययन करते आ रहे थे और सीरियाई तथा ग्रीक (यूनानी)-भाषाओ से एतद्विषयक अनेक ग्रन्थो का अरबी-भाषा मे अनुवाद भी किया जा चुका था। इब्न अल-नादीम के विवरण से ज्ञात होता है कि खलीफा हारून-अल-रसीद के असाध्य रोग का इलाज मंका नाम के एक भारतीय वैद्य ने किया था।[४] इसी समय इब्नधन नाम का एक हिन्दू-चिकित्सक (वैद्य) बगदाद-स्थित बरमाक-अस्पताल का निदेशक था। याह्या खालिद बरमाक के समय बगदाद के अस्पतालो मे हिन्दू-वैद्यो की नियुक्ति होती थी, जिनसे संस्कृत के चिकित्सा-ग्रन्थो (आयुर्वेद-ग्रन्थों) के अरबी-अनुवाद के लिए भी सहायता ली जाती थी।[५] भारतीय आयुर्वेद-विज्ञान के प्रति इस शासक की कितनी अनुरक्ति, आस्था और रुचि थी, इसका अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि उसने बगदाद से एक हकीम को भारतीय जडी-बूटियो का सग्रह करने के लिए भारत भेजा था।[६]

---

१. विस्तृत चर्चा के लिए द्र० कामिल इब्न-अल-अब्बीर : 'एकाउण्ट ऑव दि ईयर १४८ ए० एच्०'; मसूदी : 'फुतुह अल-बुल्दान', पृ० ४४६ और आगे।
२. 'अलबेरूनीज् इण्डिया', लन्दन, सन् १९७१ ई०, पृ० ३२ (भूमिका)।
३. सुयुटी : 'हिस्ट्री ऑव दि कैलिफ्स' कलकत्ता, सन् १८८० ई०, पृ० २६७।
४. फलूएगल : (सम्पादित) 'अल-फिहरिस्त', लिपजिग, सन् १८७१ ई०, पृ० १९२।
५. 'अलबेरूनीज् इण्डिया', पृ० २४५।
६. उपरिवत्, पृ० ३४५।

भारतीय चिकित्साशास्त्र तथा अन्य विज्ञान-सम्बन्धी जितने ग्रन्थ अरबी-भाषा मे अनूदित हुए थे, उनमे अब कुछ ही पूर्णरूप से सुरक्षित है, शेष या तो नष्ट हो चुके है अथवा बाद के ग्रन्थो मे उद्धरणो के रूप मे मौजूद है। इनमे सबसे प्रमुख 'सुश्रुतसंहिता' है, जिसका अनुवाद अरबी-भाषा मे 'सस्रु' के नाम से मंका ने किया था। इसके अतिरिक्त, दो अन्य सस्कृत-ग्रन्थो 'सिघसान' तथा 'इस्तनगीर' (अरबी-रूपान्तर) की चर्चा याकूबी ने की है, जिनका अनुवाद इब्नधन के द्वारा किया गया था।[1] अब्दुल्ला अली ने दूसरे प्रसिद्ध वैद्यक-ग्रन्थ 'चरकसंहिता' का अनुवाद फारसी से अरबी-भाषा मे किया था। सुलेमान इशाक के आदेश से मंका ने ओषधिविज्ञान-सम्बन्धी एक सस्कृत-ग्रन्थ का अनुवाद किया था। भारतीय चिकित्साविज्ञान (आयुर्वेद) पर लिखे गये ग्रन्थो की एक वृहत् सूची इब्न अल-नादीम ने प्रस्तुत की है,[2] जो इस बात का द्योतक है कि अरब के विद्वानों की इस क्षेत्र मे बहुत गहरी रुचि थी। ख्वारिज्मी के अनुसार, इस विषय पर लिखे गये छोटे-छोटे ग्रन्थो के अतिरिक्त, शानक (?) द्वारा पशु-चिकित्साविज्ञान पर लिखी गई एक पुस्तक का भी अरबी-भाषा मे अनुवाद किया गया था।[3]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अरब मे चिकित्साविज्ञान की जो भी प्रगति हुई, उसमे आयुर्वेद पर लिखे गये सस्कृत-ग्रन्थो का सर्वाधिक योगदान रहा। 'चरकसहिता' हो अथवा 'सुश्रुतसंहिता' अथवा अन्य ग्रन्थ, अरब के विद्वानो ने उनका बड़े मनोयोग से अध्ययन किया और फिर अपनी भाषा मे अनुवाद भी किया। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, खलीफा हारून-अल-रसीद (सन् ७८६–८०९ ई०) ने बगदाद मे चिकित्सा-विद्यालयो एवं अस्पतालो की स्थापना के लिए भारत से कतिपय वैद्यो को बुलाया था, जिसमे मंका, सालिह बिन बहलाह्, कंका तथा शावक सिझल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उसयबियह् ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'उयून-उल-अन्ह् तबाकत-इल-अतीम'[4] मे मंका का उल्लेख करते हुए उसे 'प्रसिद्ध भारतीय वैद्य' कहा है। इस ग्रन्थ मे लगभग ४०० अरब, ग्रीक तथा भारतीय वैद्यो की जीवनी दी गई है और साथ ही यह भी कहा गया है कि जब हारून-अल-रसीद बहुत ही बीमार थे और उनके दरबार के चिकित्सक उन्हे नीरोग करने में असफल रहे, तब खलीफा का इलाज करने के लिए भारत से प्रसिद्ध वैद्य मंका को आमन्त्रित किया गया। जब मंका की ओषधि से खलीफा पूर्णत नीरोग हो गये,

१. 'अलबेरूनीज् इण्डिया', पृ० ३४५।

२. भाग १, पृ० १०५, इब्न अल-नादीम ने 'सिंघसान' को 'सिन्दस्ताक' कहा है।

३. सचउ का ऐसा मत है कि इस भारतीय वैद्य का नाम 'धन्य' अथवा 'धनिन्' था, जिसकी उत्पत्ति सम्भवत: देवताओं के वैद्य 'धन्वन्तरि' के नाम से हुई थी और जिसका उल्लेख 'मनुसंहिता' तथा महाकाव्यों ('रामायण' तथा 'महाभारत') में भी मिलता है (द्र०, 'अलबेरूनीज् इण्डिया', भूमिका, पृ० ३२)।

४. इस ग्रन्थ में विभिन्न वर्गों के चिकित्सकों से सम्बद्ध सूचनाओं के स्रोतों का भी उल्लेख है।–ले०

तब उन्होने मंका को अपने दरबार मे उच्च पद देकर उनका सम्मान किया। मंका ने बगदाद मे रहकर अरबी-चिकित्सा-विज्ञान को काफी समृद्ध किया। उन्होने जड़ी-बूटी से सम्बद्ध एक संस्कृत-ग्रन्थ का अरबी-भाषा मे अनुवाद भी किया। मंका के अतिरिक्त और भी बहुत-से भारतीय वैद्य बगदाद मे थे, जिन्होने आयुर्वेद-सम्बन्धी अनेक संस्कृत-ग्रन्थो का अरबी-भाषा मे अनुवाद करने मे काफी सहायता की।

अरबी-औषधिविज्ञान पर सस्कृत का प्रभाव कितना अधिक पडा, इसका अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि ओषधिविज्ञान पर अरबी-भाषा मे लिखी गई सबसे पुरानी पुस्तक 'फिरदौस-उल-हिकमह' यूनानी तथा हिन्दू-स्रोतो पर आधृत है।

[३]

चिकित्साशास्त्र के अतिरिक्त, भारतीय ज्यौतिष (फलित और गणित)-विज्ञान भी अरब के विद्वानो के लिए बहुत बडा आकर्षण था। अरबी-भाषा मे सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मसिद्धान्त' का अनुवाद हुआ और उसके साथ-साथ अरब-निवासियो ने भारतीय अको, विशेषकर 'शून्य' (जीरो) का अध्ययन किया और पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद अपने यहाँ इस नई पद्धति से गणना प्रारम्भ की। भारतीय अक एव गणना-पद्धति को सर्वप्रथम अल-ख्वारिज्मी नामक अरबी विद्वान् ने अपनाया और अपनी व्याख्याओ द्वारा उसे लोकप्रिय बनाया। उन्होने अपने ग्रन्थ मे इस गणना-पद्धति को 'हिन्दसा' कहकर आख्यापित किया है, जिससे इसकी भारतीय उत्पत्ति के सम्बन्ध मे स्वल्प-मात्र भी सन्देह नही रह जाता। बाद मे, अरबवालो ने जब इसका प्रचार यूरोप मे किया, तब यूरोपीय विद्वानो ने इसे 'अरबी अक-गणना' की सज्ञा दी, यद्यपि अरब-निवासी स्वय इसे 'भारतीय अक-गणना' कहते थे। इसी अंक-गणना के साथ यूरोपीय गणितशास्त्र का प्रारम्भ होता है, जिसने बाद मे विज्ञान के क्षेत्र मे एक अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित कर दी।

अरब के विद्वान् इब्न अबी असैब ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि बगदाद के राजदरबार मे, प्रसिद्ध हिन्दू-चिकित्सक मंका के अतिरिक्त, भारतीय ज्यौतिषियो मे सर्वाधिक ख्यातिलब्ध कंका पण्डित भी रहते थे। एक ओर जहाँ मंका के चार ग्रन्थो का अरबी-भाषा मे अनुवाद हुआ था, वही दूसरी ओर कंका पण्डित ने ब्रह्मगुप्त के प्रसिद्ध ज्यौतिष-ग्रन्थ 'ब्रह्मसिद्धान्त' से अरब के विद्वानो का परिचय कराया। इस ग्रन्थ का अनुवाद याकूब-अल-फ़िराजी ने 'सिन्दहिन्द' के नाम से अरबी-भाषा मे किया। बाद मे, कई अरब-विद्वान् भारतीय ज्यौतिषशास्त्र का अध्ययन करने भारत आये, जिसमे मुहम्मद बिन इस्माइल तनूखी तथा प्रसिद्ध अरब-ज्यौतिषी और गणितज्ञ अहमद खाफी दैल्मी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[१] दैल्मी को तो खलीफा मुतकिद बिल्लाह (सन् ८९८–९०५ ई०) ने

१. 'तबकात-इ-इब्न बाकुया', पेरिस, सन् १९१८ ई०, पृ० ४४।

विशेष रूप से भारत भेजा था। जाहिज[1] के अनुसार, खलीफा हारून-अल-रसीद के दरबार मे बहला तथा उसके पुत्र सालिह (जिसने बाद में इसलाम-धर्म स्वीकार कर लिया), मंका, बाजीगर (?) फलबरफल (?) आदि प्रसिद्ध भारतीय ज्यौतिषी थे। इनके सही भारतीय नाम क्या थे, यह कहना कठिन है, कारण अरबी-ग्रन्थो में ये नाम जिस रूप में दिये गये है, उनसे उनका सही नाम समझना सम्भव नही है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण गणित-ज्यौतिष ग्रन्थ, जिसका अनुवाद अरबी-भाषा मे किया गया, आर्यभट-कृत 'आर्यभटीयम्' है। इसका अनुवाद अल-फजरी (छोटे) ने 'अर्जबन्द' नाम से किया था। आर्यभट ही प्रायः संसार के सर्वप्रथम गणितज्ञ एवं ज्योतिर्विद् थे, जिन्होने यह घोषणा की थी कि पृथिवी सूर्य के चारो ओर घूमती रहती है, न कि सूर्य पृथिवी की परिक्रमा करता है, जैसा कि उस समय लोगों का विश्वास था। उन्होने ही गणित के आधार पर सूर्यग्रहण एव चन्द्रग्रहण के कारणो की सर्वप्रथम वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की थी, जो आज भी विद्वानो द्वारा सर्वमान्य है। निस्सन्देह, ब्रह्मगुप्त और आर्यभट ने अरब-निवासियो को ये सिद्धान्त उस समय सिखाये थे, जब वे सुप्रसिद्ध भू-वेत्ता टॉलेमी के नाम से परिचित तक नही थे। किन्तु, भारतीय ज्यौतिष-विज्ञान के स्रोत के रूप मे मुसलमानो से पास केवल 'सिन्दहिन्द' ही नही था। ब्रह्मगुप्त के दूसरे ग्रन्थ 'खण्डखाद्यक' का इससे कुछ पहले ही 'अलारकन्द' नाम से अनुवाद हो चुका था।[2] अन्य जिन हिन्दू-ज्यौतिषियो के नामों से बगदाद-निवासी भली भाँति परिचित थे, उनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है: १. जुदर हिन्दी, जिसके ग्रन्थ का 'अल-मवालीद' के नाम से अरबी-रूपान्तर हुआ, २. निहक (?) हिन्दी, जिसमे ग्रन्थ का 'असार अल-मसाइल' नाम से अरबी-रूपान्तर हुआ था, तथा ३ सिंघल हिन्दी, जिसका ग्रन्थ 'किताब अल-मवालीद अल-कवर' के नाम से विख्यात था।

अरब मे भारतीय ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार मे जिन मुसलमान-विद्वानों ने प्रमुख भूमिका निबाही, उनमे अबू रैहान अलबेरूनी का नाम अग्रगण्य है। अलबेरूनी अरबयात्री के रूप मे भारत आया था। वह अपने युग का महान् इतिहासकार और तत्त्ववेत्ता था, जिसे भारतीय दर्शन, चिकित्साशास्त्र, ज्यौतिष आदि विद्याओ में अभूतपूर्व रुचि थी। भारत मे आने के बाद उसने बड़ी मेधाविता से भारतीय धार्मिक व्यवस्था, दर्शन, साहित्य, इतिहास, ज्यौतिष और रीति-रिवाजो का अध्ययन किया और भारतीयो को ग्रीक-विज्ञान से परिचित कराया। वह वास्तव मे एक महान् 'सांस्कृतिक राजदूत' था, जिसने भारत तथा अरब के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध की नीव ठोस की। अपने विवरण मे एक स्थल पर उसने उन कारणो की ओर सकेत किया है, जो हिन्दुओं और मुसलमानो के बीच इस युग मे घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने मे अत्यधिक बाधक हो रहे थे।

---

१. 'किताब अ -बयान', पृ० १०।

२. ब्राउने; 'लिटरेरी हिस्ट्री ऑव पर्सिया', भाग, १, पृ० ४५७।

यथा : भाषा एवं सम्प्रदाय-सम्बन्धी बाधाएँ; मुसलमान-शासकों तथा विजेताओ की भयंकर मूर्त्तिभंजक प्रवृत्ति, धार्मिक दुराग्रह और अदम्य आत्मगौरव के फलस्वरूप ब्राह्मणों की एकान्तता आदि।

भारतीय धर्म और विज्ञान के प्रति अलबेरूनी का रुख अत्यन्त उदार था। उसने विना किसी पूर्वाग्रह के इनका अध्ययन किया था, जो वास्तव मे भारतीय विद्याओ के प्रति उसके असीम अनुराग का द्योतक है। उसने गवेषणा की जो पद्धति अपनाई थी, वह बड़ी ही श्रमसाध्य एव वैज्ञानिक थी। यह सही है कि उसने यत्र-तत्र अपनी शंकाएँ प्रकट की है, फिर भी ज्ञानार्जन के प्रति उसकी अद्भुत निष्ठा थी। उसके विवरणों से ऐसा लगता है, मानो वह हिन्दुओ के साथ उनके धर्म, विज्ञान अथवा साहित्य के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना चाहता है, अधिक-से-अधिक जानना चाहता है।[1] वास्तविकता तो यह है कि वह इससे भी आगे जाना चाहता था। मूल स्रोतो से भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान तथा रीति-रिवाजो का अत्यन्त मनोयोग से अध्ययन कर, और फिर अरस्तू, प्लेटो, टॉलेमी आदि ग्रीक-विद्वानो के सिद्धान्तो से उनकी तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत कर उसने वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र मे एक नई विधा को जन्म दिया, एक नवीन परम्परा प्रवर्त्तित की, जिसके फलस्वरूप बाहरी देशो मे भारतीय विद्याओं के प्रति लोगों मे और भी रुचि जागरित हुई।

अपने ग्रन्थ 'किताब-अल-हिन्द' मे अलबेरूनी ने अपने ज्ञान के स्रोतों की जो चर्चा की है, उससे स्पष्ट है कि सस्कृत-भाषा एव साहित्य का उसे अगाध ज्ञान था। उसने पतंजलि के योगग्रन्थ, कपिल के सांख्यग्रन्थ, ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मसिद्धान्त' तथा वराहमिहिर के 'लघुजातकम्' के अतिरिक्त भारतीय विज्ञान से सम्बद्ध और भी अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी-भाषा मे अनुवाद किया था। साथ ही, उसने 'सिद्धान्त' पर अरबी-भाषा मे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी रचना की थी, जो 'ज्वामी अल-मौजूद विखवाहिर अल-हुनूद' के नाम के प्रसिद्ध है।

[४]

अल-मंसूर के शासनकाल मे इब्न मुकफ्फा ने, जो यूनानी, पहलवी तथा सस्कृत-भाषाओ के अतिरिक्त और कई भाषाओं के विद्वान् थे, 'पंचतन्त्र' का 'कलीलाहव दिम्ना' नाम से अरबी मे अनुवाद किया था। नौसेरवाँ के शासनकाल में 'पंचतन्त्र' का पहलवी-भाषा मे अनुवाद किया गया था और बाद में समनी-शासक अमीर नस्र बिन अहमद (सन् ९२०–९५० ई०) के आदेश से 'रुदकी' नामक कवि ने फारसी में इसका पद्य-रूपान्तर किया था, जो अब लुप्त हो चुका है। इब्न मुकफ्फा द्वारा किये गये 'पंचतन्त्र' के अरबी-रूपान्तर का, बाद मे, लगभग बारह भाषाओं मे अनुवाद हुआ, जिनमे सीरियाई, हिब्रू, लैटिन, यूनानी (ग्रीक), स्पेनिश, फ्रेंच, तुर्की, अँगरेजी तथा फ़ारसी (पर्सियन) प्रमुख है।

१. 'अलबेरूनीज् इण्डिया', पृ० २४६।

'पंचतन्त्र' सम्भवत: प्रथम संस्कृत-ग्रन्थ था, जिसका अनुवाद इतने बड़े पैमाने पर, इतनी भाषाओं में हुआ था। इसी से उस ग्रन्थ की लोकप्रियता तथा उपादेयता का पता चलता है।

अरबी-भाषा को संस्कृत-वाङ्मय की दूसरी महती देन 'दि अरबियन नाइट्स' नामक सुप्रसिद्ध कथा की वर्णन-शैली में देखी जा सकती है। आँर्थर ए० मैकडोनेल ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर' में इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि संस्कृत में जिन परी-कथाओं, लोक-गाथाओ आदि का संग्रह है, वे एक ही कथा के परिवेश मे मिली-जुली हैं। मुख्य कथा के नायक ही बारी-बारी से अपनी-अपनी अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने के लिए तरह-तरह की कथाएँ कहते है। ठीक यही वर्णन-शैली 'दि अरबियन नाइट्स' में पाई जाती है, जिसे पर्सिया तथा अरब के निवासियों ने भारत से ग्रहण किया था, जिसका सबसे बड़ा दृष्टान्त यह ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त, अबुल-फराज अल-इस्फहानी-कृत 'अल-अघनी' तथा इब्न अब्दो रब्बिहि-कृत 'अल-इक्दुल फरीद' जैसे काव्य-ग्रन्थों में सभ्यता, ज्ञान तथा नीतिशास्त्र से सम्बद्ध अनेक भारतीय स्रोतों के प्रसंगों का उल्लेख मिलता है, जिनमे अरब के देशों मे भारतीय ज्ञान-विज्ञान की व्यापकता का संकेत प्रतिनिहित है।

जहाँतक अरबी-भाषा के कोश का सम्बन्ध है, उसमें ग्रीक, हिब्रू, फारसी तथा संस्कृत-भाषाओ के शब्द भरे पड़े हैं, जिनसे यह भाषा काफी समृद्ध एव उन्नत हुई है। सम्भवत:, पड़ोसी देशों की कोई भी ऐसी भाषा नही थी, जिसने अरबी-भाषा को समृद्ध नही किया हो। संस्कृत-भाषा के शब्द तो मानो अरबी-वाङ्मय के अविच्छिन्न अग बन गये है : यथा, 'सन्दल' (सं० चन्दन), 'करनफल' (सं० कनकफल अथवा कर्णफुल्ल), 'तन्बुल' (सं० ताम्बूल), 'निलोफर' (स० नीलफल), 'जायफल' (सं० जयफल), 'अलि-त्रिफल' (सं० त्रिफल या त्रिफला), 'निलज' (सं० नील) आदि।

इसके अतिरिक्त, संस्कृत के कम-से-कम तीन ऐसे शब्द है—यथा : 'कर्पूर' (अरबी : कफुर), 'गुञ्जवेर' (अरबी : जंजबिल) तथा 'मोक्ष' (अरबी : मस्क)—जो मुसलमानो के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ कुरान में व्यवहृत हुए है और जिनका उल्लेख अरबी-भाषा के प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् सैयद सुलेमान नदवी ने भी किया है। कुरान मे बहिश्त (स्वर्ग) का जो वर्णन आया है, उसी में इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है।

सन् ७१२ ई० मे मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिन्ध पर आक्रमण किये जाने के बाद से भारत तथा अरब के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में एक नये युग का प्रारम्भ होता है, जो दसवी शती के अन्तिम चरण मे सुलतान महमूद गजनी द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत पर आक्रमण होने के साथ समाप्त हो जाता है। इसके बाद से भारतीय शास्त्र-विधाओ में अरब-निवासियो की रुचि का क्रमिक ह्रास होने लगता है। सिन्ध के अरब-विजेता अपने नये गणतान्त्रिक आदर्शों तथा धर्म-प्रचार की आकांक्षाओ के कारण अन्य

धर्मों के प्रति सहिष्णु तो अवश्य थे, पर भारतीय धर्मों तथा विज्ञान के अध्ययन के प्रति उनकी उदासीनता धीरे-धीरे बढती जा रही थी। अलबेरूनी ने महमूद गजनी की तीव्र भर्त्सना करते हुए लिखा है कि उसका शासनकाल बड़ा ही विध्वंसकारी था, जिसमे हिन्दू धूलिकण की भाँति बिखर गये तथा अब वे जैसे पुरानी कहानी बनकर रह गये। यह सही है कि महमूद गजनी भारतीय विचारधारा एवं प्राच्य संस्कृति के प्रति उदासीन था, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसलामी विज्ञान, कला तथा साहित्य को उसका पूर्ण सरक्षण प्राप्त था।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अति प्राचीन काल से ही भारत तथा अरब के बीच सघन सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है। कतिपय भारतीय, अरबी तथा मिस्री विद्वानो ने इस प्राचीन सम्बन्धो के कुछ पहलुओ पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है, फिर भी यह शोध का एक ऐसा विशाल, अज्ञात क्षेत्र है, जिसकी गहराई मे जाने पर इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नये-नये तत्त्व उभरकर सामने आयेगे और नई-नई विधाओ पर प्रकाश पड़ेगा।

△ प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन-विभाग
मगध-विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

प्राचीन भारत में राजधर्म और त्यागपथ

डॉ० श्रीधर वासुदेव सोहोनी

अखिलभारतीय मुद्रा-परिषद् के पूना-अधिवेशन (जून, १९८१ ई०) एवं काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग (अगस्त, १९८१ ई०) मे और फिर विश्व-सस्कृत-परिषद् (अक्टूबर, १९८१ ई०) मे कालिदास-विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए मैने विश्लेषण उपस्थापित किया था कि १. मेहरौली-लौहस्तम्भ पर उत्कीर्ण तीन श्लोको मे **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** के राजसंन्यास की घटना आलकारिक कविता मे बतलाई गई है; और इस कविता पर **सुबन्धु** की 'वासवदत्ता' मे लिखे गये शब्द-प्रयोगों के अनेक सस्कार स्पष्ट रूप मे दिखाई पड़ते है, जिससे सुबन्धु के अपने स्वत. स्पष्ट साक्ष्य उनकी गद्यरचना 'वासवदत्ता' और मेहरौली-लौहस्तम्भ की कविता का समकालीनत्व सिद्ध हो जाता है।

२. विश्वकवि **कालिदास** का सुप्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्', **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** के पुत्र **प्रथम कुमारगुप्त** के यौवराज्याभिषेक के समय लिखा गया था और इस ऐतिहासिक पार्श्वभूमि को यदि ध्यान मे रखा जाय, तो नाटक के अधिकांश अंकों पर आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ता है। इस नाटक मे पुरूरवा, कुमार आयु को अपने राज्य का कार्यभार सौप देना चाहता था और इसी विकल्प की स्थिति मे कुमार आयु का यौवराज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर विश्वकवि ने बार-बार सुनिश्चितरूपेण सकेत किये है।

३ प्रथम कुमारगुप्त ने राजसिंहासन पर बैठने के बाद तुरत ही अपनी सुवर्णमुद्रा के एक विशिष्ट प्रकार का प्रचलन किया। मुद्राशास्त्रियों ने इस प्रकार को पहले, 'श्रीप्रताप'-प्रकार नाम दिया था। बयाना-निधि से, इस दुर्लभ प्रकार की कम-से-कम आठ मुद्राएँ प्राप्त हुई। कै० डॉ० **अनन्त सदाशिव अलतेकर** महोदय ने उनपर अंकित 'श्रीप्रताप' को 'अप्रतिघ' पढा, फलत यह मुद्रा-प्रकार 'अप्रतिघ'-प्रकार के रूप मे रूढ होने लगा। इस मुद्रा-प्रकार के न केवल वाचन मे, अपितु उसपर अंकित चित्र को समझने में भी विद्वानो मे प्रबल मतभेद उत्पन्न हुआ।[1] इस चित्रांकन मे एक युवा राजा को दो वृद्ध व्यक्तियो के सामने खड़ा होकर अभिवादन करता हुआ दिखाया गया है। दोनों वृद्ध व्यक्ति पति-पत्नी प्रतीत होते है। उन्होने वल्कल पहन रखा है। वे दोनो प्रणाम स्वीकार करते हुए युवा राजा को आशीर्वाद दे रहे है। यह प्रसग क्या था, ये तीनों व्यक्ति कौन थे, इस सम्बन्ध मे मुद्राशास्त्रियो मे अबतक मतैक्य स्थापित नही हो सका था।

जून, १९८१ ई० में, 'अखिलभारतीय मुद्रा-परिषद्' में मैंने यह प्रमाणित किया कि इस चित्र मे कुमारगुप्त (प्रथम) का राज्यभार स्वीकार करना और उनके माता-पिता का राजसंन्यास ग्रहण करना दिखाया गया है। कुमारगुप्त की माता महादेवी ध्रुवस्वामिनी अपने सौन्दर्य के लिए संसार में विख्यात थी और इस गुप्तसम्राज्ञी का रूप-सौन्दर्य उनकी वल्कलमयी वेशभूषा में भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ब्रिटिश-म्यूजियम के सुप्रसिद्ध मुद्राध्यक्ष, श्रीजॉन ॲलन ने अपने 'कैटलॉग ऑव दि क्वॉइन्स ऑव दि गुप्त एज' नामक सर्वमान्य ग्रन्थ मे, जिसे उन्होने बयाना-निधि प्राप्त होने के कई साल पहले लिखा था, महादेवी ध्रुवस्वामिनी की पहचान उन्हे अज्ञात होने पर भी, उसकी शरीराकृति की तुलना, ग्रीक-देवता मिनर्वा के साथ की थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आयुष्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसंग, उसके अनुवर्त्ती, प्रथम कुमारगुप्त की, इस प्रकार की सुवर्णमुद्राओ में चित्रित हुआ है। स्वाध्याय के क्रम मे, मेरे मन मे यह जानकारी जब स्पष्ट होने लगी, तब मुझे अत्यन्त सात्त्विक आनन्द प्राप्त हुआ, यह मै बड़ी नम्रता से कहना चाहता हूँ। मैंने अपना विश्लेषण समय-समय पुरातत्त्वविद्या की परिषदो मे विद्वानों के सामने रखा है और मुझे, अभी तक, उसके विरोध में किसी का अभिप्राय नही प्राप्त हुआ है। इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रकाशित करने की व्यवस्था हो रही है।

उक्त तीनो ऐतिहासिक स्रोतों से—मेहरौली-लौहस्तम्भ की कविता, एक ऐतिहासिक नाटक मे ग्रथित वस्तु और सुवर्णमुद्राओ के प्रकार में एक ही सन्देश मिलता है. परमभागवत शकारि महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त साहसांक विक्रमादित्य ने, युवराज प्रथम कुमारगुप्त को पृथ्वीपालन का राजधर्म सौपा और स्वय, सपत्नीक, राजसंन्यास लिया। इक्ष्वाकु-राजवंश का यह कुलव्रत था, ऐसा विचार विश्वकवि कालिदास ने 'रघुवंश' मे, जान-बूझकर बारम्बार व्यक्त किया है।[2] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के महान् पिता सम्राट् समुद्रगुप्त के अपने पिता से राज्यभार ग्रहण करने का प्रसग, उनके प्रशस्तिकार हरिषेण ने रोमांचक शब्दो मे बतलाया है। आगे चलकर हमे कतिपय अन्य गुप्तसम्राटो के राज-सन्यास लेने के बारे मे, कुछ स्पष्ट जानकारी या संकेत मिलता है।

त्याग की विधायक भावना ही राजसन्यास की आत्मा है। उस युग मे जीवन की ओर उच्च संस्कारो से केन्द्रित दृष्टिकोण के आधार पर, यह एक सुनिश्चित निर्णय था। इस प्रकार, चारो पुरुषार्थो का हिसाब करके, प्रत्येक क्रियावान् तथा विचारवान् व्यक्तिविशेष, पुत्र को राज्यभार सौपकर अपने लिए यह चतुर्थ द्वार (मोक्ष का द्वार) खोलता था।

जब ऐसे राजर्षियो का अधिकार-योग प्रचलित था, तब भी वे समय-समय, विशेषतः विजययात्राओ की समाप्ति पर, रणांगणो मे जयश्री प्राप्त करने के क्रम में अर्जित अर्थसंचय का वितरण, अपने प्रजाहित में, करते थे। यह एक महादान था। विश्वकवि कालिदास ने लिखा है कि पूर्वनियोजित दिग्विजय के अन्त मे, विश्वजित् यज्ञ करके सम्राट् रघु ने सर्वस्व-दान किया था।[3] सम्राट् हर्षवर्द्धन के सम्बन्ध मे भी यही बात बाणभट्ट ने

लिखी है[४] और महापण्डित हुएनसांग ने भी उसका विवरण दिया है।[५] प्राचीन युग मे भारतीय सम्राटो की, यही प्रथा रही। त्याग के लिए अर्थ का संग्रह करना, देने के लिए ही दूसरो से अर्जन करना, यह मूल्यवान् तत्त्व प्राचीन भारतीय राजधर्म का मध्यबिन्दु रहा है।

इस श्रेष्ठ कर्त्तव्य-परम्परा का उल्लेख करते हुए, उत्तर भारत के मध्ययुगीन सम्राट् ने, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के त्याग की जो प्रशंसा की है, उसकी ओर मै अब आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। भारत के इतिहास मे कोई नरपति किसी पूर्ववर्त्ती राजा के सम्बन्ध मे स्तुति करता हुआ विरला ही पाया जायगा, परन्तु ऐसी घटना उत्तर भारत के प्रसिद्ध पाल-राजवश के सम्राट् देवपालदेव ने घोषित की है,[६] वह भी अपने ताम्रपट्ट के उत्कीर्ण अक्षरो मे, जो उत्खनन मे, नालन्दा से, इसी शती मे ही, सन् १९२१ ई० मे प्राप्त हुआ है। इस ताम्रपट्ट को अनेक कारणों से, प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति के साधनो मे प्रमुख स्थान प्राप्त है। सुमात्रा-जावा देश के समकालीन शैलेन्द्र-राजवश के एक राजा ने, सम्राट् देवपाल की सहायता से, नालन्दा मे बौद्ध विहार स्थापित करके उसके संचालन के लिए पाँच गाँव, जो बिहार के तीन जिलो मे अब भी विद्यमान है, दान दिये थे तथा अन्य व्यवस्था भी की थी, जिसका पूरा वर्णन इस ताम्रपट्ट मे मिलता है। देवपालदेव के सचिवालय की व्यवहारदक्षता की भी जानकारी इस ताम्रपट्ट मे अंकित अक्षरो से मिलती है। सचिवालय ने प्रशासनिक व्यवस्था मे अपने सम्राट् को प्राथमिक महत्त्व और गौरव दिया था और विदेश के राजाओ को देवपालदेव के प्राय. सामन्त के रूप मे दिखाने की चेष्टा की थी, जिसकी चर्चा मैने अन्यत्र की है। कुछ भी हो, इस ताम्रपट्ट से इतना स्पष्ट है कि उस समय भारतीय सस्कृति की जयगाथा सात समुद्रो के पार तक प्रतिध्वनित-मुखरित होती थी।

इस ताम्रपट्ट मे सम्राट् देवपालदेव ने अपने पूर्वजो के सम्बन्ध मे लिखने के पश्चात् स्वयं अपने बारे मे जो वर्णन किया है, उसमे उन्होने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए, उससे अपनी तुलना की है। जिस श्लोक मे यह जानकारी दी गई है, उसकी शब्दरचना इस प्रकार है :

यः पूर्वं बलिना कृतः कृतयुगे येनागमद् भार्गव-
स्त्रेतायां, प्रहृतः प्रियप्रणयिना कर्णेन यो द्वापरे।
विच्छिन्नः कलिना शकद्विषि गते कालेन लोकान्तरं
येन त्यागपथस्स एव हि पुर्नविस्पष्टमुन्मीलितः ॥१४॥

इस श्लोक मे जिन राजर्षियों की परम्परा का उल्लेख हुआ है, वे इतिहास-पुराणों मे सर्वस्व-दान के लिए सुविख्यात हैं। वे सब राजा तो थे ही, परन्तु उन्होने अत्यन्त कठिन परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करके, अपने पूरे राज्य का त्याग किया था—असुर-राजा बलि ने राज्य पर आये संकट को अच्छी तरह से जानते हुए, और अपने उपाध्याय शुक्र के विनम्र विरोध के बावजूद, बटु वामन को अपना पूरा राज्य दान मे दे दिया था।

भार्गव श्रीपरशुराम ने पृथ्वी के समस्त राजाओ को इक्कीस बार पराभूत करके स्वयं भूमिपालन नही किया था। इसी प्रकार, महाप्रतापी कर्ण ने अपने कवच-कुण्डल तक को भी दान मे दे दिया था। ये सब नरपति कलियुग प्रारम्भ होने से पहले के थे। सम्राट् देवपालदेव आगे चलकर यह कहते है कि कलियुग के संचालक कलि ने, त्यागियों की यह प्रणाली भग्न की थी, परन्तु **शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** की इसी प्राचीन प्रहत त्यागपथ[७] पर यात्रा हुई थी और तत्पश्चात्, उसी त्यागपथ को अपने आयुष्य-क्रम से स्वय सम्राट् **देवपालदेव** ने भी समस्त संसार के लिए सुप्रकाशित किया। इस श्लोक मे उपमा है एक तेजोधारा के चित्र की, जो कलियुग मे अन्धकारमय हो गया था और जिसे **शकारि विक्रमादित्य** ने प्रकाशित किया था, जो उस गुप्तसम्राट् के दिवगत होने के पश्चात् फिर अँधेरे से घिर गया था, और जिसे पालवंश के इस सम्राट् **देवपालदेव** ने पुनः प्रखरता से प्रकाशित किया।

इस सम्बन्ध मे दो-तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न चर्चा के लिए उपस्थित होते है। पहला प्रश्न यह है कि स्वय बौद्ध होने पर भी सम्राट् **देवपालदेव** ने इस त्यागमार्ग के पार्थिव-पथिकों मे **राजकुमार सिद्धार्थ** का नाम क्यों नही लिया, जिन्होंने एक प्रकार से राजसन्यास ही स्वीकार किया था। उत्तर यह है कि **राजकुमार सिद्धार्थ** सम्पूर्ण संसार मे अद्वितीय स्थान प्राप्त कर चुके थे और बौद्ध-सम्प्रदाय के किसी भी अनुयायी के लिए उनकी ा इस प्रकार की राजपरम्परा मे करना कभी उचित नही होता। इसके पश्चात् यह ी पूछा जा सकता है कि सम्राट् **अशोक** या सम्राट् **हर्षवर्द्धन**, जिनका शुद्ध और भव्य त्यागमय जीवन इतिहास मे सुप्रसिद्ध है और जो दोनों बौद्धनरेश थे, उनके नामो का भी उद्घोष इस सम्बन्ध मे क्यों नही किया गया। **सम्राट् अशोक** के बारे मे यह कहा जा सकता है कि अपने जीवन के अन्त मे ही वह त्यागपथ पर उतरे और **सम्राट् हर्षवर्द्धन** के बारे मे यह उत्तर दिया जा सकता है कि उन्होने पंचवर्षीय महादान का उत्सव कई बार तो किया, परन्तु उन्हें पूर्वभारत मे लोकमान्यता नही प्राप्त हुई थी। **सम्राट् देवपालदेव** ने **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** साहसांक का उल्लेख इसलिए किया होगा कि उनके पराक्रम की कथा दसो दिशाओ में फैली हुई थी और उनकी दानशूरता भी उतनी ही सुविख्यात हुई थी। इतना ही नही, साहित्य मे उसका वर्णन कवियो, महाकवियो तथा विश्वकवियो ने किया था। ऐसी परिस्थिति मे त्यागपथ के इस अनुपम महायात्री का उल्लेख न करना, सम्राट् **देवपालदेव** ने उचित नही समझा। वैदिक, बौद्ध और जैनदर्शनो के विद्वानो मे, **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** का गुणगान हुआ था। इसी पार्श्वभूमि मे, **देवपालदेव** अपने को प्रदर्शित करना चाहते थे।

जिस त्यागपथ के सम्बन्ध मे सम्राट् **देवपालदेव** ने अपनी तुलना **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** से की, उस त्यागपथ मे चार अवस्थाएँ सम्मिलित होती है.

१. नित्य तथा नैमित्तिक दान, जो प्रत्येक गृहमेधी के लिए विहित कर्त्तव्य था।

२. संचित अर्थों का सर्वस्व-दान, जो विजिगीषु राजा का कर्त्तव्य था और उसके राज्याश्रम-काल में उसके लिए इसका पालन करना आवश्यक माना जाता था और इसीलिए

तत्कालीन राजा 'राज्याश्रम-मुनि' कहलाते थे। (द्र० रघुवंश, १.५८) इस कर्त्तव्य-प्रणाली की ओर कौटिल्य ने महत्त्वपूर्ण शब्दों मे राजनीति के अभ्यासको का ध्यान आकृष्ट किया है ,

> राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम् ।
> दक्षिणावृत्तिसाम्यं तु दीक्षा तस्याभिषेचनम् ॥
> प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।
> नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥ ३४ ॥[८]

व्रत, यज्ञ, दीक्षा, वृत्ति इत्यादि शब्द राजा के दैनिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त करने का तात्पर्य ही है कि उसके सामने अन्तिम ध्येय त्यागपथ पर चलना ही था।

३. तीसरी अवस्था राजसंन्यास की थी। इसी अवस्था को मेहरौली-लौहस्तम्भ की कविता मे दो प्रकारों से निश्चित किया गया है : (क) 'विसृज्य नरपतेर्गाम्' और (ख) 'इतरां गाम् आश्रितस्य।' देवपालदेव के ताम्रपट्ट में किया गया शब्दप्रयोग, अधिकतर इस अर्थ को दुहराता था : **'कालेन, शक्रद्विषि लोकान्तरं गतेन।'** 'विक्रमोर्वशीयम्' के पाँचवे अंक मे पुरूरवा से विदूषक कहता है : **'साम्प्रतं तर्कयामि अत्र भवता वल्कलं गृहीत्वा तपोवनं गन्तव्यम् इति'**। (५.१६) और पुरूरवा उर्वशी से कहता है : **अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं, विचलितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि।'** (५.१७) प्रथम **कुमारगुप्त** की श्रीप्रताप/अप्रतिघ-प्रकार की सुर्वणमुद्राओ पर उसके माता-पिता को वल्कल-धारण किये हुए दिखाया गया है।

४. त्यागपथ के चतुर्थ चरण मे, संसार से दूर, तपोवन मे रहकर सम्पूर्ण मुनिवृत्ति के पालन करने का विधान था, और यही राजधर्म प्राचीन भारत मे विहित था।

उस प्राचीन युग मे अधिकार-योग पर सदा के लिए आरूढ रहना दर्शन, राजनीति धर्म और व्यवहार की दृष्टि से अत्यन्त गौण माना जाता था।

सन्दर्भ-संकेत :

१. द्र० डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त का 'गुप्त-साम्राज्य' मे दिया हुआ विवरण : "अप्रतिघ-भांति : यह कुमारगुप्त (प्रथम) का सिक्का है। इनपर मध्य में हाथ जोडे हुए एक व्यक्ति खडा है। उनके दायें-बायें दो और व्यक्ति हैं। कुछ विद्वानों के मत में वे नारी-आकृतियां हैं; अन्य उनमें से एक को पुरुष मानते हैं। यह व्यक्ति-समूह किस बात का प्रतीक है, अभीतक निश्चित नहीं किया जा सका है। हॉर्नले की धारणा थी कि मध्य में बुद्ध की आकृति है और दो उपासिकाएँ उनकी उपासना कर रही हैं। स्मिथ ने उन्हें राजा और उसकी पत्नियां माना है। वि० प्र० सिन्हा का भी यही मत है। एलन का कहना है कि मध्य का व्यक्ति राजा जैसा नहीं लगता। अन्य आकृतियों को भी रानी मानने

का कोई कारण उन्हे नही जान पड़ता। उनकी दृष्टि में उनमें से एक 'मिनर्वा' सरीखी जान पड़ती है। वे समूचे प्रतीक को किसी अभारतीय प्रतीक की नकल अनुमान करते है। वा० वि० मिराशी की दृष्टि में मध्य का व्यक्ति साधु है और अगल-बगल राजा-रानी है। रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि बीच में शिव और अगल-बगल नन्दी और पार्वती हैं। अलतेकर का कहना है कि बीच मे कुमारगुप्त हैं और अगल-बगल के व्यक्ति मे एक तो रानी और दूसरा युवराज अथवा सेनापति है। अजित घोष का कहना है कि इस दृश्य मे कुमारगुप्त अपने माता-पिता से परामर्श कर रहे हैं। श्रीधर वासुदेव सोहोनी ने आरम्भ में इनमे कार्त्तिकेय और उनकी दो पत्नियों की कल्पना की थी। फिर, उन्होंने कहा कि यह तारक से युद्ध करने जाने से पहले कुमार (कार्त्तिकेय) के कश्यप और अदिति के पास जाने का दृश्य है। अब उनका कहना है कि इसमें कुमारगुप्त श्री (लक्ष्मी) और प्रताप (शक्ति) के मूर्त्त रूप के साथ अंकित किये गये है। जबतक कि इस प्रतीक के चारो ओर अंकित अभिलेख का सन्तोषजनक पाठ उपलब्ध नही होता, इन मतो मे से किसी के पक्ष-विपक्ष में कुछ भी कहना कठिन है।"

२. द्र० 'रघुवंश', ३.७० और सर्ग १८।
३. द्र० 'रघुवश', ४.८६, जहाँ सज्जनो के आचरण का एक सिद्धान्त भी बता दिया गया है : 'आदानं हि विसर्गाय।'
४: द्र० 'हर्षचरित', पृ० ७३ (काणे-आवृत्ति) : 'जीवितावधिगृहीतसर्वस्वमहादानदीक्षा।'
५. द्र० : शमन हुई ली : 'द लाइफ ऑव हुएनसांग', पृ० ८३-८४।
६ हीरानन्द शास्त्री : 'नालन्दा ऐण्ड इट्स एपिग्रॉफिक मेटेरियल', पृ० ९२–१०२। श्रीदेवपालदेव के उनचालीसवें राज्यवर्ष मे यह ताम्रपट्ट लिखा गया था। यह श्लोक उनके मुंगेर-ताम्रपट्ट मे भी पाया जाता है।
७ त्यागपथ के सम्बन्ध मे 'प्रहत' शब्द का प्रयोग अत्यन्त मार्मिक है। यहाँ 'प्रहत' का अर्थ, प्रकर्षेण मारा गया ऐसा नही है। उसका सम्बन्ध, 'प्रघात' या 'पद्धति' (=पद्+हति) शब्द से है, जिसपर पदतल का बार-बार उपयोग किया गया है, वह प्रहत मार्ग है। (द्र० इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द २१, पृ० २५८)। 'प्रहत' पथ का अर्थ होता है—घिसा-पिटा हुआ मार्ग।
८. कौटिल्य : अर्थशास्त्र, १.१९.३३ तथा ३४।

००

△ १०० ए। ४, मनाली कॉपरेटिव हाउसिंग सो० लि०
ऑफ. लेन-नं० १५, प्रभात रोड
एरण्डवन, पूना : ४११००४

बिहार में मुसलमानों की हिन्दी-सेवा*

△ डॉ॰ महताब अली

भारतवर्ष के जनसाधारण की भाषा हिन्दी के साथ मुसलमानों का घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल से वर्त्तमान समय तक अक्षुण्ण रहा है। इतना ही नही, वे हिन्दी-साहित्य-सर्जन में भी सक्रिय सहयोग सदा देते रहे है। फलस्वरूप, अब्दुर्रहमान (सन् १०१० ई०) से जहूरबख्श (मृत्यु . ८ नवम्बर, १९६४ ई०) तक की परम्परा मे सैकड़ो मुसलमान कवियो और लेखको ने अपनी रचनाओ द्वारा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध किया है। यह परम्परा अबाध गति से प्रवाहित हो रही है। बिहार के मुसलमान भी यथाशक्ति हिन्दी-सेवा मे अन्य प्रदेश के सहधर्मियों से पीछे नही रहे है, अपितु कुछ बातो मे वे आगे ही रहे है। हिन्दी का जो रूप (खड़ी बोली) सम्प्रति देश की राष्ट्रभाषा के पद पर सुशोभित है, उसका श्रेय बहुलाशत मुसलमानों को है। खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार मे उनका योगदान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे सहर्ष स्वीकार किया है।

हिन्दी की लिपि के सम्बन्ध मे हम यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना चाहते है कि मुसलमानो ने हिन्दी के साहित्य-सर्जन में फारसी-लिपि का भी उपयोग किया है। हिन्दी के सूफी-कवि जायसी, कुतबन, शेख रहीम आदि ने इसी लिपि में अपने काव्य प्रस्तुत किये। बिहार में हिन्दी के प्रथम मुसलमान-कवि ईसा की तेरहवी शती मे हुए थे। उनका नाम था हजरत मखदूम शरफुद्दीन बिहारी। वह एक बड़े सूफी सन्त थे। उनका जन्म ६६१ हिजरी में मनेर (पटना) मे हुआ था और ७८२ हिजरी मे बिहारशरीफ (पटना) मे उनकी मृत्यु हुई। वह उर्दू और हिन्दी दोनो के कवि थे। उनके बहुत-से हिन्दी-दोहे है, जिनमे बीमारियों की दवाएँ बताई गई है। आँख के दर्द के लिए उनका प्रसिद्ध नुस्खा निम्नांकित है, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि, कथाकार और आलोचक डॉ॰ सैयद अख्तर अहमद ओरैनवी के शोध-प्रबन्ध 'बिहार मे उर्दू-जबान-ओ-अदब का इर्तिका' के पृ० १५१ से उद्धृत है .

लो वह फिटकरी मुरदासंग
हल्दी जीरा एक-एक टंक;
अफ्यून चना भर, मिर्चें चार
उरद भर मोथा उसमें डार;
पोस्त के पानी पोटली करे
नैना पीरा पल में हरे।

---

* पूर्व-प्रस्तावित, किन्तु कारणवश अप्रकाशित 'श्रीशार्ङ्गधर सिंह अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए प्राप्त लेखो के संग्रह से प्रस्तुत लेख साभार आकलित है।—सं०

हजरत मखदूम साहब की ऐसी-ऐसी और भी बहुत-सी चौपाइयाँ और दोहे उपलब्ध हो सकते हैं। विश्रुत शोधकर्त्ता प्रोफेसर हसन अस्करी साहब ने दो सौ वर्ष के एक ऐसे हस्तलेख की सूचना दी है, जो हिन्दी मे है और सुरक्षित प्राप्त हुआ है। इसमे हजरत मखदूम साहब की कविता भी है। उनके शिष्य हजरत मुजफ्फर शम्स बल्खी भी इने-गिने सूफी सन्तो मे थे। बल्खी साहब का एक दोहा इस प्रकार है :

जी मगन में है कि आई हैं सुहानी रतियाँ।
जिनके कारण थे बहुत दिन से बनाये गतियाँ॥

(द्र० डॉ० ओरैनवी का उक्त शोध-प्रबन्ध, पृ० १५३)

बिहारशरीफ-स्थित मखदूम साहब के मजार पर हर वर्ष उर्स होता है, जिसमें बिहार के कोने-कोने से मुसलमान स्त्री-पुरुष सम्मिलित होकर मुरीद होते हैं।

बिहार के, हिन्दी के सूफी-कवियों मे हजरत शेखशाह किफायतुल्लाह का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। किफायत साहब ने 'विद्याधर' नामक एक प्रेमकाव्य की रचना सन् ११३६ ई० में की :

सन् ग्यारह सौ छत्तीस जब आई।
ताहि दिन कथा कही मन लाई॥

इसमें सन् की चर्चा आई है। यहाँ यह सन्देह स्वाभाविक है कि यह हिजरी-सन् है या देशी सन्। किफायत साहब पूर्णिया जिले के दुमका गाँव के रहनेवाले थे। उन्होंने स्वयं अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

पूर्णिया से पूरब नियरे एक गाँव।
परगना हवेली दुमका नाँव॥

किशनगंज (पूर्णिया) के प्रसिद्ध अधिवक्ता मुहम्मद सुलैमान साहब ने किफायत साहब की प्रेमकथा 'विद्याधर' से सम्बद्ध एक निबन्ध उर्दू-पत्रिका 'इन्सान' के पूर्णिया-विशेषाक मे लिखा था, जिससे ज्ञात होता है कि सुलैमान साहब सन् ११३६ ई० को 'मुल्की' (देशी) सन् मानते है। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा को 'विद्याधर' की फारसी-लिपि मे मुद्रित संस्करण की एक प्रति सुलैमान साहब से ही प्राप्त हुई थी। प्रो० हसन अस्करी साहब ने भी उस काव्य की प्रतिलिपि (कैथी-लिपि) आचार्य नलिनजी को देखने के लिए दी थी। [द्र० 'साहित्य' (त्रैमासिक), अक्टूबर, १९५८ ई०, सम्पादकीय, पृ० ६]। (सम्प्रति, पोथी 'विद्याधर' की पूर्णिया-प्रति बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के हस्तलिखित ग्रन्थशोध-विभाग में सुरक्षित है।—सं०)

पोथी 'विद्याधर' से पता चलता है कि किफायत साहब का आविर्भाव उस समय हुआ था, जिस समय मुगल-सलतनत आखिरी साँस ले रहा था। वह दिल्ली के रँगीले बादशाह मुहम्मदशाह के शासनकाल मे थे और अपनी रचना से पीरों पर पूर्ण विश्वास रखनेवाले सहृदय और समन्वयवादी सन्त मालूम होते हैं। उनके पीर हजरत मुहम्मद

आजम थे । उनके हृदय में यह बात बैठ गई थी कि पीर की कृपा से ही मेरे दिल में प्रेम का चिराग जला है

सो हजरत किरपा जो किया।
हृदय जुड़े प्रेम कर दिया ।।

उक्त काव्य से तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का चित्र भी सामने उभरकर आता है। इस काव्य मे "बहुत-सी उपयोगी वस्तुओ का वर्णन किया गया है। इसमे समस्याएँ भी है, दवाएँ भी है, शुभ-अशुभ जानने का तरीका भी है, स्वप्न के शुभ-अशुभ फल ज्ञात करने की बात भी है, कोकशास्त्र भी है।" (उपरिवत्, सम्पादकीय, पृ० ८)

अब हम सन्त कवि **दरिया साहब** की चर्चा करेंगे। **दरिया साहब** का स्थान बिहार मे ही नहीं, बल्कि समग्र हिन्दी-सन्त-साहित्य मे बहुत ऊँचा है। वह 'बिहार के कबीर' माने जाते रहे हैं। हिन्दी-ससार को दरिया-साहित्य से पूरी जानकारी कराने का श्रेय **डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री** को है। उनके शोध का ही फल है कि हम अब अपनी इच्छा के अनुसार **दरिया** साहब के सभी ग्रन्थों का विशेष रूप से अध्ययन करने मे समर्थ हो सकते है। उनकी बीस पुस्तकों की जानकारी हमे **शास्त्रीजी** ने कराई है:

१. अग्रज्ञान, २. अमरसार, ३. भक्तिहेतु, ४. ब्रह्मचैतन्य, ५. ब्रह्मविवेक, ६. दरियानामा, ७. दरियासागर, ८. गणेशगोष्ठी, ९ ज्ञानदीपक, १०. ज्ञानमूल, ११. ज्ञानरत्न, १२. ज्ञानस्वरोदय, १३. कालचरित्र, १४. मूर्त्तिउखाड़, १५ निर्भयज्ञान, १६. प्रेममूल, १७. शब्द या बीजक, १८. सहसरानी (सहस्रानी), १९ विवेकसार और २०. यज्ञसमाधि। (द्र० : 'सन्त-कवि दरिया : एक अनुशीलन', प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ० ३७) [बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से **दरिया साहब** के सभी मूल ग्रन्थो को 'दरिया-ग्रन्थावली' नाम से दो खण्डो मे प्रकाशित करने की योजना है, जिनमे एक खण्ड प्रकाशित हो चुका है।—स०]

उक्त ग्रन्थों में चौथा 'ब्रह्मचैतन्य' संस्कृत मे है और छठे 'दरियानामा' की रचना फारसी मे हुई है। इनमे क्रमशः विकृत सस्कृत एव फारसी का प्रयोग हुआ है। शेष अट्ठारह रचनाएँ हिन्दी मे हुई हैं। इनमे **दरिया साहब** ने अधिकांशतः अपने द्वारा चलाये गये दरियापन्थ से सम्बद्ध सन्तमत की बातो का उल्लेख किया है।

दरिया साहब का जन्म सन् १६७४ ई० मे शाहाबाद जिले के धरकन्धा गाँव के मुस्लिम-परिवार मे हुआ था। उनकी मृत्यु भी वही १०६ वर्ष की उम्र मे सन् १७८० ई० मे हुई। आज भी उस गाँव मे उनकी समाधि वर्त्तमान है।

दरिया साहब की रचनाओ से पता चलता है कि वह काव्य मे आनन्द और उपदेश दोनो को साथ-साथ देखने के पक्ष मे थे। उनमे हम कवि और सन्त दोनो का समन्वित रूप पाते हैं। वह काव्य मे शृंगार रस को नियन्त्रित रखना चाहते थे, लोगों को आनन्द की ओर आकृष्ट करते हुए सदुपदेश देना चाहते थे। वह सन्त थे, इसलिए उनकी रचनाओ मे शान्त रस की ही प्रधानता है और अन्य रस गौण है। किन्तु, उन्होंने 'ज्ञानरत्न' में

प्रसंगवश वात्सल्य, श्रृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, रौद्र और हास्य रसों का समीचीन उपस्थापन किया है। दरिया साहब ने अनायास शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों को स्वाभाविक रूप में यथास्थान बिठाकर साहित्य-सौन्दर्य की वृद्धि की है। अपने 'शब्द' में उन्होंने लाक्षणिक भाषा का प्रयोग विशेष रूप से किया है। यह सम्पत्ति सन्त-साधकों से तो उन्हे मिली ही थी, फारसी के जानकार होने के नाते उस विरासत से भी वह कैसे वंचित रहते ? एक उदाहरण द्रष्टव्य :

> गरकाब गरकाब एह इसिक दरियाव है लौसिम तन को माँहि वारि डारा।
> रंग में रंग जिन्हि रंग ज़ाहिर किया सुरख और स्याह सपेद सारा।
> महबूब महबूब मासूक मेरा मिला बहिश्त बरवेस है पर्द फारा।
> कहे दरिया दर जानिए जानिए जोति है जगमगा चित्र झारा।
>
> (शब्द, ३.२३)

> काया गढ़ कनक मन रावना मद है कुमति कुंभकरन मदमस्त माता।
> मेघनाद गर्व है गरजि बाते करे सुन बे मूढ़ फिरि होत पाता।
> भक्त भभीखना मरम जाके नहीं राम के काम में आप राता।
> कहें दरिया उन्हि सर्ब कुल नासिया दाया मंदोदरी कहत बाता।
>
> (शब्द, ३.६०)

सन्त कवि दरिया ने अपनी रचनाओं मे भाँति-भाँति के लगभग चालीस छन्दों का प्रयोग किया है। उनका अवधी-प्रधान हिन्दी-काव्य विषयवस्तु, भाव, भाषा, रस, अलंकार और छन्द, सभी दृष्टियों से उच्च कोटि का काव्य है। दरिया साहब ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे अपनी रचनाओं और सद्विचारो से बिहार को गौरवान्वित किया है।

दरियापन्थी निरंजन, अर्थात् कामनाओ को वश मे करने के लिए 'निमेरा' क्रिया किया करते है। इस क्रिया मे इक्कीस कदम इस तरह चलना होता है, जिससे पीठ उत्तर दिशा की ओर नही पड़े और नीचे लिखे गुप्त मन्त्र का उच्चारण भी हर कदम पर करना पड़ता है :

> मेरे ज़बर को ज़ेर कर, ज़ेर को ज़बर कर।
> या दाता कड़ी मुश्किल, साहब सत्तनाम मसूर।
> बेबहा मेरे सिर पर सदा वली अल्लाह।
> मदद बेबहा की, दोहाई दरिया साहब की दोहाई।

तात्पर्य यह है कि "भक्त सत्पुरुष और दरिया साहब की दुहाई मनाता है और उनके आशीर्वाद तथा साहाय्य की कामना करता है, जिससे वह 'सबल को दबाने और दबे हुए को सबल बनाने' में सफल हो सके। सबल को दबाने का अर्थ चित्तवृत्ति-निरोध से है, चित्तवृत्तियाँ प्रबल और उपद्रवी होती ही हैं; और दबे हुए को सबल बनाने का अर्थ है—आभ्यन्तर आत्मशक्ति का (जो प्रायः निहित अवस्था में रहती है) पूर्णरूपेण विकास।" (सन्त-कवि दरिया : एक अनुशीलन, पृ० ३५)

ईसा की अट्ठारहवी शती के पूर्वार्द्ध में सासाराम के गुरु **अलहबकस** भी एक प्रसिद्ध हिन्दी-सेवी हो चुके है। सन्त तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' के पाठ करने का उन्हे बहुत शौक था। उनकी हस्तलिपि सुन्दर होती थी। इसलिए, उन्होने 'रामचरितमानस' की एक प्रति स्वयं नकल की थी। उस नकल की खण्डित प्रति अब भी अमेरिका के पेनसिलवानिया-विश्वविद्यालय मे सुरक्षित है। हिन्दी के उद्भट विद्वान् और मगध-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष **आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र** ने 'रामचरित-मानस' के सम्पादन में उस प्रति की अण्वादर्श-प्रति (माइक्रोफिल्म) का उपयोग किया है। मिश्रजी ने उस खण्डित प्रति का लिपिकाल सन् १७५९ ई० दिया है। स्वय **अलहबकस साहब** ने समय का सकेत इस प्रकार किया है: "अमल श्रीपातिसाह औरंगसाह आलमगीर जागीर साहजादे रफी अलहदा फौजदार नवाब बिराहिम (इब्राहीम?) मोकाम नग्रे सहसाराउ में।"

उक्त प्रति के विषय मे **आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र** स्वसम्पादित 'रामचरित-मानस' (काशिराज-सस्करण) के 'आत्मनिवेदन' में, पृ० १६ पर लिखते हैं: "यह पुष्पिका इस तथ्य का प्रमाण है कि मुसलमान-बन्धुओं की भी मानस के प्रति अभिमुखता थी। पुस्तक के पन्ने अस्त-व्यस्त है, यत्र-तत्र खण्डित भी हैं। प्रति प्राचीन परम्परा की है और नागराक्षर मे यथासाध्य शुद्ध लिखी है।"

अट्ठारहवी शती मे ही शाहाबाद जिले के भभुआ-अनुमण्डल के रहनेवाले **इसवी खॉ** हिन्दी में कविता करते थे। उन्होने 'बिहारी-सतसई' की टीका 'रसचन्द्रिका' के नाम से की थी। **यूसुफ खाँ** नाम के सज्जन ने भी इसी नाम से टीका प्रस्तुत की थी। अत., इसका पता अभी तक नही चल सका है कि इसवी खॉ और यूसुफ खाँ दोनों दो व्यक्ति थे, अथवा एक ही।

उन्नीसवी शती के पूर्वार्द्ध मे हिन्दी के कवि **मुहम्मद शेखावत राय** का जन्म सारन जिले के गयासपुर नामक गाँव मे हुआ था। उन्होने खड़ी वोली और भोजपुरी, दोनो मे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थी। पुस्तक के रूप मे उनकी तीन रचनाएँ—'मन्दोदरी', 'हरकिसुनचौंतीसी' और 'रावणसंवाद'—मिलती है। उनकी कविताएँ अनेक छन्दो मे उपलब्ध हैं। एक छन्द देखिए:

> लीनो है कृपान कर बाबू कुँवर सिंह,
> दाहिनो अलंग बाँह फरकत फिर-फिर।
> साथ के समीपी लिये छिपी मुख जोह रहे,
> जितने सिपाही बात पूछत हैं डर-डर॥

('हिन्दी-साहित्य और विहार': स० आचार्य शिवपूजन सहाय, द्वि० ख०, पृ० ३३०)

शेखावत राय के भतीजा **तोफाराय** भी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हो गये है। वह सन् १८५७ ई० मे वर्त्तमान थे। रीतिकालीन सुप्रसिद्ध हिन्दी-कवि 'पजनेस' से उनकी

घनिष्ठता थी। 'पजनेस' हथुआ-राज्य (सारन) और बेतिया (चम्पारन) के दरबारों में आते-जाते थे, ऐसा आचार्य शिवपूजन सहाय ने उक्त ग्रन्थ में लिखा है। इस तरह तोफाराय और 'पजनेस' का पारस्परिक सम्बन्ध सम्भव मालूम होता है। उन्होंने बाबू कुँवरसिंह और अँगरेजी फौज के बीज बीबीगंज (शाहाबाद) मे हुई मुठभेड़ का हृदय-ग्राही वर्णन अपनी भोजपुरी की कविता-पुस्तक 'कुँवरपचासा' में किया है।

तोफाराय की दूसरी कविता-पुस्तक 'मझौली-विवाह-वर्णन' मे राजवश के एक विवाहोत्सव का दृश्य प्रस्तुत किया गया है। इसमे उन्होने अपने भाट होने का पूरा सबूत दे दिया है। तीसरी पुस्तक 'विन्ध्यवासिनीस्तोत्र' साधारण कोटि की रचना है। उनका ग्राम्य चित्रण द्रष्टव्य है :

> कहै तोफाराय साँच बोले रिसियाय उठे,
> झूठन सों नेहवान हद्द को बिगारे है।
> करिके निसंक पाप आतमा उठाये धूम,
> देखि-देखि रोम-रोम डहकत हमारे है।।

(उपरिवत्, पृ० १९८)

चम्पारन जिले के ममरखा नामक गाँव के निवासी खवखन मियाँ करुण और वीर रस के अच्छे कवि थे। उन्होने इन दोनो रसो से सम्बद्ध 'चैनसिंह पँवारा' कविता-पुस्तक की रचना की थी। उनका आविर्भाव उन्नीसवी शती के पूर्वार्द्ध मे हुआ था।

सैयद अली मुहम्मद साहब उर्दू के महाकवि थे। 'शाद' उनका उपनाम था। उनका जन्म सन् १८४६ ई० मे अजीमाबाद (पटना) मे हुआ था। वह सन् १९२७ ई० मे स्वर्गवासी हुए। उन्होंने हिन्दी मे भी रचनाएँ की है और उनके कुछ छन्द भोजपुरी में भी मिलते है। उदाहरण ·

> बढ़े जाते है दुख यह उम्र ज्यों-ज्यों घटती जाती है।
> मगर मै सोचकर खुश हूँ कि बेड़ी कटती जाती है।।
>
> ....
>
> मोरा सैयाँ मोरो बात न पूछे।
> तड़पि-तड़पि सारी रैन गँवाई हो रामा।।
> 'शाद' पिया को ढूँढन निकली।
> गल्लिअन-गलिअन खाक उड़ाई हो रामा।।

बीसवी शती मे बेतिया (चम्पारन)-निवासी सरल साहित्यसेवी पीर मुहम्मद मूनिस साहब का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बिहार के हिन्दी-गद्यसाहित्य मे उनका नाम अमर रहेगा। उनकी हिन्दी-सेवा से प्रभावित होकर ही साहित्यिकों ने आरा मे होनेवाले बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पन्द्रहवे अधिवेशन (सन् १९३७ ई०) का सभापति उन्हें बनाया था। उसमे उन्होने जो भाषण किया था, उसके दो अश हम यहाँ

उद्धृत करते है, इससे उनकी गद्यशैली का नमूना और भाषा तथा लिपि-सम्बन्धी उनके विचार स्पष्ट होते है -

"हिन्दी-भाषा को राष्ट्रभाषा का उच्चासन ग्रहण करना है। इसलिए, इसको खास तरह से दूसरी भाषाओं के प्रचलित और व्यावहारिक शब्दों को अपनाकर अपना शब्द-भाण्डार भरना बहुत जरूरी है। विदेशी और प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त देहातो के ग्रामीण लोगो मे प्रचलित कुछ बोलियों के शब्दों से भी कुछ उपयोगी शब्दो को लेना चाहिए।" ('बिहार की साहित्यिक प्रगति', प्र० बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना, द्वितीय खण्ड, पृ० ५९)

"आज हमारी समस्याओ के सुलझाने मे भावुकता और साम्प्रदायिकता को भले ही स्थान मिले, किन्तु अन्त मे हमारी विजय निश्चित है। आज जो देवनागरी-लिपि में साम्प्रदायिकता की बू पाते है, वे ही कल व्यावहारिकता के नाते इसे अवश्य अपनायेगे।" (तत्रैव, पृ० ६१)

छियालीस वर्ष पूर्व कही हुई **मूनिस साहब** की बाते आज भी बहुत अंश में हू-ब-हू दुहराने की जरूरत मालूम होती है।

मुजफ्फरपुर के **मुहम्मद लतीफ हुसैन साहब** की हिन्दी-सेवा को बिहार भूल नहीं सकता। धर्म-परिवर्त्तन के पश्चात् वह **नटवरजी (ललितकुमार सिंह)** हो गये और उन्होंने अपनी मूल्यवान् रचनाओ से हिन्दी-साहित्य-भाण्डार को समृद्ध किया।

प्रो० हसन अस्करी साहब ने शोध के द्वारा हिन्दी की अमूल्य सेवा की है। इस निबन्ध मे उनकी चर्चा पहले भी हो चुकी है। उन्होने प्राचीन मुस्लिम-परिवारों के व्यक्तिगत संग्रहालयों और खानकाहों से हिन्दी-कृतियों की पाण्डुलिपियों को उपलब्ध किया है। पहले उन्हे मनेर (पटना) मे **जायसी** के 'पद्मावत' और 'अखरावट' की दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई। इस विषय के विशेषज्ञ **डॉ० माताप्रसाद गुप्त** ने 'साहित्य' (त्रैमासिक) के एक अक के एक लेख मे **अस्करी साहब** की बड़ी प्रशसा की। इससे प्रोत्साहित होकर उन्होने अपना काम दूने उत्साह के साथ आगे बढ़ाया। इसी क्रम मे, मनेर मे ही उन्हे अवधी के दो कवि **मौलाना दाउद** और **शेख कुतबन** की क्रमश. 'चन्दाइन' (चन्दावत या चन्दायत) और 'मृगावती' की अत्यन्त प्राचीन पाण्डुलिपियों के अंश प्राप्त हुए। **अस्करी साहब** को ऐसे कार्यो मे विशेष अभिरुचि है। ऐसे विषयो पर विभिन्न पत्रिकाओं मे उनके लेख भी प्रकाशित हुए है। हिन्दी-साहित्य को, विशेषतः प्रेमाख्यान से सम्बद्ध शोध-साहित्य को, **अस्करी साहब** ने पर्याप्त विस्तार दिया है।

हिन्दी-सन्त-साहित्य की धारा भी बिहार मे बह रही है। सीवान (सारन) के **खलीलदास** और मुजफ्फरपुर जिले के **तवारख साहब** के नाम ऐसे सन्त-कवियो मे लिये जा सकते हैं। "**तवारख साहब** ने एक मठ की शाखा को अपना निवास बनाकर धन्य किया है। इस मठ की एक शाखा जपमी में है, जहाँ तवारख नामक कोई मुसलमान कबीरपन्थी साधु आज भी रहते है।" ('कबीर और कबीरपन्थ' - डॉ० केदारनाथ द्विवेदी, पृ० १६९)

उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार श्रीसुहैल अजीमाबादी (अब स्वर्गीय) हिन्दी मे भी लिखते थे और हिन्दी-साहित्य की प्रगति मे सक्रिय भाग लेते थे। उर्दू के मशहूर कवि, आलोचक और अफसानानिगार डॉ० सैयद अख्तर अहमद ओरैनवी ने अपनी कविता की भाषा ऐसी रखी है, जिसे हम हिन्दी कह सकते है। इसके सम्बन्ध मे हमने ऊपर लिपि की बात उठाई थी। कुछ लोगों का कहना है कि देवनागरी-लिपि में लिखी जानेवाली भाषा ही हिन्दी हो सकती है। यह सही बात है कि इसकी वैज्ञानिकता और व्यावहारिकता के कारण हिन्दी देवनागरी-लिपि मे ही लिखी जानी चाहिए, किन्तु यदि हम हिन्दी-भाषा को किसी कारणवश दूसरी लिपि मे भी लिखते हैं, तो वह दूसरी भाषा नही हो जाती। हिन्दी के सूफी-कवि इसके प्रमाण हैं। कीथ ने अँगरेजी मे 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' और 'संस्कृत ड्रामा' पुस्तको की रचना की है, जिनमे संस्कृत-श्लोको के उद्धरण रोमन-लिपि में दिये गये है। इससे क्या वे उद्धरण अँगरेजी या ग्रीक के हो गये ? सरदार जाफरी साहब ने 'दीवान-ए-गालिब' और 'दीवान-ए-मीर', दोनो का सम्पादन इस प्रकार किया है, जिनमे देवनागरी-लिपि का उपयोग हुआ है; तो क्या वे दोनो हिन्दी के काव्य हो गये ? हमारा अपना खयाल है कि अहिन्दीभाषी लेखको मे अधिकाश को अपनी मातृभाषा की लिपि मे लिखने मे सुविधा होती हैं। हिन्दी-उर्दू के सुविख्यात लेखक श्रीउपेन्द्रनाथ अश्क और श्रीसुहैल अजीमाबादी का कथन है कि उन्हे फारसी-लिपि मे लिखने मे आसानी होती है, इसलिए वे पहले उसी लिपि मे रचनाएँ प्रस्तुत करते है, तत्पश्चात् उन्हे देवनागरी मे लिप्यन्तर कर दिया जाता है। इस तरह, बिहार के आधुनिक उर्दू-कवियो की कुछ रचनाएँ ऐसी है, जिन्हे हिन्दी कहने मे कुछ आपत्ति नही होनी चाहिए। फारसी-छन्दो का इस्तेमाल करने पर भी घनानन्द, भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, हरिऔध, प्रसाद, पन्त, निराला, अज्ञेय आदि हिन्दी के ही कवि माने गये है। इस विचार से उर्दू के महाकवि जमील मजहरी की निम्नाकित पंक्तियो को हिन्दी-भाषा कहने मे कोई हिचक नही है :

मेरी आत्मा से वो राग उठे कि जो सो रहे हैं वो जाग उठें।
मै सितार हूँ, मुझे राग दे, मै सितार हूँ, तू बजाये जा ॥

('कवि की प्रार्थना' से)

...

हमसे बाज़ार की रौनक़ है, हमसे चेहरों की लाली है।
जलता है हमारे दिल का दिया, दुनिया की सभा उजियाली है ॥
दौलत की सेवा करते हैं ठुकराये हुए हम दौलत के।
मज़दूर हैं हम, मज़दूर है हम, सौतेले बेटे क़िस्मत के ॥
सोने को चटाई तक भी नहीं, हम ज़ात के इतने हेटे हैं।
ये सेजों पर सोनेवाले शायद भगवान के बेटे हैं ॥

('मजदूर की बाँसुरी' से)

उर्दू के मशहूर कवि रजा नकवी की हिन्दी-सेवा उल्लेखनीय है। हिन्दी-भाषा मे उन्होने 'उर्दू-शायरी और बिहार' पुस्तक लिखकर हिन्दी-पाठकों को बिहार के

उर्दू-शायरों का परिचय प्राप्त करते का अवसर प्रदान किया है। यह पुस्तक बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित है।

बिहार के आदिवासी-क्षेत्र में रहनेवाली सुश्री जहाँआरा बेगम कहानियाँ लिखकर हिन्दी की सेवा कर रही है। उनकी कहानियाँ बड़ी अच्छी होती है और हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी होती रही है। कुछ वर्ष पहले 'कहानी' पत्रिका के एक विशेषांक मे उनकी 'रजिया' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई थी, जिसकी लोगो ने बडी प्रशसा की थी। साम्यवादी नेता अली अशरफ साहब हिन्दी के पुराने हिमायती रहे है। वह वर्षों तक हिन्दी-साप्ताहिक 'जनशक्ति' के सम्पादक रहे। सीवान (सारन) कॉलेज के प्रो० अजमत अली ने भी हिन्दी में लेख लिखे है।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के समकालीन मलयपुर (मुँगेर)-निवासी खैरुल्ला मियाँ और मसौढ़ी (पटना) के रहनेवाले अब्दुल जलील साहब ने अपने रचित गद्य और पद्य के द्वारा हिन्दी की सेवा की है। तत्कालीन शेर अली साहब की 'बहार' की समस्या पर एक पूर्त्ति द्रष्टव्य है :

> जा छिन सत्य घटै बसुधा युग द्वापर दाबत पाप पहार।
> दास न कष्ट बिमोचन धर्म हितू हित ब्रह्म धरै अवतार।।
> ता छिन शक्ति समेत सबै सुर भावति भाँतिन को बपु धार।
> आइ बसै ब्रज सानन्द 'शेर' बिलोकन केशव रास बहार।।

('बिहार की साहित्यिक प्रगति,' वही, प्रथम खण्ड, पृ० ९४)

शाहाबाद जिले के क्वाथ-निवासी अब्दुल गनी ने भी अपनी रचनाएँ हिन्दी मे की थी। जफर अहमद जफर हिन्दी-मासिक 'हमारा मन' के सम्पादन-विभाग मे थे। वह हिन्दी मे कहानी और लेख लिखते रहे हैं। अशफाक साहब भी हिन्दी-मासिक पत्र के सम्पादक रह चुके है। डॉ० आयशा अहमद अध्ययन-अध्यापन द्वारा हिन्दी की सेवा करते हुए 'प्रेमचन्द के कथा-साहित्य पर उर्दू का प्रभाव' विषय पर हिन्दी मे शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार, सम्प्रति बिहार मे अगणित मुसलमान हिन्दी के पठन-पाठन, लेखन तथा शोध आदि द्वारा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने मे तन-मन-धन से लगे हुए हैं। आशा है, कोई अनुसन्धित्सु सज्जन ऐसे विषय पर शोध करेंगे, जिससे बिहार के मुसलमानों की हिन्दी-सेवा पर पूर्ण प्रकाश पड़ सके। ●●

△ द्वारा : आइडियल स्टोर
डाकघर के सामने, महेन्द्रू, पटना-६

निराला-काव्य में रस-व्यंजना

△ डॉ० भंवरलाल जोशी

आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराला विद्रोह, क्रान्ति और परिवर्तन के कवि माने जाते है। अतः, उनके काव्य की समीक्षा के विषय में समीक्षकों ने निराला के कवि-व्यक्तित्व की तद्विषयक विशेषताओं को उजागर करते हुए उनकी रचनाओं में छायावादी युग की काव्य-प्रवृत्तियों के स्वरूप और युगान्तर प्रस्तुत करनेवाले परिवर्त्तनों एवं मौलिक उद्भावनाओं को ही देखा-परखा है। काव्य-समीक्षा के लिए मान्य भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की व्यापक दृष्टि से, विशेषत. रस की दृष्टि से रचनाओं का सूक्ष्म मूल्यांकन नहीं किया गया है। ऐसा न करने के सम्भवतः दो कारण रहे हैं। पहला यह कि, छन्द, अलंकार आदि की कतिपय परम्परागत मान्यताओं के प्रति कवि निराला का विद्रोह देखकर हिन्दी-समीक्षकों ने कदाचित् उन्हें भारतीय काव्यशास्त्र का ही विरोधी समझ लिया, जैसा कि निराला के काव्य-विषयक कतिपय समीक्षा-ग्रन्थों से प्रकट होता है। दूसरा यह है कि, रस-व्यंजना के लिए रस के चारों अवयवो के योग का विधान प्रबन्ध और मुक्तक-काव्य में ही सफलतापूर्वक हो सकता है, प्रगीत-मुक्तक और गीतिकाव्य मे नहीं; क्योंकि वहाँ कवि स्वयं आश्रय-रूप मे रहता है। इस प्रकार, छायावादी काव्य में आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति की अधिकता से कारण रस के चारो अवयवों का सुस्पष्ट विधान न देखकर समीक्षकों ने निराला के काव्य की रसाभिव्यंजना के प्रति विशेष आग्रह नहीं प्रदर्शित किया।

यह सही है कि आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति की अधिकता के कारण प्रगीत-मुक्तकों और गीतिकाव्यों में यद्यपि रस के सभी अवयव स्पष्टत. विद्यमान नहीं होते, तथापि वहाँ एक या दो रसावयवों के विद्यमान रहने से शेष अवयवो का आक्षेप होता है, जिससे रस-निष्पत्ति हो जाती है। दूसरे, निराला स्वस्थ-अस्वस्थ सभी परम्परागत काव्य-मान्यताओं के विरोधी न थे और न ही भारतीय काव्यशास्त्र कोई वादमूलक परम्परा है। वह तो काव्यसौन्दर्य की परीक्षा की सुचिन्तित स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टि है और निराला ने स्पष्टत उसे स्वीकारा है। जैसे भारतीय काव्य-परम्परा में रस को काव्य की आत्मा माना जाता रहा है, वैसे ही स्वयं महाकवि निराला ने भी रसों को समझाने और उन्हें उनके यथार्थ रूप मे दरसाने की शक्ति के आधार पर कवि की श्रेष्ठता की बात कहकर काव्य में रस के आत्मत्व को स्वीकार किया है। हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से प्रकाशित अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ 'रवीन्द्र-कविता-कानन' में उन्होंने लिखा है·

'नव रसों को समझाने और उन्हे उनके यथार्थ रूप मे दरसाने की शक्ति जिसमे जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा कवि है।'

निराला स्वयं रससिद्ध कवि थे, इसमे कोई सन्देह नहीं। अत:, रस की दृष्टि से निराला के काव्य की समीक्षा और उनकी रसव्यंजक क्षमता का प्रकाशन अपेक्षित है। इधर पिछले कुछ एक वर्षो मे निराला-काव्य पर प्रकाशित शोधग्रन्थों मे, उनके काव्य मे शृगार, वात्सल्य, वीर, करुण, शान्त, भक्ति, बीभत्स, रौद्र आदि रसों की व्यंजना बताते हुए उनकी रचनाओ का उक्त रसो की दृष्टि के वर्गीकरण तो किया गया है, किन्तु उनकी रचनाविशेष मे रस-व्यजना को स्पष्ट करने के लिए, रसावयवो की खोज करके उनके द्वारा अभिव्यंजित रस का अन्त.साक्ष्यमूलक विवेचन नही किया गया। निराला-काव्य की समीक्षा के इस उपेक्षित पक्ष पर विचार आवश्यक है। इसलिए, इस लेख मे उनकी प्रबन्धात्मक कृति 'तुलसीदास' के सन्दर्भ मे रसाभिव्यंजना का विवेचन अभिप्रेत है।

'तुलसीदास' निराला का ऐसा प्रबन्धात्मक काव्य है, जिसे विद्वान् महाकाव्य के औदात्त्य से पूर्ण मानते है और भाव एवं शैली के औदात्त्य की दृष्टि से 'कामायनी' और 'उर्वशी' के समकक्ष बताते हैं। इसमे निराला महाकवि तुलसीदास के आविर्भाव-काल की भारतीय परिस्थति को अलंकृत रूप मे प्रस्तुत करते हुए, व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष के माध्यम से, राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरुद्धार के प्रति लक्ष्यैकतान है। काव्य के आरम्भ मे भारत के प्रभापूर्य सूर्यास्त का वर्णन है और अन्त में स्वभावत: सूर्योदय का उल्लेख है। वर्ण्य विषय की वैचारिक प्रकृति के अनुरोध से यद्यपि इस कृति मे भावसौन्दर्य और रसाभिव्यक्ति के अधिक स्थल नही है, तथापि प्रकृति के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करने के प्रसगो मे जहाँ-तहाँ सुख-दु:खात्मक भावनाएँ अत्यन्त सरस रूप मे अभिव्यंजित हुई है।

शरद् की धवल धरा को स्पर्श करती हुई चन्द्रकिरणो को कितने ही भावुक लोचनो ने जाने कितनी बार देखा होगा, किन्तु उस दृश्य मे चन्द्र द्वारा अपनी प्रेयसी पृथिवी के अधरो पर कोमल किरणो से अमृत-सिंचनमय चुम्बन का सरस कोमल एवं आह्लादक भाव तो, पवन द्वारा जुही की कली के स्पर्श मे पवन और कली की प्रियतम-प्रेयसी-भाव से प्रेमभरी अठखेलियाँ देखनेवाली तथा सरोज-अक पर सोती हुई शरद्-शिशिर दो बहनो के सुख-विलास-मद-शिथिल अगो पर पद्मपत्र को पखा झलते निहारनेवाली, निराला की, सहृदय और भावुक आँखे ही अनुभव कर सकती है :

अब, धौत धरा, खिल गया गगन,
उर-उर को मधुर, ताप-प्रशमन
बहती समीर, चिर आलिंगन ज्यों उन्मन
झरते हैं शशधर से क्षण-क्षण
पृथिवी के अधरों पर निःस्वन
ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन संजीवन।

शारदीय शोभा के इस वर्णन में जगत् का कण-कण मधुर भाव से आह्लादित दिखाया गया है। धरा वर्षाजल से धुलकर निर्मल हो गई है, नभ खिल गया है, अर्थात् हर्षानुभव कर रहा है और वायु ऐसे वह रही है, जैसे वह (पेड़-पौधों) से चिर आलिंगन के लिए प्रेमोन्मत्त हो। शरद् के ऐसे मादक वातावरण में, वर्षाजल से धुलकर निर्मल और काशपुष्प आदि से श्वेतवर्णा पृथिवी (नायिका) के अधरों पर चन्द्रमा (नायक) अपनी कोमल, स्निग्ध किरणों के चुम्बन से अमृत बरसा रहा है। चन्द्रमा का यह चुम्बन-व्यापार पृथिवी (नायिका) के प्राणों में ज्योति-संचार कर रहा है और चन्द्रमा तथा पृथिवी का यह आह्लादक प्रेम-व्यापार चुपचाप (निःस्वन) चल रहा है।

ऊपर उद्धृत पद्य में सम्भोग-शृंगार रस की अभिव्यक्ति हो रही है। चन्द्रमा (नायक) और पृथिवी (नायिका) में रति नामक स्थायी भाव की व्यंजना, पृथिवी के मिलनोत्सुक होने से (नहा-धोकर सजने से) और चन्द्रमा के 'चुम्बन' नामक कायिक अनुभाव से हो रही है। पृथिवी (नायिका) और चन्द्रमा (नायक) दोनों के प्रेम की पारस्परिक स्थिति से यहाँ 'रति' स्थायिभाव है : 'यूनोरन्योन्यविषया स्थायिनीच्छा रतिः स्मृता।' चन्द्रमा के कायिक अनुभाव से यहाँ 'रति' की व्यंजना हो रही है। अतः, चन्द्रमा आश्रय-विभाव है, पृथिवी आलम्बन-विभाव और खिला हुआ गगन तथा शीतल-मन्द पवन से युक्त उज्ज्वल रात्रि उद्दीपन-विभाव है। 'ज्योतिर्मय' तथा 'संजीवन' शब्दों से हर्ष संचारी भाव व्यंग्य है और आश्रय की आंगिक चेष्टा 'चुम्बन' अनुभाव। फलतः, इन सबसे सहृदय में यहाँ रतिप्रकृतिक सम्भोग-शृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु, परम्परागत शास्त्रीय दृष्टिवाले आलोचकों को यहाँ शृंगार रस मानने में यह आपत्ति हो सकती है कि प्रकृति में चेतनता का आरोपण करके प्राकृतिक पदार्थों (चन्द्रमा और पृथिवी) को रतिक्रीडा में मग्न दिखाने से यहाँ सहृदय को रसानुभूति न होकर 'भाव' की ही अनुभूति होती है; क्योंकि काव्यशास्त्र में पुरुष तथा स्त्री-विषयक रति को छोड़कर अन्यों के प्रति जो रति होती है, वह सब भाव के अन्तर्गत आती है। शृंगार रस तो स्त्री-विषयक रति का परिपाक होने पर ही होता है। (काव्यप्रकाश : आचार्य विश्वेश्वर-कृत हिन्दी-व्याख्या, पृ० १४०।

किन्तु, आधुनिक आलोचक प्रकृति-वर्णन में भी रसाभिव्यक्ति मानते हैं। आधुनिक आलोचकों में लब्धकीर्त्ति आचार्य नगेन्द्र का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि प्रकृति-वर्णन मे रस-व्यंजना होती है : "प्रकृति का काव्य में अनेक रूपों मे वर्णन मिलता है। आलम्बन-रूप मे वह भाव का विषय ही बन जाती है, कवि का और फिर पाठक का, सीधा उसके साथ ही रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृति-काव्य में अभिव्यक्त या उसके द्वारा प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध यह भाव निश्चय ही आस्वाद्य होता है, इतने उत्कृष्ट रूप में तो नहीं, जितना कि रति, उत्साह आदि का भाव हो सकता है, किन्तु आस्वाद्य वह निश्चय ही होता है और उसमें तन्मयीकरण की शक्ति भी निस्सन्देह होती है। इसलिए, उसकी रसनीयता और उसी के आधार पर उसका रसत्व भी सिद्ध हो जाता है।" (रस-सिद्धान्त, पृ० २७१)

प्रस्तुत प्रकृति-वर्णन में प्रकृति के प्रति कवि की रागात्मक तल्लीनता के कारण पृथिवी और चन्द्रमा का प्रेयसी-प्रियतम के रूप मे मानवीकृत चित्रण है, अर्थात् पृथिवी और चन्द्रमा तो यहाँ प्रतीक-मात्र है, जिनपर कवि की अपनी भावना का आरोप है। अतः, सहृदय जन यहाँ कवि की भावना (रति) के साथ तादात्म्य करके शृंगार रस के आस्वादन में समर्थ हो जाते है।

मानव-भावों की प्रत्यक्ष व्यंजना के प्रसंगों में तो कहीं-कही शृंगार की अति सहज अभिव्यक्ति हुई है। जैसे 'गृह के सब जन लौटे निज-निज शयन-कक्ष' जैसी काव्य-पंक्ति का उल्लेख करके दिन-भर के 'विरह' के पश्चात् रात्रि में, सबके अपने-अपने शयन-कक्ष मे चले जाने पर, अपने शयन-कक्ष में निज प्रियतम से मिली प्रिया के 'रति' स्थायी भाव की अभिव्यक्ति से सहृदय को सम्भोग-शृगार की रसानुभूति होती है :

प्रिय नयनो में बँध प्रिया नयन चयनोत्कल
पलकों से विस्फारित, स्फुरित राग
सुनहला भरे पहला सुहाग
रग-रग से रँग रे रहे जाग स्वप्नोत्पल।

यहाँ युवती प्रियाजन 'रति' स्थायी भाव का आश्रय-विभाव है, युवा प्रिय (नायक) आलम्बन-विभाव और रात्रि तथा शयन-कक्ष का एकान्त उद्दीपन-विभाव है। प्रिया के हृदयस्थ 'रति' स्थायी भाव की व्यजना उसकी पलको की उत्फुल्लता से होती है। अत, पलको की उत्फुल्लता ('पलको से विस्फारित') सात्त्विक अनुभाव है और 'सुनहला भरे पहला सुहाग' नयनो से 'हर्ष' तथा 'रग-रग से रँग रहे' से 'मद' व्यभिचारी भाव व्यंग्य है। इनसे सहृदय मे रतिप्रकृतिक 'सम्भोग-शृगार' रस की अभिव्यक्ति होती है।

सम्भोग-शृंगार का उक्त प्रसग तुलसीदास के हृदय में छलकते हुए मधुर भाव की विडम्बना बनकर आया है। जहाँ औरो की प्रियाओं मे 'रति' भाव व्याप्त है, वहाँ उनकी प्रिया के हृदय मे आज विपरीत भावधारा का ज्वार उठ रहा है :

कवि रुचि में फिर छलकता रुचिर
जो, न था भाव वह छवि का स्थिर
बहती उल्टी ही आज रुधिर धारा वह
लख-लख प्रियतम-मुख पूर्ण इन्दु
लहराया जो उर-मधुर सिन्धु
विपरीत ज्वार जल-बिन्दु-बिन्दु द्वारा वह।

रत्नावली-हृदय के 'क्रोध' स्थायी भाव का यही ज्वार है, जो रत्ना को **'प्रेम के फाग में आग त्याग की तरुणा'** सिद्ध करते हुए तुलसीदास के मोहभग का कारण बनता है। रत्ना के हृदय में व्याप्त उक्त 'क्रोध' नामक स्थायी भाव के आरम्भ की व्यंजना उसकी भाभी के व्यंग्यवाले प्रसंग से होती है और तुलसीदास की रत्ना-कृत

धिक्कृति के प्रसंग तक इसकी व्याप्ति है। तुलसी की, कुलधर्म को धो डालनेवाली 'मति-गति' रत्ना के 'क्रोध' का हेतु है। अत, तुलसी यहाँ आलम्बन-विभाव है और रत्ना के पीहर का परिवेश, भाभी का चुभता हुआ व्यंग्य और आलम्बनगत चेष्टा '**लख नर्त्तित कवि शिखि मन समुच्च**' उद्दीपन-विभाव है। अनुभावों की सुन्दर योजना इन पंक्तियो मे है :

बिखरी छूटी शफरी अलकें
निष्पात नयन-नीरज पलकें
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता।

'**बोली मन में होकर अक्षम, रक्खो मर्यादापुरुषोत्तम ! लाज का आज भूषण, अक्लम नारी का**' पद की आर्त्त पुकार मे 'दैन्य' '**कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये**' पद के आश्चर्यमिश्रित दुःख में 'खेद' और '**धिक्, धाये तुम यों अनाहूत, धो दिया श्रेष्ठ कुलधर्म धूत**' में 'अमर्ष' संचारी भावो की व्यंजना है। इस प्रकार, यहाँ रौद्र रस की अभिव्यक्ति होती है और रत्ना की भाभी के व्यंग्य से तुलसी की रत्ना-कृत धिक्कृति तक के प्रकरण का रस रौद्र है।

रत्ना के भाई की बातचीत में आँसुओं से भरी माँ, कूलद्रुम जैसे बापू, भाभी और पड़ोस की सभी भाभियो एवं सहेलियो की स्नेहप्रेरित व्याकुलता वर्णित है। उन सबकी व्याकुलता रत्ना के अदर्शन को लेकर है : '**हैं विकल देखने को सत्वर।**' इसलिए, रत्ना आलम्बन-विभाव है। रत्ना की सहेलियो का रत्ना के पीछे ससुराल जाकर कई बार नैहर लौट आना तथा सहेलियो द्वारा रत्ना-विषयक मीठे ताने देना उद्दीपन-विभाव है। माँ के 'आँसू' सात्त्विक अनुभाव है और बापू के कथन '**छू लूँ पद फिर**' में 'औत्सुक्य' संचारी व्यंग्य है। रत्ना के प्रति नैहर के प्रेम मे प्रधानता माँ के प्रेम (वात्सल्य) की है, जिसकी ध्वनि निम्नाकित पक्तियो मे है .

फिर किया अनावश्यक प्रलाप
जिसमें जैसी स्नेह की छाप
पर अकथनीय करुणा-विलाप जो माँ का।

अन्तिम पंक्ति में 'करुणा-विलाप' शब्दो का प्रयोग देखकर यहाँ करुण रस की कल्पना नही करनी चाहिए; क्योकि रत्ना का उक्त वियोग दुःखमय होने पर भी उसमे पुन-र्मिलन की आशा बनी हुई है। अत., यहाँ 'विप्रलम्भ-वात्सल्य' रस की ही अभिव्यक्ति होती है, 'करुण' रस की नही। 'वात्सल्य' की पूर्ण सामग्री यहाँ उपलब्ध होने पर भी रत्ना के प्रति नैहर का प्रेम 'आश्रय' के प्रत्यक्ष अनुभावो से व्यग्य न होकर रत्ना के भाई के द्वारा कथित ही है। अत., यहाँ वत्सल-भाव कुछ अपुष्ट ही रह गया है और रस-परिपाक पूर्णतः नही हुआ है।

एक-आध स्थल पर 'करुण' रस की भी अभिव्यक्ति होती है। जैसे, आगे निर्दिष्ट छन्द के उत्तरार्द्ध में :

देखा सामने मूर्त्ति छल-छल
नयनों में छलक रही अचपल
उपमिता न हुई समुच्च सकल तानों की।

यहाँ नयनों में आँसुओं का छलकना 'अश्रु' नामक सात्त्विक अनुभाव है और 'मूर्त्ति अचपल' पदों से 'स्तम्भ' नामक सात्त्विक अनुभाव और 'जडता' नामक व्यभिचारी भाव का बोध होता है और इनसे 'शोक' स्थायी भाव की व्यंजना कराई गई है। रत्ना यहाँ आश्रय-विभाव और तुलसी आलम्बन-विभाव है। तुलसी के प्रेम की स्मृति और साम्प्रतिक गृहत्याग आदि उद्दीपन-विभाव हैं, जिनका बोध आक्षेप द्वारा होता है। अतः, यहाँ तुलसी-रूप आलम्बन-विभाव, 'अश्रु' और 'स्तम्भ' नामक अनुभावो तथा 'जडता' और 'व्याधि' नामक व्यभिचारी भावो द्वारा उद्दीपन-विभाव का आक्षेप हो जाने पर विभाव आदि तीनो के संयोग से 'शोक' स्थायी भाव की 'करुण' रस मे अभिव्यक्ति होती है। यहाँ विप्रलम्भ-श्रृंगार न मानकर 'करुण' रस मानने का कारण यह है कि रत्ना का तुलसी से अब जो वियोग हो रहा है, उसमें पुनर्मिलन की सारी आशाएँ मिट चुकी है और सीता से राम के दूसरी बार के 'निरवधि' वियोग की भाँति तुलसी से रत्ना का यह वियोग भी स्थायी वियोग है, जिसका स्पष्ट संकेत तुलसी के इस कथन में है :

अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उससे गृह के भीतर
देखूँगा नहीं कभी फिरकर

अतः, यह 'करुण' रस की सीमा मे आता है। करुण रस और विप्रलम्भ-श्रृंगार का अन्तर प्रकट करते हुए अभिनवगुप्त ने पुनर्मिलन की सम्भावना से रहित निराशामय वियोग को करुण रस का ही हेतु माना है. **"करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विभवनाश-वध-बन्धसमुत्थो 'निरपेक्षभाव.'। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः।"**

(अभिनवभारती, अ० ६)

यहाँ 'सापेक्ष' और 'निरपेक्ष' शब्दो का अर्थ क्रमश. 'आशामय' तथा 'नैराश्यमय' करना चाहिए। विप्रलम्भ मे पुनर्मिलन की आशा बनी रहने से दु.खमय होने पर भी उसमे जीवन का आशामय दृष्टिबिन्दु बना रहता है। परन्तु, करुण रस मे पुनर्मिलन की कोई सम्भावना न रहने से निराशामय दृष्टिकोण हो जाता है।' (काव्यप्रकाश, हिन्दी-व्याख्या : आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १२९-३०)।

इसके विपरीत, रत्ना के अपने भाई के साथ नैहर चले जाने पर तुलसी और रत्ना का जो वियोग हुआ था, वह विप्रलम्भ का उदाहरण है; क्योंकि उसके दु.खमय होने पर भी उसमें तुलसी (आश्रय-विभाव) के मन मे रत्ना से पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। अत., वह 'विरह'-हेतुक विप्रलम्भ-श्रृंगार के अन्तर्गत आता है। रत्ना से वियोग के उक्त प्रसंग मे तुलसी-प्रिया रत्ना की गति, नृत्य, गीत आदि की स्मृति उद्दीपन-विभाव हैं और **'भ्रंजित नयनों का भाव सघन, भर इंगित जो करता क्षण-क्षण'** से व्यंग्य 'स्मृति' और

'सुनने को व्याकुल हुए प्राण प्रियतम के' पद से व्यंग्य 'औत्सुक्य' यहाँ व्यभिचारी भाव है। 'रति' स्थायी भाव की व्यंजना यहाँ अनुभावो द्वारा नही होती, प्रत्युत आलम्बन-विभाव, उद्दीपन-विभाव तथा व्यभिचारी भावो के द्वारा होती है और इन्ही विभाव आदि से अनुभावो का आक्षेप होने पर (विभाव आदि तीनो के संयोग से) सहृदय को यहाँ 'विप्रलम्भ-शृंगार' रस की अनुभूति होती है।

यद्यपि, इस काव्य में पूर्वोक्त सम्भोग-शृंगार, विप्रलम्भ-वात्सल्य, विप्रलम्भ-शृंगार, रौद्र और करुण रसो की विभिन्न प्रसंगो मे अभिव्यक्ति हुई है, तथापि इसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बहुव्याप्ति शान्त रस की ही है। पूर्वार्द्ध मे चित्रकूट की प्रकृति तुलसीदास के सम्मुख अपना दुःख प्रकट करती है और अपने असार जीवन को चिन्मय स्पर्श प्रदान करने के लिए प्रेरित करती है :

> पाषाण-खण्ड ये, करो हार,
> दे स्पर्श अहल्योद्धार-सार उस जग का
> अन्यथा यहाँ क्या ? अन्धकार
> बन्धुर पथ, पंकिल सरि, कगार,
> झरने, झाड़ी, कण्टक, विहार पशु-खग का।

प्रकृति से उसकी दुःखमयता और चिन्मय स्पर्श के विना असारता का संकेत पाकर तुलसीदास का मन ऊर्ध्वगामी होकर नभोदेश के स्तर के स्तर पार करते हुए 'मानस के ऊर्ध्व देश' मे पहुँचता है। वहाँ पहुँचकर कवि तुलसीदास ने देखा कि भारत का देशकाल मायान्धकार मे आवद्ध है और परिणामत. दुःख-विकल है। यह सब देखकर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पार्थिव ऐश्वर्य तृष्णापरक एवं पीडकार है और संसार दुःखों का अन्धकूप-मात्र है.

> पार्थिवैश्वर्य का अन्धकार पीडाकर
> ....
> यह कूप-कूप भव अन्धकूप

और, मुक्ति का सत्य-रूप, अर्थात् चैतन्य-रूप आत्मतत्त्व इस मायावद्ध जगत् (जिसका प्रतीक इसलाम-संस्कृति है) से परे है :

> इस अनिलवाह के पार प्रखर
> किरणों का वह ज्योतिर्मय घर
> रवि-कुल-जीवन-चुम्बन कर मानस-घन जो
> है वही मुक्ति का सत्य-रूप।

इस प्रकार, इसलाम-संस्कृति-रूप माया से बँधा हुआ भारत का देशकाल तुलसीदास में तत्त्वज्ञान जगाने में हेतु सिद्ध होता है। अत., तत्त्वज्ञान स्थायी भाव है और इसलाम-

संस्कृति, अर्थात् माया से आवृत देशकाल यहाँ आलम्बन-विभाव है। स्वयं कवि के इन शब्दो से भी यह प्रमाणित होता है :

देश-काल के शर से बिंधकर,
यह जागा कवि अशेष-छविधर।

ब्राह्मण-क्षत्रियो की वर्ण-धर्मच्युति, दोनो की आर्त्त पुकार, क्षुद्रो की निस्सहाय विपन्न अवस्था आदि उद्दीपन-विभाव हैं। (ये सब देश-कालरूप आलम्बन की चेष्टाओ के अन्तर्गत आते हैं।) **'रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय'** कथन से 'धृति' और **'इसके भीतर रह देश-काल हो सकेगा न रे मुक्त-भाल'** से 'मति' संचारी भाव व्यंग्य हैं। तुलसीदास की चेतनोर्मियों के प्राणो का मुक्त्यर्थ उमड़ना मानसिक अनुभाव है। इस प्रकार, यहाँ शान्त रस की पूरी सामग्री तो विद्यमान है, परन्तु भावो की प्रतीति के लिए अनुभावो की सम्यक् योजना न होने के कारण बिम्बविधान अपूर्ण है, अत. यहाँ रस का पूर्ण परिपाक नही होता है।

इस काव्य का पर्यवसान भी शान्त रस मे ही होता है। रत्नावली की तीव्र भर्त्सना से तुलसीदास के मन में तत्त्वज्ञान का प्रबल संस्कार जागा और उससे उनका 'काम' तत्क्षण जल गया, जिसके परिणामस्वरूप वामा अनलप्रतिमा दिखाई पड़ी। चारो ओर ज्ञान-ही-ज्ञान फैल गया, जिससे जग का ध्यान (जाड्य) छूट गया और रत्नावली में ही सृष्टि-रशना, विश्व-हंस-स्थित शारदा के दर्शन हुए। फिर, रहस्यात्मक चिन्मय ऊर्ध्वारोहण के फलस्वरूप भारती के उक्त रूप की प्रतीति भी क्षीण हो गई और शेष रह गया सर्वद्वन्द्वनिर्मुक्त केवल आनन्द :

आभा भी क्रमशः हुई मन्द
निस्तब्ध व्योम-गति-रहित छन्द
आनन्द रहा, मिट गये द्वन्द्व, बन्धन सब।

यह आनन्द रहस्यात्मक योगसाधना से प्राप्त आध्यात्मिक आनन्द है और रस-विषयक दृष्टिकोण से शान्त रस के अन्तर्गत आता है, जिसे कवि निराला यहाँ तत्त्वज्ञान-मूलक मानने के पक्ष में है। उन्होंने 'जागा' क्रिया के प्रयोग से यहाँ तत्त्वज्ञान का स्थायी भाव होना ध्वनित भी किया है :

जागा, जागा संस्कार प्रबल
रे गया काम तत्क्षण वह जल
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान
हो गया भस्म वह प्रथम भान
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह।

यह तत्त्वज्ञान ही अन्त मे आनन्द-रूप मोक्ष मे परिणत होता है। तत्त्वज्ञान को आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस का स्थायी भाव माना भी है ' तत्त्वज्ञानन्तु सकलभावा-

न्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्य. स्थायितमं सर्वा रत्यादिका स्थायिचित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति । (तत्रैव) अर्थात्, तत्त्वज्ञान तो अन्य सब (रत्यादि) भावों का आश्रयभूत, अन्य सब स्थायिभावो की अपेक्षा अधिक स्थायी और रत्यादि सब स्थायी चित्तवृत्तियों को व्यभिचारी बनाता हुआ स्वभावतः ही स्थायी भाव-रूप स्वयं सिद्ध है।

अत , तुलसीदास का शान्त रस अभिनवगुप्त-प्रतिपादित शान्त रस है, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ कि अभिनवगुप्त-प्रतिपादित विमर्शजन्य आनन्द दार्शनिक दृष्टि से अनुवृत्तिमूलक है और 'तुलसीदास' काव्य का यह आनन्द व्यावृत्तिमूलक है। ये अनुवृत्ति और व्यावृत्ति दर्शनगत साधना के भेदमात्र हैं। इनके भेद से आनन्द के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। हमारे इस कथन की पुष्टि महाकवि प्रसाद के रस के प्रसंग मे व्यक्त विचारों से हो जाती है। प्रसादजी ने लिखा है . 'रस में फलयोग, अर्थात् अन्तिम सन्धि मुख्य है। बीच के व्यापारों मे जो संचारी भावों के प्रतीक है, रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र है। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनो प्रकार से वस्तुनिर्देश किया जाता है।' ('काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ० ८१)

''तुलसीदास' मे नायक की आत्मतत्त्व की साधना में तत्त्वज्ञान से जगत् के हेतु 'काम' को जलाकर, स्थूल के त्यागपूर्वक उसे सर्वद्वन्द्वमुक्त सूक्ष्म आनन्द की अद्वैत आन्तरिक अनुभूति कराई गई है, जबकि अभिनवगुप्त की साधना-पद्धति में सबको (स्थूल जगत् को भी) आत्मतत्त्व के ही स्फुरण-रूप मे ग्रहण कर सर्वद्वन्द्वमुक्त अद्वैत-विमर्शरूप आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार, 'तुलसीदास' में व्यापकता शान्तरस की है और यही अगी रस है। बीच मे शृगार एव रौद्र रस क्रमश व्यतिरेक (निषेधपूर्वक) और अन्वय (सर्वग्रहणमूलक)-पद्धतियो से शान्त रस के ही उपकारक सिद्ध होते हैं। अत , शान्त रस के साथ इनका उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध है, परन्तु इन्हे हम अभिनवगुप्त की भाँति सागर-तरंगन्याय से शान्त के विकार नही कह सकते, क्योंकि 'तुलसीदास' मे अद्वैतविमर्श की पद्धति अनुवृत्तिमूलक न होकर व्यावृत्तिमूलक है।

यहाँ और एक प्रश्न उठ सकता है कि निराला शाक्तागम के अनुयायी है और इस कारण शैवाचार्य अभिनवगुप्त की भाँति वे भी जब जगत् को ब्रह्म का इच्छा-प्रसार मानकर सारे ब्रह्माण्ड को ही शक्ति का रूप स्वीकार करते है,[1] तब तुलसीदास के अद्वैत-

१. (क) इच्छा हुई सृष्टि की
प्रथम तरंग वह आनन्द-सिन्धु में
त्रिगुणात्मक रचे रूप। (परिमल)

(ख) रूप-रस-गन्ध-स्पर्श
शब्दज संसार यह
वीचियाँ ही अगणित शुचि सच्चिदानन्द की। (उपरिवत्)

पद के विमर्शरूप आनन्द की प्राप्ति मे उन्होंने इस काव्य में व्यावृत्तिमूलक पद्धति क्यो अपनाई ?

इसका उत्तर यह है कि 'तुलसीदास' चरितमूलक काव्य है और इसके नायक गोस्वामी तुलसीदास की भी अपनी विशिष्ट दार्शनिक मान्यता रही है। अतः, गोस्वामी तुलसीदास को काव्यनायक बनाकर उस नायक की अद्वैतपद की आनन्दोपलब्धि में गोस्वामी तुलसीदास की दार्शनिक मान्यता की रक्षा करना भी निराला का उत्तरदायित्व था और अपने इसी उत्तरदायित्व का निर्वाह उन्होंने नायक तुलसीदास को व्यावृत्तिमूलक पद्धति से अद्वैत आत्मानन्द तक पहुँचाकर किया है; क्योंकि निराला की यह स्पष्ट मान्यता रही है कि पूर्णत्व की प्राप्ति (अद्वैत आत्मपद की प्राप्ति) दो प्रकार से होती है : एक, अहंकार को घटाकर मिटा देने से और दूसरे, उसे बढाकर भूमा मे परिणत कर देने से। अहकार को घटाकर मिटा देना जिस तरह 'पूर्ण' व्याप्ति है, जैसा भक्त कवियो ने किया, उसी तरह बढाकर भूमा मे परिणत कर देना भी 'पूर्ण' व्याप्ति है, जैसा ज्ञानियो ने किया। (निराला : चयन : 'निराला-काव्य और व्यक्तित्व', पृ० ७२)

गोस्वामी तुलसीदासजी के 'पायो परम विश्रामु' इस स्वानुभूत सत्य के 'परम विश्रामु' (स्वात्म-विश्रान्ति) की प्राप्ति मे उनकी अपनी साधना का रूप भी तो पहले प्रकार का ही था। अत., तुलसीदास की आनन्दोपलब्धि मे उक्त व्यावृत्तिमूलक पद्धति का ग्रहण औचित्यपूर्ण है और ऐतिहासिक तथ्य के प्रति कवि की जागरूकता का परिणाम होने से प्रशंसनीय ही है।

●●

△ ३८२-ए, जवाहरनगर
लोहागल, अजमेर (राजस्थान)

●

●

बाणभट्ट का प्रीतिकूट ग्राम*

●

पं० हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

सहार (भोजपुर) से केवल आध मील दूर पूर्वोत्तर कोण मे, शोण के बाये तट पर, पीऊर ग्राम है, जो सीधे अरवल के पश्चिम मे है। पुराना 'पीऊर' गाँव भी अरवल शहर की तरह सोन की धारा मे बह गया है। आज इस गाँव में लगभग एक सौ घर है, जिनमे ७ घर कुम्हार, २ घर बढ़ई, ३ घर तेली, १० घर पासी, १० घर मलाह, ५ घर कानू तथा १० घर मोची (चमार) के है। बाकी ५३ घरो मे केवल पठान और सैयद बसते है! यहाँ मखदूम शाह मुबारक नामक फकीर का एक दरगाह है, जो गाँव के दक्षिण सोन के तट पर आम के बागीचे में है। यह दरगाह लगभग सन् १७०० ई० में औरंगजेब के शासनकाल मे बना था, जिसमें बहुत अल्प धनवाली मिल्कियत निकाली गई थी। मखदूम साह मुबारक सम्पूर्ण एकवारी डिवीजन (शाहाबाद) का पुरोहित था, जिसके चेले डिवीजन के प्रसिद्ध जमीन्दारो तथा काश्तदारो के यहाँ दान-कर वसूलने के लिए नियुक्त थे। मै सन् १९६४ ई० मे जब इस गाँव को देखने गया था, तब सैयद मुहम्मद इदरीश नामक व्यक्ति ने मुझे बताया था कि प्राचीन जमाने की एक सनद के मुताबिक हमारे पूर्वजो को यहाँ की ३४८४ बीघे जमीन मिली थी। यही 'पीऊर' ग्राम संस्कृत के उद्भट विद्वान् एव महाकवि बाणभट्ट का 'प्रीतिकूट' है, जो उस समय एक ब्राह्मणाधिवास था, जहाँ द्वार-द्वार पर शास्त्रों तथा वेदों की अध्ययनशालाएँ चलती थी। आज उस 'प्रीतिकूट' मे न तो एक भी घर ब्राह्मण का है, न ही किसी उच्च जातिवाले हिन्दू का। इतिहास के विद्यार्थी यह जानते हैं कि मुस्लिम-शासनकाल के लगभग ५०० वर्षो मे जिन-जिन मुख्य स्थानो मे उच्च जातिवाले हिन्दू थे, उन-उन स्थानो मे मुस्लिमो का केन्द्र बना, जहाँ हिन्दू-मन्दिर थे, वहाँ मस्जिदे बनी और जहाँ आश्रम थे, वहाँ कब्रिस्तान बन गये थे। मुस्लिम-शासको की इसी नीति के कारण भी 'प्रीतिकूट' ग्राम 'पीऊर' बना और ब्राह्मणो का स्थान सैयदो तथा पठानो ने ले लिया।

बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' नामक ग्रन्थ में 'प्रीतिकूट' की पहचान के लिए जिन मुख्य तथ्यो का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं :

---

* कतिपय शोधमनीषियों का आग्रह है कि वर्त्तमान औरंगाबाद, प्राचीन गया जिले में शोण के पूर्वीतट पर अवस्थित 'पीरू' ग्राम ही बाणभट्ट की निवासभूमि 'प्रीतिकूट' है। विगत ८ और ९ दिसम्बर (सन् १९८२ ई०) को वहाँ 'बाण-संगोष्ठी' का आयोजन किया गया था, जिसमें विभिन्न शोध-अध्येताओं ने बाणभट्ट और उनके साहित्य से सम्बद्ध अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये थे।—सं०

१. प्रीतिकूट सरस्वती-आश्रम के प्रदेश मे था और सरस्वती-आश्रम शोण के पश्चिमी तट पर था ।
२. सरस्वती-आश्रम से च्यवनाश्रम शोण के उस पार मे एक गव्यति दूर था ।
३. प्रीतिकूट से पाँच-छह् घण्टे पैदल चलने पर मल्लकूट मिलता था ।
४. मल्लकूट से पूरा दिन पैदल चलने के बाद गंगा पार की जा सकती थी ।
५ गंगा पार के यष्टिगृहक से सिर्फ तीन-चार घण्टे चलने पर अजिरवती नदी के तट पर स्थित मणिपुर (मनियर) गाँव मे पहुँचा जा सकता था ।

उक्त पाँचो स्थानो मे अन्तिम चार का पता चल जाने पर स्वत. पहले का पता लग जायगा कि 'प्रीतिकूट' ही 'पीऊर' ग्राम है, जो शोण के पश्चिमी तट पर स्थित है ।

बाणभट्ट वात्स्यायन-वंश का था और अपने वंश की प्राचीनता तथा कुलीनता प्रमाणित करने के लिए उसने सारस्वत गोत्रवालों से सम्बन्ध स्थापित करने के निमित्त एक काल्पनिक पौराणिक आख्यान जोड़ा है। वह कहता है: **'एवमनुश्रूयते ।'** उसके कुल में एक लम्बी परम्परा से सरस्वती की आराधना चली आती थी, अतः उसने बताया है कि मेरे वश का मूल ही साक्षात् सरस्वती की वंश-परम्परा से सम्बद्ध था। इसी बात को कहने के लिए वह पश्चिम की सरस्वती नदी को सरस्वती देवी के रूप मे शोण नद के पश्चिमी तट पर अवतीर्ण कराता है ।

'हर्षचरित' की कथा के अनुसार, ब्रह्मा की सभा मे सामवेद की एक ऋचा के गान-क्रम में उच्चारण-दोष के कारण दुर्वासा ऋषि और सरस्वती के मध्य विवाद उठ जाता है और दुर्वासा ऋषि सरस्वती को शाप दे देते है कि तुम मानवी बनकर पृथ्वी पर चली जाओ। शाप भोगने के लिए अपनी सखी सावित्री के साथ सरस्वती पृथ्वी पर आती है और शोण नद के पश्चिमी तट पर आश्रम बनाकर रहती है। वही च्यवन ऋषि के पुत्र दधीच के द्वारा उसके गर्भ से सारस्वत नामक पुत्र जन्म लेता है । 'महाभारत' तथा अन्य पुराणो के अनुसार, पता चलता है कि 'सरस्वती' और 'दधीचि' की कथा उन सारस्वत गोत्रवालों के लिए कही गई है, जो पुराकाल मे 'सरस्वती' नदी के किनारे निवास करते थे। किन्तु, बाणभट्ट के समय उसकी निवासभूमि से थोड़ी दूर पर ही च्यवन-वन (च्यवनाश्रम) था, अत' बाण ने इस आश्रम के निकट तथा अपनी वंश-परम्परा को ज्ञानगुरु प्रमाणित करने के लिए अभिशप्त सरस्वती को अपनी निवासभूमि के समीप सोन के पश्चिमी तट पर विद्या देवी के रूप मे उतारा है और यही च्यवन ऋषि के पुत्र दधीच के साथ सरस्वती के प्रणय-योग के कारण इन दोनो से 'सारस्वत' नामक पुत्र के उत्पन्न होने की कहानी कही है। फिर, वह कहता है कि पुत्रोत्पत्ति के बाद सरस्वती स्वर्ग चली गई और मेरे गोत्र के प्रवर्त्तक 'वत्स' ऋषि की माता अक्षमाला ने अपने पुत्र के साथ ही 'सारस्वत' का भी लालन-पालन किया, अतएव मेरा वश भी सारस्वत-वशवालो के समान ही उच्च है ।

इतनी बात कहकर बाणभट्ट ने वत्स गोत्र और सारस्वत गोत्रवालों के पारस्परिक नैकट्य की चर्चा की है और अपने को उत्तम कुल का ब्राह्मण बताया है। आज भी इन दोनों गोत्रों में वैवाहिक सम्बन्ध होता है और इन गोत्रों के लोग सोन के पश्चिमी कछार के अमौना, ढोढनडीह, धनडीहाँ, बबुरा आदि गाँवो मे बसते है। प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता डॉ० देवसहाय त्रिवेद इसी ढोढनडीह ग्राम के है, जो सारस्वतगोत्रीय है और धनडीहाँ तथा बबुरा के ब्राह्मण वत्सगोत्रीय हैं। इसी ब्राह्मण-वंश में बाणभट्ट सोन के पश्चिमी कछार के 'प्रीतिकूट' (पीऊर) ग्राम मे उत्पन्न हुआ था। पश्चिमी तट पर ही 'प्रीतिकूट' था, इसीलिए बाण ने शोण की अद्‌भुत प्रशसा की है और सरस्वती के मुँह से भी शोण की प्रशंसा कराई है तथा पश्चिमी तट पर उसके उतरने एवं वास करने का उल्लेख इन पक्तियो मे किया है : "सखि, मधुरमयूरविरुतय कुसुमपांशुपटलसिकतिल-तरुतलाः परिमलमत्तमधुपवेणीवीणारणितरमणीया रमयन्ति मां मन्दीकृतमन्दाकिनी-द्युतेरस्य महानदस्योपकण्ठभूमयः पक्षपाति च हृदयमत्रैव स्थातुं मे इति। अभिनन्दित-वचना च तथेति तया तस्य पश्चिमे तीरे समवातरत्।"

अर्थात्, "आकाश से उतरती हुई सरस्वती ने जब विशाल शोण महानद और उसकी उपकण्ठभूमि को देखा, तब उसने अपनी सखी सावित्री से कहा 'सखि, इस महानद के कछार में मयूरो की मधुर ध्वनियाँ गूँज रही है। वृक्षो के नीचे वालुका-राशि की तरह फूलो के रजकणो की परतें बिछ गई है। पुष्पो की गन्ध से मदमाते भौरे वीणा के स्वर के समान गुंजार कर रहे है। इस महानद के कछार ने तो अपनी शोभा से मन्दाकिनी को भी तुच्छ कर दिया है। मेरा मन यही निवास करना चाहता है।' सरस्वती की ऐसी बात सुनकर सावित्री ने कहा : 'ठीक है।' तब सरस्वती सावित्री के साथ शोण के पश्चिमी तट पर उतर गई और वही रहने लगी।" इसके बाद की कथा मे आगे कहा गया है कि एक दिन जब दधीच सदल-बल अपने नाना शर्यात के आश्रम (हिमालय) से अपनी पैतृक निवासभूमि की ओर जा रहा था, तब सरस्वती से उसकी भेंट शोण के पश्चिमी तट पर हुई। दोनों एक दूसरे को देखकर मोहित हो गये। सावित्री ने जब दधीच के पार्श्वचर से उसका परिचय पूछा, तब विकुक्षि नामक पार्श्वचर ने दधीच का परिचय इस प्रकार दिया : "निजतेजःप्रसरप्लुष्टपुलोम्नश्च्यवनस्य बहिर्वृत्तिजीवितं दधीचो नाम तनयः। जनन्यप्यस्य जितजगतोऽनेकपार्थिवसहस्रानुयातस्य शर्यातस्य सुता राजपुत्री त्रिभुवनकन्यारत्नं सुकन्या नाम।" अर्थात्, "जिसने अपने तेज की लहर से पुलोमा नामक राक्षस को क्षार कर दिया है, उसी च्यवन ऋषि का यह दधीच नामक परमप्रिय पुत्र है। इसकी माता का नाम सुकन्या है, जो शर्यात नामक जगद्विजयी राजा की पुत्री है और त्रिभुवन की कन्याओं मे रत्न के समान है।" इसके बाद विकुक्षि ने कहा : "यहाँ से दो कोस दूर शोण नद के उस पार भगवान् च्यवन का अपने ही नाम पर निर्मित च्यावन नामक वन है, जो कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान के समान है। वह उनका निवासस्थान भी है। हम दोनों

वहीं जायेंगे।" · "इतश्च गव्यूतिमात्रमिव पारेशोणं तस्य भगवतश्च्यवनस्य स्वनाम्ना निर्मितं व्यपदेशं च्यावनं नाम चैत्ररथकल्पं कानने निवासः। तदवधिरेवेयं नौ यात्रा।"

उक्त सन्दर्भ से इतना स्पष्ट है कि, सरस्वती की निवासभूमि शोण के पश्चिमी तट पर थी और च्यावन वन, जहाँ च्यवन का आश्रम था, सरस्वती की निवास-भूमि से दो कोस दूर शोण के उस पार पूर्वी तट पर था। अब देखना है कि वाण की निवासभूमि च्यवनाश्रम के प्रदेश मे थी या सरस्वती के आश्रम की ओर थी। यहाँ च्यवनाश्रम को 'पारेशोणं' कहकर वाणभट्ट इस ओर भी इंगित करता है कि उसके निवास-ग्राम से च्यवनाश्रम शोण नदी के पार था। इसके अतिरिक्त, और कई बार वह शोण को पार करके आने की चर्चा करता है। जैसे · दधीच की सन्देशवाहिका मालती के उस पार से आते समय के वर्णन मे 'शोणमुत्तीर्यायान्ती' तथा 'शोणसलिलमिवानयन्ती' का प्रयोग करता है और जब वह जा रही है, तब 'तुरगेण ततार शोणम्' का प्रयोग करता है। फिर, वह 'हर्षचरित' के अपने निम्नांकित कथाप्रसंग तथा एक वाक्य से तो विलकुल स्पष्ट कर देता है कि 'प्रीतिकूट' उस भूमिभाग मे था, जिस ओर सरस्वती ने अपनी वासभूमि बनाई थी।

कथा है कि दधीच अतिशय प्रेम के कारण स्वयं च्यवनाश्रम से आकर सरस्वती के निवास पर रहने लगा। कुछ समय वाद सरस्वती ने गर्भ-धारण कर पुत्र-प्रसव किया और उस लडके को वर दिया कि यह मेरे प्रभाव से रहस्यो के साथ चारो वेदो, सभी शास्त्रों और कलाओं मे अतिशीघ्र पारंगत हो जायगा। इसके वाद पुत्र को छोड़ सरस्वती सावित्री के साथ ब्रह्मलोक चली गई। इधर दधीच भी सरस्वती के विरह से व्यथित हो अपने पुत्र को अक्षमाला नामक एक ब्राह्मणी के जिम्मे सौंपकर तपस्या करने वन मे चला गया। अक्षमाला भार्गववंशीय ब्राह्मण की पत्नी थी, जिसकी वंश-परम्परा दधीच की ही वंश-परम्परा से जुड़ी थी। अक्षमाला के भी उसी समय पुत्र हुआ था, जिस समय सरस्वती ने अपने पुत्र का मुख देखा था। अत, अक्षमाला एक साथ दोनो वालको का लालन-पालन करने लगी, और उसने सरस्वती के पुत्र का नाम सारस्वत और अपने पुत्र का नाम वत्स रखा।

सारस्वत ने अपनी माता के वर तथा प्रभाव-संस्कार से यौवन के आरम्भ मे ही सारी विद्याएँ प्राप्त कर ली और अत्यन्त भ्रातृप्रेम के कारण अपनी सारी विद्याएँ वत्स को भी दे दी। इसके वाद सारस्वत ने विवाहित वत्स एवं उसके परिवार के लिए उसी प्रदेश में 'प्रीतिकूट' नामक गाँव बसाया और स्वय तपस्या करने अपने पिता के पास चला गया। यहाँ उल्लिखित "चकार च कृतदारपरिग्रहस्यास्य तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रीत्या प्रीतिकूटनामानं निवासम्।" इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि सरस्वती के आश्रम की ओर ही अक्षमाला रहती थी और उसी भाग मे सारस्वत और वत्स पाले-पोसे गये तथा उसी प्रदेश मे प्रीतिकूट गाँव बसाया गया। अत, शोण के बायें तट का यह 'पीरू' गाँव ही निरन्तरपूर्वक वाणभट्ट का प्रीतिकूट है।

दूसरी बात है कि सारस्वत ऋषि की जन्मकथा वाणभट्ट ने अपने मन के अनुसार क्यो गढ़ी और सरस्वती को शोण के पूर्वी तट की ओर न उतारकर पश्चिमी
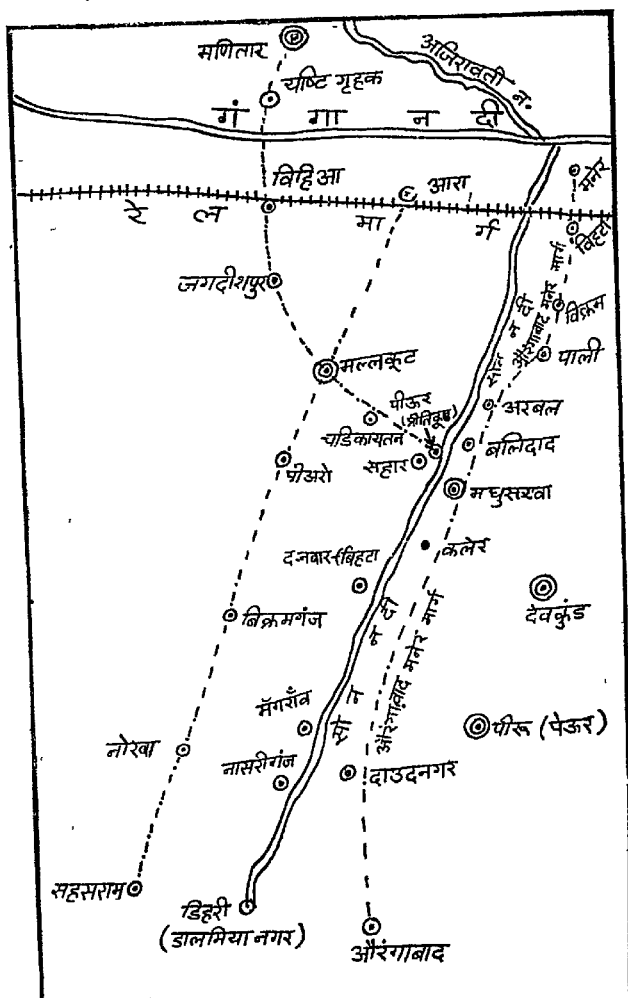
प्रीतिकूट की वर्त्तमान भौगोलिक स्थिति

तट पर ही क्यो उतारा ? 'महाभारत' के शल्यपर्व के इक्यावनवें अध्याय में सारस्वत के जन्म का वृत्तान्त बिलकुल दूसरे प्रकार से दिया गया है। उसके अनुसार कथा है कि

दधीचि की उग्र तपस्या से भयभीत होकर देवराज इन्द्र ने अलम्बुषा नाम की अप्सरा को भेजा। अलम्बुषा के रूप-सौन्दर्य और गुण पर दधीचि मोहित हो गये। वे सरस्वती नामक नदी के तट पर तपस्या कर रहे थे और वही उनका वीर्य स्खलित हो गया। सरस्वती नदी ने वीर्य धारण किया तथा समय पर उसने पुत्र प्रसव किया। किन्तु, पुत्र-प्रसव के बाद सरस्वती ने दधीचि से कहा कि महाराज, अलम्बुषा के कारण आपका मन क्षुब्ध हुआ, जिसका फल मैंने धारण किया। कृपया अब मेरे फल को आप धारण करें; क्योकि इसमें आपका तेज है। सरस्वती की बातो से दधीचि बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने उसे वर दिया कि विश्वेदेवा, पितर, गन्धर्व आदि तुम्हारे जल के तर्पण से तृप्त होगे और यह बालक मेरे नाम से नही, बल्कि तुम्हारे नाम से ख्यात होगा : **'सारस्वत इति ख्यातो भविष्यति महातपा.।'**

इसी सरस्वती नदी को बाणभट्ट ने सरस्वती देवी के रूप में कल्पित करके उसे सावित्री के साथ शोण के पश्चिमी तट पर उतारा है। इसका तो एकमात्र कारण यही है कि वह सारस्वत गोत्र से अपने वत्स गोत्र का पारस्परिक सम्बन्ध और अपने ही प्रदेश मे सरस्वती का निवास भी बतलाना चाहता है। यदि उसका प्रीतिकूट गाँव शोण के पूर्वी तट पर होता, तो वह सरस्वती को भी च्यवनाश्रम जैसे पवित्र और विख्यात तीर्थभूमि मे, शोण के पूर्वी तट पर ही उतारने की कल्पना करता और वही वह दधीच का मिलन सरस्वती से कराता। अत, स्पष्ट है कि अपनी वासभूमि के प्रेम के कारण ही उसने सरस्वती को शोण के पश्चिमी तट पर उतारा है।

पीऊर के ही प्रीतिकूट गाँव होने का दूसरा प्रमाण है—च्यावन वन, जहाँ **च्यवनाश्रम** था। इस च्यवनाश्रम को शोण के पश्चिमी तट मे स्थित सरस्वती-आश्रम से दो कोस दूर मे होना चाहिए। अभी तक जिन विद्वानो ने 'प्रीतिकूट' के सम्बन्ध में विचार किया है, वे सभी 'च्यवनाश्रम' की पहचान देवकुण्ड नामक स्थान से करते है, जिससे प्रीतिकूट की पहचान मे भूल होती है। यह 'देवकुण्ड' जहानाबाद तथा औरंगाबाद—इन दोनो अनुमण्डलो की सीमा-सन्धि पर तथा औरगावाद-अनुमण्डल के 'गोह' नामक थाने की भूमि मे पड़ता है। यहाँ एक वहुत ही प्राचीन जलाशय है तथा एक प्राचीन मन्दिर में शिव-लिंग प्रतिष्ठित है। यहाँ शिवरात्रि के अवसर पर मेला लगता है, जहाँ तीर्थयात्री तालाब मे स्नान करके शिवलिंग पर जल चढाते है। यह देवकुण्ड सोनतट के किसी भी स्थान से तेरह मील से कम दूरी पर नही है। इसलिए, वहुत-से विद्वान् सोन नद की धारा को और आठ मील पूरब भी ले जाते है तथा दाउदनगर थाने के 'पीरू' या 'पेऊर' ग्राम को 'प्रीति-कूट' बतलाते है। वे इस 'पेऊर' के पूरब से सोन नद के वहने का उल्लेख करते हैं। किन्तु, इस क्लिष्ट कल्पना के वाद भी 'पीरू' से 'देवकुण्ड' की दूरी साढ़े सात मील से कम नही हो पाती है, जिसकी **'पारेशोणं गव्यूतिमात्रमिव'** के कथन से सगति नही बैठती।

मैं शोण के पश्चिमी तट पर स्थित जिस 'पीऊर' को प्रीतिकूट वतला रहा हूँ, उसी का समर्थन आरा के पण्डित **कमलाकान्त उपाध्याय** ने भी किया है; पर वह भी वहाँ से

चौदह मील दूर स्थित देवकुण्ड को ही 'च्यवनाश्रम' कहते है, अतः 'गव्यूतिमात्रमिव' कथन की सगति वैठाने मे असमर्थ रहे है। वस्तुत, बाणभट्ट का च्यवनाश्रम न तो 'देवकुण्ड' है और न औरगाबाद जिले के 'दाउदनगर' थाने का 'पीरू' या 'पेऊर' ग्राम ही प्रीतिकूट है। मैं यह भी कहना चाहूँगा कि कम-से-कम ढाई हजार वर्ष पहले की, सोन की धारा उत्तर दिशा में, अरवल तक आज भी अपने पुराने मार्ग से ही प्रवाहित होती आ रही है। सोन नद ने अरवल के उत्तर मे आने पर ही अपने प्रवाह मे हेरफेर किया है, उसके दक्खिन मे नहीं। यदि ऐसा हुआ होता, तो फिर 'पुनपुन' नदी का अस्तित्व कहाँ होता, जिसकी धारा आज 'देवकुण्ड' से सिर्फ डेढ-दो मील पूरब मे बहती है। अत, प्रीतिकूट के वास्तविक स्थान के निर्णय मे सबसे वडी अज्ञानता 'देवकुण्ड' को च्यवनाश्रम मानना है।

मगध का 'च्यवनाश्रम' गया और राजगृह की तरह प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्र था। यद्यपि, मगध अशुद्ध क्षेत्र माना गया है, तथापि उसमे गया, राजगृह, च्यवनाश्रम एव पुनपुन नदी को अत्युत्तम तीर्थ कहा गया है .

मगधेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम् ।
च्यवनस्याश्रमं पुण्यं नदी पुण्या पुनःपुना ॥

ऐसे विख्यात और अतिशय पुण्य तीर्थ 'च्यवनाश्रम' को, जहाँ च्यवन ऋषि ने जन्म लिया, जहाँ पुलोमा नामक राक्षस च्यवन के दृष्टिपात से ही भस्म हो गया, जहाँ ब्रह्मा की वधू और च्यवन की माता पुलोमा के आँसुओं से 'वधूसरा' नामक नदी बनी, जहाँ स्नान करने से भगवान् परशुराम का सारा पाप धुल गया, जहाँ तीर्थ करने पाँचो पाण्डव आये; उस तीर्थ को बड़े-बडे शास्त्रवेत्ता, पुरातत्त्वप्रेमी तथा इतिहासकार भूल गये और आजतक वे उसका पता नही लगा सके, यह महान् आश्चर्य की बात है! बाणभट्ट द्वारा प्रतिपादित इस च्यवनाश्रम का पता 'महाभारत' के आदिपर्व के पाँचवें और छठे अध्यायो में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि 'पुलोमा' नामक छोटी-सी कन्या जब एक दिन बहुत जोर से रो रही थी और वह पिता के लाख मनाने पर भी चुप नही हो रही थी, तब उसे डराकर चुप करने के लिए पिता ने कहा 'अब तुम्हें पुलोमा (राक्षस) को दे दूँगा।' कन्या पुलोमा के पिता की यह बात वहाँ अदृश्य होकर पुलोमा नामक राक्षस सुन रहा था। उसने मान लिया कि यह कन्या मेरी हो गई। कन्या पुलोमा जब विवाह योग्य हुई, तब पुलोमा राक्षस कही दूर चला गया था। इसी बीच पुलोमा के पिता ने कन्या का विवाह भृगु ऋषि से कर दिया और पत्नी को लेकर भृगु अपने आश्रम में चले आये। कुछ दिन बाद पुलोमा राक्षस जब आया, तब उसे ज्ञात हुआ कि पुलोमा का विवाह भृगु ऋषि से हो गया। उसने ठान लिया कि पुलोमा का हरण करूँगा। एक दिन भृगु ऋषि जब आश्रम मे नही थे, तव वह राक्षस वहाँ आया और भय से रोती-चिल्लाती पुलोमा को बलात् उठाकर ले भागा। उस समय पुलोमा गर्भवती थी। जब पुलोमा राक्षस उसे आकाशमार्ग से लेकर भागा जा रहा था, तब गर्भवती पुलोमा एक अनाथ अबला-सी चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थी। उस अवला नारी का दुःख उसके गर्भस्थ शिशु

को सह्य नही हुआ, और वह क्रोध के कारण गर्भ से च्युत हो गया, जिससे उसका नाम 'च्यवन' पडा :

च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं यशस्विनम् ।
यः सरोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ॥ (म० भा०, आदि०, ६।४५)

'महाभारत' के आदिपर्व के ही छठे अध्याय के चौथे श्लोक मे कहा गया है कि क्रोध से दहकता हुआ बालक जब गर्भ से बाहर आया, तब उसके जाज्वल्यमान तेज को पुलोमा राक्षस सह नही सका, वह वही जलकर भस्म हो गया, और भृगु की पत्नी पुलोमा त्राण पा गई। इसी बात को बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' मे च्यवन ऋषि के लिए लिखा है : '**निजतेजःप्रसरप्लुष्टपुलोम्नः ।**' अर्थात्, 'अपने तेज के प्रसार से जिसने पुलोमा राक्षस को दग्ध कर दिया।' इस वाक्य के द्वारा भी बाणभट्ट 'च्यवनाश्रम' की स्थिति स्पष्ट कर देता है।

पुन, 'महाभारत' के आदिपर्व के छठे अध्याय के चार श्लोको मे 'च्यवनाश्रम' की पहचान का उल्लेख मिलता है। जब भृगु की पवित्र भार्या पृथ्वी पर गिरी और वहाँ उसने अपने गर्भ से च्युत बालक को देखा, तब वह और भी असहाय होकर रोने-कलपने लगी। उसी समय वहाँ ब्रह्मा आये और उन्होने अपनी वधू भृगुपत्नी को बहुत प्रकार से सान्त्वना दी। देखा कि मेरी वधू जिस मार्ग से रोती-चिल्लाती आई है, उस मार्ग पर उसके इतने आँसू गिरे है, जिससे नदी बह गई है। इस नदी को देखकर ब्रह्मा ने उसका नाम 'वधूसरा' रख दिया, जो भगवान् च्यवन के आश्रम के पास बहने लगी :

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदती बाष्पपूर्णाक्षी भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥५॥
सान्त्वयामास भगवान् वधूं ब्रह्मा पितामहः ।
अश्रुबिन्दूद्भवा तस्या. प्रावर्त्तत महानदी ॥६॥
आवर्त्तन्ती सृति तस्या भृगोः पत्न्यास्तपस्विनः ।
तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ॥७॥
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामह. ।
वधूसरेति भगवाँश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥८॥

इसलिए, च्यवनाश्रम वही है, जहाँ 'वधूसरा' नदी बहती है। यह 'वधूसरा' नदी और च्यवनाश्रम ऐसे पवित्र तीर्थ थे कि जब भगवान् परशुराम का सारा तेज भगवान् राम ने हरण कर लिया, तब वह लज्जा से महेन्द्र पर्वत पर चले गये और पुन तेज की प्राप्ति के लिए तपस्या करने लगे। उन्होने एक वर्ष तक घोर तपस्या की, फिर भी वह तेज नही प्राप्त कर सके। उनके मानसिक क्लेश को देखकर पितरो ने आकाशवाणी की :

गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम् ।
तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यति ॥ ६८ ॥

दीप्तोदं नाम तत् तीर्थं यत्र ते प्रपितामह. ।
भगुर्देचो युगे राम तप्तवानुत्तमं तप. ।। ६९ ।।
तत् तथा कृतवान् राम' कौन्तेय वचनात् पितुः ।
प्राप्तवाँश्च पुनः तेजस्तीर्थेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ।। ७० ।।
(महाभारत, आदिपर्व, अ० ९९)

इस प्रकार, पितरो की बात मानकर परशुराम ने 'वधूसरा' नदी के जल मे जाकर स्नान किया और उसी क्षेत्र के 'दीप्तोद' कुण्ड मे भी अवगाहन किया, जिससे उन्होने पुनः अपना तेजस्वी शरीर प्राप्त कर लिया। 'दीप्तोद' तीर्थ मे उनके प्रपितामह भृगु ने तपस्या की थी। यह प्राचीन कथा लोमश ऋषि ने युधिष्ठिर से उस समय कही थी, जब वह मगध के च्यवनाश्रम से गयातीर्थ होते अगस्त्याश्रम गये थे और वहाँ गंगा में स्नान किया था। यह बात 'महाभारत' के वनपर्व के ९९वें अध्याय मे भी लिखी है।

'महाभारत' के उपर्युक्त सन्दर्भ से तथा अन्य प्रमाणो से यह तो सिद्ध है कि मगध-क्षेत्र मे च्यवनाश्रम था और उसके पास 'वधूसरा' नदी बहती थी। 'वधूसरा' नदी के तटवर्त्ती यह च्यवनाश्रम ही आज 'मधुसरवा' के नाम से ख्यात है, जिसे कुछ लोग 'वधुसरवा' भी कहते हैं। पटना से जो सड़क पश्चिम की ओर मनेर जाती है और मनेर से दक्षिण दिशा मे मुड़कर बिहटा, विक्रम, पाली और अरवल होते दाउदनगर पहुँचती है, उसी सड़क पर अरवल से छह मील दक्षिण बलिदाद गाँव है। इस बलिदाद से डेढ़-दो मील पश्चिम-दक्षिण मे यह 'मधुसरवा' नामक स्थान है। इसके समीप ही पश्चिम भाग में गया जिले का प्रसिद्ध ग्राम निरंजनपुर है। निरंजनपुर मे कुछ दिन पहले तक धनी-मानी कायस्थ-परिवार बसता था। उसी की जमीन्दारी मे यह 'मधुसरवा' स्थान था। सम्प्रति, 'मधुसरवा' सोन के पश्चिमी तटवर्त्ती 'सहार' से चार मील दक्षिण, सोन के पूर्वी कछार पर अवस्थित है। जिस प्रकार, प्राचीन पीऊर गाँव सोन की धारा मे पड गया है, उसी प्रकार प्राचीन 'सहार' (सरस्वती-आश्रम) भी पश्चिम की ओर खिसका है।

'महाभारत' का उपर्युक्त विवरण पढने के बाद, मैं प्रसिद्ध कलाकार श्रीउपेन्द्र महारथी (अब स्वर्गीय) के साथ, सन् १९६४ ई० की ३ जुलाई को 'मधुसरवा' का मन्दिर देखने गया। मैंने देखा कि स्थान उजाड़ पड़ गया है। यहाँ एक कुण्डस्थान और मृतप्राय नदी का स्रोत-चिह्न स्पष्ट है। जलाशय मे बहुत थोड़ा पानी है, जिसमे वर्षा से शिशिर (कार्त्तिक-अगहन) तक पानी रहता है। यहाँ की जमीन बलुआही और ऊँची है। यहाँ एक प्राचीन बागीचा है, जिसमे आम तथा पीपल के पेड़ है। बलुआही भूमि पर यत्र-तत्र झरबेर की झाड़ियाँ उग आई है। लोगो ने बतलाया कि आज से पचास-साठ वर्ष पहले तक यह क्षेत्र जगलों से भरा था।

ऊँची बलुआही जमीन और पुराने बागीचे के पश्चिमोत्तर कोण मे एक बहुत ही जीर्ण-शीर्ण प्राचीन मन्दिर है, जो नितान्त उपेक्षित है। मन्दिर के पश्चिम मे नदी का स्रोत-

चिह्न है और पश्चिमोत्तर कोण मे पुराना जलाशय है। इसी जलाशय के अग्निकोणवाले तट पर मन्दिर खडा है। इस प्राचीन मन्दिर के भीतर मध्यभाग मे शिवलिंग स्थापित है और इसके चारो ओर दीवार से सलग्न सूर्य भगवान् की चार टूटी-फूटी मूर्त्तियाँ खड़ी है। सूर्य-मूर्त्तियाँ रथ पर आरूढ है, जिनके कई अश नष्ट हो गये है। मन्दिर मे पश्चिम और पूर्व रुख के द्वार है। लगता है, जलाशय में स्नान के बाद शिवलिंग की पूजा करनेवाले यात्री पश्चिमवाले द्वार से घुसते थे और पूर्ववाले द्वार से बाहर निकलते थे। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन समय मे यहाँ तीर्थयात्रियो की बड़ी भीड़ होती थी, जिनकी सुविधा के लिए प्रवेश-द्वार और निष्क्रमण-द्वार अलग-अलग बनाये गये थे। यहाँ की मृत नदी मे श्रावण से आश्विन तक जल बहता है और जैसा कहा गया, अगहन तक जलाशय मे जल रहता है। लोगो ने मुझे बतलाया कि इस नदी मे दाउदनगर के पूर्वी भाग तक का जल आता है और वह जलवइया, सखरपुर, बोधबिगहा, कलेर आदि स्थानो से गुजरता हुआ यहाँ पहुँचता है, फिर यहाँ से उत्तर चलकर बलिदाद के पश्चिम से ही सैदपुर होते हुए आगे बढता है तथा 'अमरा' गाँव के उत्तर एव 'बदराबाद' के नैऋत्य कोण मे जाकर सोन मे गिरता है। किन्तु, अब, बरसाती पानी इसलिए कम आता है कि तमाम नहरे और सड़के निकल गई है और उनके भिण्डो के कारण वर्षाजल अवरुद्ध हो जाता है। मन्दिर के महन्थ और पुजारी 'मठिया' गाँव के गोसाई होते है। मै जब वहाँ गया था, तब मन्दिर के महन्थ गौरीशंकर **भारती** थे, जो 'मठिया' ग्राम के ही निवासी थे।

जिस प्रकार, विद्वानो तथा ऐतिहासिको द्वारा इस 'च्यवनाश्रम' को विस्मृत कर दिये जाने की बात आश्चर्यकर है, उसी प्रकार महान् आश्चर्य यह है कि यहाँ का जनमानस और जनसंस्कृति इस च्यवनाश्रम की स्मृति आजतक सँजोये हुए है। बलिदाद के जानकार लोगो ने मुझे बतलाया कि च्यवन ऋषि का जन्म 'मधुसरवा' मे हुआ और उन्होने 'देवकुण्ड' मे तपस्या की। उनके **मधेश्वरनाथ, दुग्धेश्वरनाथ** और **सिद्धेश्वरनाथ** नामक तीन शिष्य थे। **मधेश्वरनाथ** शिवरूप मे 'मधुसरवा' मे प्रतिष्ठित हुए और **दुग्धेश्वरनाथ** 'देवकुण्ड' मे तथा **सिद्धेश्वरनाथ** सहरसा जिले के सिंहेश्वर नामक स्थान मे विराजित है। इस किंवदन्ती से इतना तो प्रमाणित है कि च्यवन ऋषि के जन्मस्थान 'मधुसरवा' के नाम पर ही आजतक यहाँ का शिवलिंग मधेश्वरनाथ कहलाता है। ज्ञात होता है, उपर्युक्त तीनो स्थानो के शिवलिंग के नामो को लोगो ने च्यवन ऋषि का शिष्य मान लिया है। 'मधुसरवा' मे आज भी जो लोकप्रथा प्रचलित है, उससे तो बिलकुल ही प्रमाणित हो जाता है कि यही च्यवन ऋषि का जन्म हुआ था और यही स्थान बाणभट्ट का च्यवनाश्रम है, जिसकी दूरी 'सहार' से 'गव्यूति-मात्र' है।

'मधुसरवा' मे, श्रावण मास मे मेला लगता है और यह पूरे एक महीने तक रहता है। उसी समय यहाँ मवेशियो का भी मेला लगता है। लोकविश्वास के अनुसार, शोण नद के दोनो कछारो की भूमि पर रहनेवाली हजारो पुत्रेच्छुक स्त्रियाँ यहाँ आती हैं और इस स्थान की पुष्करिणी मे अपना रजोवस्त्र प्रवाहित कर नहाती है और तब

शिवलिंग पर जल चढाती है। उनका विश्वास है कि इस क्रिया से अवश्य ही उन्हें तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा। लोगो का कहना है कि पचानव्वे प्रतिशत स्त्रियों की मन कामना यहाँ पूरी होती है। जिन पाँच प्रतिशत स्त्रियों की कामना पूरी नही होती, वे वैसी है, जिन्हे विश्वास और श्रद्धा नही है। यह लोकविश्वास इसलिए बद्धमूल है कि जिस प्रकार पुलोमा का गर्भरक्त यहाँ गिरा और च्यवन जैसा तेजस्वी पुत्र पैदा हुआ, उसी प्रकार यदि किसी स्त्री का रजोरक्त यहाँ गिरेगा, तो उसे अवश्य तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा। इन सारे तथ्यो से 'मधुसरवा' का मूल नाम 'वधूसरा' युक्तियुक्त है। साथ ही, यहाँ बाणभट्ट द्वारा सकेतित च्यवनाश्रम के च्यवन ऋषि का जन्मस्थान होने एव इसके निकट ब्रह्मा द्वारा अभिहित 'वधूसरा' नदी के प्रवाहित रहने की बात भी सुसगत हो जाती है।

इस 'च्यवनाश्रम' से दो मील दूर अग्निकोण मे 'जमुहारी' गाँव है, जिसे लोग 'जम्भारि' का अपभ्रश कहते है। लोगो का कहना है कि यही च्यवन ने जम्भारि (इन्द्र) का बाहु-स्तम्भन किया था। मेरे विचार से 'देवकुण्ड' 'दीप्तोदक कुण्ड' है, जहाँ च्यवन ऋषि के पिता भृगु का आश्रम था। यो, यहाँ के कुछ लोग 'भरारी' या 'भउरारी' को भृग-आश्रम कहते है, जो गोह थाने मे है और बतलाते है कि यही से पुलोमा नामक राक्षस ने च्यवन की माता का हरण किया था और 'मधुसरवा' पहुँचते-पहुँचते वह च्यवन की क्रोध-ज्वाला से भस्म हो गया था। 'भरारी' को 'भृगु + पुरी' का अपभ्रश कहा जाता है। 'वधूसरा' नदी का चिह्न 'भउआरी' तक मिलता है।

'मधुसरवा' मे आषाढ के शुक्लपक्ष से कार्तिक के कृष्णपक्ष तक, पूरे चार महीने, प्रति रविवार को मवेशियो का मेला लगता है। किन्तु, श्रावण मास मे, खासकर सोमवारी अमावस्या को सन्तान चाहनेवाली स्त्रियो की बहुत बडी भीड वहाँ एकत्र होती है। रविवार की प्रधानता इसलिए है कि यह सूर्यस्थान भी है। इसके सामने पश्चिम मे शोण के पश्चिमी तट पर 'खड़ाँव' गाँव है। यह 'मधुसरवा' से दो कोस पश्चिम मे है। जिस प्रकार 'मधुसरवा' मे प्रति रविवार को मवेशियो का मेला लगता है, उसी प्रकार वर्षा ऋतु मे प्रति रविवार को 'खड़ाँव' मे भी मेला लगता है। किन्तु, 'मधुसरवा' की तरह श्रावण मास मे यहाँ स्त्रियो का झुण्ड एकत्र नही होता। चूँकि 'मधुसरवा' 'खड़ाँव' से चार मील पूरब है और 'सहार' से भी चार मील दक्षिण-पूर्व पडता है, इसलिए यही 'मधुसरवा' बाणभट्ट का च्यवनाश्रम है, जो उसके निर्देश के अनुसार पीऊर, यानी प्रीतिकूट से गव्यूति-मात्र की दूरी पर स्थित है।

उक्त शोण के पश्चिमी तट पर स्थित 'पीऊर' के ही 'प्रीतिकूट' ग्राम होने का तीसरा प्रमाण इस प्रकार है: बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के दूसरे उच्छ्वास से पता चलता है कि ग्रीष्म की कड़ी दोपहरी मे जब बाण भोजनोत्तर विश्राम कर रहा था, तब महाराज हर्षवर्द्धन के भाई कृष्ण द्वारा भेजा गया मेखलक नामक पत्रवाहक आकर उससे मिला। मेखलक ने जो पत्र दिया, उससे ज्ञात हुआ कि अविलम्ब उसे दरबार मे उपस्थित होना है।

हर्षवर्द्धन उस समय पूर्वदेश की यात्रा पर था और उसका स्कन्धावार अजिरवती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित आधुनिक बलिया जिले के 'मणिपुर' (मनियर) गाँव मे स्थापित था। मेखलक उसी दिन 'प्रीतिकूट' से विदा हो गया, पर बाणभट्ट दूसरे दिन लगभग नौ बजे प्रीतिकूट से चला, इसलिए कि यात्रा के पूर्व उसने भोर मे उठकर नित्यक्रिया से निवृत्त हो स्नान किया, फिर विविध प्रकार के पूजा-पाठ-होम तथा अनेक मांगलिक क्रियाओ को पूरा किया। उसकी बुआ मालती ने बहुत-से मंगलाचार किये थे और गाँव-भर के वृद्ध पुरुष-महिलाओं ने एकत्र होकर आशीर्वाद भी दिये थे, अतः दिन के नौ अवश्य ही बज गये होगे।

उस दिन, बाणभट्ट की जेठ की दोपहरी 'चण्डिकायतन-वन' मे बीती और ग्राम के पहले ही वह अपने मित्र जगत्पति के गाँव मल्लकूट पहुँच गया। जगत्पति से मिलने तथा विचार-विमर्श करने वह मल्लकूट मे रुका। दूसरे दिन गगा पार करके 'यष्टिगृहक' वनग्राम मे रात बिताई और तीसरे दिन दोपहर के पहले ही अजिरवती नदी के तट पर स्थित मणिपुर के स्कन्धावारमे पहुँच गया। वहाँ वह स्कन्धावार के निकट मे ठहरा और दोपहर का भोजन वही किया और जब एक पहर दिन शेष रह गया, तब दरबार मे गया "प्रथमेऽहनि तु चण्डिकायतनकाननमतिक्रम्य मल्लकूटनामानं ग्राममगात् तत्र च हृदयनिर्विशेषेण भ्रात्रा सुहृदा च जगत्पतिनाम्ना सम्पादितसपर्यं सुखमवसत्। अथाऽपरेद्युरुत्तीर्य भगवती भागीरथी यष्टिगृहकनाम्नि वनग्रामके निशामनयत्। अन्यस्मिन्दिवसे स्कन्धावारमुपमणिपुरमन्वजिरवतिकृतसन्निवेशं समाससाद। अतिष्ठच्च नातिदूरे राजभवनस्य। निर्वर्त्तितस्नानाशनव्यतिकरो विश्रान्तश्च मेखलकेन सह याममात्रावशेषे दिवसे भुक्तवति भूभुजि राजद्वारमगमत्।"

अब यहाँ देखना है कि बाणभट्ट किस मार्ग से राप्ती के किनारे पर स्थित मणिपुर (मनियर) गया। उस मार्ग पर चण्डिकायतन का वन, मल्लकूट, गगा, यष्टिगृहक और वहाँ से मणिपुर तक का मार्ग तीन-चार घण्टे का होना चाहिए। कुछ लोगो का कहना है कि बाण एक सम्पन्न परिवार का व्यक्ति था, अत उसने मणिपुर की यात्रा घोड़े पर चढकर की होगी, किन्तु इस अनुमान का कोई आधार नही है। क्योकि, बाण ने सर्वत्र प्रसगानुसार घोड़े का वर्णन किया है। दधीच की अश्वसेना का एवं विकुक्षि तथा दधीच की सन्देशवाहिका मालती के अश्व का उसने विस्तृत वर्णन किया है। हर्ष के स्कन्धावार के घोडो की उसने और भी विस्तार से चर्चा की है। ऐसी स्थिति मे वह घोडे से रवाना होता, तो अपने घोडे का भी चित्रण अवश्य करता। इसके विपरीत, वह 'प्रीतिकूट' से प्रस्थान के समय की घटना की चर्चा के क्रम में लिखता है· "प्रथमचलितदक्षिणचरण प्रीतिकूटान्निरगात्।' अर्थात्, पहले दाहिना डग बढाकर 'प्रीतिकूट' गाँव से बाहर निकला। इसके अतिरिक्त, वह अपने मार्ग मे पडनेवाली गगा नदी के सिवा दूसरी किसी नदी की चर्चा नही करता है। अब यह विचार करना है कि चण्डिकायतन-वन, मल्लकूट तथा यष्टिगृहक कहाँ था। यह मल्लकूट आज 'मलउर' नाम से विख्यात है, जो आरा-

सहसराम-सडक एव आरा-सहसराम-छोटी रेल-लाइन के किनारे, 'पीरो' से चार मील पूर्वोत्तर कोण में तथा आरा से बीस मील दूर थोडा दक्षिण की ओर नैऋत्य कोण मे स्थित है। यह 'पीऊर' (प्रीतिकूट) से बारह मील दूर पश्चिमोत्तर कोण में अवस्थित है। 'मलउर' देखने से भी बहुत प्राचीन ग्राम लगता है। आजकल जो मलउर ग्राम है, उसके दक्षिण और दक्षिण-पूर्व मे प्राचीन ग्राम का पुराना अवशेष (डीह) दृष्टिगोचर होता है, जिसपर आलू तथा गेहूँ की खेती होती है। इसी प्राचीन डीह के मध्यभाग से आरा-सहसराम-सडक गुजरती है। डीह के पूर्वी भाग मे 'मलउर' के माध्यमिक तथा उच्च विद्यालय के भवन है। मैंने सडक और नई नदी के किनारे गुप्तकालीन कुएँ का चिह्न देखा है। इधर वह कुआँ नदी के प्रवाह में बह गया है। आजकल इसी स्थान पर सिंचाई-विभाग की ओर से नदी मे एक पक्का बाँध बनाया गया है। इसी 'मलउर' (मल्लकूट) मे हर्ष का सुहृद् जगत्पति निवास करता था, जहाँ बाण ने अपनी बारह मील की यात्रा के बाद पहली रात बिताई थी।

मल्लकूट गाँव पहुँचने के पहले उस दिन की दोपहरी उसने चण्डिकायतन-वन को पार करने मे बिताई थी। यह चण्डिकायतन-वन एक सूखा हुआ वन था, जिसके वृक्षो के तने मे कात्यायनी देवी की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण थी। यह वन कहाँ था, ठीक-ठीक पता नही चलता। कुछ लोगो ने चाँदी (करनौल-चाँदी) को, नामसाम्य के अनुसार, चण्डिका-यतन माना है, पर यह ग्राम पीऊर और मलउर के मार्ग पर नही है। चण्डिकायतन-वन को पीऊर से सात मील दूर होना चाहिए, जहाँ बाणभट्ट लगभग तीन घण्टे चलकर पहुँचा होगा। मेरे विचार से चण्डिकायतन-वन 'मडनपुर' (मण्डनपुर) के पूर्व भाग का जंगल होगा, जहाँ आज भी वन का कुछ अंश अवशिष्ट है। 'मण्डनपुर' नाम भी सूचित करता है कि यहाँ कभी किसी देवता का मण्डपस्थान था। यह 'मडनपुर' पीऊर से लगभग छह मील पश्चिमोत्तर कोण मे मल्लकूट जाने के मार्ग पर अवस्थित है और मल्लकूट से छह मील पूरब मे अवस्थित है।

दूसरे दिन, बाणभट्ट मल्लकूट से भोर में ही उत्तर की ओर चला और मदैन तथा अकरुवा होते हुए जगदीशपुर पहुँचा और तब बिहिया के चौरास्ते के पास गंगा पार कर शाम तक यष्टिगृहक (बाँसडीह) पहुँचा। गंगा पार करने का यह घाट बहुत ही प्राचीन है। हुएनसांग भी इसी घाट से गगा पार करके मोहोसोलो (मसाढ) आया था। इसी घाट पर सन् १५२९ ई० में मखदूम आलम से युद्ध करने के लिए बाबर की सेना ने भी गगा को पार किया था। इसी घाट पर बाबू कुँवरसिंह भी जब गंगा पार कर रहे थे, तब उनकी बाँह में अँगरेजो की गोली लगी थी। गगा पार करने पर शाम हो गई, अत बाणभट्ट ने अपनी वह रात यष्टिगृहक मे बिताई। यष्टिगृहक की पहचान बलिया जिले के 'बाँसडीह' गाँव से किया जाता है, मगर आज का 'बाँसडीह' अपने प्राचीन स्थान से अलग लगता है। इस क्रम मे दूसरे दिन बाण ने मलउर से चलकर गगा नदी के उस पार तक चौबीस मील मार्ग तय किया था। फिर, तीसरे दिन यष्टिगृहक से

जब वह मणिपुर (मनियर) के लिए चला, तब दस-साढ़े दस बजे दिन चढ़ते-चढ़ते वहाँ पहुँच गया; क्योंकि वहाँ पहुँचकर ही उसने भोजन तथा दिन का विश्राम किया था। आजकल बाँसडीह से मणिपुर की अवस्थिति लगभग दस मील पूर्वोत्तर कोण मे घाघरा नदी के बाये तट पर है। किन्तु, बाणभट्ट के समय घाघरा नदी मनियर के पास से होकर नही बहती थी। मनियर के पास से केवल राप्ती (अजिरवती) बहती थी और वह छपरा के पास गंगा से संगम करती थी। उस समय घाघरा (सरयू) नदी बलिया के पास ददरी मेले के निकट गंगा से सगम करती थी। इस प्रकार, पीऊर से मल्लकूट और बाँसडीह होते हुए बाणभट्ट मणिपुर (मनियर) पहुँचा था। बाणभट्ट के इस यात्राक्रम में शोण नद पार करने की चर्चा नही है। यदि 'प्रीतिकूट' शोण के पूर्वी या दक्षिणी तट पर होता, तो मल्लकूट जाने के लिए बाण को शोण पार करना पड़ता और तब वह शोण के वर्णन को कभी भूल नही सकता था।

प्रीतिकूट शोण के पश्चिमी किनारे ही नही, बल्कि उसके बिलकुल तट पर था, इस बात का उल्लेख भी बाणभट्ट ने ही 'हर्षचरित' के तीसरे उच्छ्वास मे किया है। एक दिन जब बाण के भाई-बन्धुओ ने सम्राट् हर्ष की जीवन-चर्या सुनाने के लिए उससे आग्रह किया, तब उसने कहा - **'श्वो निवेदयितास्मि।'** इतना कहकर वह तुरत उठ गया और सायकालीन सन्ध्योपासन के लिए शोण नद मे उतर गया - **'नातिचिरादुत्थाय सन्ध्यामुपासितुं शोणमयासीत्।'** इन सारे तथ्यो से सिद्ध है कि बाणभट्ट का 'प्रीतिकूट' ग्राम शोण के पश्चिमी तट का 'पीऊर' गाँव ही है। वास्तविक 'प्रीतिकूट' की पहचान मे सबसे बड़ा भ्रम च्यवनाश्रम की गलत पहचान के कारण हुआ है।

●●

△ **निदेशक, भोजपुरी-अकादमी**
पटना : ८०००१

●

●

प्रारम्भिक मुद्रणकाल में पाठानुसन्धान

डॉ० कन्हैया सिंह

भारत मे, उन्नीसवी शती के प्रारम्भिक काल मे मुद्रण-कार्य आरम्भ हुआ। यह हमारे इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। साहित्यिक प्रकाशनों एवं प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन-मुद्रण की दृष्टि से, प्रारम्भ में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नही हुई। इसी शती के उत्तरार्द्ध में ईसाई धर्म-प्रचारको ने अपनी प्रचार-पुस्तको तथा हिन्दी-गद्य के आरम्भकर्त्ताओं ने साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया। बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप', प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' तथा भारतेन्दु की 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' एवं 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' आदि के *माध्यम से हिन्दी के समसामयिक साहित्य के साथ* प्राचीन साहित्य की चर्चा भी आरम्भ हुई। लोगों का ध्यान अपने प्राचीन कवियो की रचनाओं के प्रकाशन की ओर गया। सबसे अधिक प्रकाशन 'रामचरितमानस' का हुआ, पर इसके प्रकाशन की प्रेरणा मे धर्मभावना का अधिक हाथ था। इन प्रकाशनो के विकास-क्रम का सिंहावलोकन बड़ा ही रोचक है।

प्रारम्भ में पोथियों का मुद्रण लीथो छापाखाने मे प्रारम्भ हुआ। लीथो में, हाथ से पत्थर की पट्टी पर अक्षर उत्कीर्ण किये जाते और उसी हस्तलिपि मे मशीन से वांछित संख्या मे पन्ने छाप लिये जाते थे। इसी क्रम से पूरी-की-पूरी पुस्तक छपती थी। लीथो की छपी पोथियों मे, प्रारम्भ में हस्तलेखों की ही भाँति अक्षर एक दूसरे से मिलाकर लिखे जाते थे और छन्दों की पंक्तियाँ अलग-अलग न लिखकर लगातार लिखी जाती थी। बाद मे, धीरे-धीरे 'मानस' की पोथियो मे चौपाई तो लगातार, पर दोहा या अन्य छन्द अलग पंक्ति में लिखे जाने लगे। *आगे चलकर प्रत्येक शब्द को अलग-अलग* लिखा जाने लगा। प्रारम्भ में, लीथो से छपी पोथियाँ प्राय किसी रचना की एक प्रति के मुद्रित संस्करण के रूप में आई। ऐसी पोथियो मे यदि मुद्रक-प्रकाशक ने यथावत् हस्तलेख की छपाई कर दी, तो ऐसी छपी पोथियों का महत्त्व भी हस्तलेख के समान ही उपयोगी रहा। ऐसी बहुत-सी पोथियो का परवर्त्ती पाठानुसन्धाताओ ने इसी रूप में उपयोग किया है।

इस समय कुछ प्राचीन मुद्रणालयों ने प्राचीन कवियो की रचनाओ के मुद्रण-प्रकाशन का श्लाघनीय कार्य किया। इनमे भारतजीवन प्रेस, काशी; चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर (पटना), बंगवासी प्रेस, कलकत्ता; वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई और वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मुद्रणालयों ने प्राचीन रचनाओं को जिस रूप में भी पाया, उसी रूप मे छापकर उपस्थित किया। कहीं-कहीं भ्रष्ट पाठ के सुधार की चेष्टा भी की गई। इन मुद्रको का

उद्देश्य निश्चय ही व्यावसायिक था। दुर्लभ ग्रन्थों को छापकर बाजार मे लाने से इन्हे लाभ अवश्य हुआ होगा, पर इससे कम इनका साहित्यिक योगदान नही है। लुप्त होती हुई रचनाओ को उजागर करने और उनके पाठ तथा प्रतिपाद्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका इनके द्वारा निबाही गई।

इन प्रकाशकों का उद्देश्य किसी रचना का संशुद्ध पाठ या आलोचनात्मक पाठ प्रस्तुत करना नही था। यह वह युग था, जब प्राचीन ग्रन्थो का दर्शन ही दुर्लभ था। हस्तलेखो को पढने या प्रतिलिपि के लिए प्राप्त करना तो बहुत टेढ़ा काम था, यहाँतक कि उन्हे देख पाना भी कठिन था। स० १८९६ वि० मे श्रीमुकुन्दीलाल जानी के छापाखाना, कलकत्ता की छपी 'रामायण' (तुलसी-कृत 'मानस') की भूमिका मे इस मुद्रित ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने की कष्टकथा का उल्लेख है : "....यह पोथी बहुत तल्लास करने से भरतपुर के राज्य मे कायस्थ-कमल-कुल-प्रकाशक लाला सुरज मल माथुर कायस्थ ने अपने पाठ करने के निमित्त राजापुर परगने मे जाय को श्री गोस्वामी जी के वंशज.... को अनेक रूपैये से साध्या और शरीर की सेवा कर कों श्री गोस्वामी जी के हाथ की लिखी पोथी सो प्रति अक्षर सोध को पुस्तक अपना तैयार किया।"[१]

इस युग मे पढ़ने के लिए भी प्राचीन पुस्तको के अशमात्र मिल सकते थे, पूर्ण ग्रन्थ पा सकना कठिन था। ऐसे समय मे प्राचीन रचनाओ को छापकर जनसाधारण से साहित्य के विद्यार्थियों एव विद्वानो तक के लिए उसे सुलभ करा देना कम बडा काम नही था।

इन प्रकाशको ने पुस्तको के सम्पादको का नाम कम ही दिया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इनका उद्देश्य मूलपाठ की प्राप्ति नहीं, प्रत्युत प्राप्त पाठो को ही मुद्रित करके सुलभ करना था। जहाँ किसी एक प्रति के पाठ को उसी रूप मे मुद्रित कर दिया गया है, वहाँ उस प्रति का पाठ सुरक्षित हो गया है; पर जहाँ कई प्रतियो का मिलान करके पाठ प्रस्तुत किया गया है, वहाँ पाठ-मिश्रण अधिक हुआ है। परवर्त्ती प्रक्षेपो के निराकरण की प्रवृत्ति नही देखी जाती। मूल पाठ के साथ प्रक्षेप भी ग्रहण कर लिये गये हैं और उन्हे भी मूल पाठ के साथ छाप दिया गया है।

रामचरितमानस : यह महार्घ ग्रन्थ हिन्दू-जनता के धर्मग्रन्थ के रूप मे समादृत हो चुका था। काशी इसके पठन-पाठन का मुख्य केन्द्र था। अयोध्या इसका दूसरा प्रमुख केन्द्र था। मानस की प्रतियाँ यो तो दूर-दूर तक फैली थी, पर महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ राजापुर, अयोध्या और काशी मे मिली। काशीनरेश की साहित्यानुरागी वृत्ति के कारण उनके संग्रह मे मानस की प्रतियो का संरक्षण हुआ, साथ ही महात्माओ, सन्तो, मन्दिरो और मठो ने भी बहुत-सी प्रतियो को सुरक्षित कर रखा था। फलत, मुद्रण का प्रारम्भ होते ही 'मानस' की प्रतियाँ छपनी प्रारम्भ हो गईं और इनका सर्वाधिक प्रकाशन काशी से ही हुआ। शम्भुनारायण चौबे ने अत्यन्त परिश्रम करके इन मुद्रित पोथियो की जानकारी प्राप्त की

१. शम्भुनारायण चौबे . मानस-अनुशीलन, पृ० ५।

और 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (नवीन संस्करण), भाग १९, वर्ष ४३, अंक ३ (कार्त्तिक, १९९५ वि०) मे एक लेख लिखकर इसे प्रकाशित किया, जो अब सभा द्वारा प्रकाशित 'मानस-अनुशीलन' नामक ग्रन्थ मे संकलित है।

'मानस' की अबतक ज्ञात प्राचीनतम छपी पोथी सं० १८१९ वि० की है। यह केदार प्रभाकर छापाखाना, काशी की छपी लीथो-प्रति है। इसमे चौपाइयाँ मिलाकर लगातार छपी है, अलग-अलग पंक्तियो मे नही हैं। इसमे प्रक्षेप पर्याप्त मात्रा मे सम्मिलित है, फिर भी पाठ अधिकतर शुद्ध है। इस मुद्रित प्रति के सम्पादक का नाम नही मिलता हैं। लेखक और छापनेवाले का नाम अवश्य दिया गया है। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा है :

"श्री काशी विश्वनाथपुरी मे केदार प्रभाकर छापाखाना मे रामायण तुलसी-कृत सातो कांड मय तसवीर छापी गई सो मुहल्ला सोनारपुरा मे गोपाल चौबे के छापाखाना मे छापी। लिखा दुर्गा मिश्र वो छापनेवाले का नाम बेचू काडीगर। पोथी जिसको लेना होय सो चाननी चौक मे बिहारी चौबे के दुकान पर मिलैगी। संवत् १८१९, मिती पूस सुदी ११ चंद्रवार।"

दूसरी छपी प्रति स० १८६७ वि० की है, जो लल्लूलाल के संस्कृत-यन्त्रालय, काशी मे छपी। यह टाइपो मे छपी प्रति है। इसमे चौपाइयों को अलग-अलग पंक्तियो मे छापने का प्रयत्न किया गया है, पर इसमे पाठ अधिकतर भ्रष्ट है तथा शब्दो के रूप संस्कृत कर दिये गये है। तीसरी छपी प्रति स० १८९६ वि० की है, जो मुकुन्दीलाल जानी के छापाखाना, कलकत्ता से छपी। इसमे चौपाइयाँ तो लगातार छपी है, पर दोहो एवं छन्दो को स्वतन्त्र पंक्तियो मे छापा गया है। इसका पाठ अपेक्षाकृत शुद्ध है और परिश्रम के साथ प्रामाणिकता से प्रस्तुत हुआ है। पाठ-प्रस्तोता का नाम तो ज्ञात नहीं है, पर उसकी स्पष्ट घोषणा है कि 'अधिक पाठ-प्रसंग को रहने दिया इस निमित्त कि.......कथा निकाल देने से लोग हमको दोषी कहते।' चौथी छपी पोथी स० १९१३ वि० मे दिवाकर छापाखाना, काशी से निकली। इसके पाठ अधिकतर भ्रष्ट है।

इसके पश्चात् लीथो की छपी तीन पोथियाँ प्रकाश मे आई, जिनका पाठ परस्पर इतना मिलता है कि अनुमान होता है, इनकी आदर्श प्रति एक ही रही होगी। इन सभी मे पाठभ्रष्टता और प्रक्षेप का सम्मिश्रण मिलता है। इनमे पहली स० १९२३ वि० की प्रति है। शम्भुनारायण चौबे को इस प्रति का मुखपृष्ठ नही मिल सका था, पर आकार-प्रकार और टाइप के हिसाब से यह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छपी प्रतीत होती है। दूसरी सं० १९३० वि० मे बम्बई के सखाराम भिक सेठ खातू के छापाखाने की और तीसरी स० १९३१ वि० में मतबे मुंशी रामसरूप वाके कम्प फ़तेहगढ़ महल्लाँ तलैया लेन की छपी है।

'रामचरितमानस' के अबतक के संस्करणों मे पाठानुसन्धान का कोई प्रयास प्रायः नही दिखाई पड़ता है। लीथो या टाइप की छपी इन पोथियो का मूल्य भी एक हस्त-

लिखित प्रति जैसा ही था, जबतक उनमे अपनी ओर से किसी संशोधन या हस्तक्षेप का प्रयास नही किया गया।

'मानस' का प्रथम सम्पादित सस्करण रामजसन मिश्र ने स० १९२५ वि०, तदनुसार सन् १८६८ ई० मे प्रकाशित किया। रामजसन मिश्र ने आगे चलकर 'पद्मावत' का सम्पादन भी किया। मिश्रजी पण्डित व्यक्ति थे और बनारस सस्कृत-कॉलेज मे अध्यापक थे। उनमे शब्दो को पकड़ने और उनके अर्थ की गहराइयो तक पहुँचने की अद्भुत क्षमता थी, ऐसा उनके द्वारा प्रस्तुत पाठों को देखकर लक्षित होता है। मिश्रजी ने एक भूल की है कि ग्राम्य भाषा के शब्दो को उन्होने सस्कृत-उच्चारण और संस्कृत-व्याकरण के ढाँचे में ढालने का प्रयास किया। यह तुलसी के साथ अन्याय था, जिन्होने घोषणा करके लिखा 'गिरा ग्राम्य सिय रामजस।' इस सन्दर्भ मे, डॉ० ग्रियर्सन ने स्वसम्पादित 'मानसरामायण' के उपक्रम मे लिखा . "सबसे भारी साहस मिश्रजी (रामजसन मिश्र) का यह है कि इन्होने ग्रन्थकार की भाषा बदल दी, अर्थात् उस समय के, प्रचलित भाषा के शब्दो के स्थान पर सस्कृत-व्याकरण की रीति से शोधकर संस्कृत-शब्द रख दिया है। इसी प्रकार उन्होने 'पद्मावत' को भी शोधा है।"

यह कहने मे किंचित् सन्देह नही कि उस युग मे पं० रामजसन मिश्र ने दिशा-दर्शन का कार्य किया। सर्वप्रथम हस्तलेख-शैली से भिन्न प्रत्येक शब्द को अलग कर, फिर शब्दो की अर्थसगति का विचार कर तथा कई हस्तलिखित प्रतियों का मिलान कर उन्होने 'रामचरित-मानस' का पाठ सम्पादित किया और इस प्रकार उन्होने हिन्दी मे पाठानुसन्धान की नीव डाली। उनके मानस के पाठ-सम्पादन का मूल्यांकन करते हुए शम्भुनारायण चौबे ने लिखा है : "लीथो की छपी पुस्तको को पढने मे असुविधा होती थी और साधारण पढे-लिखे लोग यदि रामायण बाँचना चाहते थे, तो शब्दो के अलग न होने के कारण उन्हे रामायण का पढना दुरूह मालूम पडता था। इधर आई० सी० एस० कोर्स मे गवर्नमेण्ट ने हिन्दी वर्नावियूलर की परीक्षा मे मानस का कुछ अश रख दिया। इस सबकी सुविधा के लिए बनारस संस्कृत-कालेज के पण्डित रामजसन मिश्र ने बाँचने की सुगमता से पदो को अलग-अलग करके भाषा की चाव पर कई पुस्तको से शोध कर तुलसीदास-कृत रामायण की प्रति तैयार की, जो पहली बार सवत् १९२५ वि०, तदनुसार सन् १९६८ ई० मे लाजरस साहव के मेडिकल हाल प्रेस, काशी मे छपी और दूसरी बार चन्द्रप्रभा छापाखाना, बनारस मे सवत् १९४० वि०, तदनुसार सन् १८८३ ई० मे छपी थी। इसके अन्त मे कठिन शब्दो के अर्थ तथा इतिहास आदि भी दिये गये है। इसका पाठ यथेष्ट शुद्ध है, पर शब्दो का शुद्ध संस्कृत रूप मिलता है। इसमे दो स्थलो (रावण-जन्म, बालकाण्ड मे तथा कुछ अरण्यकाण्ड मे) के अतिरिक्त अन्यत्र क्षेपक भी नही है। समयानुसार, टाइप मे सुन्दर छपी थी और तबके जमाने मे इसका मूल्य चार रुपया था।"[1]

---

१. शम्भुनारायण चौबे : मानस-अनुशीलन, पृ० ८।

पद्मावत : 'रामचरितमानस' के पश्चात् मुद्रकों-सम्पादकों का ध्यान 'पद्मावत' की ओर गया। अवतक ज्ञात सूचना के आधार पर नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ने इसकी पहली पोथी प्रकाशित की। इसका प्रथम मुद्रण सन् १८८१ ई० मे हुआ। इसकी छठी आवृत्ति सन् १९२० ई० में हुई, जिसके मुखपृष्ठ पर छपा है :

पद्मावत भाषा
(राजा रत्नसेन और पद्मावत रानी की प्रसिद्ध कहानी)
लेखक .—
मलिक मुहम्मद जायमी
लखनऊ
केसरीदास सेठ द्वारा
नवलकिशोर प्रेस मे मुद्रित एवं प्रकाशित।
१९२० ई०
छठवीं बार, सर्वाधिकार सुरक्षित है।

इस मुद्रित ग्रन्थ पर किसी सम्पादक का नाम नही है, पर पाठ सावधानी से प्रस्तुत किया गया है। प्रथम बार इस रचना को मुद्रित करने मे सबसे बड़ी कठिनाई मूल पाठ को पढने की रही होगी, क्योकि इसकी अधिकतर हस्तलिखित प्रतियाँ फारसी-लिपि मे प्राप्त हुई थी। अवधी की इस रचना को फारसी-अक्षरो मे पढते समय कुछ का कुछ और पढ जाना स्वाभाविक था। यह पहली कठिनाई नवलकिशोर प्रेस के संस्करण को झेलनी पडी। जब नवलकिशोर प्रेस का पाठ नागराक्षरो मे आ गया, तब परवर्त्ती सम्पादको को इन पाठो को इसके आधार पर पढने की सुविधा हो गई। बाद के विद्वान् सम्पादको मे **रामचन्द्र शुक्ल** और **माताप्रसाद गुप्त** ने इस पाठ की बडी भर्त्सना की है, पर उन्होने उस युग और उसकी सीमा का विचार न करके इसके प्रति टिप्पणी करने मे असहिष्णुता का परिचय दिया है। इस सस्करण मे शब्दो के रूप संस्कृत हो गये है। जैसे : परकाशू (परकासू), कैलाशू (कैलासू); स्वर्ग (सरग) आदि।

इसके अतिरिक्त, बहुत-से पाठो को ठीक-ठीक पढ लिया गया है और इस संस्करण मे ही **जायसी** की काव्य-प्रतिभा का कुछ आस्वाद मिल जाता है। पर, इसमे बहुत-से शब्दो को पढने मे चूक भी हुई है। जैसे . सेव (सीव), जानवन्त (जाँवँत); तबल डीडगा (तबल देइ डगा) आदि। ऐसी समस्त त्रुटियाँ फारसी-लिपि को ठीक से न पढ सकने के कारण हुई है।

इस सस्करण मे 'पद्मावत' की कथा को खण्डो मे विभक्त किया गया है और एक-एक खण्ड के अन्तर्गत कई-कई शीर्षक (सुर्खियाँ) लगाये गये है। जैसे जन्मखण्ड के अन्तर्गत 'तारीफ सय्यद असरफ जहाँगीर की', 'तारीफ सय्यद असरफ जहाँगीर के बेटे की' आदि शीर्षक लगे हैं।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने खण्डों के विभाजन को भी मूलप्रति के पश्चात् का माना है, पर अवान्तर शीर्षक तो निश्चय ही वहुत वाद के है, जो इनकी भाषा से ही स्पष्ट है। इन कमियो के बावजूद इस सस्करण में बहुत-से पाठो को मूल पाठ के निकट तक ग्रहण किया गया है। पाठ के नीचे पाद-टिप्पणियों में कठिन शब्दों के अर्थ भी दिये गये हैं। शृंगारखण्ड के अन्तर्गत नाभि-वर्णन के प्रसंग मे शुद्ध पाठ की पकड़ का एक उदाहरण देखे :

नाभी कुंड सो मलय समीरू। समुद्र भंवर जस 'भवँ' गंभीरू॥
बहुते भंवर 'बौंडर' भये। पहुँच न सके स्वर्ग कहँ गये॥
'चंदन माँझ' 'कुरंगिन खोजू'। वहिं को पाव को राजा भोज॥
को वह लागहिं वचल सीझा। काकहिं लिखी ऐस को रीझा॥

यहाँ उद्धरण-चिह्नो से अकित शब्दों को सटीक पकडा गया है, पर सारा पाठ मूल के निकट का तो कहा जा सकता है, मूलपाठ नही, क्योकि शब्दो के रूप पूर्णतः जायसी द्वारा प्रदत्त नही है। साथ ही, कुछ शब्दो को ठीक से न पढ पाने की भी भूल हुई है। उपर्युक्त पाठ मे चौथी अर्द्धाली के प्रथम चरण मे 'लाग हिवचल' को 'लागहिं वचल' पढा गया है।

इसके पश्चात् सन् १८८४ ई० मे रामजसन मिश्र का, 'पद्मावत' का सस्करण चन्द्रप्रभा छापाखाना, वनारस मे छपा। इसके मुखपृष्ठ पर मुद्रित है :

॥ श्री सच्चिदानंदमूर्त्तये नमः ॥
पद्‌मावत
मलिक मोहम्मद जायसी की बनाई
जिसे
पं० रामजसन ने कई ग्रंथों से मिलाकर और
शोध कर छपवाया ॥
बनारस
चन्द्रप्रभा छापाखाना
१८८४
दाम १॥)

पं० रामजसन मिश्र के इस संस्करण मे भी नवलकिशोर प्रेसवाले पूर्ववर्त्ती संस्करण की ही भाँति कोई भूमिका नही है। मुखपृष्ठ के उल्लेख से यह सूचना मिलती है कि उन्होने कई प्रतियो का विनियोग किया और पाठशोध का प्रयास भी किया है। अनुमान से प्रतीत होता है कि उनके सामने नवलकिशोर प्रेसवाला मुद्रित पाठ भी अवश्य रहा होगा। रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका मे लिखा है कि "इस ग्रन्थ के चार संस्करण देखने मे आये। एक नवलकिशोर प्रेस का, एक रामजसन मिश्र-सम्पादित काशी के चन्द्रप्रभा प्रेस का, एक कानपुर के किसी पुराने प्रेस का फारसी-अक्षरों

में और चौथा म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी और डॉ० ग्रियर्सन-सम्पादित रायल एशियाटिक सोसायटी का, जो पूरा नही, तृतीयांश-मात्र है। इनमें से प्रथम दो संस्करण तो किसी काम के नहीं।" डॉ० माताप्रसाद गुप्त को यह संस्करण देखने को ही नही मिला। अतः, उन्होने इसपर कोई टिप्पणी नही की है।

पं० रामजसन मिश्र द्वारा प्रस्तुत पाठ किसी काम का नही, यह कहना उनके श्रम का अवमूल्यन है। शुक्लजी ने या तो इस पाठ को देखा नही या उन्होंने जान-बूझकर इसके महत्त्व को कम किया है। मिश्रजी ने इस कथा का खण्डों में विभाजन नहीं स्वीकार किया है और खण्डो के बीच मे आये शीर्षको को भी परवर्त्ती मानकर उन्होंने छोड़ दिया हैं। नवलकिशोर प्रेस के संस्करण से सतर्कतापूर्वक मिलाने पर यह पता चलता है कि उससे पर्याप्त उत्कृष्ट पाठ इसमे प्रस्तुत हुआ है। इस संस्करण मे भाषा का संस्कृत रूप है तो अवश्य, पर नवलकिशोर प्रेस के संस्करण की अपेक्षा इसमे सस्कृत शब्द-रूप कम हैं और वे अपने मूल रूप के पर्याप्त निकट है· उदाहरण के लिए, इन दोनो संस्करणों के प्रथम छन्द का पाठ यहाँ दिया जा रहा है·

नवलकिशोर प्रेस का पाठ :

सुमिरों आदि एक करतारू। 'जें' जिव दीन्ह संसारू ॥
कीन्हेसि प्रथम् 'ज्योति परकाशू'। कीन्हेसि तिनहिं प्रीति 'कैलाशू' ॥
कीन्हेसि अग्नि पवन जल खेहा। कीन्हेसि वहुते रँग औरेहा ॥
कीन्हेसि धरती स्वर्ग पतारू। कीन्हेसि 'वरण-वरण' अवतारू ॥
कीन्हेसि दिन 'दिनेश शशि' राती। कीन्हेसि नखत तरायन्ह पाती ॥
कीन्हेसि धूप 'सेव' औ छांहा। कीन्हेसि मेघ 'बीज' तेहि मांहा ॥
कीन्हेसि सप्त मही ब्रह्मंडा। कीन्हेसि 'भवन' चौदहो खंडा ॥

पं० रामजसन मिश्र का पाठ :

सुमिरौं आदि एक करतारू। 'जिन्ह' जिव दीन्ह संसारू ॥
कीन्हेसि प्रथम 'जोति परकासू'। कीन्हेसि तिनहिं प्रीति 'कैलासू' ॥
कीन्हेसि अग्नि पवन जल खेहा। कीन्हेसि बहुते रंग उरेहा ॥
कीन्हेसि धरती सुरग पतारू। कीन्हेसि 'बरन बरन' अवतारू ॥
कीन्हेसि दिन 'दिनेस ससि' राती। कीन्हेसि नखत तरायन पाती ॥
कीन्हेसि धूप 'सींव' औ छांहा। कीन्हेसि मेघ 'बीजु' तेहिं मांहा ॥
कीन्हेसि सप्त मही ब्रह्मंडा। कीन्हेसि 'भुवन' चौदहो खंडा ॥

उद्धरण-चिह्नांकित शब्दो का मिलान करके देखा जा सकता है कि भाषा को मूल के कितना निकट लाने का कार्य मिश्रजी द्वारा हुआ है। उन्होंने 'पद्मावत' के पाठ को नवलकिशोर प्रेस के सस्करण से बहुत ही शुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया, इसमे सन्देह नही है। पाठ के भाषा-रूप की दृष्टि से ही नही, प्रत्युत मूल शब्दो की पकड़ की दृष्टि से भी इस संस्करण का अपना महत्त्व है। प्रथम छन्द मे ही 'सेव' का शुद्ध 'सीव', 'बीज' का 'बीजु' और

'भवन' का 'भुवन' उन्होंने पढा। दूसरे छन्द की प्रथम अर्द्धाली के द्वितीय चरण का पाठ नवलकिशोर प्रेस के संस्करण में था : 'कीन्हेसी मेर खखंड पहारा।' इसे मिश्रजी ने इस रूप में प्रस्तुत किया : 'कीन्हेसी मेरु खिखिद पहारा।' 'खिखिद' शब्द को परवर्ती वैज्ञानिक सम्पादनों में भी ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार, नवलकिशोर प्रेस के जानवन्त जग साखा बन ढाँखा' को उन्होने शुद्ध रूप मे 'जाँवँत जग साखाबन ढाँखा' पढ़ा।

शुक्लजी ने अपने संस्करण मे एक पाठ को बड़ी उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत किया है : 'कतहुं 'चिरहँटा' पंखिन्ह लावा।' उन्होंने डॉ० ग्रियर्सन के 'छरहटा' पाठ को अशुद्ध ठहराया था, यद्यपि आगे चलकर शुक्लजी का पाठ ही निरर्थक और अशुद्ध प्रमाणित हुआ। यह पाठ उन्हें मिश्रजी के इसी संस्करण से मिला था। नवलकिशोर प्रेस में इसका पाठ 'चरहटा' था। मिश्रजी ने ग्राम्य अवधी के शब्दो को पकडने में काफी सफलता प्राप्त की है। नागमती के विरह-वर्णन में पाठ काफी शुद्ध है और ग्रामीण कृषक-जीवन में प्रयुक्त शब्दों को ठीक रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ, उनके संस्करण का ३८१वाँ छन्द :

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भइ मो कहँ यह छाजन गाढ़ी॥
तन तन बर भा झूरी खरी। भा बरखा दुख आगर जरी॥
बंध नाहिं औ खंड न कोई। नाम न आव कहीं केहि रोई॥
सांठ नांठ लग बात को पूंछा। बिन जिय फिरै मुंज तन छूंछा॥
भई दुहेली टेक बिहूनी। थांभ नांह उठ सकै न थूनी॥
बर्साहि मेघ चुवहिं नयनाहा। छपर छपर होवे बिनु नाहां॥
कोरों कहां ठाठ नव साजा। तुम बिनु कंत न छाजन छाजा॥

इस छन्द में प्रयुक्त ग्रामीण शब्द 'कोरो' को डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे टीकाकार भी नहीं समझ सके थे और उन्होने अर्थ के लिए इस पाठ को ही बदल दिया।

'पद्मावत' का कवि भाषा का ऐसा बादशाह था कि एक ओर वह धूल-माटी से सने सोधे शब्दों का प्रयोग करता है, तो दूसरी ओर शुद्ध संस्कृत-उद्गम के ठेठ शब्दो का उपयोग कर लेता है और तीसरे, प्राकृतापभ्रंश-परम्परा से चले आते हुए शब्दों के सहज रूप को ग्रहण कर लेता है। अत., उसके बहुत-से शब्द आज भी दुरूह बने हुए हैं। आज दर्जनों सम्पादित संस्करण 'पद्मावत' के हो चुके हैं। कई महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी जा चुकी है। उसके प्रत्येक शब्द पर विचार हो चुका है। फिर भी, अनेक शब्दो के सम्बन्ध मे विवाद बना है। जैसे, मिश्रजी के संस्करण के छन्द ३४६ की तीसरी अर्द्धाली का पाठ है :

जनहुं मांत निसयानी बसी। अति बिषभर फूली जनु अरसी।

इसका पाठ नवलकिशोर प्रेसवाले संस्करण मे था :

जमहुं मातबस पानी बरसी। अति बिषभर फूली जनु अरसी।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि के संस्करणों में प्रथम चरण का पाठ 'जनहु भांति बुसियानी बसी' है। इसका अर्थ किया गया है कि 'सम्भोगोपरान्त प्रात उठने पर वह

वासी तथा दुर्गन्धयुक्त लग रही थी। वह अत्यन्त विपभर हो गई थी और अलसी के फूल जैसी काली पड़ गई थी।' इतनी ऊहापोह के वाद भी जायसी के ऐसे महत्त्वपूर्ण पाठ के सौन्दर्यपूर्ण अर्थ का सन्धान नही हो सका। इस प्रकार के वहुत-से शब्दों के पाठो को पकड़ सकने मे मिश्रजी असमर्थ रहे हैं। फिर भी, उन्होने 'पद्मावत' के पाठ को अपने साधनों की सीमा मे और अपने सामर्थ्य के अनुसार, मूल पाठ के अति निकट प्रस्तुत करने का प्रयास किया, पर वहुत-सा कार्य शेष रह गया था, जिसे आगे के पाठानुसन्धाताओं ने पूरा किया, फिर भी अभी वहुत कुछ शेष है। डॉ० ग्रियर्सन ने मिश्रजी के सम्पादन को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए भी उसे अवतक का सर्वोत्तम सम्पादन माना है। उसमें शब्दो के संस्कृत रूप के अतिरिक्त प्रत्येक पक्ति मे भी त्रुटि होना वताया है। (पद्मावत, भूमिका, पृ० २)

अन्य ग्रन्थ : प्रारम्भिक मुद्रणकाल मे कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाओ का पाठ मुद्रित और प्रकाशित हुआ। 'बिहारी सतसई' का एक पाठ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व १८५८ ई० मे **नागरीदास** की रचनाओ का पाठ 'नागरसमुच्चय' नाम से ज्ञानसागर छापाखाना, वम्वई से प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन **कवीश्वर जयलाल** ने किया था। यह पाठ काफी शुद्ध था और **नागरीदास** के परवर्त्ती सम्पादकों के लिए भी आधार बना। सन् १९४१ ई० मे 'रागकल्पद्रुम' के अन्तर्गत कलकत्ता से उसके द्वितीय खण्ड के रूप में 'सूरसागर' का पाठ **कृष्णानन्द व्यासदेव** ने प्रकाशित कराया। यह पाठ अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित पोथियो के आधार पर सम्पादित हुआ था। इसका पाठ लीलाक्रमानुसार है, स्कन्धक्रमानुसार नही, जो अपेक्षाकृत नवीन प्रतियो में मिलता है। इसी कालावधि मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्यकृति 'पृथ्वीराजरासो' के पाठ पर 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव वंगाल' के द्वारा कार्य प्रारम्भ हुआ। **चन्दवरदाई** की लिखी यह प्रबन्ध-रचना पृथ्वीराज चौहान के कथाप्रसगो पर आधृत है। यह कार्य सन् १८८६ ई० तक सोसायटी द्वारा चलाया गया, तभी 'पृथ्वीराजविजय' नामक एक ग्रन्थ की प्राप्ति हो गई, जिसमे पृथ्वीराज-सम्बन्धी उद्धरणो की तिथियो और घटनाओ से रासो की तिथियो और घटनाओ का मेल नही बैठता था और तुलना मे रासो की घटनाएँ और तिथियाँ इतिहास-विरुद्ध ठहरती थीं। अत, इसे जाली और अप्रामाणिक ग्रन्थ मानकर इसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

इस प्रकार, प्रारम्भिक मुद्रणकाल मे हस्तलिखित प्रतियो के यथावत् मुद्रण और उनकी कई प्रतियो को मिलाकर रचना के मूल पाठ के अनुसन्धान की दिशा मे प्रयास के दर्शन हमे होते हैं। पं० **रामजतन मिश्र** इस काल के सबसे मेधावी पाठानुसन्धाता थे। उनके पाठो मे कुछ मूलभूत दोषो के होते हुए भी उनमे वह शक्ति और प्रेरणा हमे दिखाई पडती है, जिसने आगे चलकर **भागवतदास छत्री** और **डॉ० ग्रियर्सन** जैसे पाठ-सम्पादको को उचित दिशा प्रदान की।

△ राहुलनगर (मड़वा)
विवेकानन्द मार्ग, आजमगढ़ (उ० प्र०)

घीसा सन्त : जीवन और साहित्य

△ श्रीइन्द्र सेंगर

हिन्दी-मनीषियों ने 'भारत की सन्त-परम्परा' पर प्रचुर सामग्री का अनुसन्धान कर, अविरत अध्यवसाय से तत्सम्बन्धी शोधग्रन्थ प्रस्तुत किये है। ऐसे शोध-विद्वानो मे **डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, श्रीवियोगी हरि** आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। परन्तु, सन्त-परम्परा के ही प्रतिष्ठित कवि **घीसा सन्त** से हिन्दी का शोध-जगत् प्रायः अपरिचित ही रहा है। इसलिए, प्रस्तुत लेख मे उनके जीवन और साहित्य की सारस्वत झलक-झांकी उपन्यस्त है।

जीवनवृत्त :

घीसा सन्त का जन्म मेरठ-जनपद के अन्तर्गत खेकडा नामक कसबे मे हुआ।[१] यह कसबा शाहदरा, दिल्ली से बारह कोस की दूरी पर, शामली जानेवाली रेलवे लाइन की बाईं ओर अवस्थित है। इनके पिता **सदासुखलाल कौशिक**[२] कबीरपन्थ के अनुयायी अनन्य भक्त थे। इसी कारण, उनके हृदय मे सन्तों के प्रति अगाध भक्ति कूट-कूटकर भरी हुई थी। उनमे सन्तो के प्रति इतनी अटूट श्रद्धा थी कि वह जीविका द्वारा उपार्जित अर्थ भी सन्तों की सेवा में अर्पित कर दिया करते थे। प्रतिदिन सन्तों और साधुओं को भोजन कराने के पश्चात् ही स्वयं अन्न-जल ग्रहण करना उनकी सहज प्रवृत्ति बन गई थी। इसी प्रकार, उनकी सहधर्मिणी भी अपने पति के सदृश ही सन्तो के प्रति श्रद्धाभाव से ओतप्रोत थी और उनका स्वागत कर स्वयं को गौरवशालिनी मानती थी। इतना सब कुछ होने पर भी इस दम्पति को सन्तान-सुख नही था।

घीसा सन्त के जन्म की कहानी बड़ी अद्भुत है।[3] एक बार खेकड़ा के उत्तर-पश्चिम मे अहीरो के तालाब पर साधु के वेश मे सन्त **कबीरदास** पधारे। **सदासुखजी** के अनन्य प्रेमी **मईराम** ने यह सूचना उन्हे दी। यह शुभ समाचार सुनकर सदासुखजी अतिशय आह्लादित हुए। भोजन आदि तैयार कराकर वह उनके पास पहुँचे और श्रद्धाभाव के साथ उनसे अपने घर चलने का अनुरोध किया। सदासुखजी का अनुरोध स्वीकार कर महात्माजी उनके घर आये। पत्नी-सहित सदासुखजी ने महात्माजी का पहले आसन, भोजन आदि से सत्कार किया और फिर उनकी सेवा-शुश्रूषा के अन्यान्य कार्यो मे वह लग गये। भक्त की भक्ति-परीक्षा के लिए महात्माजी शय्या पर ही मलमूत्र-विसर्जन कर दिया करते थे। फिर भी, सदासुखजी बड़ी श्रद्धा के साथ घृणाभाव से रहित होकर मलमूत्र की सफाई करते और शय्या पर दूसरा विछौना लगा देते थे।

दैवयोग से सदासुखजी के परिवार में किसी का देहावसान हो गया। इधर शोकसागर में डूबा हुआ परिवार मृतक की अरथी को श्मशान ले चलने की तैयारी कर रहा था और उधर महात्माजी ने परीक्षा की उचित घड़ी समझ क्षुधा-तृप्ति के लिए भोजन की इच्छा व्यक्त की। अटूट भक्ति मे पगे हुए सदासुखजी ने उनके लिए तुरन्त भोजन तैयार कराया। महात्माजी ने अपनी परीक्षा और भी जटिल कर दी। उन्होंने कहा, यह भोजन सुन्दर नही है। फलत., पुन. भोजन तैयार कराया गया। उस भोजन मे भी कोई त्रुटि बताकर महात्माजी ने भोजन अस्वीकार कर दिया। तब, तीसरी बार भोजन तैयार कराया गया। अन्त मे, सदासुखजी की प्रगाढ भक्ति से प्रसन्न होकर महात्माजी ने शव को श्मशान ले जाकर जलाने की आज्ञा दे दी और उनसे कुछ वर माँगने के लिए कहा। सदासुखजी ने विनम्र भाव से कहा कि महाराज ! आपकी दया से सभी प्रकार का आनन्द-मंगल है, फिर भी आपका स्मरण बना रहे, ऐसा वर दीजिए। महात्माजी ने 'एवमस्तु' कहकर अपना सिर हिलाया और 'मैं ही आपके यहाँ अवतार लूँगा'[४] ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गये। यह सन् १८०२ ई० की बात है। एक वर्ष के अनन्तर ही उनकी धर्मपत्नी नें आषाढ गुरुपूर्णिमा (सन् १८०३ ई०) के दिन प्रात·काल एक पुत्र को जन्म दिया। वही बालक आगे चलकर घीसा सन्त के नाम से विख्यात हुआ।

शैशव काल से ही घीसा सन्त ने अपने चमत्कारो से लोगो को विस्मित करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी कारण, खेकडा के ही अनेक लोग इनके अनुयायी हो गये थे। इनकी शिक्षा अधिक नही हुई थी, फिर भी चौदह वर्ष की उम्र से ही यह वाणियो के सर्जन मे प्रवीण हो गये थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन्होने अपनी जीविका के लिए अपना कारोबार प्रारम्भ किया था। यह कारोबार इनकी जाति की लीक से हटकर था। साथ ही, यह जातिवाद के विरोध की एक नई क्रान्ति का श्रीगणेश भी था। यह कारोबार था एक जुलाहे का, जिसने इनकी जन्मजाति को बदलकर अन्त मे एक इन्हे जुलाहे की सज्ञा दे दी, परन्तु इनके अनुयायियो के अतिरिक्त इस रहस्य को कोई भी नही समझ पाया कि यह ब्राह्मण जुलाहे का धन्धा अपनाकर आध्यात्मिक कसौटी पर भी एक ताना-बाना बुन रहा है।

घीसा सन्त के भक्तों और अनुयायियो की संख्या दिनानुदिन बढती गई। आसपास के अतिरिक्त दूर-दूर तक इनका यश फैलता गया।[५] कालक्रम से इन्होने 'घीसापन्थ'[६] का प्रवर्त्तन किया। अपने पन्थ के सिद्धान्तो द्वारा जनमानस का मार्ग आलोकित करने के क्रम मे यह एक बार दिल्ली की सैर करने के विचार से वहाँ पहुँच गये। उस समय इनके साथ इनके शिष्य **श्रीजीतादास** और **सेवादास** थे। वहाँ इनके नीर-क्षीरविवेकी विचारों से प्रभावित हो अनेक भक्तों ने इनका पन्थ स्वीकार किया। उनमें एक शिष्य **बहादुरशाह जफर** के दरबार में जरी का काम करनेवाला **कोलादास** भी था। इन्होंने उसका नाम रखा था **कँवलदास**।

कँवलदास ने जब इनकी चर्चा बहादुरशाह जफर से की, तब वह इनके पास हाथी पर चढ़कर आये। बहादुरशाह की जिज्ञासा को जानकर इन्होने उनसे कहा · ये लड़के, क्या माँगता है ?' बहादुरशाह ने कहा : 'महाराज, मेरे कोई औलाद नही है।' इन्होने कहा : 'तेरे भाग्य में औलाद नहीं लिखी है।' तब, बहादुरशाह नतमस्तक हो विनती करने लगे : 'खुदा, मेरे ऊपर मेहर करो।' सन्त ने कहा 'मांस-मदिरा का परित्याग करो, तब सन्तान पैदा होगी।' बहादुरशाह ने कहा : 'मैं इन वस्तुओ के विना जी नही सकता।' पुन. जब बहादुरशाह ने अत्यन्त विनती की, तब घीसा सन्त ने 'एवमस्तु' कह अपना हाथ उठा दिया। इस बात से प्रसन्न होकर बहादुरशाह ने गुरुदक्षिणा मे हाथी देने की बात कही, तो घीसा सन्त ने कहा 'कटरे (भैंस के बच्चे) की हमे आवश्यकता नही है। उसे अपने पास ही रखो।' तब, बहादुरशाह ने हाथी पर घीसा सन्त को सारी दिल्ली की सैर कराई। सैर से वापस आने के बाद बहादुरशाह को इन्होंने कहलवा भेजा कि, अँगरेज कलकत्ता से दिल्ली आनेवाले हैं। वे तुझे पकड़कर विलायत पहुँचा देगे। अपना बन्दोवस्त कर लेना। सन् १८५७ ई० मे गदर होगा।' ज्ञातव्य है, उस गदर मे घीसापन्थियो ने अँगरेज का डटकर विरोध किया, यहाँतक कि अनेक अनुयायियो को अँगरेज ने कठोर दण्ड भी दिया था। फिर भी, घीसा सन्त राष्ट्रीय चेतना का शखनाद अपनी आध्यात्मिक रंग से रँगी वाणियो और पदो द्वारा करते ही रहे।[७]

घीसा सन्त के जीवनकाल में ही घीसापन्थ मेरठ-जनपद की परिसीमा से बाहर निकलकर हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, गुजरात आदि प्रान्तो तक फैल गया था। अनेक स्थानो पर आज भी इनकी गद्दियाँ विद्यमान है, जहाँ विपुल मात्रा में संग्रहणीय साहित्यिक सामग्री उपलब्ध है। इन गद्दियो पर प्रत्येक पूर्णिमा को मेला लगता है, जहाँ सहस्रो की सख्या मे घीसापन्थ के अनुयायी आते है और श्रद्धाभाव से अपना मस्तक झुकाते हैं। घीसा सन्त 'मिति मगशिर सुदी दशमी (सन् १८६८ ई०) को इस पांचभौतिक शरीर का परित्याग कर निर्वाण-पद को प्राप्त हुए। आज भी सन्त-दरबार खेकड़ा मे फाल्गुन तथा आषाढ शुक्ल पूर्णिमा एवं मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी को मेला लगता है।

उपलब्ध साहित्य :

हमे सन्त-दरबार, खेकड़ा से घीसा सन्त का एक ग्रन्थ 'श्रीग्रन्थसाहेब' प्राप्त हुआ है, जिसमें घीसा सन्त के अतिरिक्त, इनके शिष्य जीतादास, अचलदास और अवगतदास की वाणियाँ, शब्द, साखी, पद और आरती सम्मिलित हैं। इन सबकी कुल संख्या ३५३३ है, जिसमें घीसा सन्त की वाणी, पद और आरती की कुल सख्या २०४ है। एक पद हमे एक घीसापन्थी भक्त से मिला है, जिसका कथन है कि इस पद को उसके पिता गाया करते थे :

सखी तेरी पीव बिना सवारी।
सांस सबद के फेरे लैके प्रेम पालकी जा री ॥

सील सिन्दूर लगा मस्तक पै सत का राग सुना री।
सुन्न महल में सेज पिया की निर्भय प्रेम जगा री॥
राम नाम का चूँदर ओढ़े छिमा की सेज सजा री।
घीसा सन्त सरण सतगुरु की अगम राह तू पा री॥

इस प्रकार, घीसा सन्त की वाणियों और पदो की संख्या २०५ है। यह बात अवश्य है कि ये पद संख्या में कम है, परन्तु प्रत्येक पद की प्रत्येक पंक्ति का प्रत्येक शब्द सहजानुभूति का सशक्त माध्यम है। इसके अतिरिक्त, घीसापन्थ से सम्बद्ध अन्यान्य प्रकीर्ण साहित्य भी मिलते हैं, जो घीसा सन्त के द्वितीय शिष्य सन्त नेकीराम तथा अन्य शिष्यो एवं महन्थों—छोतरामदास, ईश्वरदास, साध्वी अमीकोर, दलीप साहेब तथा ममन्दरदास द्वारा विरचित वाणियो तथा पदो के रूप मे है। इस प्रकार के स्फुट पदो की संख्या का अनुमान लगाना सम्भव नही, क्योंकि घीसापन्थ के कई अनुयायी आज भी अनेक वाणियो की रचना कर रहे है।

विचारधारा :

सत्य का महत्त्व : घीसा सन्त ने अपनी वाणियो मे सबसे अधिक महत्त्व सत्य को और गुरु को ही दिया है। भक्ति, योग, ज्ञान, विज्ञान आदि के प्रतिपादन मे सत्य का ही प्राधान्य रहा है। यहाँतक कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए भी भक्ति का प्रथम सोपान इन्होने सत्य को ही माना है। सत्य की तोप मे अपार शक्ति है। इसमे भक्ति का गोला डाला जाता है। ज्ञानरूपी पलीता से उसे स्फुरित किया जाता है, जिससे भ्रम की दीवार छिन्न-भिन्न हो जाती है और भक्त का हृदय ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो उठता है। भक्त अपनी साधना के साफल्य की प्राप्ति करता है और सुरति की अनुभूति के द्वार से अपने प्रियतम (ईश्वर) का रूप देखने मे भी सफल होता है। वहाँ अनहद वाणी गुजार करती है। इतना ही नहीं, अग्रगमन के लिए रामनाम की ढाल का उल्लेख भी सन्त ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है।[८] उस सत्य का ज्ञान करानेवाले प्रणेता 'सतगुरु' होते है, इसी कारण सतगुरु को सत्यरूप भी कहा है और उस अनन्त ज्योति के लिए ही सत्य की बन्दगी की जाती है। सत्य के प्रथम सोपान से भक्ति की यात्रा का प्रारम्भ होता है। उस अखण्ड शक्ति को कहा है 'सतसाहेब' ने और यही 'सतसाहेब' घीसा सन्त द्वारा भक्तो एव शिष्यों को दिया गया नाम-स्मरण है।

गुरु की महत्ता . यद्यपि घीसा सन्त के गुरु का नामोल्लेख करने मे अन्त साक्ष्य और बहिःसाक्ष्य असमर्थ ही रहे हैं, तथापि इन्होने अगम पथ के लिए सतगुरु का ही महत्त्व स्वीकार किया है। यह बात दूसरी है कि जो सन्त स्वयं कबीर का अवतार है, उसे गुरु की क्या आवश्यकता। फिर भी, ब्रह्म-रूपी कस्तूरी प्राप्त करने के लिए गुरु का होना नितान्त अनिवार्य है।[९] और, उसके लिए इन्होने सन्त कबीर जैसे गुरु का उल्लेख किया है, जो घट-घट में व्याप्त है।[१०] आज भी इनके दरबार मे जो आरती की जाती है, उसमे कबीर का स्वरूप[११] दर्शनीय है :

कक्का केवल नाम है, बब्बा ब्रह्म सरीर।
ररा सबमे रम रहा, ताका नाम कबीर॥
पानी से पैदा नही, स्वासा नहीं सरीर।
अन्न अहार करता नहीं, ताका नाम कबीर॥
....
गुरु का नाम सदा ही लीजै, जीवन जनम सफल कर लीजै।
गुरु है सब देवन का देवा, भवसागर से लावें खेवा॥
गुरु है अलख पुरुष अविनासी, गुरु बिन कटे न जम की फाँसी।
('श्रीग्रन्थसाहेब')

जिस प्रकार साधना द्वारा ईश्वर की प्राप्ति तक पहुँचने के लिए घीसा सन्त ने प्रत्येक वाणी मे सत की तोप का अवलम्बन किया है, उसी प्रकार प्रत्येक वाणी मे साधना के प्रणेता सतगुरु के कृपाभाव का अवलम्बन ही उस सत की तोप को साधे हुए है, जिसका लक्ष्य केन्द्रित है मूल विन्दु पर, इसलिए वाणी के अन्त में गुरु के प्रति पूर्ण समर्पणभाव ('घीसा सन्त सरण सतगुरु की') आत्यन्तिक महत्ता का विषय है। और हो भी क्यो नहीं, जहाँ गुरु सर्वप्रकारेण समर्थ है। सत्य शब्द की अमोघ शक्ति से सतगुरु शिष्य को भवसागर से पार उतार देता है, शब्द की चोट से सतगुरु कौए को हस कर सकता है। किं बहुना, सतगुरु शब्द की बूटी से असम्भव को सम्भव कर सकता है। शिष्य पर सतगुरु की कृपा हो जाय, तो शिष्य निहाल हो जाता है :

चोला धो डारा रे भाई म्हारे रीझे सतगुरु सांई।
भाव भक्ति में चोला सोध्या दया की आँच लगाई॥
पाप पुण्य दो ईंधन झोके सतगुरु खोम चढ़ाई।
सतगुरु धुबिया धोवन लागे प्रेम सिला पर भाई॥
छिमानीर में दिया झकोला दुरमन काट बगाई।
जोग जुगत कर चोला धोया ज्ञान सफाई पाई॥
(श्रीग्रन्थसाहेब, पृ० १९, वाणी-सं० २६)

जाति-पाँति का खण्डन : निरगुणिया-सम्प्रदाय के आदिकवि सन्त कबीर ने जातिवाद के जहरीले दश से विमूच्छित हिन्दुओं को फटकार पिलाकर समता का उपदेश दिया था। परन्तु, कबीर के बाद निरगुणिया-सम्प्रदाय की लम्बी यात्रा के पश्चात् भी इस रूढिवादी विचार-दुर्ग का खण्डहर पूर्णरूपेण ध्वस्त नही हो पाया था। जातिवाद की चादर इतनी मैली और जीर्ण हो गई थी कि न तो वह उधेड़कर दुबारा बुनी जा सकती थी और न किसी साबुन से साफ ही की जा सकती थी। इसको तो समूल नष्ट करके ही जनमानस मे समता का संचार किया जा सकता है। इस विचार से सर्वप्रथम घीसा सन्त ने ही इस क्रान्ति का सेहरा अपने सिर पर बाँधा और ब्राह्मण होते हुए भी जुलाहे का कारोबार प्रारम्भ कर लोगो मे नई वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। इनके

लिए सभी प्राणी (मानव) हाड़-मांस का एक पुतला है, सबकी एक ही चमड़ी है, सबमें एक ही राम बोलता है।[११] न कोई बडा है और न कोई छोटा। न कोई ब्राह्मण है, न कोई राजपूत। न कोई उच्च वर्ण का है, न कोई निम्न वर्ण का। आक्रोश में आकर घीसा सन्त ने लोगों को वह डाँट पिलाई कि उनकी जुबान बन्द हो गई और सन्त के पास यही कटु सत्य था, जिसमे वे कबीर से भी आगे निकल गये है :

> जाट और भाट, भग-लिंग के ही ठाट।
> ब्राह्मण और बणिया, भग-लिंग के ही तणिया॥
> जोगी और गुसाई, भग-लिंग के ही भाई।
> लेना और देना, भग-लिंग से ही कहना॥
> पीर और पैगम्बर, भग-लिंग के ही दिगम्बर।
> जति और सति, भग-लिंग की ही मति॥
> घीसा हिन्दू और मुसलमान, भग-लिग के ही जान। (श्रीग्रन्थसाहेब)

वर्गवाद और वर्णवाद की भावना से रहित होने के कारण घीसा सन्त को निम्नवर्ण के लोग अपना भगवान् मानते हैं।

बाह्याडम्बरो का खण्डन : भारतीय सस्कृति का यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि कबीर की कठोर फटकार के बावजूद हिन्दू और मुसलमानो मे मानववादी आदर्शो के आधार पर ऐक्य स्थापित न हो सका, अतएव घीसा सन्त को पुनः दोनो की विभिन्न मान्यताओ का खण्डन करने की आवश्यकता पडी। मन्दिर का घण्टा, मस्जिद की बाँग, हिन्दुओं के वेद, मुसलमानो की कुरान, हिन्दुओ के व्रत, मुसलमानो के रोजे,[१२] मुसलमानो की हज और हिन्दुओ के तीर्थ[१३] सब कुछ भटकाने के उपादान-मात्र है। उस घट-घटवासी की प्राप्ति तो अपने तन मे ही हो जाती है .

> हिन्दू पूजें देहरा वे मस्जिद के माह।
> वहाँ पत्थर वहाँ ईंट है राम-खुदा तन माह॥
> वेद कतेब झगड़ा पड़ा भूले दोनू दीन।
> घीसा सन्त निउ कहे भाई आपे ही में चीन॥

साराशत:, हम कह सकते हैं कि घीसा सन्त संकीर्णता की विचार-परिधि से विमुक्त हो, केन्द्र में प्रदूषित सस्कारो, अडिग आडम्बरो और मैली-कुचैली रूढियो तथा विषाक्त आचार-शिराओ को एकत्र कर उन्हे सत्य की तोप से विध्वस्त कर रहे थे और ज्ञान का पलीता लगाकर जीर्ण परम्पराओ की होली फूँक रहे थे, अथच बुद्धिजीवी आत्मा को, नवीन एवं वैज्ञानिक विचारधारा का अनुसरण कराने हेतु, नूतन दृष्टि दे रहे थे।

सन्दर्भ-संकेत :

१. (क) बीच खेकड़ा खेवना जो सबका सरदार।
घीसा सन्त प्रगट भये पाया अवगत का दीदार॥ (श्रीग्रन्थसाहेब)

(ख) कित दिल्ली कित भया खेकड़ा, कित वृन्दावन सोय । (तत्रैव)

२. कौशिक ब्राह्मण जाति का गोत्र है । वैसे 'श्रीग्रन्थसाहेब' में घीसा सन्त ने स्वयं को एक जुलाहा माना है । उनके शिष्य जीतादास ने भी अपने गुरु को शब्द-सूत सुलझानेवाला जुलाहा ही कहा है :

हम अहैं जुलहदी, रहैं अलहदी, वहदा मेटै जाते है ।
सील सुरत की पाण लगाते, छिमा की गाढ़ चढ़ाते हैं ।।
सुषमन घर में बुणने लागे, लाभ चौगुणा पाते है ।
घीसा सन्त सरण सतगुरु की ना आये ना जाते हैं ।।

३. एक कहानी गरीबपन्थ के प्रवर्त्तक गरीबदास (सन् १७१७–१७७८ ई०) से भी जुड़ी हुई है । गरीबदासजी अपने गाँव छुड़ानी (जिला : रोहतक) में प्रायः खेकड़ा की ओर मुख करके नमन किया करते थे । एक दिन उनके एक भक्त झूमकराँ ने उनसे पूछा कि महाराजजी, आप इस एक ही निश्चित दिशा की ओर नमन क्यों करते हैं । तब गरीबदास ने झूमकराँ से कहा कि दिल्ली से बारह कोस दूर खेकड़ा मे एक महान् सन्त का अवतरण होगा । अत., मैं उस पुण्यभूमि को नमस्कार करता हूँ । (वर्त्तमान खेकड़ा के सन्त-दरबार के प्रभारी महन्थ द्वारा कथित)

४. जाग हंसा अब हरि आये ।
जो जागे सो वा घर लागे, वहाँ के गये बौहड़ नहीं आये ।।
हसो के कारण हरि पग धारे, जग में आण जुलाहे कहाये ।
देह धरे की चूक लगी है, भेद मर्म किसी बिरले ने पाये ।।
सदासुख की बन्दगी कबूली, बन्दगी के कारण पुत्र कहाये ।
दिल्ली के पास ग्राम खेकड़ा, सत्य कबीर घीसा सन्त कहाये ।।
जन जीता पै कृपा करके सत दरसाये सब्द संग लाये ।
(सन्त जीतादास . 'श्रीग्रन्थसाहेब')

५ खेकड़े से आया एक डूबा सा दास ।
सत सब्द का फैला प्रकास ।
....　. ..　....
नर-नारी बावरे कर डारे ।
.　..　....
बावला कर्या हटाणा ग्राम । (सन्त जीतादास : 'श्रीग्रन्थसाहेब')

६. (अ) हम दाता से सत गुरु भये सत गुरु से भये सन्त ।
जुगां जुगी देह धारते सदा चलाये पन्थ ।।
(ब) सत गुरु सरणे बहुत सुख पाये निश्चय नाम आधारा है ।
घीसासन्त-पन्थ मे धाये छूटे मर्म जिजाला है ।।
(घीसा सन्त : 'श्रीग्रन्थसाहेब')

७. होरी खेलेंगे सन्त खिलारी समझ घर चंचल नारी ।
इव कुनवे में सोच पड़ी है फौज फिरी है सारी ।।
मनही फिरंगी लूटन लागा सारे हुआ है जारी ।

....

घीसा सन्त खेल रहे होरी दिल्ली लुट गई सारी ।। ('श्रीग्रन्थसाहेब')

८ ॐ सन्तो अन्त की हमी सुनावे, मूल्या जीव अरु उसे जनावे ।
कोटि जन्म संसाभय खावें, साँचा होय चला ही आवे ।।

....

जो है सो इसी ही मे प्यारा, जहाँ सत की तोप धरी है भारा ।

....

ज्ञान पलीदा दिया जगाई, मर्म की बुर्जां ढाय वगाई ।।
उड़ गया मर्म हुआ उजियाला, ज्ञान ध्यान का खुल गया ताला ।
समता ममता बाहर विराजे, सुरत रंगीली भीतर गाजे ।।
सुरत रंगीली करें बहारा, पी का रूप लखे हैं सारा ।।
('श्रीग्रन्थसाहेब')

९ ज्यू कस्तूरी मृग रहै भर्मत फिरे ख्वार ।
बिन सतगुरु पावे नही जनम धरो सौ बार ।। (उपरिवत्)

१०. सकल सरीरो रम रहे अवगत सत कबीर ।
सतरूप सतगुरु मिले नीर छीर के तीर ।। (उपरिवत्)

११. हाड़ माँस का पूतला सबका एको चाम ।
आपोई घट घट वोलता बोलै एकोई राम ।। (उपरिवत्)

१२. तीस रोजे करे पांच नवाजात पढे मन मे साच जरा नाही ।
कहें घीसा सन्त ये खुदा की मार पड़ी है खुदा कूं जानता जरा नाही ।।

१३. (क) तीर्थ, व्रत, धर्म सब मनके क्या मथुरा भाई क्या रे कांसी ।
भटक फिरै खाली रह जागा, अन्त समय जम की रे फांसी ।।
(ख) तीर्थ व्रत धर्म सब मन के धोखे में रह जाते है ।
पत्थर पापी पूजत फिरते ये सब खेल तमाशे हैं ।।

△ ३०।१०६, पंचशील स्ट्रीट
विश्वासनगर, दिल्ली—३२

'राउलवेल' में नारी-सौन्दर्य के उपकरण

डॉ० हर्षनन्दिनी भाटिया

'राउलवेल' शिलांकित भाषाकाव्य है। इसका रचयिता कोई 'रोडा' नामक कवि है। यह शिलालेख इस समय बम्बई के 'प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम' मे सुरक्षित है। इसका आकार ४५"×३३" है। प्राप्त सूचनाओ के अनुसार, यह मालवा के धार नामक स्थान मे प्राप्त हुआ था। वर्त्तमान अवस्था मे यह भग्न और अंशतः खण्डित है और इसके कुछ अश अपाठ्य भी है। डॉ० भायाणी[1] एवं डॉ० माताप्रसाद गुप्त[2] दोनों ही विद्वानो के अनुसार, इसका लिपिकाल ईसा की ११वी शती अनुमित है। 'राउलवेल' 'राजकुलविलास' का अपभ्रंश-रूप है। इस काव्य मे किसी सामन्त के राउल (राजकुल)= राजभवन की रमणियो का वर्णन है, इसीलिए इसका नाम 'राजकुलविलास' ('राउलवेल') रखा गया है। उत्तर-अपभ्रंशकालीन ग्रन्थ होने के कारण यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण शिलालेख एक ललित काव्य है, जिसमे छह प्रदेशो की नायिकाओ का नखशिख-वर्णन किया गया है। यद्यपि यह एक लघु काव्य है, तथापि इसमे अनूप रूप और अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन उपन्यस्त है।

डॉ० गुप्त इसका लेखस्थान 'त्रिकलिंग' मानते है; क्योंकि इस काव्य में प्रयुक्त 'टेल्लि' और 'टेल्लिपुतु' शब्दो से ऐसा ही संकेत मिलता है। चूँकि, इसमें 'गौड' शब्द का प्रयोग किया गया है, इस कारण डॉ० गुप्त का मत है कि यह कलचुरि-वंश के अधीन किसी राजा के गौड सामन्त से सम्बद्ध हो सकता है; क्योंकि 'त्रिकलिंग' उस समय कलचुरियो के आधिपत्य मे था और कलचुरि तथा गौड एक नही है।

डॉ० गुप्त के अनुसार, इस काव्य मे उक्त गौड सामन्त की कुछ नायिकाओं का नखशिख-वर्णन है। पहली नायिका पूर्णतः स्पष्ट नही होती, दूसरी हूण-कन्या है, तीसरी 'राउल' नाम की क्षत्रिय-कन्या है, चौथी 'टिक्कणी', पाँचवी गौडी और छठी कोई मालवीया है। प्रथम पाँच नखशिख-वर्णन पद्य में तथा छठा गद्य मे लिखा गया है।

प्रथमत., इन नायिकाओं के वस्त्रो के विषय मे विचार करने से ज्ञात होता है कि उस समय कुछ साधारण कपड़ो का प्रयोग होता था। इसमें सिले हुए कपड़ों के भी नाम हैं। जैसे : ओढने का वस्त्र। उस वस्त्र के ओढने का वर्णन और ओढ लेने पर जैसा प्रतीत होता है, उसका वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है :

१. भारतीय विद्या, भाग १७, अंक ३०, पृ० १३०–१४६।

२. हिन्दी-अनुशीलन : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा-अभिनन्दनांक, सन् १९६० ई०।

धवलर कापड़ ओढ़ियल कइसे ।
मुह ससि जोन्ह पसारेल्ह जैसे ॥८१॥[1]

'पारडी' नामक एक प्रकार का, बहुत महीन मलमल का कपड़ा है, जिसे पहनकर नायिका शरद् ऋतु के चाँद के समान झिलमिलाती है :

पारडी आंतरे थणहरु कइसउ ।
सरय-जलय-विच चाँदा जइसउ ॥७५॥

'सेंदूरी' एक धारीदार कपड़े का नाम है तथा दक्षिण भारत की एक महीन मलमल है, जिसकी दो ओढनियाँ बनाई गई हैं । 'सेंदूरी', 'सोलदही' एवं 'विउढणु' तीनों का वर्णन एक पंक्ति में कर दिया गया है .

विउढणु सेंदूरी सोलदही कीजइ ।
रूउ देखि तारउ सव जणु खीजइ ॥८०॥

नायिका के घाघरे का उल्लेख किया गया है, जो बहुत घेरवाला है । यह घाघरा आज भी प्रचलित है :

पहिरणु घाघरेंहि जो केरा ।
कछुडा-वछुडा डहि पर इतरा ॥५२॥

नायिका के पहनने का प्रमुख वस्त्र 'कंचुकी' है, जिसका वर्णन अनेक स्थलों पर अनेक नामो से हुआ है । मूल शब्द 'काँचू' ही है, किन्तु विभिन्न शब्दों में प्रयुक्त किया गया है :

कंचुआ : रातऊ कंचुआ अति सुठु चाँगउ ॥
गाढउ वाघ (?) .... आँगउ ॥८॥
कंच्यू : आघूघाडे भणहिं जो कच्यूं ।
सो (इ ?) सन्ना अंणगही नं(हु ?) ॥४९॥
काँचू : लाव झंलावउ काँचू रात (उ)
कोकु न पेखतु करइ उमातउ ॥३४॥
कांचली : ते र तइसी चोड वाही पड़िकारी पाहम्ही ॥
ज कांचुली सइ र हान (?) सौ (ह) कवि वहइ ॥१२१॥

कंचुकी और घाघरा पहनने के बाद दुपट्टा और ओढ़नियों का ध्यान आना स्वाभाविक ही है :

---

१. सभी उद्धरण यथानिर्दिष्ट शोधलेख से लिये गये हैं : द्र० 'राउलवेल की भाषा' : डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, 'भारतीय साहित्य', अक्टूबर, १९६१ ई० (वर्ष ६ अंक ४), आगरा-विश्वविद्यालय, आगरा पृ० १०१–१२१ ।

पडिह : पटी (दुपट्टे का) पडिह ... नी माढ़ी
(आ) निकू वानू जो ऐथु बेठा ॥२०॥

विउढणु : दो ओढ़नियाँ : विउढणु सेंदूरी सोलदही कीजइ ।
रूउ देखि तारउ सब जणु खीजइ ॥८०॥

प्राचीन नायिकाएँ कंचुकी, घाघरा और ओढ़नी ही नही, पाटन की साड़ी भी शरीर पर धारण करती थी। इसलिए, कवि ने 'पाटणी' का भी उल्लेख किया है :

कापडिहि र करउ ज गोरी तहि सिंदू (?) रिउ ।
वेसु ज सांवली तहि र पाटणी (हर) इ करउ ॥१३१॥

वस्त्रो की भाँति 'राउलवेल' मे आभूषणों का भी वर्णन किया गया है। आभूषणों मे शीश का आभूषण 'टीका', कान का आभूषण, 'घविडवनहं', 'काचडिअउ', 'कंथया-डिअहि', 'ताडरपात' तथा 'कनवास' का उल्लेख हुआ है। गले के आभूषणो में 'हारु' 'कांठी', 'जालाकांठी', 'एकावली', 'जवाधताह' आदि का उल्लेख आया है। हाथ के आभूषण 'चूडा' और पैर के आभूषण 'पाहसिया' का भी उल्लेख है।

सिर के आभूषण :

टीहा : चंद-सवाणा टीह किज्जह ॥
ते मुहुं एक्केण वि मंडिज्जइ ॥४५॥

टीका : अरे अरे वव्वर वेखसि न टीका ॥
चांदहि ऊपर ऐह भइ टीका ॥६५॥
... .
वटुला टीका केहर (भाव) इ ।
मुहं ससि उलंग चाहइ नावइ ॥६६॥

कान के आभूषण :

वांरा (वनवारी) : विणु वनवारां अछण नौ वारसि ॥
बुद्धि रे वंडिरो आपणि हारसि ॥६७॥

घविडवनहं : यह कान में पहनने के झुमके के समान सोने का आभूषण है :

(कानि) हिं घविडवनहं चि जे रेख ॥
ते चिन्तवंतहं आनिक ओख ॥१७॥

कांचडिअउ (कांचही) : करडि म्व अनु काचडिअउ कानहिं ।
काई करेबउ सोहहिं आनहिं ॥३२॥

कंथयाडिअहि (कथ्थडि) : कंथ्यूडिअहि सोहहिं बुइ गन्न ।
मंडन संडन डहि परे अन्न ॥४७॥
....
(कं ?) थ्यू विथ्थहिं जे थण दीसहिं ।
ते निहालि सब वथु उवीसहिं ॥५०॥

ताडरपात . यह पत्ते के आकार का कर्णाभरण है :
कानन्हु पहिले ताड़रपात ॥
जगु सोहइ एव सोहरे पात ॥६८॥

कनवास : कनवासहीं कानहीं वा .... वह करउ
खूटल वालु ॥१०३॥

नेउरा : झणि नेउरा णीं कान सुहावइ ।
अरेरे क (?) कासु न भावइ ॥३९॥

गले के आभूषण :

हारु : सूतेर हारु रोमावलि कलिअ(उ)
जणि मांगहि जलु जउणहि मिलिअउ ॥७६॥
....
थणहर माझें जो हारु सुतेरउ ॥
सोहन्हु सवन्हु सो एकु ज ठेरउ ॥७४॥
सूते तरीअन्हु करउ (जो ?) हारू ।
सो देखि हारन्हु मऊ अवहारू ॥७३॥

गले में 'कांठी' और 'जालाकांठी' पहनने का उल्लेख आया है :
गलइ पुलू की गा (वइ) कांठी ।
कासु तणि सा हरइ न दि (ट्ठी) ॥३३॥

जालाकांठी : जालाकांठी गलइ सुहावइ
आमु कि ... ए-इ ना-करि (ए ?) वइ ॥५॥

एकावलि : एकावलि (गल ?) इ एक बांधी सइ र इसी भावइ ॥१०१॥

जवाधताह : जवाधताह काम्ब-रूमहं (?) आलवालु जइसी भावइ ॥१२६॥

नायिकाएँ गूँथा हुआ तागा भी गले में पहनती है .
गंठिआ-तागउ गलेहि सो सूसणु ।
जो देखि वंडिरी को न (?) (मू) झइ जणु ॥७२॥

मुक्ता के सदृश चमकता हुआ हार पहनकर नायिकाएँ सुशोभित होती थी :
मासें सोना-जालउ कीजइ ।
मोत्तासार-सोह तें हूं हसीजइ ॥७१॥

हाथ का आभूषण . हाथों के आभूषणों में सोने के चूडे का उल्लेख है :

चूडा : न पुणु जवही ते हाथहीं पायहीं
पइहिआ सोना-केरा चूडा ।।११०।।

पाँवों का आभूषण :

पाहुंसिया : पाइहिं पाहुंसि निए चाँगा ।
लोग चि आनिक (उ) मांडी आंगा ।।२४।।

'राउलवेल' मे वस्त्राभूषणो का अधिक उल्लेख है, किन्तु शृंगार-प्रसाधनों का उल्लेख कम है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर शृंगार-प्रसाधन को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था। इस कारण, आँख में काजल और ओठों की लालिमा का ही उस समय विशेष प्रचलन था। 'राउलवेल' मे इन दो शृंगार-प्रसाधनों पर अधिक बल दिया गया है और उल्लेख किया गया है :

काजल : आंखहि काजलु तरलउ दीजउ
आछउ तुछउ फूलु (ईज) इ ।।२।।
आँखिहि र तु रूरउ काजलु दीनउ कइसउ ।।९९।।
जणु चावहु करइं मायइं कियउ जिसउ ।।१००।।

ओठों को रंजित करने के लिए 'तंबोले' का प्रयोग किया गया है :

अह (रु) तंबोलें मणु मणु रातउ ।।
सोह देह कविआन-(आतउ ओहथि) ।।३।।

'राउलवेल' मे वर्णित इन विभिन्न नायिकाओं के वस्त्राभूषणो और शृंगार-प्रसाधनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय आभूषणों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कवि ने नायिकाओ का वर्णन करते समय प्रयत्न किया है कि कुछ यथार्थ और चमत्कार लाने के लिए क्षेत्र-विशेष की नायिका के वस्त्राभूषणो के वर्णन मे उस क्षेत्र की भाषा का प्रयोग हो।

△ नन्दन, भारतीनगर
मैरिस रोड, अलीगढ़ (उ० प्र०)

प्राचीन वेश

पाणिनि-सूत्र 'अन्तरं वहिर्योगोपसंव्यानयो.' (१।१।३६) में 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'उपसंव्यान' है। कात्यायन के अनुसार, उपसंव्यान अन्तरीय शाटक या धोती को कहते थे। उत्तरीय और अन्तरीय, अर्थात्, 'उपरना' और 'धोती' यही इस देश का प्राचीन वेश था।

△ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल . 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १३५

ग्रामीण जातियों में व्यावसायिक परिवर्त्तन

डॉ० जगदीशनारायण सिंह

जाति-व्यवस्था भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना का महत्त्वपूर्ण आधार है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय है, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होता रहता है। जाति के प्रत्येक व्यक्ति का यह नैतिक और धार्मिक दायित्व है कि वह इसी व्यवसाय के द्वारा आजीविका प्राप्त करे। यद्यपि यह सच है कि हमारे समाज मे व्यावसायिक विभाजन कभी पूर्णतया लागू नही किया जा सका, तथापि इतना अवश्य है कि एक जाति के अधिकांश सदस्य अपनी जाति के लिए निर्धारित व्यवसाय द्वारा ही जीविका उपार्जित करते रहे है। वर्त्तमान युग मे जाति का यह आधार लगभग समाप्त हो चुका है। जाति-व्यवस्था को स्थिर रखनेवाले ग्रामीण क्षेत्रों में आज सभी जातियो के कुछ व्यक्ति कृषि से इतर व्यवसाय करने लगे हैं। नगरो मे ऐसा कोई भी व्यवसाय नही मिलेगा, जिसमे सभी जातियों के कुछ व्यक्ति न लगे हो। यद्यपि पौरोहित्य पर आज भी ब्राह्मणों का एकाधिकार है, तथापि वे ब्राह्मणेतर व्यवसायो के संचालन में भी लगे हुए हैं। दूसरी ओर शूद्र जातियों के बहुत-से व्यक्ति शिक्षण-संस्थानो में उच्च वर्णो को शिक्षा देते है और अनेक ऐसे प्रतिष्ठान है, जिनमे सैकड़ो सवर्ण श्रमिको और सामान्य कर्मचारियो के रूप मे काम करते है। इस प्रकार, व्यावसायिक जीवन की गतिशीलता ने सभी जातियो को समान आर्थिक अवसर प्रदान करके जाति-व्यवस्था की कट्टर रूढिवादिता को समाप्त कर दिया है।

अनेक अध्येताओ ने ग्रामीण व्यावसायिक जीवन में होनेवाले इन परिवर्त्तनों का विश्लेषण किया है। अध्ययनो से पता चलता है कि गाँव की उच्च जातियों में अधिकतर व्यावसायिक और आर्थिक परिवर्त्तन समतल प्रकृति के है, जबकि निम्न जातियो में ऊर्ध्व-गतिशीलता देखने को मिलती है। पश्चिमी बंगाल के शिवपुर गाँव के अध्ययन के आधार पर **ईश्वरन्** (सन् १९६६ ई० : ९६) का कहना है कि अब गाँवों में ब्राह्मण भी हल चलाते है और शारीरिक श्रम करते हैं, जिसे पहले ब्राह्मणोचित कर्म नहीं माना जाता था। केन्द्रशासित दिल्ली के हरिपुर तथा आन्ध्रप्रदेश के तेलांगी ग्राम (रेड्डी : सन् १९६८ ई० : १६७) के ब्राह्मणो ने भी अपने परम्परागत पौरोहित्य का व्यवसाय छोड़कर कृषि-व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है। तमिलनाड् के श्रीपुरम् (आन्द्रे बेते : सन् १९६९ ई० : ६४), उड़ीसा के नरसिंहपुर (अजीत रे : सन् १९५६ ई० : ७) तथा उत्तरप्रदेश के सारंगपुर (बरनवास : सन् १९६९ ई० : ४६) के ब्राह्मणों ने किरानी की नौकरी ग्रहण कर ली है।

दिल्ली-स्थित रामपुर गांव के दो ब्राह्मण-परिवारों द्वारा दरजी और दूध बेचनेवाले का व्यवसाय ग्रहण करने का उल्लेख लुईस (सन् १९५८ ई० : ८०) ने किया है। लुईस के अनुसार, कर्मकाण्डीय श्रेष्ठता के बावजूद ये ब्राह्मण इन व्यवसायों को ग्रहण करने में अपने पद और प्रतिष्ठा की हानि अनुभव नहीं करते। राजस्थान में कुछ गांवों के ब्राह्मणों ने दरजी के व्यवसाय के अतिरिक्त शराब की ठेकेदारी और होटल-व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है (शर्मा : सन् १९६८ ई० : १०८)। बिहार के चम्पारन जिले के ररही ब्राह्मणों ने कृषि-व्यवसाय ग्रहण किया है, परन्तु इनमें से अधिकतर ने सरकारी या स्वतन्त्र नौकरी ग्रहण कर ली है (सिंह, मिश्रा और जायसवाल : सन् १९७३ ई०)। इसी प्रकार, आन्ध्रप्रदेश के रेड्डी (रेड्डी : सन् १९६८ ई०) जातियों ने भी नौकरी के अतिरिक्त दरजी और दूध बेचनेवाले का व्यवसाय अपना लिया है और वे निकटवर्ती नगर में स्थानान्तरित हो गये हैं।

गांव की शिल्पकार जातियों में व्यावसायिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न हो रहे हैं, लेकिन जिन शिल्पकार जातियों के व्यवसाय की मांग नगर की आर्थिक सम्पन्नता में है, वे अब भी अपने परम्परागत व्यवसायों में संलग्न हैं तथा गांव या नगर में रहकर अपने परम्परागत व्यवसायों का संचालन कर रही हैं। यादवपुर के बढ़ई (राव : सन् १९७० ई० : १११), असम के सुन्दरबाड़ी के जुलाहे (रथ : सन् १९६८ ई०) और यादवपुर के नाई निकटवर्ती नगर में स्थानान्तरित हो गये हैं और अपने परम्परागत व्यवसाय में संलग्न हैं। जिन शिल्पकार जातियों के परम्परागत व्यवसाय की मांग नहीं रह गई है और जो नगर में स्थानान्तरित होने में असमर्थ हैं, उन्होंने कृषि-मजदूरी का व्यवसाय अपना लिया है। यह प्रवृत्ति यादवपुर के तननगाम (रेड्डी : सन् १९६८ ई०), उड़ीसा के विसीपाड़ा के कुम्हार, मैसूर के जुलाहा (बेली : सन् १९५८ ई० : १४९) तथा पंजाब के एक गांव की शिल्पकार जातियों में है, जो नगर में स्थानान्तरित नहीं हो सकी हैं। इन जातियों ने गांव में रहते हुए गैर-परम्परागत व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है। कुम्हार जाति के लोगों ने अपनी उत्पादित वस्तुओं की अधिक मांग न होने के कारण कृषि-व्यवसाय ग्रहण कर लिया है।

मैसूर के वागल गांव (इपस्टीन : सन् १९६२ ई० : ३२) तथा वाराणसी के चमांव ग्राम (सिंह : सन् १९८० ई०) की कुम्हार जाति में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति पंजाब के जीतपुर गांव की कुम्हार जाति में भी देखने को मिलती है, जिन्होंने कृषि-मजदूरी को आय के अन्य स्रोत के रूप में ग्रहण कर लिया है (नाथ : सन् १९६५ ई०)। मारवा के भम्बी और वालिया ने, जो कि जुलाहा तथा तेली जाति के हैं, कृषि-मजदूरी को अपना लिया है (माथुर : सन् १९६४ ई० : १५०)। परम्परागत रूप में बुनकरी का कार्य करनेवाले तांती जाति के लोगों ने अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़, नगर में कार्यालयों की नौकरी ग्रहण कर ली है (शर्मा : सन् १९५५ ई० : १९०)। मैसूर के नामहल्ली गांव की लोहार जाति के लोगों ने अपने परम्परागत व्यवसाय को

छोड़कर विद्यालय-शिक्षक और कारखाना-मजदूरों के व्यवसाय को ग्रहण कर लिया है (विल्स सन् १९५५ ई० : १५०)। गुजरात के ओलपादतालुक के, बढई और सोनार जाति के लोगो ने व्यापार और कृषि-व्यवसाय ग्रहण कर लिया है (शुक्ल : सन् १९३७ ई० . ७)।

गाँव की शिल्पकार जातियो के व्यावसायिक जीवन में जो परिवर्त्तन दिखाई पड़ता है, लगभग उसी प्रकार का परिवर्त्तन गाँव के निम्न और अस्पृश्य जातियों मे भी देखने को मिलता है। निम्न जाति के जो व्यक्ति नगर में स्थानान्तरित नही हो सके है, उन्होने गाँव में कृषि-मजदूर का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। यादवपुर के चमार (राव . सन् १९७० ई० · ८७) तथा पश्चिमी बंगाल के एक गाँव के मुंशी (शर्मा सन् १९५५ ई० : १३६), विसीपाडा के शराब बनानेवाले (बेली सन् १९५८ ई०) और केरल के पलककड़ गाँव के ताडी निकालनेवाली जातियो के लोगों ने अपने परम्परागत व्यवसायों को छोड कृषि-मजदूर का कार्य ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार, राजस्थान मे छह् गाँवो के भम्बी जाति के सदस्यो ने, जिनका परम्परागत व्यवसाय चमड़े का कार्य रहा है, कृषि-व्यवसाय को अपना लिया है (शर्मा सन् १९६८ ई०)।

बिहार के कंचनपुर गाँव तथा वाराणसी (पूर्वी उत्तरप्रदेश) के चमाँव ग्राम के चमार जाति के सदस्य निकटवर्त्ती नगर मे स्थानान्तरित हो गये है और उन्होने मुरगी-पालन के अतिरिक्त, झाड़ूकस या फिर विद्यालय-अध्यापक जैसे सफेदपोश व्यक्तियो के व्यवसायों को अपना लिया है (सिंह · सन् १९८० ई०)। इसी प्रकार, कुछ निम्न जातियों, जैसे जयपुर नगर से १३ कि० मी० दूर कुन्दरपुर गाँव के रायगर जाति के लोगो ने, जिनका परम्परागत व्यवसाय चमड़े और जूते का कार्य करना था, अपने नेताओ के कहने पर परम्परागत व्यवसाय को छोड दिया और वे नौकरी या मजदूरी के द्वारा जीवन-यापन करने लगे (श्रीवास्तव सन् १९७३ ई०)। महाराष्ट्र के एक गाँव मे निवास करनेवाले महार जाति के व्यक्तियो ने, अपने परम्परागत व्यवसाय मजदूरी या गाँव की उच्च जातियो की सेवा करना छोड़कर या तो गाँव मे खेती का कार्य या बम्बई मे कारखाना-मजदूर का कार्य करना शुरू कर दिया है (डिसूजा · सन् १९६२ ई०)। मैसूर के, मदिका जाति के लोगों ने भी अपने परम्परागत चमडे के कार्य को छोडकर कृषि-मजदूरी को अपना लिया है (पर्वथम्मा सन् १९६९ ई०)। इसी प्रकार, राजस्थान की जूता बनानेवाली जाति के कुछ व्यक्तियो ने अध्ययन-अध्यापन को अपना व्यवसाय बना लिया है (शर्मा : सन् १९६८ ई० . १०८)। दिल्ली के निकट एक गाँव के, चमार जाति के लोगो ने दरजी के व्यवसाय को अपना लिया है और वे नगर मे जाकर कारखानों तथा कार्यालयो में कार्य करने लगे है (गंगोर्दे सन् १९६६ ई० १३५)।

कुछ अन्य अध्ययनों द्वारा भी गाँव के उच्च और निम्न जातियों के व्यावसायिक जीवन मे होनेवाले परिवर्त्तनो पर यथेष्ट प्रकाश पडता है। **प्रभाशंकर पाण्डेय** (सन् १९७८ ई०) ने पूर्वी उत्तरप्रदेश के देवरिया जिले मे चीनी-मिल के निकट स्थित

दस गाँवो के अध्ययनो द्वारा औद्योगीकरण के प्रभाव का विश्लेषण किया और पाया कि कृषि-व्यवसाय ग्रामीण क्षेत्रो मे अब भी पहले जैसा बना हुआ है। परन्तु, औद्योगीकरण के कारण ग्रामनिवासी नवीन रोजगारो और नौकरियो को भी ग्रहण कर रहे है और उनकी जातिगत पृष्ठभूमि का इन व्यावसायिक परिवर्त्तनों पर कोई विशेष प्रभाव देखने को नही मिलता।

इस प्रकार, हम यह कह सकते है कि रोजगार और नौकरी के अवसर इतनी शीघ्रता से उत्पन्न हो रहे है कि व्यावसायिक निर्णय जातिगत आधार पर न होकर अब व्यक्तिगत आधार पर हो रहे है। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा, व्यक्तियो में सामाजिक जागरूकता बढेगी, वैसे-वैसे जाति-व्यवस्था के व्यावसायिक निषेध अपने-आप ही प्रभावहीन होते जायेगे। इसमे समय कितना ही क्यो न लगे, लेकिन यह निश्चित तथ्य है कि भारत का सामाजिक पर्यावरण आज जाति-व्यवस्था के व्यावसायिक प्रतिबन्धो के पक्ष मे नही है।

सन्दर्भ-संकेत :

१ बेते, आन्द्रे · कास्ट, क्लास ऐण्ड पावर, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, सन् १९६९ ई०।

२. बेली, एफ्० जी० : कास्ट ऐण्ड दि इकोनॉमिक फ्राण्टियर, ए विलेज इन हाइलैण्ड उड़ीसा, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, सन् १९६८ ई०।

३. बरनवास, ए० पी० · सोशल चेज इन नॉर्थ इण्डियन विलेज, इण्डियन इन्स्टीच्यूट ऑव पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, सन् १९६९ ई०।

४. बील्स, ए० आर्० (इन) इण्डियाज विलेज : एम्० एन्० श्रीनिवास (सम्पा०) एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, सन् १९५५ ई०।

५. डिसूजा, विक्टर : चेंजिग स्टेट्स ऑव शिड्यूल्ड कास्ट, दि इकोनॉमिक वीक्ली, वा० १६, नं० ४८, १ दिसम्बर, सन् १९६२ ई०।

६ इपस्टीन टी० एस्० · इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट ऐण्ड सोशल चेज इन साउथ इण्डिया, मैनचेस्टर, सन् १९६२ ई०।

७. गफ, के० : दि सोशल स्ट्रक्चर ऑव तजौर विलेज, सम्पा० द्वारा मैरियट इन विलेज इण्डिया, सन् १९५५ ई०।

८ गंगोर्दे, के० डी० : पंचायत इलेक्शन्स ऑव १९५९–६३ ई०, मैन इन इण्डिया, वा० ४६, नं० २, अप्रैल-जून, १९६६ ई०।

९ ईश्वरन्, के० : ट्रेडिशन ऐण्ड इकोनॉमी इन इण्डियन विलेज, एलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, सन् १९६६ ई०।

१०. लुईस, आस्कर : विलेज लाइफ इन नॉर्दर्न इण्डिया, अल्फ्रेड ए०, क्नेप्ट इनचेक, सन् १९५८ ई०।

११. माथुर, के० एस्० : कास्ट ऐण्ड रिचुअल इन ए मालवा विलेज, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सन् १९६४ ई०।

१२. नाथ, वी० : दि न्यू विलेज, १११, इम्पेक्ट ऑव चेंज, दि इकोनॉमिक वीक्ली, वा० १७, नं० १८, १ मई, १९५१ ई० ।
१३. राव, एम्० एस्० ए० : अर्बनाइजेशन ऐण्ड सोशल चेंज, ओरियेण्ट लॉंगमेन लि०, नई दिल्ली, सन् १९७० ई० ।
१४ रेड्डी, जी० पी० · कास्ट ऐण्ड चेज ऑव अकुपेशन इन ए विलेज इन आन्ध्रप्रदेश, दि इस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट, वा० २०, नं० २, जनवरी-अप्रैल, १९६८ ई० ।
१५. राय, अजीत . ए ब्राह्मिन विलेज ऑव ससना टाइप ऑव पुरी, उड़ीसा, मैन इन इण्डिया, वा० ३६, नं० १, जनवरी-मार्च, १९५६ ई० ।
१६. रथ, एस्० एन्० : कास्ट ऐण्ड अकुपेशन इन टु पेरिअर्बन असमी विलेजेज्, इस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट, वा० २१, नं० २, जनवरी-अप्रैल, १९६८ ई० ।
१७. पाण्डेय, पी० एस्० : इम्पेक्ट ऑव इण्डस्टियलाइजेशन ऑन दि रूरल कम्युनिटी : ए स्टडी ऑव सोशल चेज इन सम विलेजेज सराउण्डिग दि सूगर फैक्टरीज् ऑव देवरिया डिस्ट्रिक्ट, सन् १९७८ ई० ।
१८. पर्वथम्मा, सी० : दि लॉजिक ऐण्ड लिमिट्स ऑव ट्रेडिशन ऐण्ड इकोनॉमी इन विलेज इण्डिया, इण्डियन जर्नल ऑव सोशल रिसर्च, वा० १०, नं० १–३, अप्रैल, १९६९ ई० ।
१९. सिंह, सिन्हा ऐण्ड जायसवाल : ए स्टडी ऑव कल्चरल डायनॉमिक्स ऑव ररही कम्युनिटी ऑव चम्पारन, बिहार, मैन इन इण्डिया, वा० ५३, नं० २, अप्रैल-जून, १९७३ ई० ।
२०. श्रीवास्तव, एस्० एल्० : कल्चरल चेज ऐण्ड सोशल चेज एमॉंग रायगर्स, मैन इन इण्डिया, वा० ५३, नं० १, जनवरी-मार्च, १९७३ ई० ।
२१. शर्मा, जे० : (इन) इण्डियाज् विलेज, सम्पा० द्वारा श्रीनिवास, एशिया पब्लिशिग हाउस, बम्बई, सन् १९५५ ई० ।
२२. शुक्ला, टी० वी० . लैण्ड ऐण्ड लेवर इन गुजरात तालुका, लॉंगमैन ग्रीन ऐण्ड कम्पनी, बम्बई, सन् १९३७ ई० ।
२३. सिंह, अनिल के० : सोशल चेज इन रूरल कम्युनिटी, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, बी० एच्० यू०, वाराणसी, सन् १९८० ई० ।

△ व्याख्याता, समाजशास्त्र
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय
वाराणसी : २२१००५

रासा-साहित्य का गौरव-ग्रन्थ: 'महावीररास'

●

डॉ० राजाराम जैन

'महावीररास' ग्रन्थ अभी तक प्राय. अज्ञात स्थिति मे ही रहा है। यद्यपि ग्रन्थसूचियों में इस ग्रन्थ का एकाध स्थान पर सक्षिप्त उल्लेख मिलता है, तथापि मूल रचना के समीचीन अध्ययन के अभाव मे उसके कर्त्ता, लिपिकार आदि के विषय मे कुछ भ्रामक सूचनाएँ भी दी जाती रही है। अज्ञात परिस्थितिवश यह रचना दुर्भाग्य से विद्वानो अथवा प्रकाशको का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नही कर सकी है, इसी कारण अद्यावधि अप्रकाशित ही है।

महाकवि रइधू के हस्तलिखित साहित्य की खोजो के प्रसंग मे मुझे उक्त ग्रन्थ श्रीऐलक पन्नालाल सरस्वती जैनभवन, ब्यावर (राजस्थान) से उपलब्ध हुआ था। उसके सामान्य अध्ययन के बाद मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह ग्रन्थ भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रखनेवाली रास-शैली की सर्वप्रथम, विशाल तथा सम्भवतः प्राचीनतम रचना है।

इस प्रति मे कुल १४३ पत्र है। उनमें प्रत्येक पत्र की लम्बाई-चौड़ाई क्रमशः १०".४"×४".६" है। प्रत्येक पत्र मे ७-७ पक्तियाँ तथा प्रत्येक पक्ति मे लगभग ३२ से ३४ तक वर्ण अंकित है। इसकी प्रतिलिपि का कार्य वि० स० १७४७ की फाल्गुन कृष्ण अष्टमी, बुधवार को समाप्त हुआ था।

अन्तिम पत्र-स० १४३ के अन्त मे कुछ परिवर्त्तित तथा पतली एव फीकी स्याही द्वारा लिखित अक्षरो से युक्त प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिलिपि-स्थान अहमदाबाद का राजपुर नामक नगर बताया गया है और कहा गया है कि मूलसघीय सरस्वतीगच्छ के बलात्कार-गण मे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के आम्नाय के श्री ५ सकलकीर्त्ति नामक गुरु के उपदेश से हूँबड जाति की लघुशाखा मे उत्पन्न तथा अहमदाबाद के राजपुर नगर-निवासी सा० सूरजी सु० सुन्दर ने अपने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयहेतु यह रास लिखवाया। लिपिकार-प्रशस्ति मे उल्लिखित भगवान् सकलकीर्त्ति 'महापुराण' के कर्त्ता भगवान् सकलकीर्त्ति से निश्चय ही भिन्न है; क्योंकि 'महावीरपुराण' के कर्त्ता का काल वि० स० की १६वी शती का प्रारम्भ है, जब कि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिलिपि-काल वि० स० की १८वी शती का मध्यकाल। इस प्रशस्ति मे प्रतिलिपिकर्त्ता का नाम उल्लिखित नहीं है।[1]

१. ग्रं० महावीररास, अन्त की पुष्पिका।

ग्रन्थकार-परिचय एवं वंश-परम्परा : प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम **कवि पदम** है, जिसने अपने नाम के साथ 'सेवक',[१] 'जिनसेवक'[२] अथवा 'जनसेवक'[३] की उपाधियो के प्रयोग किये है ।

इन विशेषणो से यह प्रतीत होता है कि कवि ने पारिवारिक सुखो का प्रारम्भ से ही त्याग कर जैनधर्म एव साहित्य के माध्यम से आजीवन जनसेवा का व्रत स्वीकार कर लिया था । कवि ने ग्रन्थ-प्रशस्ति मे अपना किसी प्रकार का पारिवारिक परिचय प्रस्तुत नही किया तथा अपने को उसने 'देशव्रती'[४] कहा हे । अत., इन तथ्यो से भी उक्त कथन का समर्थन होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह गृहविरत साधक रहा होगा । अन्त की प्रशस्ति मे उसने अपनी वश-परम्परा का परिचय देते हुए कहा हे कि वह (पदमकवि) **भगवान् शुभचन्द्र** के शिष्य तथा भव्यजन-रूपी कुमुदो के लिए चन्द्रमा के वश मे उत्पन्न हुआ है ।[५]

उक्त **कुमुदचन्द्र** कोई भट्टारक थे अथवा गृहस्थ तथा कवि से उनका क्या सम्बन्ध था, इसका स्पष्टीकरण 'महावीररास' के कर्त्ता कवि ने नही किया है। यद्यपि कुमुदचन्द्र के नाम के साथ भट्टारक जैसा कोई विशेपण नही जुडा है, तथापि प्रसंगवश यही प्रतीत होता है कि वह भी सम्भवत: भट्टारक रहे होंगे । कवि ने अपने को उन्ही का वंशज बताते हुए अपनी जाति हूँबड तथा खदीरज बतलाया है ।[६]

रचनाएँ · 'महावीररास' के अन्त की प्रशस्ति के उल्लेखानुसार, **विनय** नामक किसी समधर्मी भाई के आग्रह से देश्य भाषा में 'त्रेपनक्रियारास' एवं 'ध्यानामृतरास' की भी रचना **पदम कवि** ने की है ।[७] 'महावीररास' मे इन रचनाओ का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि कवि ने 'महावीररास' के पूर्व ही उक्त दोनो रचनाएँ लिखकर पूरी कर ली थी ।[८]

हाल मे ही कवि की एक अन्य रचना 'श्रावकाचाररास' भी उपलब्ध हुई है, जो जयपुर के शास्त्र-भाण्डार मे सुरक्षित है। इस रचना की प्रशस्ति से स्पष्ट विदित होता है कि कवि ने उसकी रचना 'महावीररास' के बाद की थी ।[९] इस प्रकार, कवि की

१. महावीररास, १९।७६ ।
२. उपरिवत्, २६।७० ।
३. उपरिवत्, १०।७७ ।
४. श्रावकाचाररास, पत्र-सं० १६७ ।
५. महावीररास, २४।४३ ।
६. उपरिवत्, २४।४४ ।
७. उपरिवत्, २४।४५ ।
८. उपरिवत् ।
९. श्रावकाचाररास, पत्र-सं० १६७ ।

उपलब्ध समस्त रचनाओ का रचना-क्रम इस प्रकार सिद्ध होता है : १. त्रेपनक्रियारास, २. ध्यानामृतरास, ३. महावीररास और ४. श्रावकाचाररास।

रचनाकाल-निर्णय : कवि पदम की उक्त चार रचनाओ मे अभी अन्तिम तीन रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी है, जिनकी तीसरी[1] एवं चौथी[2] रचनाओ की प्रशस्तियो मे उनका रचनाकाल क्रमश वि० सं० १६०९ और वि० सं० १६१५ अंकित है। यदि 'श्रावकाचाररास' ही कवि की अन्तिम कृति हो, तो उस स्थिति मे कवि के रचनाकाल की अन्तिम अवधि वि० स० १६१५ सिद्ध होती है।

कवि ने अपने जन्मकाल अथवा रचना-प्रारम्भकाल के विषय मे कोई भी सूचना नही दी, किन्तु उसने उक्त 'श्रावकाचाररास' की अपनी गुर्वावली मे कहा है कि उसके आम्नाय-गुरु श्री भगवान् शुभचन्द्र, आगमगुरु विनयचन्द्र, अध्यात्मगुरु कर्मसीब्रह्म, शिक्षागुरु हरिब्रह्म तथा शास्त्र-कवित्तगुरु ब्रह्मचारी जिनदास है।[3]

कवि ने इन गुरुओ का कार्यकाल अथवा उनके किसी कृतित्व का उल्लेख नही किया, किन्तु अन्य प्रमाणो से उक्त भट्टारक शुभचन्द्र का काल वि० सं० १५७३ से १६१३ तक तक निश्चित है।[4] उस आधार पर कवि पदम के रचनाकाल की आद्यसीमा भी वि० सं० १५७३ मानी जा सकती है। इस प्रकार, कवि पदम का रचनाकाल वि० सं० १५७३ से १६१५ तक सिद्ध होता है।

कवि ने उक्त 'श्रावकाचाररास' मे अपने जिन शास्त्र-कवित्तगुरु **ब्रह्मजिनदास** का उल्लेख किया है, उनका परिचय उसने नही दिया। 'श्रावकाचाररास' की प्रशस्ति मे उन्हे उसने एक स्थान पर गुरु[5] तथा दूसरे स्थान पर मित्र कहा है और बताया है कि उनकी सहायता से ही उसने 'श्रावकाचाररास' लिखा है।[6]

ब्रह्मचारी जिनदास नाम के अनेक कवि हुए है, जिनके द्वारा रचित कई ग्रन्थ विविध शास्त्र-भाण्डारो मे सुरक्षित है, किन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि उनमे से कवि पदम के गुरु कौन-से थे। एक ब्रह्मजिनदास तो वे है, जिनके द्वारा 'नागकुमाररास', 'आदिपुराणरास' आदि ग्रन्थ लिखित हैं, किन्तु उनका काल वि० सं० की १५वी शती है।[7] दूसरे ब्रह्मजिनदास वे है, जिनके 'रामचन्द्ररास', 'रामरास' आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनकी प्रशस्तियो के अनुसार उनका रचनाकाल वि० स० १५०८ है।[8]

---

१. महावीररास, २४।५६।
२. श्रावकाचाररास, पत्र-सं० १६८।
३. उपरिवत्, पत्र-सं० १६२।
४. भट्टारक-सम्प्रदाय, पृ० १५८।
५. श्रावकाचाररास, पत्र-सं० १६२, पद्य-सं० १२-१३।
६. उपरिवत्, पत्र-सं० १६७, पद्य-स० ७५।
७. भट्टारक-सम्प्रदाय, पृ० ६३५।
८. उपरिवत्, पृ० ६४१।

तीसरे ब्रह्मजिनदास वे है, जिनका 'श्रावकाचाररास' उपलब्ध है और उसका रचनाकाल वि० सं० १६१५ है।[1] चौथे ब्रह्मजिनदास वे है, जिनके 'रोहिणीरास' एवं 'श्रीपालरास' उपलब्ध है और जिनकी प्रतिलिपियाँ वि० सं० १६१३ एवं वि० सं० १६८२ की उपलब्ध है।[2]

उक्त चारो जिनदासो में प्रथम एवं द्वितीय जिनदास का तो यहाँ प्रश्न ही नही उठता; क्योंकि कवि पदम एवं उनके काल में अस्सी से अधिक वर्षो का अन्तर है। तीसरे एवं चौथे जिनदास एक ही प्रतीत होते हैं। और, वहुत सम्भव है कि यही ब्रह्म-जिनदास कवि पदम के शास्त्र-कवित्तगुरु रहे हो। इस विषय मे गहरी छानवीन की आवश्यकता है।

कवि पदम के अन्य गुरुओं में कर्मसीब्रह्म द्वारा लिखित 'ध्यानामृतरास' का उल्लेख मिलता है, जो डूँगरपुर के प्राच्यशास्त्र-भाण्डार मे सुरक्षित वतलाया जाता है। कवि पदम ने भी 'ध्यानामृतरास' की रचना की है।[3] अत, यह भी सम्भावना है कि उक्त ग्रन्थ का कर्त्ता कवि पदम हो। पदम ने अध्यात्मगुरु के रूप में उस रचना की प्रशस्ति मे उनका स्मरण किया हो और पाठकों ने भ्रमवश उनके गुरु कर्मसी को ही उसका कर्त्ता समझ लिया हो। इस रचना को आद्योपान्त पढकर ही कुछ निर्णय किया जा सकता है। कवि के अन्य गुरु हरिब्रह्म तथा विनयचन्द्र की रचनाओ के विषय में कोई सूचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी।

निवास-स्थान : कवि पदम का निवास-स्थान कहाँ था, इसकी सूचना स्वयं कवि ने नही दी। उसने 'महावीररास' के अन्त की प्रशस्ति मे उसका रचना-स्थान सांगपुर नगर कहा है।[4] 'श्रावकाचाररास-प्रशस्ति' के अनुसार, उसकी रचना भी कवि ने साकपुर के आदिनाथ-मन्दिर मे बैठकर की थी।[5] इस सागपुर नगर अथवा साकपुर की पहचान राजस्थान के आधुनिक सांगवाडा नगर से की जा सकती है, जो मध्यकाल से जैनविद्या का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस नगर के उल्लेख से यह निश्चित है कि कवि का साहित्य-क्षेत्र यह सागपुर नगर अवश्य रहा है। यह भी सम्भव है कि यह नगर अथवा उसके आसपास किसी स्थान पर उसकी जन्मभूमि भी रही हो। कवि की उपलब्ध सभी रचनाओं की भाषा राजस्थानी है, अतः कवि पदम भी राजस्थानी रहा होगा, इसमें सन्देह नही।

भट्टारक-परम्परा : कवि ने अपने आम्नाय एवं गुरु-परम्परा के भट्टारक शुभचन्द्र का स्मरण कर उनकी पूर्व-परम्परा की चर्चा की है और उनके आद्यगुरु का नाम भट्टारक **वृषभसेन**

१. भट्टारक-सम्प्रदाय, पृ० ६४।
२. उपरिवत्, पृ० ६४२।
३. उपरिवत्, पृ० ६६५।
४. महावीररास, २४-५६।
५. उपरिवत्, १८।

बतलाया है। उसके अनुसार, यह वृषभसेन मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ के थे। कवि ने उनकी परम्परा के पद्मनन्दी (उत्तरशाखा), सकलकीर्त्ति (वि० सं० १४५०–१५१०); भुवनकीर्त्ति (वि० स० १५०८–१५२८), ज्ञानभूषण (वि० स० १५३४–१५६०), विजयकीर्त्ति (वि० सं० १५५७–१५६०) एव शुभचन्द्र (वि० सं० १५७३–१६१३) नामक भट्टारकों का उल्लेख किया है।[1]

वस्तुत., मूलसंघ के सरस्वतीगच्छ की इस शाखा का काल श्रमण-सस्कृति एवं साहित्य की दृष्टि से स्वर्णकाल माना जा सकता है। क्योंकि, इस काल में सहस्रो कलापूर्ण मूत्तियो एव जिन-भवनो के निर्माण तथा उनकी प्राण-प्रतिष्ठा, प्राचीन साहित्य के संरक्षण, जीर्ण-शीर्ण पोथियो के उद्धार एव उनके साहित्य के पठन-पाठन, चिन्तन एवं मनन-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यही महान् परम्परा कवि पदम को उपलब्ध हुई। अतः, इनका कृतित्व भी वैसा ही महामहिम होना चाहिए, ऐसी पूर्ण सम्भावना है।

कथास्रोत . 'महावीररास' का प्रणयन करते समय कवि के सम्मुख महावीरचरित-सम्बन्धी अनेक रचनाएँ रही होंगी, किन्तु उनके अध्ययन के बाद कवि को भगवान् सकलकीर्त्ति (वि० स० १४५०–१५१०)-कृत 'महावीरपुराण' मे वर्णित कथाक्रम अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ होगा। अत', उसने उसे ही आदर्श रचना मानकर तथा उसी से उल्लसित होकर एव एक समधर्मी भाई साह्यलही की प्रेरणा से इस 'महावीररास' की रचना की।[2]

कथावस्तु : प्रस्तुत रचना में कवि ने भगवान् महावीर की कथा का वर्गीकरण तेईस ढालो अथवा अध्यायो मे किया है। कुल पद्यो की सख्या १६२८ है। पहली ढाल ग्रन्थ की भूमिका है, जिसमें महावीर की पश्चाद्वर्त्ती श्रुतज्ञान-परम्परा का तिथिक्रमानुसार सक्षिप्त इतिहास तथा 'महावीररास' की साहित्यिक विधा की चर्चा करते हुए बताया गया है कि वह एक धर्मकथा है। उसमे वक्ता एव श्रोता के लक्षण तथा सज्जन-दुर्जन की परिभाषा के निर्देशपूर्वक कहा गया है कि वह 'महावीररास'-रूप धर्मकथा का वर्णन देश्य भाषा मे करेगा। इसी कथन मे पहली ढाल समाप्त हो जाती है। इसके बाद दूसरी ढाल से तेरहवी ढाल तक भगवान् महावीर के तैंतीस पूर्वभवो का वर्णन किया गया है।

चौदहवी ढाल से भगवान् महावीर का जीवनचरित प्रारम्भ होता है। उसमे माता **प्रियकारिणी** के स्वप्न-दर्शन, १५वी-१६वी ढाल मे गर्भ एव जन्मोत्सव तथा वर्द्धमान की बाललीलाओ का वर्णन, १७वी-१८वी ढाल मे वर्द्धमान का कुमारकाल एवं वैराग्य तथा तपस्या-वर्णन, १९वी ढाल मे चन्दनबाला-कथानक, २०, २१, २२ एवं २३वी ढाल मे महावीर की कैवल्य-प्राप्ति, यक्ष द्वारा समवशरण-रचना, गौतम को गणधरत्व की प्राप्ति तथा भगवान् महावीर के अंग, वंग, तिलंग, कान्हड, कोसल, गुर्जर, कुंकण, आहीर,

१ महावीररास, २४।४१-४३।

२. उपरिवत्, २४।४८।

कर्णाट, लाड़, मरहठ, सुराष्ट्र, मलवार, मलताप, मेवाड़, मरुस्थली, मालवा, गौड, वौड, काशी, सुरम्य, पंचाल आदि देशों में विहार करते हुए[1] राजगृह आने तथा श्रेणिक द्वारा प्रश्न किये जाने पर महावीर के अनुयोग-साहित्य पर उपदेशो का वर्णन है । अन्तिम २३वी ढाल में महावीर-निर्वाण के वर्णन के बाद प्रशस्ति एवं भरतवाक्य के साथ ही ग्रन्थ-समाप्ति हो जाती है ।

उक्त विषय-क्रम का मिलान करने से यह स्पष्ट है कि 'महावीररास' की कथा पूर्वागत परम्परा के अनुसार ही है, किन्तु कवि की वर्णन-शैली सर्वथा मौलिक है । उसकी कथा आद्योपान्त प्रवाहमयी तो है ही, साथ ही वह अत्यन्त सरस, रोचक, मार्मिक एवं श्रोता को भावविभोर कर देनेवाली भी है । कवि, किसी भी प्रसग मे, अपने कथन के समर्थन मे लौकिक उदाहरण प्रस्तुत कर उसे अत्यन्त स्पष्ट एव हृदयग्राह्य बना देता है । उदाहरणार्थ . भील जैसे निपट गँवार को यदि आगम, दर्शन एवं सिद्धान्त की भाषा मे कोई उपदेश दे, तो क्या वह उसे समझ पायगा ? इसी वास्तविकता को ध्यान मे रखते हुए 'महावीररास' के मुनि सागरसेन, क्रूर, अज्ञानी एवं अपढ पुरूरवा भील को हिंसा की गहन शास्त्रीय परिभाषाएँ कठिन भापा मे न समझाकर उसे केवल लौकिक दृष्टान्तो द्वारा ही उसकी बुराइयाँ समझाते है और कहते है कि हे भिल्लराज, दूसरो को मारने और सताने से गरीबी आती है, वह बीमार रहने लगता है, उसके सिर के वाल अकाल मे ही झडने लगते है और इसके साथ-साथ वह लूला, लँगड़ा तथा बहरा भी हो जाता है । अत., दूसरो को मारना अथवा सताना नही चाहिए। दीन-दुखियो पर दया करनेवाले को राज-पाट, अपार धन-भाण्डार, हाथी, घोड़े, रथ, सेना तथा समाज में आदर की प्राप्ति होती है । कवि ने इस प्रसंग की चर्चा इस प्रकार की है :

> "दीन दालिद्री रोगी देह खंज पंगू अंध मूको जेह ।
> वध बंध पीडा पर विस दुख हंसक जीवन ही कही सुख ॥ (२।२५)
> घर मे राजरिधि भडार हय गय रथ पायक परीवार ।
> घर मे स्वर्ग भूगति पद होई मन वांछित सुप पामि सोई ॥" (२।२६)

भील पर सीधी-सादी एवं सरल भाषा मे दिये गये इस उपदेश का तत्काल प्रभाव पड़ता है और उसी समय से वह दया-धर्म का जीवन व्यतीत करने लगता है । यथा :

> "इम जाणि दया धर्म लीयु सर्व जीव अभिदाना दीयु ।
> आठ मूलगुण सुं श्रावक व्रत समिकीत्त सु लीयु जीवतित ॥" (११२।२८)

विशेषताएँ : १. यदि **गुणभद्र** (वर्द्धमानचरित . वि० स० ९५५), **पुष्पदन्त** (वीरचरित · वि० सं० १०२२), **असग** (वर्द्धमानचरित : वि० सं० १०४५), **विबुधश्रीधर** (वर्द्धमानचरित : वि० सं० ११९०), **रइधू** (सन्मतिजिनचरित : वि० सं० १४७० के आसपास) एव **सकलकीर्त्ति** (महावीरपुराण : वि० सं० १४९० के आसपास) के महावीर-

१. महावीररास, २३।२३-२५ ।

चरितो के सन्दर्भ मे प्रस्तुत 'महावीररास' का अध्ययन किया जाय, तो कई प्रसगो में उसमें मौलिकताएँ दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ : आचार्य गुणभद्र ने महावीर-जन्म के समय सदल-बल कुण्डपुर पहुँचकर शिशु के अभिषेक-हेतु गर्भगृह में सौधर्मेन्द्र द्वारा मायामय बालक रखकर शिशु का अपहरण कराया है।[1] इस परम्परा का पालन असग ने भी किया। किन्तु, कवि पदम ने उस परम्परा का निर्वाह उचित नहीं समझा। गर्भगृह के महिला-कक्ष मे एक अपरिचित पुरुषलिङ्गी का प्रवेश पदम जैसे देशव्रती एव मर्यादावादी कवि को कैसे सह्य होता ? अत , उसने उक्त प्रक्रिया इन्द्र के द्वारा नही, एक देवी के द्वारा सम्पन्न कराई है।[2]

२. कवि असग[3] एव रइधू ने महावीर के जन्माभिषेक के समय सुमेरु-पर्वत को कम्पित माना है। रइधू ने सुमेरु के साथ-साथ सूर्य, चन्द्र आदि के भी कम्पित होने की चर्चा की है।[4] किन्तु, कवि पदम ने इस प्रकार के चित्रण को अनुचित माना है; क्योंकि भगवान् महावीर भौतिक युद्ध-जगत् के कोई चक्रधारी अथवा खड्गधारी क्रूर योद्धा तो थे नही कि जिनके रौद्ररूप से ससार काँप उठता। वे तो सौम्य प्रकृति के एक सन्त साधक एव वीतराग महापुरुष थे। अत , उनके पदार्पण से प्रकृति को तो प्रसन्न ही रहना चाहिए, न कि आतकित एवं कम्पित। सम्भवत., इसी कारण से कवि ने रइधू द्वारा सम्मत परम्परा की उपेक्षा कर उसने प्रकृति के प्रसन्न रहने की चर्चा की है।[5]

३ रइधू-कृत 'सम्मइजिणचरिउ' के अनुसार, महावीर के कुमारकाल मे पहुँचते ही राजा सिद्धार्थ उनके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखते है, किन्तु महावीर उसे सादर अस्वीकार कर देते है, जिससे उनके पिता को बड़ी ठेस लगती है।[6]

कवि पदम उक्त विवाह-प्रसंग को सर्वथा अनावश्यक समझते है, क्योंकि यह प्रसंग दिगम्बर एवं श्वेताम्बर-परम्परा मे बडा ही विवादास्पद रहा है। अत:, उक्त प्रसग को उठाकर वह अनावश्यक ही विवाद को बढाना नही चाहता था, इसीलिए उसने उसे अछूता ही छोड़कर तीस वर्ष की आयु मे महावीर को वैराग्य प्राप्त करा दिया। 'महावीररास' को धर्मकथा के साँचे मे ढालनेवाले कवि के लिए यही नीति उपयुक्त भी थी।

४. महावीर ने जिस समय दीक्षा धारण की, उस समय उनके माता-पिता थे अथवा नही तथा उस समय स्वय उनकी क्या स्थिति रही, इस विषय पर आचार्य गुणभद्र, पुष्पदन्त, असग, श्रीधर, रइधू एव सकलकीर्त्ति ने कोई चर्चा नही की। पदम ही

१. उत्तरपुराण, ७४।२७१।
२. महावीररास, पद्य-सं० १०१६–१०१९।
३. वर्द्धमानचरित, १७।८२।
४. सम्मइजिणचरिउ, ५–९।
५. महावीररास, पद्य-सं० १०३४।
६. सम्मइजिणचरिउ, ५।२४–२६।

एकमात्र ऐसे कवि है, जिन्होने मानवीय भावभूमि पर खड़े होकर स्पष्ट लिखा है कि महावीर ने स्वजनो से क्षमा माँगी, बाद मे नन्दन-वन मे जाकर उन्होने दीक्षा ग्रहण की ।[1]

इतना ही नही, माता प्रियकारिणी ने अपने इकलौते बेटे को उसके समझाने पर दीक्षा लेने के लिए आज्ञा तो प्रदान कर दी, किन्तु बाद मे जब उसका मातृत्व अपने लाडले बेटे के असह्य वियोग मे रुदन कर उठता है, तब वह उसे मनाकर वापस लाने के लिए अपने राजघराने की समस्त परम्पराओ को तोडकर रोती-कलपती हुई वन की ओर दौड़ चलती है ।[2]

यह कहना कठिन है कि कवि ने उक्त घटना का उल्लेख किस आधार पर किया है ? किन्तु, मातृत्व की गहन सवेदना का चित्रण कर कवि ने निस्सन्देह ही माँ प्रियकारिणी के श्रीचरणो मे अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की है । कवि ने इस घटना का चित्रण कर एक अभूतपूर्व मौलिक कार्य तो किया ही, साथ ही एकमात्र पुत्र की वियोगिनी माता की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण कर उसने समस्त नारी-जगत् की सहानुभूति भी प्राप्त की है। इस महान् घटना की उपेक्षा के कारण महावीरचरितो के लेखको के माथे पर अभिशाप की जो कालिमा गहरी होती जा रही थी, उसे धो डालने का उसने सफल प्रयास किया है ।

५. महावीर जब अपने १९वे पूर्वभव मे त्रिपृष्ठ चक्रवर्त्ती थे, तब कवि असग,[3] श्रीधर[4] एव रइधू[5] ने उसके द्वारा एक भयकर सिह का वध किये जाने का विस्तृत वर्णन किया है । कवि पदम ने इस घटना को अनावश्यक तथा अकारण हिंसा का कारण मानकर उसका वर्णन अपनी रचना मे नही किया ।

६. 'महावीररास' की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उसके एक प्रसंग के अनुसार वीर-निर्वाण के तुरन्त बाद इन्द्र ने उनकी एक मायामयी मूर्त्ति का निर्माण किया और उसे पालकी मे स्थापित कर उसकी पूजा रचाई । बाद मे उसने शव की दाह-क्रिया की ।[6]

ढालो के नाम-विशेष की दृष्टि से भी 'महावीररास' एक समृद्ध रचना है । इसमे कवि ने २४ ढालो को २४ भासो के नामो से प्रस्तुत किया है, जो रासा-साहित्य की अपनी विशेष विधा है । इन भासो के नाम इस प्रकार है : १. भास रास, २. भास चुपइ, ३. भास जसोधर, ४. भास अम्बिका, ५ भास वणजारा, ६. भास सही, ७ भास राउता, ८. भास जीवडा, ९. भास मालतडा, १०. भास तीन चुवीसी, भद्रबाहु, ११. भास

१. महावीररास, १८।४० ।
२. उपरिवत्, १८।४८—५६ ।
३. उपरिवत्, पाँचवाँ भास ।
४ उपरिवत्, ३।२४—२८ ।
५. उपरिवत्, ३२४-२५ ।
६. उपरिवत्, २४।२२-२४ ।

हींडोली, १२ भास वीनती, १३ भास तीन चुवीसी, १४ भास खादीवी, १५ भास फाग, १६ भास हेली, १७ भास श्रीकी, १८ भास वैरागी जीवडा, १९ भास साहेलडी, २० भास नारसुडा, २१ भास भभारुली, २२ भास महिला तडे, २३ भास गुणराज ब्रह्मनी और २४ भास आनंदा।

इन भासो मे कवि ने द्विपदी छन्द का प्रयोग किया है। प्रत्येक ढाल के अन्त मे छन्द बदल जाता है। कही-कही 'वास्तु' छन्द का प्रयोग है और कही-कही 'दूहा' छन्द का। 'वास्तु' छन्द मे ६ अथवा ७ पदियाँ है एव दूहा मे दो पदियाँ।

ये राजस्थानी भास सगीत एव लय पर आधृत हे। इनकी राग-रागिनियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। अपने-अपने भास मे कही-कही तो प्रथम अथवा द्वितीय अथवा दोनो पदियो मे और किसी-किसी भास मे प्रथम अथवा तृतीय अथवा चारो चरणो मे ढाल की प्रारम्भिक या अन्तिम पक्ति या उसके प्रथम शब्द की आवृत्ति की जाती है। जैसे :

भास आनंदा : "दूर्जन ते दूषण ग्रहि आणदारे सूजन ग्रहि सुगुणतु।
जलो जीम रुधिर पीयि आणदारे दूध पीयि हसनी पुणतु॥ (२४।३३)

भास हेलिनी : इद्रतणी आदेस इरावण राजनीपनु। हेलि०
वलाहक नामि देव विक्रि रुधि ते सपनु॥ हेलि०

भास भंभारुली स्वर्ग्य घंटा वहु रणझणितु भभारुली सूरतरु करि पुष्प वृष्टीतु।
इद्रसीर मूगट नम्यातु भभारुली जयारव हूयू आवीसीष्टतु॥

भास साहेलडी : दीक्षा ली थी जब नीरमलीर तव हवु भाव वीसूध।
चुथुं ज्ञान ते उपनूर मनपर्यय सूवोध।
साहेलडी वुजु श्री महावीर अतीबल साहसधीर॥"

कवि के वर्णन-प्रसगो को देखकर उसकी भावुकता, वहुज्ञता एव भाषा पर उसके असाधारण अधिकार का स्पष्ट पता चलता है। कवि पुष्कलावती-देश का वर्णन करता हुआ वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य, भौगोलिक विभाजन तथा आर्थिक, सामाजिक एव आध्यात्मिक जीवन का चित्रण करता है। वह कहता है .

"वनतरु वापी कूप तडाग फल पुष्प कमल सोभाग।
क्षेत्र खडोकली नदी सूपथ जन जायि आवि बहु ग्रथ॥
पुर पतन मठ वखेट ग्राम द्रोण वाहन कर्वट भाम।
हेमरत्न मोती ठीक परवाल धण ध्यान्य भरीयां सवीसाल॥
ठम्मि ठामि वीसि जिन गेह हेमरत्न प्रतिभा नही छेह।
अरहंत केवली करि वीहार श्रावक यती धरम अपार॥"

कवि ने फल-फूल एव वृक्ष-पौधो की तो एक विस्तृत सूची ही प्रस्तुत की है। इसे देखकर **महाकवि जायसी** द्वारा वर्णित वनस्पतियो का स्मरण आने लगता है। कवि

पदम ने पुण्डरीकिणी नगरी के वर्णन-प्रसंग में वहाँ की वाटिकाओं का वर्णन करते हुए कहा है :

"ते पुरतणि बाह्य वीमागि मधु पवन सोहि सराग।
वीवीध वृक्ष वली वीकार वनसपति फूल फूल अपार ।।
आंबारायण जंबू जंवीर दाडिम दमणो फणस गंभीर।
नालेरी नाग केलि खजूर पूग आदि बहू तरु भूरि ।।
मधूर साद कोइल गहि गहि चचा परीमल वायि महि महि ।।" (११२।१६-१८)

युद्ध-वर्णन करने मे भी कवि कम कुशल नही। सेना को युद्धहेतु तैयारी का आदेश, सैन्य-प्रशिक्षण, सैन्य-प्रयाण, रणक्षेत्र मे दोनो दलो की भिड़न्त आदि वीर एव रौद्ररसोचित वर्णन बड़े ही सुन्दर बन पड़े है। कवि त्रिपृष्ठ एव अश्वग्रीव के युद्ध का वर्णन करता हुआ कहता है :

"दोई दल तणा सुभट पिहिल्युं झुज्या भूरू माहो मौहि लागे।
खेडा खडग तूमर बहू माला धनुष बाण नहीं माग ।।
मेगल मेगल सुहय हय साथि रथ रथ साथि झूझि।
पायक पायक बोलावी सम विडि न्याय भेद भूप वूझि ।।
वीमान विमांन साथि बोलावी छेचर भूमि आका से।
नीज नीज स्वामी जय धणू वावि सुभट रहि नीज पासि ।।
एक सुभट खडगि सर तांडि पाडि विरी साथि।
अंगो अगि सूरि ते भडीया पडीआ सबल अरिनाथ ।।
भाला तणो छाई एक भेदि छेदि आगा जीण।
कटारी त्रीसूल छरी का धाय मूकि अती रीण ।।" (७।१५–१९)

माता प्रियकारिणी के नख-शिख का वर्णन कर कवि ने शृगार रस की सुन्दर उद्‌भावना की है। उसके सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ वह कहता है :

"चर्ण कमल सोहिं चगतुरग नख गुण तला ए।
असोक कुपली राती यांहा नीतु रत्न नुपुर मलाए ।।
जघा कदली स्तभतु कोमल उरुवर से।
कांम्यनी कलत्र स्थानत कांम क्रीडा धरए ।।
सूक्षम पिहिरि चीरतु कृसोदरी कटी यत्नए।
नाभि कमल मंगीरतु हेम मेखला सुत्नए ।।
घनपीन तनु तुंगतु क्षीणु कचुक धरिए।
हार नगोदर कंठितु कनक चूडी करए ।।
अधर जसा पक्व व्यंवतु दंद तेजि तम हरिए।
इष्ट भीष्ट बोलि वाणितु जसो कोयल स्वरए ।।

मुख जसु पुंनमचंन्द्र तु त्रासी त भ्रूगी नेत्रयो।
नासका हरि मन कंततु ललाट तीलक चीत्रए॥
कोमल कपोल मूलतु करण कुंडल रवी शशी करिए।
सीर रोम तेज सांग्यतु वेणी चूडारत्न धरिए॥
रूपिं रंभा जांण्यतु खांण्य लावण्य गुणए।
रूप कह्य कीम जायतु माता होसिजे जिन तणीए॥ (१४।२२–२९)

इसी प्रकार, कवि ने विविध प्रकार के वर्णन कर 'महावीररास' के साहित्यिक पक्ष को भी अनुकरणीय बनाया है। दार्शनिक, आचारात्मक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मारीचि के माध्यम से कवि ने आजीवक, बौद्ध, साख्य, शैव, न्याय आदि दर्शनों तथा पुनर्जन्म, कर्मफल, सप्ततत्त्व, नौ पदार्थ, अणुव्रत, महाव्रत, स्याद्वाद, अनेकान्त, सर्वोदय आदि के विस्तृत वर्णन किये है, जो लोकभाषा एवं सरल-सरस शैली में होने के कारण अत्यन्त सुगम एवं ग्राह्य है।

भाषा की दृष्टि से भी यह रचना अपना महत्त्व रखती है। यह १७वी शती की राजस्थानी-भाषा की प्रतिनिधि रचना है, जिसमे गुजराती एव व्रजबोली के अनेक शब्दों का मिश्रण हुआ है। अत:, उन-उन प्रदेशों की भाषा का ऐतिहासिक एवं भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने लिए यह रचना बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। भौगोलिक दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण है। प्रतीत होता है कि कवि-समय का भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि के पूर्वोक्त अंग, वंग आदि बाईस देशो मे विभक्त था। देशों एवं नगरों के अतिरिक्त, कवि ने छोटी-छोटी भौगोलिक इकाइयो का भी उल्लेख किया है, जो तत्कालीन भौगोलिक अध्ययन करने मे सहायक सिद्ध होते है। उनके नाम इस प्रकार हैं : खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, संवाह, संग्रह, आकार आदि।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह रचना विविध सन्दर्भ-सामग्री प्रस्तुत करती है। इसमे समकालीन आचार-विचार, व्यवहार, खान-पान, शरीरलक्षण-विद्या, युद्ध-सामग्री, युद्धविद्या, पर्व, उत्सव, हाट, बाजार, व्यापार-सामग्री, आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियाँ आदि की चर्चाएँ मिलती है।

उक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि 'महावीररास' अनेकगुणसम्पन्न महार्घ काव्यरचना है। कवि पद्म ने लोकनायक महावीर के चरित्र को लोकभाषा एवं लोकशैली मे लिखकर उनके चरणों मे रासा-शैली के माध्यम से अपनी सर्वप्रथम समर्थ श्रद्धांजलि तो अर्पित की ही है, भारतीय रासा-साहित्य को समृद्ध बनाने मे भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। ●●

△ महाजनटोली, नं० २
आरा (बिहार)

रीतिकाव्य की काव्यभाषा

डॉ० जगदीश्वर प्रसाद

अपने कथ्य के अनुरूप काव्यभाषा का निर्माण रीतिकाव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आज इस काव्य का मूल्याकन इसकी अभिव्यजनागत उपलब्धियो को ध्यान मे रखकर करने की आवश्यकता है। वर्त्तमान आलोचना-पद्धति मे काव्यभाषा को महत्त्व देते हुए काव्य का अध्ययन काव्यभाषा की दृष्टि से करने की चेष्टा की जा रही है। काव्य की समस्या सही अर्थगर्भ के शब्द सन्धान की समस्या है।

रीतिकाव्य में कलात्मकता लाने के प्रमुख उपादान शब्द, अर्थ, अलकार, रीति, ध्वनि, रस इत्यादि समग्र रूप मे एक उपयुक्त काव्यभाषा की सृष्टि करते है। ये कवि शब्द-प्रयोग के प्रति पूर्ण जागरूकता का परिचय देते है। उसके अर्थ की सम्भावनाओ को विकसित करने की चेष्टा तो उन्होने की ही है, शब्द के ध्वनिगत माधुर्य को भी विकसित किया है। व्रजभाषा स्वय मे नादात्मक माधुर्य से पूर्ण है। कवियो ने अनुप्रास, यमक, वीप्सा इत्यादि अलकारो के सतर्क प्रयोगो द्वारा इसके नादात्मक प्रभाव की वृद्धि की है। नादात्मक वर्णों की योजना कविता को सगीत के निकट ले जाती है। शब्दों की नादात्मक झकृति इसके अर्थ से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी प्रभावित करती है। कविता तथा छन्दों की विशिष्ट लयात्मकता भी नादात्मक प्रभाव की वृद्धि मे सहायक हुई है। भाव के प्रभावशाली प्रेषण के लिए इसमे सागीतिक तत्त्वो का योग महत्त्वपूर्ण है।

अर्थतत्त्व के प्रति जागरूकता अभिधा, लक्षणा और व्यजना के सार्थक प्रयोगो मे देखी जा सकती है। इनके द्वारा बिम्बसृष्टि, चित्रविधान, भावव्यंजना इत्यादि का सफल निर्वाह सम्भव हुआ है। श्लेष-प्रयोग मे अर्थतत्त्व के चमत्कारमूलक प्रयोग के अनेक सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते है। श्लेषों द्वारा अनेक अर्थो के एक साथ निर्वाह से इन कवियो की प्रतिभा तथा शब्द की अर्थद्योतन-क्षमता का परिचय मिलता है। अन्य अलंकारो के प्रयोग रूप, गुण अथवा क्रिया के अनुभव को तीव्र करने अथवा मूर्त्त-विधान के लिए हुए है।

अलकार, रीति, ध्वनि, रस इत्यादि तत्त्व भाषा की संवेदनीयता से कटे हुए नही है। ये सभी काव्यभाषा मे प्रभविष्णुता लाने के माध्यम है। इस दृष्टि से अलंकार शब्द-प्रयोग के विशिष्ट रूप है। जयदेव ने तो लक्षणा की व्याप्ति की चर्चा करते हुए लक्षणा को अलंकार का मूल भी माना है।[१]

---

१. शब्दें पदार्थे वाक्यार्थे सङ्ख्यायां कारके तथा।
लिङ्गे चेयमलङ्काराङ्कुरबीजतया स्थिता॥—चन्द्रालोक, ९।१६।

रीतियाँ भी निश्चित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पदो के विशिष्ट सयोजन है। इनमे श्रृंगार रस के अनुरूप माधुर्य-व्यंजक वर्णो का प्रयोग किया गया है और वर्णो के विशेष विन्यास द्वारा माधुर्य, प्रसाद और ओज गुण उत्पन्न किया गया है। श्रृगारिकता की प्रधानता के कारण यहाँ माधुर्य गुण की प्रमुखता है। वर्णो की योजना चित्त को द्रवित करके आह्लाद की स्थिति तक पहुँचाने के उद्देश्य से हुई है।

ध्वनि की स्थिति मे पहुँचकर शब्द की व्यजक क्षमता अत्यन्त विस्तृत हो जाती है। रीतिकाव्य में शब्द और अर्थ के ध्वन्यात्मक प्रयोगो के प्रति विशेष जागरूकता वर्त्तमान है। उच्च कोटि की काव्यभाषा ध्वन्यात्मक ही हो सकती है; क्योकि यहाँ शब्द अर्थबोध की अपनी सामान्य सीमा तोड़ देता है, अमूर्त्त बन जाता है। अर्थ को ध्वनित करने के लिए पद, पदांश, वाक्य और वर्ण तक का यहाँ सार्थक प्रयोग किया गया है।

निष्कर्षत, रीतिकाव्य की भापा रस-निष्पत्ति और उक्ति-वैचित्र्य को लक्ष्य मानकर विकसित हुई है और दोनो दशाओ मे एक मानक काव्यभाषा की सृष्टि करने मे समर्थ रही है।

रीति-कवियो द्वारा प्रयुक्त शब्द और अर्थ की प्रकृति को समझने के लिए प्रायोगिक विशेषताओ के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। रीति-कवियो ने ध्वनि-योजना मे यथासम्भव माधुर्य भरने की चेष्टा की है। विशेष प्रकार के वर्ण-सयोजनो से ही यह सम्भव हुआ है। यह माधुर्य-सृष्टि श्रृंगार रस की निष्पत्ति के लिए उपयोगी है। माधुर्य लाने के लिए कवियो ने प्राय· निम्नांकित प्रयोग किये हैं।

(क) कोमल ध्वनियों का सायास चयन

पायन नूपुर मंजु वजै, कटि किंकिन के धुनि की मधुराई।
जै जगमन्दिर दीपक सुन्दर श्रीब्रज दूलह देव सहाई॥

यहाँ 'म' तथा अन्य कोमल वर्णो की आवृत्ति से एक ऐसी लयात्मकता की सृष्टि हुई है, जिससे हृदय सहज ही द्रवीभूत हो उठता है।

(ख) समान ध्वनियों की क्रमवद्ध आवृत्ति

देव कछू अपनों बस ना रस लालच लाल चितै भइ चेरी।
वेगि ही बूड़ि गई पखियाँ, अँखिया मधु की मखिया भई मेरी॥

यहाँ 'पखियाँ; 'अँखिया; 'मधु की मखिया' जैसी समान ध्वनियो की भूयोभूय आवृत्ति माधुर्य की सृष्टि करती है, और समान ध्वनियों के सघन प्रयोग से चित्त मे विशेष प्रकार की गतिशीलता की अनुभूति होती है।

(ग) पदो को दुहराकर माधुर्य की सृष्टि

सहर-सहर सोंधौ सीतल समीर डोले,
घहर-घहर घन घेरि के घहरिया।
झहर-झहर झुकी झीनी झरि लायो देव,
छहर-छहर छोटी बूँदन छहरिया॥

माधुर्य की सृष्टि के लिए द्वित्व-विधान का व्यापक प्रयोग रीतिकाव्य मे हुआ है। माधुर्य के समान ही ओजोगुण की सृष्टि के लिए भी कवियो ने इसके अनुरूप वर्ण-योजना को ध्यान मे रखा है। भूषण के काव्य में ऐसे शब्द-प्रयोगो के उदाहरण देखे जा सकते है। गतिशीलता व्यंजित करने के लिए भी ओज का प्रयोग प्राय. हुआ है। कठोर वर्णो का नादात्मक प्रभाव छन्द की गतिशीलता से मिलकर रूप की गतिशीलता की सामंजस्य-पूर्ण व्यंजना करता है :

वाम तमासों करि रही, विवस वारुणी सेय।
झुकति हँसति हँसि हँसि झुकति, झुकि झुकि हँसि हँसि देय।

रीति-कवियों की नादचेतना का परिचय अनुप्रासों के व्यापक प्रयोग में मिलता है। इनके द्वारा कवि ध्वनि-चित्रो के निर्माण, भावों के चित्रात्मक विन्यास तथा गतिशीलता अथवा क्रियाशीलता की शाब्दिक व्यंजना करने में समर्थ हुआ है। निम्नांकित उदाहरणो मे वर्णो की सघन आवृत्ति वर्ण्य विषय का ध्वनि-चित्र उपस्थित करने मे समर्थ हुई है :

१. कनक बनक तन तनक तनक तन।
झनक मनक कर कंकन कनक के।।
२. चमक झमक वारी ठमक जमक वारी।
रमक तमक वारी जाहिर जगति है।।

रीति-कवियो के अर्थ-सयोजन और अर्थ-ध्वनन की क्षमता का परिचय शब्द-शक्तियों के अध्ययन से मिलता है। रीतिकाव्य की भापा मुख्यत. अभिधाप्रधान है। इसका प्रयोग मुख्यतः चित्रात्मक विधान, आलंकारिक चमत्कार अथवा अभिधामूला ध्वनि के रूप में हुआ है। चित्रात्मकता लाने के लिए प्रायः अनुभावो की सघन योजना हुई है। निम्नांकित उदाहरण मे विविध अनुभावो के द्वारा चित्त मे गत्यात्मक त्वरा लाने की चेष्टा की गई है·

जब ते कुँवर कान्ह, रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी
तबही ते देव देखो देवता सी हँसति सी,
खीझति सी, रीझति सी, रूसति रिसानी सी
छोही सी, छली सी, छीनि लीन्ही सी, छकी सी छीन,
जकी सी टकी सी लगी चूकी घहरानी सी,
बींधी सी बँधी सी, बिष बूड़ी सी, विमोहित सी,
बैठी वह बकत विलोकत बिकानी सी।

अभिधा-काव्य मे वाह्य चमत्कार विधायिका वृत्ति है। रीतिकाव्य में जहाँ ऐसे चमत्कार मिलते हैं, वहाँ अभिधा का ही चमत्कार वर्तमान होता है। आलंकारिक प्रयोगों

के अनेक स्थल तथा रस का समस्त क्षेत्र अभिधा-शक्ति का ही परिणत रूप है। किन्तु, रीतिकाव्य मे इसका प्रयोग मुख्यतः बिम्बसृष्टि द्वारा चित्रात्मकता लाने के लिए हुआ है।

रीतिकाव्य की दृष्टि मुख्यतः स्थूल चमत्कार तक सीमित होने के कारण अभिधा-प्रधान है। किन्तु, एक प्रौढ तथा अभिव्यंजनाक्षम भाषा के अनुरूप लाक्षणिक शब्दो के प्रचुर प्रयोग भी यहाँ उपलब्ध होते है। भारतीय काव्यशास्त्र मे निरूपित लाक्षणिक प्रयोगो के प्राय. सभी उदाहरण ही यहाँ नही पाये जाते, अपितु लक्षणा-शक्ति पर आधृत मानवीकरण, प्रतीक-योजना, मूर्त्त भावो की अभिव्यक्ति के लिए अमूर्त्त उपमानो की योजना इत्यादि पाश्चात्य प्रयोगो के प्रचुर उदाहरण भी यहाँ देखे जा सकते है।

रीति-कवियो मे घनानन्द तो लाक्षणिक प्रयोगो के निष्णात आचार्य है ही, अन्य कवियो मे भी लक्षणा के ऐसे ही सहज प्रयोग उपलब्ध होते है। भिखारीदास के ऐसे कतिपय लाक्षणिक प्रयोग द्रष्टव्य है -

(क) घाट ही में तेरे नैन घायन घरी भरै।
(ख) द्वै ही दिना की तिहारी है चाह गई
करि जाहु निबहैंगे नाही।
(ग) दीपक ज्योति मलीनी भई मनि
भूषण जोति की आतुरिया है।
(घ) भूख औ प्यास सबै बिसरी,
जब ते यह कानन बात बजी है।

इन उदाहरणो मे 'घडी भरना' घडी गिनने के लिए, 'चाह करि जाहू' भुला देने के लिए और 'जोति की आतुरिया' ज्योति के आधिक्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

मुहावरे भी लाक्षणिक प्रयोगों के अन्तर्गत आते है। केशव, बिहारी, ठाकुर तथा घनानन्द की रचनाओ में मुहावरो, कहावतो तथा लोकोक्तियो का चमत्कार द्रष्टव्य है। रीतिकाव्य की भाषा मे मुहावरो का व्यापक प्रयोग इसकी प्रौढता का परिचायक है।

रीतिकाव्य के लाक्षणिक प्रयोग इस तथ्य के सकेतक है कि यह काव्य केवल आलंकारिक प्रयोग की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नही, इसमे अर्थगत व्यंजना की गहराई में उतरने की पर्याप्त क्षमता भी वर्त्तमान है।

लक्षणा की भाँति व्यंजना का चमत्कार भी अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। उच्च कोटि की काव्यभाषा व्यंजनाप्रधान होती है। यहाँ भाव स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त नही किया जाता, अर्थ के हल्के स्पर्शो द्वारा सकेतित किया जाता है। रीतिकाव्य में भी ऐसे अर्थसंकेतों की प्रधानता है। अभिधा-शक्ति प्राय. अभिधामूला संलक्ष्य अथवा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के रूप में परिणत हो गई है। असंलक्ष्यक्रम मे व्यंग्य के रूप में यह रसरूप में और संलक्ष्यक्रम व्यग्य के रूप मे यह वस्तु या अलकारध्वनि के रूप में परिणत हो गई है।

वस्तु अथवा अलंकार को व्यंजित करने की चेष्टा के कारण रीतिकाव्य की भाषा व्यंजना-प्रधान हैं। मुक्तक-काव्य की रचना-प्रक्रिया मे ढली होने के कारण इसमे व्यंजना स्वभावत. वर्त्तमान है।

व्यजना का आधार है शब्द और अर्थ। शब्द कही अभिधा के माध्यम से और कही लक्षणा के माध्यम से व्यंग्यार्थ मे सक्रमित होता है। इसे ही अभिधमूला और लक्षणामूला शाब्दी व्यजना कहा गया है। अर्थतत्त्व की व्यजना वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, काकु, चेष्टा इत्यादि की विशेषताओं के कारण दस प्रकार की सम्भव है। रीतिकाव्य मे इन सभी प्रकारो के व्यजना-वैशिष्ट्य के उदाहरण मिलते हैं।

व्यंजना के ऐसे परम्परागत प्रयोगो के अतिरिक्त ऐसे शब्दो की संख्या भी कम नही, जो स्वय मे अर्थव्यजक है। ऐसे शब्दों के अन्तर्गत ध्वन्यात्मक तथा चित्रात्मक शब्द आते है। निम्नाकित पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप रखी जा सकती है :

(क) छाक छकी छतिया धरकै दरकै अँगिया उचकै कुच नीके।
(ख) ज्यो ज्यों आवति निकट निसि त्यों-त्यों खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै, लगी रहचटे बाल॥
(ग) सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि॥

व्यजना के इन कतिपय उदाहरणो से स्पष्ट है कि रीतिकाव्य में अभिधा और लक्षणा की भाँति व्यंजना का भी सार्थक प्रयोग किया गया है और इस क्रम मे शब्द और अर्थ दोनो की व्यजकता की सम्भावनाओ का अन्वेषण भी हुआ है।

यह व्यजना प्राय: रसध्वनि के रूप मे पर्यवसित होती है। यही वह केन्द्र है, जिसे आधार मानकर शब्द, गुण, रीति अथवा अलकारो का प्रयोग हुआ है। रीतिकाव्य मे शृंगार मुख्य रस के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। इसकी निष्पत्ति के लिए इसमे आलम्बन, उद्दीपन, विभावो, अनुभावो अथवा इसके पोषक सचारी भावो का चित्रण हुआ है। कवियो की चेष्टा शृंगार के स्थायिभाव रति का ऐसा चित्रण करने की रही है कि यह रसदशा तक पहुँच जाय। इसके लिए उन्होने अनुरूप विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, शब्द, अर्थ अथवा चित्रो का निरूपण किया है और प्राय: तीव्र ऐन्द्रिय स्पर्शं का सहारा लिया है। रतिभाव के उद्दीपक ऐसे प्रयोगो से शृंगार की अनुभूति हृदय मे सहज ही होने लगती है। आलम्बन के अनुभाव सुरत अथवा सुरतान्त के वर्णन मे यह विशिष्टता परिलक्षित होती है। इस दृष्टि से देव के ऐन्द्रिय स्पर्शों से पूर्ण, रति के उद्बोधक कतिपय बिम्ब अवलोकनीय है। रससृष्टि के लिए उन्होने इस कला का विशेष प्रयोग किया है। जैसे :

(क) पिय भेटिवे को उमगी छतियाँ सु छिपावति हेरि हियो हँसि कै।
अँगिया की तनी खुलि जाति धनी सु बनी फिरी बाँधति है कसि कै।

(ख) झाँपि झाँपि खोलैं झपकारे दृग भारे देख
काँपि काँपि उठे कुच कौंल की सी कलिका।

(ग) यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर से उठि धाए।

इन सभी उदाहरणो मे कामुक चेष्टाओं के द्वारा रतिभाव को उद्दीप्त करने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार सुरत, सुरतान्त, विपरीत रति इत्यादि के ऐसे ही मादक चित्र उपलब्ध होते है। ऐसे स्थलो में शब्दो तथा अलकरण के उपादानो का ऐसा सन्तुलित प्रयोग हुआ है कि पाठक के हृदय में वर्त्तमान रतिभाव रसरूप मे परिणत हो जाता है। रीतिकाव्य का अधिकांश इसी रस को केन्द्र मानकर निर्मित है। ऐसे स्थलो मे भाषा की समस्त शक्तियाँ इसे ही उद्रिक्त करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुई हैं। शेष स्थलो मे कवि का लक्ष्य अपने पाण्डित्य अथवा चमत्कार का प्रदर्शन है।

रीतिकाल की परिस्थितियाँ ऐसी थी कि कवि काव्यरचना के प्रति प्रदर्शन-वृत्ति से प्रेरित हुआ। दरबारी वातावरण से इस प्रवृत्ति को विशेष बल मिला। ऐसी परिस्थितियो मे जब कवि राजाश्रय पाने अथवा राजसभा को प्रसन्न करने के उद्देश्य से काव्यरचना करने को बाध्य हो, कविता का कृत्रिम हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे स्थलो मे भी कवि ने अपनी व्यापक काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है।

रीतिकाल कला की साधना का काल है। हिन्दी-साहित्य मे यही एकमात्र काल है, जिसमें कला को साध्य मानकर काव्यरचना हुई। अत, काव्यरचना के सभी उपादान अपने विकसित एव प्रौढ रूप मे उपलब्ध होते हैं। इस काल के कवि की प्रतिभा व्यापक है। इसका प्रसार भाव तथा वाह्य चमत्कार दोनो क्षेत्रो मे हुआ। प्रथम में वह काव्यालंकरण के उपादानो का प्रयोग सवेदना को जगाने, भावदशा को रसदशा तक पहुँचाने के उद्देश्य से करता है। दूसरे मे, इनका सहारा लेकर अनेक प्रकार की सृष्टि मे प्रवृत्त होना है। दोनो धरातलो पर शब्द और अर्थतत्त्व का विकास इस काल की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

●●

△ अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
गणेशलाल अग्रवाल कॉलेज
डालटेनगंज (पलामू : बिहार)

गोविन्द-ज्ञानबावनी : एक अध्ययन

प्रो० सुरेशचन्द्र झा 'किंकर'

गुजरात के महाकवि गोविन्द गिल्लाभाई की कृति 'गोविन्द-ज्ञानवावनी'[1] प्राचीन काव्यो की भाँति साहित्यशास्त्र के आधार पर व्रजभाषा मे लिखी गई एक उत्तम रचना है। कवि की मातृभाषा गुजराती है, फिर भी उसने व्रजभाषा मे प्रस्तुत काव्य का निर्माण कर अपनी विशिष्ट भाषिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० २३० से २३३ पर यह उल्लेख किया है कि कवि की कृतियो की सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी की शब्द-सम्पदा के ज्ञानार्जन मे वह कितने सजग थे। रीतिकालीन कवियो की मिश्रित व्रजभाषा के तथ्य को हिन्दी-साहित्य के विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस रचना को पढते समय अनायास ही बिहारी, विद्यापति, तोष, मतिराम, पद्माकर, देव, आचार्य केशव आदि की याद आ जाती है।

कवि गोविन्द गिल्लाभाई अपने युग की साहित्यिक गतिविधियों से निरन्तर जुड़े रहे। काशी-कविसमाज, काशी-कविमण्डल, पटना-कविसमाज तथा काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा जैसी विख्यात साहित्यिक संस्थाओ के वे सदस्य रह चुके थे। पटना और काशी के कविसमाजो से उनके पास काव्य-समस्याएँ आया करती थी, जिनकी पूर्त्तियाँ वह भेजा करते थे। इन संस्थाओ के काव्य-संग्रहो मे उनके अनेक काव्य प्रकाशित हो चुके थे। काशी-कविसमाज की ओर से ७ अगस्त, १८८६ ई० मे उन्हे प्रशस्तिपत्र और दो बार पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके थे। सौराष्ट्र के हिन्दी-कवियो की सूचना एकत्र करके सर्वप्रथम प्रकाश मे लाने का सबसे बड़ा योगदान इस कवि का ही रहा है। इस सम्बन्ध मे 'मिश्रबन्धु-विनोद', के प्रथम भाग की भूमिका के पृ० ७ पर मिश्रबन्धुओं का वक्तव्य द्रष्टव्य है : "हमारे प्राचीन मित्र और हिन्दी-जगत् के सुपरिचित स्वर्गीय कवि गोविन्दभाई ने काठियावाड़ से कवियो तथा गद्यलेखको की, विवेचना-सहित एक वृहत् सूची भेजी, जिससे प्रायः ५००८ अज्ञात लोगो का हमे पता चला।"

कवि गोविन्दभाई किसी व्यक्ति-विशेष अथवा किसी क्षेत्र-विशेष की संकुचित सीमा मैं ही बँधकर रहनेवाले नही थे। यही कारण है कि वह बम्बई, बनारस, लखनऊ,

---

१. मुद्रक : श्री-ए-एसोसिएट्स, विश्वकर्मा-भवन, खारीवाँव रोड, बड़ौदा ३९०००२; सम्पादक : डॉ० मदनगोपाल गुप्त, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा; संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३६, सन् १९८० ई०; पृ० ६३; मूल्य सात रुपये पचास पैसे।

बाँकीपुर (पटना), कलकत्ता आदि स्थानो से हर-हमेशा अपना साहित्यिक सम्बन्ध बनाये रखते थे। गोविन्द-ग्रन्थमाला, भाग १ मे, जो स्वयं कवि द्वारा प्रकाशित है, कवि की १४ कृतियाँ संगृहीत है। इस प्रकाशित ग्रन्थमाला मे सकलित विभिन्न विद्वानो की सम्मतियाँ प्रस्तुत कवि की समकालीन साहित्यिक प्रतिष्ठा एवं उनके व्यापक सम्पर्क को ही प्रमाणित करती है। **प्रो० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र'** (डुमराँव), **नकछेदी तिवारी** (डुमराँव), **राय देवीप्रसाद** (जोधपुर), **रायबहादुर शुकदेवविहारी मिश्र** (मिश्रबन्धु) प्रभृति विद्वान् इस कवि के वड़े ही प्रशंसक थे।

कवि **गोविन्दभाई** का काव्य मिश्रित व्रजभाषा मे ही लिखा गया है। यह काव्यकार का मरणोत्तर प्रकाशन है। इसका प्रकाशन कवि के पौत्रद्वय **स्व० रामजी जयसिंह भाई** तथा **राघवजी जयसिंह भाई चौहान** एवं इनके पुत्रो द्वारा लोक-कल्याणार्थं किया गया है।

गुजराती-भाषा पश्चिमी हिन्दी-भाषी प्रदेश और उसकी बोलियो के निकट रही है। गुजरात में लिखे गये हिन्दी-साहित्य में व्रजभाषा, खड़ी वोली और डिंगल की ही प्रधानता रही है। पूर्वीय उत्तरी बोलियों—वँगला, मैथिली, भोजपुरी, मगही, मागधी, अवधी आदि से इसका सम्वन्ध-सम्पर्क नही के वरावर रहा है। भाषा-प्रयोग की दृष्टि से गुजरात में रामकाव्य भी व्रजभाषा मे ही लिखा गया है। यही कारण है कि अवधी-भाषा मे रचित तुलसी का 'रामचरितमानस'—रामकाव्य की अपेक्षा व्रजभाषा मे रचित **सूरदास और मीराँवाई** के कृष्णकाव्य का ही अधिक प्रचार-प्रसार और प्रभाव गुजरात मे रहा है। अत., यह सुनिश्चित है कि गुजरात के कवि-मनीषियो को व्रजभाषा की माधुरी ने ही सर्वाधिक आकृष्ट किया है। इसका जीता-जागता और देदीप्यमान उदाहरण भुज (कच्छ) की 'व्रजभाषा-पाठशाला' हमारे सामने है। कृष्णभक्ति, विशेषकर वल्लभ-सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार-प्रसार यहाँ प्रारम्भिक काल से ही दिखाई पडता है। काव्य मे व्रजभाषा-प्रयोग की यह परम्परा कवि गोविन्दभाई को विरासत मे मिली है। व्रजभाषा की इस काव्य-परम्परा मे गोविन्दभाई एक नूतन, किन्तु वेजोड़ कड़ी हैं। विद्वान् विवेचक **डॉ० मदनगोपाल गुप्तजी** ने प्रस्तुत काव्य की प्रस्तावना मे ठीक ही लिखा है कि 'महाकवि गोविन्द गिल्लाभाई इस यशस्वी परम्परा के बहुमूल्य रत्न हैं।' गुजरात मे लिखे गये हिन्दी-काव्य के सन्दर्भ मे गोविन्द गिल्लाभाई की काव्यचेतना के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है, जो उन्हे अन्य कवियो के बीच विशेष महत्त्व प्रदान करते है। इस तरह हम देखते हैं कि इस कवि का काव्य-संस्कार व्रजभाषा की माधुरी से ही ओतप्रोत है।

गुजरात से प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर यह पता चलता है कि भुज (कच्छ) के **महाराव लखपति सिंह** द्वारा स्थापित 'व्रजभाषा-पाठशाला' से कवि सम्वद्ध थे। **डॉ० कान्तिलाल मोहनलाल शाह** ने अपने शोध-प्रबन्ध 'महाराव लखपति सिंह : व्यक्ति और साहित्यिक कृतित्व' के पृ० २१२ पर इस वात की सप्रमाण पुष्टि की है कि उक्त पाठशाला की विद्यार्थी-परम्परा मे कवि गोविन्द आते हैं। इतना ही नही, महाराजा सयाजीराव

विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग मे सुरक्षित उनकी डायरियो और हस्तलिखित फुटकर पत्रों से भी इस तथ्य का पुष्ट प्रमाण हमे मिलता है। गुजरात के भुज (कच्छ) के **महाराव लखपति सिंह** द्वारा स्थापित 'व्रजभाषा-पाठशाला' से हिन्दी-काव्य-परम्परा के एक नये अध्याय का श्रीगणेश होता है। इससे पूर्व इस पाठशाला में दो प्रकार की रचनाएँ दृष्टिगत होती हैं : भक्तिपरक मुक्तक-काव्य और प्रशस्ति-काव्य। आगे चलकर इस पाठशाला के काव्य-शिक्षण-समायोजन मे हिन्दी-क्षेत्र की रीतिकालीन प्रकृति-प्रवृत्तियों का समावेश हुआ। पाठशाला के आचार्यों ने रीति, कोशग्रन्थ, पिंगल और नीतिशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थों पर ही विशेष वल दिया था। यह तथ्य प्रस्तुत कृति से स्वत. उद्घाटित हो जाता है। मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० कुँवर **चन्द्रप्रकाश सिंहजी** ने अपने ग्रन्थ 'भुज (कच्छ) की व्रजभाषा-पाठशाला' की पृ० स० ५०-५१ पर यह उल्लेख किया है कि **आचार्य केशवदास** की 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' तथा शृंगारी कवियों की शृगारपरक कृतियो एवं 'विहारीसतसई' जैसे ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन भुज की 'व्रजभाषा-पाठशाला' मे किया जाता था। इससे यह सिद्ध होता है कि गुजरात मे रीतिकाव्य की परम्परा **चिन्तामणि त्रिपाठी** द्वारा निर्देशित मार्ग से अंशत. अवश्य ही प्रभावित रही है, किन्तु पूर्णत. प्रभावित तो **आचार्य केशवदास** तथा राजस्थान एवं गुजरात के आचार्यों द्वारा निर्देशित मार्ग से ही कही जा सकती है। सुतरां, उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि **कवि गोविन्द गिल्लाभाई** की काव्यचेतना भुज की 'व्रजभापा-पाठशाला', अर्थात् गुजरात की विकसित हिन्दी-काव्यचेतना से ही सम्पृक्त है।

प्रस्तुत काव्य के शीर्षक ('गोविन्द-ज्ञानवावनी') से ही यह ध्वनित हो जाता है कि इसमे कवि के वावन पद संकलित हैं। इसी 'वावन' शब्द के आधार पर इसे 'वावनी' कहा गया है। इसे हम एक स्वतन्त्र मुक्तक-काव्य भी कह सकते है। इन पदों की सरल गुजराती में टीका भी साथ-साथ दे दी गई है। गुजरात मे दीर्घकाल से ही गुजराती जैन कवियो की वावनी-साहित्य-परम्परा विशाल फलक पर प्रतिष्ठित दिखाई पड़ती है। इन कवियो की वावनियो मे प्रमुख रस के रूप मे 'शान्त' रस है और विपयवस्तु के प्रतिपादन की दृष्टि से मूलत वैराग्य विपय ही रहा है। किन्तु, प्रस्तुत कृति पर जैन कवियों का प्रभाव नही माना जा सकता। ध्यातव्य है कि हिन्दी की सगुण-निर्गुण दोनो ही काव्यधाराओ मे वैराग्यपरक रचनाओ का विपुल साहित्य विद्यमान है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन पर एक विहंगम दृष्टि डालने से यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत काव्य को न तो वीरगाथा-काल और न तो रीतिकाल से ही जोड़ा जा सकता है; क्योंकि इसमे भक्ति-वैराग्य, धर्म-नीति, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत्, आदेश-उपदेश, प्रेय-श्रेय प्रभृति भक्तिपरक भावों का ही उन्मेप दृष्टिगत होता है। कवि की कलागत चेतना भले ही रीतिकालीन हो, पर भावगत चेतना तो भक्तिकाल की भूमिका पर ही अवस्थित है। अतः, इस आधार पर निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत रचना का सहज और सीधा सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य के स्वर्णयुग—भक्तिकाल से ही है।

इस काव्य मे कुल ५६ छन्द हैं। प्रथम दो छन्द मगलाचरण, ५५वाँ छन्द कवि की निजी मन.कामना एव अन्तिम ५६वाँ छन्द रचनाकार के परिचय और रचनाकाल से सम्बद्ध है। कवि गोविन्द गिल्लाभाई की हिन्दी-रचनाओं की एक सूची भी पृ० सं० १३-१४ पर दी गई है। इसमे छोटी-बड़ी रचनाओं को मिलाकर उनकी कुल ३३ रचनाएँ है। इन ३३ रचनाओं में प्रथम १४ 'गोविन्द ग्रन्थमाला' के प्रथम भाग मे स्वयं कवि द्वारा प्रकाशित की जा चुकी है। शेष सभी रचनाएँ महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के हस्तलिखित ग्रन्थ-सग्रह मे विद्यमान है। इस कृति मे कवि के वश-परिचय के लिए एक विशेष पृष्ठ पर वंशवृक्ष भी दे दिया गया है। इस वंश-परम्परा मे वश-जाया (सिहोर में आनेवाली) वृद्धा डोशी ही कवि के वश की आदिजाया या आदिजननी के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

शैली की दृष्टि से नीतिकाव्य के विषय तीन प्रकार के होते है : उपदेश, अन्योक्ति एव सूक्ति। कबीर, रहीम, तुलसी, वृन्द आदि हिन्दी के कवियो की काव्य-परम्परा मे नीति-विषयक चेतना की अजस्र धारा प्रवाहित होती रही है। गुजरात के कतिपय नीतिवादी एव भक्त कवियो—नरसी मेहता, दयाराम, दलपतराम, न्हानालाल, शामल आदि ने भी उक्त नैतिक काव्यचेतना मे अपना योगदान किया हैं। प्रस्तुत कवि की नीति-सम्बन्धी उक्तियाँ संस्कृत के सुभाषितो और सूक्तियो से अधिक प्रभावित जान पड़ती हैं। प्रस्तुत काव्य और छन्द की शैली कवि की मँजी हुई कवित्त-शैली है। इस कवित्त-शैली मे, कवि बड़े ही सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। कभी ह्रस्व, कभी दीर्घ और कभी दोनो ही वर्णो की प्रधानता के साथ कवित्त को रखने मे कवि अतिशय पटु जान पडते है। अलकारो का भी सुन्दर समावेश इस काव्य मे हुआ है। काव्यकार ने तो अनुप्रास अलकार की लडी-झडी ही इस काव्य मे लगा दी है। एक ही कवित्त मे एक ही शब्द के कई भिन्न-भिन्न अर्थ दिखाई पड़ते है। इस अर्थ-गाम्भीर्य पर पहुँचने के लिए बड़े-बडे विद्वान् पाठको को भी मानसिक कसरत करनी पड़ती है। एक उदाहरण देखिए :

सुरभि को पान करी सुरभि में संचरत,
सुरभि की मालगही सुरभि प्रकास कों।
सुरभि के काज केते सुरभि हनाय आप,
सुरभि ह्वै आश करै सुरभि निवास कों।
सुरभि में आइ पुनि सुरभि खिलत तऊ,
सुरभि लगाइ तन सुरभि बिमास कों।
गोविन्द कहत ऐसे बखत वितात पर,
शोचत न वात कैसे वपु के विनाश कों ॥२८॥

(पृ० सं० ४७)

इस पद्य मे 'सुरभि' शब्द की बारह बार आवृत्ति हुई है, जो यमक अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'सुरभि' शब्द के क्रमशः बारह अर्थ इस प्रकार है: मदिरा, पृथिवी, मौलश्री, सुगन्ध, कस्तूरी, मृग, देव, पृथिवी, चैत्रमास, वसन्त, चन्दन और स्वर। कवि गोविन्द ने अपनी कविता-कामिनी को अलंकार की कड़ी और छन्द की बेड़ी मे कसकर बाँध दिया है। आज के इस नारी-स्वातन्त्र्य के युग में कविता-कामिनी को इस तरह की बेडी मे बाँधा जाना निश्चय ही विद्रोह का विषय होगा। शब्द-माधुर्य के साथ-साथ अर्थ-गाम्भीर्य भी इस काव्य मे दिखाई पडता है। इन्ही दो प्राणतत्त्वों के आधार पर काव्यकार ने शारदा के मन्दिर में काव्यमूर्त्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की है। गुजराती-भाषी कवि का व्रजभापा मे काव्य-प्रणयन करना उसकी बहुभाषा-विज्ञता और व्रजभापा-प्रियता का परिचायक है। काव्य पढ़ते समय भावबोध के साथ-साथ अर्थनाद भी अनुध्वनित होता चलता है। लेकिन, उपदेशपरक कवित्त के भार से कही-कही मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी भाव तिरोहित हो गया है।

संसार की असारता, मोह-माया के बन्धन, वासना-एषणा तथा दैहिक-दैविक-भौतिक त्रिताप-जनित रोग-शोक-परिताप आदि सांसारिक बन्धनो की याद दिलाकर कवि हमे धर्म-अध्यात्म, वैराग्य-भक्ति, मुक्ति-विमुक्ति आदि की ओर ही प्रेरित करता है। जीवन-जगत् को प्रेय से श्रेय की ओर अग्रसर करना ही इस काव्यकार के काव्य का प्रयोजन है। पुरुषार्थचतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे प्रथम तथा अन्तिम पुरुषार्थ पर ही कवि ने बल दिया है। भाव-भाषा, छन्द-अलंकार गुण-धर्म, प्रतिपाद्य विषय-वस्तु, उद्देश्य-सन्देश आदि की दृष्टि से भी प्रस्तुत काव्य एक सफल काव्य कहा जा सकता है।

●●

△ अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
भवन्स कॉलेज, डाकोर (गुजरात)

●

●

'उर्वशी' का मिथकीय रचना-विधान

सुश्री उमा नेगी

किसी काव्य मे मिथक का उपयोग विशेष सन्दर्भ मे विशेष अर्थ-विधान के लिए किया जाता है। वस्तुत., मिथक मे अर्थगर्भत्व की विशेष सम्भावना छिपी रहती है। दिनकर ने अर्थगर्भत्व की दृष्टि से आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे पुरूरवा और उर्वशी के मिथक का उपयोग किया है। यह मिथक सबसे पहले वैदिक साहित्य मे प्रयुक्त हुआ है और इतना आकर्षक एव प्रभावशाली रहा है कि समय-समय कविर्मनीषी इसका उपयोग करते रहे है। मिथक का पहला उल्लेख 'ऋग्वेद' मे मिलता है। 'शतपथब्राह्मण' में इसी कथा को कई अन्य सूत्रों से जोडकर प्रस्तुत किया गया है। कविकुलगुरु कालिदास ने इन दोनों कथाओ के आधार पर कतिपय नवीन मिथको को कल्पित कर 'विक्रमोर्वशीय' का अत्यन्त ललित एव आकर्षक विधान प्रस्तुत किया है। आधुनिक युग मे कवीन्द्र रवीन्द्र का ध्यान भी इन मिथकों की ओर आकृष्ट हुआ था और दिनकर ने इन समस्त मिथको के समायोग-पूर्वक अपनी कल्पक दृष्टि से इन्हे नवीन अर्थगर्भता के साथ बहुत ही प्रभावशाली ढग से उपन्यस्त किया है।

पुरूरवा और उर्वशी का मिथक 'ऋग्वेद' मे इस प्रकार है: पुरूरवा उर्वशी के रूप पर आसक्त होकर उससे प्रणय-निवेदन करते है। उर्वशी की ओर से आरम्भ मे उन्हे प्रोत्साहन नही मिलता। वह कहती है कि मेरा अस्तित्व वायु के समान है। मैं उषा के समान तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुई हूँ और शीघ्र ही अन्तर्धान हो जाऊँगी। किन्तु, पुरूरवा उससे आग्रह-सहित प्रणय-याचना करते है और कहते हैं कि तुम्हारे बिना मेरा सारा पुरुषार्थ व्यर्थ है। संयोगवश, पुरूरवा देवताओं की सहायता करते और अपने पराक्रम से सबको प्रभावित करते है। फलत, उर्वशी, जो विद्युत् के समान कान्तिमयी है, पुरूरवा की कामना पूरी करती है और उनके लिए पुत्र प्रसूत करती है। उसके पश्चात् वह राजा को प्रजापालन का परामर्श देकर, पुत्र को उनके पास छोड़कर स्वर्ग चली जाती है। पुरूरवा के रोकने के प्रयास के बावजूद वह यह कहकर चली जाती है कि नारी का हृदय वृक के समान निर्दय होता है।

'ऋग्वेद' की इस कथा में अनेक मिथक सगुम्फित हैं: १. उर्वशी आकाश का प्रतीक है और पुरूरवा पृथिवी का। आकाश से होनेवाली वर्षा से ही पृथिवी उर्वरा होकर सस्य और वनस्पतियों का प्रसव करती है। इस तथ्य के आधार पर आकाश की कल्पना

पुरुष-पिता के रूप में और पृथिवी की कल्पना स्त्री-माता के रूप मे की गई है। किन्तु, पुरूरवा और उर्वशी के परवर्त्ती कथानको में इस तथ्य का विपर्यास हो गया है। पुरूरवा पुरुष का प्रतीक बन गया है और उर्वशी नारी का, और इन दोनो के प्रणय-सम्बन्ध से पुत्र की उत्पत्ति दिखाई गई है। दिनकर की दृष्टि मे पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।[1] पुरूरवा-उर्वशी का मिलन चिरकालिक न होकर अल्पकालिक है। पुत्र की उत्पत्ति के बाद उर्वशी पुरूरवा को छोडकर चली जाती है। **सर विलियम विलसन** ने यह अनुमान लगाया था कि पुरूरवा-उर्वशी की कथा अन्योक्तिपरक है। इस कथा का नायक सूर्य और नायिका उषा है, इन दोनो का मिलन कुछ काल के लिए ही होता है, बाद में वे प्रतिदिन बिछुड़ जाते है।[2] यह कथा इस बात का भी संकेतक है कि पुरुष और नारी के मिलन की चरम परिणति एक ओर पुत्रोत्पत्ति है, तो दूसरी ओर चिरवियोग। नारी का हृदय वृक के समान निर्दय होता है, उर्वशी का यह कथन इस प्राकृतिक तथ्य को व्यंजित करता है कि पुरुष भले ही तर्कशील हो और नारी भावनाशील, पर नारी अपनी भावना को निरकुश नहीं छोड़ती।

'शतपथब्राह्मण' मे पुरूरवा और उर्वशी की कथा का मिथकीय स्वरूप कुछ अन्य मिथको के योग के कारण और भी स्पष्ट तथा मूर्त्त हो जाता है। उर्वशी पुरूरवा के सामने तीन अनुबन्ध रखने के बाद ही उनकी पत्नी बनना स्वीकार करती है।

१. तुम पुत्र की कामना से दिन मे तीन बार मेरा उपभोग करोगे : **'त्रिःस्म माऽह्नो वैतसेन दण्डेन हतात्।'**

२. कामेच्छा न होने पर मेरे साथ रमण न करोगे : **'अकामां स्म निपद्यासे।'**

३. तुम नग्न रूप मे मेरे सामने कभी न आओगे **'मो स्म त्वो नग्नं दर्शम्।'**[3]

इन अनुबन्धो को स्वीकार कर पुरूरवा उर्वशी को प्राप्त करते है और चिरकाल के सहवास के अनन्तर उर्वशी गर्भ धारण करती है। इसी स्थिति मे गन्धर्वों के षड्यन्त्र के कारण पुरूरवा उर्वशी के मेष-शावक की रक्षा के लिए सहसा निर्वसन उपस्थित होकर तीसरे अनुबन्ध के भंग करने के दोषभागी होते है। फलस्वरूप, उर्वशी आकाश मे विलीन हो जाती है। एक दिन पुष्करिणी मे जलक्रीडा करती हुई उर्वशी वियोग-सन्तप्त पुरूरवा को देखकर नारी-रूप मे उसके समक्ष आती है और पुरूरवा के आग्रह करने पर भी पुनः उनसे यह कहकर दूर चली जाती है कि मै वायु की तरह पकड़ से बाहर हूँ, मै उषा की तरह विलीन हो जानेवाली हूँ। परन्तु, जाने के पूर्व उसने पुरूरवा को यह वचन भी दिया था कि मै वर्ष के अन्त मे तुम्हारे पुत्र को जन्म देने के लिए केवल एक रात के लिए तुमसे मिलूँगी। यथासमय वह पुरूरवा से मिलती है और उन्हे गन्धर्व-पद की प्राप्ति के लिए प्रेरित

१ उर्वशी, भूमिका-अंश।

२. उपरिवत्।

३. शतपथब्राह्मण, ११।५।१।

करती है। अन्त में, गन्धर्वो के वरदान से उन्हे अभीष्ट पद प्राप्त हो जाता है और उर्वशी के साथ उनका मिलन भी सम्भव हो जाता है।

इस कथा मे तीन मिथको को सग्रथित किया गया है : १. आकाश और पृथिवी का प्रणय-सम्बन्ध, जो पुरुष-पुरूरवा की कामैषणा मे विकसित हुआ है; २ पुत्रैषणा, जो पुरूरवा-उर्वशी के प्रणय-सम्बन्ध के पार्यन्तिक फल के रूप मे विकसित हुई है और ३. गन्धर्व-पद की प्राप्ति—अमरत्व की कामना, यही जीवन का चरम लक्ष्य है, जो प्राय प्राचीन काल के प्रत्येक धर्म-दर्शन मे सरलता से देखा जा सकता है।

यही मिथक-कथा कुछ नूतन उद्भावनाओ के साथ कालिदास द्वारा 'विक्रमोर्वशीय' नाटक मे प्रयुक्त की गई है। उन्होने 'ऋग्वेद' और 'शतपथब्राह्मण' की कथा को अपने ढंग से कलात्मक रूप प्रदान किया है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त मिथक-कथा के विभिन्न आयाम इस प्रकार हैं (क) पुरूरवा का उर्वशी के प्रति और उर्वशी का पुरूरवा के प्रति आकर्षण। 'ऋग्वेद' और 'शतपथब्राह्मण' मे उर्वशी का पुरूरवा के प्रति आकर्षण नही दिखलाया गया है। (ख) पुरूरवा की कथा मे महारानी औशीनरी की कथा। इसका कोई उल्लेख पूर्व मिथक-कथा मे नही है। (ग) स्वर्ग मे नाटक का अभिनय और भरतमुनि का शाप। यह भी कालिदास की मौलिक उद्भावना है। (घ) कुमार के द्वारा निषिद्ध वन-प्रदेश मे उर्वशी का प्रवेश और उसके दण्डस्वरूप उसकी लता-रूप मे परिणति। कथा के वियोग-प्रसग को आकर्षक और प्रभावशाली बनाने के लिए इस मिथक-कथा का समायोजन किया गया है। (ङ) लतारूपिणी उर्वशी द्वारा सगमनी मणि के कारण अपने रूप की प्राप्ति। वियोगावस्था मे संयोग की उपलब्धि के लिए इस प्रसग की उद्भावना प्रभावशाली है। (च) गन्धमादन पर्वत पर संयोग-वियोग की चित्र-विचित्र घटनाओ के बाद प्रतिष्ठानपुर मे पुरूरवा का उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न, च्यवन ऋषि के आश्रम मे पालित, अपने पुत्र आयु से मिलन, फलत भरत के शापवश उर्वशी का तिरोधान। (छ) अन्त मे, देवासुर-सग्राम मे देवताओ द्वारा पुरूरवा से सहायता की याचना और उसके पुरस्कार मे उर्वशी की प्राप्ति।

दिनकर ने मूलत कालिदास द्वारा सयोजित मिथक-कथाओ को ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होने मिथक-कथाओ को अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुकूल परिवर्त्तित कर लिया है। पुरूरवा और उर्वशी के पारस्परिक आकर्षण को उन्होने प्रणय के धरातल पर बहुत ही मार्मिक ढंग से उपस्थापित किया है। औशीनरी की कथा को 'विक्रमोर्वशीय' के आधार पर ही किंचित् परिवर्त्तन के साथ ग्रहण किया है तथा उसके चरित्र को महिमा-मण्डित एवं तेजोदीप्त दिखाया है। कालिदास द्वारा प्रयुक्त भरतमुनि के शाप की मिथक-कथा को दिनकर ने सकेत-रूप मे दिखाया है। गन्धमादन पर्वत पर कालिदास ने पुरूरवा और उर्वशी की उद्दाम प्रणयलीला की जो हृदयंकप विवृति प्रस्तुत की है, उसे दिनकर ने काम और प्रणयवृत्ति के बहुमुख पक्षो के उद्घाटन के रूप मे

उपन्यस्त कर और निर्बन्ध प्रणय एवं निष्काम काम के समुन्मीलन के लिए प्रयुक्त कर अपनी अप्रतिम प्रातिभा शक्ति का परिचय दिया है।

कालिदास ने देवासुर-संग्राम में देवताओं की सहायता के पुरस्कार-स्वरूप उर्वशी की पुन.प्राप्ति और पुरूरवा-उर्वशी का पुनर्मिलन दिखाकर नाटक को सुखान्त बनाया है, किन्तु दिनकर ने इस रूपक को आधुनिक सन्दर्भ मे सुखान्त बनाना आवश्यक नहीं समझा और पुरूरवा-उर्वशी के विरह तथा पुरूरवा के विराग-भाव को पुरुषार्थ-चतुष्टय के अन्तिम लक्ष्य की सम्प्राप्ति मे सहायभूत तत्त्व के रूप मे प्रयुक्त कर एक दूसरी ही मिथक-कथा का समुपयोजन किया है और यह दिखाने की चेष्टा की है कि निर्बाध-निर्मुक्त कामभोग की ही चरम परिणति वैराग्य है, जो ऐहिकता से पारलौकिकता का मार्ग प्रशस्त करता है।

दिनकर ने पुरूरवा और उर्वशी के आख्यान को मानव-विकास के विषय के रूप मे गृहीत किया है। उनके अनुसार मनु तथा इडा, पुरूरवा और उर्वशी, ये दोनो की ही कथाएँ एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इडा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया के भावना-पक्ष को पुरूरवा और उर्वशी की कथा मे कहा गया है।[1] इसी भावना-पक्ष ही व्यंजना 'उर्वशी' रूपक में हुई है। दिनकर ने नर-नारीप्रेम को योग के समकक्ष रखकर उसका औदात्य प्रतिपादित किया है और उसी को ध्यान मे रखकर 'काम'-तत्त्व की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है।

'ऋग्वेद' में कहा गया है :

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धु मसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषाः ॥

काम सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान था। वह मन का प्रथम रेत अथवा बीज था। कवियो ने अपनी बुद्धि से मन मे उसकी खोज की, तो उन्हे सत् का यह बन्धु यो ही प्राप्त हो गया।

'मनुस्मृति' मे और भी स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है :

> अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।

इहलोक मे अथवा अन्यत्न कही भी ऐसी कोई क्रिया नहीं दिखाई पड़ती, जो कामविहीन हो।

इसी काम की प्रशंसा 'शिवपुराण' मे इस प्रकार की गई है :

> कामः सर्वमयः पुंसां स्वसङ्कल्पसमुद्भवः।
> कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागता. ॥

---

१. उर्वशी : भूमिका-अंश।

अपने ही संकल्प से समुद्भूत काम पुरुषों के लिए सर्वमय है। काम से ही सब कुछ प्रवर्त्तित होता है और वृद्धि को प्राप्त कर काम में ही लीन हो जाता है।

'पद्मपुराण' में काम के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है :

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कालाद् धर्मफलोदयः।

धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से धर्मफल का उदय होता है। 'महाभारत' में काम को धर्म और अर्थ से श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है :

यथा पुष्पफलं काष्ठात् कामः धर्मार्थयोर्वरः।

जिस प्रकार काष्ठ से पुष्प और फल श्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार धर्म और अर्थ से काम श्रेष्ठ होता है।

काम-सम्बन्धी दिनकर की अवधारणा इस प्रकार है :

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्च लोक से गिरा हीन पशु जन्तु बना देता है।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर,
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर।[1]

दिनकर उस कामाचार को दोषपूर्ण सिद्ध करते है, जिसमे मन और आत्माओ का मेल न होकर केवल शरीर का मेल होता है, किन्तु जहाँ नर और नारी सहज आकर्षण से दो लहरों के समान अनामन्त्रित मिल जाते है, वहाँ कामाचार सात्त्विक होता है :

जहाँ नहीं मिलते नर-नारी उस सहजाकर्षण से,
जैसे दो वीचियाँ अनामन्त्रित आ मिल जाती हैं।[2]

उन्होने तन के काम को अमृत और मन के काम को गरल सिद्ध किया है :

तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है।[3]

उनके अनुसार, निष्काम कामसुख स्वर्गीय पुलक है और वह लिया-दिया नही जाता, वरन् ग्रहण किया जाता है :

इसीलिए निष्काम काम वह स्वर्गीय पुलक है,
लिया दिया वह नहीं, मात्र वह ग्रहण किया जाता है।[4]

दिनकरजी ने इस काव्य-रूपक मे काम की प्रशस्ति द्विविध रूप मे प्रस्तुत की है। उसका एक स्वरूप स्वर्गलोक से सम्बद्ध है और दूसरा मृत्युलोक से। स्वर्गलोक की कामभावना निर्वन्ध और अवाधित है, किन्तु मृत्युलोक की मर्यादित और अनुशासित। किन्तु, स्वर्ग-

१. उर्वशी, पृ० ६६।
२. उपरिवत्, पृ० ६७।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्, पृ० ६८।

लोक की कामभावना अवाधित होते हुए भी मृत्युलोक की कामभावना के समान आकर्षक नही है। दिनकर ने यद्यपि पार्थिव प्रेम को अनुशासित और मर्यादित माना है, किन्तु उनकी दृष्टि मे पुरुप की प्रेमवृत्ति मे उच्छृंखता और मर्यादाहीनता है, जवकि सहधर्मिणी का प्रेम मर्यादित, शृंखलित और कुलपोषण के लिए होता है।

दिव्य नारी उर्वशी के प्रेम मे आकण्ठ निमग्न होकर पुरूरवा एक वर्ष के लिए गन्धमादन पर्वत पर चले जाते है। उस समय प्रिय से विप्रकृत, तिरस्कृत तथा उर्वशी द्वारा प्रताडित औशीनरी किस प्रकार अनिर्वचनीय मर्म-वेदना अनुभूत करती है, इसका बहुत ही मनोहारी वर्णन दिनकर ने प्रस्तुत किया है।

'काम' की वृत्ति को अत्यधिक महत्त्व देते हुए भी दिनकर ने गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा की द्विधा वृत्ति का ही वर्णन किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि पुरूरवा मे एक प्रकार की अनासक्ति है। रूप के आमन्त्रण से विवश हो जब वह उर्वशी को परिरम्भ-पाश मे आवद्ध कर लेना चाहते है तथा उनके रुधिर की वह्नि उत्तप्त हो उठती है, तव एकाएक उनके मन की वृत्ति विचलित हो जाती है। किन्तु, अनासक्ति और रूप की आराधना की यह भावना क्षणिक ही सिद्ध होती है। पुरूरवा रूप की आसक्ति मे आकण्ठ निमग्न हो जाते है। इतना ही नहीं, वरन् पुरूरवा उर्वशी के प्रणय-पाश मे आवद्ध हो जिस प्रेम की दाहकता का अनुभव करते हैं, वह स्वतः अपने स्वरूप में लोकोत्तर है। उससे मन के सारे द्विधा-द्वन्द्व, चिन्ता-भय मिट जाते हैं। प्रणय की अनुभूति शोणित की अनुभूति है, जो प्रणयी जन को अनिर्वचनीय स्थिति मे पहुँचा देती है। प्रणय का अनल जहाँ एक ओर दाहक है, वही अमृत-वर्त्तिका के समान शामक भी है और प्रणयी जन की कल्पनाशक्ति के द्वार को निर्मुक्त कर उसे कल्पक वना देता है :

> दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है अमृत-शिखा भी,
> नारी जब देखती पुरुष को इच्छा-भरे नयन से,
> नहीं जगाती है केवल उद्वेलन, अनल रुधिर में,
> मन में किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।

(उर्वशी : पृ० ४७)

प्रणयानुभूति पुरुष और नारी को विशिष्ट अवस्थिति प्रदान करती है तथा दोनों देह-बुद्धि से परे एक ही मूलसत्ता के प्रतिमान प्रतिभासित होते हैं, पुरुप और नारी अनन्यता की अनिर्वचनीय स्थिति मे पहुँच जाते हैं। यही अनन्य स्थिति पुरुष और नारी को उस अत्युच्च शिखर पर पहुँचा देती है, जहाँ दोनों तन का अतिक्रमण कर उस विराट् छवि के अगमात्र होते हैं, जो समग्र सौन्दर्य का आकार है और जहाँ प्रत्येक पुरुष शिव-सदृश और प्रत्येक नारी शिवा-सदृश प्रतीत होती है।

यद्यपि देह प्रेम की जन्मभूमि है, तथापि यदि पुरुष और नारी इस देह-भेद से ऊपर उठने का प्रयास करते हैं, तो दोनों उस ऊर्ध्व अवस्था को प्राप्त करते हैं, जिसमें विराट्

सौन्दर्य की आभा है और जिसमें पुरुष एवं नारी एक दूसरे के आकर्षण से अभिभूत होकर प्रकाश और शक्ति के पुंज प्रतीत होते है।

दिनकर ने तिमिर को शान्ति का व्यूह और अन्तर्मन की आभा प्रतिपादित किया है और यह सिद्ध किया है कि रात्रि एक ओर योग-जागर्त्ति का क्षण है, तो दूसरी ओर रस-पथिक प्रणयी जनो के आलिंगन मे समय के अतिक्रमण का क्षण भी है। उदग्र प्रणय की समाधि भी योग की समाधि के समान ऐकायनिक है :

> **निशा योग जागृति का क्षण है और उदग्र प्रणय की,**
> **ऐकायनिक समाधि; काल के इसी गह्वर के नीचे,**
> **भूमा के रस-पथिक समय का अतिक्रमण करते हैं,**
> **योगी बँधे अपार योग में, प्रणयी आलिगन में। (उर्वशी : पृ० ५३)**

एक ओर कवि रात्रि के समय के अतिक्रमण की बात करता है, तो दूसरी ओर समय के रुक जाने की, जिससे पुरूरवा उर्वशी मे समाहित त्रिभुवन के सौन्दर्य एवं त्रिकाल की सुरभि का आस्वाद कर सके।

प्रणय की प्रगाढ अनुभूति पुरूरवा मे यह चेतना जगाती है कि निखिल ब्रह्माण्ड मे एक ही परम तत्त्व का अस्तित्व है, जो नारी बन पुरुष को उद्वेलित करता है और पुरुष बनकर नारी के हृदय को बेधता है। दिनकर के अनुसार, प्रणय-प्रज्वलित हृदय मे जो झंकृतियाँ उठती है, वे शब्दातीत हैं। भाव-ज्वार से आलोडित पुरूरवा उर्वशी के प्रणय मे उन्मत्त होकर ऐसा अनुभव करते है कि वह उर्वशी के सनातन प्रणयी है और उर्वशी उनकी सनातन प्रणयिनी।

इस प्रकार, 'दिनकर' ने एक ओर अमरलोक के निर्बन्ध-निर्मुक्त प्रेम का आख्यान प्रस्तुत किया है, तो दूसरी ओर अनासक्त प्रणय-भावना का निर्वचन किया है तथा निष्काम कामभावना को महत्त्व प्रदान करते हुए योगी की समाधि एव रस-विभोर प्रणयी की समाधि को एक ही भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। इतना ही नही, वरन् निष्काम प्रेमिक-प्रेमिका को उन्होंने शिव-शिवा के समकक्ष ठहराया है और यह दिखाया है कि एक ही परम तत्त्व पुरुष और नारी के रूप मे प्रोद्भासित होकर एक दूसरे को अयस्कान्त के समान अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस प्रकार, उन्होने प्रेम के दैहिक, मानसिक, आत्मिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप को दिखाया है। देह के स्तर पर जो प्रेम मांसल और स्थूल है, वही आत्मा के स्तर पर आकर सूक्ष्म और वायवी हो जाता है। वस्तुत, अमर-लोक की निर्मुक्त कामभावना को उन्होने एक दार्शनिक आवरण प्रदान कर दिया है; किन्तु पुरूरवा कुछ सीमा तक उस निर्मुक्त कामभावना के पुरस्कर्त्ता बन गये है तथा उर्वशी तो उसका प्रतीक ही है। स्वर्गिक कामभावना के साथ पार्थिव कामभावना का वर्णन कर उन्होने दोनो के पार्थक्य एव वैशिष्ट्य को भी रेखाकित किया है। पार्थिव कामभावना के प्रतीक है सुकन्या और औशीनरी, जिनमे भोग की कामना न होकर

त्याग और ममत्व की अपरिसीम वृत्ति है। सुकन्या माता न होते हुए भी मातृत्व-भावना से ओतप्रोत है तथा औशीनरी की तितिक्षा-वृत्ति एवं पतिपरायणता अनन्य है।

सुकन्या ने अप्सरा और पार्थिव नारी का अन्तर इस प्रकार रेखांकित किया है :

> अप्सरियाँ जो करे, किन्तु हम मर्त्य योषिताओं के,
> जीवन का आनन्द-कोष केवल मधुपूर्ण हृदय है।
> हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
> न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है। (उर्वशी : पृ० ८५)

पुत्र आयु की आकस्मिक प्राप्ति के फलस्वरूप पुरूरवा असीम आनन्द का अनुभव करते है, किन्तु पुत्रप्राप्ति के साथ प्रिया (उर्वशी) का वियोग उनके लिए इस प्रकार असह्य हो उठता है कि वह उर्वशी को स्वर्ग से धरती पर लाने के लिए युद्धमना हो उठते है; किन्तु चन्द्रकुल के प्रारब्ध और अपने ही संचित प्रताप की बात अपने ही अन्तर्मन से सुनकर वह प्रतिक्रियास्वरूप कुमार आयु को किरीट सौंपकर तपःसाधना के लिए वन चले जाते है। वस्तुतः, काम के उपभोग के फलस्वरूप उनमे वैराग्य का उदय नहीं हुआ, वरन् काम के बाधित हो जाने पर वैराग्य का उदय हुआ, जो प्रतिक्रियास्वरूप ही है। किन्तु, तो भी यह वैराग्य समयोचित ही है और वह इहलौकिकता से पारलौकिकता के मार्ग को प्रशस्त करता है।

पुरुष कर्मविमुख हो उठता है, पर नारी औशीनरी आयु को अपना समग्र ममत्व देकर कर्त्तव्य के प्रदीप को प्रज्वलित रखती है। नारी की त्यागमयी, उत्सर्गशील वृत्ति की मिथकीय कथा को रूपक के अन्त मे समायोजित कर कवि ने इस रूपक के प्रभाव को अत्यन्त गम्भीर और सान्द्र बना दिया है :

> इतिहासों की सकल दृष्टि केन्द्रित, बस, एक क्रिया पर।
> किन्तु नारियाँ, क्रिया नहीं, प्रेरणा, प्रीति, करुणा हैं;
> उद्गम-स्थली अदृश्य, जहाँ से सभी कर्म उठते है। (उर्वशी : पृ० १२८)

इस प्रकार, हम देख सकते है कि दिनकर ने आकाश और धरती के मिथकीय स्वरूप को उर्वशी और पुरूरवा की ऐकान्तिक प्रणय-लीला में एवं उद्दाम कामभावना के विकास मे दिखाकर रूपक के अन्त में आकाशीय वृत्ति-रूप उर्वशी का तिरोधान एवं तज्जनित वेदना से उद्भूत पुरूरवा का ससार-त्याग दिखाया है; किन्तु सोलहो आने पृथिवी-तत्त्व औशीनरी की आयु के प्रति अपरिसीम ममता एवं करुणाविगलित सहज भावना दिखाकर यह प्रतिपादित किया है कि पृथिवी अपनी महिमा एवं गौरव मे अप्रतिम है तथा वह स्वर्ग का मार्ग-निर्देश कर सकती है।

△ हिन्दी-विभाग, कला-संकाय
म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा-२

साहित्यिक अनुस्मृतियाँ :

हिन्दी-संस्थाएँ और बिहार

●

पं० मदनमोहन पाण्डेय

शासन-परिवर्त्तन के साथ ही देश मे नई चेतना और नये युग का जागरण प्रारम्भ हुआ करता है। यो तो, उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध की अवधि बड़ी उथल-पुथल की थी। विदेशियो द्वारा दमन और उनका व्यावसायिक प्रभुत्व-विस्तार, जनता का विद्रोह, सांस्कृतिक क्रान्ति आदि अनेक कारणो के फलस्वरूप समग्र भारत मे एक नया सामाजिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक जागरण परिलक्षित होने लगा था। ऐसी स्थिति मे साहित्यिक क्षेत्र ही कैसे अछूता रह जाता। फलत, भाषा और साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा, जिससे नई चेतना नये परिवेश मे अँगड़ाई लेने लगी और विद्वन्मण्डली के प्रयास से यत्र-तत्र सभा-सोसाइटियाँ, क्लब-पुस्तकालय, कविसमाज-कविमण्डल आदि की स्थापना प्रारम्भ हो गई।

सन् १८९५-९६ ई० के लगभग भारतेन्दु बाबू के प्रयास से काशी मे 'कविसमाज' और 'कविमण्डल' की स्थापना हुई। इन दोनो साहित्यिक सघटनो के साहित्यिक कार्य-क्रमो मे 'समस्यापूर्त्ति' की प्रतियोगिता को बहुत महत्त्व दिया गया था। इस प्रतियोगिता मे बिहार के लगभग बीसों कवियों ने अपनी समस्यापूर्त्तियाँ भेजी थी और कई कवियो को पुरस्कार भी मिले थे। इसी अवधि के आसपास सकला (आरा)-निवासी बाबू भगवती-चरण तथा बाँकीपुर-स्थित बी० एन्० कॉलेज के कई छात्रों के प्रयास से पटना में 'कवि-समाज' की स्थापना हुई और पटना सिटी-स्थित हरिमन्दिर के महन्थ बाबा सुमेरसिंहजी को इसका सभापति बनाया गया। इस 'कविसमाज' को अयोध्या के श्रीमन्महाराज प्रतापनारायण सिंह बहादुर, महाराजकुमार त्रिलोकीनाथ और कवि लछिराम, कपूरथला के सरदार भगतसिंह, बलिया के महाराजकुमार राजेन्द्रप्रसाद देवजू, पं० अयोध्या सिंह, मार्कण्डेय कवि (चिरजीव), कवि शिवप्रसाद आदि का पूर्ण सहयोग तो मिलता ही था, साथ ही पंजाब, राजस्थान, युक्तप्रान्त (वर्त्तमान उत्तरप्रदेश) के कवि भी यदा-कदा समस्यापूर्त्ति द्वारा सहयोग देते थे। इस 'कविसमाज' ने 'समस्यापूर्त्ति'-पत्रिका भी निकाली थी, जिसके सम्पादक आरा-निवासी बाबू व्रजनन्दन सहायजी थे। इस समाज द्वारा हिन्दी की अच्छी सेवा हो रही थी। इसकी बैठकें महाविद्यालय-भवन मे होती, या फिर खड्गविलास प्रेस के भवन मे। इससे लोगो मे कविता की रुचि बढ़ी और कुछ नये कवि भी बने।

बीसवीं शती के आरम्भ मे, यानी सन् १९०१ ई० मे, आरा मे पं० सकलनारायण शर्मा के प्रयास से 'आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई, जिसकी सम्पन्नता का

श्रेय राजवैद्य पं० बालगोविन्द तिवारी एवं रामकृष्णदासजी को है। इसी अवधि मे मुजफ्फरपुर का 'नॉवेल रीडिंग क्लब' 'हिन्दी-प्रचारिणी सभा' का रूप ग्रहण कर चुका था, जिसका श्रेय पं० नारायण पाण्डेय वकील, बाबू वैद्यनाथप्रसाद सिंह, बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री (खड़ी बोली के उन्नायक) को दिया जाता रहा। पं० भगवान-प्रसाद चौबे ने भागलपुर की 'हिन्दी-सभा' के लिए पुस्तकालय-वाचनालय-भवन का निर्माण कराया। इस सभा ने गो० तुलसीदास के साहित्य के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से परीक्षाएँ प्रारम्भ कराईं। इसी तरह, लहेरियासराय की 'हिन्दी-प्रचारिणी सभा' भी सोत्साह हिन्दी-प्रचार मे संलग्न थी। 'गया हिन्दी-सभा' 'मन्नूलाल लाइब्रेरी' के साथ मिलकर हिन्दी-सेवा में कार्यरत थी। कहना न होगा कि गया की 'मन्नूलाल लाइब्रेरी' प्राचीन पाण्डुलिपियो का अतिशय महत्त्वपूर्ण सग्रहालय माना जाता है, जिसमे 'हिन्दी-सस्कृत की अनेक मूल्यवान् पाण्डुलिपियाँ सगृहीत है। डालटेनगज (पलामू) का 'हिन्दी-अभ्युदय-सभा' का नाम भी हिन्दीप्रेमियो द्वारा भुलाया नही जा सकता।

इसी शती के प्रथम दशक तक विहार के प्राय· सभी प्रमुख नगरो मे हिन्दी-हितैषणा की दृष्टि से सचालित किसी-न-किसी नाम से कोई-न-कोई सभा, गोष्ठी या समिति अवश्य थी। आर्यसमाज और आर्यप्रतिनिधि-सभाओ की शाखाएँ भी यत्र-तत्र फैली हुई थी। उनका ध्येय भी नागरी-लिपि और हिन्दी-भाषा का प्रचार था। इनके अलावा, कुछ राजदरबार भी थे, जहाँ हिन्दी-काव्य की चर्चा सदा होती रहती थी और कवियो को सम्मान-सत्कार एव प्रोत्साहन मिलता रहता था। ऐसे दरबारों के राजा स्वय साहित्य के निर्माता भी थे और बहुतो ने बहुत कुछ लिखा भी था। इन दरबारो मे गिद्धौर-दरबार, बनैली-दरबार, दरभंगा, डुमराँव, माँझी तथा सूर्यपुरा के दरबार प्रमुख थे। बड़े-बड़े जमीन्दारो के भी छोटे-मोटे दरबार थे, जिनमे सगीतज्ञ, कवि और साहित्यकार समादृत होते थे। इस क्षेत्र के साधु-सन्तों के मठ भी गोष्ठियो का काम करते थे। जैन, वैष्णव, शैव, सिक्ख, नानकपन्थी, कबीरपन्थी एव गोरखपन्थी महात्माओ के भी बहुत-से पीठ विद्यमान थे, जहाँ विभिन्न साहित्यो की रचना होती रहती थी और जनसाधारण मे उनका प्रचार-प्रसार होता रहता था। स्वयं इन महात्माओ ने भी रचनाएँ की और उनका छोटा-बड़ा संग्रह भी तैयार कराया।

इस शती के दूसरे दशक तक इन साहित्यिक सस्थाओ के सचालन मे संलग्न साहित्यसेवियो की एकमात्र स्पृहा थी कि अधिक-से-अधिक लोगो मे हिन्दी-साहित्य और भाषा का अनुराग बढे। उनमे न तो यश की लिप्सा थी, न ही पद का मोह। निश्चय ही, उनका यह कार्य प्रच्छन्न रूप से स्वतन्त्रता-सग्राम मे सहयोग की भावना से सम्बद्ध था। इसी युग-भावना ने इन संस्थाओ को जीवन और स्थायित्व दिया था। इस प्रकार, कुछ कर गुजरने की अभिलाषा, ईमानदारी और त्याग के बल पर साहित्य-सेवियो ने साहित्यिक संस्थाओ को आदर्श रूप देने की चेष्टा की थी। इसका एक कारण यह भी था कि उस समय प्रत्येक संस्था मे असफलता और सफलता के दुःख-सुख को

भुलाकर काम करनेवाले दो-चार लोग ही हुआ करते थे, जिनका अनुल्लंघनीय वर्चस्व था और उनकी बातें दूसरो को विना ननु-नच के मान्य थी।

'आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा' के कार्यकलाप, अध्यवसाय और प्रयास की श्लाघा करते हुए मुजफ्फरपुर के **बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री** ने उक्त सभा को पचास रुपये भेज-कर अनुरोध किया कि वह अपने सत्प्रयास से हिन्दी-विद्वानों और प्रेमियो का बड़े पैमाने पर साहित्यिक अधिवेशन आमन्त्रित करे। उस समय अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना नही हो पाई थी। सभा ने अधिवेशन आमन्त्रित करने का प्रयास किया, पर सफलता नही मिली। परन्तु, खत्रीजी के प्रयास, उद्यम और व्यय से हरिहरक्षेत्र मे औपचारिकता के निर्वाह-मात्र के लिए एक बैठकनुमा अधिवेशन आयोजित हुआ, उसके बाद फिर शिथिलता! फिर, कई वर्षो वाद, खत्रीजी ने डुमराँव (प्राचीन शाहाबाद जिला : वर्त्तमान भोजपुर) के **पं० उमापतिदत्त शर्मा** को आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से अधिवेशन आयोजित करने के लिए उत्साहित किया और अपनी ओर से व्ययभार वहन करने का भी आश्वासन दिया। दुर्भाग्यवश, शर्माजी के अकाल-कालकवलित हो जाने से सभा के कार्यकर्त्ताओं में निष्क्रियता आ गई। किन्तु, कुछ ही समय बाद 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने इस विचार को कार्यरूप मे परिणत करने की प्रशसनीय चेष्टा की और वह 'अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की जन्मदात्री वनी। इस प्रकार, मूलत: मुजफ्फरपुर ही 'सम्मेलन' की स्थापना (सन् १९१० ई०) के विचार का उद्‌गम-स्थान है।

सम्भवत., सन् १९१५ ई० मे, 'भागलपुर हिन्दी-सभा' के प्रयास से 'अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन भागलपुर मे सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। 'अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का नवम अधिवेशन बम्बई मे **पं० मदनमोहन मालवीय** की अध्यक्षता मे हुआ था, जिसमे **बाबू राजेन्द्रप्रसादजी**, बाद मे **'देशरत्न'** ने सम्मिलित होकर सम्मेलन का दसवाँ अधिवेशन पटना मे आमन्त्रित किया। सन् १९१९ ई० मे अधिवेशन की तैयारी पटना मे होने लगी। **राजेन्द्र बाबू** ने बेतिया के **श्रीपीर मुहम्मद मूनिस** को पटना-अधिवेशन की व्यवस्था के लिए बुला लिया था।

पटना से वेतिया वापस होते समय **मूनिस साहब** १० अक्टूबर को हिन्दीप्रेमी **श्रीवासुदेवनारायण** से मिलने भगवानपुर (मुजफ्फरपुर) पहुँचे। उन दिनो उनके पुत्र **श्रीरामधारीप्रसादजी** वही थे। बातो-बातो मे **रामधारी बाबू** के मन मे यह विचार कौंधा कि क्यो न प्रान्तीय सम्मेलन का भी सघटन 'अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के अधिवेशन के पहले कर लिया जाय। वस, **रामधारी बाबू** पर धुन सवार हो गई। वह मुजफ्फरपुर पहुँचे, वहाँ के मित्रो से मिले, विचार-विमर्श किया, कहीं हतोत्साह होना पड़ा, कही प्रोत्साहन भी मिला। **राजेन्द्र बाबू** को भी, जो उन दिनो छपरा मे अस्वस्थ थे, पत्र लिखा गया। **राजेन्द्र बाबू** ने तुरत पत्र देकर **रामधारी बाबू** को बढावा दिया। समाचार-पत्रो मे निवेदन (अपील) प्रकाशित हुआ और बहुत ही थोडे समय के वाद सोनपुर मे हरिहरक्षेत्र के मेले (कात्तिक पूर्णिमा) के अवसर पर, सन् १९१९ ई० के ८-९ नवम्बर को

हास्यारसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की अध्यक्षता में प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

राजेन्द्र बाबू ने उस समय के प्राय सभी प्रमुख नेताओ के साथ इस अधिवेशन मे भाग लिया। हिन्दी के प्रेमी डॉक्टर, वकील, अध्यापक, पत्रकार, प्रकाशक आदि का अच्छा जमघट हुआ और प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का शुभारम्भ हुआ। इसकी सफलता का श्रेय सर्वश्री बाबू रामधारीप्रसाद, बाबू राघवप्रसाद, लक्ष्मीनारायण गुप्त, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, लक्ष्मीनारायण सिंह और लतीफ हुसैन 'नटवर' को मिला, जिनके अथक परिश्रम और लगन से सम्मेलन की स्थापना हुई। मुजफ्फरपुर से इस सस्था का काम शुरू हो गया। सम्मेलन पर बाबू राजेन्द्रप्रसाद का वरद हस्त सदा बना रहा। मुजफ्फरपुर के जमीन्दार और रईस बाबू वैद्यनाथप्रसाद सिंह, जो उन दिनो म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन थे तथा जनप्रिय हिन्दीप्रेमी भी थे, इस संस्था के नवयुवक संचालको को सभी तरह की कठिनाइयो से उबारने के लिए सदा तैयार रहते थे—आर्थिक सहायता मे उदारता बरत कर, उन्हें आगे बढाने मे तत्पर रहते थे। निश्चय ही, वैद्यनाथ बाबू की यह आदर्श हिन्दी-सेवा कभी भुलाई नही जा सकती।

विदेशी शासन से मुक्ति के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की जो लड़ाई लड़ी जा रही थी, उसके कई मोरचे थे, जिनमे एक मोरचा भाषा और लिपि का भी था। स्वतन्त्रता की लड़ाई की सम्पूर्ण गतिविधि इस मोरचे को भी प्रभावित करती थी। स्वतन्त्रता-संग्राम के बुद्धिजीवी सैनिक, अन्य मोरचों पर लड़ने के साथ ही, भाषावाले मोरचे पर भी डटकर साथ देते थे। हमारे राज्य के तत्कालीन अधिकाश प्रमुख नेता प्राय: हिन्दी-भाषा के हिमायती और नागरी-लिपि के पोषक थे। यह भारत केवल एक देश ही नही, अपितु महादेश की सभी विशेषताओ से भरपूर एक विशाल भू-खण्ड है। यहाँ अनेक तरह की बोलियाँ, भाषाएँ, लिपियाँ, क्षेत्रीयता तथा परम्पराएँ जनमानस को उद्वेलित करती रहती है। इस खण्ड के वासी कतिपय महानुभाव अनपेक्षित व्यामोह में पड़कर, हृदय से हिन्दी-भाषा की आवश्यकता और महत्ता को स्वीकार करते हुए भी, विरोधी खेमे मे सम्मिलित होकर हिन्दी के विकास-विस्तार के मार्ग मे अवरोध उपस्थित करते रहे है और आज भी स्वातन्त्र्योत्तर भारत मे इस प्रवृत्ति का निर्मूलन नही हो पाया है। समग्र भारत को दृष्टि मे रखकर राष्ट्रीय एकता को आदर देने की भावना अभी तक इस देश के जनमानस मे घर नही कर पाई है। ऐसी बात नही कि इस ओर चेष्टाएँ नही हुई, परन्तु लोगो का दृष्टिकोण नही बदला!

संघटित रूप से राज्यव्यापी हिन्दी-हित के कार्य करने के उद्देश्य से सम्मेलन का शुभारम्भ आवश्यक था। सम्मेलन को प्रारम्भ से ही घोर कठिनाइयो का सामना करना पड़ा, पर जो कुछ भी थोड़ा-बहुत जनसहयोग मिलता रहा, उससे उत्साह में वृद्धि ही हुई। फलस्वरूप, इस शती के चौथे दशक तक बिहार के प्राय. प्रत्येक नगर मे विभिन्न नामों से अनेक साहित्यिक सघटन स्थापित हुए। सन् १९४० ई० मे ऐसी चौबीस संस्थाएँ

प्रान्तीय सम्मेलन से सम्बद्ध थीं, जिनमे कुछ तो बहुत ही प्रभावशाली थी। उनके अतिरिक्त, असम्बद्ध सस्थाएँ भी सम्मेलन के उद्देश्यो और कार्यक्रमों का अनुसरण करती थी।

सर्वप्रथम मुजफ्फरपुर मे, सन् १९२२ ई० मे स्थापित 'पद्यपाठ-परिषद्' ने दूसरे वर्ष ही 'हिन्दी-साहित्य-परिषद्' का नाम ग्रहण कर काव्यपाठ, समस्यापूर्त्ति, लेखपाठ आदि साहित्यिक कार्यक्रमो द्वारा, पर्याप्त लोकप्रियता आयत्त कर ली। मुँगेर की 'हिन्दी-साहित्य-परिषद्', गोगरी (मुँगेर) की 'हिन्दी-साहित्य-सभा' और पूर्णिया, मुजफ्फरपुर, चम्पारन, सन्तालपरगना, शाहाबाद, दरभगा आदि जिलो के जिला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अपने-अपने क्षेत्र मे कार्यरत थे। छपरा की 'शारदा नवयुवक-समिति', बाढ़ की 'नागरी-प्रचारिणी सभा', बिहारशरीफ का 'विहार-हिन्दी-पुस्तकालय', गया की 'हिन्दी-साहित्य-सभा', लालगज (प्राचीन जिला मुजफ्फरपुर : अब वैशाली) की 'हिन्दी-हितैषिणी सभा', फुलवरिया (चम्पारन) का 'श्रीजनहितैषी पुस्तकालय', खैरा (मुँगेर) का 'सरस्वती पुस्तकालय', वरैठा (पूर्णिया) का 'मदनगोपाल पुस्तकालय', मधुबनी का 'युवक वाचनालय' आदि संस्थाओ द्वारा किये गये व्यापक हिन्दी-प्रचार-प्रसार की अतिशय श्लाघा होती थी। मुजफ्फरपुर का 'सुहृद्-सघ' तो अपनी ख्याति के शिखर पर था। हमारा अनुमान है कि तीसरे और चौथे दशकों मे बड़े-बड़े गाँवो, कसबो और नगरो मे लगभग डेढ-दो सौ छोटी-मँझोली विभिन्न नामो की सस्थाएँ स्थापित हुई होगी, जो किसी-न-किसी रूप मे जनचेतना के उद्बोधन-परिमार्जन का काम कर रही थी। इन सभी संस्थाओ पर प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य ही रहा।

इन्ही दिनों, पटना नगर के कदमकुआँ मुहल्ले मे 'हिन्दी-साहित्य-परिषद्' का कार्यालय था, जिसका संचालन नौवतपुर (पटना)-वासी **बाबू अम्बिकाकान्त सिंह** करते थे, जो उस समय प्रसिद्ध अँगरेजी-दैनिक 'सर्चलाइट' के व्यवस्थापक थे। वही 'यूथ लीग' यानी 'युवक-सघ' का भी केन्द्र था। इस 'लीग' के तीन प्रमुख सदस्य उस समय प्रख्यात थे : **श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, बाबू गंगाशरणसिंह और श्रीअम्बिकाकान्त सिंह।** **अम्बिकाकान्तजी** का जनजीवन से अच्छा सम्पर्क था और लोगो पर उनका अच्छा प्रभाव भी था। वह मस्त स्वभाव और शौकीन मिजाज के थे। साहित्यिक सभाओ और गोष्ठियों के आयोजन, नाटक-मण्डलियों द्वारा नाटको के मचन आदि मे ही उनका समय बीतता था। उन दिनो उनकी मण्डली द्वारा प्रस्तुत होनेवाली 'वृन्दावनलीला' के प्रदर्शन की वड़ी चर्चा थी, जिसके कई शानदार अभिनय भी हुए।

प्राय अधिकांश बडे-बडे वँगलाभाषी परिवारो मे **अम्बिकाकान्तजी** का समादर था, उनके वे बन्धु थे। उन्होने सन् १९२४ ई० मे युवक-सघ की स्थापना कर सन् १९३१ ई० तक उसका अकेले सचालन किया। इस कार्य मे उन्हें पटना के हिन्दीप्रेमी युवको, वकीलों, न्यायाधीशों, अध्यापको आदि प्रबुद्ध जनो का भरपूर सहयोग मिला। सन् १९३१ ई० में उन्होंने स्वनामधन्य कवि **श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी** की अध्यक्षता मे बी० एन्० कॉलेज मे

बृहत् अधिवेशन के आयोजन की व्यवस्था की और उस मंच पर पटना के विभिन्न विभागों के उच्चपदाधिकारी, बैरिस्टर, हाइकोर्ट के जज, वकील, अध्यापक सभी को एकत्रित किया। उस अधिवेशन मे बाबू सच्चिदानन्द सिन्हा, जो स्वयं बैरिस्टर, पत्रकारिता के आचार्य, स्वाध्यायप्रेमी, बिहार के उन्नयन-कार्य के प्रमुख स्तम्भ एवं अतिशय प्रसिद्ध प्रभावशाली व्यक्ति थे, सम्मिलित हुए थे। अँगरेजी के विद्वान् सिन्हा साहब हिन्दुस्तानी और उर्दू के पक्षपाती थे और हिन्दी के भविष्य के प्रति शंकाग्रस्त थे। उन्होने इस आयोजन को देखकर और इसमे किये गये चतुर्वेदीजी के भाषण से प्रभावित होकर कहा : 'हमने आज समझा कि हिन्दी मे सामर्थ्य है, बल है, प्रभाव है और इसके द्वारा सब कुछ कहा जा सकता है। मै तो अवाक् रह गया, मुग्ध हो गया !' किन्तु, असहयोग-आन्दोलन में युवक-संघ ('यूथ लीग') के सदस्यो के जेल चले जाने से इस संस्था का अन्त हो गया ! फिर भी, सात वर्षों की अवधि मे की गई इसकी अनुकरणीय सेवा हिन्दीप्रेमियो के बीच चर्चा का विषय बनी रही।

'बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का कार्यालय मुजफ्फरपुर मे लगभग १५ वर्षों तक रहा। 'हिन्दी-भाषा-प्रचारिणी सभा' की केवल ६०० पुरानी पुस्तको से एक वाचनालय-पुस्तकालय आरम्भ किया गया था, जो सन् १९३४ ई० के प्रलयंकारी भूकम्प मे नष्ट हो गया। उस समय उसमे लगभग डेढ हजार पुस्तके एकत्र हो चुकी थी। मुजफ्फरपुर के सम्मेलन-कार्यालय मे ही सन् १९२६ से १९२९ ई० तक एक आशिक विद्यालय की भी व्यवस्था की गई थी, जिसमे पटना-विश्वविद्यालय की आइ० ए० और बी० ए० परीक्षाओं मे हिन्दी लेकर सम्मिलित होनेवाले छात्रो को हिन्दी का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता था। कुछ दिनों बाद, कॉलेज में हिन्दी-प्राध्यापक की नियुक्ति हो जाने से उस विद्यालय को बन्द कर देना पड़ा। उस विद्यालय मे स्वयं **श्रीरामधारीप्रसादजी** अध्यापन का कार्य बड़े उत्साह और लगन से करते रहे। प्रान्तीय सम्मेलन के सत्प्रयास से सन् १९३८-३९ ई० मे बिहार के प्राय सभी कॉलेजो मे हिन्दी की पढाई की व्यवस्था हो चुकी थी।

सन् १९३६ ई० मे प्रान्तीय सम्मेलन का प्रधान कार्यालय पटना लाने का निर्णय किया गया। उस समय तक सम्मेलन के तेरह अधिवेशन हो चुके थे। दुर्भाग्यवश, पटना-विश्वविद्यालय की परीक्षाओं मे हिन्दी के प्रवेश तथा कचहरियो मे नागरी-लिपि के प्रयोग के विरोध के साथ ही बिहार-सरकार की 'भाषा-सर्वाद्धिनी समिति' द्वारा की गई हिन्दी-उर्दू को हाइ स्कूलो के छात्रो के लिए अनिवार्य विषय बना देने की अनुशसा का भी विरोध आंशिक रूप से सफल हो गया था। 'समिति' की अनुशंसा के विरोध के परिणाम स्वरूप, हिन्दी के पक्ष में जनजागरण प्रबल हो गया और इस आन्दोलन मे विभिन्न प्रकार की समितियो, सभाओ, पार्टियो, सार्वजनिक सस्थाओ, वाणिज्य-मण्डल आदि ने सम्मेलन का साथ दिया। यह एक अभूतपूर्व और सुसघटित आन्दोलन था। सम्मेलन का इन तेरह वर्षों का बाल्यकाल केवल कठिनाइयो का, चुनौती का और बेचैनी का ही नही था, अपितु हिन्दी की प्रगति के मार्ग मे अड़गे, अटकाव, विरोध और संघर्ष का भी युग था। फिर भी, भाषिक संघर्ष में

रत सभी योद्धाओं और नेताओं के अनवरत परिश्रम, त्याग और लगन ने उन्हें कभी हतोत्साह नहीं होने दिया।

कचहरियों और पुलिस-विभाग मे रोमन-लिपि का धड़ल्ले से प्रयोग अँगरेजों के आने के साथ ही प्रारम्भ हो चुका था। क्रिश्चियन मिशनरियो ने आदिवासी-क्षेत्र—छोटानागपुर और सन्तालपरगना मे बच्चो की पढाई के लिए सन्ताली, उराँव, मुण्डा और हो-भाषाओ की पुस्तकें रोमन-लिपि में तैयार कराकर इस क्षेत्र में अपना अँगरेजी-रोमन प्रभाव स्थापित कर लिया था। इस दिशा में भी सम्मेलन का ध्यान था, पर अर्थाभाव के साथ ही कर्मठ, सहनशील और योग्य कार्यकर्त्ताओं के अभाव मे उसकी असमर्थता रही।

सन्तालपरगना के हिन्दीप्रेमी उत्साही कार्यकर्त्ताओ मे सर्वश्री **पं० शिवराम झा, रामेश्वरप्रसाद शरण, महेश्वरप्रसाद झा, पं० विनोदानन्द झा** आदि के प्रयास से देवघर मे, सन् १९२८ ई० मे 'हिन्दी-विद्यापीठ' की स्थापना हुई। 'विद्यापीठ' ने सन्तालपरगना मे हिन्दी के प्रचार-प्रसार और शिक्षण-प्रशिक्षण के विकास का व्यापक कार्यक्रम बनाया। 'गोवर्द्धन-साहित्य-महाविद्यालय' की स्थापना हुई। इस पीठ ने सन्तालपरगना के ग्रामीण क्षेत्रों मे हिन्दी-पाठशालाएँ खोलकर नागरी-लिपि द्वारा सन्ताली-भाषा के साथ ही हिन्दी पढाने का भी कार्यक्रम प्रारम्भ किया और उसके लिए अलग विभाग ही खोल दिया। उन दिनो उस साहित्य-महाविद्यालय के प्रधानाचार्य **पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव'** थे। 'बिहार-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा सन्तालपरगना मे हिन्दी-प्रचार के लिए एक समिति बनाई गई थी। **कैरवजी** उसके एक प्रभारी उत्साही सदस्य थे, जिन्होंने साहित्य-महाविद्यालय मे पढनेवाले सन्ताली छात्रो को हिन्दी-प्रचार के लिए प्रशिक्षित किया, जिससे वे छात्र सन्ताली-भाषा की बातें नागरी-लिपि मे लिखने-पढने लगे और उनके सहयोग से सुदूर गाँवो मे हिन्दी की कई पाठशालाएँ खुल गई। प्रान्तीय सम्मेलन ने नागरी-लिपि मे सन्ताली-भाषा की कई छोटी प्रारम्भिक पोथियाँ तैयार कराई। 'विद्यापीठ' के ग्रामपाठशाला-विभाग के उद्योग और 'सन्ताल पहाड़िया सेवा-मण्डल' के सहयोग से सन् १९४० ई० तक लगभग दो सौ हिन्दी-सन्ताली-पाठशालाएँ ग्रामीण क्षेत्रो मे काम कर रही थी। पुण्यश्लोक **कैरवजी** तथा उनके अन्य मित्रो ने इस दिशा मे पर्याप्त परिश्रम किया और उन्हे अच्छी सफलता भी मिली। देवघर मे इन्ही लोगों के प्रयास से 'सन्तालपरगना हिन्दी-साहित्य-परिषद्' की स्थापना हुई। 'हिन्दी-विद्यापीठ' की परीक्षाएँ तो भारत के अन्य प्रान्तो मे भी प्रिय हो चली थी और अपने प्रान्त के सभी स्वायत्तशासी संस्थाओ ने मान्यता देकर, शिक्षा-विभाग मे कार्यरत शिक्षकों को परीक्षा देने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार, 'हिन्दी-विद्यापीठ' हिन्दी के उन्नयन का प्रमुख केन्द्रस्थल बन गया और देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद सन् १९३६ ई० से आजीवन कुलाधिपति रहकर इस विद्यापीठ का मार्गदर्शन करते रहे।

सन् १९३६ ई० मे प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-कार्यालय का पटना आ जाना सम्मेलन के नये युग का आरम्भ माना जाता है। भूकम्प के कारण मुजफ्फरपुर मे इसकी स्थिति विपन्न हो चुकी थी। नये सिरे से नई योजनाओं के साथ कार्य प्रारम्भ करने के

लिए पटना के अँगरेजी-दैनिक 'सर्चलाइट' के तत्कालीन व्यवस्थापक पं० छविनाथ पाण्डेयजी को उनके हिन्दीहितैषी मित्रों और अन्यान्य हिन्दीप्रेमियों ने मन्त्री बनाकर उन्हें सम्मेलन का कार्यभार सौंप दिया। पण्डितजी की लगन, परिश्रम, प्रभाव और सूझ-बूझ का ही फल था कि सन् १९४२ ई० तक प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन एक सबल और सम्पन्न संस्था का रूप ग्रहण कर सका। इस अवधि में पाँच अधिवेशन बेगूसराय, आरा, राँची, झरिया एवं मोतिहारी में सम्पन्न हुए। दिनानुदिन सम्मेलन का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता गया। संघर्ष कठिन होता गया। संघर्ष के प्रमुख मुद्दे थे—कचहरियों में रोमन और अरबी-फारसी-लिपि के स्थान पर नागरी-लिपि का व्यवहार तथा शिक्षा में हिन्दुस्तानी या कॉमन लैंग्वेज की जगह हिन्दी-भाषा के माध्यम की प्रतिष्ठा।

पं० छविनाथ पाण्डेयजी को पुस्तक-संग्रह करने का व्यसन था। कलकत्ता में उनके मित्र श्रीबजरंगलाल लोहिया थे, उनका भी शौक अप्राप्य पुस्तकों के संग्रह का था। उनके सहयोग, प्रयत्न और परिश्रम से, मितव्ययिता के साथ, पण्डितजी ने सन् १९४२ ई० तक सम्मेलन के पुस्तकालय में लगभग साढ़े ग्यारह हजार पुस्तकें एकत्र कर दी, जिनमें साहित्यिक महत्त्व के एक-डेढ़ सौ अप्राप्य पुस्तकें भी थीं। पुरानी पत्र-पत्रिकाओं का भी अच्छा-खासा संग्रह वहाँ हो गया था। देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने सन् १९४२ ई० का आन्दोलन छिड़ने के पहले पण्डितजी को बुलाकर कहा कि 'आन्दोलन छिड़नेवाला है, जब्ती आदि से हमारा अपना संग्रह बरबाद हो जायगा, अतएव इसे ले जाकर सम्मेलन-पुस्तकालय में सुरक्षित कर दीजिए।' राजेन्द्र बाबू के संग्रह में लगभग चार सौ पुस्तकें थीं, जिनमें कुछ तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण थीं। पुस्तकें सम्मेलन में लाई गईं। किन्तु, पुस्तकालय-पंजी में वे अंकित भी न हो पाई थीं कि पण्डितजी जेल चले गये। सम्मेलन में जो देखभाल करनेवाले रह गये थे, उन्हें मौका मिला और वह संग्रह वहाँ से वाष्पवत् विलीन हो गया! पण्डितजी के सम्मेलन से हट जाने पर वहाँ के तत्कालीन व्यवस्थापकों ने पुरानी पत्र-पत्रिकाओं के संग्रह के साथ ही नई पत्र-पत्रिकाएँ भी रद्दी के भाव बेच दीं! दुर्भाग्य यह है कि हम पुरानी चीजों का महत्त्व नहीं समझते और अपने छोटे-से स्वार्थ के लिए राष्ट्रीय धरोहर के साथ खिलवाड़ किया करते हैं!

स्वतन्त्रता-पूर्व सम्मेलन ने उन्नीस अधिवेशन किये थे। इन अधिवेशनों के महत्त्वपूर्ण अध्यक्षीय भाषण शोध-अधीतियों के लिए निश्चय ही नई दिशा के संकेतक सिद्ध होंगे। इसी प्रकार, अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों का भी अपना विशिष्ट महत्त्व इसलिए है कि उनसे हिन्दी की विभिन्न समस्याओं और उनके लिए किये गये विविध समाधानों की अतिशय रोचक जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। कुल मिलाकर, बिहार की हिन्दी-संस्थाएँ, राजनीति और साहित्य के सहज सनातन पारस्परिक वैमनस्य और विरोध के बीच अपने सारस्वत अस्तित्व की रक्षा के लिए सतत संघर्षरत रहने की करुण मर्मकथा प्रस्तुत करती हैं।

△ ३वी, राजेन्द्रनगर, पटना-८०००१६

संस्मृति-अर्चन :

राहुलजी के कतिपय अनास्वादित प्रसंग

श्रीप्रभुनारायण विद्यार्थी

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनजी गत्यात्मक व्यक्तित्व के पर्याय थे। वह कभी किसी खूँटे से बिना बँधे आजीवन 'चरैवेति-चरैवेति' के उपासक बने रहे। कभी वह वैरागी महन्थ थे, कभी आर्यसमाजी और कभी उन्होने काँगरेस को अपनी सेवाएँ दी। कभी महात्मा गान्धी से प्रभावित हुए, तो गान्धीवादी बने, कभी भगवान् बुद्ध की शरण मे जाकर उन्होने बौद्धसाहित्य और पालि-भाषा का उद्धार किया। अन्तिम जीवन मे वह साम्य-वादी बने रहे। वह मुख्यत. शोधकर्मी, साहित्यिक, इतिहासवेत्ता, बहुभाषाविद् एवं प्राध्यापक के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होते है। वह ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तित्व रखते थे कि एक साथ ही अट्ठारह भाषाओ के छात्रो को बैठाकर श्रुतलेखन-कार्य सम्पन्न कराते थे। उनकी धर्मपत्नी डॉ० कमला सांकृत्यायन कहती है कि वह एक कप चाय पीकर अविराम अट्ठारह घण्टे तक लेखन-कार्य कर सकते थे। जीवनपर्यन्त उन्होने अपार कष्ट भोगकर प्रतिभाएँ पैदा की। महाकवि गेटे के शब्दो मे अनन्त कष्टो को सहने की क्षमता का नाम ही प्रतिभा है।

उन्होने जीवन भर अपार कष्ट सहे और अन्तत. वह अनीश्वरवादी बन गये। ईश्वर को उन्होने मनुष्य का मानसपुत्र कहा और पुनर्जन्म एव पूर्वजन्म के बखेड़ो से हटकर इस जीवन को अन्तिम जीवन माना। वह बड़े आत्मविश्वास के साथ कहते थे कि आजकल अपने सेकेण्डो के बारे में तो कसम नही खा सकता, लेकिन अपना कोई भी पूरा एक मिनट मैं बेकार नही जाने देता। ऐसी थी उनकी समय-साधना और जीवन-क्षणो का सदुपयोग। सन् १८९३ ई० के ९ अप्रैल को इस ज्ञान-भास्कर का उदय आजमगढ के कनेला गाँव मे हुआ था, जो सत्तर वसन्तो तक अपनी ज्ञान-रश्मियों का सौरभ बिखेरता, विश्व के विभिन्न क्षितिजो पर प्रभासमान होता हुआ सन् १९६३ ई० के १४ अप्रैल को ज्ञानपुंज की अपार धरोहर छोड़कर सदा के लिए तिरोहित हो गया!

राहुलजी अपने जीवन के उन्नीसवे वर्ष, सन् १९१२ ई० में ही, छपरा के परसा मठ के लक्ष्मणदासजी से शिक्षा लेकर वैरागी हुए और केदार से रामोदारदास बन गये। सन् १९२२ ई० के १९ अक्टूबर को वह छपरा जिला-काँगरेस-कमिटी के मन्त्री चुन लिये गये। सीवान तब छपरा-जनपद का एक अनुमण्डल था। उस समय जिला-काँगरेस का सचिव

होना फूलो की शय्या नहीं था, बल्कि तूफान में चलने का एक संकल्प था। वह असहयोग-आन्दोलन में कूद पड़े। सीवान, महाराजगंज, गोरियाकोठी, सिसवन, खेढाय, भागर, बालबँगरा आदि स्थानो में घूम-घूमकर ओज पूर्ण वक्तृत्व, चरखा एव खद्दर-प्रचार, मादक द्रव्य-निषेध, विदेशी वस्तुओ का वहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओ का प्रचार, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय शिक्षा-प्रसार आदि जनसेवा के कार्यो मे जुट गये। सन् १९२१ से १९२७ ई० तक सर्वश्री **दाढ़ी बाबा, वासुदेवप्रसाद, रामलखन सिंह, श्यामदेवनारायण, चन्द्रिका सिंह, नारायणप्रसाद सिंह** आदि के सम्पर्क मे रहकर सीवान के विभिन्न क्षेत्रों मे स्वाधीनता का अलख जगाते रहे। इन्ही दिनो चौरीचौरा-काण्ड पर अपनी प्रतिक्रिया उन्होंने इन ओजस्वी शब्दो मे व्यक्त की थी : 'चौरीचौरा-काण्ड मे शहीद होनेवालों का खून देशमाता का चन्दन होगा !' वह अहर्निश देशसेवको को प्रबोधन देते रहे, उन्हे उत्प्रेरित करते रहे और स्वतन्त्रता-सेनानियो का एक ऐसा वर्ग तैयार किया, जो राष्ट्रीय आन्दोलन मे हविष्य का काम कर सके। राष्ट्रीय यज्ञ के साथ-साथ वह ज्ञान-साधना की मशाल भी जलाते रहे।

राहुलजी महाकरुणावादी बौद्धधर्म की स्वीकृति के साथ ही यायावर एवं खोजी बनकर देश-विदेश की यात्रा मे लग गये। सन् १९३२ ई० मे वह बिहार समाजवादी-दल के मन्त्री बने। राजनीति उनके आत्मज्ञान से जुड़ गई थी। रूस की सर्वहारा क्रान्ति ने उन्हें साम्यवाद की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी। सन् १९३९ ई० मे वह रूस आदि की यात्रा समाप्त कर साम्यवादी हो गये। वह किसी भी रूप मे पूँजीवाद को देखना नहीं चाहते थे। उन्होंने भारतीय जमीन्दारो की शोषण-नीति को नजदीक से देखा था और उनके विरुद्ध किसान-आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। किसान-आन्दोलन मे उन्हें **स्वामी सहजानन्द सरस्वती** का योगदान प्राप्त था।

राहुलजी ने सीवान के अमवारी एव छितौली गाँवो मे किसान-आन्दोलन का सूत्रपात किया। उन्होने **रामवृक्ष बेनीपुरी** द्वारा सम्पादित 'जनता' पत्र मे सन् १९३९ ई० की २६ जनवरी को अमवारी के पीडित किसानो पर कलम उठाई। उन्होने सविस्तर उनकी दर्दनाक स्थिति का वर्णन किया "अमवारी गाँव थाना रघुनाथपुर के उन गाँवो मे है, जहाँ सन् १९३५ ई० साल को छोडकर सन् १९३४ ई० से बाढ के वक्त पानी से करमी का साग निकालकर लोग नून के साथ खाते थे। इन मनुष्य-सन्तानो को देखकर मुझे तो खयाल होता है कि क्या इन्हे धर्म और भगवान् के नाम पर चुप रहकर सब कुछ सहने की बात सिखलाई गई है। आज यदि किसी दूसरे मुल्क मे ऐसी अवस्था होती, तो वहाँ के भुखमरों की पलटन महलो मे आग लगा देती। मोटी तोदवालो के शीशमहलों को जलाकर खाक कर देती। यह असह्य है। मनुष्य का इतना पतन हो सकता है !"

बिहार मे अन्तरिम काँगरेसी सरकार के कायम होने पर जमीन्दारो मे खलबली मच गई और उन्हे मालूम होने लगा कि बकाश्त जोतनेवालो का भूमि पर हक हो जायगा।

काश्त में भी जोत पर आसामी का हक हो जायगा। उन्होंने आगे लिखा है . "कांगरेस-सरकार के प्रचार के कारण लोगो ने हरी, बेगारी आदि अन्यायों का भी कुछ हल्का-सा विरोध करना शुरू कर दिया है। अमवारी गाँव मे हरेक किसान अपने मालिक को बैल पीछे कातिक मे तीन हल और आषाढ मे तीन हल, कुल ६ हल मुफ्त बेगार देता जा रहा था। इसके अतिरिक्त, महीनो दूध लेकर मालिक दूध के दाम देने की जरूरत नही समझते थे। रैंयत के घर की लौकी, कद्दू और दूसरी तरकारी मालिक की अपनी चीज थी। तेली से पक्का दो मन खली और चिराग जलाने के लिए कोल्हू पीछे पाँच सेर तेल मुफ्त लिया जाता था।"

किसान-आन्दोलन के तत्कालीन कारणो का वर्णन करते हुए राहुलजी ने लिखा है : "पिछले आषाढ मे हमेशा की तरह अबकी बार मालिक ने हरी माँगी, लेकिन किसानो ने सिर्फ इतना ही कहा—थोड़ा जोत लेने दीजिए, फिर हरी देंगे। मालिक तो, आसामी का खेत चाहे परती रहे, अपना खेत जोतना चाहते थे। इस तनातनी मे कुछ लोग हरी-बेगारी न दे सके। बीच मे बाढ आ गई, इसलिए उसकी जरूरत न रह गई और मालिक की तरफ से जोर-जुल्म हुआ। कार्त्तिक मे भी यही बात हुई। किसानो का ऊख, जो जमीन मे लगा था और जिसे किसान २५-२५, ३०-३० वर्षो से जोतते आये थे, उसको काटकर हाथी को खिला दिया जाता या नष्ट करा दिया जाता।" राहुलजी ने आगे लिखा है : "कुएँ-तालाब मे कूदकर मरने की तो कानून उन्हे इजाजत नही देता, फिर उनके लिए दूसरा रास्ता क्या है? सिवाय इसके कि जिस खेत को वे अबतक जोतते आते है, उन्हे अब भी जोतने देना चाहिए। जिन खेतो के जोतने का प्रबन्ध मालिक ने नही किया, उनको लेकर उन्हे क्यो पाँच सौ बीघे का काश्तकार बनने दिया जाय?"

राहुलजी के निर्देशन मे किसानो मे जो आत्मबल जागा, उसके परिणाम की समीक्षा करते हुए वह लिखते है : "अमवारी के किसान निश्चय कर चुके है कि हम अपने खेतो को नही छोड़ेगे, इसके लिए जो कुछ भी हो। चाहे दफा १४४ चलाई जाय, चाहे दफा ११० लगाकर बदमाशी का मुकदमा चलाया जाय, चाहे दफा ३७९ मे चोरी का इलजाम लगाया जाय। बाकी मालगुजारी लगाकर प्राय सभी रैंयतों से सादे कागज पर अँगूठे का निशान लिया गया है और चन्द्रेश्वर सिंह का परिवार नालिश करने की धमकी दे रहा है। लेकिन, यह निश्चित है, यदि जिला के अधिकारियो ने बुद्धिमानी से काम नहीं लिया, तो अमवारी गाँव छपरा जिले का रेवरा बनने जा रहा है। किसान जिस नरक की जिन्दगी बिताते चले आ रहे है, उसके सामने जेल मे रहना उन्हे स्वर्ग मालूम होगा।"

छितौली में भी राहुलजी के निर्देशन में किसान-आन्दोलन हुआ। छितौली गोरियाकोठी के निकट का एक गाँव है। वहाँ भी ४८९ बीघे बकाश्त जमीन का झगड़ा था। पुराने सर्वे के समय यह पूरी जमीन किसानों के नाम पर थी। सत्तासी बीघे जमीन जमीन्दार के नाम बकाश्त की तरह और ४०२ बीघे जमीन काश्त की तरह किसानों के

नाम दर्ज हुई। सत्तासी बीघे काश्त की तरह किसानों के नाम दर्ज हुई ८७ बीघे बकाश्त जमीन भी किसानों के कब्जे में थी। लेकिन, सर्वे में दर्ज होने और उसपर उनका कब्जा होने पर भी तत्कालीन जमीन्दार अशर्फीलाल शाह मनमानी तरह से उन्हे अपनी चीज माने हुए थे। किसानो से वसूली भी करते थे।

श्रीशाह ने ४० बीघे जमीन का नजदीकी गाँव के किसानो के नाम बन्दोवस्त कर दिया था। उनमे और किसानो मे आपस मे अलगाव पैदा हो गया था और पचायत की बात की जा रही थी। पंचायत की बात आई, तो राहुलजी ने उसकी स्वीकृति दी। सन् १९३९ ई० की २८ फरवरी को जिला कांगरेस-कमिटी के सभापति महामायाप्रसाद सिन्हा, उपसभापति कमला राय तथा प्रान्त के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता नारायणप्रसाद सिंह के साथ कलक्टर आये और पचायत की बात तय हुई। जमीन्दार और किसान की ओर से एक-एक पंच और सरपच तथा एक सरकारी अफसर रखे गये। सरकारी अफसर के लिए तीन नाम कलक्टर ने दिये, जिनमे शमशेर जंगबहादुर के नाम की स्वीकृति राहुलजी ने दी। लेकिन, कलक्टर का कहना था कि चन्द्रेश्वर सिंह पंचायत मानना नही चाहते है।

राहुलजी ने पहली वार अमवारी-सत्याग्रह के अवसर पर विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का त्याग कर जनभाषा मे सामाजिक वैषम्य को अभिव्यक्त किया, जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने अपने सदुपदेश संस्कृत मे न देकर लोकभाषा पालि मे दिया। उन्होंने कहा :

एके भाई बापवा के एक ही ओदरवा से
दुनू के जनममा भइले रे पुरुखवा,
बेटा के जनमियाँ में नाच और सोहर होवे,
बेटी के जनममा में सोग रे पुरुखवा।

राहुलजी ने भोजपुरी-भाषा मे ही गरीबो को उद्बोधित किया :

उठ उठ रे भुखमरुवा, उठ रे धरती के अभगवा,
न रहले अब सब कुछ होइबे, नई नेंव पड़त बा जगवा।

राहुलजी ने सत्याग्रह छेड़ दिया और शनैः-शनैः वह जोर पकड़ता गया। सन् १९३९ ई० की २४ फरवरी को अमवारी के खेतो पर राहुलजी ने सत्याग्रह किया और अन्तरिम कांगरेस की सरकार ने उन्हे गिरफ्तार कर लिया। उनपर ३५९ दफा लगाई गई। जमीन्दारों के संकेत पर हाथी के पीलवान कुर्बान मियाँ ने लाठी का भरपूर वार राहुलजी के सर पर किया। कहते है, उनके सर से कुछ तोले रक्त निकले। इसी दृश्य पर प्रिंसिपल मनोरंजनप्रसाद ने—'राहुलजी के सर से खून बहे, यह खून फिर से क्यो न उबल पड़े ?' कविता लिखी। इधर आन्दोलन उग्र रूप धारण करने लगा और सन् १९३९ ई० की २६ फरवरी को अमवारी-सत्याग्रहियो पर आक्रमण हुआ, जिसमे १५ व्यक्ति सख्त रूप से

घायल हुए, २६ व्यक्ति पुलिस द्वारा गिरफ्तार किये गये। कहा जाता है कि सत्याग्रहियो को कुचलने में हाथियों की मदद ली गई।

इस तरह, सत्याग्रह को दबाने की जितनी कोशिश की गई, वह और जोर पकड़ता गया। सन् १९३९ ई० के १२ मार्च को सत्याग्रहियो के जत्थे आते और पुलिस उन्हे गिरफ्तार कर कैम्प मे लाती और शाम को छोड देती। २५ मार्च तक चालीस सत्याग्रही गिरफ्तार हो चुके थे। उस दिन अमवारी मे एक विराट् सभा हुई, जिसमे बीस-पच्चीस गाँवो के दस हजार से अधिक किसान जुटे हुए थे। गाँव-गाँव मे सत्याग्रह-समिति कायम हो रही थी। अन्न और पैसे इकट्ठे करने और लाल वर्दीवाली एक बड़ी लालसेना तैयार करने का भी प्रवन्ध हो रहा था।

गिरफ्तार होने के बाद राहुलजी को छपरा जेल मे रखा गया। वहाँ उन्होने राजनीतिक बन्दियो की सुविधाओ की माँग के लिए चार दिनो तक उपवास किया। **मौलाना मजहरुल हक** के सुपुत्र स्व० **हुसैन मजहर** और खेढाय गाँव के स्वतन्त्रता-सेनानी **जगन्नाथप्रसाद** भी उनके साथ थे। इस उपवास का नतीजा यह हुआ कि तत्कालीन अन्तरिम काँगरेसी सरकार ने जेल में उन्हे दूसरे दरजे के राजनीतिक बन्दियों की सुविधाएँ प्रदान की। बिहार प्रान्तीय किसान-कौन्सिल ने सन् १९३९ ई० के १ अप्रैल को प्रान्त-भर मे 'राहुल-प्रहार-दिवस' मनाने का निर्णय किया, और प्रान्त-भर में 'राहुल-प्रहार-दिवस' मनाया गया। 'राहुल-प्रहार-दिवस' पर खण्डवा से प्रकाशित सुप्रसिद्ध पत्र 'कर्मवीर' में **माखनलाल चतुर्वेदी** ने लिखा : "जागतिक स्वार्थो से सर्वथा निर्लिप्त **राहुल सांकृत्यायन** जैसे को सीखचों में बन्द किया, राहुलजी पर लाठियाँ पड़ी, ९६ घण्टे तक भूख-हड़ताल की।"

जेल-जीवन राहुलजी के लिए वरदान ही साबित हुआ। छपरा जेल मे उनका छत्तीस दिन का समय बहुत ही अच्छा बीता। उन्होने लिखा है : "लिखने का काम, जो समयाभाव के कारण छूटा हुआ था, उन्हे बहुत-सा पूरा कर लिया। एक खण्डित ग्रन्थ का तिब्बती भाषा से संस्कृत में करने का काम पूरा किया।" अमवारी-सत्याग्रह मे राहुलजी गिरफ्तार किये गये और उनपर मुकदमा चला। १७ अप्रैल को फैसला सुनाया गया, जिसमें उन्हे छह मास की सजा हुई। इसके अतिरिक्त, तीस रुपया जुरमाना भी किया गया, जिसे नही चुकाने पर उन्हे और तीन माह की कड़ी कैद की सजा भुगतने का फैसला हुआ।

'जनता' पत्र ने राहुलजी के जेल-जीवन का वर्णन इस प्रकार किया है : "बौद्धो की उस पीली पोशाक की जगह उन्होने खादी का हाफ पैण्ट और हाफ कमीज पहन रखी थी। जेल में उनके चेहरे पर लाली नही, पीलापन है। कम वजन होने पर भी वे प्रसन्न दिखे। साथी किसानो को पढाने-लिखाने के साथ अपना साहित्यिक कार्य भी जारी रखे हुए है।"

चोरी के जघन्य अपराध की ३७९ दफा उनपर लगाई गई। जेल मे उनके साथ साधारण कैदियो-सा व्यवहार किया गया और उसके चलते उन्होने ९६ घण्टे का अनशन किया। वह तो बड़े दृढसंकल्प थे 'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्।' **बेनीपुरीजी** ने

'जनता' के सम्पादकीय में लिखा है : "३७९ दफा में विश्ववन्द्य महात्मा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को आखिर सीवान के एस्० डी० ओ० ने सजा सुना ही दी। इस विश्ववन्द्य महात्मा की कीमत दस रुपया प्रति महीने की दर से आँकी।"

सजा सुनाये जाने के बाद राहुलजी को हजारीबाग जेल लाया गया। वहाँ उन्होंने राजनीतिक कैदी के दरजे की माँग की और वही मरण-त्योहार प्रारम्भ किया। वह आमरण अनशन पर बैठ गये। 'जनता' के सन् १९३९ ई० की ११ मई के अंक मे वर्णित है कि पटना लॉन मे राहुलजी के अनशन के बारे में ७ मई को एक विराट् सभा **श्रीजयप्रकाश नारायण** के सभापतित्व मे हुई। सभापति की वक्तृता के बाद **रामवृक्ष बेनीपुरी** ने राहुलजी के अनशन के बारे मे एक प्रस्ताव रखा, जिसमे राहुलजी की जिन्दगी के लिए चिन्ता प्रकट की गई, किसान और मजदूर को राजनीतिक कैदी मानने की उनकी माँग का समर्थन किया गया और सरकार से कहा गया कि उनकी माँगों को स्वीकार करे, अन्यथा इसके भयानक नतीजे होंगे। इस प्रस्ताव पर सर्वश्री **अवधेश्वरप्रसाद सिंह, फरीदुल्लाह अन्सारी, अच्युत पटवर्द्धन, एम्० आर० मसानी** और खुद सभापति ने भाषण किया। इस प्रकार, राहुलजी ने किसान और मजदूर बन्दियों को राजबन्दी घोषित कराया। राहुलजी बिना शर्त्त सन् १९३९ ई० की ९ जुलाई को छोड दिये गये। उन्हीं का अनुसरण कर **रामरक्ष ब्रह्मचारी** और **जगन्नाथप्रसाद** ने भी दो माह से अधिक अवधि तक अनशन किया।

इस आन्दोलन के सम्बन्ध मे स्व० चन्द्रेश्वर सिंह के भ्रातृव्य **श्रीअखण्डेश्वर बच्चन** ने बताया कि अमवारी किसान-आन्दोलन गलतफहमी का शिकार था। दरअसल **सहजानन्द सरस्वती** ने **श्रीचन्द्रेश्वरप्रसाद सिंह** (मुजफ्फरपुर) के यहाँ, जो एक बडे काश्तकार थे, आन्दोलन शुरू करने का मूलत. निर्देश किया था। लेकिन, अमवारी मे आन्दोलन शुरू कर दिया गया। बाद में, जब राहुलजी एवं **सहजानन्दजी** को सच्चाई मालूम हुई, तब आन्दोलन को शिथिल कर दिया गया। हालाँकि, **बच्चनजी** ने यह स्वीकार किया है कि "वहाँ के कुरमी किसान बेगार-प्रथा मानते थे। एतवारी (रविवार के दिन) दरवाजा साफ करते थे, सोमवारी सोमवार को और मंगली मंगल दिन को....काम करते थे। चमार लोग कुकुर, बिडाल आदि नाम रखने को मजबूर थे।"

लेकिन, जहाँ राहुलजी अपने परिवार के पूर्वज स्व० **नन्दकुमार सिंह** के सामन्ती व्यवहारो के विरोधी थे, वहीं स्व० **चन्द्रेश्वरप्रसाद सिंह** के कृत्यो के समर्थक। इनके वक्त मे शोषण की जगह समाजवाद ज्यादा उभरा और बैठ-बेगार कम गया। रियाया ज्यादा खुश थी और बकाश्त जमीन पर वे ही लोग काम करते थे। जैसा पहले कहा गया, सच्चाई से जब राहुलजी एव सहजानन्द सरस्वती अवगत हुए, तब अमवारी मे उनका शानदार स्वागत किया गया। वहाँ जिन हाथियों ने उन्हें रौंदने का काम किया, उन्होंने ही उनके स्वागत मे अगवानी भी की।

'मेरी जीवन-यात्रा' में राहुलजी ने सीवान-क्षेत्र की पुष्कल चर्चा की है। वह **महेन्द्र शास्त्री** द्वारा आयोजित भोजपुरी-सम्मेलन, वसन्तपुर मे आमन्त्रण की चर्चा करते है। आन्दर के आशियाना-प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखते है : "हुसैन मजहर हमारे महान् नेता मजहरुलहक के एकमात्र जीवित पुत्र हैं। अमवारी के किसान-सत्याग्रह मे भाग लेकर वे मेरे साथ जेल गये। अपने पिता ही तरह वह बड़े उदार विचारों के थे। मजहरुल हक को तो मैं मनुष्य नही, देवता मानता था। उनकी मधुर स्मृति सदा बनी रहती है।"

महान् गणितज्ञ **पद्मभूषण डॉ० बदरीनारायण प्रसाद** से राहुलजी का परिचय सीवान के **मालवीय दाढ़ी बाबा** के यहाँ ही हो चुका था। उन्होने लिखा है कि "**डॉ० बदरीनारायणप्रसाद** प्रयाग मे मेरे लिए वैसे ही थे, जैसे पटना में किसी समय **डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल**। उनके यहाँ मैं बिलकुल अकृत्रिम आत्मीयता का अनुभव करता था। बदरी बाबू दाढी बाबा के गुरुकुल के शिष्य तथा सम्बन्धी थे।"

महान् इतिहासकार **डॉ० बाँकेविहारी मिश्र** की चर्चा करते हुए राहुलजी ने लिखा है कि "वह बहुत विद्याव्यसनी जीव है। जो आदमी एक अच्छे हाइ स्कूल की हेडमास्टरी छोड़कर किसान-सत्याग्रह मे मेरे साथ जाने के लिए तैयार हो गये, उनके साहस के बारे मे क्या कहूँ ? डॉ० मिश्र भारत मे अँगरेजी-राज्य के इतिहास के गम्भीर विद्वान् है, उसकी रग-रग को जानते हैं। लन्दन मे रहकर उन्होने इसी पर पी-एच्० डी० और डी० लिट्० ही नही की, वल्कि ब्रिटिश म्यूजियम की उस विशाल सामग्री का भी अवगाहन किया, जहाँ अँगरेजी-शासन के इतिहास के मूल रेकर्ड भारी परिमाण मे जमा है।' सीवान् के **डॉ० बदरीनारायण प्रसाद** के पुत्र **डॉ० देवेश प्रसाद** द्वारा किये गये अन्तरजातीय वैवाहिक सम्बन्ध की चर्चा के क्रम मे, राहुलजी ने एक सामाजिक यथार्थ सत्य का उद्घाटन करते हुए सम्पूर्ण मानवतावाद की मान्यता ही प्रकट कर दी है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन सीवान मे असहयोग-आन्दोलन, काँगरेस के कार्य, किसान-सभा, अमवारी-सत्याग्रह तथा सीवान-क्षेत्र के प्रमुख राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओ से जुडे रहे और जन-जागरण मे उन्होने महत्त्वपूर्ण भूमिका निवाही। अमवारी-सत्याग्रह के बाद से ही उन्होने सक्रिय राजनीति से विराम ले एकान्त साहित्य-साधना मे संलग्न हुए। सीवान मे उन्होने सर्वप्रथम भोजपुरी-भाषा मे कुछ नाटक लिखे। इस प्रकार, सीवान की पावन धरती के लिए राहुल सांकृत्यायन का महार्घ योगदान सस्मरणीय एवं उल्लेख्य है।

△ कार्यपालक दण्डाधिकारी
सीवान (बिहार)

विशिष्ट कृति :

'एणाक्षी' : विश्व-संस्कृति की औपन्यासिक कृति

●

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

हिन्दी की औपन्यासिकी के यशोधन हस्ताक्षर एवं चिन्तक शब्दचित्रकार श्रीआनन्द-शकर माधवन का, अक्टूबर, १९८२ ई० में प्रकाशित तीसरा उपन्यास 'एणाक्षी'[1] इत पूर्व प्रकाशित उनके दो बहुचर्चित उपन्यासो—'अनामन्त्रित मेहमान' (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा सन् १९६१-६२ ई० मे पुरस्कृत) और 'प्रसव-वेदना' की परम्परा के ही उत्तर विकास की उल्लेखनीय कड़ी के रूप में परिगणनीय है। आध्यात्मिक चिन्तन के परिवेश मे मानवतावादी और मानववादी दृष्टिकोण का समेकित उद्भावन ही माधवनजी के उपन्यासो की मूल वस्तु है। इसलिए, वह एक ओर यदि मानवता के उच्च आदर्शों के प्रति आस्था का भाव रखते है, तो वही दूसरी ओर परिवर्त्तनशील मानव के यथा-रूप अस्तित्व मे विश्वास रखनेवाले और उसके प्रति आस्थावान् तथा संवेदनशील है। फलत', वह दलितो और पतितो को ऊपर उठाने की भावना की दृष्टि से यदि मानवता-वादी है, तो सम्पूर्ण मानव के अस्तित्व और उसके जीवन की परिवर्त्तनशीलता के प्रति विश्वास की दृष्टि से मानववादी। 'एणाक्षी' उपन्यास में 'विश्व-मन्दिर' की परिकल्पना उनकी इसी मानववादी दृष्टि का ही संकेतक है।

'एणाक्षी' उपन्यास की कथावस्तु नाधिक जटिल और नाधिक विचित्र या सघन होते हुए भी कामाध्यात्म के विश्लेपण की दृष्टि से अतिशय हृदयावर्जक बन पडी है। वाराणसी के बहुत बडे रईस बाबू गोकुलदास नारंग पत्नी-विहीन है। वह स्वभावतः संगीतकला के विशेषज्ञ प्रेमी है। इसलिए, उनके यहाँ बराबर संगीत-सम्मेलनो का आयोजन हुआ करता है। उनका एकमात्र पुत्र रमेश नारंग है, जो अमेरिका मे अपनी सुतीक्ष्ण विद्वत्ता और प्राध्यापन-प्रतिभा के लिए विख्यात है। वह वही अपनी प्रतिभाशालिनी विदुषी छात्रा रजनी को पत्नी के रूप मे अगीकृत करता है। कश्मीरी मूल की रजनी जन्म से सरल स्वभाव की है, किन्तु अमेरिकन युवतियो के कामाकर्पण से रमेश को बचाने के लिए, लेखक के शब्दों में, 'औरतबाजी' और 'ब्रह्मास्त्र' के प्रयोग की पटुता के अतिरेचन में पडकर, वह अतिशय उग्र और कर्कशा बन जाती है। यों, पूरे उपन्यास में यथाप्रसंग

---

१. प्रकाशक : अमरावती, मन्दार विद्यापीठ, जि० भागलपुर (बिहार); मुद्रक : श्रीगोविन्दप्रसाद झा, मन्दार विद्यापीठ, प्रेस का पता उपरिवत्; पृ० सं० ३१९, मूल्य : पन्द्रह रुपये।

लेखक का शृंगारिक अतिरेचन तो मन को गुदगुदाता है अवश्य, लेकिन वात्सल्य, खासकर गोकुलदास और एणाक्षी के वात्सल्य के अतिरेचन मे लेखक की अप्रासगिक अतिशयता मन को प्राय विविग्न कर डालती है।

बाबू गोकुलदास नारंग का विश्वस्त सेवक है कालू। उसके आग्रह पर उसकी भतीजी, नर्त्तकी-पुत्री रसूलन, नियोग-प्रथा के अनुसार, बाबू गोकुलदासजी से एक पुत्री प्राप्त कर अपने मातृत्व की अभिलाषा पूरी करती है और अपनी इस पुत्री का नाम 'एणाक्षी' रखती है। यही एणाक्षी तन्नामक इस उपन्यास की चरित्रनायिका है और चरित्रनायक है डॉ० सव्यसाची, जो वाराणसी के कीर्त्तिलब्ध सगीतज्ञ तथा डॉक्टर हैं। रसूलन एणाक्षी को अपने साथ ही रखती है और देश के दक्षिण-उत्तर के विभिन्न भागो मे नाचने-गाने का पेशा करती हुई जीवन-यापन करती है। कालू उसका अविभावक तो है ही, समय-समय दलाल भी बन जाता है। अन्त मे, रसूलन पुनः वाराणसी आकर वही एक नर्त्तकी-सह-गायिका के रूप मे अपना जीवन व्यतीत करती है।

एणाक्षी को अपनी माँ का यह सब धन्धा पसन्द नही है। वह निरन्तर 'नमः शिवाय' जपती रहती है और बाबा विश्वनाथ से मुक्ति की प्रार्थना करती है। डॉ० सव्यसाची एणाक्षी को वेश्यागली से मुक्त कर उसे पत्नी के रूप मे स्वीकार करते हैं। डॉ० सव्यसाची के सत्सगवश एणाक्षी प्रसिद्ध संगीतज्ञ और विदुषी लेखिका बन जाती है और सर्वोदय के उद्देश्य से 'विश्व-मन्दिर' की स्थापना करती है। एणाक्षी के प्रभाव से रजनी पुन. प्रकृतिस्थ तथा हृदय से परिवर्त्तित हो जाती है और रमेश के साथ उसका दाम्पत्य-जीवन सुखपूर्वक बीतने लगता है। बाबू गोकुलदास के जीवन के अन्तिम दिनों, उनके अरमान के अनुकूल ही, रसूलन और कालू वेश्यागली छोड़ उनकी कोठी में आकर रमेश और रजनी के अभिभावक के रूप मे रहने लगते है। और, गोकुलदास की मृत्यु के बाद, उनकी वसीयत के अनुसार, रमेश और रजनी के साथ ही एणाक्षी, रसूलन, कालू एवं अन्यान्य नौकर-चाकर भी यथाभाग उनकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं।

कथा-विस्तार के क्रम मे, उपन्यासकार माधवनजी ने अपनी इस औपन्यासिक कृति मे समसामयिकता या प्रासगिकता के समायोजन के लिए राष्ट्र की आधुनिक ज्वलन्त समस्याओ को भी बड़ी सर्तकता से परिगुम्फित किया है। हिन्दु-मुस्लिम-एकता और विश्वबन्धुत्व-भावना तो इस उपन्यास-रचना की मूल प्रतिज्ञा ('थीसिस') है। पात्रो के चारित्रिक उत्कर्ष या जातीय उत्थान की भावना तो इतनी वरेण्य है कि लेखक ने रसूलन को प्रसिद्ध महाभारतीय पात्र शर्मिष्ठा का और एणाक्षी को प्रख्यात औपनिषदिक चरित्र जाबालापुत्र सत्यकाम का प्रतिकल्प सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त, वेश्या का कदर्थित जीवन, कन्या-विवाह की समस्या, तलाक की मनोवृत्ति, खण्डित दाम्पत्य-जीवन, गुण्डा-तत्त्वों की बहुलता, अर्थलिप्सा के कारण पुलिस-विभाग की अकर्मण्यता, अँगरेजियत तथा पाश्चात्य चाकचिक्य के प्रति दुर्व्यामोह, हिप्पी-सभ्यता, भारतीय धार्मिक जीवन के प्रति अमेरिका-निवासियों का विस्मयपूर्ण आकर्षण और उनका उच्छृंखल यौनमेध, परिग्रही

साधुवृत्ति, धार्मिक अन्धविश्वास, सामाजिक आडम्बर आदि भी उपन्यासकार के वैचारिक प्रहार के लक्ष्य बने है ।

महाभारतीय परम्परा के अनुसार, जाति, धर्म, वर्ण आदि को महत्त्वहीन समझकर प्रतिभा और वैदुष्य को मूल्य देनेवाले व्यासकल्प माधवनजी का यह उपन्यास आद्यन्त जिजीविषा की प्रभा और अस्तित्ववाद की विभा से भास्वर है । कही-कही तो उन्होने दर्शन और अध्यात्म को भारतीय संस्कृति और साधना की तान्त्रिक पार्श्वभूमि मे भी उपन्यस्त किया है । फिर भी, कुल मिलाकर दर्शन-रहस्य से जीवन-व्यवस्था की ओर प्रस्थान तथा उपन्यास के माध्यम से भारतीय दर्शन का पुनराख्यान ही उनकी इस कृति की रचना-प्रक्रिया का विशिष्ट लक्ष्य है और इस दर्शन-रहस्य के प्रस्तुतीकरण मे ज्ञान, कर्म तथा भक्तियोग की धारणाएँ स्पष्टतया प्रतिलक्षित होती है, साथ ही दर्शन-ज्ञान के प्रयोगो और उपलब्धियो मे व्यस्त पात्र विश्वकल्याण के निमित्त प्रयत्नशील दिखाये गये है, इसलिए डॉ० सव्यसाची और एणाक्षी, रमेश और रजनी, बाबू गोकुलदास और रसूलन, उपन्यास के ये तीन प्रमुख युग्मक ज्ञानमार्गी होते हुए भी कर्ममार्ग के उपासक है और इस प्रकार, उपन्यासकार ने ज्ञान और भक्तियोग का मूलाधार कर्मयोग को प्रमाणित किया है । स्पष्ट ही, शास्त्रदीक्षित लेखक ने अपने स्वीकृत सिद्धान्त के परिपल्लवन मे गीता और उपनिषद्, विशेषतया छान्दोग्योपनिषद् तथा जाबालोपनिषद् के सिद्धान्तों का प्रभूत प्रभाव ग्रहण किया है, और इस प्रकार, यह उपन्यास आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ 'अनामदास का पोथा' (रैक्व-आख्यान) का उत्तर कल्प बन गया है ।

कथाकोविद माधवनजी भारतीय संस्कृति के व्याख्याता और उसकी सहज गतिशीलता के समर्थक है । अतएव, इस कृति मे, मनुष्य की निम्नगा वृत्ति को ऊर्ध्वगा बनाने की उनकी प्रवृत्ति अनायास ही परिलक्षणीय है । इस क्रम मे, उन्होंने भारतीय संस्कृति का चित्रण एक ऐसे उच्चतर मंच से किया है, जहाँ से भारतीय संस्कृति ही नही, अपितु विश्व-संस्कृति का रहस्य उनके लिए प्रत्यक्षवत् हो गया है । यथापूर्वोक्त 'विश्व-मन्दिर' की परिकल्पना उनकी इसी उदात्त दृष्टि का परिचायक है और इसीलिए, उन्होने मनुष्य को दार्शनिक तत्त्वों की रहस्यमयी अवधारणा से हटाकर उसे जीवन-व्यवस्था और परहित मे संलग्न होने की प्रेरणा दी हे । इस प्रकार, माधवनजी का उपन्यासकार विवेकानन्द और रवि बाबू जैसे चिन्तको के मानववादी दर्शन से प्रेरित होकर स्वसुख को, परहित से मिलनेवाले विश्वसुख पर समर्पित कर देने के लिए इगित करता है, साथ ही वह भारतीय सनातन धर्म के तीन प्रमुख तत्त्वो—सगुण साधना, गृहस्थाश्रम और जीवन-व्यवस्था को विश्व-सेवा की व्यापक कर्मचेतना के सन्दर्भ मे सर्वाधिक महत्त्व देता है । इसीलिए, इस उपन्यास की चरित्रनायिका एणाक्षी कहती है : "मेरा सत्य विश्व का सत्य है, मेरी विजय विश्व की विजय है ।. .मैं विश्व-मन्दिर संघटित करूँगी और वहाँ से विश्वपुरुष को जन्म दूँगी । विश्वमहिला को प्रकट करूँगी । विश्व-साहित्य का निर्माण करूँगी । विश्व-सस्कृति को प्रकट करूँगी । विश्वधर्म को स्थापित करूँगी ।

विश्ववाणी को सर्वत्र मुखरित करूँगी ।.. मैं मानव के प्रत्येक कर्मक्षेत्र मे व्याप्त हो जाऊँगी ।" (पृ० २६०–६१)

किसी भी आख्यान की अभिव्यक्ति बहुमुखी प्रतिभा द्वारा ही सम्पन्न होती है। इस दृष्टि से माधवनजी का यह उपन्यास उनकी बहुप्रतिभ कथा-चेतना को द्योतित करता है। इसलिए, इस उपन्यास मे कथा के माध्यम से गूढ़तम तथ्यो को इस ढग से अभिव्यक्त किया गया है कि वे जीवन-व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करने मे पूरा योग देते हैं। माधवनजी की मूल अवधारणा मे व्यष्टि की छोटी आनन्दानुभूति नही, अपितु विराट् सच्चिदानन्द की सौन्दर्यानुभूति समाहित है। यही दृष्टिव्यापकता उनकी कथासृष्टि की सफलता बन गई है।

'एणाक्षी' उपन्यास मे विश्वजनीन सुख और व्यापक परिवेश की बात अनेक स्थलों पर उठाई गई है। मनुष्य को सेवाधर्म द्वारा निरतिशय और महान् बनने के निमित्त आत्मचैतन्य जागरित करने के लिए बार-बार प्रेरित किया गया है। एणाक्षी कहती है : "उसकी सेवा वैसी ही होगी, जैसे गगा करती है, जैसे सूर्यदेव करता है, जैसे सर्वमंगला पृथिवीमाता करती है। इस सेवाधर्म के गहनतम आध्यात्मिक तत्त्व को समझ उसे स्वीकारा जाय, तभी उस स्वीकृत कार्य मे रस और सुख आ सकता है ।.. चैतन्य का जागरण आवश्यक है।" (पृ० २९९) धर्मप्राण उपन्यासकार ने इस बात पर भी बल दिया है कि मनुष्य अपने धर्म और कर्त्तव्य को सदैव शिव या ईश्वर से सम्बद्ध रखे। क्योंकि, हिन्दू-धर्म की सनातन परम्परा मे मानव-जीवन की यही वास्तविकता है। माधवनजी ने स्थान-स्थान पर दर्शन के सूक्ष्मज्ञान को पाठक के मन मे प्रतिष्ठित करते हुए भी उसे दर्शन के रहस्य मे उलझने नही दिया है, अपितु जीवन के सुख, आचरण की दिव्यता एव नैतिक मूल्यो और आचार-संहिताओ मे आबद्ध मनुष्य की उदात्त भूमिका से परिचित कराया है, जिनमे, स्पष्ट ही, मानव के चिरस्वीकृत जीवन-मूल्यो में बदलाव की उद्घोषणा प्रखर हो उठी है।

मिथकीय चेतना, इतिहास और कल्पना से मिश्रित तथा रूपक-शैली और सूक्ति-बहुल प्रभावक भाषा मे निर्मित प्रस्तुत उपन्यास की आकृति संरचना की दृष्टि से नये आयाम की उद्भाविका है। इसके अतिरिक्त, कथा की दृष्टि से इसमें ज्ञानकथा और कामकथा समानान्तर रूप मे उपन्यस्त है। इसलिए, घटना-प्रवाह की विरलता के बावजूद कथा मे अद्भुत रुचिरता और रोचकता का समावेश हुआ है। कहना यह कि मोक्षदा नगरी वाराणसी की पृष्ठभूमि पर रचित इस औपन्यासिक कृति की कथा मे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारो पुरुषार्थो की विवेचना शास्त्रगम्भीर शैली मे की गई है।

खेद है कि इतने उत्कृष्ट उपन्यास का प्रस्तुतीकरण श्रीहीन है और मुद्रण अतिशय भ्रष्ट ! विश्व-संस्कृति की सन्देशवाहिका यह श्रेष्ठ कथाकृति, काश, सुसम्पादित और सुमुद्रित होती !

●●

स्वाध्याय कक्ष

समीक्षक : डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त-कथानक एवं राजा कल्कि-वर्णन[1] :

श्रमण-परम्परा मे, ऐतिहासिक कोशशिला के संस्थापक कालजयी अपभ्रंश-रचनाकारों मे महाकवि रइधू (स० १४४०–१५३० वि०) अग्रिम पंक्ति मे प्रतिष्ठित होने के अधिकारी है। विषय की विविधता से सवलित रचनाओं की भूयिष्ठता की दृष्टि से रइधू को यदि 'अपभ्रंश का व्यास' कहा जायगा, तो कोई अत्युक्ति नही होगी। हालाँकि, अपभ्रंश के अतिरिक्त सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी मे भी ग्रन्थो की रचना करके इन्होने अपने को प्राच्यभाषाओं का विशेषज्ञ प्रमाणित किया है।

महाकवि रइधू की ऐ० प० दि० जैन सरस्वती-भवन, ब्यावर (राजस्थान) के शास्त्र-भाण्डार से उपलब्ध 'भद्रबाहु-चाणक्य-चन्द्रगुप्त-कथानक' नामक प्रस्तुत अपभ्रंश-काव्यकृति, जो अद्यावधि अज्ञात और अप्रकाशित थी, काव्य के साथ ही इतिहास का भी महनीय ग्रन्थ है। इस ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण काव्य पर पूर्ववर्त्ती कथाकारो के काव्यो मे विशेषतया रामचन्द्र मुमुक्षु-कृत 'पुण्याश्रवकथाकोष' तथा हरिषेण-कृत 'वृहत्कथाकोष' का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस काव्य मे महाकवि ने अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु और उनसे सम्बद्ध चाणक्य, चन्द्रगुप्त और प्रसंगोपात्त नन्द एव मौर्यवंश तथा प्रत्यन्त राजा के विषय में संक्षिप्त, किन्तु भाष्यगर्भ वर्णन किया है, साथ ही इसमे श्रुतपंचमी-पर्वारम्भ, कल्कि-अवतार एव उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-सज्ञक षट्काल का अन्यत्रदुर्लभ वर्णन उपन्यस्त किया है। पूरी कृति अट्ठाईस कड़वको और उतनी ही घत्ताओं मे परिनिबद्ध है। ज्ञातव्य है कि अपभ्रंश-काव्यो की कड़वक और घत्ता-शैली ही परवर्त्ती तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की चौपाई-दोहा-शैली की जननी है। इतिहास की दृष्टि से राजनीतिविचक्षण कौटिल्य चाणक्य और नन्दवश के विनाश के माध्यमभूत मौर्यवंशी राजा चन्द्रगुप्त की विविध कथा-परम्पराओ के अध्ययन के निमित्त प्रस्तुत कृति का, निश्चय ही, सन्दर्भात्मक महत्त्व है।

---

१. सम्पादक-सह-अनुवादक : डॉ० राजाराम जैन, रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत-विभाग, ह० दा० जैन कॉलेज, आरा (बिहार); प्रकाशक : श्रीगणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी–५; मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५; संस्करण : प्रथम, मई, १९८२ ई०; पृ० सं० ११२ (डबल डिमाई साइज); मूल्य : साधारण संस्करण, सोलह रुपये; ग्रन्थालय-संस्करण, बीस रुपये।

रइधू-साहित्य के अन्वेषकों और संशोधको में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य के निष्णात अधीती डॉ० राजाराम जैन की द्वितीयता नही है। महाकवि रइधू के दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थो का पाठालोचन, सम्पादन और हिन्दी-अनुवाद के माध्यम से उनके समस्त साहित्य का उद्धार करना ही डॉ० जैन के स्वाध्यायसिक्त जीवन का सारस्वत व्रत बन गया है। प्रस्तुत कृति का प्रस्तवन डॉ० जैन के इसी शोध-गवेषणा-कार्य की शृंखला की एक मूल्यवान् कड़ी है।

प्रस्तुत कृति के प्रारम्भ मे भारतीय प्राच्यशास्त्र के सत्प्रतिष्ठ अधीती मनीषी, मगध-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर तथा एन्शियेण्ट इण्डियन एवं एशियन स्टडीज् के विभागाध्यक्ष डॉ० उपेन्द्र ठाकुर द्वारा अँगरेजी में लिखित भूमिका ('फोरवर्ड') तथा डॉ० राजाराम जैन द्वारा लिखित सम्पादकीय प्रस्तावना. रइधू के इस काव्य की विषयवस्तु को समझने मे पूर्वपीठिका का काम करती है। डॉ० जैन ने मूल काव्यवस्तु का प्रसंगनिर्देश-सहित समपृष्ठीय सरल हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है। तदनन्तर, छह परिशिष्ट समावेशित है, जिनमे चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कथाओ के अन्यान्य स्रोतो से प्राप्त सस्कृत-प्राकृत-रूपान्तर उद्धृत हैं एव मूल पुस्तक के पारिभाषिक शब्दो की हिन्दी-अर्थ-सहित अनुक्रमणी तथा विशिष्ट व्याख्येय शब्दो की विवेचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई है। परिशिष्ट मे उद्धृत कथा-रूपान्तरो का यदि हिन्दी-अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया जाता, तो सामान्य हिन्दीज्ञ शोध-पाठको को कथाओ के तुलनात्मक अध्ययन मे अधिक सुविधा होती। कहना न होगा कि इन परिशिष्टो से प्रस्तुत ग्रन्थ की शोधोपयोगिता मे ततोऽधिक वृद्धि हुई है।

कुल मिलाकर, यह कृति अपनी गुणभूयिष्ठता के कारण, डॉ० जैन के शोधश्रम का आदर्श सारस्वत प्रतीक बन गई है। निश्चय ही, इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए प्रस्तुत कृति के सम्पादक और प्रकाशक भूरिश. धन्यवाद के पात्र है।

पुस्तक का मुद्रण प्राय. निर्दोष और स्वच्छ है।

o

भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग[1] :

भाषाविज्ञान के स्नातक एवं स्नातकोत्तर वर्ग के छात्रों को दृष्टि मे रखकर वर्णनात्मक पद्धति पर लिखी गई यह महनीय कृति, भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक सूक्ष्म विवेचन के विचार से, भाषाशास्त्र के अधीती विद्वानो के लिए भी अपनी सममूल्यक प्रासगिकता से सवलित है। इस पुस्तक की उल्लेखनीय विशेषता इस अर्थ मे भी है कि इसमें भाषाविज्ञान से सम्वद्ध विविध पक्षो पर प्रकाश-निक्षेप तो किया ही

१. लेखक : डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', ८।७, हरिनगर, अलीगढ : २०२००१; प्रकाशक : श्रीलक्ष्मीनारायण शर्मा, सस्ता साहित्य-भाण्डार, ५७ बी, पाकेट ए, फेज २, अशोक विहार, दिल्ली : ११००५२; मुद्रक : मानस प्रिंण्टिग प्रेस, ९।४७५३, पुराना सीलमपुर, गान्धीनगर, दिल्ली : ११००३१; संस्करण : द्वितीय, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० ३८४; मूल्य : छात्र-संस्करण, पच्चीस रुपये।

गया है, व्याकरण के कतिपय प्रमुख ज्ञातव्य आयामो, विभिन्न भारतीय भाषाओं के व्यतिरेकी तथा तुलनात्मक अध्ययनों एवं भाषाविज्ञान के ऐतिहासिक तथ्यों के अनुशीलन के क्रम मे लिपि-विकास की प्रक्रियाओ को भी उजागर किया गया है, साथ ही यह कोशविज्ञान और शैलीविज्ञान की मीमांसा से भी सन्दर्भित है।

इस प्रकार, भाषाशास्त्र के प्रतिष्ठित प्राध्यापक एव बहुश्रुत विशेषज्ञ डॉ० सुमन की यह कृति, भाषिकी के अतिशय विशद, व्यापक और बहुकोणीय अध्ययन उपन्यस्त करनेवाले आकर-ग्रन्थो की समेकित सार-निर्देशिका के रूप मे, अपने अभिनव अभिज्ञान के साथ, हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष उपस्थित हुई है। जिस प्रकार उपनिषद् वेदों का सार है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भाषावैज्ञानिक तत्त्वो का सार-संग्रह है। इसलिए, यह प्रत्येक भाषाप्रेमी के स्वाध्याय-कक्ष की पांक्तेय सन्दर्भ-पुस्तको के संग्रह मे सम्मिलित करने योग्य है।

भाषाविज्ञान के अधुनातन विद्वान् भाषिक संरचना के विश्लेषण मे भले ही समर्थ होते हैं, किन्तु लेखन मे भाषा के यथार्थ प्रयोग और अनुकूल शब्दो द्वारा अनुकूल अर्थ की अभिव्यक्ति के सामर्थ्य एव वाक्यरचना-नैपुण्य मे बहुधा उनका स्खलन परिलक्षित होता है। परिशंसा, साथ ही प्रशसा का भी विषय है कि डॉ० सुमन ने भाषाविज्ञान की मर्मज्ञता के साथ ही लेखन मे भी भाषा के यथार्थ प्रयोग और उसकी अनुकूल अभिव्यक्ति के सामर्थ्य मे एक समान पाण्डित्यप्रौढि का प्रदर्शन किया है। परन्तु, पुस्तक में प्राप्य आद्यन्त मुद्रण-प्रमाद भाषाशुद्धि के आग्रही पाठको के चित्त को खिन्न किये बिना नहीं रहेगा!

o

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य, भाषा और शैली[1] :

पुण्यश्लोक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की साहित्य-सृष्टि इतनी विपुल है कि उसपर बहुत अधिक लिखे जाने पर भी वह व्याख्यासापेक्ष ही बनी हुई है। निश्चय ही, आचार्य द्विवेदीजी का साहित्य अशेषविषय है, साथ ही भाष्यगर्भ भी। इससे अधिक उनके साहित्य की धन्यतम विशेषता यह है कि उसपर लिखनेवाला स्वय उल्लेखनीय हो जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य मे, द्विवेदी-साहित्य के अधीती लेखक श्रीविशनकुमार की प्रस्तुत कृति की सर्जना सार्थक हुई है।

इस पुस्तक की प्रतिपाद्य सामग्री आचार्य द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व से सम्बद्ध है, जिसे मुख्यतया चौदह प्रकरणो में परिवेषित किया गया है, जिनमे उनकी रचना-प्रक्रिया की विशिष्टता पुंखानुपुंख रेखित हुई है। सर्वप्रथम द्विवेदीजी का संक्षिप्त

१. लेखक : श्रीविशनकुमार शर्मा, अनुराग-निकेतन, १३।१४, सराय बारहसैनी, अलीगढ़ : २०२००१; प्रकाशक : ग्रन्थायन, सर्वोदयनगर, सासनी गेट, अलीगढ़ : २०२००१; मुद्रक : गोपाल प्रिण्टर्स, अलीगढ़ (उ० प्र०); संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० १३४; मूल्य : तीस रुपये।

परिचय उपन्यस्त किया गया है। तदनन्तर, उनकी साहित्य-सर्जना के उद्देश्यो को, कला-पक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से, विवेचना का लक्ष्य बनाया गया है। कलापक्ष मे उनकी शब्दशास्त्रज्ञता, विशेषतया व्यक्तित्वव्यंजनामूलक निवन्धो की रचनाकुशलता का और भाव-पक्ष में उनके मानवतावादी दार्शनिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण का उद्भावन हुआ है। इसी क्रम में उनकी वहु-आयामी भाषा-शैली की रुचिरता तथा मनोज्ञता पर भी दृक्पात किया गया है। कुल मिलाकर, लेखक ने अपनी यथास्वीकृत प्रतिज्ञा के पाण्डित्यपूर्ण पल्लवन-कार्य में द्विवेदी-साहित्य की मर्मज्ञता का श्लाघ्यतम परिचय प्रदर्शित किया है। फलत:, यह कृति शोध-अधीतियों एवं विश्वविद्यालयीय छात्रों के लिए समानान्तर रूप से उपादेय है। शोधश्रमी लेखक की यह पुस्तक द्विवेदी-साहित्य की वहुकोणीय व्यावहारिक आलोचनाओं में अपना स्वतन्त्र अभिज्ञान स्थापित करती है, इसमें सन्देह नहीं।

पुस्तक का मुद्रण, आवरण और प्रस्तुतीकरण प्रशंसनीय है।

o

हल्ला मचाओ ! गर्दन बचाओ !![1] :

हिन्दी-हास्य-व्यंग्य के सधे हुए हस्ताक्षर डॉ० **रमाशंकर श्रीवास्तव** की प्रस्तुत कृति युगीन समस्याओ पर बड़ी रोचकता और रंजकता के साथ प्रकाश-निक्षेप करती है। हास्य-व्यंग्य का शरीर होता तो है ऋणात्मक, किन्तु उसकी आत्मा मूलत धनात्मक होती है। उसका कथ्य प्रायः लघु और सामान्य होता है, किन्तु तथ्य सातिशय गम्भीर। कुल मिलाकर, विकृति को प्रकृति मे परिणत करना ही उसका प्रमुख लक्ष्य होता है। इसलिए, व्यंग्यकार डॉ० श्रीवास्तव की यह 'पुरोवाक्' वहुत सही है कि 'व्यग्य विकृति का सहचर है और उसका डॉक्टर भी। व्यंग्य की यह विडम्वना है कि वह विकृत को अंगीकार करके उसी के बहिष्कार का स्वर ऊँचा करता है।'

प्रस्तुत कृति मे, हास्य-व्यग्य के कुल सत्रह आसग हैं, जिनमे प्रथम का शीर्षक है— 'हल्ला मचाओ ! गर्दन बचाओ !!' और, यही इस पुस्तक की अभिधा है। हास्य और व्यंग्य के माध्यम से अनुभूति की यथार्थता की स्पष्ट और सही अभिव्यक्ति आसान काम नही है। यह तो कुशल व्यंग्य-हास्यलेखक के ही वूते की वात है। सामाजिको को व्यंग्य के तीक्ष्ण शर का लक्ष्य तो वही वना सकता है, जो स्वयं अपने को भी शरव्य वनाने की क्षमता रखता है। डॉ० श्रीवास्तव ने उक्त आसगो के माध्यम से यही काम किया है, वह भी इतनी निपुणता और साफगोई से कि वेध या प्रहार का अनुभव तनिक भी नही होता और तीर ठीक अपने निशाने पर जा लगता है। निश्चय ही, डॉ० श्रीवास्तव तीक्ष्ण शब्द-

---

१. लेखक : डॉ० रमाशंकर श्रीवास्तव, आर्-७, वाणी-विहार, उत्तमनगर, नई दिल्ली : ११००५९; प्रकाशक : भाषा-साहित्य-संस्थान, १४७, त्रिवेणी रोड, इलाहावाद-३; मुद्रक : स्टार प्रिण्टर्स, २८७, दरियावाद, इलाहावाद (उ० प्र०); संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० ९८, मूल्य : चौवीस रुपये।

शर के कठोर प्रहारक होते हुए भी शिष्ट और उत्कृष्ट हास्य-व्यंग्यकार के रूप मे अपनी अलग पहचान रखने के कारण ततोऽधिक श्लाघा के अधिकारी है।

डॉ० श्रीवास्तव के हास्य-व्यग्य के लक्ष्यीभूत पात्रो में वर्त्तमान व्यवस्था के वे सभी लोग है, जो स्व-भाव से च्युत होकर समाज को केवल विकृत करने का धन्धा अपनाते है और जिनकी स्वार्थसंकुल दृष्टि मे जनपद-ध्वंस की योजनाएँ करवटे लेती रहती है: जैसे नेता, छात्र-छात्राएँ, अध्यापक-प्राध्यापक, कवि-साहित्यकार, पण्डित, ज्योतिषी, व्यापारी, पुलिस, रेलवे-अधिकारी, डॉक्टर-नर्स, पति-पत्नी, ससुर-दामाद, युवक-युवतियाँ, मित्र-पड़ोसी आदि। कुल मिलाकर, उन्होने आज के समाज मे जनजीवन को प्राय. प्रतिदिन जिन समस्याओ का सामना करना पड़ता है, उनके ही विकृत चित्रो को अनुकूल भाषा और वचोभंगी मे अतिशय हृदयावर्जकता के साथ प्रदर्शित किया है। हालाँकि, यथा-प्रस्तुत हास्य-व्यग्य के सभी आसग एक-से-एक है, फिर भी मर्मस्पर्शिता या वेधकता की दृष्टि से 'हल्ला मचाओ ! गर्दन बचाओ !!', 'ले लो मेरा कुँवारापन', 'एक प्राध्यापक की डायरी', 'दर्द कहाँ है ?', 'प्रेमग्रन्थि', 'प्रेमियों की हड़ताल', 'अजी, कभी आइए दिल्ली', 'दे दो मेरा कुँवारापन', 'नम्बर भी एक बला है' आदि आसंगों की अपनी विशिष्टता है। कहना न होगा कि डॉ० श्रीवास्तव हास्य-व्यंग्योचित भाषा के सातिशय प्रौढ शिल्पी है। उनकी इस कृति से निश्चय ही हिन्दी के हास्य-व्यंग्य-साहित्य के कोष को प्रशस्य समृद्धि प्राप्त हुई है।

पुस्तक का मुद्रण स्वच्छ और निर्दोष तथा भीड़तन्त्र को प्रतीकित करनेवाला आवरण सामान्य-विशेषात्मक है।

o

कबीर-काव्य : प्रतिभा और संरचना[1] :

भाषा और साहित्य के अधीती मनीषी डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त की प्रस्तुत कृति में कबीर-काव्य के इत:पूर्व विवेचनों का समेकित पुनर्मूल्याकन उपस्थापित किया गया है। कबीर-काव्य के भाषिक तत्त्व और उसकी रचना-प्रक्रिया, दोनों के गुणवैशिष्ट्य का युगपत् समुद्भावन ही इस महार्घ कृति का उल्लेखनीय पक्ष है। आजकल की समीक्षा मे प्राय: मूलवस्तु की उपेक्षा कर उसपर स्वतन्त्र फतवा देने का फैशन परिलक्षित होता है, जिससे समीक्ष्य विषय तो उपेक्षित ही रह जाता है और समीक्षक का केवल अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन ही उभरकर सामने आ जाता है, और वह भी प्राय. 'अमूल' ही होता है। किन्तु, शास्त्रदक्ष व्याख्याकार डॉ० गुप्त ने ठीक इसके विपरीत, आचार्य मल्लिनाथ की आलोचना-

---

१. लेखक : डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, १४७, त्रिवेणी रोड, बाई का बाग, इलाहाबाद-३; प्रकाशक : भाषा-साहित्य-संस्थान, पता : उपरिवत्; मुद्रक : चन्दन प्रेस, ४३२। ए ३, नई बस्ती. कीटगंज, इलाहाबाद-३; संस्करण : प्रथम, जनवरी, १९८३ ई०; पृ० सं० २४०; मूल्य : पुस्तकालय-संस्करण : साठ रुपये; किफायती संस्करण : तीस रुपये।

शैली के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते' का ही अनुसरण करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। फलत, प्रस्तुत कृति से कबीर-काव्य के अध्येताओं के लिए एक प्रामाणिक व्याख्या सुलभ हुई है।

प्रस्तुत कृति मे स्वीकृत प्रतिज्ञा ('थीसिस') को कुल छियासठ नातिदीर्घ प्रकरणों मे परिवेपित किया गया है और सभी प्रकरण-शीर्षक कबीर के विभिन्न पदांशों से गृहीत हैं। इन प्रकरणो मे डॉ० गुप्त की आलोचना-प्रणाली, काव्य-तत्त्व के विश्लेषण की अपेक्षा निगूढ अर्थों के अनुसन्धान के अभिप्राय से तुलनात्मक शब्दशास्त्रीय विवेचन और पाठालोचन के प्रति अधिक आग्रहशील है। इस दृष्टि से 'दोऊ लोचन मरहि पियास रे' (२६), 'ऊच नीच समसरिया' (२८), 'कबीर मन मसवागी मुक्ति' (३१), 'भले इन ग्यानिन ते ससारी' (३३), 'आपण मर्मैं नाहि' (४६), 'कबीर मन गोरख गोव्यदो' (५०), 'मन का मैल छाडि दे बौरे' (५१), 'भगति नारदी मगन सरीरा' (६०), आदि प्रकरण विशेष रूप से उदाहरणीय है।

कहना न होगा कि डॉ० गुप्त का व्याख्या-परिसर व्यापक है, इसीलिए उन्होंने कबीर-काव्यदर्शन के अध्ययन के प्रसंग मे, वैदिक, जैन, बौद्ध, सूफी-इस्लामी आदि सम्प्रदायो के निर्वेदवादी आयामो को, आधुनिक पूर्वसूरियो द्वारा की गई व्याख्या के सन्दर्भों के साथ, पुङ्खानुपुङ्ख रूप मे, अपनी व्याख्या का विषय बनाया है। इससे जहाँ एक ओर, भारतीय अध्यात्मिकी के गहन चिन्तन का परिचय प्रस्तुत हुआ है, वहीं [illegible] पद्धति से उपन्यस्त विवेच्य विषय अतिशय आकर्षक बन गया है। कुल मिलाकर डॉ० गुप्त की विवेच्य वस्तु सर्वथा मौलिक प्रतीत होती है और प्रबुद्ध पाठको को कबीर के [illegible] की तात्त्विकता का आनन्दकर रसास्वाद उपलब्ध होता है। निस्सन्देह, डॉ० गुप्त की यह कृति उन्हे काव्यालोचन की एक विशिष्ट पद्धति के प्रवर्तक के रूप मे प्रतिष्ठित करती है।

पुस्तक का मुद्रण निर्दोष है और आवरण का आकल्पन उदात्त कला-अभिरुचि को रेखांकित करता है।

o

पैदल और कुहासा[1]

मूलत जनवादी या मानववादी [illegible] श्रीवास्तव की प्रस्तुत औपन्यासिक कृति निम्न-मध्यवर्गीय [illegible] की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक है। [illegible]

---

१ लेखक : श्री [illegible] श्रीवास्तव, [illegible] ००००७; प्रकाशक : [illegible] प्रकाशन [illegible] इलाहाबाद : २११००३; मुद्रक : [illegible] इलाहाबाद २११००३; संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० [illegible]; मूल्य बत्तीस रुपये।

स्वाभिमान के साथ यथार्थ जीवन की चित्रण-सहजता हिमांशुजी के लेखन की उल्लेखनीय निजता है। अपनी रचना-प्रक्रिया की इसी निपुणता-शक्ति से उन्होंने हिन्दी-कथाकारो मे अपनी स्वतन्त्र प्रत्यभिज्ञा प्रतिष्ठापित की है। यहाँतक कि वह अपनी रचनाओं मे, भाषा और भावो के अकन मे भी कही असहज नही दिखाई पड़ते। मानव-जीवन के उत्थान-पतन के क्रमिक विकास की प्रदर्शन-पद्धति मे उनकी वाग्विभूति निश्चय ही सातिशय सफल सिद्ध हुई है। उनका उपन्यासकार, उठे हुए को उठाने की चिन्ता न करके, घात-प्रतिघातों के बीच घिरे और गिरे हुए को उठाने की आत्मविकलता झेलता है और ऐसा प्रतीत होता है, जैसे स्वय कथाकार ही अपने वैसे कथापात्रो के साथ साधारणीकृत हो जाता है और इसीलिए उसकी आत्मानुभूति की कथाभिव्यक्ति ततोऽधिक मार्मिक बन जाती है।

औपन्यासिक प्रविधि की दृष्टि से प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली पर लिखित इस कथाकृति का कथानायक अनुज कुछ घण्टो के लिए कर्फ्यू उठने की अवधि मे, गृहस्थी की आर्थिक समस्या को सुलझाने के निमित्त केवल सत्तर रुपये चौआलीस पैसे का चेक उपलब्ध करने घर से दूर 'राज्य-किसान-कल्याण-कार्यालय' के लिए पैदल चलता है और कार्यालय पहुँचने तथा चेक हस्तगत करने के अन्तराल मे उसका सघर्षपूर्ण अतीत जीवन उसकी स्मृति के कुहासे मे उद्भावित होता है और यही स्मृतिचित्र पूरे उपन्यास का कथ्य बन गया है, साथ ही इसी प्रसग से इस कथाकृति की आख्या भी अन्वर्थ हुई है।

अनुज के चिन्तन-क्रम के व्याज से युगचेता एवं कथाशास्त्रज्ञ उपन्यासकार ने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव साहित्यिक जीवन के तथाकथित कतिपय मायाधर्मी बहुरुपिया या गोमुखव्याघ्र पात्रो की दुर्नीतिमूलक गतिविधि का सांगोपांग चित्रण करके समसामयिक विडम्बना और विषमता से परिपूर्ण भारतीय जीवन का पूरा ठाट खड़ा कर दिया है। फलत., अल्पमात्रा मे समुद्दिष्ट होकर भी यह कथा बहुधा विसर्पणशील बन गई है।

शिष्ट भाषा मे चुभते व्यग्य या वर्त्तमान व्यवस्था के प्रति आक्षेप करने में तो कथाकुशल एवं गहन चिन्तक हिमांशुजी को जैसे महारत हासिल है। नीतिपरक सूक्तिबहुल भाषा मे विन्यस्त उनकी वेधक वचनवक्रता तो निश्चय ही नितान्त अनुशंसनीय है। कुल मिलाकर, आंचलिकताधर्मी सर्वसाधारण-सी वस्तु भी उनके भाषिक विभावन के आसंग से असाधारण हो उठी है।

पुस्तक का मुद्रण प्राय: स्वच्छ और निर्दोष है तथा स्मृति-चिन्तन को प्रतीकित करनेवाला आवरण नेत्रावर्जक।

छोटी-सी उपन्यासिका का पच्चीस रुपये मूल्य खरीदकर पढनेवाले पाठकों को, अवश्य ही अखरेगा!

०

वैशाली-दिग्दर्शन[1] :

प्रागैतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से, भगवान् महावीर की जन्मभूमि वैशाली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरकारी और सर्वजनीन स्तर पर वैशाली की ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक और भौगोलिक महत्ता के प्रतिपादक कई एक छोटी-बडी पुस्तके प्रकाशित हुई है। किन्तु, प्राचीन वैशाली के उद्धारक सदस्यो मे आदरपूर्वक पाक्तेय बिहार-सरकार के पूर्ववर्त्ती शिक्षा-सचिव श्रीजगदीशचन्द्र माथुर (अब स्वर्गीय) तथा डॉ० योगेन्द्र मिश्र, अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर एव अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, पटना-विश्वविद्यालय द्वारा सम्मिलित रूप मे सम्पादित प्रस्तुत कृति वर्णन की विशदता और बहि साक्ष्य तथा अन्त साक्ष्य-मूलक प्रामाणिकता के कारण वैशाली की आधिकारिक परिचायिका-कृतियो मे ततोऽधिक उल्लेखनीय है।

इस कृति का वर्ण्य विषय चार भागो मे शास्त्रसिद्ध लेखनियो द्वारा उपन्यस्त है। प्रथम भाग में डॉ० योगेन्द्र मिश्र द्वारा लिखित 'वैशाली का इतिहास' है। द्वितीय भाग मे बिहार के पुरातत्त्व एवं सग्रहालय-निदेशक डॉ० सीताराम राय ने 'वैशाली का पुरातत्त्व' उपस्थापित किया है। तृतीय भाग में श्रीजगदीशचन्द्र माथुर द्वारा निबद्ध 'वैशाली-लीला' शीर्षक रूपक समाविष्ट है और चतुर्थ भाग मे सम्पादकद्वय द्वारा 'वैशाली का नवजागरण' शीर्षक से वैशाली की बहुमुख सामाजिक और सारस्वत प्रगति पर प्रकाश-निक्षेप किया गया है, जिसमे राजनीति, समाज, साहित्य और कला-क्षेत्र के विभिन्न व्यक्तियो द्वारा अपने-अपने ढंग से अर्पित योगदान का भी मूल्याकन किया गया है। अन्त मे, वैशाली-चित्रावली आकलित है।

कुल मिलाकर, यथाविनिवेशित शोधपूर्ण सामग्री अपने-आपमे बहुत ही सन्तुलित है और सरल-प्राजल भाषा मे विन्यस्त होने के कारण वह विषय-वस्तु को समीचीनता के साथ उद्भावित करती है। प्राचीन वैशाली-गणतन्त्र के गौरवमय एव सातिशय रोचक राजनीतिक एव भौगोलिक इतिहास की पुखानुपुंख प्रस्तुति मे डॉ० मिश्र का स्वीकृत विषय के प्रति पूर्ण अभिनिवेश परिलक्षित तो होता ही है, भारतीय पुरातत्त्वेतिहास के अध्ययन और उपस्थापन मे उनकी सुतीक्ष्ण मनीषा की गम्भीरिमा भी प्रतिभासित होती है। इसी प्रकार, वैशाली के पुरातत्त्व के अध्ययन मे डॉ० राय ने अपनी तलावगाही सूक्ष्मेक्षिका का अतिशय प्रशसनीय परिचय प्रदर्शित किया है। इस पुरातात्त्विक अध्ययन से वैशाली

---

१. सम्पादक · श्रीजगदीशचन्द्र माथुर · डॉ० योगेन्द्र मिश्र; प्रकाशक : वैशाली-संघ, वैशाली (बिहार); मुद्रक · श्रीकामेश्वर प्रसाद, कालिका प्रेस, आर्यकुमार रोड, पटना : ८००००४; संस्करण : प्रथम, सन् १९८१ ई०; पृ० सं० १४०, अतिरिक्त २३ चित्रफलक; सशोधित न्यूनतम मूल्य : बीस रुपये; प्राप्तिस्थान : श्रीजगन्नाथप्रसाद साहु, कार्यपालक मन्त्री, वैशाली-संघ मालगंज, जिला : वैशाली (बिहार)।

का तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं भौगोलिक परिदृश्य सागोपाग रूप मे उजागर हुआ है।

श्रीमाथुरजी के ललित रूपक मे वैशाली की तत्कालीन ऐतिहासिक, राजनीतिक और सास्कृतिक परिस्थितियो और अवधारणाओं का आवर्जक चित्रण तो हुआ ही है, उसे आधुनिक भारतीय गणतन्त्र के विकासोत्कर्ष से जोडकर उसकी प्रासगिकता को भी मूल्य दिया गया है। इस प्रकार, यह कृति वैशाली के सम्बन्ध मे जिज्ञासा रखनेवालों की आत्म-तृप्ति के निमित्त अनुकूल निर्देशिका बन गई है और इस दृष्टि से इसकी 'वैशाली-दिग्दर्शन' आख्या सार्थक है।

पुस्तक का मुद्रण स्वच्छ और निर्दोष तथा अमर कलाशिल्पी **श्रीउपेन्द्र महारथी** के रेखाकन और लिप्यकन से मण्डित, वैशाली की प्राचीन कला को प्रतीकित करनेवाला आवरण गरिमापूर्ण है।

o

श्वेतपुर की खोज और उसका इतिहास[१] :

बिहार-राज्य के वैशाली जिले के मुख्यालय हाजीपुर से पूर्व, गण्डकी नदी के तटवर्त्ती सात से तेरह मील के बीच बसे कटहरिया से मनियारपुर तक के सोलह गाँव, जिनमें चेचर भी सम्मिलित है, प्राचीन महानगर श्वेतपुर के वर्त्तमान प्रतिनिधि है, जिन्हें इस कृति मे सुविधा की दृष्टि से 'चेचर' या 'चेचर-ग्रामसमूह' कहा गया है। तीरभुक्ति की प्राचीन राजधानी श्वेतपुर की खोज भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास मे चमत्कारपूर्ण अभिनव उपलब्धि है और इस पुरातात्त्विक अन्वेषण का श्रेय पटना-विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्रोफेसर एव अध्यक्ष (अब अवकाशप्राप्त) **डॉ० योगेन्द्र मिश्र** को है। भारत की प्राचीन समृद्धि के प्रतीक जाने कितने नगर कालगतिवश धरा के गर्भ मे विलीन है। पुरातत्त्ववेत्ता, भारत के अतीत वैभव का परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही, उत्खनन द्वारा भू-गर्भ से प्राप्त प्राचीन सामग्री का विभिन्न दृष्टिकोणो से अध्ययन करते है और उसी आधार पर तत्कालीन मानव की जीवन-प्रक्रिया का पता लगाते है। उनका इस प्रकार का अन्वेषण-प्रयास निरन्तर चलता रहता है। प्रत्नविद् डॉ० मिश्र द्वारा बौद्धो की प्राचीन भूमि श्वेतपुर की खोज उसी अनुसन्धान की दिशा मे सर्वथा नवीन पदक्षेप है।

प्रस्तुत कृति मे कुल दस अध्याय है। पहले अध्याय मे श्वेतपुर (अनुमित समय : प्राचीन काल से सन् ५५० ई० तक) के अनुसन्धान और अभिज्ञान के विभिन्न पक्षो पर

---

१. **लेखक : डॉ० योगेन्द्र मिश्र, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, पटना-विश्वविद्यालय, पटना; प्रकाशक : श्रीमती सुशीला देवी, वैशाली-भवन, टिकियाटोली, पटना : ८००००६; मुद्रक : वैशाली प्रेस, एनी बेसेण्ट रोड, पटना : ८००००४: संस्करण : प्रथम, सन् १९७९ ई०; पृ० सं० २१९ + १७, अतिरिक्त १५ चित्रफलक; मूल्य : पचास रुपये।**

इतिहास-सम्मत प्रकाश डाला गया है, दूसरे अध्याय मे श्वेतपुर के उदय और उसके क्रमिक विकास का अध्ययन किया गया है, तीसरे अध्याय मे उत्कर्षोन्मुख श्वेतपुर का वर्णन है और उसी क्रम मे तत्कालीन मौखरिवंश (लगभग सन् ५५० से ६०६ ई०) के शासन की विवेचना की गई है, चौथे अध्याय में हर्षवर्द्धन (सन् ६०६ से ६४७ ई०) के शासनकाल मे श्वेतपुर के चूडान्त उत्कर्ष को दरसाया गया है, पाँचवें अध्याय में श्वेतपुर को अरुणाश्व (सन् ६४७-६४८ ई०) की राजधानी के रूप मे चित्रित किया गया है, छठे अध्याय मे अरुणाश्व के बाद श्वेतपुर के अपकर्ष की करुणा कथा है, सातवें अध्याय मे पालवश (लगभग सन् ६९० से १०९६ ई०) के समय के श्वेतपुर का पुनरुत्कर्ष वर्णित है, आठवें अध्याय मे तत्कालीन श्वेतपुर का महत्त्व आँका गया है, नवें अध्याय मे श्वेतपुर के पतन (सन् १०९७ से लगभग १४०० ई०) के कारणों का निर्देश किया गया है और अन्तिम दसवें अध्याय मे श्वेतपुर के पुरावशेषों का विवरण है। परिशिष्ट मे सहायक ग्रन्थो की सूची और शब्दानुक्रमणी समाविष्ट कर ग्रन्थ की शोधोपयोगिता मे ततोऽधिक वृद्धि की गई है। यथाप्रस्तुत चित्रो के माध्यम से श्वेतपुर की प्राचीन मूर्त्तियो और कलात्मक अवशेषो के अतिरिक्त, उत्खनन द्वारा प्राप्त सिक्को, मृद्भाण्डों आदि का प्रत्यक्षीकरण कराया गया है।

कुल मिलाकर, श्वेतपुर के सम्बन्ध मे ततोऽधिक प्रामाणिक, पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक सामग्री का सांगोपांग आकलन डॉ० मिश्र के शोधश्रम-सातत्य का प्रत्यक्ष साक्ष्य बन गया है। उन्होने अपनी भूमिका 'श्वेतपुर का नवजागरण' मे अपनी शोधयात्रा की दुस्तर कठिनाइयो का उल्लेख किया है और कहना न होगा कि उन्होने अपने इस कठिन कार्य द्वारा भर्त्तृहरि की **'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति'** जैसी उत्साहजनक सूक्ति को चरितार्थ किया है।

प्रस्तुत कृति मे, शोध-अधीती लेखक ने 'पचनदीसगम' को, जिसका उल्लेख प्रसिद्ध चीनी यात्री **फाहियान** ने अपने यात्रा-विवरण मे श्वेतपुर (चीनी नाम 'चपोहोलो' या 'तुपोहोलो' और **हुएनसांग** के अनुसार 'शिफइतोपोलो'=श्वेतपुर) की चर्चा के क्रम मे किया है, 'नदीग्राम' या 'नादिकागाम' मानकर उसे श्वेतपुर (वर्त्तमान अभिज्ञा 'चेचर') का ही पर्यायवाची कहा है। इस सन्दर्भ मे ज्ञातव्य है कि **आचार्य सघदासगणी** (ई० तृतीय-चतुर्थ शती) ने भी अपनी कालजयी प्राकृत-कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' के पन्द्रहवे वेगवतीलम्भ मे 'पंचनदीसंगम' का उल्लेख किया है, जहाँ वसुदेव अपनी विद्याधरी पत्नी वेगवती के साथ राजगृह से यात्रा करते हुए पहुँचे थे। कथाकार ने 'वरुणोदिका' नदी की चर्चा के क्रम मे लिखा है कि वसुदेव 'पंचनदीसंगम' के निकट-स्थित आश्रम मे गये। वहाँ उन्होने अपनी विद्याधरी पत्नी के साथ 'वरुणोदिका' नदी की पाँचो धाराओ के संगम में स्नान किया और आयतन मे प्रतिष्ठित सिद्धो को प्रणाम किया। वह प्रदेश अनेकविध वृक्षो से गहन था और वहाँ से चलते समय उन्होने 'सीमनगर' को देखा था 'ततो मु **पंचनदीसंगमासण्णं आसमपयं**

गयाइं । वरुणोदियं च पुलिणं दहवंतीओ ओगाहेऊण ण्हायाणि कयसिद्धपणामाणि उत्तिण्णाणि । पस्सामि दुमगहणविसूइ तणाणं । रमणिज्जयाय तीसे पुलिणद्दहसोहाणि पस्समाणाणि, सीयं नयरं च विविहधाउकयंगरागं, गगणपमाणमिव निणिउग्गयं वरुणोदिकासलिलपक्खालिज्जपायं....।' तो, क्या वह 'सीमनगर' तीरभुक्ति की यथासकेतित तीन राजधानियो मे तीसरी राजधानी 'सीमारामपत्तन' तो नही था, या फिर उक्त 'पंचनदी-संगम' फाहियान द्वारा वर्णित 'पंचनदीसंगम' (प्रमुख नदी-सन्तरणस्थान) तो नही था ? और फिर, कथाकार संघदासगणी द्वारा लिखित कथा के अनुसार, वसुदेव अपनी यात्रा के क्रम मे राजगृह से श्वेतपुर तो नही गये थे, जो अपने समय मे विशिष्ट जिनतीर्थ के रूप मे भी प्रसिद्ध रहा हो ? श्वेतपुर के परिचय के क्रम मे 'वसुदेवहिण्डी' का यह सन्दर्भ विचारणीय है।

निश्चय ही, डॉ० मिश्र की यह महार्घ शोध-कृति पुरातत्त्वेतिहास के क्षेत्र मे अपने सर्वथा नवीन अनुसन्धान की दृष्टि से केवल उल्लेखनीय ही नही है, वरन् इसका क्रान्तिकारी महत्त्व है।

पुस्तक का मुद्रण निर्दोष और चेचर-ग्रामसमूह के वाजिदपुर के भिण्डे (टीले) से प्राप्त ध्यानासीन भगवान् बुद्ध की पालकालीन मृण्मूर्त्ति से अंकित आवरण सामान्य होते हुए भी विशिष्ट है।

०

समीक्षक : डॉ० आनन्दनारायण शर्मा

पत्रकारिता : सिद्धान्त और विश्लेषण[1] :

हिन्दी मे पत्रकारिता से सम्बद्ध अनेक पुस्तकें प्रकाश में आई है। पर, उनमें अधिकतर हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास-पक्ष पर आधृत हैं, जबकि प्रस्तुत कृति में, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, पत्रकारिता के सिद्धान्त-पक्ष का विशुद्ध विवेचन है। इसमे पत्र और समाचार-पत्र की परिभाषा के अतिरिक्त पत्रकारिता के दर्शन, उसकी प्रवृत्तियाँ, आकर्षण, विशेषताएँ, सीमाएँ, खतरे आदि जितने विषयों का समावेश किया गया है, उतने विषयों का इससे पहले की किसी एक पुस्तक मे कदाचित् ही किया गया हो। इतना ही नही, इसमें पत्रकारिता के विभिन्न अंग — सम्पादन, प्रूफ-सशोधन, संवाद-संकलन, संवाद-लेखन, छाया-चित्रण, व्यंग्य-चित्रांकन आदि पर भी स्वतन्त्र अध्यायो मे विचार किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की दूसरी विशेषता यह है कि इसमे पत्रकारिता के जिन सिद्धान्तो अथवा पहलुओं की चर्चा है, वे अँगरेजी या किसी अन्य भाषा के एतद्विषयक ग्रन्थ से

१. लेखक : श्रीविश्वनाथ सिंह, सहायक सम्पादक, दै० 'आर्यावर्त्त', इण्डियन नेशन प्रेस, पटना : ८०००१; प्रकाशक : किशोरी प्रकाशन, सी।३१, पत्रकार-नगर, पटना ८०००१६; मुद्रक : ज्योतिश्री प्रेस, चाँदमारी रोड, पटना ८०००२०; संस्करण : प्रथम, नवम्बर, १९८२ ई०; पृ० सं० ३४४ (डिमाई); मूल्य : पचपन रुपये।

आयातित नही, वरन् लेखक के निजी अनुभव से दीप्त है। इसके लेखक श्रीविश्वनाथ सिंह हिन्दी के पुराने और वरिष्ठ पत्रकार हैं। वे हिन्दी के अनेक साप्ताहिक और दैनिक पत्रो से सम्बद्ध रहे है। उन्हे इस क्षेत्र का व्यापक और सुदीर्घ अनुभव प्राप्त है। इसलिए, पुस्तक मे विषय का जितना विस्तार है, उसकी विवेचना-शैली उतनी ही सहज और सजीव वन पडी है। लेखक ने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे सुपरिचित और विषय को स्पष्ट करनेवाले हैं।

इस कृति की एक बात जो मुझे विशेष रूप से रुची, वह यह कि लेखक ने पत्रकारिता की कला और तकनीकी के पक्षो की व्यापक विवेचना के साथ हिन्दी की पत्रकारिता की प्रकृति को तथा भारतीय पत्रकारिता के सन्दर्भ मे हिन्दी की विशेष देन को भी रेखांकित किया है। इस कारण, पुस्तक को ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। उदाहरणार्थ, 'हिन्दी की देन भारतीय पत्रकारिता को' शीर्षक अध्याय का यह अश देखा जा सकता है : "हिन्दी-भाषा ने हिन्दी-पत्रकारिता को ही सरल नही वनाया, अपितु अँगरेजी-पत्रों को भी अपना इँगलिस्तानी स्वरूप वदलकर हिन्दुस्तानी स्वरूप अपनाने तथा सरल और सहज शैली में लिखने के लिए विवश कर दिया।....इसका दूसरा परिणाम यह भी हुआ कि अँगरेजी के जो समाचार-पत्र देश की घटनाओ तथा समस्याओ की उपेक्षा कर ब्रिटेन और लन्दन के समाचार तथा वही की राजनीति की समीक्षा मे अपना स्थान लगा देते थे, वे भी भारत की राजनीति तथा घटनाओ की चर्चा करने और उनके विषय मे अपने विचार व्यक्त करने को विवश हो गये।" (पृ० १९८) कुल मिलाकर, पुस्तक रोचक और उपादेय है और केवल सामान्य पाठक ही नही, गम्भीर अध्येताओं के लिए भी पठनीय है।

मुद्रण-आकल्पन साधारण है। खरीदकर पढनेवाले पाटकों को पुस्तक का मूल्य अधिक प्रतीत होगा।

o

समीक्षक : डॉ० श्यामसुन्दर घोष

तुलसी-काव्य-चिन्तन[1] :

यह, डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' की तुलसी-विषयक नई पुस्तक है। इसके पहले उनकी तुलसी और मानस-विषयक कई पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है, जिनके नाम हैं : 'मानस-शब्दार्थ-तत्त्व', 'रामचरितमानस : वाग्वैभव' और 'रामचरितमानस-भाषारहस्य'। ये

१. लेखक डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', ८।७, हरिनगर, अलीगढ - २०२००१; प्रकाशक : ग्रन्थायन, सर्वोदयनगर, सासनी गेट, अलीगढ २०२००१; मुद्रक : नवयुग प्रेस, महावीरगंज, अलीगढ; संस्करण : प्रथम, सन् १९८१ ई०; पृ० सं० १९०; मूल्य : चालीस रुपये।

सभी ग्रन्थ अपने विषय का विवेचन विस्तार से करते है। उनकी तुलना में प्रस्तुत ग्रन्थ संक्षिप्त है, लेकिन इसकी विशेषता यह है कि इसमें मानस के अलावा मानसेतर काव्य-ग्रन्थों के आधार पर तुलसी के जीवन-दर्शन, दार्शनिक दृष्टिकोण, काव्य-सिद्धान्त, छन्दो-योजना, वाङमय तप और भाषा आदि पर विचार किया गया है। साथ ही, 'तुलसी का पुनः-पुन. ब्रह्मस्मरण क्या काव्यदोष है ?', 'तुलसी और अन्य भारतीय रामायणकारो के राम-सीता' तथा 'तुलसी · परिवार, समाज और राष्ट्र की भूमियो मे' विषय पर भी लेखक ने अपने विचार सामने रखे है।

लेखक यह स्वीकारते नही हिचकिचाता कि वह तुलसीदास की ही दी हुई रोटियाँ खा रहा है। (पृ० १५) लेकिन, केवल इसी कारण से उसने तुलसी पर एक नई किताब लिख दी है, ऐसा भी नही है। तुलसी लेखक के परम पूज्य तथा परम प्रिय कवि है। उनकी कृतियो मे उसे औदात्य, आनन्द और काव्य-सौन्दर्य मिलता है, साथ ही भाषा की रमणीय कला भी मिलती है और मिलता है भारतीय सस्कृति का पीयूषमय गगाजल (पृ० १४)। इसके कारण ही वह बार-बार तुलसी-साहित्य मे अवगाहन करता है और उससे जो विचार और आनन्द प्राप्त होते है, उन्हे वह पाठको के सामने रखता है। लेखक अपने को तुलसी-साहित्य का विशेषज्ञ नही मानता। वह स्पष्ट कहता है, "बाबा के प्रसाद और आशीर्वाद से कुछ मित्रो मे यह भ्रान्ति भी फैल गई है कि 'सुमन' ने तुलसी का विशेष अध्ययन किया है। उस भ्रान्ति ने ही यह कृति भी तैयार करा दी है।" अपने बारे मे ऐसी बातें कम ही लोग करते हैं। यह लेखक के साहस और विवेक का सूचक है।

लेखक ने तुलसी-साहित्य का विवेचन करते हुए प्रसंगवश अन्य सूचनाएँ और विचार भी दिये है, जैसे सौन्दर्य और लालित्य के सम्बन्ध मे उसका यह कथन : "सौन्दर्य और लालित्य पर्यायवाची नही है, सौन्दर्य माधुर्यमय भी हो सकता है और ओजमय भी। लेकिन, लालित्य केवल माधुर्यमय होता है। लालित्य का सम्बन्ध केवल श्रृंगार और करुण से है। सौन्दर्य वीर और श्रृगार दोनो मे हो सकता है। शिव की आद्या शक्ति पार्वती का एक नाम ललिता भी है, जो सृष्टि-सर्जना के लिए लास्य करती है। ललिता के भाव-सौन्दर्य का नाम ही लालित्य है।" (पृ० १२) जगह-जगह लेखक ऐसी कितनी ही प्रासंगिक बातें कहता चलता है। यह ग्रन्थ का एक अतिरिक्त आकर्षण है।

जिन पाठको को सुमनजी के तुलसी-विषयक बृहद् ग्रन्थो को देखने का अवकाश नही है, उन्हें इस सक्षिप्त विवेचन से उनके तुलसी-सम्बन्धी विचारो का बोध हो जायगा। यह एक प्रकार से तुलसी-विषयक उनके अध्ययन-विवेचन का निचोड़ है। इस रूप मे यह पुस्तक तुलसी-साहित्य के अध्येताओं के लिए विशेष उपयोगी हो सकती है।

पुस्तक का मुद्रण निर्दोष और आवरण आवर्जक है, किन्तु पुस्तक का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक है।

०

समीक्षक : डॉ० रामप्यारे तिवारी

हिन्दी-काव्य का मूल्यांकन[१] :

विवेच्य ग्रन्थ 'डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय-संस्थान' मे आयोजित हिन्दीकाव्य-सम्बन्धी विभिन्न गवेषणात्मक लिखित व्याख्यानो का संकलन है। इस संकलन मे भक्ति-काल से आधुनिक काल तक की हिन्दीकाव्य-प्रवृत्तियों पर देश के विभिन्न भागो की विदुषी लेखिकाओं का गवेषणात्मक विचार-मन्थन है।

प्रथम दो व्याख्यान—'कृष्णकाव्य' और 'रामकाव्य' संकलन की सम्पादिका और व्याख्यानमाला की संयोजिका डॉ० रामकुमारी मिश्र के हैं। इनमे उन्होने कृष्णकाव्य और रामकाव्य की परम्परा, प्रगति और प्रयोग के परिपार्श्व मे उक्त परम्परा के कवियो के वैशिष्ट्य के साथ-साथ उनके विशेष योगदान का बहुत ही निष्पक्ष और उत्तम मूल्याकन किया है। डॉ० आशा गुप्ता के 'सन्तकाव्य : कुछ उपलब्धियाँ' और डॉ० सरला शुक्ल के 'प्रेमगाथा की परम्परा' व्याख्यानो मे दोनो लेखिकाओ के वैदुष्य और शोधप्रज्ञता की अन्तर्दृष्टि लक्षित है। 'रीतिकालीन परम्परा की विशेषताएँ' व्याख्यान मे डॉ० शोभा-रानी श्रीवास्तव ने रीतिकाल को भक्तिकाल की प्रतिक्रिया के प्रतिफल के रूप मे स्वीकार करते हुए तत्कालीन वातावरण और रीतिकालीन प्रवृत्तियो तथा विशेषताओ का सम्यक् अवलोकन किया है। डॉ० शैलकुमारी के गवेषणात्मक व्याख्यान 'रीतिमुक्त काव्य और घना-नन्द' मे रीतिमुक्त कवि के लक्षण और वैशिष्ट्य के साथ घनानन्द के जीवन और साहित्य पर प्रमाणपुष्ट विवेचन है। डॉ० मीरा श्रीवास्तव ने अपने व्याख्यान 'छायावादी कविता : पृष्ठभूमि और विकास' मे छायावाद के प्रादुर्भाव, विकास तथा वैशिष्ट्य को मार्मिकता से व्यक्त किया है। यद्यपि इसमे छायावादी काव्य की कतिपय प्रवृत्तियो पर विस्तृत प्रकाश नही पड़ सका है, तथापि अपने सीमित कलेवर मे इस व्याख्यान ने छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियो और विशेषताओ का संस्पर्श कर लिया है। डॉ० नीलिमा सिंह ने अपने व्याख्यान 'आधुनिक राष्ट्रीय काव्य और दिनकर' मे आधुनिक राष्ट्रीय काव्य की अपेक्षा दिनकर की राष्ट्रीय भावना पर ही अधिक विचार किया है। फलत:, जिस पृष्ठ-भूमि पर लेखिका दिनकर की राष्ट्रीयता के ऊर्जस्व को उद्घोपित करना चाहती हैं, वह स्पष्ट नही हो सका है।

'नई कविता' शीर्षक व्याख्यान मे डॉ० श्रीमती गिरिजा सिंह ने वैज्ञानिक पद्धति से नई कविता पर अपने पर्यवेक्षण और चिन्तन को तर्कसम्मत बनाते हुए तत्सम्बन्धी निष्कर्ष दिया है। अन्तिम व्याख्यान—'हिन्दी-काव्य मे गुजराती-कवियो के

१. संयोजिका एवं सम्पादिका : डॉ० रामकुमारी मिश्र, प्राध्यापिका, हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय; प्रकाशक : डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय-संस्थान, इलाहाबाद; मुद्रक : श्रीसरयूप्रसाद पाण्डेय, नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहा-बाद; संस्करण : प्रथम, सन् १९७८ ई०. पृ० सं० २२०, मूल्य आठ रुपये।

योगदान' के अन्तर्गत डॉ० प्रेमलता वाफना ने आधुनिक अनुसन्धानों के आधार पर १५वीं शती से आजतक के चार सौ से अधिक गुजराती-भाषी कवियों के हिन्दी-काव्य मे योगदान का संकेत करते हुए जो ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है, वह श्लाघ्य है।

मुद्रण और आवरण की दृष्टि से पुस्तक का प्रस्तुतीकरण प्रशसनीय है।

o

अरिस्तु[1] :

विश्व के चिन्तकों मे अरिस्तु (अरस्तू) का उल्लेखनीय स्थान है। उसने अपनी सशक्त अन्तर्दृष्टि से मानव-जीवन की ज्ञान-साधना के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन किया है। आज ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के चरमोत्कर्ष-काल मे भी उसके विचार अकाट्य है। किन्तु, दुर्भाग्य यह है कि ऐसे विश्वविश्रुत मनीषी के जीवन और दर्शन पर हिन्दी मे कोई सर्वांगपूर्ण प्रामाणिक कृति नही है।

ऐसी स्थिति मे इस पुस्तक को लिखकर श्रीआनन्दशंकर माधवन ने स्तुत्य प्रयास किया है। विद्वान् लेखक ने जिस सरलता और सहृदयता से अरिस्तु के जीवन और दर्शन का अनुशीलन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पुस्तक का भ्रष्ट मुद्रण क्षोभजनक है।

o

समीक्षक : डॉ० स्वर्णकिरण

नये अभिलेख का सूरज[2] :

प्रस्तुत कृति, हिन्दी के परिचित कवि डॉ० वेदप्रकाश 'वटुक' द्वारा समय-समय लिखित कविताओं का श्रेष्ठ संग्रह है। व्यक्तिवाद मे कवि को आस्था है, पर स्वदेश के संवेदन को वह शब्दबद्ध करने मे पीछे नही रहता और कविता मे सहजता, सरलता एवं उपयोगिता को विशेष महत्त्व देता है। समाज एव राष्ट्र के अन्धकार को नये अभिलेख के सूरज से वह दूर करना चाहता है, सूने जीवन को आशा, उत्साह एवं आत्मबोध से भरना चाहता है, साथ ही कविता की शक्ति और उपयोगिता के प्रति वह सहृदय पाठक को उद्‌ग्रीव करता है।

पुस्तक का मुद्रण और आवरण श्लाघ्य है।

o

---

१. लेखक : श्रीआनन्दशंकर माधवन; प्रकाशक : अमरावती, मन्दार विद्यापीठ, भागलपुर (बिहार); मुद्रक . श्रीगोविन्दप्रसाद झा, मन्दार विद्यापीठ प्रेस, मन्दार विद्यापीठ, भागलपुर (बिहार); संस्करण . प्रथम, नवम्बर, १९८१ ई०; पृ० सं० ७२; मूल्य : पाँच रुपये।

२. रचयिता : श्रीवेदप्रकाश 'वटुक', फजलपुर (मुजफ्फरनगर), जि० मेरठ (उ० प्र०); प्रकाशक : भारतीय साहित्य-प्रकाशन, २८६, चाणक्यपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०); मुद्रक : वैदिक मुद्रणालय, पहाड़ीधीरज, दिल्ली : ११०००६; संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० ७२; मूल्य . बीस रुपये।

हिन्दी में आंचलिकता की परम्परा

'मैला आँचल' मेरे लिए न तो कथाचल की नवीनता के कारण कुतूहल का विषय रहा है, न भाषागत प्रयोग की दृष्टि से आकर्षक, अपितु इसे मैंने हिन्दीभाषा-साहित्य-परम्परा की एक विशिष्ट कड़ी के रूप मे पहचाना है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' की आचलिकता हिन्दी की जातीय परम्परा से विकसित हुई है, उधार की पूँजी से नही। मै इस उद्भावना का कभी कायल नही रहा कि सतीनाथ भादुड़ी और बँगला के अन्य आंचलिक उपन्यासकारो की प्रभाव-परिधि मे ही 'रेणु' ने हिन्दी मे ग्राम-गाथा को नई दिशा दी है। यह मान्यता कृती उपन्यासकार 'रेणु' को हिन्दी की जातीय मिट्टी से केवल विस्थापित ही नही करती, उसकी कारयित्री प्रतिभा को उत्तमर्ण भी नही रहने देती है। निश्चय ही, यह मन्तव्य हिन्दी मे आचलिकता की प्रवृत्ति के विकास-क्रम से अनभिज्ञ है, जो उक्त परम्परा की प्रत्यभिज्ञेय, अथच मौलिक परिणति के रूप मे 'मैला आँचल' का मूल्याकन कर सकने मे असमर्थ है।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ भी इतर भाषाओ की ही तरह लोकवाणियो से हुआ है। हिन्दी की क्षेत्रीय बोलियो की रचनाओ मे आचलिकता की प्रवृत्ति स्वयंसिद्ध है। 'मैला आँचल' मे पूर्वी मिथिला की बोली ही नही, उसके लोक-साहित्य की सामग्री का भी समावेश हुआ है। उपन्यासकार अनायास ही मिथिला के लोकगीतो और आचलिक कवि विद्यापति से जुड़ गया है। अपने अचल की लोक-सस्कृति की पहचान के लिए उसे बँगला का मुखापेक्षी नही बनना पडा है।

प्राचीन हिन्दी-काव्य मे आचलिकता के अनेक चिह्न मिलते है। हिन्दी-समूह की मैथिली, राजस्थानी, अवधी, ब्रजभाषा आदि पूर्वी एव पश्चिमी बोलियो के पद्य-साहित्य ही नही, भारतेन्दु-पूर्व के हिन्दी-गद्य मे भी इस प्रवृत्ति की परख की जा सकती है। कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' के गद्याशो, ब्रजभाषा के वार्त्ता-साहित्य, राजस्थानी की 'ख्यातो' एव 'बातो' मे, सम्बद्ध अचलो की विशेषताएँ भूरिश. प्राप्त होती है। 'सुखसागर', 'प्रेमसागर' आदि के 'भाखापन' तथा पं० सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' के 'पूरबीपन' का निर्देश करनेवाले साहित्येतिहासकारो ने प्रकारान्तर से भारतेन्दु-पूर्व के हिन्दी-गद्य में क्षेत्रीय रगो की ही विद्यमानता स्वीकार की है।

भारतेन्दुयुगीन गद्य मे 'साधुभाषा' के निर्धारण के प्रयासो के बावजूद स्थानीय प्रयोगो की स्वच्छन्दता कम नही मिलती है। तत्कालीन निबन्धो और नाटको के अध्ययन से युगीन आंचलिकता के स्वरूप को सही ढग से समझा जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की काशिका और प्रतापनारायण मिश्र की बैसवाड़ी की छौंक से उन दिनो हिन्दी-गद्य मे

नये स्वाद का अनुभव किया गया था। उस समय के नाट्य-साहित्य में पात्रो एवं उनके परिवेश के अनुकूल संवादों के संयोजन की स्पष्ट रूढि बन गई थी। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य मे भी इस प्रवृत्ति को प्रारम्भ से ही स्वीकृति प्राप्त थी।

हिन्दी के उपन्यासों में स्थानीय वर्णमयता का आरम्भ **लाला श्रीनिवासदास** के 'परीक्षागुरु' (सन् १८८२ ई०) और राधाकृष्णदास के 'निःसहाय हिन्दू' (रचनाकाल : सन् १८८१ ई० और प्रकाशन-काल : सन् १८९० ई०) से ही लक्षित किया जा सकता है। दिल्ली की बोली की खासियत और बनारस के वार्त्तालाप की यथार्थता को उक्त उपन्यासो में जान-बूझकर महत्त्व दिया गया है। कालान्तर मे प्रेमचन्द-पूर्व के कतिपय उपन्यासकारो और स्वय **प्रेमचन्द** मे भी स्थानपात्रानुकूल बोलचाल के टुकडे उपलब्ध होते है। इस प्रवृत्ति का प्रसार **आचार्य शिवपूजन सहाय** के उपन्यास 'देहाती दुनिया' (सन् १९२६ ई०) के भाषा-प्रयोगों मे थोड़ी व्यापकता के साथ हुआ है, किन्तु यहाँ भी कथोपकथनो की आंचलिकता ही मिलती है, अंचल-विशेष की विविक्तता नहीं। यह सही है कि **आचार्य शिवजी** ने खड़ी बोली के समानान्तर आंचलिक बोली भोजपुरी से सिक्त कथासृष्टि के द्वारा ग्रामीण वातावरण को एक अभिनव आत्मीयता एवं वैयक्तिकता दी है, किन्तु उनका गाँव **प्रेमचन्द** की भाँति सामान्य है, विशेष नही। जिस तरह पं० गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था' के सिख सैनिको की पंजाबी बोली केवल वातावरण का निर्माण करती है, 'दो अकालगढ़' (**बलवन्त सिंह** का उपन्यास) के संवादो की तरह पूरे अंचल की विशिष्ट पहचान या प्रस्तुति का लक्ष्य नहीं रखती, उसी तरह 'देहाती दुनिया' भी भोजपुरी के बल पर गाँव के वातावरण को यथार्थता के कुछ और समीप ले आनेवाला उपन्यास है, पूरे क्षेत्र का लोकसांस्कृतिक दस्तावेज नही। इतिहास की दृष्टि से भी इस कृति ने परवर्त्तियो पर अपनी छाप नहीं छोडी है और वर्षो तक हिन्दी-उपन्यासकारो मे किसी ने **आचार्य शिवजी** की राह नही पकड़ी।

स्थानीय रगों की दमक **आचार्य शिवजी** के पहले और बाद के अनेक रचनाकारो मे दृष्टिगत होती है, किन्तु सबने इस प्रवृत्ति को साधन के रूप मे ग्रहण किया है, साध्य के रूप मे नही। **वृन्दावनलाल वर्मा** ने देशपात्रानुकूल यथार्थ को उजागर करने के लिए ही अपनी कथाभूमि को अधिक स्पष्टता दी है, किन्तु बुन्देलखण्ड की आंचलिकता का उद्घाटन उनका अभीष्ट नही, रूमानी इतिहास का पुनरुज्जीवन ही उनका ध्येय है। **भगवतीचरण वर्मा** ने झगड़ू मिश्र के चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता की सिद्धि के लिए 'टेढ़े-मेढे रास्ते' में उसे सदैव अवधी बोलते हुए दिखलाया है। इसी तरह **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** ने भी अपनी कृतियो मे पजाबी के प्रयोग से केवल वातावरण का निर्माण किया है; उनका लक्ष्य वस्तुत. शहरी मध्यवर्ग की समस्याओ की प्रस्तुति है। **अमृतलाल नागर** भी चरित्र-चित्रण की सप्राणता के लिए ही 'सेठ बाँकेमल' मे आगरा की बोली तथा 'बूँद और समुद्र' मे लखनऊ की अवधी का सहारा लेते हैं। 'बलचनमा' मे भी मैथिली में प्रयोग का प्रयोजन नायक का सम्यक् शील-निरूपण ही है। **नागार्जुन** का यह उपन्यास आंचलिकता को साध्य नहीं, साधन ही मानता है; क्योंकि इसमे नायकत्व मिथिलांचल का नहीं, व्यक्ति-विशेष

का है। इसमे लेखक का लक्ष्य राजनीतिक चेतना का संस्थापन जान पडता है, अचल-विशेष केवल पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हिन्दी क्षेत्रीय मिट्टी की सोधी गन्ध और स्थानीय बोलियो के जायके से अनजान नही रही है। इसमे देश-काल-चित्रण की प्रामाणिकता के लिए आंचलिक पृष्ठाधार के संयोजन की स्पष्ट परम्परा रही है, किन्तु यह वातावरण-अंकन 'रेणु' के पहले मुख्य नहीं, आनुषगिक ही था। 'मैला आँचल' ने ही इस चित्राधार को सर्वप्रथम चित्र की महिमा दी है।

काव्यमीमांसाकार यायावरीय राजशेखर ने 'आलेख्यप्रख्य' काव्यार्थ-हरण के निरूपण-क्रम मे 'उत्तस'-सिद्धान्त (काव्यमीमांसा, अ० १३) का प्रतिपादन करते हुए गौण अर्थ को प्रधान बना देने में कवि-प्रतिभा की रमणीयता का उल्लेख किया है। अवयव को अवयवी के रूप मे पल्लवित करने या वर्णन के उपेक्षित अंश को उभारकर प्रमुख प्रतिपाद्य वना देने की इस प्राक्तन काव्यशास्त्रीय धारणा को चित्रकला की भापा मे 'परिपार्श्व' ('वैंकग्राउण्ड') को 'आकृति' ('फीगर') वना देना कहा जा सकता है। 'मैला आँचल' मे, औपन्यासिक रचनातन्त्र के अन्य तत्त्वो की तुलना मे केवल 'देश' एव सवाद-योजना को अतिशय क्षेत्रीय संस्पर्श के साथ प्राधान्य देने मे यही चमत्कार परिलक्षित होता है। 'मैला आँचल' में ही सवसे पहले आचलिकता स्वयमेव उद्दिष्ट होकर सामने आती है और हिन्दी में एक नई परम्परा का प्रवर्त्तन होता है, जो निश्चय ही अपनी परम्परा से विच्छिन्न नही है।

यद्यपि, पुराने कथाकारो ने भी स्थानीय रंग देकर अपनी कृतियो मे यथार्थता, विश्वसनीयता और चारुता का सन्निवेश किया था, तथापि तव कथा-सयोजन के अन्य तत्त्वो की उपेक्षा कर केवल 'देश'-चित्रण की अपेक्षा नही की जाती थी। हम देख चुके हैं कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के इतिहास मे ऐसे रचनाकारो का अभाव नही रहा है, जिन्होंने अपनी रचनाओ को वास्तविक जीवन-सन्दर्भो से जोडने के लिए पात्रानुकूल जनपदीय संवादो और कथाक्षेत्र एवं कथाकाल के वैशिष्ट्यो का विनियोग किया है, किन्तु 'देश'-मान के सर्वतोभावेन चित्रण को ही लक्ष्य मानकर रचित 'मैला आँचल' से उनकी कृतियो का पार्थक्य स्पष्ट है। कथा की भित्ति या पृष्ठभूमि, अर्थात् पात्रो के पर्यावरण को ही मुख्य चित्र वना देना अधुनातन क्षेत्रीय उपन्यासो का व्यावर्त्तक लक्षण है और इसी विन्दु पर पूर्ववर्त्तियो के कृतित्व से 'रेणु' के आंचलिक उपन्यास 'मैला आंचल' का अन्तर प्रतिभासित होता है।

हिन्दी मे स्थानीय रगो की जो क्षीण धारा थी, उसे ही 'रेणु' ने कोसी के उद्दाम प्रवाह मे परिवर्त्तित कर दिया है। कालिदास ने 'रघुवंश' (१।१८) मे सूर्य की उस शक्ति का स्तवन किया है, जिनके द्वारा वे समुद्र मे गृहीत जल को धारासार वर्षा के रूप में वहुगुणित कर देते हैं। 'मैला आँचल' मे स्वल्प को विपुल बनाने की यही प्रक्रिया दृष्टिगत होती है, जो परम्परा के संवर्द्धन को द्योतित करती है। हिन्दी की निजी परम्परा की यह परिणति गत से अनागत तक संयुक्त होकर टी० एस० इलियट की उस धारणा को स्प

सिद्ध करती है कि साहित्यकार अपनी परम्परा के सन्दर्भ मे ही महान् होता है। प्राचीनों के दाय को अपने कौशल से समृद्ध करनेवाले 'रेणु' परवर्त्तियों के लिए एक नवीन पथ के निर्देशक भी प्रमाणित होते है। उनकी इस ऐतिहासिक महत्ता के परिज्ञान के पश्चात् यह चपल उपपत्ति निराधार हो जाती है कि वे 'जागरी' एवं 'ढोड़ायचरितमानस' और 'लोहासिंह' से अनुप्राणित हैं। वैसे प्रभावित होना भी साधारण बात नही है। काव्यशास्त्र में इसे भी 'प्रतिभा' की ही परिचायिका स्थिति के रूप में प्रतिपादित किया गया है। महाकवि भवभूति ('उत्तररामचरित', २।४) के अनुसार, 'पूर्ववर्त्तियों या समसामयिको से प्रभाव-ग्रहण के लिए भी पात्रता अपेक्षित है। मिट्टी के ढेले में प्रतिच्छाया पैदा करने की शक्ति नही होती। यह क्षमता आइने मे होती है। सूर्य की किरणो को द्विगुणित कर दर्पण ही लौटाता है, मिट्टी नही।' 'प्रतिभा' 'व्युत्पत्ति' से ही धारदार होती है और 'परम्परा' का 'समीक्षित बोध' इसी वैदुष्य के अन्तर्गत आता है। व्युत्पन्न कथा-प्रजापति 'रेणु' द्वारा बुना हुआ 'मैला आँचल' हिन्दी की देशांकन-परम्परा के सातत्य को एक अदृष्टपूर्व उत्थान देनेवाला उपन्यास है, जो विविध प्रभावधाराओ को आत्मसात् करके भी समुद्र-सा मौलिक प्रतीत होता है।

△ रीडर, हिन्दी-विभाग　　　　　　　　　　△ डॉ० प्रमोदकुमार सिंह
बिहार-विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

o

शहीदी साहित्य

शहीदी साहित्य कहने से साहित्य के जिस रूप और प्रकार का बोध होता है, हिन्दी मे वह लिखा तो बहुत पहले से गया है, पर उसका नामकरण मेरी जानकारी में शायद **पं० रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी** ने ही किया। पटना कैम्प जेल में सन् १९३२ ई० में उन्होने **पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव'** की एक लघु कृति 'हीरा'-खण्डकाव्य की भूमिका लिखी थी, जिसका नाम ही दिया था—शहीदी साहित्य। उसी भूमिका मे उन्होने यह कामना प्रकट की है कि 'शहीदी साहित्य अब हिन्दी मे आना ही चाहिए। शायद देश और काल का यही तकाजा भी है।' सम्भव है, उस समय के साहित्य के मिजाज को देखते हुए जनसाधारण में साहित्य का यह नाम प्रचलित भी रहा हो। लेकिन, साहित्य के इतिहास में ऐसे किसी नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए, हम इसे **बेनीपुरीजी** की देन ही मान लेते है।

भारतीय राष्ट्रीय भावधारा के विकास-क्रम में कई स्थितियाँ आती हैं, जिनमें आह्वान और बलिदान दो प्रमुख चरण हैं। इसे ही कुछ लोगो ने विरोध, विद्रोह और बलिदान नामक तीन स्थितियो मे निरूपित किया है। वैसे तो ये सभी स्थितियाँ एक दूसरे से जुडी है, लेकिन शहीदी साहित्य का प्रमुख भाव बलिदान ही है। हिन्दी-साहित्य की सबसे छोटी, प्रभावशाली और लोकप्रिय और प्रचलित रचना **पं० माखनलाल चतुर्वेदी** की 'पुष्प की अभिलाषा' है। इसमें बलि होने का जो उत्कट भाव है, वह इसे शहीदी

साहित्य का ऊँचा दरजा प्रदान करता है। तब ऐसी अनेक रचनाएँ लिखी गई। उन सबको हम शहीदी-साहित्य के अन्तर्गत मान सकते हैं।

शहीदी साहित्य अनिवार्य रूप से शहादत की भावना से लिखा गया साहित्य है। यह न केवल शहीदों द्वारा लिखा गया साहित्य है, वरन् शहीदों के बारे मे लिखा गया साहित्य भी है। रामप्रसाद 'बिस्मिल' की सुप्रसिद्ध कविता—'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है; देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल में है।' आदर्श शहीदी साहित्य है। इसमे न केवल उच्च कोटि की शहादत की भावना है, वरन् यह एक अमर शहीद द्वारा रचित भी है।

हिन्दुस्तान के प्रसंग में यह सचाई है कि शहीदी साहित्य का एक बड़ा हिस्सा कारागार में लिखा गया। इसमें कई क्रान्तिकारियों की जीवनियाँ, पत्र और दस्तावेज आदि आते है। अभी हाल मे सरदार भगत सिंह द्वारा लिखित उनके जेल के पत्र और दस्तावेज प्रकाशित हुए हैं। उनमे शहादत की जो उच्च कोटि की भावना है, वह उसे शहीदी साहित्य का ऊँचा दरजा प्रदान करती है। लेकिन, शहीदी साहित्य केवल जेलो तक ही सीमित नही कहा जा सकता। जेल से बाहर भी, जबकि देश स्वाधीनता-सग्राम मे प्राणपण से जूझ रहा था, तो कितने ही कवियों और लेखको ने देश के कोने-कोने मे शहीदी साहित्य का समाँ बाँधा था। ऐसे साहित्य के अन्तर्गत लिखित और अलिखित दोनो प्रकार के साहित्य आते है। तब स्वयंसेवकों, सत्याग्रहियों, धरना देनेवालो, प्रदर्शनकारियो द्वारा जाने कितने गीत-गान गाये जाते थे, जिनमें उच्च कोटि की साहित्य-भावना के साथ शहादत की भावना भी हुआ करती थी। सम्भव है, उनमे से कुछ लिखित रूप में आने से रह गये हों। ऐसे साहित्य मे झण्डागीत से राष्ट्रीय गानतक आ जाते हैं साथ ही बलिदानमूलक वीरगाथाएँ, जैसे सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' जैसी रचनाएँ भी आ सकती हैं।

शहीदी साहित्य के क्षेत्र मे बाद मे, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी बहुत काम किया। उन्होने शहीदो के श्राद्ध की एक योजना भी बनाई, जिसके अन्तर्गत शहीदी साहित्य का सुन्दर प्रकाशन हुआ। इसमे बाबा पृथ्वीसिंह आजाद की आत्मकथा से कई शहीदों की जीवनियाँ तक प्रकाशित हुईं। अफसोस! यह क्रम अधिक समय तक जारी न रह सका।

शहीदी साहित्य के दो उपविभाग आसानी से किये जा सकते हैं। एक तो क्रान्तिकारियो द्वारा रचित शहीदी साहित्य, दूसरा गान्धीवादियों या अहिंसावादियों द्वारा रचित शहीदी साहित्य। दोनो मे प्रमुख अन्तर हिंसा-अहिंसा की भावना को लेकर है। उत्सर्ग होने का भाव दोनो मे है, पर एक दुश्मन को मारते-मिटाते हुए मरना-मिटना चाहता है, दूसरा केवल स्वयं के बलिदान मे विश्वास करता है। उसका स्वयं का बलिदान ही अपने-आप मे इतना प्रभावी होता है कि दुश्मनों के छक्के छूट जाते है, उन्हें कुछ और करने की आवश्यकता नही होती।

शहीदी साहित्य के मूल में भी राष्ट्रप्रेम ही है, पर वह राष्ट्रीय साहित्य से भिन्न है। राष्ट्रीय साहित्य के अन्तर्गत भी शहीदी साहित्य हो सकता है और शहीदी साहित्य मे भी राष्ट्रीय साहित्य के तत्त्व होते हैं, लेकिन अपने आदर्श रूप मे शहीदी साहित्य की एक स्वतन्त्र कोटि है। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर तब शहीदी साहित्य के नामकरण की बात सोची गई हो। राष्ट्रीय भावना का ही एक अधिक उन्नत, अधिक घनीभूत, अधिक कारगर रूप शहीदी साहित्य के अन्तर्गत दृष्टिगत होता है। राष्ट्रीयता केवल राष्ट्र से प्रेम है, लेकिन शहादत, राष्ट्र के लिए मर मिटने का भाव है। इसलिए, राष्ट्रीय साहित्य मे यदि शहीदी साहित्य का दरजा बहुत ऊँचा माना जाय, तो यह कोई अस्वाभाविक नही है।

शहीदी साहित्य जिस प्रकार राष्ट्रीय साहित्य से भिन्न अपनी निजी विशेषताएँ लिये होता है, उसी प्रकार वह क्रान्तिकारी या इन्कलाबी साहित्य से भी भिन्न है। शहीदी साहित्य मे अपने को होम करते हुए आजादी, समाज-परिवर्त्तन या राष्ट्र-निर्माण के लिए यत्न किया जाता है, जबकि इन्कलाबी साहित्य मे अपने-आपको होम करने का भाव सर्वोपरि नही होता। वहाँ जिन्दा रहते हुए कारगर यत्न करने का भाव प्रमुख होता है। इन्कलाबी साहित्य मे जहाँ उत्साह सर्वोपरि भाव है, वहाँ शहीदी साहित्य मे उत्सर्ग की विशेष महत्ता है। उत्सर्ग भी उत्साह के विना सम्भव नही है, पर वह उससे आगे की स्थिति है। उत्साह बराबर उत्सर्ग मे ही फलीभूत हो, यह कोई आवश्यक नही है। क्रान्तिकारी अपने उत्साह का परिणाम देखने के लिए जीवित रहना चाहता है, मर-मिट जाना उसके लिए सयोग और विवशता है, पर शहीद के लिए वही चरम लक्ष्य है। वह उत्सर्ग का परिणाम दूसरो के लिए चाहता है, अपने लिए नही। फल की आशा उसे नही रहती, यह बात नही, पर वह जानता है कि फल इतनी आसानी से प्राप्त होनेवाला नही है, इसलिए वह अपने जीवन मे उसकी आशा न कर आगामी पीढी के लिए उसे प्रासगिक मानता है।

शहीदी साहित्य मे उत्सर्ग के साथ करुणा का भाव भी आवश्यक रूप से वर्त्तमान होता है। यह करुणा शहीद के उत्सर्ग का परिणाम होती है। यह दो प्रकार की हो सकती है—एक तो शहीद द्वारा उसकी जीवितावस्था मे ही नाना प्रकार के कष्ट भोगने के कारण उत्पन्न और दूसरी उसके बलि हो जाने के बाद शीशदान के फलस्वरूप। जेल में, या भूमिगत रहकर, नाना प्रकार के कष्ट झेलते हुए स्वतन्त्रता के दीवाने भी मन मे कम करुणा नही उपजाते। और, जो फाँसी के फन्दे पर हँस-हँसकर झूल जाते है, उनका तो कहना ही क्या। दोनो ही हमारे हृदय को उद्वेलित करते है। करुणा का यह भाव क्रान्तिकारी साहित्य मे उतना नही होता, जितना शहीदी साहित्य से होता है।

△ गोड्डा कॉलेज, गोड्डा
सन्तालपरगना (बिहार)

△ डॉ० श्यामसुन्दर घोष

०

प्रशान्त महासागर में, भारत से लगभग २० हजार किलोमीटर की दूरी पर स्थित इस फीजी-द्वीप मे भारतवंशियों की संख्या कुछ वर्ष पहले तक ५५ प्रतिशत थी, जो अब कई कारणो से कम होने के बाद आज भी ५१ ८ प्रतिशत है। इन सबकी भाषा हिन्दी ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त यहाँ की यह सम्पर्क-भाषा भी है। काईवीती लोग इसको न केवल समझते हैं, अपितु परस्पर वार्त्तालाप मे इसका भली भाँति व्यवहार भी करते हैं। जगह-जगह सरकार की ओर से सार्वजनिक सूचनाएँ अँगरेजी-फीजीयन भाषा के साथ हिन्दी में भी बराबर प्रकाशित होती है। सरकारी सूचना-विभाग का मुखपत्र 'शंख' हिन्दी मे भी प्रकाशित होता है। हमारी सबकी, जो फीजी मे रहते है, यह हार्दिक कामना है कि जिस प्रकार भारत-सरकार हिन्दी के टाइपराइटर और पुस्तके फीजी-निवासियो के लिए भेजती हैं, हिन्दी के व्यापक प्रयोग और पत्र-व्यवहार मे हिन्दी एवं नागरी-लिपि की भी व्यवस्था करे। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि फीजी की जनता ने पिछले दिनो प्रेमचन्द-शताब्दी-समारोह बड़े उत्साह से मनाया। इसका कारण यही होना चाहिए कि फीजी भी भारत की भाँति मुख्यत: एक कृषिप्रधान देश है और दोनो देशो की सामाजिक समस्याएँ मूल रूप से समान रही है।

इस अवसर पर यह कहना अनुचित अथवा अप्रासंगिक नही होगा कि भारत में हिन्दी के प्रश्न को लेकर जिस प्रकार राजनीतिज्ञ लोग भाषिक विवाद करते है, उसका दुष्प्रभाव विदेश के भारतवशियो पर पड़ता है। राष्ट्रीय अथवा सास्कृतिक एकता के लिए ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर जब मतभेद अथवा आन्दोलन की बात वहाँ के लोगो के कानों मे पहुँचती है, तब हिन्दी के प्रश्न पर वहाँ भी मतभेद खड़े हो जाते है। तमिलनाडु में हिन्दी का विरोध करने पर वहाँ से आये भारतवशी यहाँ भी अपनी पृथक् छवि समझने लगते हैं। पंजाब मे हिन्दी-आन्दोलन चलने पर और सिखो द्वारा विरोध करने पर फीजी के सिख हिन्दी को पराया समझने लगते है। इसलिए, हमारा नम्र निवेदन है कि भारत मे हिन्दी के प्रश्न को एकता का मापदण्ड समझा जाना छाहिए। समाचार-पत्रो के द्वारा कटु विवाद का हानिकारक प्रभाव हिन्दी के विरुद्ध पड़ता है। फूट की यह बीमारी विदेश के भारत-वंशियों में भी फैल जाती है।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि फीजी मे न केवल भारतवशी, अपितु अन्य वर्ग भी हिन्दी से प्रेम करते है और उसका उपयोग करते है। हमे आशा है, विदेश-स्थित भारतवंशियो के बीच जो हिन्दी की स्थिति है, उससे कही ऊँची प्रतिष्ठा हम फीजी मे हिन्दी को दे सकेगे। आज हिन्दी केवल भारत की ही राष्ट्रभाषा नही रह गई है। वह विश्वभाषा बन चुकी है और यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि फीजी के निवासी हिन्दी की समृद्धि मे पूरा योगदान सदैव करते रहे है और करते रहेगे।

△ ९।१४४, रामकृष्णपुरम्
नई दिल्ली—२२

△ श्रीब्रह्मदत्त स्नातक
(फीजी में कार्यस्थ)

०

दार्शनिक जिज्ञासा

जिज्ञासा मनुष्य की वह इच्छा है, जिसके कारण वह नई-नई वस्तुओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है। मानव स्वभाव से ही जिज्ञासु प्रकृति का होता है। वह अपने परिवेश की वस्तुओं को जानना चाहता है, ताकि उनके साथ अपना अभियोजन स्थापित कर सके। अगर व्यक्ति को वातावरण के साथ अभियोजन करने में सफलता नहीं मिलती है, तो उसका अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जा सकता है। अतः मानव में प्रश्न, परिप्रश्न एव ज्ञान प्राप्त करने की कामना सदा सर्वदा विद्यमान रहती है। मनुष्य तो एक मननशील प्राणी है और चिन्तन है उसका विशिष्ट गुण। इसी विशिष्टता के कारण वह पशुओं से सर्वथा भिन्न है।

दार्शनिक चिन्तन की उत्पत्ति मनुष्य की उस स्वाभाविक जिज्ञासा से होती है, जो उसे जीवन और जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्वेलित करती रहती है। मनुष्य की यह विवेकशीलता उसे अनेक प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए उत्प्रेरित करती आ रही है। वे प्रश्न इस प्रकार है: विश्व का स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार और क्यो हुई? विश्व का कोई प्रयोजन है अथवा वह निष्प्रयोजन है? आत्मा क्या है? जीवन क्या है? ईश्वर है अथवा नही? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? पारमार्थिक सत्ता का स्वरूप क्या है? ज्ञान का साधन और स्वरूप क्या है? इत्यादि। इन गुत्थियो का निदान मानव अनादि काल से चाहता रहा है। इन समस्याओ का समाधान मानव का नैसर्गिक गुण है।

दार्शनिक चिन्तन का उत्स जिज्ञासा होने से इसका उद्देश्य जिज्ञासा को सन्तुष्ट करना है। भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि मे बुद्धि के द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार नही किया जा सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति का सहारा लेकर ही परमतत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह बात ठीक है कि बुद्धि के द्वारा उस अपूर्व अनुभूति की व्याख्या की जा सकती है। बौद्धिक व्याख्या की अवहेलना भारतीय दार्शनिको ने नही की है। भारतीय चिन्तक बुद्धि को उतना महत्त्व नही देते, जितना पाश्चात्य चिन्तक और पाश्चात्य चिन्तक आध्यात्मिक अनुभूति को उतना महत्त्व नही देते, जितना भारतीय चिन्तक। भारतीय दर्शन के इतिहास पर जब हम विहंगम दृष्टि डालते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ दर्शन के व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया गया है। यहाँ दर्शन जीवन से गहरा सम्बन्ध रखता है। दर्शन का प्रयोजन केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति नही है, अपितु जीवन की समस्याओं का समाधान है।

दार्शनिक जिज्ञासा का आविर्भाव बन्धनो से छुटकारा पाने की इच्छा से होती है। इस बिन्दु पर पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन मे मौलिक एकता है। ग्रीक-दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू की दृष्टि मे दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से होता है। आश्चर्य से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। गीता मे भी इसका सकेत है। आश्चर्य से मानव इस सम्पूर्ण सृष्टि को

देखता है, सुनता है, कहता है, पर कोई भी इसको अच्छी तरह जान नही पाता है। पाश्चात्य विचारको के अनुसार, दार्शनिक जिज्ञासा का उद्भव मानसिक कुतूहल को सन्तुष्ट करन के उद्देश्य से ही होता है। बालको को नई वस्तुओ के विपय मे वड़ा कुतूहल रहता है . यह क्या है, क्यो है, 'इसका नाम क्या है, यह कैसे निर्मित होता है इत्यादि। जो शैशवकाल मे ज्ञानार्जन का हेतु है, वही प्रौढावस्था मे भी। **पैथागोरस** ने दर्शन की उत्पत्ति, शुद्धज्ञान की इच्छा से अथवा नवीन रचना कर सकने के लिए उपयोगी ज्ञान पाने की इच्छा से, बताई है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक **दकार्त्त** ने दर्शन का प्रारम्भ सशय से ही माना है।

विशेष अर्थ की इच्छा से, विशेष दु:ख की निवृत्ति और विशेप सुख के लाभ के लिए शास्त्र मे प्रवृत्ति होती है। पाश्चात्य दार्शनिको ने यह भी माना है कि कर्त्तव्य से जिस मनुष्य का चित्त किसी कारण से विमुख हो रहा हो, उसको उस कार्य मे प्रवृत्त करने के लिए तथा अकर्त्तव्य करने को जिसका मन चचल हो, उसको उससे निवृत्त करने के लिए भी दार्शनिक जिज्ञासा होती है। ससार की दु'खमयता को देखकर भी दार्शनिक जिज्ञासा की ओर प्रवृत्ति होती हैं।

जिज्ञासा का अर्थ ज्ञान की इच्छा है। आश्चर्य, कुतूहल, नई कल्पना करने की अन्त.प्रेरणा एव सशय निवृत्त करने की इच्छा--ये सब जिज्ञासा के ही विविध रूप है। साक्षात्-असाक्षात् ढग से कार्य-कारण का सम्बन्ध जानकर हम उस ज्ञान के द्वारा दु.ख का निवारण तथा सुख का प्रसारण करते है। विशेष दु ख से मुक्ति के उपाय की आकांक्षा एव विशेष सुख की प्राप्ति के उपाय की कामना से विशेषशास्त्र की उत्पत्ति होती है। दु'खसामान्य की निवृत्ति की वाछा एव परमानन्द या सुखसामान्य की अभिलाषा से दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति होती है। आत्मज्ञान ही निस्सन्देह परमानन्द है, जिसका साक्षात्कार करना हमारा दार्शनिक लक्ष्य है।

△ **दर्शन-विभाग, पटना-विश्वविद्यालय**
पटना . ८०००५

△ **डॉ० इन्द्रदेवनारायण सिन्हा**

o

उद्धरण : स्वरूप, प्रयोग और इतिहास

उद्धरण की अवधारणा स्रोतमूलक ज्ञान से जुडी हुई है। यह एक प्रकार का वैदुष्यपूर्ण अभिलक्षण है। इसका उपयोग ज्ञानात्मक सकलनो, लोकप्रिय वैज्ञानिक निबन्धो, जाँच और मुकद्मो के रिकार्डो और दार्शनिक प्रोक्तियो मे होता रहा है। इसकी परिभाषा देते हुए **स्टीफेन मोराव्स्की** ने कहा है . "उद्धरण एक निश्चित आकार मे बँधे शाब्दिक पाठ का, अथवा बिम्बो, लयो, ध्वनियो, गतियो के समूहन का, अथवा इन सबके समूहन या उनमे से कुछ के समूहन का,, फिर से, अक्षरश. किया जानेवाला प्रस्तुतीकरण है।" यह पुन.स्थापित अश किसी कृति का ऐसा भीतरी भाग होता है, जिसे वहाँ से सरलतापूर्वक

अलगाया जा सके और अभीष्ट, प्रयोजन-योग्य सन्दर्भ मे उसे समाविष्ट किया जा सके। उद्धरणो की उपयोगी महत्ता दुहरी है। एक ओर यह व्यक्त तथ्य की सत्यता का प्रामाणिक तौर पर ज्ञापन करता है, दूसरी ओर यह विशेष निकाय (स्कूल), विशेष सस्था (इस्टीच्यूशन) अथवा विशेष व्यक्ति के अभिमत को द्योतित करता है। इसके सघटक अभिलक्षणो मे 'आधिकारिकता' के विन्दु को सबसे प्रमुख माना गया है। उद्धरण अपने प्रयोग के सन्दर्भ मे एक वैसे अर्थपूर्ण भाग के रूप मे अभिकल्पित होता है, जो अपनी पहली सरचना से पूरी तरह नई और दूसरी सरचना मे आकर भी अपना सार्थक प्रकार्य सम्पादित कर सके। अन्ना वेरज्बीका ने उद्धरण को 'विजातीय तत्त्व', 'विस्थलीय तत्त्व' और 'सन्निवेशी तत्त्व' के रूप मे रेखाकित किया है। वस्तुत, यह सन्दर्भ ही है, जो उस मूल — जिसका उद्धरण एक भाग है और उस नई रचना, जहाँ इसे समाविष्ट होना है— दोनो के बीच सम्बन्ध-सूत्र जोड़ता है। इस प्रकार, इसकी प्रयुक्ति और उपयोगिता सन्दर्भ पर निर्भर होती है। तभी उद्धरण को गोताखोरीवाले सन्दर्भित विचारो का कौशल माना जाता है।

लेखक अथवा वक्ता जब अपने सारे विचारो को पूरी तरह अपने ही शब्दो मे उपस्थित नही करना चाहता अथवा अपने द्वारा व्यक्त विचारो की सम्पुष्टि के लिए स्वत तर्क प्रस्तुत करने से बचना चाहता है, तब वह विशेषज्ञो और विद्वानो द्वारा पहले से व्यक्त विचारो को अपनी अभिव्यक्ति के सन्दर्भ मे, उन्हे ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रमाण मानकर व्यवहृत करता है, जिसके लिए दूसरे किसी भी प्रकार के सत्यापन की उसे आवश्यकता नही होती। पर, इनके अतिरिक्त, कभी अभिव्यक्त तथ्य के मूल स्रोत का पता देने के लिए और कभी वैदुष्य तथा पाण्डित्य का आतक जताने के लिए भी उद्धरण का प्रयोग किया जाता है।

उद्धरणो के प्रयोग की ऐतिहासिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे जाने पर यह ज्ञात होता है कि शतियो तक उद्धरण का निकायपरक अथवा सास्थानिक विचारो को जाहिर करनेवाला पहलू ही प्रमुख और प्रभावी बना रहा। उद्धरण का सबसे पहला व्यवहार अदालत मे कानून के सिलसिले मे किया गया था। अदालत से इसका व्यवहार सेना मे शुरू हुआ। तब उद्धरण का अर्थ जनता के बीच किसी आदेश के बार-बार वाचन-भर से लिया जाता था। पर, उसकी वास्तविक ऐतिहासिक जडे गिरजे की उस पुरोहिती परम्परा मे गड़ी मिली है, जहाँ इसका प्रयोग बाइबिल के व्याख्याताओं द्वारा व्याख्या करने की प्रक्रिया मे हुआ करता था। निकाय अथवा सस्था के अधिकारियो ने उद्धरण का व्यवहार पाठात्मक आशय मे सत्य की रक्षा के लिए किया था। पुनर्जागरण के पहले तक उद्धरण का प्रयोग-क्षेत्र यही सीमित हो जाता था। बाद मे उद्धरण गिरजे से सामान्य लोगो के व्यवहार-क्षेत्र मे आ गया। यहाँ इसके कथ्य मे तो परिवर्त्तन हुआ, पर इसकी संरचना ज्यो-की-त्यो बनी रही। हाँ, अब सस्थाओ की भूमिका की जगह 'क्लासिकल' रचनाकारो ने ले ली। सोलहवी और सत्रहवी शती मे इसके अधिक खजाने पुरावशेष-

मूलक निष्ठा से सजाये गये। पर, यहाँ महत्त्व का बिन्दु यह नहीं रहा कि उद्धरण कहाँ से लिया गया है, उसका स्रोत क्या है, बल्कि यह हो गया कि इसे किन आधारो पर और किस रूप मे ग्रहण किया गया है।

अट्ठारहवी शती इसके प्रयोग का नया मोड़ बनी। उन्नीसवीं शती तक आते-आते यह नया प्रयोग पूरी तरह फलीभूत हो उठा। तब इतिहासवाद के प्रति यूरोपीय संस्कृति की जलवायु मे आये मोड़ ने, वर्त्तमान और भविष्य के विषय मे बहुतेरे अमूर्त्त प्रक्षेपणों में अतीत की लगातार पैदा हुई दखल ने और विद्वत्ता के संस्थानीकरण ने उद्धरण की स्थिति को बड़ी दृढता से स्थापित कर दिया। कहना न होगा कि जो उद्धरण कानून के क्षेत्र में उद्भूत हुआ था और जिसने प्रतिवादी की सफाई की बहसों को बाँधा था, वही आगे चलकर वक्तृत्व-कला की आधारशिला बना और मेज के गिर्द की जानेवाली औपचारिक बातचीत तक में बड़े अधिकारपूर्वक प्रवेश कर गया। आये दिनों निबन्ध से शोधप्रबन्ध तक के लेखन में इसका अधिक-से-अधिक उपयोग किया जा रहा है।

उद्धरण सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाये रखता है। इसमें परम्परा का भाव विद्यमान रहता है। यद्यपि, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अपने व्यतीत-अतीत की प्रशसात्मक भूमिका निबाहा करता है, फिर भी उद्धरण को केवल पुरातनता से जोड़ना समीचीन नही है। इसकी संरचना बहुकालिक (डायक्रोनिक) होती है। एक काल-विशेष मे लिखा जाकर भी यह अनेक कालबिन्दुओं पर व्यवहृत होता रहता है। इस प्रक्रिया मे भाषिक संकेतो की अदल-बदल भी देखी जाती है। पर चूँकि इसकी समक्रमिक या एककालिक (सिन्-क्रोनिक) सरचना भी होती है, अत. ऐसा संकेतात्मक भाग एक विशिष्ट स्थिति के सन्दर्भ मे ही क्रियाशील होता है तथा अपनी सोद्देश्यता प्रकट करता है।

उद्धरण को आद्यबिम्ब (आर्केटाइप) से स्पष्ट तौर पर अलगाया जाता है। ये दोनो ही दो भिन्न चीजे है। यद्यपि, इन दोनों का एकमात्र समान बिन्दु उस अवस्थिति या स्थायिता को माना जाता है, जिस बिन्दु पर ये संस्कृति मे फिर-फिर आवृत्त होते रहते है, किन्तु इसकी तुलना में इनकी भिन्नता के बिन्दु कहीं अधिक पाये जाते हैं। आद्यबिम्ब जहाँ जैविकीय तत्त्व है, वहाँ उद्धरण शुद्ध रूप में सांस्कृतिक। आद्यबिम्ब विशिष्ट साभिप्राय संरचना के पूरेपन को आलिंगित करता है, उसे अपने अँकवार में सहेजता है। पर, उद्धरण के साथ इससे विपरीत स्थिति देखी जाती है। यदि यह कृति-से-कृति तक घूमने का काम करता है, तो भी यह गृहीत या उद्धृत ही है; क्योंकि इसका दरजा इसके विषयेतर होने से ही निर्धारित होता है।

उद्धरण धार्मिक दृष्टि से पवित्र होते है। ये ज्ञान की दृष्टि से हमे खीचते और शिक्षा देते है। ये हमारे मस्तिष्क मे चल रही बौद्धिक क्रीडा को अनुबोधित करते है। ये प्रतीकात्मक और सांकेतिक होते है। ये पहेली और समस्या की तरह के व्यापक क्षेत्र-वाले संघटन के लिए भी अभिव्यक्ति को रास्ता दिखाते हैं। ये हमे अभिसूचन प्रदान

करते है और हमे उन पाठों को समझने मे सहायता करते है, जिनमें हम दूसरे व्यक्तियो की कल्पना (फैंसी) को उकसाते और उनकी व्याख्या करने की कोशिश करते हैं।

इतिहास के उन बीते युगों में जब महत्त्वपूर्ण दार्शनिक निकाय प्रभावी थे और उन्हें वैसी संस्थाओं का समर्थन प्राप्त था, जिन्होने उन्हे आधिकारिक प्रभुता सौंपी थी, तब उनकी सोद्देश्यता को दूर तक और देर तक प्रसारित करने की दृष्टि से उद्धरणो ने मूलभूत और महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही थी। आज भी उद्धरणो का प्रयोग हमारे समाज का अत्यन्त लोकप्रिय प्रयोग है। इसकी साभिप्रायता हमे दैनिक जीवन की सामान्य बातचीत से नेताओं के भाषण और विद्वानों के व्याख्यान तक मे प्राप्त होती है। मानविकी के विभिन्न ज्ञानानुशासनो से भाषा-साहित्य तक में उद्धरण के विभिन्न प्रकार्य देखने को मिलते हैं। कही तथ्य मे, तो कही तथ्यांक मे, कहीं वैदुष्य मे, तो कही दार्शनिक चिन्तन मे; कही मुहावरो मे, तो कही कहावतो मे; कही लोकगीत में, तो कही कलागीत मे; कहीं अपनी भाषा मे, तो कही अपनी भाषा से बाहर—अनेक रूपो में उद्धरणों का व्यापक ठाठ देखा जा सकता है। कहना न होगा कि फैशन, नयापन और आकर्षण की सृष्टि करनेवाला उद्धरण साभिप्राय रूप मे मानव की बराबर बनी रहनेवाली ज्ञान-सवाही परम्परा और भावना की स्थायिता का समर्थ उद्‌घाटन करता चलता है। इसीलिए, एक अच्छा उद्धरण बार-बार उद्धृत होता है, पर वह न तो घिसता है और न कभी बासी ही पड़ता है। वह सूक्ति और अमरवाणी बनकर जीवित रहता है।

△ मकान-सं० ४८५६, गुरु अर्जुनदेवनगर	△ डॉ० पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'
खालसा कॉलेज के पास, अमृतसर (पंजाब)

o

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ दसवी शती के आसपास से मानते हुए राहुल सांकृत्यायन जिसे सिद्धसामन्त-काल कहते है, वह वस्तुत अपभ्रंश का साहित्य है। उसकी रचना मे जैनों का सबसे अधिक योगदान है, परन्तु वे न तो सिद्ध है और न सामन्त। अत., उसे भाषिक आधार पर अपभ्रंश-काल कहना ही तर्कसगत है। भाषा के विचार से वास्तविक हिन्दी-साहित्य कबीर, सूर और तुलसी से प्रारम्भ होता है, क्योकि एक तो वह खड़ी बोली की बोलियो मे मिलता है, और दूसरे, उन बोलियो मे खड़ीबोली का मिश्रण है। इसका कारण यह नही है, जैसा कि विद्वान् समझते है कि तुलसी ने व्रज-अवधी में मिश्रण कर एक आदर्श भाषा गढी, बल्कि यह है कि उनके समान्तर खडी बोली विकसित हो रही थी, जिसका मिश्रण अनिवार्य रूप से सहज था। वस्तुत, भक्त कवियों का उद्देश्य भाषा-सस्कार करना नही, लोक-सस्कार करना था। तुलसी का विश्वास था कि यदि भाव सच्चा ह, तो वह किसी भी भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। बोलियो और खड़ी बोली के विकास में मूल अन्तर यह था कि एक केन्द्रीय भाषा संस्कृत की प्रवृत्तियों के निकट थी,

जबकि बोलियाँ प्राकृतो की। अत , हिन्दी-साहित्य के आदिकाल को अपभ्रंश-काल कहना ही उपयुक्त है।

आलोच्य काल की प्रवृत्ति (भावधारा) के बारे मे शुक्लजी का मत था कि भाषा मे रचनाएँ होने से कुछ अपभ्रंश-रचनाओ को हिन्दी-साहित्य के आदिकाल मे रखा जा सकता है, सब रचनाओ को नहीं, क्योकि वे साम्प्रदायिक रचनाएँ है। भक्ति या रीतिकाल की तरह इस काल के साहित्य मे स्पष्ट प्रवृत्ति नही मिलती, अत. शुक्लजी इसे अनिर्दिष्ट प्रवृत्ति का युग मानते हैं। इसके विपरीत, **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य का मूल मानते है। उनके अनुसार अपभ्रंश की निरवच्छिन्न प्राणधारा हिन्दी-साहित्य मे प्रवाहित है। भक्तिकाव्य वीरगाथा-काव्यो की हताश प्रतिक्रिया नही है। दोनो के बीच प्राणधारा की अविच्छिन्नता खोजते हुए **डॉ० नामवर** की 'थीसिस' है कि वीरगाथा-काल मे दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ थी, एक थी रासो-काव्यो की क्षीयमाण प्रवृत्ति और दूसरी योगधारा की वर्द्धमान प्रवृत्ति, जो निचले वर्ग के धार्मिक असन्तोष का परिणाम थी। इस प्रकार, जिसे **आचार्य शुक्ल** ने अनिर्दिष्ट प्रवृत्ति कहा था, उसे निम्नवर्ग की विद्रोही प्रवृत्ति बताकर **डॉ० नामवर** ने निर्दिष्ट कर दिया। उनके अनुसार, भक्ति-काव्यधारा इसी योगधारा का परवर्त्ती विकास है ? अब प्रश्न है कि रासो-काव्य की प्रवृति का क्या हुआ ? क्षीण होकर वह कहाँ गई ? क्या भक्त कवियो ने सामन्तवाद की इस प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया ? **डॉ० नामवर** इसे अनिर्दिष्ट ही रहने देते है।

तथ्य यह है कि रासो-काव्यों की शौर्यचेतना और हठयोगियों की योगधारा ऐसी तलवारे नही थी कि जो एक म्यान में नही रह सकती थी ? दोनो धाराएँ एक ही सामन्तवाद की उपज थी। एक राजनीतिक दृष्टि से जनता पर धाक जमा रही थी, जबकि दूसरी आध्यात्मिक सिद्धियो के चमत्कार के नाम पर। उनका उद्देश्य सामाजिक क्रान्ति करना नही, शरीर के भीतर अलखनिरजन का साक्षात्कार करना था, बहुत-से योगी उच्च वर्ग के थे। जिस देश मे बुद्ध और महावीर जैसे राजकुमार राजपाट छोडकर आध्यात्मिक मुक्ति की खोज मे सन्यासी बन गये, वहाँ यह कहना कि हठयोग सामान्य जनता का विद्रोह था, असंगत विश्लेषण है। कहने का अभिप्राय यह कि तथाकथित रासोकाल मे परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ नही थी, आज भी गरीबो की लड़ाई अमीर लड़ रहे है, गरीब ढाल-भर है।

यदि भक्तिधारा हठयोग का बढा हुआ रूप है, तो प्रश्न है कि सूर और तुलसी ने उसका विरोध क्यों किया ? तुलसी की यह उक्ति कि **'गोरख जगायो जोग भक्ति भगायो लोग'** किसके खिलाफ थी ? वस्तुत , युग मे विरोध नही था, विरोध हमारी समझ मे है। मध्ययुगीन भक्तिभावना हताश जाति की प्रतिक्रिया थी या भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास या दोनो थीं, इसके अन्तस्तल मे भारतीय चिन्ता का विश्लेषण करना होगा। भारतीय चिन्ता का मूल स्वर आध्यात्मिक है, जो परलोक और जीवन की क्षणभंगुरता में विश्वास करता है। इसमे कई परिवर्त्तन हुए, परन्तु समाज का ढाँचा अपरिवर्तित रहा।

भारतीय चिन्ता मे निराशा का घोल है। हुआ यह कि पृथ्वीराज के मुहम्मद गोरी से हार जाने के कारण रासो-काव्य के नायक का व्यक्तित्व बिखर गया। राजनीतिक उलट-फेर से भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास लड़खड़ा गया, फलतः भारतीय अधिक ईश्वर-परायण हो गये।

आदिकाल, यथार्थतः अपभ्रंश-काल है। उसमे सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ है, वह पुरुषार्थसापेक्ष काल है। शृंगार, वीर और शान्त के साथ ही भक्ति का स्वर उसमे मुखरित है।

△ ११४, उषानगर
इन्दौर : ४५२००२

△ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

दतिया जिले की बोली में कारकों के स्थानापन्न प्रयोग

०.० . दतिया जिला मध्यप्रदेश के ग्वालियर-सम्भाग मे स्थित है। इस जिले की सीमा पर क्षेत्रीय बोलियो की स्थिति इस प्रकार है : उत्तर भदावरी और जटवारी, दक्षिण : राँकडी और सामान्य बुन्देली; पूर्व : कछवायघारी और सामान्य बुन्देली; पश्चिम : भितरवारी, पंचमहली और जटवारी।

०.१ : दतिया जिले मे बुन्देली का पँवारी रूप बोला जाता है। इस बोली मे उपलब्ध गद्य और पद्य की कई पाण्डुलिपियाँ तथा प्रकाशित साहित्य इसे 'स्टैण्डर्ड' की कोटि तक ले जाते हैं।

०.२ . बोली विचारो के आदान-प्रदान का समर्थ माध्यम होती है। दतिया जिले की बोली, वाक्य-सघटन के धरातल पर प्रभावकारी सक्षिप्तता से परिपूर्ण है। वाक्य-संरचना अर्थबोध में मदद देती है।

०.३ . आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि से समन्वित पदसमूह ही वाक्य है। आकांक्षा की भित्ति पर ही कारकों का अस्तित्व खडा है। कारक सज्ञा या सर्वनाम के साथ क्रिया का सम्बन्ध जोड़ते है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार, कर्त्ता का क्रिया से सीधा सम्बन्ध जोड़नेवाला, इसीलिए कारक।

०.४ : कारकचिह्न-सहित सज्ञा या सर्वनाम ही क्रिया से सम्बन्ध जोड़ पाता है।

१० . सरचनात्मक धरातल पर जब वाक्य मे निश्चित कारक का स्थान अन्य कारक ले लेता है, तब ऐसे प्रयोगो को स्थानापन्न प्रयोग कहा जाता है। स्थान किसी और का होते हुए भी कोई और ही उस स्थान पर आ जाये, यह स्थिति स्थानापन्न की होती है।

११ . दतिया जिले की बोली मे कारको के स्थानापन्न प्रयोग कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण—इन सभी स्थितियो मे उपलब्ध होते है :

१.२ : कर्त्ता : इत्तौ बोज मो पै कैसें उठ ?

(इतना बोझ मुझपर कैसे उठेगा ?)

भीत ने मूंड़ फोड़ारौ ।

(दीवार ने सिर फोड़ दिया ।)

१.३ : प्रथम वाक्य मे अधिकरण का चिह्न 'पर' कर्त्ता का अर्थ दे रहा है, इसी तरह द्वितीय वाक्य में 'कर्त्ता' का स्थानापन्न 'करण' है ।

२.० . कर्म : बौ कक्का कौन् सें कअै ?

(वह काका किससे कहे ?)

भई बाकै एक मौंड़ा भऔ ।

(वही उसके एक लड़का हुआ ।)

२.१ प्रथम वाक्य मे कर्म परसर्ग के स्थान पर अपादान के रूप मे व्यवहृत होकर कर्म का अर्थबोध करा रहा है तथा द्वितीय वाक्य मे सम्बन्ध परसर्ग कर्म का द्योतक है ।

३.० : करण : दुखी, दुक्ख कों रोउत ।

(दु.खी, दु.ख को रो रहा है ।)

बाके भीतरवारे में इन बातिन कौ बड़ौ पित्आस रऔ ।

(उसके मन में इन बातों का बड़ा खेद रहा ।)

३.१ . प्रथम व्यवहार में करण परसर्ग के स्थान पर सम्प्रदान है और अर्थ करण का ही दे रहा है, इसी तरह द्वितीय व्यवहार में सम्बन्ध का परसर्ग करण के स्थान पर है ।

४.० : सम्प्रदान : बूंदा काअै पै धरें, बे तौ आंधरे हैं ।

(बूँदा किसपर लगायें, वे तो अन्धे हैं ।)

कित्ते पइसा तुमाये चइअे ?

(कितने पैसे तुम्हारे चाहिएँ ?)

४.१ : प्रथम वाक्य में अधिकरण का परसर्ग और द्वितीय मे सम्बन्ध सम्प्रदान का अर्थ द्योतित कर रहे हैं ।

५.० : अपादान : तुम चौंटिया लेओ तौ हमाअै का लोउ नई कड़त ?

(तुम चिकोटी काटो, तो हमलोगों के क्या खून नही निकलता ?)

सबरौ गोऔं जा अगयाने में आग लैन आउत् तौ ।

(पूरा गाँव इस अलाव में आग लेने आता था ।)

५.१ : प्रथम वाक्य मे सम्बन्ध तथा द्वितीय वाक्य मे अधिकरण ने अपादान-परसर्गवत् अर्थ दिया है ।

६.० : सम्बन्ध : धनियां कौ घमंड तौ बाकै काबू सें जादां हो जात् तौ ।

(धनियाँ का घमण्ड तो उसकी सँभाल से बाहर हो जाता था ।)

....और तुमाये मांमलिन में सांसे मन सें पैरवी करें ।

(....और आपके मुकदमों में सच्चे मन से पैरवी करें ।)

६.१ : प्रथम व्यवहार में अपादान तथा द्वितीय में अधिकरण सम्बन्ध का अर्थ दे रहे हैं ।

७.० : **अधिकरण : पूरौ गाँव ठाड़ी ऊख बेचवै कों तैयार हो गओ ।**

(पूरा गाँव खड़ी ईख बेचने को तैयार हो गया ।)

तनकउ बाके जी से दिआ न उपजी ।

(कुछ भी उसके जी से दया न उपजी ।)

७.१ : प्रथम वाक्य मे अधिकरण का अर्थ सम्प्रदान और द्वितीय में अपादान दे रहा है ।

८.० : दतिया जिले की बोली मे कारको के स्थानापन्न व्यवहार सब जगह मिलते है ।

८.१ : कारको की स्थानापन्नता परिनिष्ठित हिन्दी की अपेक्षा बोली मे अधिक सम्भाव्य है ।

८.२ : कारको की स्थानापन्नता भावाभिव्यक्ति मे वक्रता उत्पन्न करती है ।

८.३ : स्थानापन्नता वाक्य-संरचना का अस्वाभाविक रूप होती है। (किन्तु, काव्यभाषा मे कारकवक्रता का सौन्दर्य उत्पन्न करती है।-स०)

८.४ : **'कोट नै ठंड भगा दई । लठिया नै मजा बांद् दओ'** जैसे वाक्यो मे 'कोट' और 'लाठी' को सप्राण संज्ञावत् व्यवहृत किया गया है ।

△ **मिडिल स्कूल, नं० १**
सेंवढ़ा (दतिया : म० प्र०)

△ **डॉ० सीताकिशोर**

o

द्रव्यवर्द्धन

वराहमिहिर ने (खृष्टपूर्व १२३-४१)=(शब्दकाल : ४२७, चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, सोमवार, निधन ५०९ शाके) अपनी 'बृहत्संहिता' (८६।२) मे अवन्ती के राजा **द्रव्यवर्द्धन** का उल्लेख शकुनाध्याय मे किया है। वह कहता है : इन्द्र, भार्गव, बृहस्पति, **कपिष्ठल** तथा **वैनतेय** के मत मे ऋषभ ने जो कुछ भागुरि और देवल से कहा है, उसे देखकर तथा **भारद्वाज** के मत का निरीक्षण कर उज्जयिनी के राजा महाराजाधिराज **द्रव्यवर्द्धन** ने जो कहा और संस्कृत-प्राकृत मे सप्तर्षियो का जो मत गर्ग आदि अनेक यात्राकारों ने लिखा है, उन्हे भली भाँति देखकर मैं **वराहमिहिर** ने शिष्यो को प्रसन्न करने के लिए उत्तम ज्ञान से पूर्ण 'सर्वशकुनसग्रह' तैयार किया है।

गुरु-शिष्य-परम्परा मे, ज्यौतिषशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्यो के यथानिर्दिष्ट नामो का उल्लेख मिलता है : यथा सूर्य, पितामह, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, भृगु, शौनक, पुलस्त्य, सुधाकर, माण्डव्य, वामदेव, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, नारायण, राजेश, रोमक एवं मैत्रेय। किन्तु, इनमे कही भी द्रव्यवर्द्धन का सकेत

या उल्लेख नही है। किन्तु, महाराजाधिराज आवन्तिक नृप होने से यह **द्रव्यवर्द्धन**, निश्चय ही, विभिन्न विषयो के शास्त्रकार, विज्ञानवेत्ता एवं प्रकृतिपर्यवेक्षक महान् राजा प्रतीत होता है।

विक्रमादित्य : किन्तु **द्रव्यवर्द्धन** कब और कहाँ हुआ तथा उसके द्वारा लिखित ग्रन्थ कौन-से थे, इसका पता अभी तक निश्चित रूप से नही लग सका है। महाराजाधिराज **द्रव्यवर्द्धन** ने अपने ग्रन्थ को भारद्वाज पर ही आधृत किया था। अवन्ती और उज्जयिनी पर्यायवाची है। इससे प्रकट है कि **द्रव्यवर्द्धन** उज्जयिनी का ही कोई राजा होगा। **वराहमिहिर** ने अपने परामर्शदाता **विक्रमादित्य** का उल्लेख भी कही नही किया है।

महामहोपाध्याय डॉ० वामन विष्णु मिराशी के अनुसार, यह **द्रव्यवर्द्धन** औलिकर-वंश का राजा था, जिसने वि० सं० ५५२ से ५७२ (सन् ४९५–५१५ ई०) तक राज्य किया। वह यशोधर्मन्=विष्णुवर्द्धन का पूर्वाधिकारी, सम्भवत. पिता था। आदित्य-वर्द्धन के बाद औलिकर-राजाओ ने दशपुर (मन्दसौर) से नही, किन्तु उज्जयिनी से शासन किया। **डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार** का दावा है कि औलिकर-नृप सदा दशपुर से ही शासन करते थे, जो उनकी राजधानी थी। **द्रव्यवर्द्धन** का उल्लेख किसी अभिलेख या सिक्के पर नही मिलता। 'बृहत्संहिता' के टीकाकार भट्टोत्पल के अनुसार भी, अवन्ती एवं उज्जयिनी एक ही है। **डॉ० बुद्धप्रकाश** के मत में **द्रव्यवर्द्धन यशोधर्मन्=विष्णुवर्द्धन** का उत्तराधिकारी था और विष्णुवर्द्धन ने ही सर्वप्रथम महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी।

कुछ लोगो का मत है कि यह **द्रव्यवर्द्धन**, **हर्षवर्द्धन** का कोई पूर्वज था, किन्तु **हर्षवर्द्धन** तो कान्यकुब्ज एव थानेश्वर का राजा था। अवन्ती से उसका कोई गहरा सम्बन्ध नही है, न ही अवन्तीनरेश कहकर कही भी उसे सम्बोधित किया गया है। अन्य मत है कि यह राजा **शकारि विक्रमादित्य** उज्जयिनीनरेश का पूर्वज होगा; क्योंकि कहा जाता है कि **वराहमिहिर** महाविजेता राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों मे प्रसिद्ध थे। विक्रमादित्य के पूर्वजो का ठीक पता चलना कठिन है। इन पक्तियों के लेखक ने अन्यत्र सिद्ध करने का यत्न किया है कि विक्रमादित्य-संवत् के प्रवर्त्तक प्रथम शती मे थे। अवन्ती के कुछ राजाओ का उल्लेख **चण्डप्रद्योत** के साथ प्रद्योत-वंश के राजाओं के काल में (खृष्ट-पूर्व २१३६ से १९९८) मिलता है। **महापद्मनन्द** ने अपने समकालिक नवराजवंशो को समूल नष्ट करके विशाल नन्द-साम्राज्य की स्थापना खृ० पू० १६३६ मे की थी। पुराणों के अनुसार, उज्जयिनी के चौबीस राजाओ ने राज्य किया, किन्तु उनके नाम नही मिलते। सम्भव है, यह **द्रव्यवर्द्धन** उन्ही राजाओ मे एक था, जो अवन्ती का महान् विद्याव्यसनी और काव्यशास्त्रविनोदी राजा था। इस सन्दर्भ मे विशेष अनुसन्धान अपेक्षित है।

त्रिवेदम्, लंका, वाराणसी-५ △ **डॉ० देवसहाय त्रिवेद**

o

खड़ीबोली की परिवर्त्तनशील संयुक्त क्रियाएँ

सयुक्त क्रियापद की रचना आधुनिक आर्यभाषाओ की एक बहुत बड़ी भाषिक विशेषता है, खड़ीबोली (बोलीगत रूप) एव हिन्दी (साहित्यिक रूप) मे तो कुछ और भी अधिक। सयुक्त क्रियाओ मे पहली मुख्य एवं दूसरी सहायक होती है। कभी-कभी सहायक क्रिया पहले भी आ जाती है। किन्तु, अगर दोनो अपना-अपना अस्तित्व बनाये हुए हो, तो वहाँ संयुक्तता नही होती। टी० जी० बेली के अनुसार, 'विशुद्ध संयुक्तता वही होती है, जहाँ परवर्त्ती क्रिया अपना अर्थ खो देती है, और यदि वह अपना अर्थ नही खोती, तो ऐसी स्थिति मे वे भिन्न क्रियाएँ हैं, संयुक्त क्रियाएँ नही।' ('हिन्दुस्तानी ग्रामर', पृ० १९)

कही-कही परवर्त्ती (सहायक) क्रिया अपना अस्तित्व समाप्त तो नही करती, पर अपना अर्थ मुख्य क्रिया को सौप देती है। ऐसी स्थिति मे सयुक्तता होती तो है, किन्तु शिथिल रहती है। यथानिर्दिष्ट उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट होगी : १. 'मोहन नीचे भी देखता गया।' २. 'मोहन चला गया।' ३. 'मोहन चल दिया।'

प्रथम वाक्य मे 'देखना' और 'जाना' दो क्रियाएँ है और दोनो क्रियाएँ अपना-अपना अस्तित्व बनाये हुए है। मोहन ने 'देखना' और 'जाना' दोनो काम किये। 'जाना' क्रिया न अपना अर्थ मिटा पाई और न अपना अर्थ 'देखना' को सौप पाई। ऐसी स्थिति मे ये दोनों स्वतन्त्र क्रियाएँ है, सयुक्त क्रिया नही।

दूसरे वाक्य मे 'चलना' और 'जाना' दो क्रियाएँ है। यहाँ 'जाना' क्रिया ने अपना अस्तित्व तो समाप्त नही किया, किन्तु 'चलना' क्रिया को अपना अर्थ सौंप दिया है। जितना भी जाना है, वह चलने के लिए ही है, इसलिए सयुक्तता मे शिथिलता जान पडती है।

तीसरे वाक्य मे 'चलना' और 'देना' दो क्रियाएँ है। यहाँ 'देना' क्रिया 'चलना' की सहायक है और उसने अपने अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया है। मोहन ने 'चलने को' स्थिति प्रदान कर दी। जो भाव 'चल दिया' मे है, वह 'चला' में नही है, इसीलिए 'चल' के साथ 'दिया' का प्रयोग आवश्यक था। मोहन चला भी हो और कुछ दिया भी हो, ऐसा अर्थ नही। इन क्रियाओ के मेल मे शुद्ध संयुक्तता है।

भाषा परिवर्त्तनशील है। उसकी ध्वनि, रूप एवं अर्थ सभी मे परिवर्त्तन होता रहता है। कभी-कभी इन परिवर्त्तनो के कारण एव दिशाएँ अति आकर्षक होती है। मेरठ-मुजफ्फरनगर की खडीबोली की कतिपय सयुक्त क्रियाओं के रूप एवं अर्थ मे ऐसा ही परिवर्त्तन देखने मे आ रहा है। हिन्दी के साथ खड़ीबोली के निम्नांकित वाक्यो की तुलना द्रष्टव्य है

हिन्दी	खड़ीबोली
१. मोहन आ गया।	मोहन आ लिया।
२. मोहन आया हुआ है।	मोहन आ रहा।
३ मोहन आ रहा है।	मोहन आन लग् र्‌या। (मोहन आने लग रहा।)

हिन्दी के इन तीनों वाक्यो के सामने जो खड़ीवोली के वाक्य दिये हुए है, वे अर्थ मे समान होते हुए भी रूप में भिन्न हैं। रूप का यह परिवर्त्तन लोक में इतना व्यापक एवं पुष्ट हो चला है कि वह हिन्दी मे भी कदम रखने को आतुर है।

पीछे के उदाहरणो में 'मोहन चला गया' में 'चलना' और 'जाना' की शिथिल संयुक्तता वताई जा चुकी है। दूसरे, 'चलना' क्रिया यहाँ 'जाने' का ही अर्थ रखती है, किन्तु एक ही क्रिया 'जाना' दो वार कैसे आती। अत., सहायक क्रिया 'गया' ने 'जाने' के अर्थवाली मुख्य क्रिया को 'चला' वना दिया। एक ओर तो 'चला' क्रिया अपने मूल अर्थ एवं रूप के लिए आकुल थी, दूसरी ओर, हिन्दी के 'खा लिया', 'पढ लिया', 'देख लिया' आदि में 'लेना' सहायक क्रिया प्रचुर मात्रा मे प्रयुक्त हो रही थी और वह भी शुद्ध संयुक्तता बनाती हुई। अतः, 'मोहन चला गया' के स्थान पर 'मोहन जा लिया' प्रयुक्त होने लगा है।

जव कार्य की समाप्ति एवं आत्मनेपद-भाव के लिए सर्वत्र 'लेना' का प्रयोग हो रहा था, तव फिर 'मोहन आ गया' के स्थान पर भी 'मोहन आ लिया' का प्रयोग होने लगा। 'आ गया' मे 'आना' और 'जाना' दो विरोधी क्रियाओ की संयुक्तता रहती है। यद्यपि हिन्दी मे यह सयुक्तता अभी शिथिल नही जान पडती, तथापि विरोधी तो विरोधी ही है, पता नहीं, 'जाना' क्रिया 'आना' के साथ कव विश्वासघात कर वैठे, अतः 'मोहन आ गया' के स्थान पर 'मोहन आ लिया'। जव 'मोहन आ लिया', तव 'मोहन जा लिया' भी।

'मोहन आया हुआ है' वाक्य में 'आना' और 'होना' की संयुक्तता है। अर्थ की दृष्टि से इस वाक्य मे, 'आकर-रहने' का भाव है, अत इस रहने के भाव की पूर्त्ति के लिए ही 'मोहन आया हुआ है' के स्थान पर खड़ीवोली में 'मोहन आ रहा' प्रयुक्त होने लगा है। इसी प्रकार, 'मोहन जा चुका है' के स्थान पर 'मोहन जा रहा' प्रयुक्त होता है। इस प्रकार के वाक्यों मे 'आने के वाद' स्थायित्व का भाव है। जैसे : 'वह तो तीन दिन का आ रहा'; 'मोहन कल सवेरे का ही जा रहा।'

हिन्दी के 'मोहन आ रहा है' आदि वाक्यों में 'रहना' सहायक क्रिया निरन्तरता एवं किसी कार्य में लगे रहने का अर्थ देती है। इधर जव 'रहना' क्रिया खड़ीवोली में कार्य की समाप्ति के वाद स्थायित्व के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगी, तव फिर निरन्तरता एवं लगे रहने के अर्थ के लिए 'लगना' क्रिया का प्रयोग सहायक क्रिया के रूप मे करना पड़ा। फलस्वरूप, 'मोहन आ रहा है' के स्थान पर 'मोहन आन लग् र्‌या' ('मोहन आने लग रहा है') का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार के और भी प्रयोग हो सकते है। रूप एवं अर्थ-परिवर्त्तन की दृष्टि से इनका अध्ययन वड़ा ही रोचक एवं महत्त्वपूर्ण होगा।

△ हिन्दी-विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

△ डॉ० कमल सिंह

पत्र : प्रतिक्रियाएँ

मान्यवर सम्पादकजी,

'परिषद्-पत्रिका' के वर्ष २२ : अक ४ (जनवरी, १९८३ ई०) मे 'कबीरदास की भाषा' (पृ० १५४) शीर्षक सामग्री पढने को मिली। इसमें लेखक का यह कहना सही नहीं है कि कबीर का काल, आधुनिक क्षेत्रीय भाषाओ की निर्माण-प्रक्रिया का युग था। क्षेत्रीय भाषाएँ अवहट्ठ-काल मे ही अस्तित्व मे आ चुकी थी। कबीर अवश्य ही भोजपुरी से परिचित थे, परन्तु उनकी रचनाओ की मूलभाषा भोजपुरी नही है। यह सोचना भी ठीक नही कि सांस्कृतिक केन्द्र होने से काशी मे विभिन्न भाषाओ के शब्दो का संगम होता रहा, इसीलिए कबीर की भाषा मे सभी भाषाओ के शब्द है। शब्दो से भाषिक रचना की पहचान नही होती। चूँकि कबीर की रचनाएँ मूल रूप मे नही मिलती और जो मिलती हैं, वे प्रक्षिप्त और बाद की है, अत यह कहना कोई अर्थ नही रखता कि उन्होने पुरानी भोजपुरी मे रचना की होगी। वास्तव मे, उन्होने उस भाषा मे रचना की थी, जो व्यापक रूप से बोलचाल मे प्रयुक्त भाषा थी। यह भाषा टकसाली खडीबोली थी, जो अपने क्षेत्रीय या प्रादेशिक भाषा-रूपो मे एकदम अलग-थलग नही थी। शिष्यो के भाषिक हस्तक्षेप से कोई भाषा इतनी नही बदल सकती कि वह कुछ-की-कुछ हो जाय।

दूसरा पक्ष, उक्त अंक मे ही प्रकाशित हिन्दी के सामाजिक परिप्रेक्ष्य का है (द्र० लेख · 'हिन्दी-भाषा का सामाजिक परिप्रेक्ष्य' श्रीशमशेर अहमद खान)। भाषा और समाज के अलग-अलग होने का प्रश्न ही नहीं है, भाषा व्यक्ति की नही, समाज की होती है, दोनो का विकास एक दूसरे से जुडा हुआ है। हिन्दी विशिष्ट भाषा का ही एक सास्कृतिक स्वरूप नही है, जैसा श्रीअहमद खान ने कहा है। राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत हिन्दी, सम्पर्क-भाषा हिन्दुस्तानी से भिन्न नही है। यह कहना भी सही नही है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी एक आदर्श समाज-संस्कृति से मुक्त साहित्यिक भाषा है, वह जो भी है, हिन्दुस्तानी उससे भिन्न नही है। भाषा सामाजिक ही होती है, इसलिए 'सामाजिक भाषा' विशेषण ही व्यर्थ है। श्रीखान पश्चिमी भाषाविज्ञानियो के विचारो के आधार पर हिन्दी का जो विश्लेषण करते है, उसी से भ्रान्ति की स्थिति उत्पन्न हुई है। हिन्दी-उर्दू मे अन्तर इस कारण नही है कि उर्दू को व्यवहार मे लानेवाले वक्ता कम हैं। हिन्दी, हिन्दी है, चाहे वह बोलचाल की हो या साहित्यिक। यही स्थिति उर्दू की भी है। हिन्दी और उर्दू मे भेद का कारण लिपि तथा शब्दग्रहण का रुझान है। जैसे, उर्दू के हैदराबादी, देहलवी और लखनवी आदि रूप हैं, उसी प्रकार हिन्दी के भी है। जहाँतक विहारी, पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी की बोलियो (क्षेत्रीय बोलियो) का प्रश्न है, उसे हिन्दी-उर्दू से जोड़कर देखना ठीक नही।

△ शान्ति-निवास, ११४, उषानगर, इन्दौर

△ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

परिषद्-प्रगति

[फरवरी-मार्च, १९८३ ई०]

सम्मान-गोष्ठी :

[१]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा ५ फरवरी को आयोजित सम्मान-गोष्ठी मे 'संस्कृति, समाज और राजनीति की दृष्टि से उपन्यास' विषय पर भाषण करते हुए आकाशवाणी के भूतपूर्व महानिदेशक तथा प्रसिद्ध उपन्यासकार **श्रीकृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खु** ने कहा कि आधुनिक विधा होते हुए भी उपन्यास मे धर्म को अधिक ग्राह्य बनाया गया हैं। राजनीति जीवन की शैली है और सस्कृति जीवन का विधान। सस्कृति जीवन के समन्वय का सेतु है और राजनीति विभेदक। उपन्यासकार भ्रान्त, च्युत और नेतृत्वहीन समाज को सस्कृति से जोड़कर नई दिशा देता है और उसे अतीत के गौरव से परिचित कराकर वर्त्तमान में गतिशील बनाता है।

उन्होने कहा कि संस्कृति और इतिहास के सन्दर्भ उपन्यास से स्वभावतः जुड़े हुए होते है। देश को स्वतन्त्र और शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से उपन्यासकार मानव के मनोजगत् का चित्रांकन करता है और अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उपन्यास को समसामयिक और पठनीय बनाता है। पिण्ड से जुड़ा हुआ होकर भी वह मानसिकता के आधार पर पिण्ड को ब्रह्माण्ड से जोड़ देता है, साथ ही अपने सन्दर्भों से सम्बद्ध स्थापित मूल्यों की जगह नये मूल्यो की भी खोज करता है। यह उसकी आत्मशुद्धि की व्याप्ति है।

प्रारम्भ में, परिषद् के उपाध्यक्ष-सह-निदेशक **पं० रामदयाल पाण्डेय** ने आगत अतिथि का स्वागत किया और शोध-उपनिदेशक एवं 'परिषद्-पत्रिका' के सम्पादक **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव** ने सारस्वत अतिथि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

[२]

नेपाल के भूतपूर्व प्रतिरक्षा-मन्त्री, बहुभाषाविद् एव प्रसिद्ध राष्ट्रवादी कवि **श्रीकेदारमान 'व्यथित'** के सम्मान मे, दि० १५ फरवरी को, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की विद्वन्मण्डली की विशिष्ट गोष्ठी आयोजित हुई। गोष्ठी की अध्यक्षता **पं० रामदयाल पाण्डेय** ने की। नेपाली-भाषा और साहित्य पर प्रकाश डालते हुए **कविवर व्यथितजी** ने कहा कि पार्वत्य-प्रदेश नेपाल की सास्कृतिक प्रवृत्ति वहाँ की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है। इसलिए, वहाँ के निवासी स्वभावत. श्रमजीवी होते है और श्रमप्रधान जीवनदृष्टि के कारण ही उनमे वीरत्व की भावना भी सहज भाव से रहती है।

श्रीव्यथितजी ने कहा कि नेपाली-साहित्य की रचना के क्षेत्र मे पहले पद्य का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ का साहित्य समग्रात्मक रूप में जीवनोन्मुख संघर्षशील गतिमय जीवनधारा से

जुड़ा हुआ है। भारत और रूस के साथ ही दक्षिण एशिया के प्राय. सभी देशो में नेपाल के नेवारी-साहित्य पर शोधकार्य चल रहा है। नेपाल की मूल संस्कृति और स्थापत्य-कला अतिशय समृद्ध है, किन्तु कुल मिलाकर वहाँ की कला और साहित्य राष्ट्रीय लोकचेतना के विकास के प्रति पूर्णत. प्रतिबद्ध है।

इस अवसर पर व्यथितजी ने अपनी ओजस्वी और रसपूर्ण कविताएँ भी सुनाई। प्रारम्भ मे पं० रामदयाल पाण्डेय ने आगत अतिथि का स्वागत किया और कहा कि भारत नेपाल देश के साथ ही नेपाली-भाषा और उसके साहित्य का भी समादर करता है। अन्त मे, डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा कि भाषिक भिन्नता के बावजूद नेपाली और भारतीय साहित्य की मूल भावधारा एक है।

[३]

उत्कल-साहित्य-अकादमी के साहित्यिक प्रतिनिधि डॉ० शंकरलाल पुरोहित के सम्मान मे दि० १५ मार्च को विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की विद्वन्मण्डली की ओर से विशेष गोष्ठी आयोजित की गई, जिसकी अध्यक्षता पं० रामदयाल पाण्डेय ने की।

श्रीपाण्डेय ने डॉ० पुरोहित का स्वागत करते हुए कहा कि दीर्घकाल से ही बिहार और उत्कल सास्कृतिक दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध है। राजनीतिक विभेद के बावजूद दोनो राज्यो की सास्कृतिक एकता सुदृढ है। हिन्दी और उड़िया-साहित्य मे भी भावसमता अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है और राष्ट्रभाषा के निर्माण मे उत्कल के साहित्यकारो का विशिष्ट ऐतिहासिक योगदान है।

डॉ० पुरोहित ने अपने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए कहा कि आज भाषा, साहित्य और संस्कृति मे निहित एकता के तत्त्व की खोज परम आवश्यक है। इसके अभाव मे देश के खण्डित होने का खतरा बना रहता है। आपसी विवाद का परित्याग कर तथा विघटनकारी तत्त्वो से सावधान रहकर देश की अखण्डता की रक्षा के लिए हिन्दीप्रेमियो को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। उन्होने कहा कि हिन्दी और उत्कल के साहित्यकारो का कर्त्तव्य है कि वे पारस्परिक सहयोग से एक दूसरे के साहित्य को समृद्ध करे। दोनो राज्यों की भौगोलिक इकाइयाँ भिन्न हो सकती हैं, किन्तु सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से दोनों एक हैं। डॉ० पुरोहित उत्कल-साहित्य-अकादमी की ओर से साहित्यिक यात्रा के क्रम मे परिषद्-परिवार के बीच परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान के लिए उपस्थित हुए थे।

अन्त मे, डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए कहा कि प्रत्येक राज्य की सरकार और साहित्यिक सस्थाओ के लिए आवश्यक है कि वे इस प्रकार की साहित्यिक यात्राओ को समुचित प्रोत्साहन प्रदान करें।

शोक-प्रस्ताव

विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-परिवार की ओर से यथासमय आयोजित शोकसभाओं में निम्नांकित दिवंगत साहित्यसेवियो की आत्मशान्ति के निमित्त प्रभु-प्रार्थना की गई और शोक-प्रस्ताव पारित किये गये।

[१]

प्रसिद्ध हिन्दीसेवी, कर्मठ पत्रकार एवं वरिष्ठ स्वतन्त्रता-सेनानी **श्रीजगदीशप्रसाद श्रमिक** के असामयिक देहावसान (१ फरवरी, १९८३ ई०) से परिपद्-परिवार को मार्मिक आघात पहुँचा है। उनके उठ जाने से हिन्दी-साहित्यसेवियों की गौरवमयी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी टूट गई!

पुण्यश्लोक श्रमिकजी सहकारिता-आन्दोलन से लम्बी अवधि तक सम्बद्ध रहे और सहकारिता-समिति के प्रमुख लोकप्रिय मासिक पत्र 'गाँव' के सम्पादन द्वारा पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होने नया प्रतिमान उपस्थापित किया। वे निर्मल और निश्छल हृदय के साधुचरित पुरुष थे। निरन्तर स्वाध्याय और साहित्य-चिन्तन ही उनका दैनिक कार्यक्रम बन गया था। उनकी मृत्यु से स्वाभिमानी मानववादी साहित्यकारो की पंक्ति में अपूरणीय रिक्तता आ गई है!

[२]

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि एवं यशस्वी साहित्यकार **श्रीहरेन्द्रदेव नारायण** के असामयिक एवं आकस्मिक देहावसान (२ फरवरी, १९८३ ई०) से परिषद्-परिवार को हार्दिक दुःख हुआ है। उनके निधन से स्वाभिमान-धनी और स्वतन्त्रजीवी साहित्यकारो की गरिमामयी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी छिन्न-भिन्न हो गई!

पुण्यश्लोक हरेन्द्रदेव नारायणजी, प्रचलित नाम 'हरिजी' हिन्दी की छायावादी प्रवृत्ति के मनस्वी कवि थे। उन्होंने कुछ दिनों तक पत्रकारिता के क्षेत्र मे रहकर अपनी सुतीक्ष्ण प्रतिभा का परिचय दिया था। जीवन-दर्शन का विश्लेषण करनेवाली उनकी कविताएँ पर्याप्त समादृत थी। उन्होंने भारत के प्रसिद्ध स्वतन्त्रता-सेनानी तथा क्रान्तिकारी वीर कुँवरसिंह के जीवनचरित से सम्बद्ध 'कुँवरसिंह' नामक सशक्त महाकाव्य की रचना कर भोजपुरी मे पहली बार काव्यसृष्टि के प्रवर्त्तन का श्रेय आयत्त किया था। कविता के अतिरिक्त, कथालेखन में भी उनकी लेखनी ने चमत्कार प्रदर्शित किया। वह ओजस्वी वक्ता थे। उनके भाषण मे गम्भीर साहित्य-चिन्तन की झलक मिलती थी। उनकी मृत्यु से हिन्दी-जगत् में जो रिक्तता आई है, वह अपूरणीय है!

[३]

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक तथा एच्० डी० जैन कॉलेज, आरा के पूर्ववर्त्ती प्रवाचक (रीडर) **प्रो० सीताराम प्रभास** के असामयिक देहावसान (२० मार्च, १९८३ ई०) से परिषद्-परिवार को मर्मान्तक दुःख हुआ है।

प्रो० प्रभास ने प्राध्यापन की परम्परा मे गौरवास्पद स्थान आयत्त किया था। उन्होंने अपनी कविताओ द्वारा जनजीवन की यथार्थता को युगचेतना के परिदृश्य मे मार्मिक अभिव्यंजना प्रदान की थी। उनकी आलोचना-शैली भी वस्तु-तथ्य की उद्भावना मे उनके शास्त्रगम्भीर अध्ययन का परिचय उपन्यस्त करती है। उनकी साहित्य-सेवा के सम्मान-स्वरूप सम्बद्ध साहित्यिक सस्थाओ ने उन्हे 'साहित्यवाचस्पति' और 'साहित्य-मार्त्तण्ड' उपाधि से अलंकृत किया था। वह सरल स्वभाव के मधुरभाषी साहित्यकार थे। कॉलेज से सेवानिवृत्त होने के बाद वह निरन्तर साहित्य-संरचना मे संलग्न रहते थे।

प्रो० प्रभास बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की सामान्य समिति के समादरणीय सदस्य थे। सदस्यता-काल मे उनके रचनात्मक सुझावों से परिषद् लाभान्वित होती रही। उनकी मृत्यु से परिषद् अपनी वैयक्तिक क्षति का अनुभव करती है!

[४]

भूतपूर्व केन्द्रीय सिंचाई तथा रेल-मन्त्री एवं बिहार के पूर्ववर्त्ती मुख्यमन्त्री और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के भूतपूर्व अध्यक्ष **श्रीकेदार पाण्डेय** के असामयिक देहावसान (२५ मार्च, १९८३ ई०) से परिषद्-परिवार को मार्मिक क्लेश हुआ है। **श्रीपाण्डेयजी** के निधन से भारतीय स्वातन्त्र्य-सग्राम के महान् कर्मठ सेनानियो की गौरवमयी परम्परा का एक मूल्यवान् अध्याय समाप्त हो गया।

राज्यीय या केन्द्रीय सरकार मे प्रशासनिक अनुशासन की स्थापना **पुण्यश्लोक पाण्डेयजी** के प्रशासन-काल की उल्लेखनीय ऐतिहासिक विशेषता रही है। वह राजनेताओ की उस पुरानी पीढी के प्रतिनिधि थे, जो राजनीति की विकृति के युग मे भी शालीनता, निष्ठा, ईमानदारी तथा सादगी को सुरक्षित रखते हुए सन्मार्ग से कभी विचलित नही हुई। **स्व० पाण्डेयजी** इस बात के लिए भी सदा स्मरणीय रहेगे कि उन्होने मूल्यो के ह्रास के युग मे अपनी राष्ट्रीय भावना तथा स्वच्छ प्रशासनिक कुशलता का स्तर उन्नत बनाये रखा।

स्व० पाण्डेयजी काँगरेस के लोकप्रिय वरिष्ठ नेताओ में पांक्तेय थे। बिहार के मुख्यमन्त्री के रूप मे जिलो के पुनर्घटन तथा परीक्षा मे कदाचार की समाप्ति की दिशा मे उनके द्वारा उठाये गये साहसपूर्ण कदम निश्चय ही प्रशंसनीय है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अध्यक्ष के नाते उन्होने अपने रचनात्मक सुझावो से परिषद् को नई दिशा दी थी। निश्चय ही, उनकी मृत्यु से बिहार के राजनयिक क्षेत्र मे अपूरणीय रिक्तता आ गई है, परिषद् तो इसे अपनी वैयक्तिक क्षति मानती है!

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् उपर्युक्त सभी दिवगत महानुभावो की दिव्यात्माओं के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा-भावना विनिवेदित करती है।

(पं०) रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

पृ० ८ का शेषांश]

कुल ४३२ पृष्ठों के इस मूल्यवान् विशेषांक का मुद्रण स्वच्छ है, किन्तु पूर्ण निर्दोष नही। एक समय गीता प्रेस ने शुद्ध मुद्रण का उच्चतम प्रतिमान स्थापित किया था, यहाँतक कि मुद्रण के बाद भी यदि अशुद्धियाँ रह जाती थी, तो उन्हे एक-एक कर स्याही से सशोधित कर दिया जाता था। किन्तु, इस विशेषांक मे उस प्रकार के शुद्ध मुद्रणाग्रह का अभाव परिलक्षित होता है, जो चिन्तनीय है। स्थालीपुलाकन्याय से, उदाहरण के लिए, 'सर्वार्थसिद्धि' 'स्वार्थसिद्धि' बन गई है, सम्यक्त्व तथा 'मिथ्यात्व' 'सम्यक्तत्त्व' और 'मिथ्यातत्त्व' हो गये है और 'निषद्या' 'निषथा' मे बदल गई है (द्र० पृ० १२७ और १२९)। संस्कृत-सन्दर्भों के उद्धरणो मे वर्त्तनी की एकरूपता का निर्वाह तो बिलकुल ही नही हो पाया है। यहाँतक कि, विशेषांक की भेट-प्रति मे उपयोग के निमित्त बनवाई गई रबर की मुहर—'सेवा मे सम्मत्यर्थं'—मे भी 'सम्मत्यर्थं' 'सम्यत्यर्थ' (!) हो गया है। 'कल्याण' के ख्यातप्रज्ञ सम्पादक-मण्डल का ध्यान इस प्रकार की चिन्त्य मुद्रण-च्युति की ओर अवश्य जाना चाहिए, ताकि उसके लिए उसे 'क्षमा-प्रार्थना' की पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़े। ध्यातव्य है, हिन्दी का **प्रतिनिधि मासिक** 'कल्याण' धार्मिक और नैतिक भावना का विस्तार तो करता ही है, शुद्ध मानक हिन्दी-भाषा के प्रचार का उत्तरदायित्व भी निबाहता है।

△ **सूरिदेव**

o

आवश्यक निवेदन

'परिषद्-पत्रिका' के लिए निश्चय ही यह गौरवास्पद बात है कि इसने अपने जीवन के बाईस वर्ष निर्विघ्न पूरे कर लिये। प्रस्तुत अंक से 'पत्रिका' अपने तेईसवे वर्ष मे प्रवेश कर रही है। इस अवधि मे, 'पत्रिका' ने सारस्वत उपलब्धि की दिशा मे तथा शोध-समीक्षा के नये आयामो और विभिन्न मानदण्डो के निर्देशन मे जो स्पृहणीय प्रगति की है, उसे वह एकमात्र अपने अधीती पाठको, लेखकों और शुभानुध्यायियों के अनुकूल सौजन्य-सद्भाव की ही उच्चतर परिणति के रूप मे स्वीकार करती है।

यह हर्ष का विषय है कि 'पत्रिका' अपने नियमित प्रकाशन की चेष्टा मे सतत सफलता की ओर अग्रेसर है। साथ ही, इसकी व्यापक शोध-सामग्री मे उत्तरोत्तर उत्कृष्टता तथा सज्जा और मुद्रण मे कलात्मकता के समावेश का प्रयास निरन्तर जारी है। 'पत्रिका' की पृष्ठ-संख्या मे भी पूर्वापेक्षा वृद्धि कर दी गई है। कागज और मुद्रण की महर्घता के कारण वर्त्तमान तेईसवे वर्ष से 'पत्रिका' का **वार्षिक मूल्य २५.०० (पच्चीस रुपये)** तथा **एक प्रति का मूल्य ७.०० (सात रुपये)** रखा गया है। आशा है, इस अनिवार्य मूल्यवृद्धि को 'पत्रिका' के शोधसाहित्यानुरागी पाठक सहज ही अंगीकृत करेंगे और 'पत्रिका' के प्रति अपना स्नेह-सहयोग यथावत् बनाये रहेगे। –सं०

परिषद् के अभिनव गौरव-ग्रन्थ

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि (द्वि० सं०) : म०म० पं० गोपीनाथ कविराज १६.००
२. तन्त्र तथा आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन : ले० म० म० पं० गोपीनाथ कविराज :
अनु० : पं० हंसकुमार तिवारी १३.५०
३. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त : लेखक-अनुवादक : उपरिवत् २३.००
४. रहीम-साहित्य की भूमिका : डॉ० बमबम सिंह 'नीलकमल' ३०.००
५. काव्य में अभिव्यंजनावाद : डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु १२.००
६. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त : उपरिवत् १३.००
७. नाटक और रंगमंच : डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ३५.००
८. उर्दू-कविता पर एक दृष्टि (प्रथम खण्ड) : मूल ले० : श्रीकलीमुद्दीन अहमद :
अनु० : श्रीरामप्रसाद लाल २०.००
९. पहेली-कोश : स० पं० विक्रमादित्य मिश्र २०.००
१०. एलिफैण्टा : श्रीहरिनन्दन ठाकुर २०.५०
११. लीलारसतरंगिणी : स० डॉ० परमानन्द पाण्डेय ४५.००
१२. भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास : डॉ० रामजी पाण्डेय ५०.००
१३. स्वसंवेदन : ले० म० म० पं० गोपीनाथ कविराज :
अनु० : पं० हंसकुमार तिवारी ४०.००

परिषद् के आगामी प्रकाशन (यन्त्रस्थ)

१. भोजपुरी-भाषा और साहित्य (द्वि० सं०) : डॉ० उदयनारायण तिवारी
२. चित्रकाव्य : सैद्धान्तिक विवेचन एवं ऐतिहासिक विकास : डॉ० रामदीन मिश्र
३. मैथिली-संस्कार-गीत : स० श्रीराधावल्लभ शर्मा
४. कीर्त्तिलता : स० डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव
५. आधुनिक हिन्दी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका : डॉ० धीरेन्द्रनाथ सिंह
६. हिन्दी-साहित्य और बिहार (ख० ४) : सं० डॉ० बजरंग वर्मा : श्रीकामेश्वर शर्मा 'नयन'
७. उर्दू-कविता पर एक दृष्टि (द्वि० खण्ड) : मूल ले० : श्रीकलीमुद्दीन अहमद
अनु० : श्रीरामप्रसाद लाल
८. उपन्यास की भाषा : डॉ० जगदीशनारायण चौबे
९. भारतीय प्रतीक-विद्या : (द्वि० स०) डॉ० जनार्दन मिश्र
१०. साहित्य-सिद्धान्त (द्वि० सं०) : डॉ० रामअवध द्विवेदी
११. काव्यालंकार (संस्कृत से हिन्दी-भाष्य : द्वि० सं०) : भाष्यकार : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा

प्राप्तिस्थान : **बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्**
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

परिषद् के प्रगतिशील चरण : मनीषियों के आशंसन

● परिषद् राष्ट्रभाषा के स्तरीय प्रकाशन के क्षेत्र में, शासकीय सीमा मे अग्रणी रही है। उसी की देखादेखी उत्तरप्रदेश मे 'हिन्दी-समिति' की स्थापना हुई और परिनिष्ठित ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ। मै सर्वतोभावेन परिषद् की सफलता का अभिलाषी हूँ।

☐ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

● भारतीय भाषा, साहित्य, सस्कृति एवं इतिहास पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थो से मैं पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ। सभी भारतीय साहित्यिक शोध-संस्थानो में परिषद् अग्रगण्य है।

☐ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

● परिषद् ने विगत पच्चीस वर्षो मे हिन्दी-जगत् की और उसके माध्यम से समस्त भारतीय वाङ्मय तथा भारतीय संस्कृति, दर्शन आदि की जो सेवा की है, उसे शब्दो मे आँकना बहुत कठिन है। **भाई शिवपूजन सहायजी** ऐसा स्वप्न बराबर देखते थे। परिषद् ने इस स्वप्न को साकार किया और एक-से-एक अमूल्य ग्रन्थ विद्वत्समाज को भेंट किये। वह परम्परा उज्ज्वल हो रही है और परिषद् का भविष्य स्वर्णिम है।

☐ श्रीरायकृष्णदास

● बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-साहित्य को अनेक मूल्यवान् ग्रन्थो से समृद्ध किया है। हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करनेवाली संस्थाओ मे इसका बहुत ऊँचा स्थान है। अनेक रूपो मे हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार इससे सम्बद्ध रहे है। **स्व० आचार्य शिवपूजन सहायजी** जैसे मनीषी ने बड़ी सावधानी से इस पौधे को लगाया था। उनका आशीर्वाद सदा इसके साथ रहा।

☐ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

● परिषद् ने जो अबतक राष्ट्रभाषा की उत्तरोत्तर प्रगति में उल्लेखनीय योगदान किया है, वह किसी से छिपा नही है और इसकी सभी सराहना करते हैं।

☐ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

● मेरी तो धारणा है, समस्त भारत मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का महत्त्व सर्वोपरि है; क्योंकि इसके द्वारा जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन हुआ है, वैसा अन्य किसी परिषद् द्वारा सम्भव नही हो सका। मै इसे देश की सर्वोत्कृष्ट शोध-संस्था मानता हूँ।

☐ डॉ० रामकुमार वर्मा

● 'एक राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, एक हृदय हो भारतजननी'—इस उक्ति को सार्थक बनाये रखने का, भारत की सरकारी एवं स्वायत्त संस्थाएँ प्रयत्न कर रही है। इस प्रयत्न मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्तुत्य सेवा सर्वाधिक है।

☐ श्री टी० के० कृष्णस्वामी

●

प्रकाशक : **बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-४**
मुद्रक : **रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, लंगरटोली, पटना-८००००४**

आनन्दरूपममृतं यद्विभाति

वर्ष २३ : अंक २; जुलाई, १९८३ ई०

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय
पं० रामदयाल पाण्डेय
डॉ० कुमार विमल

सम्पादक

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

'परिषद्-पत्रिका'-नियमावली

१ 'परिषद्-पत्रिका' में केवल उच्च कोटि के गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों, परिषद्-प्रकाशनो के समीक्षात्मक निबन्धो, सम्पादकीय टिप्पणियों, अन्य प्रकाशनों की समीक्षाओं, परिषद् के शोधकार्यो की प्रगति, 'परिषद्-पत्रिका' अथवा अन्य पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित निबन्धो के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय, साहित्यिक गतिविधियो आदि का प्रकाशन हुआ करेगा। 'परिषद्-पत्रिका' मे कविता, कहानी नाटक आदि का प्रकाशन नही होगा। परिषद्-प्रकाशनो के विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य प्रकाशन-संस्थाओं के विज्ञापन भी पत्रिका मे प्रकाशित होगे।

२. गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबन्धो पर ही यथानिर्दिष्ट दर, अधिकतम ५०.०० रु० तक ही साम्मानिक दिया जा सकेगा। निबन्ध के मुद्रित प्रथम तीन पृष्ठों के लिए १०.०० रु० प्रतिपृष्ठ और शेष मुद्रित पृष्ठो के लिए ५.०० रु० प्रतिपृष्ठ की दर से साम्मानिक दिया जायगा। परन्तु, निदेशक को यह अधिकार होगा कि लेखक-विशेष की कृति और व्यक्तित्व को दृष्टि मे रखकर कम पृष्ठ रहने पर भी ५०.०० रु० तक साम्मानिक दे सकेंगे।

३. सभी तरह की रचनाएँ स्वतः पूर्ण एव उत्तम कोटि की होने पर ही स्वीकृत हो सकेगी।

४. निबन्धों के सम्पादन मे काट-छाँट, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि का अधिकार सम्पादक के अधीन सुरक्षित रहेगा।

उपाध्यक्ष-सह-निदेशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

त्रैमासिक 'परिषद्-पत्रिका'

कतिपय महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय विशेषांक, जो अपने-आप मे शोध-सन्दर्भ है :

१ नलिन-स्मृति-अंक : वर्ष १ अक ४ (जनवरी, १९६२ ई०) : १.५०
२ आचार्य शिवपूजनसहाय-स्मृति-तीर्थ : वर्ष ३ · अक २ (जुलाई, १९६३ ई०) : १.५०
३. भाषा-सर्वेक्षणांक : वर्ष ८ : अंक ३-४ (अक्टू० '६८–जन० '६९ ई०) : ४.००
४. म० म० गोपीनाथ कविराज-स्मृति-तीर्थ . वर्ष १८ . अंक २ (जुलाई, '७८ ई०) : २.५०
५. जगदीशचन्द्र माथुर-स्मृति-परिशिष्ट : वर्ष १८ अंक ४ (जन० '७९ ई०) : २.५०
६. राजर्षि जन्मशती-विशेषांक : वर्ष २२ . अक १ (अप्रैल, १९८२ ई०) : ५.५०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना-८००००४

परिषद्-पत्रिका

[शोध-त्रैमासिक]

[६०]

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय : पं० रामदयाल पाण्डेय

डॉ० कुमार विमल

●

सम्पादक

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

●

विषय-प्रस्तुति

// परिषद्-पत्रिका

[शोध-त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥—भारतेन्दु

वर्ष : २३ अंक : २ | आषाढ, विक्रमाब्द २०४०; शकाब्द १९०५; जुलाई, १९८३ ई० | वार्षिक : २५.०० एक प्रति : ७.००

अतीत-दर्शन

राष्ट्रभाषा का युगधर्म

"राष्ट्रभाषा केवल राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा प्रदान नही करती है, वरंच उसके साहित्य के द्वारा राष्ट्र मे एकरूपता और एकरसता आती है। राष्ट्रवाद के युग में इस एकरूपता की और भी आवश्यकता है। हमारा देश विशाल है। अनेक जातियाँ यहाँ बसती है, जिनके आचार-विचार भिन्न है। इन सबको एक सूत्र मे ग्रथित करने के लिए कुछ सामान्य प्रतीको और सामान्य उद्देश्यो की आवश्यकता है। इनके अभाव मे विविध समुदायो में सघर्ष अनिवार्य हो जाता है। हमारी सामान्य आवश्यकताएँ और अभिलाषाएँ हममे एकरूपता ला रही हैं। जिन विश्वव्यापी शक्तियो ने हमे स्वतन्त्रता दिलाई है, उनका कार्य अभी समाप्त नही हुआ है। यह शक्तियाँ राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की है। यह युगधर्म है। इनके मार्ग मे जो बाधा उपस्थित करेगा, वह विनष्ट होगा। सम्प्रदायवाद इस युग में पनप नही सकता। हमारे राष्ट्रीय साहित्य को इन शक्तियो का प्रतिनिधित्व करना पडेगा। किन्तु, उसमें यह सामर्थ्य तभी आ सकता है, जब हिन्दी-भाषाभाषियो की चिन्ताधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी-साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यो को अपने मे आत्मसात् करे और उत्तर-दक्षिण का भेद मिटा दे।"

△- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तृतीय वार्षिकोत्सव (२१ अप्रैल, १९५४ ई०) मे पठित मुद्रित अध्यक्षीय भाषण का मर्मांश

△ आचार्य नरेन्द्रदेव

जनपदीय भाषाएँ : खड़ीबोली हिन्दी की माँ

'परिषद्-पत्रिका' के, विगत अट्ठारहवें वर्ष के तृतीय अंक (अक्टूबर, १९७८ ई०) में 'भाषिक अकादमियाँ और उनकी भाषानीति' शीर्षक से मेरी एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित हुई थी, जिसमें मैंने भाषिक अकादमियो के, राष्ट्रभाषा हिन्दी के विरोधी अनपेक्षित संकीर्ण जनपदीय भाषाग्रह के विपक्ष में अपने दोटूक विचार व्यक्त किये थे और उन्हें रचनात्मक कार्य की प्रगति के लिए कतिपय सुझाव भी दिये थे। ज्ञातव्य है, उक्त टिप्पणी का अनुप्रकाशन बिहार के प्रसिद्ध हिन्दी-साप्ताहिक 'उत्तर बिहार' मे हुआ था, जिसपर 'उत्तर बिहार' के विभिन्नवर्गीय प्रबुद्ध हिन्दी-पाठको की व्यापक और मिश्रित प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित हुई थीं, जिनमें कुछ प्रतिक्रियाएँ तो अत्यन्त ही तीखी थी। सर्वाधिक, 'उत्तर बिहार' के सम्पादक की ओर से लगातार उसके कई अको में लिखे गये उनके कटुतम आक्षेपों, आक्रोशो और अपशब्दों का गरगट उपहार भी मुझे स्वीकार करना पड़ा था! उसी सन्दर्भ में, हिन्दी के वरिष्ठ स्वतन्त्रजीवी पत्रकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का एक महत्त्वपूर्ण पत्र मुझे प्राप्त हुआ था, जिसमें उन्होंने भाषा पर आधृत जनपदीय आन्दोलन या प्रान्त-निर्माण के सम्बन्ध में अपने बहुमूल्य अनुभूत विचार, साथ ही रचनात्मक सुझाव भी अंकित किये है। 'परिषद्-पत्रिका' के अधीती पाठकों की मनन-मीमासा के लिए वह पत्र यहाँ यथावत् उद्धृत है :

फीरोजाबाद

७।३।७९

प्रिय भाई श्रीरंजनजी,

" 'उत्तर बिहार' में जो वाद-विवाद चल पड़ा है, उसे मै पढ नही पाया। अगर अंक मिल गये, तो मै पढवाकर सुन लूँगा। 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' यह पुरानी कहावत है, जिसका नवीन संशोधन नवीनजी ने यह किया था . 'वादे-वादे फूटते खोपडी !' "

कोई भी वाद-विवाद, यदि वह शुद्ध भावना से चलाया जाय, अन्ततोगत्वा लाभदायक ही होता है।

मैंने यह बात अक्सर दोहराई है कि जनपदीय भाषाएँ खड़ीबोली हिन्दी की माँ हैं, उसकी सौत नहीं।

जनपदीय आन्दोलन मे विकार तब उत्पन्न हो जाता है, जब उसे प्रान्त-निर्माण जैसे आन्दोलन से युक्त कर दिया जाता है, मुझे खुद इसका अनुभव है। जिन दिनो मैंने कुण्डेश्वर टीकमगढ से जनपद-आन्दोलन चलाया था, उन्ही दिनो वही से मुझे बुन्देलखण्ड-प्रान्तनिर्माण-आन्दोलन भी चलाना पड़ा था। यह आकस्मिक घटना थी और इन दोनो आन्दोलनो का परस्पर कोई सम्बन्ध नही था। फिर भी, गलतफहमियाँ पैदा हुई और बन्धुवर **वासुदेवशरण अग्रवाल** ने इस वर्णसकरता के खिलाफ मुझे आगाह भी किया था। इसके सिवाय जनपद-आन्दोलन की दो धाराएँ और भी बन गई थी। एक तो **महापण्डित राहुल सांकृत्यायन** का यह प्रस्ताव कि जनपदीय भाषाओ के क्षेत्रो को राजनीतिक इकाई मानकर वहाँ प्रान्त निर्माण कर दिये जायँ और मेरा प्रस्ताव था विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे। इसका मतलब यह था कि काशी, प्रयाग इत्यादि के केन्द्रो पर सम्पूर्ण ध्यान देने के बजाय छोटे-छोटे केन्द्रो को विकसित किया जाय।

यद्यपि निराशा के मूड मे कभी-कभी मेरे मन मे यह विचार आया है कि जबतक व्रज-प्रान्त अलग न होगा, तबतक व्रजभाषा का उद्धार हो ही नही सकता, फिर भी मैंने व्रजप्रान्त-निर्माण के आन्दोलन का समर्थन नही किया। जब हम प्रान्त-निर्माण का आन्दोलन उठाते हैं, तब अपनी गर्दन राजनीतिक लोगो के हाथ मे फँसा देते है।

विहार की स्थिति का मुझे पता नही। किसी जनपद-विशेष के राजनीतिक झगड़ो से हमे कोई सम्बन्ध नही रखना है। **स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल** द्वारा प्रतिपादित जनपदीय कार्यक्रम ही हमारा मुख्य लक्ष्य है। यदि जनपदीय भाषाओं के शब्दों, मुहावरो, लोकोक्तियो और कहानियो का संग्रह कर दिया जाता है, तो उससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का हित ही होगा। और, यदि मैथिली, राजस्थानी और डोगरी की तरह भोजपुरी, अवधी और बुन्देलखण्डी को साहित्य-अकादमी स्वीकृत कर लेती है, तो कोई आसमान नही टूट पडेगा !

बात दरअसल यह है कि राजनीतिक महत्त्वाकाक्षा रखनेवाले व्यक्ति जब साहित्य-क्षेत्र मे प्रवेश करते है, तब सत्तात्मक राजनीति का उनमे भी बोलवाला हो जाता है।

जनपदीय कार्यकर्त्ताओ को यह बात बिलकुल स्पष्ट कर देनी चाहिए कि उनका आन्दोलन शुद्ध साहित्यिक भावनाओ से प्रेरित है और किसी प्रान्त-विशेष की राजनीतिक दलबन्दियो से उनका कोई सम्बन्ध नही।"

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

वरेण्य पत्रकार **पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजी** के इस पत्र से स्पष्ट है कि भाषा और उसके साहित्य की सेवा किसी सकीर्ण राजमीतिक स्वार्थसिद्धि से प्रेरित होकर नही,

अपितु शुद्ध साहित्यिक भावना से की जानी चाहिए। जनसंख्या के बलपर भाषाधार प्रान्तों या उपप्रान्तों के निर्माण का दिवास्वप्न देखना शुद्ध सारस्वत एवं समग्रात्मक राष्ट्रीय दृष्टि का लक्षण नहीं है। इसी प्रकार, राष्ट्रभाषा हिन्दी को अतिक्रान्त कर, या पं० **चतुर्वेदीजी** के शब्दों मे उसे 'सौत' समझकर, उसके स्थान पर क्षेत्रीय भाषाओ के वर्चस्व की स्थापना करने का प्रयास भी बाल-प्रयास की तरह नितान्त हास्यास्पद है। यथास्थापित भाषिक अकादमियो की भाषानीति केवल तत्तत् क्षेत्रीय भाषाओं या उपभाषाओ और उनकी साहित्य-विधाओं मे निहित लोकजीवन के सौन्दर्य की विकासनीति से जुड़ी होनी चाहिए, जिसका एकमात्र उद्देश्य हिन्दी-साहित्य के विशाल वाङमय की व्यापक समृद्धि और पुष्टि हो। तभी, क्षेत्रीय या जनपदीय भाषाएँ, पं० **चतुर्वेदीजी** के विचारानुसार, '**खड़ी-बोली हिन्दी की माँ**' बन सकती है।

△ **सूरिदेव**

o

अवसाय का पर्याय : आधुनिक प्रकाशन-व्यवसाय

स्वातन्त्र्योत्तर नागरिक चेतना का विकास अर्थलिप्सा या परिग्रह की ओर अधिक उन्मुख दृष्टिगत होता है। कामैषणा-जनित भौतिक आकांक्षाओ या बुभुक्षाओ की पूर्ति के लिए हरदम आपाधापी की स्थिति इस युग की अपनी विशेषता है। साथ ही, जीवन-विकास के प्रत्येक कार्य को, अनपेक्षित लाभ से लेलिहान व्यवसाय से जोड़ देना और आत्महित या अपनी सुविधा-समृद्धि को ही सर्वस्व समझकर परहित या दूसरे की सुख-सुविधा को बिलकुल विस्मृत कर देना आधुनिक स्वार्थदग्ध भौतिक युग की खास पहचान है। यह युग-प्रभावपरक सावद्य प्रवृत्ति आज प्रत्येक क्षेत्र मे 'सहज' हो गई है। आधुनिक मानव का लक्ष्य 'केवल अर्थलाभ' और 'केवल स्वार्थसिद्धि' से जुड़ गया है। **भगवान् महावीर** ने ऐसे लोगो को 'वक्रजड' शब्द से सज्ञापित किया है, जो अपनी परिग्रहमूलक स्वार्थसिद्धि की दृष्टि से नये-नये सिद्धान्त गढ़ते है और उनकी नई-नई व्याख्याएँ भी करते है। वक्रजडता की यह व्याधि अब प्रत्येक व्यावसायिक क्षेत्र मे जीर्णता प्राप्त कर चुकी है! चूँकि, प्रकाशन भी एक व्यवसाय है, इसलिए वह भी इस व्याधि की संक्रामकता से आक्रान्त हुए विना कैसे रह सकता है?

आधुनिक प्रकाशक, वक्रजडतावश, अपने और लेखक के बीच के सम्बन्ध का नये ढंग से पुनर्मूल्यांकन करते है, इसलिए आज के लेखक अपने प्रकाशक की दृष्टि मे आदरणीय नहीं, अपितु उसके आश्रित है। प्रकाशक पूँजीपति है और लेखक श्रमिक। अर्थात्, दोनों में सेव्य-सेवक का भाव है—प्रकाशक सेव्य है और लेखक सेवक। जनवादी दृष्टि से कहा जाय, तो सेव्य मालिक या शोषक है और सेवक मजदूर या शोषित। पुस्तक की रचना करने में सर्वाधिक श्रम लेखक को करना पड़ता है, लेकिन पुस्तक से होनेवाली आय में उसी का प्राप्य अंश सबसे न्यूनतम होता है। किन्तु, कभी-कभी अर्थगृद्ध

प्रकाशक लेखक के उस न्यूनतम अंश को भी हड़पने की हरकत करने से बाज नही आते ! और, लेखकीय श्रम के शोषण से अर्जित धन से 'विमान' बनाकर ऐश-आराम करनेवाले प्रकाशकों की संख्या तो आज पहले से अधिक बढ गई है !

इतना ही नही, आज का धनलिप्सु प्रकाशक-वर्ग सामान्य पाठको की प्रकृत अभिरुचि को विकृत भी करते हैं। और, विश्वविद्यालयीय छात्रों के समक्ष पेशेवर आलोचको की, परीक्षोत्तीर्णता के सुखद सपने दिखानेवाली सस्ती आलोचना-पुस्तको की रंगीनियाँ बिखेरकर उन्हे मूल पाठ्य के अध्ययन से विरत करते हैं, और इस प्रकार, वे उनके साहित्य-ज्ञान को ही बौना बनाने का अकृत्य कर बैठते है। कहना न होगा कि लेखन-जगत् मे प्रकाशको के इस भयावह, किन्तु प्रलोभनकारी प्रपच से विचलित लेखको की भी बाढ़-सी आ गई है और वे अपनी आत्मगत अभिरुचि से न लिखकर, जनाभिरुचि के प्रतिनिधि जानकार होने का दावा करनेवाले प्रकाशकों की अभिरुचि से लिखते है। फलतः, पुस्तक-जगत् में, आज असली पुस्तकों की जगह नकली पुस्तको की भरमार हो गई है। इस प्रकार, कम दाम और कम समय मे उत्तम ज्ञान प्राप्त करने के प्रलोभन मे पड़े हुए पल्लवग्राही सामान्य पाठकों और छात्रो की संख्या धड़ल्ले से बढाई जा रही है !

लेखको को हीन दृष्टि से देखना आधुनिक सामान्य प्रकाशकों के लिए आम बात है। ऐसा इसलिए कि लेखको की बुद्धि से अपनी बुद्धि को उत्कृष्ट समझने का हीन भाव उनका सहज संस्कार बन गया है। यही कारण है कि वे लेखको के मौलिक एव तथ्यपूर्ण लेखन मे, तथाकथित पल्लवग्राही पाठको और छात्रो को दृष्टि मे रखकर, अनपेक्षित परिवर्त्तन या संशोधन करने या करा देने की अपनी दुस्साहसिक या धृष्ट प्रवृत्ति का परिचय देने मे तनिक भी नही हिचकते। इससे उनकी मिशनरी भावना की अपेक्षा अनपेक्षित लाभ-लोभ से परिपूर्ण व्यावसायिक भावना सहज ही परिलक्षित होती है। प्रकाशक, लाभ-लोभ के निमित्त, इस प्रकार के जाने कितने दुष्कृत्य करने का साहस इसलिए भी जुटा लेते है कि उन्हे इसके निमित्त कुछ ऐसे विद्वान् लेखको का अनुचित सहयोग प्राप्त रहता है, जो किसी कारणवश, स्वाभिमान-धन को बेचकर अपनी भौतिक लिप्सा की पूर्त्ति के लिए विवश रहते है। कुल मिलाकर, आज के भौतिकवादी युग मे प्रकाशक और लेखक का सम्बन्ध केवल सौदेबाजी पर टिका हुआ होने के कारण अतिशय तुनक, अतएव नितान्त चिन्तनीय बन गया है। अर्थ के स्वार्थवश वे दोनो ही अपने-अपने धर्म से च्युत हो गये हैं ! अन्यथा, शोषित ,अपने शोषकों के छन्दाचार या अनाचार के प्रति अवश्य ही विरोधमुखर होते।

अर्थलोलुपता से ग्रस्त आधुनिक प्रकाशको के छन्दाचार का एक और उल्लेखनीय उदाहरण है—पुस्तको के मूल्य रखने मे मनमानेपन की प्रवृत्ति। मुद्रण की अस्वच्छता और अशुद्धियो से भरी हिन्दी-पुस्तको का लागत से कई गुना अधिक मूल्य देखकर दंग रह जाना पड़ता है। सामान्य कागज पर अप्रीतिकर रूप में मुद्रित सौ-सवा सौ पृष्ठोंवाली पुस्तकों की कीमतें, भारतीय औसत पाठकों की क्रयशक्ति का खयाल किये बिना, बीस से

पचास रुपये तक रख दी जाती हैं ! सुनते है, जिन प्रतिष्ठानों में विक्रय के आधार पर पुस्तकों के आदेश की आपूर्त्ति की जाती है, वहाँ के कर्मकर, प्रकाशको से भरपूर कमीशन की माँग करते है, इसलिए प्रकाशक उस राशि को भी पुस्तकों के मूल्य में ही सम्मिलित कर देते है ! भले ही, आज का औसत पाठक व्यक्तिगत रूप से पुस्तकों को खरीदने की स्थिति में न हो, और पुस्तकों की खपत सरकारी या गैर-सरकारी संस्थाओ के माध्यम से ही क्यों न हो, फिर भी इससे प्रकाशकों को मिलनेवाले पैसे अन्ततः जनता-जनार्दन की जेब से ही तो जाते है। इस प्रसंग मे यह भी ध्यातव्य है कि प्रकाशकों ने पुरानी या पूर्वमुद्रित पुस्तकों के मूल्यों में संशोधन कर वृद्धि कर दी है, किन्तु वे प्रायः उनके लेखको को संशोधित मूल्यो के आधार पर नही, अपितु पूर्वमुद्रित मूल्यो के आधार पर ही अधिकार-शुल्क (रॉयल्टी) देते हैं !

भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी है, फिर भी यहाँ की प्रकाशन-संस्थाएँ हिन्दी-पुस्तकों का मुद्रण-प्रस्तुतीकरण अपेक्षाकृत सन्तोषजनक रूप में बहुत कम कर पाती है, जबकि अहिन्दी-भाषी देशों में वहाँ के प्रकाशक हिन्दी-पुस्तकों का प्रकाशन जितनी उत्तम कोटि का करते है, यहाँ के औसत प्रकाशक उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। मुद्रण-प्रविधि का आदिजनक चीन के पेइचिङ (२४, पाएवान-च्वाङ मार्ग)-स्थित विदेशी भाषा-प्रकाशन-गृह ने, सन् १९८१ ई० में, एक पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया है—'आफन्ती के किस्से'। यह **चाओ शिच्ये** द्वारा सम्पादित तथा **छयेन वाङ्सि** द्वारा हिन्दी मे अनूदित है। इसमें अठहत्तर लघु लोककथाएँ संगृहीत है, जो **नसरुद्दीन आफन्ती** (चीन के शिङच्याङ-प्रदेश के लोक-साहित्य का, भारत के **मूलदेव, बीरबल, गोनू झा, तेनालीराम** आदि का समानान्तर विनोदी और हाजिरजवाब पात्र) के सम्बन्ध में प्रचलित है। इस कथाकृति का मुद्रण पेइचिङ (२९, पश्चिमी छकुङचाङ मार्ग) के ही **विदेशी भाषा-मुद्रणालय** से हुआ है, जो भारतीय हिन्दी-मुद्रकों और प्रकाशको के लिए अनुकरणीय प्रकाशन है। हिन्दी के सम्पूर्ण संस्कार से संवलित इस कृति में भाषा और वर्त्तनी की एकरूपता तो है ही, अनुच्छेदों, पृष्ठ-पार्श्वों तथा पंक्तियो के मध्यवर्त्ती अन्तर की समानुपातिक सज्जा ('इण्डेण्ट') एव प्रत्येक पन्ने के दोनों पृष्ठो मे 'फोलियो' और 'बॉडी-मैटर' का समपंक्तिक स्थापन ('रजिस्ट्रेशन') की उत्कृष्टतम प्रविधि की दृष्टि से भी यह कलावरेण्य है। विशिष्ट क्राउन साइज के सौ पृष्ठो की इस पुस्तक का मूल्य भारतीय मुद्रा में केवल तीन रुपये पचास पैसे है। किन्तु, भारतीय प्रकाशको की शोषणपूर्ण अवसायकल्प प्रकाशन-व्यवसाय-नीति और उसके अन्तर्गत पुस्तको के, दोहनकारी मूल्य-निर्धारण की नीति न केवल उनकी आत्मिक नैतिकता को विडम्बित करती है, अपितु सामाजिक राष्ट्रीयता को भी कदर्थित करती है ! परिग्रह-त्याग के उपदेश से अनुगुजित भारत के सारस्वत क्षेत्र का यह परिग्रहवाद, निश्चय ही, विस्मयजनक है !

Δ सूरिदेव

o

'आत्मनिवेदन' : उल्लेख्य आत्मजीवनी

आत्मसंस्मरण आत्मदर्शन का प्रतिकल्प होता है। अपने जीवन के विभिन्न पक्षों का खण्ड-खण्ड प्रत्यक्-दर्शन समेकित रूप में आत्मदर्शन बन जाता है। अपने अतीत और वर्त्तमान वैयक्तिक जीवन के अन्तरंग अध्ययन, दर्शन या संस्मरण के लिए सामान्येतर प्रतिभा अपेक्षित होती है। इसलिए, सामान्यतया आत्मसंस्मरण लिखनेवालों की विरलता देखी जाती है। जिस संस्मरण में अपने भोगे हुए तीक्ष्ण-तरल क्षणों की यथार्थ अनुभूति की अभिव्यक्ति जितनी ईमानदारी के साथ की जाती है, वह उतना ही हृदयावर्जक होता है। त्रुटियो और दुर्बलताओं से समन्वित मनुष्य-जीवन के अनेक ऐसे आयाम भी होते है, जिन्हें सही-सही या ठीक-ठीक लिपिवद्ध करने मे बहुत अधिक आत्मिक साहस एवं भाषिक व्यजना की क्षमता आवश्यक होती हैं। इसलिए, इस प्रकार के रचना-कार्य के निमित्त ततोऽधिक साहस जुटा पाना कदाचित् ही सम्भव होता है। और फिर, जीवन की हर बात व्यक्त करने के लिए [illegible] होती भी नही है। नीतिकारो ने कहा भी है :

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम्।
तपो दानापमानञ्च नव गोप्यानि यत्नतः॥

अर्थात्, आयु, वित्त, घर के छिद्र (दुर्बल पक्ष), मन्त्र, मैथुन, भेषज, तप, दान और अपमान इन नौ बातो को यत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए।

इसी प्रकार की एक और सूक्ति भी है :

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।
वञ्चनं चापमानञ्च मतिमान्न प्रकाशयेत्॥

अर्थात्, धन का नाश, मन का ताप, घर मे होनेवाले दुश्चरित, वचना और अपमान इन बातों को मतिमान् व्यक्ति प्रकाशित नहीं करे।

इसीलिए; जीवन को किताब के पन्नो की तरह खोलकर रख देने पर भी उसमें आत्मगोपन रह ही जाता है। फिर भी, अधिक-से-अधिक आत्मोद्‌घाटन करने की क्षमता आत्मसंस्मरणकार के लिए अपेक्षित होती है, अन्यथा उसका आत्मसंस्मरण सहज और प्रामाणिक नही बन पायगा।

कुल मिलाकर, आत्मसस्मरण अपने यथार्थ जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है। आत्मसस्मरणकार अपने अतीत की उन्ही बातो की स्मृतियों को आत्मसात् कर पाता है, जो उसके जीवन को तीव्रता और गहराई से प्रभावित करती हैं। यो, सम्पूर्ण अतीत स्मृति को यथावत् लिपिवद्ध कर पाना सम्भव भी नही है। ऐसी स्थिति में स्मृति के वे ही पक्ष लेखकों के लिए स्वीकार्य और पाठको के लिए प्रभावक होते हैं, जिनमे सर्वजन-सवेद्यता या साधारणीकरण के तत्त्व अधिक होते है अथवा संस्मरणकार की मार्मिक अनुभूतियाँ सस्मरण-पाठको को भी अपनी-सी लगती है, या उसका अतीत सबका अपना प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, संस्मरण के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जीवन मे प्रेरणा, उत्साह, साहस और जिजीविषा भर देने की शक्ति से सम्पन्न हो।

इसी सन्दर्भ मे, बिहार के, भोजपुर जिले के डुमराँव (दक्षिण टोला, बाइपास रोड)-निवासी प्रसिद्ध विद्यावयोवृद्ध विद्वान् एवं आदर्श अध्यापक **पं० श्रीरासबिहारी राय शर्मा** द्वारा-लिखित एवं 'आत्मनिवेदन' नाम से प्रकाशित उनके जीवनीपरक आत्म-संस्मरण का विशिष्ट महत्त्व है। जीवनीपरक आत्मसंस्मरण इस अर्थ में कि इस कृति मे जीवनी या जीवन की विवृति का पक्ष प्रधान है और संस्मरण का तत्त्व गौण। संस्मरण और जीवनी में प्रमुख अन्तर यह है कि पहला चिन्तनप्रधान होता है, दूसरा विवृति-प्रधान। यद्यपि जीवनी के माध्यम से आत्मस्मृति ही आवृत्त होती है, तथापि जीवनी में प्रायः क्रमबद्ध घटनाओ की सपाटबयानी का एकत्रीकरण होता है और संस्मरण मे घटनाओ का प्रत्यक्-दर्शन अक्रमबद्ध होते हुए भी उनकी एकसूत्रता औपन्यासिक सरसता की संवाहिका होती है। इस जीवनी के 'आत्मनिवेदन' नाम से ही यह स्पष्ट है कि ईश्वर के प्रति आस्था रखनेवाले इसके लेखक भक्तिमार्गीय भावधारा से स्नात है, अतएव उन्होंने अपनी जीवन-कथा को भगवदर्पित करने की भावना से अक्षरबद्ध किया है, और इस दृष्टि से इस कृति का उक्त नाम अन्वर्थ है। यों, इस कृति के लेखक **महात्मा गान्धी** की आत्मकथा या **स्व० अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र'** की जीवनी 'आत्मचरितचम्पू' से प्रभावित है और राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य उपासक भी है, इसलिए उन्होंने श्रद्धावश अपनी इस कृति को **गान्धीजी** की स्मृति मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को समर्पित किया है।

जीवनीकार ने अपनी इस सचित्र आत्मस्मृति (प्रकाशन-काल : फरवरी, १९८२ ई०) में पहले अपनी जन्मभूमि और अपने पूर्वजो के इतिहास का विहंगावलोकन कराया है, तदनन्तर अपने परिवार का विस्तृत वंश-परिचय उपन्यस्त किया है। उसके बाद यथा-क्रम अपने छात्र-जीवन और शिक्षा-संस्थाओ के सेवाकाल के साथ ही वर्त्तमान जीवन पर भी प्रकाश-निक्षेप किया है। घटनाबहुल अतीत के वर्णन मे लिखे गये शर्माजी के आत्म-जीवन-प्रसंग रोचक तो है ही, ज्ञानोन्मेषक भी है। साथ ही, इसमे शोधगर्भ साहित्येतिहास के अनेक ऐसे आयाम भी उद्भावित हुए है, जो अद्यावधि अज्ञात रहे है या लिपिबद्ध नही हो सके है। संस्मरण या जीवनी, साहित्य और इतिहास की एक ऐसी मिश्रित विधा होती है, जिसकी रचना-प्रक्रिया का अपना वैशिष्ट्य या स्वतन्त्र अस्तित्व होता है।

शर्माजी का जीवन निश्चय ही संघर्ष द्वारा अभ्युदय की ओर—तम से ज्योति की ओर प्रस्थान की मर्मकथा है। विषय की विशद विवृति, सरल पारम्परिक भाषा और यथातथ अभिव्यक्ति की त्रिधारा से समन्वित इस आत्मजीवनी से शर्माजी के शास्त्रदीक्षित वैदुष्य और शैक्षिक नैपुण्य के साथ उनकी जिजीविषा की प्रबलता का संकेत मिलता है। **शर्माजी** के सुयोग्य पुत्र **डॉ० चौधरी जगमोहन राय** द्वारा प्रकाशित और केवल पन्द्रह रुपये में प्राप्य कुल २५१ पृष्ठोंवाली डबल क्राउन साइज की यह कृति जीवनी-संस्मरण-साहित्य के लिए उल्लेखनीय अवदान है। निश्चय ही, यह आत्मजीवनी शर्माजी के जीवन और कर्तृत्व का एक ऐसा इतिहास बन गई है, जो बिहार के साहित्येतिहास के लेखकों के लिए प्रामाणिक उपजीव्य सिद्ध होगी।

△ **सूरिदेव**

न्यायदर्शन में तर्क का स्वरूप

●

डॉ० मदनमोहन अग्रवाल

तर्क, न्यायदर्शन के सोलह पदार्थों में आठवाँ है। यह प्रमाणों का सहकारी[1] और ज्ञानविशेष-रूप[2] है। संशय की निवृत्ति के निमित्त तथा प्रतिज्ञा आदि पंचावयव-रूप न्याय के प्रयोग से तत्त्वनिर्णय के लिए तर्क आवश्यक होता है। अत., न्यायसूत्रकार तर्क का लक्षण करते है : 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।'[3] अर्थात्, जिस वस्तु का तत्त्व ज्ञात नही हो, उसका तत्त्व जानने के लिए जो विचार (ऊह), कारणों का औचित्य दिखलाते हुए, किया जाता है, वह तर्क है। भाष्यकार वात्स्यायन इसी लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है कि कोई प्रमाता, जिस वस्तु का तत्त्व ज्ञात नही हो, उसका तत्त्व जानने की इच्छा करता है—'इस अर्थ को जान लूँ।' तदनन्तर, उस जिज्ञासित वस्तु के दो विरुद्ध धर्मों पर विभागशः विचार करता है—'क्या यह ऐसी है' या 'क्या यह ऐसी नही है।' दोनो विरुद्ध धर्मों पर विचार करता हुआ वह किसी एक धर्म के बारे मे कारणोपादान से अनुमान करता है कि 'इसमें यह कारण, यह हेतु, यह प्रमाण स्पष्ट है।' कारणोपादान से यह ऐसा ही है या ऐसा नहीं है', इस तरह के ऊह (मानस ज्ञान) को तर्क कहते है।[4] उदाहरण के लिए : किसी कारण से आत्मा की नित्यता के विषय मे संशय उत्पन्न होता है, तो उस आत्मा का नित्यत्वसाधक प्रमाण उसमे प्रवृत्त ही नही हो सकता। किन्तु, बाद मे तत्त्व-जिज्ञासा के लिए मन में तर्क होता है कि यदि जीव के शरीर की उत्पत्ति के समय नवीन आत्मा की ही उत्पत्ति होती है, तो आत्मा की बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था नही रहेगी। क्योंकि, आत्मा के पूर्वकृत कर्मफल के बिना उसका जन्म सम्भव नही है और आत्मा की उत्पत्ति स्वीकार करने पर किसी समय में उसका विनाश भी स्वीकार करना होगा, जिसे मुक्ति नही कहा जा सकता। अत., आत्मा की नित्यता मे प्रमाण की प्रवृत्ति हो सकती है। यह सम्भावनात्मक ज्ञान ही तर्क है।[5] फलतः, इस तर्क से आत्मा की नित्यता के विषय मे उत्पन्न संशय की निवृत्ति होती है और उसके नित्यत्व-रूप तत्त्व का निर्णय होता है। यह तर्क उस प्रमाण का अनुग्रह करता है और तत्त्व-निर्णय मे उसका सहायक भी होता है।[6] अतः, तर्क प्रमाण नहीं है और प्रमाण का फल तत्त्व-निश्चय भी नही है, क्योंकि यह केवल एक पक्ष का समर्थन-मात्र करता है, उसका निश्चय नही करता कि 'यह ऐसा ही है।' जैसा प्रारम्भ मे कहा गया, तर्क प्रमाण का सहकारी तथा ज्ञानविशेष-रूप है।[7]

उद्योतकर ने अपने 'न्यायवार्त्तिक' में तर्क के स्वरूप से सम्बद्ध विभिन्न मतों का उल्लेख किया है।[8] इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही तर्क के स्वरूप के विषय मे

मतभेद रहा है। किसी के मत मे तर्क को संशयरूप कहा गया है और किसी ने इसे निर्णयरूप कहा है। किसी के मत मे इसे स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया गया है, तो किसी के मत मे अनुमान मे ही इसका अन्तर्भाव है। न्यायकन्दलीकार के अनुसार, प्राचीन वैशेषिक आचार्य प्रशस्तपाद ने तर्क या ऊह को अलग से ज्ञानरूप स्वीकार ही नही किया है।[९] किन्तु, उद्योतकर इन विभिन्न मतो का खण्डन करते है और कहते है कि 'यह इसी तरह से हो सकता है'—यह सम्भावनात्मक ज्ञान तर्क है। यह संशयरूप नही है, न निर्णयरूप ही है। यद्यपि, संशय और तर्क—दोनों में अनिश्चयावस्था रहती है, तथापि दोनो मे भेद हैं। संशय में निश्चय नही रहता, साथ ही निश्चय के लिए प्रयत्न भी नही होता, जबकि तर्क मे निश्चय न रहने पर भी निश्चयोन्मुख प्रयत्न रहता है और उसके फल-स्वरूप तर्क के उत्तर क्षण में ही निश्चयात्मक ज्ञान की कोटि तक प्रमाता पहुँच जाता है। अत:, तर्क संशयरूप नहीं है। निर्णय में निश्चय रहता है, जबकि तर्क निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था है, अत: तर्क निर्णय-रूप भी नही है।[१०] तर्क स्वतन्त्र प्रमाण भी नही है; क्योंकि यह स्वत: प्रमा या निश्चितार्थज्ञान का कारण नही होता, सहायक या अनुग्राहक अवश्य होता है। तर्क का अनुमान मे अन्तर्भाव भी नही है। यह अनुमान का विषय-शोधक होता है और प्रवर्त्तमान धूमवत्त्व-लिंगक अनुमान के विषय (साध्य) का अनुमोदन करता है—अनग्निमत्त्व का निषेध करके। इसलिए, यह अनुमान का अनुग्राहक होता है।[११]

वाचस्पतिमिश्र **वात्स्यायन** और **उद्योतकर** के मत से पूर्णतया सहमत हैं कि तर्क प्रमाणों का सहकारी है।[१२] तर्क दो परस्पर-विरोधी धर्मों के बीच संशय-निवृत्ति करने मे सहायता करता है। यह प्रतिकूल पक्ष की असम्भाव्यता दिखलाकर प्रकारान्तर से स्वपक्ष की सम्भाव्यता बताता है। यही सम्भावना या अनुज्ञा तर्क है।[१३] **वाचस्पतिमिश्र** के अनुसार, तर्क अपने से प्रतिकूल पक्ष को लेकर उसकी असारता दिखलाता है और यह असारता-प्रदर्शन, प्रमाणों के उद्देश्य को सिद्ध करता है। तर्क की आवश्यकता ही तभी होती है, जबकि तत्त्व-जिज्ञासा होती है और बाद मे दो परस्परविरुद्ध सम्भावनाएँ तत्त्व के विषय में संशय उत्पन्न करती है। संशय-निवृत्ति से तर्क प्रमाणों की सहायता करता है। और यह संशय-निवृत्ति कारणोपादान से होती है कि 'इसमे यह कारण, यह हेतु, यह प्रमाण स्पष्ट है; अत:, यह ऐसा ही है या ऐसा नही है', इस प्रकार की संशय-निवृत्ति से प्रतिकूल सम्भावनाओं की असारता स्पष्ट होती है। तत्त्वनिर्णय तो उपयुक्त प्रमाण ही होता है। तत्त्वनिर्णय मे तर्क कोई भी भावरूप उपलब्धि नही देता है। इसमे तर्क की सहायता केवल निषेधरूप है। तर्क संशय-निवृत्ति मे सहायता करता है और यह संशय-निवृत्ति ही तत्त्व-निर्णय मे उसकी भावरूप सहायता है।[१४]

उदयनाचार्य आदि नैयायिक सम्भावना को संशयात्मक ज्ञान ही कहते है। सम्भावना निश्चयात्मक ज्ञान नही, अपितु उत्कटकोटिक संशयात्मक ज्ञान है।[१५] संशयात्मक ज्ञान मे दो कोटियाँ होती है। दोनो कोटियाँ जब समान स्तर पर होती है; तब सामान्य 'संशय'

कहा जाता है, यथा : **'स्थाणुर्वा पुरुषो वा ।'** और, जब दो कोटियों मे एक उत्कट, अर्थात् प्रबल हो जाती है, तब सशय को उत्कटकोटिक 'सशय' या 'सम्भावना' कहते है ।[16] अत, **उदयनाचार्य** सम्भावना को तर्क न कहकर तर्क का लक्षण करते है : **'अनिष्टप्रसङ्ग-स्तक: ।'**[17] अनिष्ट पदार्थ का प्रसंग, आपत्ति ही तर्क है। अनिष्ट दो प्रकार का होता है—प्रामाणिक पदार्थ का परित्याग और अप्रामाणिक पदार्थ का परिग्रह ।[18] जैसे किसी ने कहा · 'पानी पीने से प्यास नही बुझती है ।' यहाँ यह सर्वसम्मत है कि पानी पीना प्यास को बुझाना है। पानी का परित्याग प्रथम प्रकार के अनिष्ट का उदाहरण है। यही अनिष्ट की आपत्ति तर्क है। इसी प्रकार, किसी ने कहा : 'पानी पीने से अन्तर्दाह होता है ।' यहाँ पानी पीने से अन्तर्दाह का कारण प्रमाण से सिद्ध नही है, अत. यह अनिष्ट का द्वितीय प्रकार है। यह अनिष्ट की आपत्ति तर्क है ।[19]

नव्यनैयायिक **विश्वनाथ** अपनी 'न्यायसूत्रवृत्ति' में **उदयनाचार्य** के सिद्धान्त के अनुसार ही तर्क के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या करते है। वह 'तर्कसूत्र' मे प्रयुक्त 'कारण' शब्द से व्याप्य पदार्थ को और 'उपपत्ति' शब्द से आरोप अर्थ को ग्रहण करते है और तर्क के स्वरूप की व्याख्या करते है कि जहाँ यह निर्णीत है कि यहाँ व्यापक पदार्थ नही रहता है, वहाँ व्याप्य पदार्थ के आहार्य आरोप से उस व्यापक पदार्थ का आहार्य आरोप-रूप ऊह तर्क है ।[20] आरोप भ्रम ही है ।[21] भ्रमज्ञान दो प्रकार का होता है—आहार्य और अनाहार्य । आहार्य से तात्पर्य है कृत्रिम । भ्रम का बाधक रहने पर भी इच्छा से ही जो आरोप किया जाता है, उसी को आहार्य भ्रम कहते हैं। जल में धूम तथा अग्नि नही रहती है—इसके निश्चय रहने पर यदि जल मे धूम रहता है, तो अग्नि भी अवश्य होगी, इस प्रकार से जल मे स्वेच्छा से धूम और अग्नि का आरोप आहार्य भ्रम है। यह तर्क भ्रमात्मक निश्चय-रूप ज्ञान है ।[22] पुन , जिन दो व्याप्तियुक्त धर्मों में व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध होता है, उनमें एक व्याप्य होता है और एक व्यापक । जैसे : **'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि· ।'** यहाँ धूम वह्नि का व्याप्य है और वह्नि उसका व्यापक । जहाँ व्याप्य पदार्थ रहता है, वहाँ उसका व्यापक पदार्थ अवश्य रहता है, अन्यथा उसे व्यापक ही नही कहा जा सकता । किसी स्थान पर व्याप्य पदार्थ है—यह कहने पर उसी के आरोप से उसके व्यापक पदार्थ का आरोप होता है । किन्तु, यदि उस स्थान पर व्यापक पदार्थ विद्यमान ही है, तो उसकी आपत्ति तर्क नही, इसे 'इष्टापत्ति' कहा जाता है। जैसे, महानस मे जब वह्नि और धूम दोनो रहते है, तब वहाँ वह्नि की आपत्ति 'इष्टापत्ति' है। यह तर्क नही है। किन्तु, जहाँ धूम नही है, वहाँ वह्नि भी नही है। कोई वही यदि धूम है, यह कहकर वह्नि की आपत्ति करे, तो वह 'अनिष्टापत्ति' होगी । यही अनिष्टापत्ति तर्क है। यह तर्क मन से ही उत्पन्न होता है, अत. यह मानसप्रत्यक्ष-रूप ज्ञान है ।[23]

उदयनाचार्य ने अपने 'आत्मतत्त्वविवेक'[24] मे तर्क के अंगों का उल्लेख किया है। जिन्हे **वरदराज** ने अपनी 'तार्किकरक्षा'[25] में और **वेंकटनाथ** ने अपनी 'न्यायपरिशुद्धि'[26] मे विधिपूर्वक संगृहीत किया है। इससे प्रतीत होता है कि **उदयनाचार्य** के समय से ही

तर्क को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, इससे पहले नहीं। ये तर्क के अंग पाँच है : १. आपादक पदार्थ में आपाद्य पदार्थ की व्याप्ति, २. तर्क के व्याघातक अन्य प्रतिकूल तर्क से अप्रतिघात, ३. आपाद्य पदार्थ के अभाव में पर्यवसान, ४. आपाद्य पदार्थ का अनिष्टत्व और ५. उस आपत्ति की अननुकूलता, अर्थात् प्रतिपक्ष की असाधकता।[२७]

तर्क में व्याप्य पदार्थ के आरोप से जो व्यापक पदार्थ की आपत्ति होती है, उसमें उस व्याप्य पदार्थ को 'आपादक' और व्यापक को 'आपाद्य' कहते हैं। जिस पदार्थ की आपत्ति की जाती है, उसे 'आपाद्य' और जिस पदार्थ के आरोप से आपत्ति होती है, उसे 'आपादक' कहते हैं। जैसे : यदि धूम है, तो वह्नि अवश्य होगी—यहाँ धूम के आरोप से वह्नि की आपत्ति में वह्नि आपाद्य है और धूम आपादक। आपाद्य पदार्थ का व्याप्य आपादक और आपादक पदार्थ का व्यापक आपाद्य होता है। जहाँ व्याप्य पदार्थ रहता है, वहाँ उसका व्यापक पदार्थ अवश्य रहता है। अतः, जहाँ व्यापक पदार्थ नही है वहाँ उसका व्याप्य पदार्थ भी नहीं रहता। जैसे : 'यह पर्वत अग्निमान् है या अग्निहीन है', इस प्रकार का सन्देह होने पर यदि कोई यह मान बैठे कि 'पर्वत अग्निहीन है', तो उसकी इस मान्यता के निराकरणार्थ इस प्रकार के तर्क की सहायता ली जा सकती है कि 'यदि पर्वत अग्निहीन होता, तो धूमहीन भी होता'; क्योंकि जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ धूम का भी अभाव होता है। अग्निहीनत्व से पर्वत में होनेवाली धूमहीनत्व की इस आपत्ति को 'तर्क' कहा जाता है। इस तर्क से धूम से होनेवाले अनुमान के विषयभूत अग्नि का समर्थन होता है। उक्त तर्क में 'अग्निहीनत्व' आपादक है और 'धूमहीनत्व' आपाद्य। 'अग्निहीनत्व' आपादक में 'धूमहीनत्व' आपाद्य की व्याप्ति है, जो इस तर्क की मूल व्याप्ति है। इस व्याप्ति के नही रहने से उक्त रूप आपत्ति कदापि तर्क नहीं हो सकती है। अतः, आपादक पदार्थ में आपाद्य पदार्थ की व्याप्ति ही तर्क का प्रथम अंग है। 'अग्निहीनत्व' में 'धूमहीनत्व'-रूप अनिष्टापत्ति के समान यदि 'अग्निमत्त्व' में भी कोई अनिष्टापत्ति हो, जिससे तर्क का प्रतिघात हो, तो वह प्रतिघात भी नहीं, प्रतितर्काप्रतिघात है, जो तर्क का द्वितीय अंग है। 'धूमहीनत्व' आपाद्य का अपने अभाव में पर्यवसान भी है; क्योंकि 'धूम' पर्वत पर प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः, 'धूमहीनत्व' आपाद्य 'अनिष्ट' ही है और अननुकूल भी। ये तर्क के क्रमशः तृतीय, चतुर्थ और पंचम अंग हैं।[२८] इन पाँच अंगो से युक्त तर्क को ही प्रकृत तर्क माना जाता है। प्रमाण से होनेवाले तत्त्वनिर्णय में यही तर्क प्रमाण का सहायक होता है।[२९] इनमे किसी अंग की भी हानि से वह तर्क न रहकर 'तर्काभास' हो जाता है।[३०]

तर्क के पाँच अंगो में किसी एक की भी हानि से प्रकृत तर्क में पाँच दोष उत्पन्न होते हैं, जिनका उल्लेख उदयनाचार्य ने अपने 'आत्मतत्त्वविवेक' में इस प्रकार किया है : १. मिथोविरोध, २. मूलशैथिल्य, ३. इष्टापादन, ४. अनुकूलत्व और ५. विपर्ययापर्यवसान।[३१]

जब एक तर्क दूसरे तर्क के समान बली होता है और उन दोनो तर्कों मे परस्पर विरोध रहता है, तब 'मिथोविरोध' तर्कदोष कहलाता है। 'मिथोविरोध' तर्कदोष सत्प्रतिपक्षता-रूप ही है।[32] जहाँ वादी और प्रतिवादी के पक्ष तथा प्रतिपक्ष-रूप दो धर्म तुल्यबल रहे, उसे 'सत्प्रतिपक्ष' कहते है।[33] अत', तुल्यबल दो तर्कों के परस्पर विरोध को 'मिथोविरोध' कहते हैं। जैसे : कार्य-कारण के विषय मे साख्य का मत है कि अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नही की जा सकती। यदि कारण मे कार्य की सत्ता वस्तुत नही होती, तो कर्त्ता के कितना भी प्रयत्न करने पर यह कार्य उत्पन्न नही हो सकता। नील वस्तु सहस्रो शिल्पियो के उद्योग करने पर कथमपि पीत रंग की नही वनाई जा सकती। अत:, यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण मे अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है।[34] किन्तु, न्याय-वैशेषिक का कहना है कि कार्य (घट) कारण (मिट्टी) में पूर्व से ही विद्यमान नही रहता, बल्कि सामग्री की सहायता से कार्य (घट) की उत्पत्ति होती है अथवा कार्य (घट) एकदम नवीन वस्तु होता है। यदि कार्य (घट) कारण (मिट्टी) मे पूर्व से ही विद्यमान होता, तो कार्य (घट) की उत्पत्ति का क्या अर्थ होता ?[35] इस प्रकार, यहाँ दोनो मतों के तर्कों में तुल्यबलत्व है और परस्पर-विरोध भी है। अत', 'मिथोविरोध' तर्कदोष है।

जब तर्क मे, आपादक पदार्थ मे आपाद्य पदार्थ की व्याप्ति, जो प्रकृत तर्क का मूल अग है, नही रहती, तब 'मूलशैथिल्य' नामक दोष उत्पन्न होता है। रघुनाथ शिरोमणि का कहना है कि प्रकृत तर्क के दो मूल अग है : आपाद्यापादकव्याप्तिनिश्चय और आपादकाभ्युपगम। यदि तर्क मे इन दोनों अंगो मे किसी एक की भी शिथिलता (हानि) होती है, तो 'मूलशैथिल्य' तर्कदोष उत्पन्न हो जाता है।[36] जैसे : 'यदि सरोवर धूमयुक्त होता, तो घटयुक्त होता।' इस तर्क मे 'धूमयुक्तत्व' आपादक मे 'घटयुक्तत्व' आपाद्य की व्याप्ति नही है और 'धूमयुक्तत्व' आपादक अभ्युपगम भी नही है। अत:, यहाँ 'मूलशैथिल्य' तर्कदोष है।

जहाँ व्यापक पदार्थ नही रहता है, वहाँ व्याप्य पदार्थ के आरोप से उस व्यापक पदार्थ का आरोप किया जाता है, तो वह 'अनिष्टापत्ति' कहलाती है। 'अनिष्टापत्ति' ही तर्क है। किन्तु, यदि उस स्थान पर व्यापक पदार्थ विद्यमान नही है, तो उसकी आपत्ति-तर्क नही हो सकती है। इसे 'इष्टापत्ति' कहा जाता है। जैसे : महानस मे जव वह्नि और धूम दोनों रहते हैं, तब वहाँ वह्नि की आपत्ति 'इष्टापत्ति' हुई। यह तर्क नही है, अपितु 'इष्टापादन' तर्कदोष है।

जो तर्क प्रतिपक्ष के अनुकूल हो या प्रतिपक्ष का साधक हो, तो वह तर्क नही है, 'अनुकूलत्व' नामक तर्कदोष है। जैसे : बौद्ध, जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते और तर्क देते हैं कि 'यदि ईश्वर होता, तो उपनिषदें प्रामाणिक होती।' यहाँ 'ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना' प्रतिपक्ष है। प्रतिपक्षी का उद्देश्य 'उपनिषद् की प्रामाणिकता

को सिद्ध करना' नही है। लेकिन, उक्त उदाहरण में 'उपनिषदों की प्रामाणिकता' 'ईश्वर का अस्तित्व है' इस प्रतिपक्ष को स्पष्टतया सिद्ध करती है, अतः यह तर्क 'अनुकूलत्व' तर्कदोष से दूषित है।

जब धर्मी में आपाद्य के अभाव का निश्चय नहीं हो या जब आपाद्य का अपने विपर्यय में पर्यवसान नही हो, तब 'विपर्ययापर्यवसान' तर्कदोष उत्पन्न होता है। जैसे : 'यदि सरोवर धूमयुक्त होता, तो मत्स्य आदि से परिपूर्ण होता।' यहाँ सरोवर धर्मी मे 'मत्स्य आदि से परिपूर्ण' रूप आपाद्य का अभाव निश्चित नहीं है, न ही 'मत्स्य आदि से परिपूर्ण' रूप आपाद्य का अपने विपर्यय में पर्यवसान है, अतः यह 'विपर्ययापर्यवसान' तर्कदोष है।

तर्क के भेद और उनके लक्षण :

'न्यायसूत्र', 'न्यायभाष्य', 'न्यायवार्त्तिक' और 'तात्पर्यटीका' में तर्कभेद-सम्बन्धी कोई भी विचार उपलब्ध नही होता। सर्वप्रथम **उदयनाचार्य** ने ही अपने 'आत्मतत्त्व-विवेक'[३७] में पाँच प्रकार के तर्कों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है : १. आत्माश्रय, २. इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), ३. चक्रक, ४. अनवस्था तथा ५ अनिष्टप्रसंग। अनिष्टप्रसंग को बाधितार्थप्रसग भी कहा जाता है। 'प्रसंग' शब्द का अर्थ है आपत्ति। जो पदार्थ प्रमाण से बाधित है, उस अनिष्ट=अस्वीकृत पदार्थ की आपत्ति ही 'बाधितार्थ-प्रसंग' है। यद्यपि, तर्क के पाँचों भेद आत्माश्रय आदि बाधितार्थप्रसंग ही हैं, तथापि प्रत्येक तर्क में कुछ वैशिष्ट्य है। अतएव, स्वतन्त्र नाम से उनका उल्लेख किया जाता है। आत्माश्रय आदि चारों तर्कों से भिन्न पाँचवें प्रकार का तर्क बधितार्थप्रसंग अनिष्टापत्ति है। न्यायसूत्रवृत्तिकार **विश्वनाथ** इसे 'तदन्यबाधितार्थप्रसंग' कहते है।

'तार्किकरक्षा' के लेखक **वरदराज** ने भी तर्क के आत्माश्रय आदि पाँच भेदों को प्रमाणित किया है और इनके समर्थन में **उदयनाचार्य** को ही उद्धृत किया है।[३८] न्यायसूत्र-वृत्तिकार **विश्वनाथ** ने **उदयनाचार्य** द्वारा उल्लिखित आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), चक्रक, अनवस्था तथा अनिष्टप्रसंग—इन पंचविध तर्कों के अतिरिक्त प्रथमोपस्थितत्व, उत्सर्ग, विनिगमनाविरह, लाघव तथा गौरव नामक पाँच प्रकार के तर्कभेदों का निरूपण और किया है। लेकिन, अन्त मे **विश्वनाथ** कहते है कि नैयायिक-सम्प्रदाय आत्माश्रय आदि पाँच प्रकार के तर्कों को ही स्वीकार करता है और प्रथमोपस्थितत्व, उत्सर्ग, विनिगमनाविरह, लाघव तथा गौरव नामक पचविध तर्कों मे आपत्ति (प्रसंग) का स्वरूप नही है, अतएव वस्तुतः वे तर्क नही है। किन्तु, ये सब भी तर्क की तरह प्रमाण के सहकारी होते है। इसी से तर्क की तरह इन सभी का भी व्यवहार किया जाता है।[३९]

कही-कही 'तर्क' शब्द 'षट्' संख्या के प्रतीक-रूप मे भी प्रयुक्त किया गया है। **उदयनाचार्य** ने भी तर्क को 'षट्तर्की' कहकर स्वीकार किया है।[४०] जबकि, वह केवल आत्माश्रय आदि पंचविध तर्कों का ही उल्लेख करते है। यहाँ 'षट्तर्की' शब्द का प्रयोग ही

यह निर्दिष्ट करता है कि तर्क के छह भेद हैं। महाकवि श्रीहर्ष-प्रणीत 'खण्डनखण्डखाद्य' मे आत्माश्रय आदि पंचविध तर्कों के अतिरिक्त 'प्रतिबन्दी' नामक छठे तर्क के भेद का उल्लेख किया गया है। अन्तर यह है कि उदयनाचार्य द्वारा कथित तर्क के पाँचवे भेद 'अनिष्टप्रसंग' के स्थान पर श्रीहर्ष ने 'व्याघात' नामक तर्क के पाँचवे भेद को स्वीकार किया है।[४१]

वास्तव में, यदि सूक्ष्मता से देखा जाय, तो **उदयनाचार्य** द्वारा कथित तर्क का पाँचवाँ भेद 'अनिष्टप्रसंग' तो तर्क का भेद है ही नही। 'अनिष्टप्रसंग' को तर्क का भेद कहना तार्किक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त है; क्योंकि 'अनिष्टप्रसंग' तो तर्क का सामान्य लक्षण है, वह तर्क का भेद नही हो सकता। तर्क का यह सामान्य लक्षण 'अनिष्टप्रसंग' तर्क के आत्माश्रय आदि अन्य सभी भेदों में अपरिहार्य रूप से पाया जाता है। 'तार्किकरक्षा' के टीकाकार **मल्लिनाथ**[४२] भी कहते हैं कि 'अनिष्टप्रसंग' तर्क का भेद कैसे हो सकता है? तर्क के सामान्य लक्षण 'अनिष्टप्रसंग' को तर्क का भेद कहना तार्किक दृष्टि से अनुपयुक्त ही है। इसीलिए, श्रीहर्ष ने **उदयनाचार्य** द्वारा उल्लिखित तर्क के प्रथम चार भेदों को ज्यो-का-त्यों स्वीकार कर लिया है और 'व्याघात' तथा 'प्रतिबन्दी' को तर्क का क्रमश: पाँचवाँ तथा छठा भेद बताया है। श्रीहर्ष द्वारा उल्लिखित तर्क के इस षड्विध-विभाजन को 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' की 'साख्यतत्त्वविभाकर' नामक टीका के कर्त्ता **वंशीधरमिश्र** ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया है।[४३] इससे स्पष्ट है कि 'अनिष्टप्रसंग' नामक तर्कभेद स्वीकार्य नही है।

'आत्मतत्त्वविवेक' के टीकाकार **भगीरथ ठाकुर** तथा **रघुनाथ शिरोमणि** ने भी यह स्वीकार किया है कि 'अनिष्टप्रसंग' तर्क का भेद नही है, बल्कि यह तर्क का सामान्य लक्षण है, जो कि आत्माश्रय आदि तर्क के सभी भेदो मे पाया जाता है। एक पृथक् भेद के रूप में 'अनिष्टप्रसंग' का विशेष कथन तो तर्क के चरमोत्कर्ष की अवधारणा की स्थापना में ही निहित है। गो और बलीवर्द (बैल) की भिन्नता के समान तर्क और अनिष्टप्रसंग की भिन्नता प्रसिद्ध ही है। सामान्यत., लोग कहते ही हैं कि एक व्यक्ति के पास सौ गायें और बीस बलीवर्द (बैल) हैं। वास्तविकता यह है कि उस व्यक्ति के पास एक सौ बीस 'गो'-जाति के पशु ही हैं। गो और बलीवर्द (बैल) जैसा विभाजन तो शिथिल विभाजन है और यह विभाजन एक विशेष अवधारणा की सुरक्षा के लिए उपयुक्त हो सकता है। इसी प्रकार तर्क का 'अनिष्टप्रसंग' नामक भेद भी शिथिल तथा प्रसिद्ध है और इस भेद की तार्किक दृष्टि से आवश्यकता नही है।[४४]

शंकरमिश्र ने अपने ग्रन्थ 'वादिविनोद' मे **उदयनाचार्य** द्वारा उल्लिखित तर्क के भेदो को ही प्रस्तुत किया है, लेकिन **शंकरमिश्र** ने भी तर्क के पांचवें भेद का नामकरण 'तदितरानिष्टप्रसंग'[४५] बड़ी बुद्धिमानी से किया है, जिससे शंकरमिश्र, उदयनाचार्य पर आरोपित दोष के आरोपण से बच गये है।

विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार **वेंकटनाथ** ने अपने ग्रन्थ 'न्याय-परिशुद्धि' में **उदयनाचार्य** द्वारा स्वीकृत तर्क के भेदों को ही स्वीकार किया है, लेकिन इन्होने **उदयनाचार्य** के पाँचवे तर्कभेद 'अनिष्टप्रसंग' के स्थान पर 'केवलानिष्टप्रसंग' नाम रखा है,[४६] ताकि **उदयनाचार्य** की तरह **वेंकटनाथ** पर भी कोई दोषारोपण न हो सके। फिर भी, **वेंकटनाथ** पाँचवें तर्क के भेद का नाम-परिवर्त्तन करके **उदयनाचार्य** पर आरोपित दोष के आरोपण से बच नहीं सके हैं; क्योंकि 'अनिष्टप्रसंग' और 'केवलानिष्टप्रसंग' में कोई भेद प्रतीत नही होता। अतः, न्यायपरिशुद्धिकार के अनुसार किये गये तर्कभेदों मे भी 'केवलानिष्टप्रसंग' नामक भेद **उदयनाचार्य** के 'अनिष्टप्रसंग' नामक भेद की तरह सदोष ही है। 'न्यायपरिशुद्धि' ग्रन्थ में **वेंकटनाथ** ने तर्क के भेदो के विषय में विशिष्टताद्वैत-वेदान्त के 'परिज्ञापरित्राण' नामक ग्रन्थ के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आत्माश्रय आदि चार प्रकार के तर्क को और इनसे भिन्न 'केवलानिष्टप्रसंग' नामक पाँचवे भेद के दो भेद करके, अर्थात् 'विरोध' और 'असम्भव' नामक तर्क को मिलाकर तर्क के कुल छह भेदों का वर्णन किया है।[४७] पुनश्च, **वेंकटनाथ** इन पंचविध तर्कों के अतिरिक्त तर्क के तीन भेद और करते है, जो इस प्रकार है : १. प्रतिबन्दी, २. समवचन, ३. उभयतस्पाशा।[४८] इस प्रकार, वेंकटनाथ ने तर्क के आठ भेदों को स्वीकार किया है। तर्क के इन्हीं आठ भेदों मे 'न्यायपरिशुद्धि' के टीकाकार **श्रीनिवास** ने तर्क के दो भेद—'गौरव' तथा 'लाघव' और जोड़ दिये है।[४९] 'मानमेयोदय' ग्रन्थ में अनुमान की परीक्षा के प्रकरण में **नारायणभट्ट** आत्माश्रय आदि प्रसिद्ध चार तर्कों के साथ 'गौरव' और 'लाघव' नामक तर्क के दो अन्य भेदों को जोड़कर तर्क के छह प्रकारों का वर्णन करते है।[५०]

'सर्वदर्शनसंग्रह' के अक्षपाददर्शन-विभाग में **माधवाचार्य** पूर्वोक्त आत्माश्रय आदि चार प्रकार के तर्कों का और इससे भिन्न व्याघात आदि सात प्रकार के तर्कों का उल्लेख करते है। इस प्रकार, इनके अनुसार, तर्क के ग्यारह भेद हैं : व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्दी की कल्पना, कल्पनालाघव, कल्पनागौरव, उत्सर्ग, अपवाद और वैजात्य।[५१] किन्तु, **माधवाचार्य** पुनः इन तर्कों की कुछ भी व्याख्या नही करते।

श्रीहर्ष भी अपने ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' मे पूर्वोल्लिखित षड्विध तर्क—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, व्याघात और प्रतिबन्दी के अतिरिक्त और भी पाँच प्रकार के तर्कभेद—अविनिगम (विनिगमनाविरह), उत्सर्ग, कल्पनागौरव, कल्पनालाघव और अनौचित्य (वैजात्य)—स्वीकार करते हे।[५२] पुनः, वह कहते है कि विषयभेद से अविनिगम आदि अन्य तर्क के भेदों को आत्माश्रय आदि षड्विध तर्कों के समान स्वीकार करना उचित है; क्योंकि अविनिगम आदि तर्क के भेदो का आत्माश्रय आदि पूर्वोक्त षड्विध तर्क के भेदों में अन्तर्भाव नहीं होता, और फिर अविनिगम आदि पंचविध तर्क के सामान्य लक्षण 'अनिष्टप्रसंगत्व' से युक्त है। इस प्रकार, **श्रीहर्ष** के अनुसार, तर्क

के ग्यारह भेद ही है। यद्यपि, 'खण्डनखण्डखाद्य' के टीकाकार शंकरमिश्र अपनी टीका मे अविनिगम आदि पंचविध तर्कों को तर्क का प्रतिरूप कहकर उन्हे शास्त्रसम्मत स्वीकार नही करते।[५३] फिर भी, अपने ग्रन्थ 'वादिविनोद' मे यह निर्णय करते है कि यद्यपि अविनिगम आदि पचविध तर्क तर्क के ही प्रतिरूप है, तथापि इन्हे आत्माश्रय आदि षड्विध तर्कों के अतिरिक्त तर्क के अन्य भेद के रूप में स्वीकार करना उचित ही है; क्योंकि अविनिगम आदि तर्क के भेदो का आत्माश्रय आदि षड्विध तर्कभेदो मे अन्तर्भाव नही हो सकता और अविनिगम आदि पंचविध तर्कों मे विशेष रूप से 'लाघव' आदि भेदों को तो प्रमाणित ग्रन्थो में तर्क के भेदरूप में स्वीकार किया ही गया है।[५४]

इस प्रकार, विभिन्न मतो में वर्णित तर्क-विभाजन यथानिर्दिष्ट रूप में हुआ है :

१. **उदयनाचार्य** के अनुसार, तर्क के पाँच भेद है : आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, (अन्योन्याश्रय), चक्रक, अनवस्था एवं अनिष्टप्रसंग।

२. **वरदराज** के अनुसार, तर्क के पाँच भेद है · आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), चक्रकाश्रय, अनवस्था एवं अनिष्टप्रसंग।

३. **विश्वनाथ** के अनुसार, तर्क के दस भेद है : आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, तदन्यबाधितार्थप्रसंग, प्रथमोपस्थितत्व, उत्सर्ग, विनिगमनाविरह, लाघव तथा गौरव।

४. **श्रीहर्ष** के अनुसार, तर्क के ग्यारह भेद है : आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, व्याघात, प्रतिबन्दी, अविनिगम (विनिगमनाविरह), उत्सर्ग, कल्पनागौरव, कल्पनालाघव तथा अनौचित्य (वैजात्य)।

५ **शंकरमिश्र** के अनुसार, तर्क के दस भेद है : आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, तदितरानिष्टप्रसंग, विनिगमनाविरह, उत्सर्ग, लाघव, गौरव एवं वैजात्य।

६. **वेंकटनाथ** के अनुसार, तर्क के आठ भेद है : आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, केवलानिष्टप्रसंग (विरोध और असम्भव), प्रतिबन्दी, समवचन और उभयतस्पाशा।

७. **श्रीनिवास** के अनुसार, तर्क के दस भेद है : आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, केवलानिष्टप्रसग, प्रतिबन्दी, समवचन, उभयतस्पाशा, गौरव और लाघव।

८. **नारायणभट्ट** के अनुसार, तर्क के छह भेद है : आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, गौरव एवं लाघव।

९ **माधवाचार्य** के अनुसार, तर्क के ग्यारह भेद है : व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्दी की कल्पना, कल्पनालाघव, कल्पनागौरव, उत्सर्ग, अपवाद और वैजात्य।

तर्क-विभाजन के पश्चत् तर्क के सभी भेदो का स्वरूप-ज्ञान अत्यावश्यक है, लेकिन **उदयनाचार्य** से श्रीहर्ष तक की अवधि में लिखे गये जितने भी न्यायग्रन्थ हैं, सभी मे तर्क

के भेद तो गिनाये गये है, लेकिन श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' के अतिरिक्त अन्यत्र तर्क के सभी भेदों का स्वरूप नही बताया गया है। अतः, तर्क के सभी भेदो के लक्षण 'खण्डनखण्डखाद्य' से ही ग्राह्य है।

१ आत्माश्रय : जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञान में अव्यवहित (साक्षात्) स्वापेक्षा करता है और उससे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है, उसे 'आत्माश्रय' कहते हैं।[५५] जैसे : यदि पृथ्वी गन्धवती नही होती, तो उसमे गन्ध कहाँ से आती? यहाँ गन्धवत्ता अपनी सिद्धि के लिए स्वयं अपनी गन्ध की अपेक्षा रखती है, अत. 'आत्माश्रय' तर्क है।

२. अन्योन्याश्रय . किसी पदार्थ के ज्ञान में किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा है और उस अन्य पदार्थ के लिए यदि पुनः पूर्व पदार्थ की ही अपेक्षा होती रहे और उससे जो अनिष्ट की आपत्ति हो, उसे 'अन्योन्याश्रय' या 'इतरेतराश्रय' तर्क समझना चाहिए।[५६] जैसे : यदि वेद नही होते, तो वे ईश्वर का प्रमाण कैसे होते? और, यदि ईश्वर नहीं होता, तो वेद का प्रमाण कैसे होता?' यहाँ वेद और ईश्वर दोनों की सिद्धि अन्योन्याश्रित है, अत. 'अन्योन्याश्रय' तर्क है।

३ चक्रक : किसी पदार्थ के ज्ञान मे किन्ही अन्य दो पदार्थो की या उससे भी अधिक पदार्थो की अपेक्षा करके अन्त मे यदि पुन. अपनी ही अपेक्षा हो जाती है और उससे जो अनिष्ट की आपत्ति होती है, वह 'चक्रक' नामक तर्क है।[५७] जैसे · राम सोया हुआ है। किसी शब्द को सुनकर वह जग जाता है। यहाँ यदि तर्क करें कि 'यदि राम को शब्द-श्रवण नही होता, तो जागर्त्ति कैसे होती? यदि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं होता, तो शब्द-श्रवण कैसे होता? यदि जागर्त्ति नही रहती, तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कैसे होता? यहाँ जागर्त्ति श्रवण पर, श्रवण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पर और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पुनः जागर्त्ति पर आश्रित है। अत., 'चक्रक' नामक तर्क है।

४. अनवस्था : जिस आपत्ति का कही भी विश्राम नही है, उस प्रकार की धारावाहिक आपत्ति 'अनवस्था' है। निरवधि उपपाद्य तथा उपपादक = साध्य-साधक = कार्य-कारण का प्रवाह 'अनवस्था' कही जाती है।[५८] जैसे : 'यदि इस वृक्ष का कारण बीज नहीं होता, तो वह वृक्ष कहाँ से आता? यदि उस बीज का कारण वृक्ष (२) नही होता तो वह बीज कहाँ से आता? यदि उस वृक्ष (२) का कारण बीज (२) नही होता, तो वह वृक्ष कहाँ से आता? यदि उस बीज (२) का कारण वृक्ष (३) नही होता, तो वह बीज कहाँ से आता?'.... इस प्रकार, निरन्तर आपत्ति करते रहे, तो इस प्रवाह का कहीं अन्त नहीं होगा। यही धारावाहिक आपत्ति 'अनवस्था' कही जाती है।

५. प्रतिबन्दी : अपने पक्ष के दोष की तुल्यता को अन्य के पक्ष मे प्रतिपादित करे, तो वह 'प्रतिबन्दी' है।[५९] जिस तर्क से दोनो पक्ष समान रूप से प्रभावित हों, वह प्रतिवन्दी या प्रतिबन्दिकल्पना है। जैसे पुरुष होने के कारण यदि वह चोर है, तो आप भी तो चोर है; क्योंकि पुरुष है।

६. **विनिगमनाविरह** : विकल्प से अन्वय-अवगम के योग्य अनेक के उपस्थित होने पर तदेकदेश के अन्वयविषयक नियम के निर्धारण मे अशक्यता 'अविनिगम' या 'विनिगमना-विरह' है।[६०] जैसे 'भूतत्व और मूर्त्तत्व दोनो मे जातित्व के अन्वय की योग्यता है, वहाँ दोनो में जातित्व मानने पर सकट होगा। अत, एक को ही जाति होना चाहिए। वहाँ जातित्वसाधक अनुगत-प्रतीति की तुल्यता से विकल्प होता है कि भूतत्व जाति है या मूर्त्तत्व ? और, एक मे जातित्व के अन्वय के नियम-निर्धारण मे अशक्यता विनिगमनाविरह (अविनिगम) है और एक के जातित्व का ग्राहक प्रमाण हो, तो वह विनिगमनाविरह न हो, परन्तु उस प्रमाण को भी विनिगमनाविरह-बाधता है। क्योकि, सत्प्रतिपक्ष हेतुओ के समान निर्धारण मे अशम्य अन्वयवालो का परस्पर प्रतिक्षेप (निषेध) मे ही पर्यवसान (स्थान) होता है। अतः, यहाँ 'विनिगमनाविरह' तर्क है।

७ **उत्सर्ग** : बाहुल्यरूप से अदृष्ट की अपेक्षया बाहुल्यरूप से दृष्टता के कारण प्रबल की स्वीकार-योग्यता को 'उत्सर्ग' कहते हैं।[६१] जैसे . 'स्वस्थ और जाग्रत् मनुष्य के ज्ञान का प्रामाण्याप्रामाण्य के निर्णायक प्रमाण की अनुपस्थिति-रूप अविशेष के होते हुए भी, बाध के विना जो अप्रमाण मानते है, उनके प्रति उत्सर्गरूप तर्क प्रवृत्त होता है कि ज्ञान उत्सर्ग (सृष्टिमात्र से सामान्य रूप मे) स्वस्थ आदि अवस्था मे प्रमाण होता है। कही दैवयोग से बाधक के मिलने पर ही अप्रमाण होता है, अन्यथा नही। अत, जो उस स्वस्थ जाग्रत् पुरुष आदि के ज्ञान को प्रामाण्ययुक्त मानते हैं, उनके प्रति 'उत्सर्ग' रूप तर्क प्रवृत्त नहीं होता।

८. **कल्पनागौरव और कल्पनालाघव** . कल्पनाओ का क्रमश. विस्तार और सकोच कल्पनागौरव और कल्पनालाघव कहलाता है। सुगम और असुगम मे जो असुगम (दुर्बोध) में दुर्बलत्व होता है, उसकी कल्पना मे गौरव और जो सुगम (सुबोध) मे दुर्बलत्व होता है, उसकी कल्पना मे लाघव है।[६२] कल्पनागौरव से अनेकापत्ति का निवारण होता है और कल्पनालाघव स्वपक्ष के साधन के लिए अनुकूल (सहायक) होता है। जैसे . नैयायिको के मत से, पृथ्वी आदि मे प्रत्येक कार्य के प्रति भिन्न कर्त्ताओ के अभ्युपगम के आपादक होने पर कोई ईश्वर कर्त्ता है, जैसे लोक मे घट-पट आदि अनेक कार्य के अनेक कर्त्ता होते है, वैसे पृथ्वी आदि के अनेक कर्त्ता मानना चाहिए, तो उस आपादन मे दूषण के अनुकूल यह कल्पनालाघव होता है। अत, एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर माना जाता है। कल्पना-गौरव से अनेकापत्ति का निवारण होता है और सौगत के प्रति अनेक समर्थ कारणों के प्रत्येक अनेक समान देश-कालवाले अनेक नील आदि व्यक्ति के उत्पाद (उत्पत्ति) के आपादक होने पर सब कारण के सब कार्य के लिए समर्थ होने से सबसे एक देशकाल मे सर्वकार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए, तो यही दूषण गौरव तर्क के अनुकूल होता है और उस गौरव के व्यतिरेक (अभाव) से कल्पनालाघव स्वपक्ष के साधन के लिए अनुकूल होता है।

९. **व्याघात** . दो विरुद्ध धर्मो का एक धर्मी मे समुच्चय (सम्बन्ध) 'व्याघात' है।[६३] असम्बद्ध अर्थ से युक्त वाक्य को 'व्याघात' कहते है। व्याघात के तीन भेद होते है :

स्ववचनव्याघात, स्वक्रियाव्याघात तथा स्वज्ञानव्याघात।[६४] इनके क्रमशः उदाहरण है : 'माता वन्ध्या है', 'मैं मूक हूँ' और 'मैं इसे नही जानता हूँ।'

१०. **अनौचित्य अथवा वैजात्य (वैयात्य)** : प्रामाणिकों से व्यवहार एवं सर्वथा समाधान के अयोग्य अनौचित्य और वैजात्य (वैयात्य) नामक तर्क होता है।[६५] उस अनौचित्य के ही भेद प्रश्नवैजात्य आदि होते हैं। प्रश्न के विषय को प्रामाणिक नही माननेवालो के प्रति प्रश्न करनेवाले मे प्रश्नानौचित्य प्रश्नवैजात्य दोष कहा जाता है। जैसे : प्रमाण आदि को सत्य मानकर प्रमाण आदि से व्यवहार करनेवाले नैयायिक के प्रति यदि सौगत प्रश्न करते हैं कि अवस्तु=शून्य मे विधि-निषेध में से किस को प्रामाणिक मानते हैं, तो यहाँ प्रश्नकर्त्ता सौगत में प्रश्नानौचित्य माना जाता है।

११. **समवचन** : समवचन का प्रतिवन्दी मे अन्तर्भाव नही हो सकता। अन्तर यह है कि अपने पक्ष के दोष की तुल्यता को अन्य के पक्ष में प्रतिपादन को 'प्रतिवन्दी' कहते हैं, जबकि अपने पक्ष के लाभ की तुल्यता को अन्य के पक्ष में प्रतिपादन को 'समवचन'।[६६] जैसे : यदि ब्रह्म प्रामाणिक रूप से सत्य है, तो विश्वप्रपंच भी सत्य है; क्योंकि वह प्रामाणिक है।

१२. **उभयतस्स्पाशा** : पक्ष-प्रतिपक्ष, दोनों दशाओ मे विकल्प करके दोनों स्थानो पर दोषापादन करना 'उभयतस्स्पाशा' कहलाता है।[६७] जैसे : अद्वैत-वेदान्त के अनुसार, जगत् मिथ्या है। किन्तु, प्रतिपक्षी वैष्णव प्रश्न करते है कि मिथ्यात्व मिथ्या है या नहीं। यदि मिथ्यात्व मिथ्या है, तो जगत् सत्य है। यदि मिथ्यात्व मिथ्या नहीं है, तो भी जगत् सत्य है। यहाँ 'उभयतस्स्पाशा' नामक तर्कभेद है।

तर्क के जितने भी भेद बताये गये हैं, वे दोष हैं। इन तर्कों की उपयोगिता इसी में है कि उक्त दोषों की सम्भावना से न्याय की सुरक्षा करें। तर्क को कुछ इस प्रकार रखते हैं : यदि ऐसा नही होगा, तो किसी-न-किसी तर्क के भेद का प्रसंग हो जायगा। इस प्रकार, प्रमाण से साध्य अर्थ के विरुद्ध जाने की सम्भावना समाप्त हो जाती है, इसीलिए ये प्रमाणों के अनुग्राहक हैं।[६८]

सन्दर्भ-संकेत :

१. (क) 'तर्कः प्रमाणानामनुग्राहक.।'—तर्कभाषा : (सं०) **आचार्य विश्वेश्वर**, वाराणसी, सन् १९५३ ई०, पृ० २४२।
(ख) तर्कसंग्रह ऑव अन्नम्भट्ट : (सं०) ऐथले ऐण्ड बोडास, बम्बई, सन् १९६३ ई०, पृ० ५७।

२. न्यायपरिशुद्धि : वेंकटनाथ, मद्रास, सन् १९७८ ई०, पृ० २१५।

३. न्यायसूत्र, १।१।४०।

४. 'अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति, किं स्वित् इत्थमाहो-स्विन्नेत्थमिति। विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकतरं कारणोपपत्त्या अनुजानाति, सम्भव-

त्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति । कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतत् नेतरदिति ।'— न्यायभाष्य, मिथिला रिसर्च इंस्टीट्यूट, दरभंगा, सन् १९६७ ई०, पृ० ५८०-८१।

५. 'ऊहो नाम इदं प्रमाणमित्थं प्रवर्त्तितुमर्हतीति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हताविषयं सामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणानुग्राहक ज्ञानम् ।'—न्यायपरिशुद्धि, पृ० २१५ ।

६ न्यायभाष्य, १।१।१, पृ० ४।

७ 'कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात् । अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति एवमेवेदमिति ।'—न्यायभाष्य, पृ० ५८१ ।

८. न्यायवार्त्तिक, मिथिला रिसर्च इस्टीट्यूट, दरभगा, सन् १९६७ ई०, पृ० ५८३।

९. न्यायकन्दली, वाराणसी, सन् १९७७ ई०, पृ० ४१५।

१०. न्यायवार्त्तिक, पृ० ५८३-८४।

११ तर्कभाषा, पृ० २४३ ।

१२. न्यायदर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण स्वीकार किये गये है ।

१३. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, मिथिला रिसर्च इस्टीट्यूट, दरभगा, सन् १९६७ ई०, पृ० ५८५।

१४. 'यस्मिन् विषये प्रमाण प्रवर्त्तितुमुद्यत तद्विपर्ययाशङ्कायां न तावत् प्रमाणं प्रवर्त्तते, न यावदनिष्टयापत्त्या विपर्ययाशङ्का अपनीयते। तदपनय एव च स्वविषये प्रमाणसम्भव इति चोपपत्तिरिति व्याख्यायते ।'—न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ० ५८५ ।

१५. (क) 'सम्भवः = उत्कटकोटिकसन्देहः' (गदाधरी); (ख) 'सम्भावना = उत्कटैकतरकोटिकसशय.' (तर्कप्रकाश), (नीलकण्ठी, पृ० ३२), (तत्त्वावलि); न्यायकोश · भीमाचार्य झलकीकर, पूना, सन् १९२८ ई०, पृ० ९२२-२३ ।

१६. साहित्यदर्पण : (सं०) पी० वी० काणे, बम्बई, सन् १९५१ ई०, पृ० १४१ ।

१७. (क) न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, मिथिला रिसर्च इंस्टीट्यूट, दरभंगा, सन् १९६७ ई०, पृ० ५८८ ।

(ख) आत्मतत्त्वविवेक : उदयनाचार्य, कलकत्ता, सन् १८७३ ई०, पृ० ६६ ।

(ग) तर्कभाषा, पृ० २४२ ।

१८. (क) 'अनिष्टञ्च द्विविधं प्रामाणिकपरित्यागोऽप्रामाणिकपरिग्रहश्च ।'—आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ६६ ।

(ख) तर्कोऽनिष्टप्रसङ्ग : स्यात् अनिष्ट द्विविध स्मृतम् ।
प्रामाणिकपरित्यागस्तथेतरपरिग्रह · ॥
—तार्किकरक्षा, श्लो० ७१, मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस, पृ० १८५ ।

१९. आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ६६ ।

२०. (क) 'व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीते व्याप्यस्याऽऽहार्य्याऽऽरोपाद् यः व्यापकस्याऽऽहार्य्याऽऽरोप., स तर्कः ।'–न्यायसूत्रवृत्ति, कलकत्ता, सन् १९१९ ई०, पृ० ४२-४३ ।

(ख) 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः ।'—तर्कसंग्रह, काशी, सन् १९३९ ई०, पृ० १२५ ।

(ग) 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्क ।'—सर्वदर्शनसंग्रह, चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९७८ ई०, पृ० ४६७ ।

२१. न्यायकोश, पृ० १३० ।

२२ 'आहार्यव्याप्यवत्ताभ्रमजन्य आहार्यव्यापकवत्ताभ्रमस्तर्क. ।'—तर्कसंग्रह ऑव अन्नम्भट्ट : (सं०) ऐथले ऐण्ड बोडास, पृ० ३५७ ।

२३. 'ऊहत्वञ्च, मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः ।'—न्यायसूत्रवृत्ति, पृ० ४३ ।

२४. आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ६९ ।

२५. व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसान विपर्यये ।
अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम् ॥— तार्किकरक्षा, पृ० १८७ ।

२६. 'प्रसञ्जकस्य प्रसञ्जनीयेन व्याप्तिः, प्रतितर्कणाप्रतिघात. प्रसञ्जनीयविपर्यये पर्यवसान, प्रसञ्जितस्यानिष्टत्व, परपक्षासाधकत्व चेति तदङ्गानि ।'—न्यायपरिशुद्धि, पृ० २२२ ।

२७. आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ६९, तार्किकरक्षा तथा न्यायपरिशुद्धि, पृ० २२२ ।

२८. न्यायपरिशुद्धि, पृ० २२२ ।

२९. अङ्गपञ्चकसम्पन्नस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते ।—तार्किकरक्षा, पृ० १८८ ।

३०. अङ्गान्यतमवैकल्ये तर्कस्याभासता भवेत् ।—तार्किकरक्षा, न्यायकोश, पृ० ३२६, पृ० १८८ ।

३१. 'मिथोविरोधमूलशैथिल्येष्टापादनानुकूलत्वविपर्ययापर्यवसानैस्तर्काभासत्वात् ।'
—आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ६९ ।

३२. 'मिथोविरोधश्च सत्प्रतिपक्षतैव ।'—खण्डनखण्डखाद्य : श्रीहर्ष, चौखम्बा-प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७० ई०, पृ० ७५१ ।

३३. न्यायकोश, पृ० ९४६ ।

३४. तत्त्वकौमुदी : (सं०) गंगानाथ झा, पूना, सन् १९६५ ई०, पृ० ४४ ।

३५. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, ३।२।१७ ।

३६. 'मूलशैथिल्यम्, तर्कस्य मूलं आपाद्यापादकव्याप्तिनिश्चयापादकाभ्युपगमौ तत् शैथिल्यं तद् अन्तरव्यतिरेक ।'–आत्मतत्त्वविवेकदीधिति, बिब्लियोथिका इण्डिका-संस्करण, पृ० ५५७ ।

३७. (क) 'स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टाप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधोऽपि....।'
—आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ११६ ।

(ख) 'स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थाप्रमाणबाधितार्थप्रसङ्गभेदेन पञ्चविध.।
—न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, पृ० ५८८।

(ग) 'स चायं पञ्चविध., आत्माश्रयान्योऽन्याश्रयचक्रकानवस्थातदन्यबाधितार्थ-प्रसङ्गभेदात् ।' —न्यायसूत्रवृत्ति, पृ० ४४।

३८ 'स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकाश्रयानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविध इति।' —तार्किकरक्षा, मल्लिनाथ-कृत टीका-सहित, मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस, पृ० १८६।

३९. 'प्रथमोपस्थितत्वोत्सर्गविनिगमनाविरहलाघवगौरवादिकन्तु प्रसङ्गानात्मकत्वात् न तर्क., किन्तु प्रमाणसहकारित्वरूपसाधर्म्यात् तथा व्यवहार इति सङ्क्षेपः।'
—न्यायसूत्रवृत्ति, पृ० ४४।

४०. 'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्तत.।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥'
—लक्षणावली, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज, वाराणसी, पृ० १३।

४१. 'अपि चात्माश्रयोन्योन्याश्रयचक्रकं व्याघातोऽनवस्थाप्रतिबन्दी चेत्यापाद्यैर्भिद्यमाना षट्तर्कीष्यते। —खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ७२२।

४२. '..... कथं अनिष्टप्रसङ्गस्येह तर्कावान्तरभेदोक्ति ?' —तार्किकरक्षा की मल्लिनाथ-कृत टीका, पृ० १८७।

४३. साख्यतत्त्वविभाकर, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज, पृ० ७३।

४४. 'आत्माश्रयादीनामप्यनिष्टप्रसङ्गरूपतया गोवृषन्यायाद् विभाग.। —आत्मतत्त्वविवेकप्रकाशिका, सस्करण : बिब्लियोथिका इण्डिका, पृ० ८६५; आत्मतत्त्वविवेकदीधिति, पृ० ८६६।

४५. वादिविनोद : (सं०) गंगानाथ झा, पृ० १९।

४६. न्यायपरिशुद्धि, पृ० २२२।

४७. 'प्रज्ञापरित्राणे तु केवलानिष्टप्रसङ्गमेव द्विधाकृत्य षोढा तर्का उक्ताः—
'आत्माश्रयणमन्योन्याश्रयणं चक्रकं तथा।
अनवस्था विरोधश्चासम्भवश्चेत्यमी बुधै· ॥' इति।
—न्यायपरिशुद्धि, पृ० २२५।

४८. 'एतेषामेव प्रकारभेदात् प्रतिबन्दिसमवचनोभयतस्पाशादय. प्रसङ्गभेदा द्रष्टव्या·।'
—न्यायपरिशुद्धि, पृ० २२४।

४९. (क) 'आदिपदेन गौरवलाघवतर्कयोर्ग्रहणम् ।—न्यायपरिशुद्धि की श्रीनिवास-कृत-टीका, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज, पृ० ३४७-४८।

(ख) 'आदिना गौरवरूपदोपग्रहणम् ।'—न्यायपरिशुद्धि की न्यायतत्त्वप्रकाशिका टीका, मद्रास, सन् १९७८ ई०, पृ० २२५।

५० मानमेयोदय, वाराणसी, सन् १९७८ ई०, पृ० ४५।

५१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४६७ ।
५२. खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ७३८ ।
५३. खण्डनखण्डखाद्य, शांकरी टीका, पृ० ७३८ ।
५४. वादिविनोद, पृ० ३७ ।
५५. 'स्वस्याव्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः ।'—खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ७२२ ।
५६. 'अन्योन्यस्याव्यवहितान्योन्यापेक्षित्वमन्योन्याश्रय. ।'— उपरिवत् ।
५७. 'अन्तरितस्य तदेव द्वयमात्मान्याश्रयोन्योन्याश्रयश्चक्रकम् ।—उपरिवत् ।
५८. 'उपपाद्योपपादकप्रवाहोऽनवधिरनवस्था ।'—उपरिवत् ।
५९. 'स्वाभ्युपगतदोषतुल्यता प्रतिबन्दी ।'—उपरिवत् ।
६०. 'विकल्पेनान्वयावगमयोग्येऽनेकस्मिन्नभ्युपगते तदेकदेशान्वयनियमनिर्धारणाऽशक्यत्वमविनिगमः ।'—उपरिवत्, पृ० ७३८ ।
६१. 'बाहुल्यादृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतयाऽदुर्बलस्योपगमार्हतोत्सर्गः ।'—उपरिवत्, पृ० ७४० ।
६२. 'सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्वं कल्पनागौरवम् ।.......तद्व्यतिरेकेण कल्पनालाघव साधनानुकूलम् ।'—उपरिवत्, पृ० ७४२ ।
६३. 'विरुद्धसमुच्चयो व्याघातः ।'—उपरिवत्, पृ० ७२२ ।
६४. आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ६५ ।
६५ 'प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमसमाधेयजातीयमनौचित्यम्, वैजात्यनामकम् ।'—खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ७४२ ।
६६. 'एकस्थलदृष्ट्युक्त्या अन्यत्रापि स्वसम्मतस्य सम्मन्तव्यत्वकथनं समवचनम् ।'
—न्यायपरिशुद्धि, न्यायतत्त्वप्रकाशिका, पृ० २२४ ।
६७. 'उभयथा विकल्प्योभयत्र दोषापादनमुभयतस्पाशा ।' —उपरिवत् ।
६८. 'तस्मात् सर्वप्रमाणानां तर्कोऽनुग्राहकः स्थितः ।'—मानमेयोदय, पृ० ५२ ।

△ ५६, अरविन्द-निवास
वनस्थली-विद्यापीठ, वनस्थली (राजस्थान)

प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेनाव्यभिचारिणा ।
वणिजस्तार्किकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिन्वते ॥
(चन्द्रप्रभचरित, २।१४२)

—अर्थात्, व्यापारी और तार्किक दोनों समान है, क्योंकि जहाँ व्यापारी वस्तु की प्रामाणिक नाप-तौल के निमित्त सही मानको—बाटो का प्रयोग करता है, वहाँ तार्किक वस्तुतत्त्व का परीक्षण यथार्थ प्रमाणों—युक्तियों और तर्कों के आधार पर करता है ।

नचिकेतोपाख्यान : एक अनुशीलन

△ डॉ० वैद्यनाथ झा

नचिकेता का उपाख्यान तीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है : १. 'कठोपनिषद्' मे, २. 'तैत्तिरीयब्राह्मण' मे तथा ३. 'महाभारत' मे। तीनों ग्रन्थो की कथाओं मे कुछ-कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ प्रथमत 'महाभारत' की कथा का उल्लेख किया जाता है। 'महाभारत' के अनुसार, 'गोदान का फल क्या होता है ?' ऐसा युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म पितामह ने नचिकेता का जो उपाख्यान कहा, वह इस प्रकार है ·

भीष्म ने कहा : हे युधिष्ठिर ! इसके सम्बन्ध मे एक प्राचीन कथा है। औद्दालकि नाम के एक ऋषि थे। उन्होने यज्ञ की दीक्षा ली। वे नदी मे स्नान करने के लिए गये। वहाँ तट पर कुश, फूल, पात्र आदि रखकर आश्रम में चले आये। आश्रम मे पहुँचने पर उन्होने अपने पुत्र नचिकेता से कहा : 'पुत्र ! नदीतट पर जाकर मेरी वहाँ रखी हुई फूल, कुश आदि सामग्री ले आओ।' नचिकेता वहाँ गया, उसने नदीतट पर इधर-उधर देखा, पर वहाँ वह सामग्री नही थी, सम्भवत जल मे बह गई थी। वह आश्रम लौट आया और उसने पिताजी से कहा कि वह सामग्री वहाँ नही है, कदाचित् नदीजल के प्रवाह मे बह गई होगी। इसपर पिता ने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया : 'तुम यम के पास जाओ।' पुत्र ने करबद्ध प्रार्थना की · 'पिताजी, प्रसन्न हो जाइए।' तदनन्तर, नचिकेता शाप के प्रभाव से मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया। यह देखकर पिता को दु:ख हुआ और वे रोने लगे। नचिकेता यमपुरी पहुँच गया। वह एक रात-दिन मूर्च्छित रहा, उसके बाद वह जाग उठा। तब उसने पिता से कहा कि मैं यमलोक गया। वहाँ मुझे यमराज के दर्शन हुए। वहाँ की भूमि सुवर्णमयी है और घर भी सुवर्णमय। वहाँ दुग्ध एव घृत की नदियाँ वहती हैं। पूछने पर यम ने बतलाया कि जो सत्पात्रो के लिए गाय का दान करते हैं, वे यहाँ आकर निवास करते और इच्छानुसार गो-रस का सेवन किया करते है। इसके अतिरिक्त, उन्होने मुझे कई वर दिये और ज्ञान का उपदेश भी दिया, फिर सभी पुण्यलोको का दर्शन कराया। उनकी आज्ञा हो जाने पर मैं यहाँ लौट आया हूँ।[1]

'कठोपनिषद्' में नचिकेता की कथा :

'कठोपनिषद्' कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत है। इस कारण, इसका नाम भी 'कठोपनिषद्' पड गया। इसका अन्य नाम 'नचिकेतोपाख्यान' अथवा 'नचिकेतस उपाख्यान' भी है। **सायणाचार्य** अपने ऋग्वेदभाष्य के मण्डल १०, सूक्त १३५ के व्याख्यान मे इस उपाख्यान का बीज बतलाते है। इस सूक्त के सातों मन्त्रो मे इस कथानक का मूल सिद्ध करने का प्रयत्न उन्होंने किया है।[2]

कठोपनिषद् के अनुसार, उद्दालक नामक ऋषि[3] ने सर्वमेध या विश्वजित् नामक यज्ञ किया। इस यज्ञ मे चूँकि अपना सर्वस्व-दान करना पड़ता है, इसलिए उसने अपना सब कुछ समर्पण कर यह यज्ञ किया। उस समय गाय ही सर्वश्रेष्ठ धन के रूप मे मानी जाती थी। अत., उसने गोदान का काम प्रारम्भ किया। पर, ये गायें जीर्ण-शीर्ण (वृद्धा) थी। उत्तम (हृष्ट-पुष्ट) गायो को उसने अपने एकमात्र पुत्र नचिकेता के लिए सुरक्षित रख लिया। इन वृद्धा, अतएव अदेय गायों को दान करते देख नचिकेता सोचने लगा : "इस प्रकार की अदेय गायो को दान करने से कोई फल (पुण्य) नही होता, प्रत्युत शास्त्र-विरुद्ध होने से, पाप ही लगता है। फलत., दानकर्त्ता को नरक का भागी बनना पड़ता है। अतः, इन अदेय गायो के दान करने से मेरे पिता पुण्यभागी बनने के बदले नरकभागी बनेगे। पिता को नरक से बचाना पुत्र का परम कर्त्तव्य है।[4] मेरे पिता मोह में पड़ गये है, इसलिए उन्होने मेरे लिए कुछ अच्छी गाये बचा रखी है। अत, स्पष्ट है कि मै ही उनका सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति हूँ। और फिर, विश्वजित् याग मे अपना सब कुछ (सर्वाधिक प्रिय पदार्थ भी) दे देना पड़ता है। इस हेतु उन्हे मेरा भी दान करना ही होगा। इससे पिता का मोह से उद्धार भी हो जायगा और यज्ञ की पूर्त्ति भी। परन्तु, इस अवसर के आने से पूर्व यदि मैं ही अपने पिता से पूछ लूँ कि 'आप मुझे किसको दान मे देगे?' तो वह मेरे लिए बचाकर रखी हुई उत्तम गायो का ही दान करेंगे, न कि अदेय गायो का। इस तरह वह नरक के भागी नही बन पायेंगे।"

यह सोचकर उसने कई बार पिताजी से पूछा : 'आप मुझे किसको दान में देंगे?' इस तरह कई बार पूछने पर पिता ने खीझकर कहा कि 'मै तुझे मृत्यु को देता हूँ।' किन्तु, ऐसा मुख से निकलने के बाद पिता (उद्दालक ऋषि) को अत्यधिक दुःख एव पश्चात्ताप होने लगा। पिता को अपने कथन पर दुखी एवं सन्तप्त होते देख नचिकेता कहने लगा : 'हे पिताजी! आप दुःख न करे तथा अपने से प्राचीन एवं वर्त्तमान समय के भी महापुरुषों को देखे कि वे लोग जो कह देते है, वही करते है और उस सम्बन्ध मे दु.ख भी नही करते। अत., आप भी वैसा ही करे।'

इसके बाद नचिकेता मृत्यु (यम) के पास चला जाता है। पर, यमराज से उनकी भेंट नही हुई; क्योंकि यमराज घर पर नही थे, बाहर गये थे। तीन दिनो के बाद वे घर (यमपुरी) लौटकर आये। तबतक नचिकेता ने अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नही किया, यो ही उपवास करता हुआ वह पड़ा रहा।[5] घर लौटने पर पत्नी ने यमराज को बतलाया कि एक बालक अतिथि तीन दिनो से अन्न-जल ग्रहण किये विना ही दरवाजे पर पड़ा है। जिस गृहस्थ के घर अतिथि भूखा रह जाता है, उसके सारे पुण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं, अतः सर्वप्रथम आप इस अतिथि को प्रसन्न करें। पत्नी के कहने पर यमराज नचिकेता के पास गये और नमस्कार कर उन्होंने कहा. 'हे ब्रह्मवित् अतिथि! आप मेरे घर तीन दिनों तक भूखे पड़े रहे, अतः इसके लिए तीन वरों की याचना मुझसे कर लें।' यह

सुनकर नचिकेता ने प्रथम, पितृपरितोष, द्वितीय, स्वर्गसाधनभूत यज्ञाग्निविज्ञान और तृतीय, आत्मज्ञान की प्राप्ति—ये तीन वर माँगे।

इनमे प्रथम इस लोक से सम्बद्ध वर है—पितृपरितोष। इसका रहस्य यह है कि उसे अपने पिता की प्रबल चिन्ता थी। वह पिता के सत्य की रक्षा के लिए, उनकी इच्छा के विरुद्ध यमपुरी चला आया था। इससे पिता बहुत ही दु खी एव अशान्त हो गये थे। अत, उसे सर्वप्रथम यही आवश्यक जान पड़ा कि पिता को शान्ति मिलनी चाहिए, इसलिए उसने यमराज से कहा कि मेरे पिता प्रसन्न, क्रोधरहित एव शान्तचित्त हो जायँ और यहाँ से लौटकर जाने के बाद मुझसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें।[१]

मनुष्य का यह स्वभाव है कि लौकिक सुख-शान्ति के बाद वह पारलौकिक सुख की कामना करता है और पारलौकिक सुखेच्छा के अधिक प्रवल हो जाने पर वह ऐहिक सुख की भी चिन्ता नही करता। अतएव, नचिकेता ने पारलौकिक सुख, अर्थात् स्वर्गलोक की प्राप्ति का साधनभूत यज्ञाग्निविज्ञान को दूसरे वर के रूप मे माँगा।[७] आचार्य यम ने उसका विधान नचिकेता को पूर्ण रूप से बतला दिया और साथ ही उसकी बुद्धि की परीक्षा भी ली कि उसने स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले यज्ञाग्नि के साधन को भली भाँति समझ लिया, या नही? परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाने पर यम ने प्रसन्न होकर उसे अपनी ओर से वरदान दिया कि यह अग्नि उसी (नचिकेता) के नाम से संसार मे विख्यात होगा।

नचिकेता ने तृतीय वर के रूप मे 'आत्मज्ञान की प्राप्ति' को ही माँगा। यह आत्म-ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का प्रधान साधन है। अतः, तृतीय वर उसने आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे ही माँगा। आत्मतत्त्व का उपदेश ऐसे ही अधिकारी व्यक्ति को दिया जाता है, जो सासारिक विषयवासना से मुक्त (नि.स्पृह तथा वीतराग) हो। अतएव, यमराज ने अनेक प्रकार के सासारिक विषयो की प्राप्ति का प्रलोभन देकर नचिकेता की परीक्षा ली। सांसारिक विषय-वस्तुओ की नश्वरता एव क्षणिकता उसे पूर्ण ज्ञात थी, अतः वह इन विविध वस्तुओ के प्रलोभन मे नही पड़ा और परीक्षा मे उत्तीर्ण हुआ। फलत., प्रसन्न होकर यमराज ने उसे आत्मज्ञान के सम्बन्ध मे विस्तार से उपदेश दिया और समझाया। नचिकेता ने अतीव श्रद्धा के साथ उस उपदेश का श्रवण, मनन एव निदिध्यासन किया, और इस तरह परम मुक्तावस्था को प्राप्त कर लिया। मानव-जीवन के चारो पुरुषार्थो मे अन्तिम यही है, इसी से मानव का जीवन सफल हो जाता है।

'तैत्तिरीयब्राह्मण' में नचिकेता का उपाख्यान :

नचिकेता की कथा 'तैत्तिरीयब्राह्मण' मे भी आती है। यहाँ भी कथा का प्रारम्भ प्रायः 'कठोपनिषद्' के समान ही है, किन्तु वाजश्रवा के क्रुद्ध होने के बाद का वृत्तान्त भिन्न है। 'तुम्हे मृत्यु को देता हूँ', इस प्रकार पिता वाजश्रवा के कहने पर आकाशवाणी हुई और उसमे कुमार नचिकेता को समझाया गया कि "हे कुमार! तू घबड़ा मत, मृत्यु (यम) के घर जा, वहाँ तीन रात तक भूखे ही रहना। यम के पूछने पर कहना . 'प्रथम

रात्रि में तुम्हारी प्रजा (सन्तान) खाई; दूसरी रात्रि में तुम्हारे पशुओ को खाया; और तीसरी रात्रि में तुम्हारे सुकृत (पुण्य) खाये।' इससे यम घबड़ाकर तुम्हारा उपकार (कल्याण) करेगा।"

नचिकेता ने वैसा ही किया। तब यम ने उसे प्रणाम कर तीन वर माँगने को कहा और उसने तीन वर माँग लिये। ये तीनों वर कठोपनिषद् के समान ही हैं।[८] इसी कथा का विस्तार कठशाखा में हुआ है, जो 'कठोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस तरह, जैसा कहा गया, उपर्युक्त तीनो ही कथाओ मे कुछ-कुछ भिन्नता है। अतएव, विद्वानों का मत है कि यह एक काल्पनिक कथा है, जो विशिष्ट तत्त्वज्ञान के लिए रूपक के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। 'तैत्तिरीयब्राह्मण' की कथा में अग्नि की उपासना विस्तार से बतलाई गई है, पर 'कठोपनिषद्' मे संक्षेप में कही गई है। 'तैत्तिरीयब्राह्मण' की इस कथा में जो आकाशवाणी से कुमार (नचिकेता) को उपदेश दिया गया है और यम के सामने भी डटकर बोलने को प्रोत्साहित किया गया है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। 'महाभारत' की कथा तो इन दोनों से भिन्न ही है। उसके अनुसार, मूर्च्छित अवस्था में ही नचिकेता को यम का साक्षात्कार एवं उपदेश दोनों ही प्राप्त होते हैं। इस कथा में गोदान का महत्त्व दिखलाया गया है, परन्तु तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विचार, जैसा कि 'कठोपनिषद्' में वर्णित है, इसमें नहीं है।

अतिथि-सत्कार : 'कठोपनिषद्' की कथा में अतिथि-सत्कार का महत्त्व विशेष रूप से दिखलाया गया है। क्योंकि, सब प्राणियो के प्राण हरण करनेवाला शक्तिशाली देव यमराज भी अपने घर आये हुए अतिथि के भूखे रहने से भयभीत हो जाते हैं और उसको प्रसन्न करने के लिए तीन वर देते हैं। इससे 'अतिथि-सत्कार गृहस्थों का परम धर्म है'—इस सिद्धान्त का समर्थन होता है। 'अथर्ववेद', काण्ड ९, सूक्त ६ में भी अतिथि-सत्कार की आवश्यकता बतलाई गई है :

'इष्टं च वा एष पूर्त्तं च ॥१॥ प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति, यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥४॥ अशितवत्यतिथावश्नीयात्....॥८॥'

अर्थात्, जो गृहस्थ अतिथि को भोजन कराये विना, पहले ही स्वयं भोजन कर लेता है, या अतिथि को भूखा रखता है, वह अपने इष्ट और पूर्त्त, यज्ञ, प्रजा एवं पशु को ही खाता है। अतः, अतिथि को पहले ही भोजन कराना समुचित है।[१]

नचिकेता के उपाख्यान का रहस्य :

ऊपर बतलाया गया है कि नचिकेता की कथा विशिष्ट ज्ञान के उपदेश के लिए ही रूपक के रूप में लिखी गई है। इसके प्रत्येक कथानक में मृत्यु (यम) के पास नचिकेता के जाने का वर्णन है। मृत्यु कोई राज्याधिकारी व्यक्ति-विशेष नहीं है, जिसके घर पर अतिथि आते-जाते हों। जीवन के अन्त होने का ही नाम मृत्यु है; वह कोई शरीरधारी

व्यक्ति-विशेष कैसे हो सकता है ? यम को 'वैवस्वत' (विवस्वान् : सूर्य से उत्पन्न) भी कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि सूर्य से ही दिन-रात, पक्ष-मास आदि काल का निर्माण होता है, अतएव यम को 'काल' भी कहा गया है। इस तरह काल भी कोई देहधारी व्यक्ति नही सिद्ध होता। भगवान् (परमेश्वर) की तीन विशिष्ट शक्तियाँ मानी गई है : १. उत्पादिका शक्ति, जिससे जगत् का निर्माण होता है। २ पालिका शक्ति, जिससे संसार का पालन होता है और ३ विनाश-शक्ति, जिससे ससार का विनाश होता है। इस विनाश-शक्ति को ही मृत्यु कहते है। ऐसी स्थिति मे नचिकेता का मृत्यु के घर जाना, भूखा रहना और उससे वर प्राप्त करना इत्यादि बाते सम्भव नही प्रतीत होतीं। अतएव, सिद्ध होता है कि किसी रहस्य (तथ्यविशेष) के प्रतिपादन के लिए ही यह रूपक प्रस्तुत किया गया है। इसका निरूपण इस प्रकार है ·

वस्तुत·, आचार्य (गुरु) को ही यहाँ 'मृत्यु' बतलाया गया है। वेद मे स्पष्ट शब्दो मे आचार्य को मृत्यु कहा गया है . 'आचार्यो मृत्युः' (अथर्ववेद, ११।५।१४)। आचार्य को 'मृत्यु' कहने का आधार यह है कि जब बालक गुरुकुल मे अध्ययन के लिए जाता है, तब उसका प्रथम जन्म समाप्त हो जाता है, (अर्थात् उसका अपने जन्मदाता माता-पिता से सम्बन्ध छूट जाता है) और गुरु ही उसका पिता हो जाता है तथा सावित्री (या विद्या) ही उसकी माता हो जाती है। द्वितीय जन्म पाने के लिए वह उस सावित्री (या विद्या) के गर्भ में प्रविष्ट होता है तथा अध्ययन के समाप्त हो जाने पर समावर्त्तन-संस्कार द्वारा द्वितीय जन्म ग्रहण कर लेता है। अतएव, गुरुकुल से स्नातक होकर आये हुए विद्वान् को 'द्विजन्मा' कहा गया है।[१०] 'अथर्ववेद' मे एक और स्थान पर आचार्य को मृत्यु कहा गया है : 'मृत्योरहं ब्रह्मचारी...।' (अथर्ववेद, ६।१३३।६) अर्थात्, 'मैं मृत्यु को प्राप्त ब्रह्मचारी हूँ।' इससे स्पष्ट है कि आचार्य-रूप मृत्यु को प्राप्त यह नचिकेता ब्रह्मचारी है।

इसी तरह तीन रात तक यमराज के घर नचिकेता के भूखा रहने का तात्पर्य भी कुछ और है, जो निम्नाकित अथर्ववेद के मन्त्र के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है :

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त·।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवा· ॥

(अथर्ववेद, ११।५।३)

अर्थात्, आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन करता है। उस समय वह उस ब्रह्मचारी को सावित्री (या विद्या) माता के गर्भ में रखता है। वह तीन रात तक उसको उदर मे धारण करता है। जब वह बाहर प्रकट होता है, तब उसको देखने के लिए देवगण एकत्र होते हैं।[११]

इस अथर्ववेदीय मन्त्र मे आचार्य के घर तीन रात्रियो तक ब्रह्मचारी के रहने का उल्लेख है। आत्मिक, दैविक और भौतिक—ये तीन प्रकार के अज्ञान ही यहाँ तीन

रात्रियों के रूप में वर्णित हैं। ब्रह्मचारी इन तीनों प्रकार के अज्ञान को विनष्ट कर ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक बना रहता है; अतएव वह ज्ञान का भूखा रहता है। इसी दृष्टि से तीन रात तक यमराज के घर नचिकेता के भूखे रहने का वर्णन 'कठोपनिषद्' में किया गया है। नचिकेता एक सुयोग्य आचार्य के पास गया और उनसे उसने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया और उसके सारे अज्ञान विनष्ट हो गये।—यही इसका तात्पर्य हुआ।

नचिकेता के इस उपाख्यान के अनुशीलन से यह तथ्य सिद्ध होता है कि यम एवं नचिकेता का संवाद भले ही सत्य या काल्पनिक हो, परन्तु 'कठोपनिषद्' में प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा सत्य, प्रामाणिक, अतएव पूर्णतया मान्य है।

सन्दर्भ-संकेत :

१. यह कथा महाभारत, अनुशासन-पर्व, अ० १०६ में आई है।
२. द्रष्टव्य : कठोपनिषद् (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-सम्पादित), भूमिका का प्रारम्भ।
३. उद्दालक, वाजश्रवा और गौतम—ये तीनों नाम एक ही ऋषि के हैं। अन्न-दान अधिक करने से 'वाजश्रवा' तथा गौतम गोत्र में उत्पन्न होने से 'गौतम'—ये दो इनके नाम हुए। उद्दालक इनका वास्तविक नाम रहा होगा। इसी कारण इस उपनिषद् में इनके लिए 'औद्दालकिः आरुणिः' प्रयोग किया गया है। 'उद्दालक' के अर्थ में ही 'औद्दालकि' प्रयोग है। यह उद्दालक अरुण के पुत्र थे, अतः इन्हें 'आरुणि' (अरुण का पुत्र) कहा गया है। जैसा कि शंकराचार्य ने लिखा है: 'उद्दालक एवौद्दालकिः अरुणस्यापत्यमारुणिः।' (कठोप०, १।१।११)
४. 'पुत्र' शब्द की व्युत्पत्ति ही इस अर्थ को सूचित करती है: 'पुं नरकात् त्रायते इति पुत्रः।' मनु ने भी ऐसा ही लिखा है:

'पुं नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥'—मनुस्मृति, ९।१३८।

५. नचिकेता ने सोचा कि पिता ने इस शरीर को यमराज के लिए दान दे दिया है, अतः इसे इसी रूप में यमराज को समर्पित कर देना उचित है। इसीलिए, वह अन्न-जल छोड़ यम के घर पड़ा रहा।
६. यदि हमारे कारण कोई व्यक्ति दुःखी हो, तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसे सर्वप्रथम शान्त एवं प्रसन्न करने का प्रयास करें। यह नियम मनुष्यमात्र के लिए समान है और यहाँ स्वयं उसके पूज्य पिता को ही दुःख था। अतएव, सबसे पहले नचिकेता के पिता की मनःशान्ति अभीष्ट थी।
७. द्वितीय वरयाचना में, 'मानव स्वर्गसाधनभूत इस अग्निविज्ञान को समझकर स्वर्ग को प्राप्त करें'—यही मानवमात्र की हितचिन्ता नचिकेता के मन में थी। आत्मज्ञान के लिए तीव्र इच्छा और उत्कट जिज्ञासा उसमें थी। यह बात तब स्पष्ट हो जाती है; जब यम को उसने स्पष्ट शब्दों में बतलाया कि 'आत्मतत्त्वबोध'

को ही मैं अन्तिम (तृतीय) वर के रूप मे माँगता हूँ। अन्य कोई नहीं : 'वरस्तु मे वरणीय· स एव', 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।' (कठोप० १।१।२७,२९)यद्यपि यमराज ने परीक्षा के लिए .

'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामा सरथा· सतूर्या न हीदृशालम्भनीया मनुष्यैः ॥
आभिर्मत्प्रत्ताभि· परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।' (कठोप०, १।१।२५)

—इत्यादि मन्त्रो द्वारा नचिकेता को अनेक प्रलोभन दिये; पर वह (नचिकेता) इन प्रलोभनो से विचलित नही हुआ, और :

'श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणा जरयन्ति तेज ।'

....

'योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्य तस्मान्नचिकेता वृणीते ।'
(कठोप०, अ०, १, वल्ली १, मन्त्र २६–२९)

—इन मन्त्रो मे उसने आत्मज्ञान के लिए अपनी उत्कट लालसा एवं तीव्र जिज्ञासा सिद्ध कर दी तथा आत्मज्ञान के प्रति अपनी दृढ आस्था यमराज को बतला दी। यह नचिकेता के चरित्र का चरम उत्कर्ष है।

८. तैत्तिरीयब्राह्मण, काण्ड ३, प्रपाठक ११ के अनु० ८ मे यह कथा आई है।

९ स्मृति में भी इसी तरह कहा गया है कि अतिथि जिसके घर से निराश होकर लौट जाता है, उसको वह (अतिथि) अपना पाप दे देता है और (उसका) धर्म लेकर चला जाता है

'अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥'

इसीलिए, घर आये शत्रु का भी आतिथ्य करना उचित बतलाया गया है : 'अरावप्युचितं कार्यमातिथ्ये गृहमागते ।' यदि भोजन कराने की क्षमता न रहे, तो भी बैठने के लिए थोड़ा-सा तृण, भूमि, पवित्र जल और कोमल वचन से अतिथि का सत्कार आवश्यक है। इन चारो वस्तुओ का अभाव सज्जनो के घर कभी नही होता :

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

१० मनु ने भी ऐसे ही दो बार जन्म लेने की बात बतलाई है :

'मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ॥ (मनु०, अ० २)

११. द्र० . 'कठोपनिषद्' की श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-लिखित भूमिका, पृ० १० ।

△ प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग
बिहार-विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राजदर्शन

आचार्य डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा

मधुसूदन-विरचित प्रस्थान-भेद के अनुसार अर्थशास्त्र बहुविध है। इसमें नीतिशास्त्र, अश्वशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र और चौंसठ कलाएँ परिगृहीत हैं। चरणव्यूह के अनुसार, शस्त्रशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिल्पशास्त्र अथर्ववेद के उपवेद है।

कौटिल्य (कौटल्य या विष्णुगुप्त या चाणक्य) द्वारा प्रणीत 'अर्थशास्त्र' यथार्थवादी राजनीतिशास्त्र का महार्घ ग्रन्थ है। कतिपय विद्वानों के अनुसार, कौटिल्य मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का कूटनीतिज्ञ प्रधानमन्त्री नही, अपितु दक्षिणापथ का कोई निष्णात शास्त्रज्ञ महापण्डित था, जिसकी गहन विद्या और शब्दावली-प्रणयन-कुशलता इस ग्रन्थ मे व्यक्त होती है। रुपयों के हिसाव लिखने में चालीस प्रकार के छल का उल्लेख, अट्ठारह प्रकार की सन्धियाँ, पाँच प्रकार का सुवर्ण, पाँच प्रकार का रजत आदि वातों का विस्तार से वर्णन करनेवाला एक शास्त्रचिन्तननिरत पण्डित ही हो सकता है। वेणुवर्ग और औषधवर्ग की लम्बी सूची 'अमरकोश', न कि किसी राजनीतिशास्त्रीय ग्रन्थ का स्मरण कराती है।

'अर्थशास्त्र' में प्रयुक्त कतिपय शब्द, उदाहरणार्थ 'वेल्लूर' (विल्लर या वल्लूर = सूखा मांस), 'लेण्ड' आदि द्रविड-भाषा से परिगृहीत मालूम पड़ते हैं। दक्षिणापथ के व्यापारमार्गों का प्रयोग सम्भवतः इस ग्रन्थ के दक्षिण भारत मे प्रणीत होने के कारण हो। जटिल आर्थिक प्रणालियों, जैसे क्रयसंघर्ष से मूल्यवृद्धि तथा विक्रयकाल में पण्यगत वस्तुओं की अर्घवृद्धि (अर्थ०, २।६।२२) का उल्लेख भी 'अर्थशास्त्र' को पश्चात्-मौर्यकालीन ग्रन्थ व्यक्त करता है। अनेक शतियों तक यह ग्रन्थ अज्ञात था। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' और वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के वाद इसकी रचना हुई होगी, ऐसा भाषागत आधार पर कह सकते हैं। वात्स्यायन से कुछ अधिक संश्लिष्ट और 'दशकुमारचरित से कुछ सरल, इसकी भाषा है। वैचारिक गहनता और शब्दराशि के आधार पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र को 'महाभारत' और 'मनुस्मृति' के वाद की रचना मानना संगत मालूम पड़ता है। गुप्तकालीन किसी चूडान्त विद्याशास्त्री ने इस ग्रन्थ की रचना की और प्रसिद्धि के लोभ से इसको 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' की संज्ञा दे डाली। सम्भव है कि यह विद्याशास्त्री प्राचीन ऐतिहासिक प्रधानमन्त्री की वैचारिक परम्परा में रहा होगा। 'चीनपट्ट' और 'नेपाल' का प्रयोग भी इस ग्रन्थ की प्राचीनता का विरोधी है। हाँ, 'सुरंग' शब्द यूनानी प्रभाव व्यक्त करता है, ऐसा भी नहीं कह सकते!

हेमचन्द्र की 'अभिधानचिन्तामणि' के अनुसार, मल्लनाग, कुटिल, चणकात्मज, द्रामिल, पक्षिलस्वामी और विष्णुगुप्त वात्स्यायन के नाम है। कौटिल्य (या कोटल्ल) या चाणक्य (या चण्णक्क) या विष्णुगुप्त का उल्लेख 'भागवतपुराण', 'विष्णुपुराण', 'मुद्राराक्षस', 'कथासरित्सागर', 'कादम्बरी', वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' (२।४), 'पंचतन्त्र', 'चुलवश', 'स्थविरावलिचरित' 'महावंशटीका' तथा 'नन्दीसूत्र' मे है, किन्तु 'व्याकरणमहाभाष्य', 'वायुपुराण', 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' और 'महाभारत' के शान्तिपर्व मे कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का कोई उल्लेख नही है। अशोक के धर्मलेखो में वर्णित प्रशासनिक व्यवस्था से 'अर्थशास्त्र' की व्यवस्था जटिल है और इससे यह उत्तरवर्त्ती रचना प्रतीत होती है। मौर्यकालीन व्यवस्था को समझने के लिए 'अर्थशास्त्र' की अपेक्षा मेगास्थनीज का विवरण अधिक प्रामाणिक है। 'हितोपदेश', 'पंचतन्त्र' और 'चाणक्यनीति' मे जैसी व्यवहारवादी जीवन-शैली वर्णित है, वैसी ही ऐहिक सुखवादी परम्परा कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी है। 'बुद्धचरित', 'सौन्दरनन्द' और 'दिव्यावदान' मे जो उदात्त वितृष्णामूलक वीतरागी जीवन-दर्शन समर्थित है, कौटिल्य का जो विजिगीषु यान, विग्रह, सन्धि, कोषवृद्धि, जनपदनिवेश और दुर्गलाभ की चिन्ता मे संलग्न है, वह उससे सर्वथा भिन्न त्रिवर्ग-चिन्ता का दर्शन अपनाता है। आत्मा-परमात्मा के विवेचन के वदले माया और अभिचार के सम्बन्ध मे 'औपनिषदिकम्' का, और चित्तवृत्तिनिरोध के वदले राजनीतिक तथा प्रशासनिक कर्मों के लिए 'योगवृत्तम्' का प्रयोग भी लेखक के लौकिक जीवन-दर्शन से परिचित होने का ही संकेत देता है। लोहा और अन्य खनिज पदार्थों का रसायनशास्त्रीय विस्तृत विवरण भी 'अर्थशास्त्र' को एक पश्चात्-मौर्यकाल की रचना बताता है। किन्तु, 'प्राग्घूणका.' (अर्थ०, ३।१८) मे हूणो का निदर्शन खोजना सर्वथा हास्यास्पद है।

कौटिल्यशास्त्र के सम्बन्ध मे, 'कादम्बरी' मे, बाण ने आक्रोश व्यक्त किया है। कौटिल्य ने नृशसता, अभिचारक्रिया की क्रूरता, पराभिसन्धान (अन्यो को ठगना), लक्ष्मी, अर्थात् धन मे आसक्ति, मारणात्मक शस्त्रो मे अभियोग और सहज प्रेम एवं आर्द्र हृदय से अनुरक्त भाइयों का उच्छेद जैसे मन्तव्यो का समर्थन कर अपने को बाण के 'वाग्वज्र' का पात्र बनाया है।

मल्लिनाथ ने 'रघुवश' की टीका मे 'अर्थशास्त्र' के उद्धरण दिये है। कौटिल्यप्रोक्त नियोग, विकल्प और समुच्चय; प्रकृतिगण के लोभ, विरागता अमित्रयान और भर्त्तृहनन; समान और अधिक शक्तिवालो से सन्धि और हीन शक्तिवालो से विग्रह तथा मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभावशक्ति आदि विषयो का उल्लेख 'रघुवश' के क्रमशः १७।४९, १७।५५, १७।५६ और १७।७६ के टीकाभाग मे पाया जाता है। त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति के प्रदेश का जो वर्णन 'अर्थशास्त्र' के आरम्भिक अध्याय मे है, उसका भी मल्लिनाथ ने 'रघुवंश' (१८।५०) की टीका मे उद्धरण दिया है।

'अर्थशास्त्र' सूत्रो और श्लोको मे निवद्ध है। इस ग्रन्थ मे 'इति आचार्या' का प्रयोग तिरपन बार हुआ है। पराशर का नाम बारह बार, भारद्वाज (द्रोण) का नाम सात बार,

शिव (विशालाक्ष) का छह बार, पिशुन (नारद) का छह बार, उद्धव (वातव्याधि) का पाँच बार, भीष्म (कौणपदन्त) का चार बार और बाहुदन्तीपुत्र तथा पराशरपुत्र व्यास का नाम एक-एक बार आया है। कणिक भारद्वाज, दीर्घचारायण, घोटमुख (तुलनीय . 'हयशिरा'; 'महाभारत', शान्तिपर्व), किंजल्क और कात्यायन का भी नामोल्लेख हुआ है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' मे सात आचार्यो का उल्लेख है। इनके नाम है : चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, कुचुमार ('औपनिषदिकम्' प्रकरण में) और दत्तक। 'इति कौटिल्यः' और 'नेति कौटिल्य.' शब्द बहत्तर बार आये है। 'एतत् कौटिल्यदर्शनम्' भी एक बार प्रयुक्त हुआ है। 'अर्थशास्त्र' के चार महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों का उल्लेख है : 'मानवा:', 'बार्हस्पत्या:', 'औशनसा.' और 'आम्भीया.'।

अर्थशास्त्र और दण्डनीति का विकास वैदिक वस्तुवाद की परम्परा से प्रभावित है। धर्मसूत्रो और धर्मशास्त्रो की परम्परा से यह भिन्न है। किन्तु, धर्मशास्त्र का विरोध करने के लिए ही अर्थशास्त्र का विस्तार हुआ, ऐसा मानने का कोई आधार नही है। हाँ, राजधर्म तथा अर्थशास्त्र के विषय और मूल शब्द प्राय. समान है।

'अर्थशास्त्र' मे कतिपय आर्ष प्रयोग मिलते है। उदाहरणार्थ : 'आदेयात्' (या 'आदीयात्'), 'मार्गायुक.' 'आकाक्षेत', 'पशवाहन.', 'पारञ्चिकम्', 'वर्षारात्रम्', 'रज्जुना' ('रज्वा' होना चाहिए), 'अपक्रान्तवल्यम्' (?), 'अन्यतमद्' ('अन्यतमम्' के लिए), 'अराला', 'जरद्गु', 'दशतीरक्षा', 'निस्तारयित्वा', 'प्रस्वापयित्वा', 'सर्पनिर्मोकम्', 'अपव्ययते' आदि। किन्तु, केवल इनके प्रयोग से ही ग्रन्थ की प्राचीनता नही सिद्ध होती। कुशल लेखक कुछ प्राचीन या आर्ष प्रयोगो द्वारा ग्रन्थ की प्रामाणिकता व्यक्त करना चाहता है।

'अर्थशास्त्र' मे रावण, दुर्योधन, नल, नाभाग, अम्बरीष, करालवैदेह, वृष्णि, माण्डव्य आदि का उल्लेख है। चन्द्रगुप्त मौर्य का कोई उल्लेख नही है। 'नरेन्द्र' शब्द को चन्द्रगुप्त मौर्य का निश्चितरूपेण बोधक नही माना जा सकता। 'चरकसंहिता' (८।१२) की भाँति 'अर्थशास्त्र' मे भी तन्त्रयुक्ति का विस्तृत विवेचन है। अर्थशास्त्र की व्यापक परिभाषा कौटिल्य को इष्ट है। पुराने आचार्यो के अर्थशास्त्रो को आलोचित कर ('संहृत्य') उसने अपने 'अर्थशास्त्र' की रचना की है। समस्त शास्त्रो का अनुक्रमण और प्रयोगों की प्राप्ति कर ही नरेन्द्र के लिए शासनविधि प्रस्तुत की गई है। जिस पुरुष ने नन्द राजाओं से आक्रान्त भूमि तथा शस्त्र और शास्त्र का अमर्षपूर्वक उद्धार किया है, वही इस 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता है, ऐसा वक्तव्य ग्रन्थ के अन्त मे है।

कौटिल्य के मतानुसार, विद्याएँ चार है त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति और आन्वीक्षिकी। वार्त्ता मे अर्थ और अनर्थ का विवेचन होता है। 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद' और 'सामवेद' के साथ 'अथर्ववेद' की भी प्रामाणिकता कौटिल्य को इष्ट है। षड्वेदांग तथा इतिहासवेद को भी वह प्रामाणिक मानता है। पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका एवं उदाहरण के साथ ही अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र भी इतिहासवेद के अन्तर्गत माने गये है। मानव-सम्प्रदाय ने आन्वीक्षिकी

की प्रामाणिकता नहीं मानी थी। बार्हस्पत्य-सम्प्रदाय ने त्रयी और आन्वीक्षिकी दोनों की प्रामाणिकता मानने से इनकार कर दिया। औशनस-सम्प्रदाय ने सिर्फ दण्डनीति को ही एकमात्र विद्या की संज्ञा देकर त्रयी, आन्वीक्षिकी और दण्डनीति तीनो को अप्रामाणिक घोषित किया। अर्थशास्त्र के लेखक कौटिल्य का वेदों (त्रयी . अथर्ववेद) मे विश्वास प्रकट होता है। पुरोहित, आचार्य और ऋत्विक् का भी महत्त्व स्वीकृत है और उन्हे प्रभूत धनराशि देने का प्रस्ताव है। सवत्सा धेनु का प्रदक्षिणीकरण लेखक की परम्परागत धार्मिक कृत्यो मे आस्था का सूचक है।

यथार्थवादी राजनीति के उग्र पोषक कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में अन्तरराष्ट्रीय कानून के उल्लंघन के कई प्रस्ताव मिलते है। परदुर्ग को जलाना (अर्थ०, १३।४।१६), अग्नियोग के विभिन्न प्रयोग, मादक द्रव्यो और विष के प्रयोग (अर्थ०, १३।३।७२), परराष्ट्र के नृप का सम्पीडनपूर्वक घात (अर्थ०, १२।३।४०) और शत्रुराजा के वध के लिए व्यापक रूप से चरो की उग्र क्रियाएँ, ये ऐसे मन्तव्य हैं, जिनका समर्थन अति दुर्द्धर्ष राजनीतिक चक्रजाल को ही जन्म दे सकता है।

'अर्थशास्त्र' (१३।४।६८) के अनुसार, पतित, पराङ्मुख, अभिपन्न, मुक्तकेश, मुक्तशस्त्र, भयविरूप और अयुध्यमान पुरुषो पर युद्ध मे शस्त्रप्रयोग करना सर्वथा वर्जित है। दुर्गप्राप्ति के पाँच उपाय है . (क) उपजाप, अर्थात् शत्रुसेना मे द्वेषबुद्धि फैलाना, (ख) योगवामन, गुप्त उपायो से शत्रु की समाप्ति करना और लोगो को अपने पक्ष मे करना, (ग) अपसर्प, अर्थात् गुप्तचरों का उपयोग, (घ) पर्युपासन, अर्थात् घेरा डालना और (ङ) अवमर्द, अर्थात् आक्रमण करना। विजयकांक्षी नरपति एकग्रामो मे तथा अटवी-प्रदेशो मे समुत्थान के लिए यत्न कर सकता है (अर्थ०, १३।६।२)। लम्भ तीन प्रकार के है : नव, भूतपूर्व और पित्र्य (अर्थ०, १३।५।३-४)।

राजवृत्ति प्रत्यक्ष (स्वयदृष्ट), परोक्ष (परोपदिष्ट) और अनुमेय (कृत से अकृत का अनुमान), इन तीनो प्रकारो से जानी जाती है। प्रत्यक्ष वही है, जो स्वयदृष्ट है। इस प्रकार की सरल परिभाषा गौतम के 'प्रत्यक्ष'-लक्षण से अधिक स्पष्ट है। न्यायसूत्रो के रचयिता अक्षपाद गौतम के अनुसार, इन्द्रिय और वस्तुओ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान की 'प्रत्यक्ष' सज्ञा होती है।

राजधर्म के पालन के प्रसंग में विजिगीषु भले ही धर्म और साधारण नैतिकता के नियमो का अतिक्रमण करे, किन्तु जहाँतक नरपति के दैनिक जीवन का सम्बन्ध है, उससे यह पूर्ण आशा की जाती है कि वह 'व्यवस्थितार्यमर्याद' होगा। स्वधर्म का पालन इस लोक मे और परत्र भी कल्याणकारी होगा और स्वधर्म के पालन का मूल है विनय। शिष्ट, अध्यक्ष, वक्ता और प्रयोक्ता की शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह और तत्त्वाभिनिवेशन, ये सात विनय के अन्तर्गत है। अन्यत्र (अर्थ०, ६।१) इन सात गुणो को प्रज्ञागुण कहा गया है और ये नरपति के लिए आवश्यक माने गये है। इन्द्रियनिग्रह के अभाव में दुर्योधन, करालवैदेह, डम्भोद्भव, रावण, अजविन्दु, जनमेजय, तालजंघ आदि

विनाश को प्राप्त हुए । दूसरी ओर नाभाग, अम्बरीष और जामदग्न्य परशुराम इन्द्रिय-निग्रही होने के कारण यशस्वी हुए और चिरकाल तक राज्यभोग करते रहे । विजिगीषु-मण्डल में श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए राजा भले ही 'औपनिपदिकम्' के कुकृत्यों को करे, किन्तु स्वराष्ट्र मे सम्यक् रूप से दण्डधारण के लिए उसे विनय की साधना करनी ही होगी। स्वधर्म के साथ कभी व्यभिचार नही करना है, सर्वदा उसकी साधना करनी है । कौटिल्य की कल्पना का नरपति-मात्र दुर्द्धर्ष दण्ड का संग्रही नही है, उससे ऐसी आशा है कि किशोरावस्था मे त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति और आन्वीक्षिकी का आंशिक अध्ययन वह अवश्य करेगा । राज्याधिष्ठित होने पर दैनिक स्वाध्याय उसके कार्यक्रम का एक आवश्यक अग होगा । अत., स्पष्ट है कि वैयक्तिक जीवन मे आदर्शवाद और सत्ता की प्राप्ति मे घोरतम उग्र यथार्थवाद, इन दोनो का सम्मिश्रण 'अर्थशास्त्र' मे प्राप्त होता है । विनय का मूल दण्ड है, और दण्ड त्रयी, वार्त्ता तथा आन्वीक्षिकी का मूल है : '**दण्डमूलास्तिस्रो विद्याः ।**'

कौटिल्य राजकीय व्यवस्था के संचालन के लिए दण्ड को आवश्यक मानता है । दण्ड यथार्ह होना चाहिए, मृदु दण्ड से पराभव होता है और तीक्ष्ण दण्ड न केवल गृहस्थो को, अपितु संन्यासियो को भी क्रुद्ध करता है । वर्णवादी कौटिल्य यदा-कदा क्रूरतम दण्ड का विधान करता हैं । उसका प्रस्ताव है कि शूद्र जिस अग से ब्राह्मण को ताडित करे, उसका वही अग काट डाला जाय । दण्ड का प्रयोग अपराधी के मानसिक संशोधन के लिए हो, इस आधुनिक आदर्शवाद का कौटिल्य मे सर्वथा अभाव है । जैसे चक्र एक ही रहे, तो यान नही चल सकता, उसी प्रकार विना अमात्यो के प्रशासन नही चल सकता । अमात्यो के लिए अपेक्षित गुण इस प्रकार हैं अच्छे स्थान मे जन्म, प्रभाव (अवग्रह), शिल्प, शास्त्रावलोकन, कर्मारम्भ करनेवाली प्रज्ञा, धारयिष्णुता, दाक्ष्य, कथायोग में वाग्मित्व, प्रागल्भ्य, प्रतिभानवत्व (तीव्र बुद्धि), आपत्ति मे उत्साह, क्लेशसहनशीलता, शौच, मैत्री, दृढ भक्ति, शील, बल, आरोग्य, सत्त्व, योग, अभिमान-वर्जन, अचापल्य, सम्प्रियत्व और अवैर ।

राज्य मे गूढपुरुषो (गुप्तचरो = सस्था और संचार) की प्रभूत आवश्यकता है । कापटिक (छात्रो का छद्म वेष धारण करनेवाले) उदासीन साधु, गृहपति, व्यापारी और तपस्वी इन पाँच प्रकारो के छद्म वेष बनानेवाले गुप्तचरो की आवश्यकता राज्य मे है । इनको 'संस्था' की संज्ञा दी गई है । चार प्रकार के अन्य गूढपुरुषो, अर्थात् सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी को 'संचार' की सज्ञा दी गई है । रसद नामक गूढपुरुष अनेकविध छद्म रूप धारण करते है । वे सूद (पाचक), आरालिक, स्नापक, सवाहक, आस्तरक, कल्पक, प्रसाधक, जलपरिचारक, कुब्ज, वामन, किरात, मूक, बधिर, जड, अन्ध, नट, नर्त्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव और स्त्री का वेष धारण कर सकते है । तीक्ष्ण और रसद नामक गूढपुरुष उपांशुदण्ड (गुप्तदण्ड) और तूष्णीदण्ड का प्रयोग करते है । भिक्षुकी मुण्डा, वृषली अथवा परिव्राजिका का छद्म रूप धारण करती है । सत्रियों को अपने व्यावहारिक कर्म मे सफलता के लिए कुछ विशिष्ट विद्याओ में निपुणता प्राप्त करनी पड़ती थी । इन विद्याओ के नाम है : लक्षणविद्या (सामुद्रिक), अंगविद्या, जम्भक

(वशीकरण, अन्तर्धान), मायागत (इन्द्रजाल), आश्रमधर्म, निमित्त (शकुनशास्त्र), पक्षिशास्त्र और संसर्गविद्या (कामशास्त्र, नृत्त और गीत)।

गूढपुरुषो को अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करने पड़ते थे—राज्य के मुख्य अध्यक्षो, अर्थात् अष्टादश तीर्थो पर निगरानी रखनी पडती थी, राजद्रोह और दुष्कृत्यो को जानना पड़ता था, न्याय, अर्थात् धर्मस्थीय और कण्टकशोधन-प्रकरणो में प्रोक्त अपराधियो के सम्बन्ध मे भी जाँच-पडताल करनी पडती थी। परदेश की घटनाओ की जानकारी प्राप्त करना और परदेश के गूढपुरुषो के क्रियाकलाप की जानकारी रखना भी उनके क्षेत्राधिकार मे आते थे। गूढपुरुष कपोत और पारावत (कबूतर) को भी शिक्षित कर उनके द्वारा गूढ समाचारो को प्राप्त करते थे। गूढपुरुषों की अपनी सांकेतिक भाषा ('कोड लैंग्वेज') और शब्द ('कोड वर्ड्स') होते थे।

'औपनिषदिकम्'-प्रकरण मे कौटिल्य ने अनेक ऐसे उपायों और प्रयोगो का उल्लेख किया है, जिससे उसकी हिंसात्मक दारुण राजनीति व्यक्त होती है। प्राणहर, नेत्रघ्न, मूकबधिरकर, विषूचिकाकर, ज्वरकर, जलाशयभ्रष्टकर और नेत्रमोहन पदार्थो का उल्लेख है। क्षुत्-योग, श्वेतीकरणयोग, श्यामीकरणयोग, कुष्ठयोग, ज्वालन-प्रयोग और अंगार-गमनप्रयोग-विषयक प्रस्ताव भी दारुण हैं। कालकूट आदि विष, शस्त्रनिधान, अग्निनिधान, प्राणहर धूम, अन्धकर या नेत्रघ्न धूम, कुष्ठकर, शोषणकर (सुखानेवाला), विषूचिकाकर और निष्प्रतिकार दहन का उल्लेख रोमांचकारी है। अद्भुतोत्थान-सम्बन्धी उल्लेख विस्मयकारी है, जैसे मासिक क्षुत्-योग, मासपर्यन्त उपवास, अंगार-गमन, रात्रि में उल्कादर्शन, अग्निगमन, अग्निगर्भमणि मुख से अग्निधूमोत्सर्ग, प्रवात मे अग्निज्वलन, जलगमन, अग्नि का उदक से शान्त न होना और उदक से जलना, लौहनिगडो को तोडना, शतयोजन गमन, पचास योजन अश्रान्तगमन आदि आश्चर्योत्पादक प्रस्ताव हैं। अन्तर्धान होने के आठ विधान भी कुतूहलवर्द्धक है। इस प्रसंग मे कतिपय अतिशय गर्हित पाशविक कृत्यो का भी वर्णन है।

कौटिल्य की विवेचन-शैली वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की अपेक्षा अधिक विस्तृत और गहन है, अर्थात् अपने प्रतिपाद्य विषय का उसने अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। यह कहने की आवश्यकता नही कि दोनो के प्रतिपाद्य विषय भिन्न-भिन्न है। जौली की गणना के अनुसार, अर्थशास्त्र मे यदि ६,००० श्लोक माने जायँ, तो वात्स्यायन के 'कामसूत्र' मे केवल १५०० श्लोक है। आचार्य-परम्परा का नामोल्लेख करने मे घोटमुख और चारायण का निर्देश दोनो मे है, किन्तु ये नाम विचित्र है। विद्यासमुद्देश भी दोनो मे हैं। प्रतिपाद्य विषय और कर्त्ता, कर्म तथा करण भिन्न-भिन्न होते हुए भी कतिपय साधारण शब्दावली और विचारसूत्र मे समानता है। 'औपनिषदिकम्' नामक अधिकरण दोनो ग्रन्थों मे है। अर्थ, अनर्थ, संशय, दूतकर्म और दूतीकर्म दोनो मे है। दोनो ही, दूत के तीन भेद—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर (वात्स्यायन : पत्रहरी) मानते हैं। कुछ प्रशासनिक शब्द जैसे 'सूत्राध्यक्ष', 'पण्याध्यक्ष', 'खर्वट' और 'नागरक' दोनो मे पाये

जाते हैं यदि कौटिल्य ने 'लोकायतम्' शब्द का प्रयोग किया है, तो वात्स्यायन ने 'लोकायतिका' (१।२।२४) शब्द का। अर्थत्रिवर्ग और अनर्थत्रिवर्ग भी दोनों मे है। जैसे वात्स्यायन लिखते है कि 'इति वात्स्यायन.', उसी प्रकार कौटिल्य की भी शैली 'इति कौटिल्य.' लिखने की है।

कौटिल्य ने अर्थ की परिभापा इस प्रकार दी है : 'मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः', अर्थात् मनुष्य से भरी पृथ्वी के विषयों मे कर्म की समग्रता का नाम अर्थ है। वात्स्यायन ने परम्परा का अनुसरण कर विद्या, भूमि, हिरण्य, पशु, धान्य, भाण्डोपस्कर (गृहोपकरण), मित्र आदि के अर्जन और विवर्जन को अर्थ की संज्ञा दी है। वात्स्यायन लोकयात्रा का मूल अर्थ को मानते हैं। अर्थसिद्धि उपायपूर्वक होती है। 'अध्यक्षप्रचार' शब्द का भी वात्स्यायन ने प्रयोग किया है।

धर्मशास्त्र-साहित्य अर्थशास्त्र के वाङ्मय से परमाधिक विस्तृत है। अर्थशास्त्र दो ही प्रसिद्ध है–कौटिल्य का और नूतन प्रकाशित बृहस्पति का। किन्तु, धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और निबन्धकारों का साहित्य मिलाकर एक विशाल विश्वकोश हो जाता है। धर्मशास्त्र-साहित्य, आर्य हिन्दू-जीवन की सावयवता से संश्लिष्ट है। मनु का प्रभाव हिन्दू-धर्म पर व्याप्त रहा है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के दायभाग-प्रकरण और उसपर मिताक्षरा-भाष्य का का प्रकृष्ट प्रभाव शतियो तक रहा है। दूसरी ओर साहित्यिक तथा शोधमूलक उद्धरणों को छोड़कर अर्थशास्त्र का जनजीवन पर कोई प्रभाव व्यक्त नही हुआ है। धर्मशास्त्रो का दृष्टिकोण नैतिक और धार्मिक शीलों का समर्थन करता है। अत, कौटिल्य द्वारा 'औपनिषदिकम्' की बीभत्स क्रियाओ का उनमे कभी उल्लेख सम्भव नहीं था। अर्थशास्त्रों मे वैदिक देवतावाद का कोई विशेष प्रभाव नही है। कौटिल्य में 'अमिल', 'किमिल' आदि अवैदिक देवताओं का उल्लेख है, दूसरी ओर धर्मशास्त्रो का मूल उद्देश्य है त्रयी और वेदांगो मे समर्थित कर्मकाण्डात्मक यज्ञाश्रित जीवन-प्रणाली का अनुमोदन। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अन्तिम अधिकरण मे व्याख्यात बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ न्याय की शब्दावली का स्मरण कराती हैं। इस प्रकार की तर्काश्रित आन्वीक्षिकी के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण का अवलम्बन करनेवाले धर्मशास्त्रो मे स्थान नही है। सामाजिक दृष्टि से 'अर्थशास्त्र' मे कुछ अधिक उदारता है। धर्मशास्त्रियो का उद्देश्य ब्राह्मण-धर्म का सोत्साह उपस्तम्भन है। कौटिल्य ने, मनु की अपेक्षा, शूद्रो और वैश्यो के लिए सामाजिक व्यवसायो का अधिक अवसर सुलभ किया है।

धर्मशास्त्रो मे धर्माधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म की प्रतिष्ठा है। दूसरी ओर वस्तुवादी राजनीतिक दृष्टि 'अर्थशास्त्र' मे प्राप्त होती है। यदि धर्मशास्त्रो मे प्रायश्चित्त का अधिक समर्थन है, तो कौटिल्य यथार्हदण्डवादी होते हुए भी दण्डसहिता का निर्माण करने मे अधिक प्रवीण है। यदि पति पत्नी का त्याग करता है, तो स्त्री को 'ठहरने' का उपदेश मनु ने दिया है, किन्तु उदारवादी कौटिल्य ने एक निश्चित समय तक ही ठहरने का विधान किया है, उसके बाद वह दूसरा पति वरण कर सकती है। उचित पति न मिलने पर मनु

का यह आदेश कि कुमारीव्रत का आजीवन पालन हो, कौटिल्य को स्वीकृत नही है। कौटिल्य की भाँति मनु भी कुछ अवस्थाओं मे वयस्का कुमारी को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता देते है (मनु०, ९।९०।९३)। धर्म्य विवाह (आर्ष, प्राजापत्य, दैव और ब्राह्म) में मोक्ष (तलाक : डायवोर्स) न तो मनु आदि धर्मशास्त्रियों को और न कौटिल्य को ही मान्य है। किन्तु, चार अधर्म्य विवाहों (गान्धर्व, आसुर, पैशाच, राक्षस) मे कौटिल्य ने मोक्ष की स्वीकृति दी है। इस प्रकार, वैवाहिक मोक्ष का विधान अर्थशास्त्र मे है। धर्मशास्त्रों मे विधवा-विवाह का कभी समर्थन नही हुआ है। दास-विमोचन और विवाह से मोक्ष (तलाक · डायवोर्स) विषयों पर 'अर्थशास्त्र' की नीति अधिक उदार और सहिष्णुतापूर्ण है।

धर्मशास्त्रो मे 'दिव्य' का विधान दोषो का विनिर्णय करने के लिए है। 'अर्थशास्त्र' मे दण्डविधान-प्रक्रिया में दिव्य का कोई स्थान नही है, किन्तु दोष-स्वीकारार्थ न्यायिक आतक का प्रयोग मान्य है। चरों का उपयोग भ्रष्टाचारग्रस्त न्यायाधीशों, मिथ्याभाषी साक्षियो, ज़ाली दस्तावेज उपस्थित करनेवालो, कुहक, रसद, अर्थात् विषपान करानेवालों और स्तेनो के विरुद्ध 'अर्थशास्त्र' मे परिस्वीकृत है। धर्मशास्त्रो के अनुसार, शपथान्तर मिथ्याभाषी साक्षियो का दोषमोचन तपस्या से सम्भव है, यदि किसी व्यक्ति का जीवन इससे बच जाय।

धर्मसूत्रो मे सूत्रशैली का और धर्मशास्त्रो मे श्लोक-प्रणयन की परिपाटी है, किन्तु 'अर्थशास्त्र' मे सूत्र और श्लोक दोनों का प्रयोग है। धर्मशास्त्र मुख्यत: राजधर्म का विवेचन करते है। कौटिल्य ने स्वधर्म का उल्लेख किया है। किन्तु, न्यायाधीशो का बोध करने के लिए 'धर्मस्थ' शब्द का प्रयोग कुछ विचित्र लगता है। अध्यक्षप्रचार, योगवृत्त, मण्डलयोनि और षाड्गुण्य का अतीव विस्तृत विवेचन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे है। इस प्रकार की सविस्तर मीमासा न तो मनु या याज्ञवल्क्य की स्मृतियो मे है और न 'महाभारत' के शान्तिपर्व मे। व्यवहार के जो अट्ठारह विषय स्मृतियो मे वर्णित है, प्राय. उन सबका विवेचन 'अर्थशास्त्र' में भी है।

△ अध्यक्ष, राजनीतिविज्ञान-विभाग
पटना-विश्वविद्यालय, पटना-८००००५

पुरोहित और पौरोहित्य

"कौटिल्य के अनुसार, मुख्यमन्त्री के बाद पुरोहित के पद का महत्त्व होता था, और उसके बाद सेनापति का, और तब युवराज का (अर्थ०, ५।३)। वेद और दण्डनीति दोनो का पाण्डित्य पुरोहित के लिए आवश्यक था। पाणिनि ने पुरोहितादिगण मे पुरोहित का उल्लेख करते हुए उसके कर्म, भाव और पद को 'पौरोहित्य' कहा है (अष्टा०, ५।१।१२८)।"

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल · पाणिनिकालीन भारतवर्ष,' ७।३९६

राजस्थानी-भाषा पर पाणिनि का प्रभाव

श्रीमोहनलाल पुरोहित

किसी भी भाषा का सम्यक् ज्ञान उस भाषा-विशेष के व्याकरण के विना नही हो सकता। व्याकरण के नियम ही भाषा के स्वरूप को विकृत नही होने देते। ये व्याकरण के नियम ही है, जिनके कठोर अनुशासन मे बँधकर कोई भाषा जीवित और सही स्वरूप मे अपना अस्तित्व बनाये रखने मे सक्षम रही है। कहना न होगा कि व्याकरण की दृष्टि से सस्कृत का व्याकरण संसार के सभी व्याकरणो मे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है।

व्याकरण-निर्माण की परम्परा संस्कृत की अपनी पुरानी विशेषता रही है। विभिन्न आचार्यो ने समय-समय संस्कृत-भाषा के व्याकरणों की रचना द्वारा उसकी श्रीवृद्धि की। व्याकरण के निर्माताओ मे इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर, हेमचन्द्र आदि प्रमुख रहे है। इन सभी व्याकरण के विद्वानो मे आज पाणिनि के व्याकरण की विशेष प्रतिष्ठा रही है। कारण, उन्होने केवल व्याकरण-ज्ञान का ही प्रतिपादन नही किया, अपितु अपने साहित्य द्वारा भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, मुद्राशास्त्र, तत्कालीन समाज, सभ्यता, सस्कृति, राजनीतिक जीवन आदि अनेक गहन-गम्भीर विषयो से भी हमें अवगत कराया है। प्रस्तुत निबन्ध मे राजस्थानी-भाषा पर पाणिनि का प्रभाव प्रदर्शित है। इसमे राजस्थानी-भाषा के शब्दो की चर्चा 'अष्टाध्यायी' पर आधृत है।

१. धन्व : पाणिनि ने 'धन्व' ('धन्वयोपधाद् वुञ्', अष्टा०, ४।२।१२१) शब्द का का अर्थ मरुभूमि या रेगिस्तान बताया है। जैसलमेर मे आज भी यह शब्द पढ़ने-सुनने मे आता है। वहाँ से लगभग पन्द्रह-सोलह कि० मी० पश्चिम मे एक गाँव है, जिसका नाम 'धन्वा' है। इसके पास ही एक गाँव 'जीयाई' है। एक समय था, जब वर्षाकाल में यहाँ से नदियाँ बहती थी और वे जैसलमेर के प्रसिद्ध तालाब 'गड़सीसर' को आपूरित करती थी। लेकिन, आज इन स्थानो के समीप हवाई अड्डा बन गया है। फिर भी, 'धन्वा' के नाम से लोग सुपरिचित हैं। 'अमरकोश' (२।१) मे भी मरुस्थल के लिए 'मरु-धन्वानौ' का उल्लेख है।

२. कन्था ('कन्था च' : अष्टा०, ६।२।१२४) यह शब्द जैसलमेर मे बहुत प्रचलित है। यहाँतक कि 'कन्था' पर आधृत लोकगीत भी है। कन्था के लोकगीत जैसलमेर और बीकानेर मे भी सुनने को मिले हैं। जैसलमेर मे लोकगीतों की परम्परा बहुत प्राचीन, और अपने ही ढंग की रही है। 'रातीजोगो' या 'रतजोगा' समारोह के समापन पर स्त्रियो द्वारा 'कन्था' का गीत गाया जाता है। कन्थागीत के बाद फिर कोई

अन्य गीत नहीं गाया जाता । 'कन्था' के अर्थ के विषय मे डॉ० **वासुदेवशरण अग्रवाल** अपनी शोधकृति 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (५।८१-८२) मे लिखते है : 'मूल मे यह शक-भाषा का शब्द था, जिसमे कन्थ का अर्थ नगर होता है ।' वे आगे लिखते है · ''शको के मूल प्रदेश मध्यएशिया में कन्थान्त नामो की प्रथा थी, जो अभीतक यह लक्षित होता है । जैसे : समरकन्द, ताशकन्द, चिमकन्द, पजकन्द, यारकन्द आदि । वक्षु (आमू) और सीर नदी के बीच का प्रदेश 'सुग्द' कहलाता था । सुग्दी-भाषा मे शक-भाषा के 'कन्थ' शब्द का रूप 'कन्द' हो जाता है ।'' जैसलमेर मे 'कन्था' का अर्थ है 'पति' । इसका अर्थ 'नगर' से विकसित होकर 'पति' के अर्थ मे कैसे परिणत हो गया, यह शोध का विषय है । जैसलमेर मे कहावत है : **कंथों एक अर परदेस घणा ।**' मनुष्य जब बहुत-से धन्धे अपने हाथ मे ले ले और उन्हे निवाहने मे असमर्थ रहे, तब उसके विषय मे ऐसा कहा जाता है ।

३. **भाक्त** ('भक्तादणन्यतरस्याम्' : अष्टा०, ४।४।६८) · डॉ० **अग्रवाल** के अनुसार, (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, ५।११५) दैनिक पारिश्रमिक पर काम करनेवाले श्रमिकों को मजदूरी में जो भोजन दिया जाता था, उसे 'भाक्त' या 'भक्तिक' कहते थे । जैसलमेर के पूर्वोक्त बड़ा तालाब 'गड़सीसर' के किनारे-किनारे कई छोटे बागीचे है । इनमे अक्सर स्वामी, साध आदि जाति के लोगो को पेड़-पौधो की देखरेख और प्रबन्ध के लिए रखा जाता है । ये, बागीचे मे आनेवाले व्यक्तियो की सेवा मे बाल्टी, लोटा आदि जल पीने के बरतनो की सुविधा उपस्थित करते है । हालाँकि, इन्हे इस सेवा के बदले किसी प्रकार का वेतन या भत्ता नही मिलता । इनके यहाँ की औरतें, या बच्चे या पुरुष थाली लेकर दिन मे ग्यारह-बारह बजे के बीच घर-घर घूमते हैं और दरवाजे पर जाकर आवाज लगाते हैं : '**भुगत भाव सूं** ।' आवाज सुनते ही गृहस्वामी फौरन घर से बाहर आकर दो-एक रोटियाँ इन्हे दे देता हैं । 'भुगत' ('भुक्त') की यह प्रथा आज भी जैसलमेर मे देखी जा सकती है । बीकानेर मे भी कभी ऐसी प्रथा रही है । इस प्रकार से रोटी माँगनेवाले व्यक्ति को 'भुगत आलो' या 'भुगत आली' कहा जाता है ।

४. **पलल** . ('पललसूपशाक मिश्रे' . अष्टा०, ६।२।१२८) भोजन के सम्बन्ध मे 'पलल' (मास), सूप (दाल) और शाक इन्हे भक्ष्य माना गया है । 'अमरकोश' (६।६३) मे भी मास के लिए 'पलल' शब्द का उल्लेख हुआ है । जैसलमेर मे और सिन्धी-भाषा मे आज भी यह शब्द प्रचलित है । हाँ, इतना फर्क अवश्य हो गया है कि अब 'मच्छी' या 'मछली' के लिए 'पलल' या 'पल्लो' शब्द का प्रयोग होता है ।

५ **ओदन** ('श्राणामासौदनाद्टिन्' : अष्टा०, ४।४।६७) · जल मे उबालकर बनाये गये शुद्ध चावल को 'उदकौदन' या 'उदौदन' कहते थे । जैसलमेर और बीकानेर में आज भी यह शब्द 'आदन', 'आधन', 'आधण' आदि के रूप मे सुरक्षित है । लेकिन, चावलों को उबालने के काम आनेवाले गरम पानी के लिए 'आधना', 'आधण', 'आदन', 'अधन' या 'अदहन' शब्द का प्रयोग होता है । 'अमरकोश' (२।९) मे भिस्सा, भक्त, अन्ध, अन्न, ओदन, और दीदिवि ये छह अन्न या भात के नाम है ।

६. आढ्यंकरण ('आढ्यसुभगस्थूलपलित....' : अष्टा०, ३।२।५६). वस्त्र आदि का वर्णन करते समय शरीर की सजावट के लिए इस शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसलमेर मे 'आढ्यंकरण' के 'अढायट्टा', 'अढायट्टो' आदि रूप आज भी प्राप्त होते है। जैसलमेर में राजपूत और उमराव, सरदार आदि धोती की अपेक्षा 'अढयट्टा' ही पहना करते है। आज भी यह शब्द और वस्तु वहाँ के जनजीवन मे ठीक प्रकार से सुरक्षित है।

७. शाला यह शब्द जैसलमेर, बीकानेर और यहाँतक कि समस्त भारतवर्ष मे प्रचलित है। यथा : पाठशाला, गोशाला, धर्मशाला, पाकशाला, खरशाला आदि। यही शब्द 'शाला' से 'शाल' भी बन गया है। जैसे : 'गोशाल', 'खरशाल' आदि। राजस्थानी-लोकगीतो मे भी यह शब्द मिलता है : **'सामली शाल में दीयो जगै, म्हारी गवरल है।'** (लेखक के निजी अप्रकाशित लोकगीत-संग्रह से) वैसे भी 'शाल' और 'शाला' शब्द तो बहुत ही प्रचलित रहे है। 'शाला' शब्द के विषय में **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** (तत्रैव, पृ० १३९) लिखते है कि मूल में यह वैदिक शब्द था, जो घर के लिए प्रयुक्त होता था। पाणिनि-काल मे 'शाला' शब्द का व्यापक प्रयोग देखने में आता है। राजा की जो सभाएँ या आस्थानमण्डप होते थे, उसे भी शाला' कहा गया है (**'आशाला च'** . अष्टा०, २।४।२४)। सूत्र ६।२।८६ मे पाणिनि ने छात्राओ के निवास को 'छात्रिशाला' कहा है। गौ आदि पशु बाँधने की जगह को भी 'शाला' कहने लगे थे। 'गोशाल' और 'खरशाल' का उल्लेख **पाणिनि** ने किया है (अष्टा०, ४।३।३५)। अन्न रखने के कोठार को भी 'शाला' कहा है, जिसमे नीचे की ओर बने हुए मुँह को 'शालाबिल' कहते थे (अष्टा०, ६।२।१०२)।

८. अगार . घर के लिए वैदिक भाषा मे 'गृह' शब्द था। पाणिनि ने गृह, गेह (अष्टा०, ३।१।१४४), अगार आदि शब्दो का उल्लेख किया है (**अगारैकदेशे प्रघणः प्रघाणश्च'** : अष्टा०, ३।३।७९)। जैसलमेर में दुर्ग के भीतर महाराजा का कभी अस्तबल था। उसे वहाँ की भाषा मे 'पायगा' ('घोडां री पायगा') कहते थे। उस अस्तबल के फाटक पर एक चौकोर, बहुत ही सुन्दर-चिकना शिलालेख जडा हुआ है। सन् १९३६ ई० मे **स्व० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा**, जैसलमेर का इतिहास लिखने के क्रम मे वहाँ पधारे थे। तब इन पक्तियो के लेखक को उनके साथ इसमे उत्कीर्ण लेख को पढ़ने का अवसर मिला था। साथ मे **पं० श्रीशिवलालजी** वैद्य भी थे। लेख इस प्रकार था : **'पागा बीच अगार, जामें सोनलिया लख चार हजार।'**

९ पर्प ('पर्पादिभ्य. ष्ठन्' अष्टा०, ४।४।१०) : 'पर्प' के विषय मे **डॉ० अग्रवाल** (तत्रैव, पृ० १४८) लिखते है : 'यह एक प्रकार का बैठने का आसन-विशेष रहा है।' जैसलमेर मे जब बरात आती है, तब औरतें उस समय अपने सगे-सम्बन्धियों को बैठने का आह्वान करती हुई इस प्रकार से गाती है

'आवो पर्प बिछावा, बैठो फलाचन्दजी ...आदि-आदि।'

'पर्प' का प्रयोग हमें सन् १९२४ ई० मे प्रथम बार सुनने को मिला। जैसलमेर के लोकगीतो मे आज भी यह शब्द सुरक्षित है।

१०. **शराव** . 'शराव' के विषय मे 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (पृ० १४८) में उल्लेख है · "अपने देश मे गाँवो और शहरो के घरेलू जीवन मे मिट्टी के पात्रो का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मिट्टी के इन भाँड़ो के अनेक प्रकारो मे एक ओर बड़ा 'कुसूल' (अष्टा०, ६।२।१०२) और दूसरी ओर छोटा 'शराव' (अष्टा०, ६।२।२९) होता था।"

'शराव' का रूप बिगडकर 'शरवा' बन जाना अस्वाभाविक नही है। जैसलमेर मे, मटकी से पानी निकालते समय कोई जूठा बरतन उसमे न डाल दिया जाय, इस बात का ध्यान रखा जाता है। अत., पानी के बरतन के ऊपर मिट्टी का एक छोटा-सा पात्र (अब तो ताँबे या पीतल के पात्र—ढक्कन को भी 'शरवा' कहने का रिवाज हो गया है) रखते है। इसे 'शरवा' कहते है। 'शरवा' हमारे विचार से सारे राजस्थान मे प्रचलित होना चाहिए।

११ दृति 'दृति' के विषय मे 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (पृ० १४८) मे उल्लेख है : "तेल रखने की छोटी कुप्पियो को 'उदक' (अष्टा०, ३।३।१२३) और बड़े डोल या पानी उठाने के माटे को 'उदंचन' कहते थे। चमड़े की 'मशक' 'भस्त्रा' (अष्टा०, ४।४।१६) या 'दृति' (अष्टा०, ४।३।५६) कहलाती थी। दृति का नामोल्लेख वैदिक साहित्य मे हुआ है। 'पचविंशब्राह्मण' मे 'क्षीरदृति' और 'सुरादृति' का उल्लेख है।"

'दृति' आज 'देड़ी', 'देड़ियो', 'दीड़ियो' आदि के रूप मे जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर और सारे राजस्थान मे प्रचलित है। गाँवो और ढाँणियो के लोग 'देड़ी' का नाम जानते हैं और इसका उपयोग करते हैं। कारण, राजस्थान मे पानी की बडी तगी रहती है और चमडे की इस 'देड़ी' मे पानी भरकर लोग अपनी यात्रा आसानी से कर सकते है। 'अमरकोश' (५।१९) में भी 'दृति' शब्द मिलता है।

१२. कृत ('कृतलब्धक्रीतकुशला.' अष्टा०, ४।३।३८) . 'कृत' शब्द जैसलमेर मे बहुत प्रसिद्ध रहा है। साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी इस शब्द का प्रयोग करता है। जैसलमेर मे जब लडके की मँगनी, सगाई आदि करते हैं, तब लड़की के पिता का सामाजिक स्तर, रीति-रिवाज, लेन-देन, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। और तब ऐसा कहते है : लड़की तो रूप-रग, पढाई आदि मे ठीक है, लेकिन इसके पिता का 'कृत' नही है। अर्थात्, यह व्यवहारो मे ऊँचा नहीं पडता। समाज मे हीन व्यवहार करनेवाले को 'कृतहीन' भी कहते हैं।

'कृत' के विषय मे 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (पृ० १६७) मे ऐसा उल्लेख है : "जब पाँचो पासे एक-से पड़े, तब वह जीत का दाँव होता था और उसे 'कृत' कहते थे। 'धम्मपद' के अनुसार, बेईमान जुआडी ('कितवो सठो') अपने 'कलि' (हार के) दाँवों को छिपाना चाहता है (गाथा २५२)। 'छान्दोग्य उपनिषद्' मे भी 'कृत' जीत का दाँव है।" स्पष्ट है : 'कृत' जीत के लिए, अच्छे कार्य के लिए प्रयुक्त होता रहा है। जैसलमेर मे यह शब्द आज जनसाधारण मे बहुशः प्रचलित है।

१३. **खल्य :** खेतों में अनाज के पक जाने के बाद किसान उसे काटकर अपने घर में ले आता है। इस प्रकार, उस अनाज के ढेर को राजस्थान मे 'खला' या 'खलालेणा' कहते है। जैसलमेर में अक्षय तृतीया के त्यौहार का सातिशय महत्त्व रहा है। वैसे तो सारे राजस्थान में इस त्यौहार को लोग बड़े प्रेम और उल्लास के साथ मनाते है, लेकिन जैसलमेर में यह त्यौहार अपना विशेष महत्त्व रखता है। वहाँ माताएँ और बहनें अक्षय तृतीया और उसके एक रात पूर्व अपने घरो मे पानी की मटकियो के पास मूँग, चावल, गेहूँ आदि की छोटी-छोटी ढेरियाँ बनाती है। उसके बीचोबीच ताँबे के पात्र मे पानी भर-कर, उसपर नारियल का ढक्कन लगाती है। पास ही मुँह देखने के लिए ऐनक और बिन्दी लगाने के लिए कुंकुम रखती है। डॉ० **वासुदेवशरण अग्रवाल** (तत्रैव, पृ० २०३) ने भी 'खल्य' के विषय में यही लिखा है - "खलियान के लिए चुना हुआ खेत 'खल्य' (अष्टा०, ५।१।७) कहलाता था।"

१४. हलि ('हलसीराट्ठक्': अष्टा०, ४।४।८१) . जैसलमेर मे 'हलि' और 'हालि' शब्द आज भी सुरक्षित है। हाँ, जहाँ 'हलि' का अर्थ बड़ा हल लिया गया है, वहाँ राजस्थान मे खेतो मे रात-दिन काम करनेवाले व्यक्ति को 'हलि' या 'हालि' कहते है। हमारे विचार से यह शब्द हल चलानेवाले से सम्बद्ध होने के कारण यदि 'हलि' से 'हालि' जैसा कुछ बन गया है, तो आश्चर्य नही।

१५. **पीलुकुण :** पके पीलूफलों के लिए **पाणिनि** (अष्टा०, ५।२।२४) ने इस शब्द का प्रयोग किया है। जैसलमेर, बीकानेर और यहाँतक कि सारे राजस्थान में जाल के पेड़ो की प्रचुरता रही है। जाल के फलो को पीलू कहते है। राजस्थान मे पीलूफलो की अपनी विशेषता है। इनकी तासीर गरम होती है। अतः, इन्हें पानी में डालकर कुछ देर छोड़ दिया जाता है, तब भिगोकर खाया जाता है। यहाँतक कि आग से जलने पर शरीर पर उगे फफोलों के लिए 'पीलू के समान फफोले हो गये', ऐसा लोक-प्रयोग होता है। मुँह में छाले पड़ने पर भी 'पीलू जिसा छाला हुय ग्या' का प्रयोग बहुप्रचलित है।

१६. **शुण्डार : पाणिनि** ने सूँड़ उठाकर चिंघाडते हाथी को 'शुण्डार' (अष्टा०, ५।३।८८) कहा है। राजस्थानी-भाषा मे हाथी के लिए 'शूंडालो' शब्द का सामान्य प्रयोग होता है। यथा: **'भैंसा ढोवै भार, शूंडाला ऊभा चरै।'**

१७. **एणी : पाणिनि** ने हिरनी के लिए 'एणी' शब्द (अष्टा०, ४।३।१६७) का प्रयोग किया है। 'एणी' शब्द जैसलमेर और बीकाकेर में आज भी सुरक्षित है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'एणी' शब्द गाय के लिए भी प्रयोग मे आता है। और, वह भी ऐसी गाय, जो दूध देते समय उछलती-कूदती हो, लताड़ मारती हो। सम्भव है, हिरनी की 'कुलाचों' और 'कूद-फाँद' के आधार पर यह शब्द कूदने और उछलनेवाली गाय के लिए प्रयोग में रखा गया हो।

१८. **धौरेय :** बैलों के विषय मे 'अष्टाध्यायी' में बहुत विस्तार से उल्लेख है। यह ठीक भी है; क्योंकि **पाणिनि** को इसका ध्यान अवश्य था कि भारत कृषिप्रधान

देश है और खेती अच्छी नस्ल के बैलो पर ही निर्भर करती है। बैलो के विषय मे डॉ० अग्रवाल (तत्रैव, पृ० २१९) लिखते है : "रथ खीचनेवाला बैल 'रथ्य' (अष्टा०, ४।४।७६), जुआ खीचनेवाला 'युग्य' (अष्टा०, ४।४।७६), बोझ ढोनेवाला 'धुर्य' या 'धौरेय' (अष्टा०, ४।४।७७ . 'धुरो यड्ढकौ'), पूरी गाड़ी या सग्गड़ खीचनेवाला 'शाकट' (अष्टा०, ४।४।८० : 'शकटादण्') और हल खीचनेवाला 'हालिक' या 'सैरिक' कहलाता था (४।४।८१ : 'हलसीराट्ठक्') आदि-आदि।" राजस्थानी-भाषा मे बैल के लिए 'धोला', 'धवला' आदि शब्द आज भी सुरक्षित है। राजस्थान मे साधारण-से-साधारण व्यक्ति की जबान से इस शब्द को सुना जा सकता है। [दक्षिण बिहार मे गाय चरानेवाले को 'धोरै < धौरेय' कहते है।-स०] लोक-साहित्य मे तो इसकी भरमार है। यथा .

उट्ठ धवला कंध धर, थो कहु जां घड़ियां।
गाड़ो पड़यो उजाड़ में, खिचै न टो घड़ियां ॥१०॥

('राजस्थानी' : राज० रिसर्च सो०, कलकत्ता, भाग ३, अंक ४, पृ० ७७)

'अमरकोश' (२।९) मे धूर्वह, धुर्य, धौरेय, धुरीण, धुरन्धर आदि बैलों के नाम मिलते है। 'एकधुरीण', 'एकधुर', एकधुरावह' ये तीन नाम उस बैल के है, जो एक ही धुरा को ले जाते हैं, और जो सब धुराओ को ले जाता है, उसे 'सर्वधुरीण' कहते है।

१९ वस्न . ' इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से आरम्भ हो जाता है। 'अष्टाध्यायी' के यथानिर्दिष्ट तीन सूत्रो मे 'वस्न' आया है . १ 'वस्नक्रयविक्रयाट्ठन् (४।४।१३), वस्नेन जीवति वस्निक ।' २ 'वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ' (५।१।५१), 'वस्नं हरति, वस्नं वहति, वस्नमावहति वस्निक ।' ३. सोऽस्यांशवस्नभृतय.' (५।१।५६), 'पञ्च वस्न. अस्य पञ्चक ।' 'वस्न' का अर्थ सर्वत्र पूँजी है।" (डॉ० अग्रवाल . तत्रैव, पृ० २३३)। जैसलमेर मे घुडले' के गीत मे यह शब्द स्पष्ट रूप से आज भी सुना जा सकता है। यथा :

आसण दीजै, वासन दीजै खड़कंता, भोलावो दीजै।

(लेखक के निजी अप्रकाशित लोकगीत-संग्रह से)

वस्न' शब्द की प्राचीनता तुलसीदासजी के इस दोहे से स्वय सिद्ध है .

असन 'वसन' सुत नारी सुख, पापिहु के घर होय।
सन्त समागम, रामधन, तुलसी दुरलभ होय ॥

२०. पुरुष : पाणिनि-काल मे गहराई नापने के सम्बन्ध मे 'पुरुष'-सज्ञक माप का प्रयोग किया जाता था ('पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्' : अष्टा०, ४।१।२४)। जैसलमेर मे आज भी यह शब्द प्रचलित और सुरक्षित है। वहाँ कुएँ की गहराई ३००–३५० 'पुरुष' के नाम से ही जानी जाती है। एक हाथ मे रस्सी को पकड़कर दूसरे हाथ को ऋजुकोण की तरह फैलाने तक की दूरी को एक पुरुष मानकर मापने की रीति राजस्थान मे आज भी प्रचलित है। [बिहार के लोकजीवन मे, पानी की गहराई नापते समय 'पोरसा' का प्रयोग किया जाता है। जैसे : 'एक पोरसा पानी', 'दो पोरसा पानी'।–सं०]

२१ हस्ती . पाणिनि द्वारा प्रयुक्त (अष्टा०, ५।२।३८) 'हस्ती' की माप सम्प्रति चालीस वर्ष के उत्तमजातीय पट्ठे हाथी के प्रमाण से की जाती है। जैसलमेर में पानी की गहराई मापने की दो प्रकार की विधियाँ है : एक तो बाँस से और दूसरा हाथी से। जैसे : पानी तीन-चार बाँस गहरा है। अथवा हाथी के प्रमाण से कहा जाता है कि ('हाथी बोड' वहाँ प्रचलित है) पानी दो या तीन 'हाथी बोड' गहरा है।

२२. वर्णी ('वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' : अष्टा०, ५।२।१३४) : प्राचीन भारत में ब्रह्मचर्य-प्रणाली शिक्षा का मूल आधार थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णो के ब्रह्मचारी 'वर्णी' कहलाते थे। 'वर्णी' शब्द जैसलमेर और बीकानेर मे आज भी सुरक्षित है और बड़ी प्रचुर मात्रा मे इसका प्रयोग होता है। जब ब्राह्मण द्वारा किसी यजमान के यहाँ होम, यज्ञ या और किसी प्रकार का अनुष्ठान होता है, तब वह ब्राह्मण-विशेष यजमान के निवास पर जमकर बैठता है। और, जितने दिनो तक वह वहाँ बैठा रहता है, उतने समय तक के लिए वह 'वर्णी मे बैठा है' ऐसा कहा जाता है। 'वर्णी' में बैठनेवाला ब्राह्मण उस अवधि मे हजामत आदि नही बनवाता और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एक शाम शुद्ध सात्त्विक आहार ग्रहण करता है। 'वर्णी' शब्द का लौकिक प्रयोग भी होने लगा है। जब कोई व्यक्ति अपने कार्य पर, दफ्तर आदि जाता है, तब उसको यह पूछने पर कि कहाँ जा रहे हो, उत्तर मिलता है : 'वर्णी जा रहा हूँ।'

२३. वह : वहान्त (अष्टा०, ४।२।१२२) नामो का पाणिनीय उदाहरण 'पीलुवह' है ('इको वहेऽपीलो:' : अष्टा०, ६।३।१२१)। 'फाल्गुनीवह', 'ऋषीवह', 'पिण्डवह', 'मुनिवह', 'दारुवह'—ये अन्य नाम भी 'काशिका' मे है। 'फाल्गुनीवह' आधुनिक फगवाड़ा (पंजाब) का नाम प्रतीत होता है। (द्र० पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ८०) जैसलमेर मे 'वह' और 'वाह' शब्द आज भी इसी रूप मे सुरक्षित है और जनसाधारण के प्रयोग मे आते रहे है। जैसे : 'अनूवाह' (अमरसागर : एक बावडी-विशेष, स्नान आदि करने का स्थान); 'किशनाणिया री वाह' (किले पर व्यासो के मोहल्ले मे); 'जगाणिया री वाह' (इन पंक्तियो के लेखक का निवासस्थान जैसलमेर मे—चौगानपाड़ा) आदि।

उपरिविवृत शब्दो के अतिरिक्त १. शुण्डिक (सूंडियो), २. परिखात (खाई), ३. संचर, ४. कुण्डी, ५ कुलाला (कुलड़ा, कुलड़ी), ६ नड, ७. भुंज (भूज), ८. सत्यापन (साई), ९. चरक आदि कई पाणिनीय शब्द है, जो जैसलमेर, बीकानेर आदि मे आज भी अपने मूल रूप मे जनसाधारण मे व्यवहृत होते है। बहुत-से शब्द तो अपभ्रंश-भाषा मे अभी तक मूल रूप मे और मूल अर्थ मे प्रयुक्त होते है। हाँ, कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जो अल्पविकार को प्राप्त हो गये है और कुछ इतने अधिक विकृत हो गये है कि उनके मूल स्वरूप का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन हो गया है।

△ मठड़ों का चौक, बीकानेर (राजस्थान)

आन्ध्र सातवाहन-वंश

●

पं० चन्द्रकान्त बाली शास्त्री

[१]

आन्ध्रवश के इतिहास का आरम्भ कहाँ से होता है ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए इतिहासविदों ने पर्याप्त प्रयास तो किया है, पर उनके परिणाम समीचीन एवं सर्वग्राह्य नही हुए। उदाहरणस्वरूप, श्रीनारायण शास्त्री कहते हैं कि प्राचीन भारत का प्रामाणिक इतिहास और तिथिक्रम विशुद्ध रूप से पौराणिक अनुश्रुति मे सुरक्षित है, परन्तु एतद्विषयक उनकी तालिका नितान्त दोषपूर्ण है। यथा :

प्रद्योतवश : २१३३–१९९५ ई० पू०
शैशुनागवश : १९९५–१६३५ ई० पू०
नन्दवश : १६३५–१५३५ ई० पू०
मौर्यवंश : १५३५–१२१९ ई० पू०
शुगवंश : १२१९–९१९ ई० पू०
कण्ववंश ९१९–८३४ ई० पू०
आन्ध्रवंश : ८३४–३२८ ई० पू०
गुप्तवश[1] · ३२८–८३ ई० पू०

श्रीनारायण शास्त्री जब सप्तर्षि-सवत् को ठीक ढग से प्रकाशित नही कर सके, तब उनकी प्रस्तावित वशतालिका कैसे आप्त ठहराई जा सकती है ? आन्ध्रवंश का ८३४ ईसवी-पूर्व वर्ष से अभ्युदय मानना नितान्त अपौराणिक है। जैसा कि आगे चलकर हम प्रतिपादित करेंगे—आन्ध्रवश का अभ्युदय ३७६ ईसवी-पूर्व से हुआ था। कहाँ ८३४ ई० पू० और कहाँ ३७६ ई० पू० ? ४५८ वर्षों की उत्प्लुति कैसे सम्भव हुई, यह समझ मे नहीं आती। सप्तर्षि-संवत् के चिन्तन के अभाव मे ऐसी भूलों का हो जाना आश्चर्य की बात नही है।

यही बात अन्य आलोचकों के विषय मे भी कही जा सकती है। श्रीबोस महाशय का यह कहना कि नन्द का अभिषेक (३१०१–२७०० =) ४०१ ई० पू० मे हुआ था,[2] किंचित् संशोधन के साथ स्वीकार भी किया जा सकता है। परन्तु, उनके इस कथन मे : आन्ध्रवश का अन्त नन्दो के ८३८ वर्षों के बाद होता है, कोई सार नही है। हम भली

---

१. मौर्य-साम्राज्य का इतिहास · सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ७६।

२. आन्ध्र सातवाहन-साम्राज्य का इतिहास : डॉ० चन्द्रभान पाण्डेय; पृ० २६।

भाँति समझते है कि महापद्म-पद्मनन्द[1] का व्यवधान-काल ८३८ वर्ष है, जिसे आन्ध्रवंश के साथ जोड़ना सरासर भूल है। ऐसा विचार करनेवालों मे श्रीगोपालाचारी, रमाप्रसाद चन्दा, रैप्सन, डॉ० बनर्जी तथा डॉ० भाण्डारकर के नाम उल्लेखनीय है।

आन्ध्रवंश का उदय नन्द के समवर्त्ती काल में हुआ था। पौराणिक पद्धति से भारतीय इतिहास का मुख्य भाग युधिष्ठिर से नन्दकाल तक फैला हुआ है, जो सप्तर्षि-संवत् १०१५ से ११०३ तक, तदनुसार ३१४८ ई० पू० से ३४२ ई० पू० तक (कुल २८०६ वर्ष) माना जाता है। यह सप्तर्षि-गणना पटना-सम्प्रदाय के अनुसार है। इसी हिसाब से ४३०–३४२ ई० पू० (८८ वर्ष) नन्दयुग मानने योग्य है। आन्ध्रवंश का अभ्युदय ३७६ ई० पू० मे हुआ, जो पद्मनन्द के शासनकाल के अन्तर्भुक्त है। इस सन्दर्भ मे पौराणिक पाठ है.

सप्तर्षयस्तदा प्राप्ताः पित्र्ये पारिक्षिते शतम्।
सप्तविंशैः शतैः भाव्या आन्ध्राणां तेऽन्वयाः पुन.॥

(ब्रह्माण्डपुराण, ३।७४।२३०)

'ब्रह्माण्डपुराण' की सप्तर्षि-गणना कश्मीर-सम्प्रदायानुसार की जाती है। इसे समझने के लिए निम्नांकित तालिका ध्यान आकृष्ट करती है :

सप्तर्षि-संवत्	ई०पू०	घटना	सन्दर्भ
६२८	३१४८	महाभारत-संग्राम	अनुमानतः
६६४	३११२	युधिष्ठिर-शासनान्त	षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः। ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिर.॥
६६५	३१११	श्रीकृष्ण-निधन	वाताश्वमेधवर्षेऽस्मिन् सह यक्षेण यादव।
६७५	३१०१	कलियुगारम्भ	कलेर्गतै. सायकनेत्रवर्षैः सप्तर्षिवर्याः त्रिदिवं प्रयाताः।
७००	३०७६	शतक समाप्त	
(+)	(—)	[२७०० वर्षों के पश्चात्]	
३४००	३७६	आन्ध्रवश-उदय	'सप्तविंशैः शतैः भाव्या आन्ध्राणां तेऽन्वयाः पुनः।'

पुराण-परिशीलन के अधिकारी मनीषियो को इस तालिका के सन्दर्भ में अपने अनुसन्धान पर पुनर्विचार करना चाहिए।

मि० बूल्हर ने अपनी कश्मीर-रिपोर्ट मे (पृ० ६०) एक अनुश्रुति प्रकाशित की है, जिसके अनुसार कलि-संवत् २५ (सायक-नेत्र) मे सप्तर्षि-शतक के समाप्त होने की सूचना प्राप्त है। कलि-संवत् २५ का अभिप्राय है—३०७६ ईसवी-पूर्व का वर्ष। उससे २७००

१. प्रमाणं वै तथा चोक्तं महापद्मान्तर च यत्।
अन्तर तच्छतान्यष्टौ षट्त्रिंशच्च समा. स्मृताः॥—वायुपुराण, ९९।३।४१६।

वर्षों के पश्चात्, अर्थात् ३७६ ई० पू० में आन्ध्र-उदय की बात छल-छिद्ररहित भाव से स्वीकरणीय तथ्य है। 'ब्रह्माण्डपुराण' का समर्थन 'विष्णुपुराण' से भी हो जाता है, जिसका आगे उल्लेख किया गया है।

[२]

पुराण-प्रतिपादित इतिहास का समर्थन जैन साक्ष्यों से भी हो जाता है। उपलब्ध शिलालेखो के साथ पौराणिक सामंजस्य सचमुच विस्मयजनक है। जैनशास्त्रो के अनुसार, **कालकाचार्य** ने **शातकर्णि** (सम्भवत. प्रथम) के भवन में चतुर्थी-पर्युषण व्रत का पारण किया था। शातर्कणि के अनुनय पर कौन-से कालकाचार्य ने राजभवन मे रहकर व्रत-पारण किया था, यह अद्यावधि रहस्यावृत है। जिस प्रसिद्ध कालकसूरि की चर्चा की जाती है, उसका समय वीरनिर्वाण-संवत् ४५४=७३ ईसवी-पूर्व का माना जाता है। इसी आधार पर पीछे की ओर गणना करते-करते १६२—१५० ईसवी-पूर्व मे आन्ध्र-उदय की चर्चा चलाई जाती है, जिसे पुराण-समर्थित कहने मे अनेक कठिनाइयाँ सामने आती है। कलिंगनरेश **खारवेलश्री** ने अपने राज्य के दूसरे वर्ष में **शातकर्णि** से समरांगण मे भेट की थी। परन्तु, यह नही पता चलता कि वह **शातकर्णि** प्रथम था या द्वितीय ? किसी भी स्थिति मे **खारवेलश्री** की शातकर्णि से युद्धचर्चा प्राय धूमिल ही नजर आती है। कारण, **डॉ० राखालदास बनर्जी** एवं **डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल** ने **खारवेलश्री** का समय अशोक-परवर्त्ती, अर्थात् शुंगनरेश **पुष्यमित्र** के लगभग माना है। पुराण-मान्यता के अनुसार, पुष्यमित्र का समय १८४ ईसवी-पूर्व से ११० ईसवी-पूर्व तक है। आन्ध्रवंश की लम्बी सूची में १८४–११० ईसवी-पूर्व में शासन करनेवाले **अपीलक, मेघस्वाति और स्वाति** के साथ वाछित **शातर्कणि** का समीकरण भी असंगत मालूम पड़ता है। अगर ऐसा समीकरण कल्पना-प्रसूत हो भी जाय, तो भी **कालकाचार्य** की गाथा को यहाँ अपना स्थान ढूँढने पर भी सहज ही मिलनेवाला नही है। इस विषमता मे **शातर्कणि-कालकाचार्य-खारवेलश्री** पर आधृत आन्ध्र-उदय की बात थोडी अटपटी मालूम पड़ती है।

जैनशास्त्रो के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि **कालकाचार्य** संख्या में अनेक हैं, जिनमे प्राचीनतम **कालकसूरि** चार है. प्रथम कालक=वीरनिर्वाण-संवत् ३३५, द्वितीय **कालक**=वीरनिर्वाण-संवत् ४५३; तृतीय **कालक**=वीरनिर्वाण-संवत् ७२० तथा चतुर्थ **कालकाचार्य**=वीरनिर्वाण-सवत् ९९३ मे हुए। सम्भवतः, यही **कालकाचार्य** प्रासगिक है और इन्हे ही शातकर्णि प्रथम को चतुर्थी-पर्युषण व्रत के पारण द्वारा कृतार्थ करने का श्रेय आसानी से दिया जा सकता है। चतुर्थ **कालकाचार्य** की प्राकरणिक गाथा इस प्रकार है :

'**नवसयतेण उएहिं सम इक्कंतेहिं बद्धमाणाओ।**
पज्जोसवण चऊत्थी कालिकसूरिहिंतो ठविओ॥ (रत्नसंचयप्रकरण)

गाथा मे चतुर्थी-पर्युषण व्रत का संकेत निहित है; अत शेष कालकाचार्यों का उल्लेख यहाँ उद्दिष्ट नही है। इसी **कालकाचार्य** को 'निगोद' (अनन्त जीवो का एक

साधारण शरीर-विशेष) का व्याख्याता भी कहने की परम्परा बनी हुई है। सम्भवत., नन्दयुग के प्रसिद्ध द्वादशवर्षीय अकाल के पश्चात् जैन आचार्यों ने जैनागमो के उद्धार और व्याख्या की परम्परा स्थापित की थी, उनमें **स्थविर भद्रबाहु** (निधन : ३५७ ई० पू०) के बाद इन्ही **कालकाचार्य** का स्थान दूसरा है। इनका समय १२९९—९९३=३०६ ईसवी-पूर्व नये अनुसन्धान से स्थिर किया जा सकता है। इसी **कालकाचार्य** ने **शातकर्णि प्रथम** (३२० ई० पू०) को कृतार्थ किया, ऐसा प्रतीत होता है। ईसवी-पूर्व ३२० तथा ३०६ में उपलब्ध व्यवधान भी कोई विशेष समस्या नही है। यदि ३०६ ई० पू० मे **कालकाचार्य** का निधन सम्भव है, तो उससे १४-१५ वर्ष पहले उसका **शातकर्णि** के यहाँ जाना शंकातीत माना जायगा। हमारा अपना विश्वास है, ३०६ ईसवी-पूर्व मे **कालकसूरि** को 'आचार्य'-पद की प्रतिष्ठा मिली होगी, उससे पूर्व वह मुनिवेश अथवा उपाध्याय-वेश मे भ्रमण करते हुए प्रतिष्ठानपुर गये होगे और उन्हे राज्य-अतिथि होने का अवसर मिला होगा। हम अपने इस विश्वास पर दृढ है।

शातकर्णि प्रथम का समय सप्तर्षि-संवत् ३४५६, तदनुसार ३२० ईसवी-पूर्व का स्थिर किया गया है। 'विष्णुपुराण' का उक्त कालद्योतक सन्दर्भ इस प्रकार है : '**एवमेते त्रिंशच्चत्वार्यब्दशतानि षट्पञ्चाशदधिकानि पृथिवीं भोक्ष्यन्ति आन्ध्रभृत्याः।**' (२।२४।५०)

इस प्रक्रिया से '**द्विबद्धं सुबद्धं भवति**' का नियम चरितार्थ होता है और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि सप्तर्षि-सवत् ३४०० का शुभारम्भ ईसवी-पूर्व ३७६ से मानना विशुद्ध पौराणिक निष्ठाजन्य मान्यता है, जिसके लिए 'किन्तु-परन्तु' का चचु-प्रवेश सम्भव ही नही है।

निष्कर्षत., आन्ध्रनरेश **शातकर्णि** एव **कालकाचार्य** (निगोद-व्याख्याता) का कालनिष्ठ साहचर्य अब अनुश्रुति का विषय नही रह गया है, बल्कि उसे सुदृढ अनुसन्धान-भूमि मिल गई है। हम इस समन्वित (पुराणशास्त्र + जैनशास्त्र) उपलब्धि के प्रश्न पर स्थिरमति है।

सबसे जटिल समस्या, इस प्रसंग से **खारवेलश्री** को सम्बद्ध करने की है। **शातकर्णि** तथा **कालकाचार्य** का काल-चिन्तन **खारवेलश्री** की उपेक्षा करके सार्थक नहीं समझा जा सकता। यदि **शातकर्णि द्वितीय** (२८४—२२० ई० पू०) तक कलिगनरेश **खारवेलश्री** को किसी प्रकार पहुँचा दिया जाय, तो भी स्थिति तथ्यपूर्ण दृष्टिगत नही होती। स्मरणीय है, **अशोक महान्** का समय (पुराणमतानुसार) २७६–२२० ईसवी-पूर्व का है, और उसकी महनीयता कलिग-विजय के साथ जुडी हुई है। **खारवेलश्री** को किसी भी स्थिति मे **अशोक** के समक्ष (अर्थात्, युद्धरत) खड़ा नही किया जा सकता। कलिगनरेश को या तो अशोक-पूर्ववर्त्ती प्रकरण मे रखा जा सकता है, या उससे परवर्त्ती प्रकरण मे। हम जानते है, सभी इतिहासकार, पुराविद् तथा शोधमनीषी 'हाथीगुम्फा'-अभिलेख के सन्दर्भ मे **खारवेलश्री** को अशोक-परवर्त्ती युग मे, या यो कहना चाहिए कि शुंगनरेश **पुष्यमित्र** के युग में रख

रहे है। परन्तु, हम उसे अशोक-पूर्ववर्त्ती इतिहास का युगपुरुष मानते हैं। हमारे विचार के अनुसार, खारवेलश्री का समय अपने समवर्त्ती राजाओ के परिप्रेक्ष्य मे इस प्रकार है :

खारवेलश्री

ई० पू०	नन्द-मौर्यवंश	सप्तर्षि-संवत्	प्राचीन कलिंग-नरेश शक	ई० पू०	आन्ध्रवंश	ई० पू०
४३०	नन्द-अभिषेक	१०१५				
		←				
					आन्ध्रवंश का उदय	३७६
३४२	नन्द-पतन मौर्य चन्द्रगुप्त-अभिषेक	१०३ ←	२७० खारवेल का जन्म	३५२	सिमुक का राज्यान्त	३५२
			२८५ युवराजपद-प्राप्ति	३३७	कृष्ण-राज्यान्त	३३४
३२१	चन्द्रगुप्त-निधन	१२३	३०० अभिषेक-वर्ष	३२२	शातकर्णिनिधन	३२०
		१३१	३०८ अष्टम वर्ष . शासन	३१४		
↓		१३६	३१३ त्रयोदश वर्ष . शासन	३०९		↓
	बिन्दुसार	१५५	३३२ खारवेल का निधन	२९०	पूर्णोत्संग	

हाथीगुम्फा-अभिलेख से इतना तो ज्ञात हो जाता है कि खारवेलश्री ने अपने दूसरे अभिषेक-वर्ष मे शातकर्णि पर विजय प्राप्त की थी : **'द्वितीये च वर्षे अचिन्तयित्वा शातकर्णि पश्चिमदिशं हय-गज-नर-रथबहुलं दण्डं प्रस्थापयति।'**[1] यह तो अब निर्विवाद निश्चित है, शातकर्णि का राज्यान्त-वर्ष ३२० ईसवी-पूर्व का है। कलिगनरेश का अभिषेक-वर्ष ३२२ ई० पू० को स्थापित मान लें, तो 'खारवेल-शातकर्णि-संघर्ष' का समय बिना किसी खीचतान के ३२१ ई० पू० मे मान लेने मे कोई जटिलता नही है। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि ३२१ ई० पू० का समय चन्द्रगुप्त मौर्य के निधन के कारण महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। हाथीगुम्फा-अभिलेख से एक अतीव रहस्यमय तथ्य का प्रस्फुटन होता है। वह यह कि अभिलेख मे 'मौर्यकाल' का सकेत है। हम 'मौर्यकाल' का अभिप्राय मौर्य-सवत् से लगाते है। मौर्यकाल के साथ सख्यावाचक शब्द भी है : **'चोयठि'**। पूरा पाठ इस प्रकार है 'मु [०] य **कालवोच्छिनं च चोय** [ठि]।' इस कालबोधक पंक्ति पर बड़ा विवाद है। **इन्द्रजी** तथा **स्टेनकोनो** ने 'मुरिय' पाठ स्वीकार किया है। **इन्द्रजी** तथा **फ्लीट** ने 'काल' का समर्थन भी कर दिया है। परन्तु, डॉ० सूबेसिंह राणा ने इस पक्ति पर खड़िया पोतकर लिखा है : 'परन्तु यहाँ मौर्यकाल (संवत्) के उल्लेख की सम्भावना नही है।'[2]

---

१. भारतीय अभिलेख : सं० डॉ० सूबेसिंह राणा, पृ० १२५।

२. उपरिवत्, पृ० १३०।

इसका भी एक कारण है, चतुषष्टि अंक [ग] के अर्थाधान पर खींचतान अद्यावधि वर्त्तमान है। यह ठीक है कि जैनधर्म में ६४ साप्तिक अंगो का महत्त्व है और उनकी यहाँ लिपिवद्धता महत्त्वपूर्ण हो सकती है; परन्तु 'मुरियकाल' का अकों के अभाव में क्या महत्त्व है ? फिर, 'चोयठि' पर हमारा प्रस्तावित अर्थाधान कुछ और ही महत्त्व रखता है। हम 'चोयठि' का जो अर्थ समझ सके है, वह है . ४ + ८ = १२ वर्ष। बात बिलकुल सरल और स्पष्ट है कि मौर्यकाल के १२ वर्ष वीतने ('वोच्छिनं') के वाद खारवेलश्री को शासन करते हुए १३ वर्ष ही व्यतीत हुए थे। ३२२ ईसवी-पूर्व मे खारवेलश्री का अभिषेक पूर्वांकित सारणी में द्रष्टव्य है; इसलिए ३२२ – १३ = ३०९ ई० पू० मे उसे शासन करते हुए १३वे वर्ष के वरावर मौर्यकाल का ३२१ – १२ = ३०९ ई० पू० मे १२वाँ वर्ष वैज्ञानिक संगति रखता है। इसे सहज ही अपलापित नही किया जा सकता।

दूसरी बात इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हाथीगुम्फा-अभिलेख में, उसकी छठी पंक्ति मे लिखा है : 'नंदराज तिवससत ओ [घा] टितम्।' इसमें पहली ध्यातव्य बात यह है कि खारवेलश्री को शासन करते हुए जव पाँच ही वर्ष वीते थे, अर्थात् ३२२ – ५ = ३१७ ई० पू० मे उसने नन्दराजा द्वारा पूर्व-उत्खनित नहर का पुनरुत्खनन आरम्भ किया। इसके साथ उत्कीर्ण 'तिवससत' पाठ भी है, जिसके दो अर्थों पर विवाद है। एक पक्ष के अनुसार, तिवससत = १०३ ('अङ्कानां वामतो गतिः') अर्थ है; दूसरे पक्ष के अनुसार, तिवससत = ३०० वर्ष है। हमे दोनों अर्थ स्वीकार्य है। यथा :

(क) ति-वस-सत = १०३ : हमारी समझ के अनुसार ये अक सप्तर्षि-संवत् के है। सबको विदित है कि जब राजा नन्द का अभिषेक हुआ था, तब १०१५ सप्तर्षि-सवत् था।[1] और भी, शास्त्र और अनुश्रुति द्वारा समर्थित एक मान्यता है कि नन्द ने ८८ वर्ष राज्य किया था।[2] इसलिए, १०१५ + ८८ = [१] १०३ सप्तर्षि-संवत् यहाँ प्राकरणिक भी है, अपेक्षित भी। इसे ईसवी-पूर्व के वर्षो मे आसानी से परिवर्त्तित किया जा सकता है, जिसे हम पूर्वोक्त कालसारणी मे अंकित कर चुके है। ज्ञातव्य है, सप्तर्षि-संवत् १०३ = ३४२ ई० पू० तक नहर का उत्खनन सम्भावित है। क्योकि, यही वर्ष राजा के पतन का वर्ष है, जिसकी वजह से उत्खनन-कार्य अवरुद्ध हो गया था। अतः, अवरुद्ध वर्ष = ३४२ ई० पू० के २५वे वर्ष मे उसका पुनरुत्खनन किसी गम्भीर काल-सकट का द्योतक नही है। स्पष्ट है, चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने शासनकाल मे इधर ध्यान केन्द्रित नही किया। पद्मनन्द के अधूरे कार्य को पूरा करने का श्रेय राजा खारवेलश्री को मिला है।

(ख) ति-वस-सत . ३०० वर्ष : यह संख्या भी हमारी काल-परिपाटी के विपक्ष में नही जाती। यह शक-संवत् की काल-संख्या है। हमने महाभारत का समय ३१४८ ई० पू० माना है। आचार्य वराहमिहिर ने इसी महाभारत-काल से २५२६ वर्ष बीतने पर शक-काल

---

१. एतत् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्।—नानापुराणपाठ।

२. अष्टाशीतिमब्दान् अतीत्य तिष्ठिते महापद्मे।—दण्डी।

की चर्चा की है।[1] अत., ३१४८—२५२६=६२२ ई० पू० मे शक-काल की स्थापना यहाँ प्रासंगिक है। इस पद्धति से भी ६२२–३००=३२३ ई० पू० में खारवेलश्री का अभिषेक, और उससे पाँचवे वर्ष में नहर के पुनरुत्खनन की चर्चा सप्रयोजन है।

शातकर्णि प्रथम, कालकाचार्य (निगोद-व्याख्याता) तथा खारवेलश्री, तीनो नितान्त समसामयिक व्यक्ति है। शातकर्णि का समय पुराण-सम्मत है, कालकाचार्य का समय जैनशास्त्रानुमोदित है; खारवेलश्री का समय अभिलेखीय अन्त.साक्ष्य से सिद्ध है। तीनो व्यक्ति-वार्त्ताएँ अलग-अलग रास्ते से आकर एकमेव युग मे सन्निहित हुई है, यही उनकी 'स्वत प्रमाणता' है। तीनो ने एक-दूसरे को परस्पर आबद्ध कर लिया है। जो अनुसन्धित्सु 'हाथीगुम्फा' के सन्दर्भ मे आन्ध्रवंश की उदय-तिथि निर्धारित करते समय कठिनाई अनुभव कर रहे थे, उनका समाधान उन्हे मिल जायगा, ऐसी हमारी मान्यता है और आन्ध्र-वंश का अभ्युदय ३७६ ई० पू० मानने मे ही इतिहास की सहज आप्तता निहित है।

[३]

आन्ध्रवश के सत्तहवे वशधर राजा हाल को इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान मिल गया है। हाल न केवल महाराजा है, बल्कि वह महाकवि भी है। उसके द्वारा रचित प्राकृत-निबद्ध 'गाथासप्तशती' की चर्चा यदा-कदा चल पड़ती है। जो विद्वान् 'सप्तशती' अथवा 'सतसई'-साहित्यसमूह का इतिहास लिखना रुचिकर मानते है, उनके लिए 'हाल' का उल्लेख नितान्त प्रीतिकर सिद्ध हुआ है। जब संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य पर अनु-सन्धायको ने निरन्तर प्रहार जारी रखा, तब हाल की विक्रमादित्यपरक गाथा से उन काल-विशेषज्ञो को बडा बल मिला, जो 'संवत्-प्रवर्त्तक' के विस्थापित अस्तित्व के पुनस्संस्थापन के लिए कृतसकल्प थे। हालाँकि, गाथा का प्रतिपाद्य विक्रमादित्य कोई और व्यक्ति है। जो हो, विक्रमादित्य के व्याज से हालकवि का (उसके राजत्व की उपेक्षा कर) नाम बार-बार आगे आता रहा।

हमे (इतिहासकार के रूप मे नही, सावत्सरिक के नाते) हाल महाराजा के समय-निर्धारण मे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। पुराणशास्त्रो मे हाल से सम्बद्ध 'काल-सन्दर्भ' विभिन्न पाठान्तरो मे इस प्रकार उपलब्ध हुए हैं :

(क) तत· संवत्सरान् पञ्च हालो राजा भविष्यति। (मत्स्यपुराण, ९)

(ख) तत· संवत्सर पूर्णं हालो राजा भविष्यति॥ ब्रह्माण्डपुराण, १६५)

इसी प्रकार, वायुपुराण, ३५२ ढूँढने पर और भी पाठान्तर मिल सकते है। 'मत्स्य-पुराण' का पाठ 'पञ्च' 'पूर्णं' से भ्रष्ट होकर सामने आया है, इसमे कोई दो मत नही हो सकते। केवल पाँच वर्ष शासन करनेवाला राजा इतना 'विख्यात' नही हो सकता, जितनी ख्याति हाल को मिली है। सारा विवाद दूसरे पाठान्तर पर है। दूसरे सन्दर्भ मे 'पूर्ण-संवत्सर' का क्या संग्राह्य अर्थ है, कुछ समझ में नही आता।

---

१. षड्द्विकपञ्चद्वियुत· शककालः तस्य राज्यस्य।

पूर्ण-संवत्सर : क्या इस पाठ का अर्थ 'एक वर्ष' है ? इस प्रस्ताव की सहसा उपेक्षा नहीं की जा सकती। आन्ध्रवंश में एक-एक वर्ष राज्य करनेवाले भूपति विद्यमान हैं :

१. स्वातिवर्ण : एकं संवत्सरं राजा स्वातिवर्णो भविष्यति।

२. सुन्दर : सुन्दर. स्वातिकर्णस्तु अब्दमेकं भविष्यति।

'संवत्सर' और 'अब्द' पर्यायवाचक हैं,[1] यह सविस्तर कहने की आवश्यकता नहीं। समीचीन बात यह है कि इन सन्दर्भों में 'एक' संख्यावाचक विशेषण विद्यमान है; अतः इसके अर्थ-विनिश्चय में कोई कठिनाई की बात नहीं है। यही नियम 'हाल' पर भी लागू हो सकता है।

पूर्ण-संवत्सर : बार्हस्पत्य कालमान को भी संवत्सर कहते हैं।[2] इस 'संवत्सर' के दो मार्ग हैं : (क) द्वादशवर्षीय युग को 'संवत्सर' कहते हैं और (ख) षष्टिवर्ष-गणना को भी 'संवत्सर' कहते हैं।[3] प्रश्न उठता है—क्या 'पूर्ण-संवत्सर' का अर्थ बारह वर्ष अथवा साठ वर्ष है ? उत्तर में निवेदन है कि पौराणिक इतिहास का मापदण्ड केवल 'सप्तर्षि-संवत्' ही है। दूसरी काल-गणनाएँ (चान्द्र, सौर, सावन, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य और पैत्र्य) इतिहास-लेखन के लिए उपयुक्त भी नहीं हैं, स्वीकृत भी नहीं। अत., सप्तर्षि-संवत् की पारिभाषिक सीमा के अन्तर्गत ही 'पूर्ण-संवत्सर' का अर्थ खोजना श्रेयस्कर रहेगा।

पूर्ण-संवत्सर : क्या 'पूर्ण-संवत्सर' का अर्थ पूरे सप्तर्षि-चक्र के अनुसार ९९ वर्ष तो नहीं है ? शायद इसका उत्तर है—हाँ। पूर्व इसके कि राजा हाल के लिए ९८ वर्ष की कालावधि का सीमांकन किया जाय, तद्विषयक सन्दर्भों को समुद्धृत करना समीचीन होगा। यथा :

हाल

नरवाहन	साहसांक-विक्रमांक
(२१ ई० पू०)	(६५ तथा ७८ ईसवी)
भरुकच्छपुरेऽत्रासीत्	द्रौपदी विक्रमादित्यः
भूपतिर्नरवाहनः ।	साहसाङ्कः शकान्तकः।
ससमृद्धात्मकोषस्य	शूद्रकस्त्वग्निमित्राख्यः
श्रीमदध्यधमन्यते ॥१॥	हालः स्यात्सातवाहन.॥ (क्षीरस्वामी)

१. हायनाऽब्दशरद्वर्षसंवत्सरसमाः समाः।—हलायुधकोश, ११६।

२. बृहस्पतेर्मध्यमराशिभोगात् संवत्सरं सांहितिका वदन्ति।
—सिद्धान्तशिरोमणि, १।३०।

३. (क) गुरुमध्यमचारेण षष्ट्यब्दाः प्रभवादयः।—नारदपुराण, ५५।११४।
(ख) संवत्सरः परिवत्सरः इडावत्सर एव च। इत्यादि।—भागवत, ३।(११)१४।

हालेऽथ पुनरायाते
निर्द्रव्यत्वान्ननाश सः ।
नगरं जगृहे हालो
द्रव्यप्रणधिरेखिका ॥१०॥
(आवश्यकसूत्र)

वासुदेव-सातवाहन-शूद्रक-साहसाङ्कः ।
(राजशेखर)

संनाहणसुहरसतोसिएण
देन्तेन वुह करे लक्खम् ।
चलणेण विक्कमाइच्चचरिअ
मणु सिक्खिअं तिस्सा ॥
(गाथासप्तशती, ४३६)

"विक्रमादित्यस्य = साहसाङ्कस्य ।
(हारिताम्र पीताम्बर)

नरवाहन : भड़ौंच का राजा 'नरवाहन' ६२ ईसवी-पूर्व मे अपने पिता **बलमित्र** (भानुमित्र) के निधन के पश्चात् सिंहासनासीन हुआ। उसका शासनकाल ४० वर्ष का है। उसने ६२–४० = २२ ईसवी-पूर्व तक राज्य किया, ऐसा जैनशास्त्रियो का अभिमत है। 'तित्थोगालीपइन्नय', 'विविधतीर्थकल्प' एव 'पूर्वगाथा' (मेरुतुग-रचित) के अनुसार, **नरवाहन** का शासनकाल ४० वर्ष लिखा है। उसके **नभ सेन** एव **दधिवाहन** ये नामान्तर भी मिलते है। पर, शासनकाल ४० वर्ष ही सर्वसम्मत है। **नरवाहन** के पिता **बलमित्र** ने ६०० वर्ष राज्य किया, इसपर भी किसी को कोई 'ननु-नच' नही है। अत, १२२–६० = ९२ ईसवी-पूर्व तक **बलमित्र** का शासनकाल आँका गया है। यह केवल कल्पना नही है। दिवंगत **मुनिश्री कल्याणविजयजी** ने लिखा है. "बलमित्र-भानुमित्र के अमल के ४७वे वर्ष के आसपास उज्जयिनी मे एक अनिष्ट घटना हो गई।"[1] वह अनिष्ट घटना 'सरस्वती-अपहरण' की थी। उन्ही के मतानुसार यह घटना वीरनिर्वाण-संवत् के ४५३वें वर्ष मे हुई। गणना बड़ी सरल है. ५२७–४५३ = ७४ ई० पू० की घटना के अनुसार ७४ + ४७ = १२१ अथवा १२२ ई० पू० मे **बलमित्र** का शासनकाल स्थिर करना विसवादात्मक नही है। प्रस्तुत गणना-विधानानुसार १२२–६० = ६२ ईसवी-पूर्व तक पिता (**बलमित्र**) ने, तत्पश्चात् ६२–४० = २२ ईसवी-पूर्व तक उसके पुत्र (**नरवाहन**) ने राज्य किया, यह बिलकुल सीधी बात है।

ई० पू० ६२–२२ वर्षो मे भडौंच पर शासन करते समय **नरवाहन** पर **शालिवाहन** ने आक्रमण किया, **हाल सातवाहन** उस युद्ध मे **शालिवाहन** का सहायक था, यह रहस्य अभी तक जैनशास्त्रो मे सीमित है, जिसके उद्घाटन की ओर उसे समझने की आज की बहुत बडी अपेक्षा है। अस्तु; ऊपर उद्धृत जैनसन्दर्भ से इतना पता जरूर चल जाता है कि महाराज हाल का सक्रिय जीवन २१ ईसवी-पूर्व साल से मानने मे कोई उलझन नही है। यही वर्ष हाल-शासन की ऊर्ध्ववर्त्ती सीमा सातिशय दृढतापूर्वक अंकित की जा सकती है।

साहसांक-विक्रमांक . महाराजा **शालिवाहन** ने ३२ ईसवी-सवत् मे उज्जयिनी हस्तगत कर ली थी। अनुश्रुति से यह भी ज्ञात होता है कि ९० वर्ष की आयु मे **शालिवाहन**-

१. वीरनिर्वाण-संवत् और जैन कालगणना, पृ० ५३ और ५५।

विक्रमादित्य दिवंगत हुए। वह वर्ष ४० ईसवी-संवत् का था। तत्पश्चात् महेन्द्रादित्य उज्जयिनीश्वर बन सका। महेन्द्रादित्य के बाद भर्त्तृहरि, भर्त्तृहरि के बाद उसके भाई साहसांक-विक्रमांक ने रेवानदी के उत्तर-दक्षिण भाग पर अधिकार कर लिया और साहसांक उज्जयिनीश्वर बन गया।

साहसांक-विक्रमादित्य पर इन पंक्तियों के लेखक ने पर्याप्त लिखा है।[1] यहाँ साहसांक की पुन. चर्चा द्वारा हाल सातवाहन के जीवन की निम्नवर्त्ती सीमा खोजना वांछित है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि साहसांक ने अपना एक संवत् चलाया, जो 'विक्रम-शक' नाम से विख्यात है और ६५ ईसवी-संवत् से गिना जाता है। यही बात विक्रमांक के बारे में भी है। उसने भी अपना अलग संवत् चलाया, जो 'शक-काल' नाम से विख्यात है और ७८ ईसवी-संवत् से गिना जाता है[2] और यही शक-कालगणना अब राष्ट्रीय शक के सम्मान से अलंकृत है। यहाँ रहस्यबोधक तथ्य यह है कि हाल-रचित 'गाथासप्तशती' का प्रतिपाद्य 'विक्रमादित्य' गर्दभिल्लवंशीय विक्रमादित्य नहीं है, बल्कि साहसांक-विक्रमादित्य है। प्राकृत गाथा (४३६) पर हारिताम्र पीताम्बर की टीका अपने-आप में समीचीन है, सबल है। क्षीरस्वामी एवं राजशेखर का साहसांक के साहचर्य में हाल (सातवाहन) का उल्लेख करना भी सोद्दिष्ट, रहस्यगर्भ और निर्णायक है। अतः, महाराजा हाल के सक्रिय जीवन की निम्नतम सीमा ७८ ईसवी-संवत् तक ननु-नच रहित स्वीकरणीय तथ्य है। विक्रमांक (जिसके अन्य नाम अग्निमित्र और शूद्रक भी हैं) द्वारा स्थापित शक-काल तक, अर्थात् ७८ ईसवी-संवत् तक महाराजा हाल की वर्त्तमानता निश्चित रूप से विवाद-विहीन है। इस सन्दर्भ-समूह के परिप्रेक्ष्य में ईसवी-पूर्व २१ से ७८ ईसवी-संवत् तक, अर्थात् २१ + ७८ = ९९ वर्ष हाल का शासनकाल पुराणाभिमत, जैनशास्त्रसम्मत और घटनाओं द्वारा सम्पुष्ट है। यही कारण है कि 'ततः संवत्सरं पूर्णं हालो राजा भविष्यति' का अर्थ-सन्दोहन हमने सप्तर्षिवर्षीय शतक के रूप में किया है।

[४]

ऐतिहासिक अनुश्रुति चली आ रही है कि आन्ध्रनरेश पुलुमावी के साथ रुद्रदामन् का युद्ध हुआ, रुद्रदामन् विजयी रहा; फिर भी उसने एक विचित्र उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, पुलुमावी को अपनी कन्या देकर, विजयी होकर भी मानसिक तौर पर पराजय मान ली। यह ऐतिहासिक अनुश्रुति निम्नांकित सारणी द्वारा परीक्षणीय है :

सन्दर्भ	ईसवी	शकनरेश	आन्ध्रनरेश	ईसवी	सन्दर्भ
सन् १११ ई० से	१२१	चष्टन	शिवस्वाति	१३१	सप्तर्षि-संवत् ३९०७
	१३८	जयदामन्	गौतमीपुत्र	१४५	सप्तर्षि-संवत् २१
	१९०	रुद्रदामन्[3]	पुलुमावी	१७३	अनुमानत. २८ वर्ष शासनकाल

१. (क) 'सम्मेलन-पत्रिका' : चैत्र-भाद्रपद, शक १८९९।

(ख) 'हिन्दुस्तानी-पत्रिका' : भाग ३७, अंक १, पृ० ६०।

२ श्रीवीरनाथनिर्वृते.सकाशात्....विक्रमाङ्कशकराजोऽजायत।

३. उपरिवत्, पृ० १३१।

जैनशास्त्रो से सम्यक्तया ज्ञात होता है कि **चष्टन** से २४२ वर्ष पश्चात् गुप्तसंवत् चला। इन पंक्तियो के लेखक ने नये अनुसन्धान के सन्दर्भ मे चार गुप्तसंवत् स्वीकार किये हैं .

१. गुप्तसंवत् २७७ ई० से; २. गुप्तसंवत् ३०७ ई० से; ३. गुप्तसंवत् ३६३ ई० से; ४ गुप्त-संवत् ५५० अथवा ५५६ ई० से।

इनमे तीसरा गुप्तसंवत् यहाँ वांछनीय है। यह गुप्तसवत् **चन्द्रगुप्त** (द्वितीय) **विक्रमादित्य** द्वारा ३६३ ईसवी-संवत् के अन्त में (लगभग नवम्बर मे) स्थापित किया गया और इसकी गणना ३६४ ई० सं० से होने लगी। **अबूरिहाँ अलबेरूनी** ने सकेत दिया है कि शक-संवत् से २४१ वर्ष पश्चात् गुप्तसंवत् चला और **डॉ० फ्लीट** ने २४१ और २४२ को एक मानते हुए ७८+२४१=३१९ ई० (+२४२=३२० ई०) से गुप्तसंवत् के प्रचलन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया है, जिसपर सभी इतिहासकारों का मतैक्य है। हमारा **डॉ० फ्लीट** से गहरा मतभेद है। हमने स्पष्ट रूप से २४२ वर्षों के अन्तराल को **चष्टन** और **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** के मध्य में रखा है, और तदनुरूप दोनो का समय स्थिर किया है। **चष्टन** ने सन् १११–१२१ ईसवी-वर्ष मे राज्य किया था। अत, १११+२४२=३६३ ईसवी-वर्ष से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का अभ्युदय सचमुच स्वीकरणीय सत्य है। इस शृंखला मे **चष्टन-जयदामन्-रुद्रदामन्** का समय गिनकर लिखा है। क्या यह कम आश्चर्य की बात है कि **जयदामन्** के समवर्त्ती समय मे (सन् १२१–१३८ ई०) **गौतमीपुत्र शातकर्णि** का अभ्युदय (सन् १३१ ई०) हुआ! दु:ख की बात यह है कि **रुद्रदामन्** को जितना दीर्घ जीवन मिला, उतना दीर्घ जीवन गौतमीपुत्र **शातकर्णि** को नहीं मिला। यही कारण है कि **रुद्रदामन्** ने आन्ध्रनरेश **गौतमीपुत्र**, **पुलुमावी** और **शिवश्री स्वातिकर्ण**, तीन-तीन पीढियो को निरन्तर आच्छादित रखा। अत:, रुद्रदामन् और पुलुमावी की रोमाचकारी घटना : 'युद्ध' और 'विवाह-प्रसंग', अनुश्रुतिजन्य होने पर भी कालविज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती है। अत., अब यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है कि हमारी आन्ध्र-कालगणना पूर्णतया वैज्ञानिक और आप्त है।

जैनग्रन्थो में हम **'नरवाहन'** को, जो **हाल** और **शालिवाहन** द्वारा पराभूत हुआ था, **नहपान** अथवा **नरवाहन** मानकर **रुद्रदामन्** के समक्ष युद्धरत देखते हैं। इतिहास की कठोर भूमि मे कल्पना-वल्लरी के पनपने की सम्भावना महाशून्य के बराबर है। नरवाहन का युग २१ ईसवी-पूर्व मे समाप्त हो चुका था। कहाँ २१ ईसवी-पूर्व का समय और कहाँ १३८ ईसवी-वर्ष, जहाँ से **रुद्रदामन्** का समय आरम्भ होता है। एक सौ साठ वर्ष के व्यवधान को दूर किये विना **नरवाहन** तथा **रुद्रदामन्** को आमने-सामने खडा करने का कोई-न-कोई आधार तो जैन मुनियों ने ढूँढा ही होगा।

नरवाहन और उसके दामाद **उषवदात्त** को निर्वंश सिद्ध करने का श्रेय **रुददामन्** ने अपने एक शिलालेख द्वारा प्राप्त किया है। परन्तु, क्षहरातवंशीय नहपान और

उषवदात्त को रुद्रदामन् के समक्ष लाने में कालगत कई कठिनाइयाँ है, जिन्हें हम अन्यत्र प्रकट कर चुके है : नहपान (नखवाँ) ने अपने सम्राटो से सम्बद्ध शक-संवत् लिखा है, जो ६५ ईसवी से गिना जायगा। ईसवी-वर्ष ४२ + ६५ = १०७ के बाद दो-तीन वर्षो के अन्दर नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णि से पराजित होकर कथाशेष रह गया था। अत., रुद्रदामन् से काफी पहले नहपान की कहानी पुरानी पड़ चुकी थी। यहाँ हमने इसलिए उसका पुन स्मरण किया है कि चिप्टन और जयदामन् का समय ४२ + ७८ = १२० है। तब कनिष्क की कल्पना करना कठिन बात है, उसके क्षत्रप होने की बात तो बहुत दूर चली जाती है। ('सम्मेलन-पत्रिका'; चैत्र, भाद्रपद, १८९९ शक, पृ० १३४)।

इस प्रसंग मे हमे एक नई बात सूझ रही है। **साहसांक-सातवाहन-शूद्रक** की समकक्षता मे **वासुदेव** का नामोल्लेख हुआ है। यदि इन सबका शासनकाल थोड़ा अनुमित किया जाय, तो विचार करने के लिए आधारभूमि मिल जाती है :

सातवाहन हाल	साहसांक	विक्रमाक	वासुदेव
२१ ई० पू०—७८ ई०	६५—८० ई०	७८—९० ई०	६५—९२ ई० (शासनकाल)

अनुमान तो अनुमान ही है। **कनिष्क (कुषाणवंशीय) द्वितीय** को **साहसांक-विक्रमादित्य** द्वारा मुलतान और लोनी के समीप कोरूर-प्रदेश मे (जैसा कि **अबूरिहाँ अलबेरूनी** ने संकेत किया है) पराजय मिली और उसका पुत्र वासुदेव, जिसने भागवत-धर्म अंगीकार किया था, उसका उत्तराधिकारी बना, ऐसी ऐतिहासिक अनुश्रुति है। कनिष्क पुत्र वासुदेव ने २८ वर्ष राज्य किया होगा, यह भी केवल अनुमान ही है। यदि इस अनुमान को कही से शास्त्रीय (शब्द) प्रमाण मिल जाय, तो ऐतिहासिक कड़ियाँ बड़ी समीचीनता के साथ जुड़ जाती है। **वासुदेव** के क्षत्रप 'नहपान और उषवदात्त', अर्थात् क्षहरात-वंश का पूरा 'घटक' रुद्रदामन् का रोषपात्र बन जाता है। उषवदात्त की लेखतिथि शक-संवत् ४६ यथार्थ है और ९२ ईसवी से, अर्थात् वासुदेव-निधन से परिगणित है, तो ४६ + ९२ = १३८ ईसवी-वर्ष मे क्षहरात-वंश एवं रुद्रदामन् के संघर्ष को यथार्थता मिल सकती है।

[५]

आन्ध्रवंश के अभ्युदय की चर्चा के समान उसकी अवसान-चर्चा भी कम विसंवादात्मक नही है। पौराणिक सन्दर्भो को विश्वास मे न लेना एक बात है और उनके भ्रान्त अर्थ के सन्दोहन मे रुचि लेना और बात। यह तो मान लिया गया है कि **चण्डश्री** के पश्चात् पुलुमावी आन्ध्रवंश का अन्तिम राजा है।[१] बेलारी से मिलनेवाले अभिलेख से पुलुमावी के अस्तित्व की पुष्टि होती है। परन्तु, अकोला से मिलनेवाली मुद्राओ पर पुलुमावी के शासनकाल के ८वे वर्ष के उल्लेख से हमारा सन्तोष नही हुआ। निश्चयपूर्वक वे मुद्राएँ **चण्डश्री** की है, और उनपर अंकित ८वाँ वर्ष सप्तर्षि-संवत् का बोधक है। 'वायुपुराण' के अनुसार, सप्तर्षि-संवत् १७१० तक (केवल चार वर्ष) **चण्डश्री** ने शासन

१. **आन्ध्र सातवाहन-साम्राज्य का इतिहास : डॉ० चन्द्रभान पाण्डेय**, पृ० ७७।

किया, जिसकी पुष्टि उपलब्ध मुद्राओं से होती है। उसके पश्चात् सप्तर्षि-संवत् १७१७ मे सात वर्ष शासन करनेवाले पुलुमावी को मारकर चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्तवंश की नीव रखी। आन्ध्रवंश का इतिहास अपने अन्तिम चरण मे नितान्त परिवर्त्तनकारी सिद्ध हुआ है। इस परिवर्त्तन-चक्र को निम्नांकित चार प्रक्रियाओ मे देखा जा सकता है :

१. **मगध-सत्ता :** पुराण-परिशीलन से पता चलता है कि भारत मे दो तरह के शासक रहे है पहला, केन्द्रशासक, जो केवल पटना में रहकर भारत पर समग्र भाव से शासन करते थे; दूसरा, प्रादेशिक शासक, जो अपने प्रदेशों में सीमाधीन रहकर शासन करते थे और केन्द्रसत्ता को कर देते थे। इस द्वैध शासन-प्रणाली पर लिखना विषयान्तर होगा। अलबत्ता, यह स्मरण रखे बिना बात न बनेगी कि आन्ध्रशासक केवल प्रादेशिक राजा थे। म्रियमाण केन्द्रशासक ब्राह्मण थे और आन्ध्रनरेश भी ब्राह्मण थे। केन्द्रशासक ब्राह्मण तथा प्रदेश-शासक ब्राह्मण—इनमे रक्त-सम्बन्ध की सम्भावना से इनकार नही किया जा सकता। इसीलिए, बिना युद्ध के अथवा बिना किसी चामत्कारिक घटना के, चुपचाप मगध-सत्ता आन्ध्रशासको को मिल गई। यही कारण है, 'वायुपुराण' मे **काण्वायन नारायण-सुशर्मा** के पश्चात् *यज्ञश्री* का नाम शृंखलागत हो जाता है, जो अपने वश का २७वाँ राजा है। जो इतिहासवेत्ता काण्वायन-वश के पतन के बाद आध्रवंश का आरम्भ मानते हैं, वे सरासर भ्रम मे है। आन्ध्रनरेश केवल चार पीढ़ी, लगभग ४७ वर्ष, मगध-सत्ता का उपभोग कर सके।

२. **सवत्-परिवर्त्तन .** आन्ध्रनरेशो का समस्त शासकीय वर्ष-सकेत कश्मीरानुमत सप्तर्षि-सवत् मे दिया गया है; परन्तु **यज्ञश्री शातकर्णि** के मगधनरेश बनते ही उसके हेतु सवत्-परिवर्त्तन कर लिया गया है—यह विस्मय की बात है। इस प्रकार, कश्मीर-सम्प्रदाय से पटना-सम्प्रदाय मे सन्दर्भान्तिरण होने पर भी कालक्षति नही हुई है। **पुलुमावी** ने केवल सात वर्ष ही राज्य किया, यह पुराणेतर ग्रन्थो से भी सिद्ध हो जाता है।

३ **अन्तिम वर्ष .** जिस प्रकार आन्ध्रवंश की उदयतिथि ३७९ ईसवी-पूर्व का वर्ष निश्चित है, उसी प्रकार आन्ध्रवश के पतन की तिथि भी २७७ ईसवी-सवत् निश्चित है, जिसका ज्ञापक सन्दर्भ इस प्रकार है .

समा· शतानि चत्वारि पञ्च षड् वै तथैव च।
आन्ध्राणां संस्थिता· पञ्च तेषां वंश समाः पुन· ॥ (वायुपु०, ९९।३५२)

इसका अर्थ इस प्रकार है : ४००+५+६+५=४१६वे वर्ष मे आन्ध्रसत्ता का अन्त हो गया। यहाँ यह प्रश्न होना नितान्त नैसर्गिक है कि सारणी मे अन्तिम वर्ष सप्तर्षि-संवत् १७१६ लिखा है; पर १७१६ और ४१६ मे सगति कहाँ है? प्रश्न ठीक है। यहाँ सप्तर्षि-चक्र की पूरी एक गणना छोड़ दी गई है, जिसे सह-गणित करने पर समीचीन समाधान मिल जायगा। यथा : २७००+१७१६=[४] ४१६ सप्तर्षि-सवत् मे आन्ध्र-सत्ता का क्षय निश्चितरूपेण कथ्य है, जो २७७ ईसवी-वर्ष के बराबर है। इस पुराण-पाठ का कूटार्थ भी है। यद्यपि इन पंक्तियों का लेखक कालसन्दर्भ के कूटार्थ-सन्दोहन मे

विश्वास नहीं करता, तथापि इसके एक कूटार्थ की चर्चा सुनने में आती है, जिसका प्रकाशन इन पंक्तियों का लेखक अपना धर्म मानता है। यथा : शतानि चत्वारि=४००; शतानि पञ्च=५००; शतानि षड् वै=६००; शतानि पञ्च=५०० (२०००); समा.पुन.= २०००+२०००=४०००; पञ्च षड् वै=५+६=११, सस्थिता पञ्च ११×५=५५ (४०५५ सप्तर्षि-संवत्)। इस प्रकार की गणना-शैली में भ्रम का रह जाना स्वाभाविक है। इसमें भी दो वर्षों की भूल है। यथा : ईसवी-वर्ष २७७=४०५३ सप्तर्षि-संवत्, अथवा ४०५५ सप्तर्षि-संवत्=२७९ ईसवी-वर्ष। यह दूसरी गणना-पद्धति केवल मनोरंजन के लिए है, ज्ञानार्जन के लिए नहीं।

४. **सत्ता-हस्तान्तरण :** गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने पुलुमावी की हत्या करके मगध-सत्ता हथिया ली, यह एक सत्य है। हम देख रहे हैं कि जिस 'बिन्दु' तक पहुँचकर पुराणशास्त्र मौन हो जाते हैं, वहीं से 'कलियुग-राजवृत्तान्त' नाम से विख्यात संस्कृत का इतिहास-ग्रन्थ मुखर हो उठा है। पुलुमावी के सप्तवर्षीय शासनकाल का सूचक पुराण-सन्दर्भ इस प्रकार है : 'पुलोमाः सप्तवर्षाणि ततश्चैषां भविष्यति।' (मत्स्यपुराण), जिसका समर्थन 'कलियुग-राज वृत्तान्त' से हो जाता है

वर्षैस्तु सप्तभिः प्राप्तं राज्यं वीराग्रणीरसौ।
तत्पुत्रं तु पुलोमानं विनिहत्य नृपार्भकम्।
आन्ध्रेभ्यो मागधं राज्यं प्रसह्यापहरिष्यति ॥ (६।७)

राज्य-परिवर्त्तन के कारण काल-शृंखला मे कही भी त्रुटि नही आने पाई है। हम जानते है—नन्दवंश की नौ पीढियो ने राज्य किया था, हालाँकि वंश एकमेव था, परन्तु पीढ़ियो के परिवर्त्तन-काल में विप्लव की घटनाओ की गूँज पुराणों में सुनाई पड़ती है। यह विप्लवकाल कहीं १० वर्ष का है, कहीं १२ वर्ष का और कही १६ वर्ष का है। कुल मिलाकर, ३८ वर्ष विप्लव-काल के लिए अलग से गिने गये है। वैसी विप्लव-कालगणना यहाँ उल्लिखित नहीं है, हालाँकि यहाँ भी 'विप्लव' किसी स्तर पर कम न था।

निष्कर्षतः, २७७ ईसवी-संवत् मे मगध-सत्ता में वंश-परिवर्त्तन हो गया। परन्तु, इस बीच ३० वर्षो के लिए **विश्वस्फणि** आ टपका और दुर्घट कड़ी के रूप में इतिहास-शृंखला से जुड़ गया। वह क्लीब राजा था। उसका कोई परिवार या वंशधर न था। उसने गंगा में डूबकर आत्महत्या कर ली। तत्पश्चात् गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त प्रथम ने ३०७ ईसवी-संवत् मे मगध-सत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया।

उपसंहार :

आन्ध्रवंश के बारे मे दो-एक विचारणीय बातें रह गई है, जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित है : **आन्ध्र-शक :** बिहार के ख्यातनामा सांवत्सरिक विद्वान् **डॉ० देवसहाय त्रिवेद** ने 'आन्ध्र-शक' का विषय उठाया है और उसकी समारम्भ-तिथि के लिए ५५० ईसवी-पूर्व का वर्ष सुझाया है। यहाँ दो प्रश्न उठते है : (क) क्या 'आन्ध्र-शक' नाम की कोई

परम्परा है ? (ख) क्या उसका समारम्भ-वर्ष ५५० ईसवी-पूर्व यथार्थ है ? हम इन दोनों प्रश्नों के समाधायक सिद्धान्त के बारे मे पूर्णतया नास्तिवादी है ।

(क) भारत मे 'आन्ध्र-शक' नाम की कोई परम्परा नही है। विक्रम-पूर्ववर्त्ती वर्षों मे (५७ ई० पू० से भी पहले) स्थापित अनेक संवत्सरों से हम परिचित है। यथा : सप्तर्षि-संवत्, कलि-संवत्, नन्द-सवत्, शक-सवत् (६२२ ई० पू०), हर्ष-संवत्, मौर्य-संवत्, गुप्त-संवत् (सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित), साहसाक-संवत् (१४६ ई० पू०) और विक्रमांक-संवत् (११० ई० पू०)। यहाँ वीरनिर्वाण-संवत् तथा बुद्धनिर्वाण-संवत् की चर्चा हमने जान-बूझकर नही की; क्योकि वे कालगणनाएँ अत्यन्त विसंवादात्मक है। इस विस्तृत कालावधि मे (३१०१ ई० पू० से ५७ ई० पू०) तथा विश्वस्त संवत्सर-परम्परा में 'आन्ध्र-शक' की काल-परम्परा हमारे देखने मे नही आई।

(ख) यह सर्वविदित है कि भारत पर विदेशी आक्रामको मे अग्रणी राजा **साइरस** ईरान का राजा (५५५-५३० ईसवी-पूर्व) था, जिसने ५५० ईसवी-पूर्व मे भारत पर आक्रमण किया था और उसी वर्ष ५५० ई० पू० से अपने शक-संवत् की स्थापना की थी। यूनानी लेखक **मेगास्थनीज** ने एक स्थान पर लिखा है 'शक-संवत् १२० मे मगध का राजा (नन्द) था।' हमने इसी लेख के दूसरे प्रकरण एवं **खारवेलश्री** के प्रकरण मे लिखा है कि नवम नन्द का अभिषेक सप्तर्षि-संवत् १०१५ = ४३० ईसवी-पूर्व मे हुआ था। गणना बड़ी स्पष्ट है · ५५० − १२० = ४३० ईसवी-पूर्व मे नन्द का 'अभिषेक' **मेगास्थनीज** का सूच्य था, जो पुराणसम्मत है। केवल इसी एकमात्र उदाहरण को छोड़ अन्य कही साइरस-शक का सन्दर्भ नही मिलता। इस साइरस-शक के समतल पर आन्ध्र-शक की निराधार प्रतिष्ठा करने का साहस केवल **डॉ० त्रिवेद** ही कर सकते है। ई० पू० ३७६ मे होनेवाले आन्ध्र-राजा सिमुक को किसी तरह ५५० ई० पू० तक पहुँचाना कल्पनालोक मे ही सम्भव है, इतिहास-जगत् मे नही। दूसरी बात, शक-स्थापना करनेवाले तेजस्वी व्यक्तियो मे **शातकर्णि** (प्रथम), **हाल** तथा **गौतमीपुत्र शातकर्णि** का नाम सम्भाव्य माना जा सकता है; परन्तु इनका महान् व्यक्तित्व इतिहास की इतस्ततः की कड़ियो से जुड़ा हुआ है, जिन्हे समूचे इतिहास को अपदस्थ किये विना ५५० ईसवी-पूर्व मे नही रखा जा सकता।

कालावधि आन्ध्रवंश का राज्यारम्भ ३७६ ईसवी-पूर्व से हुआ और उसका अन्त ईसवी-वर्ष २७७ मे। कुल मिलाकर, आन्ध्रवंश के ३० राजाओ ने ६५२ वर्ष राज्य किया; जो प्रति व्यक्ति के लिए २० वर्ष, २ मास और २४ दिन होते है. यह काल-गणना इतनी दुर्वह नही है, जिसे असम्भव मानना आवश्यक हो। केवल हाल के शासन-काल पर अँगुली उठाई जा सकती है, परन्तु भारतीय इतिहास मे सौ-सौ वर्ष शासन करनेवाले नरपतियो की न्यूनता नही है, अतः हाल का शासनकाल असमाधेय नही।

△ ए-१०, अमर कॉलोनी, लाजपतनगर
नई दिल्ली : ११००२४

पु-स्वन्-लान्

(पितामह का पौत्र को उपदेश)

अनु० : डॉ० भिक्षु कौण्डिन्य

'पु-स्वन्-लान्'[1] (पु=पितामह, स्वन्=उपदेश/शिक्षा, लान्=पौत्र, यानी 'पितामह का पौत्र को उपदेश') पोथी की नई-पुरानी पाण्डुलिपियाँ खाम्ति-गाँवों के प्राय: सभी विहारों में मिलती हैं। विहार के अन्तेवासी इसे कण्ठस्थ करते है। इस पोथी के उत्तर में दूसरी पोथी 'लान्-थिन्-पु'[2] (लान्=पौत्र, थिन्=अनुशासन, पु=पितामह, यानी 'पौत्र का पितामह को अनुशासन' भी प्राप्त होती है। 'पु-स्वन्-लान्' के सारांश के आधार पर इन पंक्तियो के लेखक ने एक विशद शोधलेख प्रस्तुत किया था, जिसका 'वन्यजाति'[3] में प्रकाशन हुआ है।

'पु-स्वन्-लान्' की सूक्तियाँ खाम्ति-समाज में अतिशय लोकप्रिय हैं। इन्हें प्रत्येक वयोवृद्ध स्त्री-पुरुष और तरुण-तरुणियाँ भी कण्ठस्थ रखते हैं। इनका छन्दोमय रूप होने से यह सहज ही स्मृति में रह सकती हैं। स्त्रियाँ खाम्ति-लिपि की पोथियाँ नहीं पढ सकती हैं, किन्तु वे 'पु-स्वन्-लान्' के वाक्यों को अवश्य ही कण्ठस्थ रखती हैं। 'पु-स्वन्-लान्' के वाक्यों को 'खाम्-फाङ' (मुहावरे) के तौर पर भी कहा जाता है। यह छोटी-सी पोथी साहित्यिक गुणों से भी भरपूर है। इसमे ऐसी सुन्दर और यथोचित उपमाएँ हैं कि वे मन को छू लेती हैं। पढ़ने से पाठक आसानी से मर्म को समझ सकते हैं। इस पोथी का खाम्ति-भाषा-साहित्य में प्रमुख स्थान है।

---

१. इसकी बहुत-सी प्रतियाँ मिलती हैं। जिस पाण्डुलिपि के आधार पर इसे प्रस्तुत किया गया है, वह चौखाम बौद्ध-विहार में प्राप्त हुई है, जिसका विवरण इस प्रकार है : 'लिक्-पु-स्वन्-लान् : ग्रन्थाकार : चौड़ाई ३३ सें० मी०; लम्बाई : ४६ सें० मी०; पृ० सं० १०; प्रतिलिपिकार : चावसाङ उपानन्ता; प्रतिलिपि-काल : सन् १९६३ ई०; पाण्डुलिपि पूर्ण है। पत्र : आधुनिक, दाता का नाम : चाव फुङ वयोन्, चौखाम।

२. 'लिक्-लान्-थिन्-पु' : ग्रन्थाकार : चौड़ाई २१ सें० मी०, लम्बाई : ३१ सें० मी०; पृ० सं० ४२, प्रतिलिपिकार : ×, प्रतिलिपि-काल : १३३८ साकालेत-सं०; पाण्डुलिपि पूर्ण है। पत्र : आधुनिक; दाता : चाव् ब्वइ केतअङ मिङ लाङ, चौखाम। यह पाण्डुलिपि चौखाम-विहार में सुरक्षित है।

३. प्र० : भारतीय आदिम जाति- सेवक-संघ, नई दिल्ली, अक्टूबर, १९७५ ई०, वर्ष २-३, अंक ४, पृ० २८–३२।

'पु-स्वन्-लान्' पोथी छोटे-छोटे अट्ठारह परिच्छेदों मे विभक्त है। परिच्छेद १ मे पोथी का महत्त्व समझाया गया है, साथ ही इसमें मनुष्य-मात्र के लिए पारगत होने की भी बातें है। परिच्छेद २ मे दैनन्दिन जीवन-सम्बन्धी विषयो की चर्चा की गई है और सँभल-कर चलने-फिरने की बातें हैं। परिच्छेद ३ में आलसी न बनकर कामकाजी बनने और माँ-बाप की सेवा तथा सम्बन्धियों का आदर करने की शिक्षाएँ हैं। परिच्छेद ४ मे मन की कुप्रवृत्तियो को दूर करने की शिक्षाएँ है। परिच्छेद ५ मे अभक्ष्य वस्तुओ की इच्छा न करने की शिक्षाएँ हैं और ताश, कौडी आदि खेलो से दूर रहने की कथा है। परिच्छेद ६ में बताया गया है कि कलुषित हृदय का मनुष्य कभी सत्य नही बोलता। उससे मित्रता नहीं रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, गुरु-वचन पर भी प्रकाश डाला गया है। परिच्छेद ७ मे दृष्टान्त-युक्त बाते कही गई है। जैसे 'नाहक कुत्ते के भौकने पर उसका मालिक भी उससे नाराज होता है।' परिच्छेद ८, ९, १० और ११ मे स्त्री-पुरुष के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। परिच्छेद १२ मे नौकर और मालिक के सम्बन्ध की शिक्षाएँ है। परिच्छेद १३ मे पारमिताएँ, दान और धर्म-सम्बन्धी विषयो की चर्चा है। इनके पालन करने से निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है। परिच्छेद १४–१८ मे अनित्यता को, अनेक प्रकार से उपमा देकर, समझाया गया है। जाति, जरा, व्याधि और मरण से मनुष्यमात्र ग्रस्त है। इससे कोई भी प्राणी छुटकारा नही पा सकता। इनसे तो एकमात्र निर्वाण ही छुटकारा दिला सकता है। 'पु-स्वन्-लान्' मे, कुछ मात्रा में पालि-शब्दों का भी प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार के पालि-प्रभावित ५४ शब्दो की अनुक्रमणी पोथी के अन्त मे दी गई है।

मूल नागरी-लिप्यन्तर और हिन्दी-अनुवाद

मूल	हिन्दी
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स	उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध को नमस्कार है।
[१]	[१]
नाइले पित्राङ मिनान्।	यह अति पुरानी बात है।
खो लिक् पु-स्वन-लान्।	पितामह का पौत्र को उपदेश है।
खाम् वान् नाङ नाम् अय।	यह गुड़ जैसा मीठा है।
आउ किन् खाउ ने पाक्।	इसके पान से तन-मन मे,
वान् लाक् सान् ताङ खिङ।	(इसका प्रभाव) व्याप्त हो जाता है।
लुम्फा-मू चाइ यिङ,	पृथ्वी पर रहनेवाले पुरुष-स्त्री.
हिङ पि हौँ त्वङ मात्।	इसे हजार साल तक याद रखे।
खाम् स्वन् लान् पु लात्।	यह पितामह का पौत्र को उपदेश है।
क्वइ मात् बाइ फौँ मान्ता वान्।	जानने की इच्छा हो तो,
साङ खाँ च्येङ ताक्ने।	सुनिए, मैं कहता हूँ।
फे पान् स्वक् क् त्वङ चाम् याउ।	मनुष्य-मात्र को पारगत होना चाहिए।

पिन् कुन् सु खाक् काइ ।	धनवान् होना अच्छा है ।
मि माक् वांइ खेन् (खिन्) त्वन् ।	निर्धन होने पर लोग निन्दा करते हैं ।
हाइ याक् पिन् केले ।	आलसी मत बनो ।
थ्वम् से हिक् फु खान् हाइना हौं मे काङ ।	अपना धनखेत बड़ा बनाओ ।
खात् साङ या खाङ नोइ (नुन्) ।	गृहस्थों को, 'क्लान्त हुआ हूँ', ऐसा नही कहना चाहिए ।
का विन् त्वङ हम् सिन् ।	जहाँ भी आओ, अपने शील को मत भूलो ।
या खाङ तिन् काउ उन् ।	'आज काम करने की इच्छा नही है', ऐसा मत कहो ।
फान् फ्याउ चाङ पिन् डिव् ।	अधिक निर्धन होने पर चिन्ता मे फँस जाओगे ।
स्वि फा खा खात् फुङ लाङ ।	पहनने के वस्त्र फट जाने पर (नगी) पीठ निकल आयगी ।
लुम्फा पिन् केले ।	लोग तुम्हारा मजाक उड़ायेंगे ।
थिङ चाइ हि सिङ खो सात्-सात् ।	स्त्री-पुरुष सभी तुम पर हँसेंगे ।
हौं हान् तो स्वक् लिन् ।	हर कोई तुम्हे तुच्छ समझकर मजाक करेगा ।
तेन् खाम् का न्वि खिङको. मिते न म ।	ऐसी अवस्था मे, लोग तुम्हारे ऊपर से लात मारते हुए जायेंगे ।
गान् खाम् पु... ऐ....!	हे मेरे प्रिय पौत्र....!

[२]	[२]
साम् च्वङ लिङ लाइ थ्येम् ।	और एक बात कहता हूँ ।
लाक् त्येम् वाइ नौं हाङ ।	हृदय से चालाक बनो ।
पाइ ताङ या नाप् लेन् ।	कही जाने पर दौड़-धूप न मचाओ ।
सिन् थुक् मेन् त्येङ तिन् ।	पैर मे काँटा गड़ जायगा ।
का ना हौं लिव् लाङ ।	कही जाने से पहले पीछे देखो ।
लुम् साङ चाङ ताक् नाइ ।	भूल से छूटी तुम्हारी चीजे मिलेंगी ।
हो पि या त्वइ नाम् ।	पहली बाढ़ के समय नदी मे मत तैरो ।
तिङ चाम् ङिक् मा साव् ।	गहरे पानी मे घडियाल रहते है ।
ला पि या ताइ खो ।	वर्षा के अन्त में पुल पर मत चढो ।
खो न्वक् चाङ तुक् ख्वइ ।	वह पुल टूटकर गिर सकता है ।
लाम् सुङ या नाप् खिन् ।	ऊँचे वृक्ष पर मत चढो ।
लुन्ते चाङ पिन् खिन् ।	फिसल जाने से दुर्घटना हो सकती है ।
खा माइ न्वक् ताइ सुङ ।	शाखा सूखी हो सकती है ।
फि पुङ हुम् ङाम् से माव् च्येङ ।	हरे पत्तों से ढके रहने से पता नही चलता ।
माव् थिप् लाङ इकना ।	आगे-पीछे बिना विचारे (काम न करो) ।

चाङ यिप् खा माइ न्वक्-तुक ताइ—
खाम् नाम् हौँ नु ब्वन् ।
पिन् पाइ अन् चाङ नोइ (नुञ्) ।
पाइ नी हौँ पा फा ।
स्वि चा हाम् कुन् चुन् ।
खिङ लान् सु मि नाम् ।
मा चाम् हौँ नाइ है ।
हङ खिन् खिङ या फाक् ।
लाक् नाक् काङ कुप् कुङ ।
से-नात् खाव् किन् हा ।
बुम् चा हक कान् लिम् ।
नाप् तो या फान् त्येङ चौँ पिन् ।
डिन् सी ला त्येङ खिङ तावान् ।
लुम्फा थाङ तो नौँ ।
मि चौँ नाङ कान् सिङ तावान् ।
या आव् ताइ चाम् लू ।

हु वाङ हङ चौँ हाव् ।
खा नाङ नाइ खाम् स्वन् ।
पा म्वन् खिङ हौँ मात् तावान् ।
लान् खाम् पु . ऐ. !

सूखी हुई लकड़ी पर भार पड़ने से—
टूटकर गिर जायगी ।
नदी पार होते समय काष्ठो को देखना चाहिए।
दूसरों के जाने पर ही बाद में जाना चाहिए ।
कही जाने पर अपना हथियार साथ रखो ।
हिंसक बाघ और डाकू मिल सकते हैं ।
हमारी हिंसा करनेवाले अधिक है ।
जब वह सम्मुख आये, डटकर सामना करो ।
शरीर से हथियार को अलग मत रखो ।
तलवार, धनुष-बाण,
बन्दूक और ढाल रखो ।
तीक्ष्ण भाले का डण्डा चिकना हो ।
नाहक जीव-जन्तुओ को हानि न पहुँचाओ ।
पचशील को अपने शरीर में रखो ।
सभी प्राणियो के प्रति प्रेम रखो ।
हमारा जीवन जैसा है, सभी का वैसा है,
उन्हें नष्ट मत करो ।
ये सभी बाते अपने मन मे धारण करो ।
यही मैं तुम्हे उपदेश दे रहा हूँ ।
इन सभी बातों को गाँठ बाँध लो ।
हे मेरे प्रिय पौत्र...!

[३]

म्वइ च्वङ लिङ खाक् काइ ।
खी माइ इक् तुक्खा ।
हङ हिन् यू मे नी ।
तिव् पि या हौँ लु ।
त्वन् खिन् या तिन् ला ।
लुक् फाक् फा चिव् खान् ।
लुक् याव् या साव् ङाव् ।
म्वि आव् माइ सि फान् सुक्ना ।
चिव् खान् हौँ नित् ले ।
हेत् (हित्) ते चाङ पिन् कुन् ।
हाइ काङ इक् ना पिङ ।

आलसी न बनो, कामकाजी बनो ।
व्याधि और दु.ख से बचो ।
अपने घर को सुव्यवस्थित रखना चाहिएं ।
हर साल उसकी देखरेख करो ।
सोते से जल्दी जागो ।
बिस्तर से शीघ्र उठो ।
बिस्तर पर बैठे न रहो ।
चार प्रकार की वस्तुएँ[1] लेकर मुँह धोओ ।
शीघ्र ही टहलने जाओ ।
तब तुम मनुष्य कहलाओगे ।
तब तुम्हारा खेत अधिक होगा ।

---

1. दतवन, पानी, अँगोछा और जीभी ।

हिङ नौं सू हू च्येङ ।
सुन् लुङ पुक् कु च्वङ ।
खिङ लिङ हुङ हिन् ये ।
पो मे चाव् ताङ स्वङ ।
प्वङ चौं त्वप् केचु खान लुम् ।
या त्वि माव् अय म्वइ ।
ख्वत् हइ कू नौं वान् ।
पो च्वइ इक् लुङ आव् ।
चौं खाव् हौं हाक् खिङ ।
तुन् वान् च्वि पो मे ।
पि इक् न्वङ फे हौं चेत् पान् ।
या पिन् पेत् वाङ यान् ।
फौं हान् हौं च्वइ हुङ ।
वाङ पान् म्येङ कू च्वङ ।
च्वइ हुङ मा थ्येम् हयेङ ।
साम् लिङ पिन् तान् खो ।
ो चौं हौं हु ल्येङ ।
के चू पुन् ताङ वाइ ।
खाक् काइ हौं फो तेन् (तिन्) ।
या पिन् प्येत् लुङ लुम् ।
त्वङ किम् खे खान् लुम् ।
कुन् चाम् कान् यू खाङ ।
ती लाङ तो फोइ (पुञ्) खा ।
हिन् तौं कुप् हिन् न्वि ।
खिङ कित्र सुङ न्वप् हौं ।
वान् मि फाक् इक् थ्वि ।
सुङ चा म्वि पान् किन् ।
चौं काङ लुम् सेन् वा ।
माचाक् खिङ को ।
कुन् लिङ फित् लाइ को ।
पिन् हुम् पो तुप् लाइ ।
को लिङ थुक् लाइ कुन् ।
हिन-हिन् मु पि न्वङ ।
हाव् प्येङ पिन् चाङ हाक् ।

खेतों में जाकर देखा करो ।
बाग मे नाना प्रकार के फल के पौधे लगाओ ।
फल-फूल हमारा आहार होता है ।
माँ-बाप दो हैं ।
उनका उपकार न भूलो ।
उनकी अवमानना न करो ।
हर रोज उनकी सेवा करो ।
कुटुम्ब—मामा-मामी सभी का
पवित्र मन से आदर करो,
और अपने ज्ञाति-वंशों का भी ।
सात कुल तक अपने ज्ञाति को न भूलो ।
उन्हें कभी अलग मत समझो ।
दूसरे लोग भी तब तुम्हारी मदद करेंगे ।
सब कुछ बाँटकर खाओ ।
तब दुःख मे पडने पर तुम्हारी मदद करेंगे ।
तुम्हारी बात पर दूसरे यदि हँसे,
तो उसे जानने की चेष्टा करो ।
दूसरे ने तुम्हारा उपकार किया हो,
तो उसकी भी मदद करो ।
उसे कभी मत भूलो ।
मन मे गाँठ बाँधकर रखो ।
अपने पडोसियो को,
जिनके घर की छत एक साथ मिली हो,
अपने घर से उत्तर दिशा के पडोसी को,
नमक-मिर्च आदि माँगने पर दे दो ।
सब्जी आदि बनाने पर
सभी को बाँटकर खाना ।
अपने मन को संकुचित न होने दो ।
सभी की मदद करो ।
दूसरों के साथ झगडनेवाले को
अन्य लोग मार डालेंगे ।
यदि सभी के साथ मित्रता हो,
तो सभी लोग तुम्हारे मित्र होंगे ।
हम दूसरे से स्नेह करे, तो दूसरे भी हमसे
स्नेह करेंगे ।

हङ तान् ताक् थाम् कान् ।	दूसरे लोग तुम्हारा कुशल-मंगल पूछेंगे ।
हाव् हाक् पिन् चुम् प्येङ ।	दूसरे से प्रेम करें, तो वे भी हमसे प्रेम करेंगे ।
थान् खा हेङ हू डाइ ।	किसी से सहायता चाहने पर वह मदद करेगा ।
हाव् चाङ पिन् चाङ चा ।	यदि हम दूसरो की हिंसा करेंगे, तो वे भी हमारी हिंसा करेंगे ।
खा खात् यो खाइ ख्वन् ।	खराब होने पर लोग दुर्नाम गायेंगे ।
पिन् चा हाउ या फुन् ।	दूसरे के गाली देने पर भी तुम चुप रहो ।
हुन् चौं कान् खान् पे ।	मन को काबू मे रखो ।
साङ पिन् फुन् हाव् चा ।	यदि दूसरों के साथ झगडोगे,
नाइ च्वि खा फु स्वप् ।	तो लोग पागल कहेंगे ।
ताङ स्वङ नाइ याव् ।	दोनो ही पागल होते हैं ।
लान् खाम् पु ...ऐ.... !	हे मेरे प्रिय पौत्र !
[४]	[४]
च्वङ लिङ खो खार्नथ उत् चौ ।	अपने मन को काबू मे रखो ।
फ्वङ सौ या हौं पिङ ।	दुष्प्रवृत्ति को आने मत दो ।
लोफा कान् खान् नाइ ।	लोभ को न बढ़ाओ ।
या हौ माइ चौ हाव ।	मन को दु.ख मत पहुँचाओ ।
तोसा कान् उत्से ।	द्वेष को आने मत दो ।
था ने ने चा चेत् ।	नाहक क्रोध न करो ।
मोहा नाप् सिङ भि ।	मोह अन्धकार होता है ।
हौ हू ति को थाइ ।	निर्लज्ज मत बनो ।
च्वङ नाङ नाइ नेमा ।	मैं इसी प्रकार की बातें कर रहा हूँ ।
ख्वङ पा खिक् चात् ।	इससे आजीवन दु.ख भोगना पड़ता है ।
थिन् से हौं खान् लुम् ।	इन्द्रियों का शीघ्र दमन करो ।
कुम् ना काव् स्वन् चौं ।	सिर झुकाकर मन मे सोच लो ।
हेत् (हिच्) नाङ त्येम् खो स्येङ ।	पुल जैसा सीधा होता है, मनुष्य को वैसा ही सीधा होना चाहिए ।
क्येम् फ्येङ त्वङ पिङ्ञा ।	ज्ञान की बाते मन मे रखो ।
सुप् खाम् या नाप् लात् ।	नाहक नही बोलना चाहिए ।
हौ हु वात् साम् पिङ ।	'त्रिशरण'[1] को समझ लेना चाहिए ।

१. त्रिशरण = धर्म, संघ और बुद्ध ।

पाङ ना थाव्‌ना के ताङ लाङ ।
को चौं मुन् सूं तो ।
या लो फाट फ्वङ थाम् ।
पाङना सिया ना साम् पा ।
फ्रा-ला-साङखा चाउ ।
को याम् नाङ ताक् खा ।
कुम् ना त्येङ खुप् पाङ ।
स्वि फा या नुङ याव् ।
वाव् फ्याव् पिन् चाङ खा ।
हेत् (हिच्) नौं हौं किङ हाङ ।
हो चाट या यो तो ।
पिप् यु यिङ तो स्वि ।
युम् फि ना हुम् लुम् ।
या वाव् सुप् उप् साप् ।
पिन् मा लाव् चाप् या खान् अन् ।
हुङ च्विना क्वङ लुङ ।
पुङ चौं यु हाङ हाव् यिन्-यिन् ।
साफो क्वङ लुङ केन् (किञ्) नाट नाङ ।
का माव् आव् माइ हाइ ।
त्वङ नाक् ताक् मो स्वि नौं ।
म्वङ तो त्वङ पो तिट पिङ-पिङ ।
सिङ लुङ अक् काङ मिङ डिन् सिङ ।
तो स्वि साङ नौं पाकोः ।
केन् (किञ्) आन् उप्पामा डाइ कान् ।
मान् लाक् याङ लिप् याङ ने फौं ।
पाइ मा वाङ सेन् (सिञ्) मौं ग्वङ याट ।
म्वट तो मा हान् ताङ किन् फाइ मा तो ।
हो हा फाट ताङ ह्येङ ।
लिप् याट अक् याम् नान् ।
काम् आव् पान् तो चौं नाइ टाङ ।
कुन् मि मो फू चाट ।
सिट वाङ हुङ लुम् लिङ ।
साङ लाक पिन् खौं हू मा थाम् ।
ताम् गि चौं नात् हौं ।

वयोवृद्धों का आदर करो ।
तब श्रद्धा-सम्पन्न हो सकोगे ।
किसी को जल्दी नहीं पूछना चाहिए ।
तुम्हारे सम्मुख तीन गुरु हैं ।
बुद्ध, धर्म और संघ का आदर करो ।
डरकर रहना चाहिए ।
सिर झुकाकर नमस्कार करना चाहिए ।
लम्बे वस्त्र नहीं पहनने चाहिए ।
इसे देखकर लोग निन्दा करेंगे ।
किसी काम को पूर्ण रूप से करो ।
जानता हूँ, कहकर गर्व न करो ।
बाघ की तरह चुप रहो ।
घनी झाड़ी में छुपकर रहो ।
अनावश्यक बातें न करो ।
बिना पूछे अपने-आप मत बोलो ।
ढोल जैसा बनो ।
स्थिर बनकर रहो ।
ढोल वैसा ही होता है ।
ढोल को डण्डे से मारने पर,
वह बज उठता है ।
बजाने पर वह ढोल
ध्वनित होकर गूँज उठता है ।
जंगल में रहनेवाला बाघ ।
ये दो उपमाएँ हैं ।
बाघ अपने पैर के नाखून जमीन पर दबाकर
जंगल में चलते समय लड़खड़ाता है ।
जब खाने की चीज आती है ।
तब वह अपनी पूरी ताकत से झपटता है ।
तभी वह अपने नाखूनों को निकालता है ।
तब जन्तु को आसानी से पकड़ लेता है ।
ज्ञानी-मानी लोग,
अपने मन को गुप्त रखते हैं ।
जानने की इच्छा से यदि कोई पूछे,
तो जो जानते हो, उसे बता दो ।

पिङ नान् चाङ पिङ लिक् वा कुन् फू हू।
म्वन् लु ना मि आइ।
लुम्फा पिन् चुम् यो।
फ्वइ सिङ लुप् क्वङ खो।
लात् य्वङ को मिते नाम्।
लांन् खाम् पु. ऐ !

[५]

लाइ चिङ त्वङ ताङ मुन्।
खुप् म्वि थुन् याव् चो पान् कुन्।
या नाप् लिन् हो चौं।
पिङ नौं सू हू च्येङ।
ताङ किन् खिङ माव् आप्।
या हौं चाप् प्येत् खिङ।
फाइ मे या त्वन् चा।
पा खिङ च्वम् ख्वङ लिङ याङ खो।
प्वइ चिङ फिङ त्वङ काइ।
हौं पाइ वाइ से-से।
माक्-हप् खिङ ताइ याव्।
साव् से का पाइ लिम्।
मि डिन् माव् चाङ चाइ कोः।

कु पाइ फा म्वन् ख्वङ।
मि खा माव् चाङ प्येङ कोः।
हाम् किन हयेङ फुङ पाइ।
मि लुक् माव् ने स्वन्।
लाक् त्वन् चाङ फित् पिन्।
मि वी खाइ कोः माव् चाङ लिङ।
का ताक् सिङ हाइ नाइ।
मि माक् साम् चे ने।
पिन् केले चाङ सोइ (सिन्ा)।
मि मे माव् चाङ हाक् को।
का ताक् फाक् यान् कान्।
के मान् माव् चाङ खाम्।
हाम् नाइ आम् पिन् खो।

उसी को ज्ञानी आदमी कहा जाता है।
तब तुम्हें कोई लज्जा नहीं होगी।
सभी लोग तुम्हारी प्रशसा करेंगे।
लोग तुम्हें मीठे स्वर से पुकारेंगे।
सभी लोग अच्छा कहेंगे।
हे मेरे प्रिय पौत्र....!

[५]

और, एक दान की बात है।
जब पूर्णायु आदमी बनोगे।
तब चंचल-चपल मत बनो।
इन बातो को समझ लो।
अखाद्य-अभक्ष्य वस्तुओं पर,
अपना मन मत लगाओ।
ताश, कौड़ी मत छुओ।
इससे सम्पत्ति की हानि होती है।
बुरी बातो को,
पीछे की ओर ढकेल दो।
'माक्-हप्' जैसा जूआ-खेल मत खेलो।
यदि खेलोगे, तो खराब हो जाओगे।
रुपयों का व्यवहार ठीक न रहा,
तो घाटा होगा।

लोग आकर माँग लेंगे।
नौकरों से स्नेह न करोगे,
तो उससे काम नहीं ले पाओगे।
अपने पुत्र को अच्छी शिक्षा न दी,
तो वह लड़का बोझ बनेगा।
अपने बैल, भैंस की देखभाल न हुई,
तो सभी नष्ट हो जायेंगे।
धनवान् होने पर भी,
लोग तुमसे द्वेष करेंगे।
अपनी पत्नी को प्यार न किया,
तो वह अलग होकर चली जायगी।
गाँव के प्रमुख की बात न जानने पर,
कोई फायदा नहीं होगा।

पिन् खुन् माव् हाक् खा ।
कुपा कु डिन् चाङ ।
पिन् खा माव् याम् खुन ।
हाम् किन् मुन् फु चाउ ।
थाम्मासात् माव् को· चाङ सुम् खाम् ।
फाम्-फाम् ना आइ पिन् ।
पिन् चेप माव् सौँ या ।
थें ला ये मेमा ।
फित् पिन् ले माव् से ।
ने-ने वाइ ताङ सोइ (सुञा्) ।
थाहाम् चाउ क्येङ मेत् ।
आ पेत् ख्वङ तुक् फान् ।
सिया लिङ तापे ।
विने हौँ हु चाङ ।
तापे चौँ सिया ।
या विन् ना त्वङ किम् ।
सिया माव् क्येङ नि ।
तिव् पि या मा कौँ ।
कुन् किन् इम् नाम् लाउ ।
या पाइ खाउ तो फुन् ।
फु लाक् सिन् चौँ डो ।
या म्वि लो नाप् लिन् ।
मुक् स्वि इक् ताम् ङा ।
या ला लि पाइ प्वङ ।
फु चाङ पेत् खाम् फाङ ।
या ङुम् ङाम् नाप् फाइ ।
कुन् सुप् नाम् तान् नाइ ।
या थ्वम् नाम् खाम् खाइ मान् खान् ।
कुन् उप् साप् यो तो ।
फ्वङ को या म्वि कौँ ।
कुन् चौँ हात् फु चा ।
या पाइ ता खात् खाम् ।
चाङ चा इक् स्वि क्येम् ।
या फ्वङ वाभ नाप् फाङ ।

राजा यदि नौकर से प्रेम न करे,
तो सभी उसके शत्रु होंगे ।
नौकर होकर भी राजा को नहीं मानेंगे ।
तब राजा को भूखों मरना होगा ।
न्याय-विचार न समझना व्यर्थ है ।
अज्ञान व्यक्ति को लज्जित होना पड़ता है ।
चोट में औषध न लगाने पर,
वह दिन-व-दिन बढती ही जाती है ।
दोषी होकर यदि दण्ड न चुकाये,
तो लोग तुम्हारी घात मे रहेंगे ।
धार्मिक अर्हत् भिक्षु,
पापकर्म से दूर रहते हैं ।
गुरु और शिष्य को
विनय का ज्ञान होना चाहिए ।
शिष्य यदि गुरु से काम लेता है,
तो उसे लौटकर मत देखो ।
यदि गुरु कुकर्मी हो,
तो उसके पास मत जाओ ।
मदिरा-पान करनेवाले के साथ,
दोस्ती का हाथ मत बढ़ाओ ।
चोर का मन टेढ़ा होता है,
उसके साथ मजाक मत करो ।
व्याधो और मछुओंका —
साथ मत दो ।
झूठ बोलनेवाले के,
पास मत जाओ ।
बकबादी के साथ लगकर,
उसकी बातों पर भरोसा मत करो ।
जो अपनी प्रशंसा करता हो,
उसके पास भी मत जाओ ।
क्रोधी आदमी के पास
जाकर मत बोलो ।
हाथी और बाघ को,
जाकर धक्का मत दो ।

कुन् चौं सुन् कुत् मिव् ।	जो आदमी धोखेबाज है,
या पाइ क्येव् प्येङ कान् ।	उसके साथ मित्रता न करो ।
हान् चो त्येङ क्वङ काम् ।	(इस बात को) आजीवन मन मे रखो ।
निन् नाप् काइ फाइ त्येङ ।	अँधेरे मे चिराग लो,
थाङ फाइ क्वइ ता,	सँभलकर पग बढाओ ।
लान् खाम् पु... ऐ. .. !	हे मेरे प्रिय पौत्र . !
[६]	[६]
प्वइ चिङ ताङ खो डिङ ।	और दूसरी बाते सुनो,
पु ताक् लात् सिङ ह्रीं मीं त्वङ ।	मैं पितामह सभी बाते कह देता हूँ ।
फु चा सिन् चौं नाम् ।	कलुषित हृदय का मनुष्य,
साफो. आम् लात् स्वि ।	कभी सत्य नही बोलता है ।
सुप् वान् नाङ नाम् फिङ ।	मुँह से तो बाते शहद जैसी मीठी करता है,
चौं कुत् वाइ नौं थे ।	पर हृदय से कुटिल होता है ।
स्वि लौं पिन् पित् कान् ।	जो लडाई-झगडा करता है,
कुन् नान खान् हु च्येङ ।	उसे अच्छी तरह विचार कर लो,
मान् खान् हि या च्वम् ।	उसे कभी स्वीकार मत करो ।
च्वम् क्वम् पेत् वाङ से ।	मानोगे, तो तुमपर सारी परेशानियाँ पड़ेंगी ।
को फु मेत् कुन् नो ।	धार्मिक मनुष्य हो तो,
तिव् पि साङ स्वन् हौं ।	वह अच्छी बाते सिखा देगा ।
तापे इक् सिया ।	गुरु के सदुपदेश,
हुङ ना लात् सिङ क्येम् ।	अच्छे नही लगते है ।
अक् च्वि यिङ फाक् खुम् ।	गुरु का उपदेश कडवी सब्जी जैसी लगती है ।
नि चौं का ग्वइ फुम् आम् नाइ ।	गुरु-वचन अच्छे न लगने पर भी वे अच्छे है ।
हित् हात् ना सिङ या ।	गुरु-वचन तो गालियाँ जैसे लगते हैं ।
नाङ खा वा डिन् थाङ ।	उसे खराब वचन मानते है ।
म्वक् लात् साङ ने स्वन् ।	गुरु जो वचन कहते है,
त्वङ खाम् या वेन् (विञा्) पेत् ।	उन्हे कभी मत भूलो ।
त्वङ किम् पुक् वाङ साइ ।	इन बातो को समझ लो ।
हु हान् चिङ ताङ लुङ ।	बाद मे तुम्हे समझ मे आयेंगी ।
खो चौं त्वङ सुङ मा ।	सदुपदेश की बाते,
ता थाम्मासात् खुम् खेव (खिव्) यिङ ताम् मा ।	धर्म-नीतियाँ कडवी नीम जैसी होती है ।
पिङ ञासि चाङ च्येङ थिप् हान् ।	ज्ञानी इसे समझ लें ।
हान् चो आम् ल्वन् वाम् ।	ज़ीवन मे अच्छी बाते कहने से पहले,

खाम् नौं चौं लिक् तान् ।
खाम् लिन् खाम् फाङ आम् हन् पुम् ।
कुम् लात् प्वंम्-प्वंम् ।
नाङ हि पिन् ताक् युम् खाम् मान् ।

सोच-समझकर कहना चाहिए ।
धोखेबाज तुम्हे नाना प्रकार से फुसलायगा,
मगर उसकी बातों पर भरोसा मत करो ।
धोखेबाज अपनी बातों को प्रमाणित करना चाहता है ।

हिङ हान् क्येम् वाङ हङ ।
आन् नौं नि निक् तान् ।
सो चान् इक् लाउ ख्वङ ।
या लित् फित् चाङ कान् ।
माव् हान् हिक् मान् चिङ ।
माव्-मि हिक् मान् हू ।
हौं पिन् लु काङ नाइ ।

मन मे विवेचना करने के बाद ही,
बोलना अच्छा होता है ।
दूसरे की वस्तुएँ विना पूछे लेने पर
बाद में झगड़ा होगा ।
जो न देखने पर भी 'देखा है' कहता है,
न जानने पर भी 'जानता हूँ' कहता है,
और दूसरे की हानि के लिए ऐसा जो करता है—

नाङ नाइ याङ पो-लो ।
चाङ क्वक् को हौं याक् ।
साफोः कुन् चान् लुम् ।
यिङ नाङ हुम् पिङ निव् ।
माङ को तिन् लिन् ।
माव् पिङ खाम् मे थ्येङ ।
माङ कुन् कुत् मौं हाङ ।
चाङ फ्येत् मे खाम् फाम् ।
माङ को थाव् से नाइ ।
ताङ आइ माव् उत् कान् ।
स्वि मु यिङ फु तुम् ।
माव् खुम् त्वङ पिङ थाम् ।
चाइ ङयेक् वाव् ख्वङ-ख्वङ नौं हो ।
सिङ खो त्येक् नान् मो सात्-सात् ।
माङ को चो पाइ थाव् त्वङ माव् साव् खुन् सौं ।
उत् कान् ख्योक् लाम्-लाम् ।
सिन् थाम् वाइ नौं हाङ ।
पिङ नाइ कुन् सेन् (सिञ्) यु तौं फा चाम् ।
नि चा लाक् लाइ पिङ ।
फु थाव् थुन् ख्वङ कुन् ।

वह भी कम घातक नहीं है ।
दूसरे को भ्रष्ट पथ पर ले जाना ही—
बुरे लोगो का उद्देश्य होता है ।
बुरे विचार एक जैसे होते है ।
कुछ लोग बहुत सत्यवादी होते हैं ।
उसकी बातें कभी डिगती नही है ।
कुछ लोग मन से कुटिल होते है ।
वे लोग झूठे होते है ।
कुछ लोग वृद्ध होने पर भी,
लज्जा क्या है, नही जानते है ।
वृद्ध होने पर युवा-स्वभाव को नही छोड़ते हैं ।
वे नियमों का उल्लंघन करते है ।
अंग-प्रत्यंगों को हिला-हिलाकर हँसते हैं ।
हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते है ।
कुछ लोग वृद्ध न होने पर भी,
अपने मन को काबू में रखते है ।
वे शीलवान् होते है ।
पृथ्वी के मनुष्यों की यही नीति है ।
कुछ अच्छे होते हैं, कुछ बुरे ।
दो वृद्ध लोगों में—

चॉ लुन् इक् चौं तिङ ।
कुन् हिङ कोः स्वङ को ।
लोः योः इक् चौं निम् ।
माङ को हाङ के थाव् थो यो ।
चॉ मु पिन् लुक् अन् ।
तो खिङ थावॅ से पाव् ।
माव् म्वि चान् हाङ काव् ङिन् नी ।

भाङ फ्वङ हाङ को. थाव् चौं को. थाव् ।
खाव् च्वङ ल्वङ स्वङ साम् च्वम् कान् ।
नाइ पाम् वाति को चौं तिङ त्वन् च्वन् ।
माव् हित् चाइ वाइ ख्वन् उत् कान् ।
प्वइ चिङ लुक् अन् न्वइ ।
खात् ख्वइ तो ताङ मुन् ।
सुप् वा हाङ चाङ थुन् च्वन् ङ्वन् ।
लाक् ख्वन् हु कु ल्वङ ।
चौं निम् यिङ कुन् थाव् ।
चाव खाम् त्येङ काम् सिन् ।
माङ फ्वङ चाम् हाङ कोः नुम् चौं
कोः नुम् ।
नाइ चाम् वाति कोः फु आन् यों फु ।

खुम् फ्वम् ल्वङ स्वङ ताङ ।
मित् मिङ नाङ तो ङु ।
मुन् सिन् मुन् थाम् भाव् चाप् हाङ ।
पाङ लाङ यु काङ नाइ ।
तुन् ते ताम् हो चौं ।
तो फौं खिङ मान् प्वइ हुम् ङिन् ।
कुन् नि को चौं मेत् ।
चात् ना माव् तुक् फान् ।
प्येक् ताइ माव खि यिव् ।
पान् निव् का हेन् (हिन्ग्) पुन् ।
ताङ मुन् खिङ कुसो ।
फो वाइ कू सेल (सिन्ग्) खा ।

एक का मन अच्छा है, (तो) दूसरे का बुरा ।
दो छोटे लड़को मे—
लड़का होने पर भी उसका मन स्थिर है ।
कुछ लोगों के वृद्ध होने पर भी,
उनका मन छोटे बच्चो जैसा होता है ।
वे नाहक वृद्ध हुए है ।
अपने शरीर को अच्छा सोचते है, खराब की
ओर ध्यान नही देते ।

कुछ का शरीर वृद्ध होता है, और मन भी ।
इस प्रकार से दो भागों मे बाँट सकते हैं ।
स्थिर चित्त के लोगो का,
शरीर और चित्त चंचल नही होता है।
एक छोटे बच्चे को लो ।
उसका मन शान्त होता है ।
कहता है, मै इतनी उम्र का हुआ हूँ ।
वह सभी प्रकार से समझदार होता है ।
उसका चित्त वृद्ध जैसा होता है ।
सुबह-शाम वह शील का पालन करता है ।
कुछ का तो शरीर भी छोटा होता है, और
मन भी कोमल होता है ।
कुछ का चित्त अच्छा होता है, और
कुछ का बुरा ।

ऐसे लोग दोनो मार्गो को अपनाते हैं ।
कुछ का मन साँप की भाँति कुटिल है ।
उनके मन मे शील नही होता है ।
कुछ अकर्मण्य होते है ।
पहली बात है अपना कर्म ।
शरीर और वचन एक होता है,
धार्मिक श्रद्धावान् व्यक्ति का ।
मरने पर वह सुमार्ग पाता है ।
वह अच्छे रास्ते में चला जाता है ।
उसने जो सत्कर्म किया है ।
वह जन्म-जन्मान्तर सत्कर्म करता है ।
सभी लोकों मे वह प्रसन्न रहता है ।

खिङ चे चिम् फि कुन् ।	वह सब प्रकार से सम्पन्न होता है ।
पिन् नाङ निन् मुन् म्वि सिप् हा ।	वह पूर्णिमा का चन्द्र जैसा होता है ।
कुन् चौँ सोइ (सुञ्) कुत् मिव् चाम् ।	अकर्मण्य, शील-रहित मनुष्य,
ख्वन् किव् चान् मिङ फान् ।	प्रेत बनता है ।
म्वङ ख्वइ सु ङालाइ ।	मरने के बाद वह नरकगामी होता है ।
माइ माइ मुक् फाइ लुङ क्वङ हाङ ।	वहाँ दावाग्नि मे वह जलता रहेगा ।
मि नाइ ल्वङ साक् साम् ।	यही संसार की नीति है ।
कुन साङ चान् लुङ ताम् यिङ चाइ ।	धरती पर रहनेवाले स्त्री-पुरुष,
माङ को हाङ खेन् (खिञ्) यिङ डाइ फी ।	कुछ अप्सरा और देवता जैसे होते है,
चौँ माव् नि कुत् मिव् ।	उनका मन खराब होता है ।
माङ कुन् फ्वक् हाङ चा ।	कुछ देखने मे असुन्दर होते है,
ख्वत् मान् खिङ सिला फ्येङ खिङ ।	मगर उनका चित्त साफ होता है ।
सुप् वा हाङ चा सिन् चौँ नाम् ।	कुछ का शरीर भी काला और मन भी काला होता है,
लाम्-लाम् पौँ सि चा ।	मगर धर्म मे ही रहता है ।
फ्वङ को चाम् हाङ को नी ।	कुछ का शरीर भी अच्छा होता है ।
तिव् पि ख्वत् **सिन थाम्** माव् फाक् ।	वह धार्मिक होता है, हर महीना, वर्ष-भर, धर्म करता है ।
फ्वङ चाम् हाङ को हाइ ।	कुछ का शरीर अच्छा नही होता और मन भी खराब होता है ।
चाइ यु चे मिङ खेन् (खिञ्) ।	वह मरने के बाद नरक मे जाता है ।
माङ को केन् (किञ्) क्वइ मि ।	कुछ लोग धनवान् होते हैं ।
चौँ माव् हि आव् तुन् ।	किन्तु, उनका चित्त संकुचित होता है ।
निव् ख्वङ माव् खौँ लु ।	जो कृपण होता है, दान-पुण्य नही करता है,
यु का नान् ताइ नाइ ।	वह यों ही मर जाता है ।
माङ को केन् (किञ्) कुन् फान् ।	कुछ तो बहुत निर्धन होते है,
चौँ मान् हाक् कुसो ।	किन्तु,उनका चित्त स्वच्छ होता है ।
फ्वङ चाम् मि को मि ।	कुछ बहुत धनवान् होते है ।
चौँ हि चोइ (चुञ्) थिप् डिन् ।	वे अच्छे मन से सोचते है ।
मि ख्वङ माव् हाक् वाइ ।	सम्पत्ति के प्रति आसक्त नही रहते है ।
काइ साङ ल्वङ ताङ मुन् ।	वे दान-पुण्य करते है ।
फ्वङ चाम् फान् को. फान् ।	कुछ तो बहुत ही निर्धन होते है,
चौँ यान् खिङ आलु ।	किन्तु वे धर्म-कर्म नही करते ।

तिव् पि माव् खात् साङ।	साल हो या महीना, कभी सुकर्म नहीं करते।
पाङ् लाङ सिङ पान् कुन्।	वे इसी प्रकार मर जाते हैं।
का नाइ पु ने स्वन्।	मैं पितामह तुम्हे उपदेश देता हूँ।
त्वङ खाम् केन् (किन्) ति चाँ।-	मेरी बाते ध्यान मे रखो।
मौ लान् लाक् त्वङ वाइ।	हे पौत्र! इन बातो को मन मे धारण कर रखो।
खाक् काइ साङखा नि क्वइ ता।	आलसी मत बनो।
लान् खाम् पु. ऐ. .!	हे मेरे प्रिय पौत्र. .!
[७]	[७]
लाइ चिङ त्वङ खाम् पु।	और दूसरी तरह की बातें हैं।
त्वङ युम् वाइ नौं चौं।	उन्हे अच्छी तरह समझो।
पिन् वा मित्-फा किन् तिव् वान्।	हथियारो (मित्-फा) को हर रोज पत्थर पर रगडने से,
खुम् माङ सिङ ये पाव्।	वे घिसते जाते है।
फान् साङ कोः आम् खाव्।	उससे काटने पर भी नही काट सकते।
सिङ डाव् का थिङ सान्।	घिसते हुए हथियार क्षीण हो जाते है।
कुन् फु वो-वो को सुप् नाम्।	जिस व्यक्ति के मुँह से अधिक बाते निकलती है,
खाम् माव् याम् पिन् चान्।	उसकी बातों पर कोई ध्यान नही देते।
हान् साङ नाप् तो वा।	कोई भी चीज देखने पर बकबक करता है।
पिन् आम् त्वि का नोइ खाम् मान्।	उसकी बाते कोई नही मानता।
लुम्फा हिक् खाम् पाव्।	उसकी बाते निरर्थक होती है।
फौं आम् आव् साक् खी।	लोग उसपर रत्ती-भर भी विश्वास नही करते।
पिन् मा नाप् तो हाव्।	कुत्ते के नाहक भौंकने पर,
फु चाव् डाव् काव् डिन् चाङ।	उसका मालिक भी उससे नाराज होता है।
पुन्-पुन् सिन् चौं माव्।	उसका मन चंचल होता है।
पिन् खे लाव् माव् याव्।	दूसरे के कहने पर भी नही मानता है।
हेत् (हिच्) साङ तो पाइ हङ।	दूसरे के आग्रह करने पर भी नही बोलता है।
त्वङ चौं काव् हाम् नाइ।	अपने मन को कष्ट देने से कुछ फल नही होता।
लाक् ते माव् पाइ नौं।	वह कही भी नही निकल सकता है।
फौं हान् हिक् कुन् खान्।	लोग उसे आलसी कहते है।

तिव् पि पिन् माव् हौँ ।	आलसी को साल-भर माँगने पर भी कुछ नहीं देते है ।
साङ खौँ हेत् (हिच्) थुक् को, प्वङ कान् चाम् ।	यदि वैसे लोगो से मित्रता करना चाहो तो,
ल्वङ नाङ नाइ स्वङ पिङ ।	उनके दो भाग है—
लिङ थिङ सिन् चाँ ङो ।	एक महामूर्ख होता है ।
माव् फिंव् या पाइ लिन् ।	उसके पास जाकर बाते मत करो ।
हौँ हु ङिन् स्वन् चौँ ।	समझकर मन मे धारण करो ।
नाक् ते या ल्वन् क्येङ ।	भारी काम मत करो ।
वाङ चौँ हौँ थुक् येङ ।	अच्छी तरह समझ लो ।
नाक् माव् हौँ हुम् खिङ ।	हलके और भारी को समान करो ।
यिङ नाइ फ्वङ हि लुङ ।	बेड़े और नाव की तरह करो ।
साम् लिङ उन् ते याङ मे मि ।	अधिक सरल होना भी अच्छा नही होता ।
ताङ खि हु मा थ्येङ ।	दुःख से चिन्ता उत्पन्न होती है ।
हेत् (हिच्) नौँ माव् सु याव् ।	बहुत करने पर भी काम समाप्त नही होता ।
तो थाव् चो वाइ पान् ।	ऐसे ही वृद्ध होकर मरता है ।
ल्वङ कुसो हाम् नाइ ।	सत्कर्म कुछ नही होगा ।
वान् ताइ खाव् ताङ याक् ।	मरनेवाले कष्ट भोगते है ।
खि फिव् (फेव्) माव् ति याप् से नाइ ।	चिन्तन करने पर भी फल नहीं मिलता है ।
मु यिङ वोङ केन् (किञ्) चाउ-फा ।	भगवान् बुद्ध की उपमा लो ।
सिक्या नाङ खुङ न्वि ताव् लात् ।	इन्द्र देवता ने उनसे कहा था ।
आव् पिङ तिङ खाइ खाम् लात् मुन् ।	वीणा बजाकर बाते समझाई है ।
या हौँ युम् उन् इक् ख्येङ् फ्येव् ।	कठोर भी मत बनो, और सरल भी मत बनो ।
साम् लिङ नित् ते हौँ च्येव् नि ।	भविष्य कैसे अच्छा हो सकता है, सोचो ।
पिन् पिङ मे पाइ साथे ख्वइ पिन् फि आम् प्वक् ।	सौदागर की छोटी स्त्री मरने के बाद फिर नहीं लौटी है ।
नान् फ्येव् माव् ति फिङ ।	आलसी मत बनो ।
का आन् काइ आम् वाइ कु ङिङ पिन् हाम् ।	जल्दी से कर्म को निबटा नहीं लोगे, तो फल नही मिलेगा ।
अक् च्वि हु पिङ्ञा ।	प्रज्ञावान् बनकर नाम कमाओ ।
पान् सुन् माव् हौँ अक फौँ ङिन् ।	ज्ञानी आदमी सभी कुछ गुप्त रखता है ।
कु म्वि कु यिप् खाम् यिव् मे ।	हर रोज वह सँभालकर रखता है ।
खे हेत् (हिच्) नाङ पिङ कुन् लान् लाक् ।	वह अकेले बहुत कार्य करता है ।

थ्वङ साङ पिन् हुका ।	किन्तु मूर्ख, दूसरों के समझाने पर भी,
लुम् ख्वइ सिङ खान्था काङ नाइ ।	ऐसे ही मरकर नष्ट हो जाता है ।
लु क्वप् ल्वङ पिङ्ञा यिव् नान् ।	ज्ञान को दरसाने पर विनाश को प्राप्त करता है ।
मि नाइ पिङ्ञा तान् पिन् लात् ।	ज्ञानी लोगो ने इस प्रकार कहा है ।
हान् फिव (फेव्) को चाङ लु ।	निर्भय होने पर भी—
सु हौं हु पिङ क्येङ ।	वह बाद में नष्ट होता है ।
उन् फिव् को माव् नो ।	गरम होना भी अच्छा नही होता ।
ताङ खि चिङमा ख्वन् ।	उससे बाधाएँ पास आती है ।
म्वि नाइ खान् नान् सु हुम् खिङ ।	सभी बाते बराबर सोच लो ।
मु यिङ फु चाङ हाक् फ्येङ कार्न् तावान् ।	सभी के प्रति मैत्री रखो ।
या हौं चाइ हे का फुम् फा ।	बाल के बराबर भी गड़बड़ी का काम मत करो ।
आव् पिङ ल्नि् ख्वइ खाम् डि फेन् क्वइ ता ।	तराजू की तरह बराबर रखो ।
लान् खाम् पु ऐ..!	हे मेरे प्रिय पौत्र..!
[८]	[८]
प्वइ चिङ ताङ खो डिङ ।	और भी दूसरी बाते हैं ।
पु ताक् लात् सिङ हौं मौं त्वङ ।	मैं पितामह कह रहा हूँ, तुम समझ लो ।
वा नोइ (न्वुञ्) पुक् मु च्वइ नाङ यिङ ।	यह स्त्रियो की बाते है ।
हिङ पि हौं काइ ङे ।	स्त्रियों को हजार साल तक पारगता होना चाहिए ।
या पाइ चिन् तिन् खिन् हिन् पिन् ।	दूसरे के घर नाहक नही जाना चाहिए ।
डिन चौं लिङ हेत् (हिच्) नेम् ।	अपने मन को काबू मे रखो ।
या नाप् लात् सुन् नाम् ।	बातूनी नही होना चाहिए ।
फ्वङ याम् हाक् पो मे ।	पिता-माता का आदर करना चाहिए ।
हुक् कोइ (कुञ्) हौं हेत् (हिच्) काइ ।	कातने-बुनने के कार्य मे (स्त्रियो को) पारगता होना चाहिए ।
था पाङ वाइ ल्वङ नौं हान् साङ ।	किसी कार्य को कल के लिए नही छोड़ना चाहिए ।
चाव् खाम् हौं याम फो ।	अपने पति का आदर करना चाहिए ।
को ताइ नाङ चाव् पाङ ।	पति से डरकर रहना, जैसे नौकर रहता है ।
सुप् वान् लात् ग्वङ-ग्वङ ।	मधुर वाणी में धीरे-धीरे बोलना चाहिए ।
क्वइ कुम् ना क्वम् पाङ ।	सिर झुकाकर धीरे से चलना चाहिए ।
हाक् पो चाव् मे चाव् ताङ स्वङ ।	सास-ससुर को प्यार करो ।

या हौँ म्वङ् चा चेत् (चिच्)।
पिङ नौँ हौँ हु च्वत्।
या वेन् (विञ्) ख्वत् हाङ पा।
सुप् म्वि हिक् ताव् हत् थिङ हिन्।

लिन् चु तिङ ताङ किन् हौँ लुम्।
खे सिङ त्येङ थाम् फ्वङ।
अइ-अइ तान् लाइ काम्।
निङ या नाम् कुप् फाइ।
खान् वाह हौँ कु ल्वङ।
सिन् थाम् मान् नौँ हाङ।
खात् साङ ल्वङ् ताङ मुन्।
फु नाङ नाइ नि त्वन्।
म्वन् हुङ कु यिङ मेत् वा नाम्।
लान् खाम् पु... ऐ.. !

[९]

माङ कुन् चाम्।
त्वप् लिप् पिप्-पिप् तान् सुप् नाम्।
खा लात् खिन् सोइ (सुञ्) खाम्।
ङुम् डाम् माक् नो वा।
प्येङ फो माव् चाङ हाक्।
लाक् त्येम् ल्वङ् ताङ खेन् (खिञ्)।
ना पो चाव् मे चाव् सिङ चान्।
हिन् नान् माव् हु म्वि।
सिन् थाम् माव् चाप् हाङ।
पाङ लाङ सुक् काङ नाइ।
ताना माव् चाङ पान्।
चौँ तान् मिक् त्वन् फिङ।

नाङ यिङ फु नाङ नाइ।
हौँ पाइ वाइ वाङ यान्।
प्येक् वा हाङ खेन् (खिञ्) नाङ साव् फि कोः।
तिव् पि या मा कौँ ते ना।
लान् खाम् पु....ऐ.... !

उन्हें गुस्सा मत आने दो।
सभी बातें अच्छी तरह समझो।
अपने पिता-माता की उपेक्षा न करो।
बुलाने पर जल्दी से उनके पास जाना चाहिए।

जाकर खाना-पीना देना चाहिए।
उनसे अच्छी तरह पूछताछ कर लो।
उनसे धीरे-धीरे बोलना चाहिए।
चाय, पानी, आग सभी कुछ
संग्रह कर रख दो।
शील का पालन करो।
दान-दक्षिणा करनेवाले
लोग बहुत अच्छे होते है।
ऐसी स्त्रियाँ धार्मिक होती हैं।
हे मेरे प्रिय पौत्र....!

[९]

कुछ स्त्रियाँ तो
नाहक बोलती रहती है।
दूसरों की निन्दा करती हैं।
बातों को बढ़ा-चढाकर कहती है।
पति से प्यार करना नही जानती हैं।
बुरी बाते सोचती रहती हैं।
सास-ससुर को गालियाँ देती है।
घर-मे हर रोज झगड़ा करती हैं।
ऐसी स्त्रियो में शील नहीं होता।
वह नाहक जीवित रहती है।
दान-पुण्य नही जानती है।
ऐसी स्त्रियाँ आँख रहते हुए भी अन्धी होती है।

ऐसी स्त्रियों को,
महत्त्व न दो।
अप्सरा जैसी सुन्दरी होने पर भी,
उनके पास कभी मत जाओ।
हे मेरे प्रिय पौत्र.... !

[१०]

खुन् चाइ को. तो नाङ नाइ ।
माव् खाक् काइ साव् नाइ ।
ना हाइ इक् लुङ ना ।
माव् किव् चा खान् लिप् ।
खो हिन् माव् खात् म्याङ ।
मा वान् माङ हाइ-हाइ ।
फुक् सात् प्वङ पिन् हु ।
माव् नि चु खात् फे ।
फा हिन् कान् तुक् याक् ।
तुक् फाक् खात् पिन् वाङ ।
फुन् ख्वत् त्वि खुम्-खुम् ।
फुन् याम् च्वत् कुती ।
प्वि आन् लाङखा लु पुत् पाङ ।
इत् चेम् हङ थिङ चान् ।
त्वङ का इक् ताङ खाइ ।
माव् यु मिङ ख्वङ लिङ पिन् को नाइ ।
माव् चु चाङ फो तेन् (तिञ्) ।
किन् इम् याव् लुङ हिन् ।
चिन् तिन् ले काङ मान् ।
तान् नौं इक् सिङ खो साङ-साङ ।

माङ-माङ मु कुन् नाम् ।
फा माइ फिक् कुम् हो ।
म्वि खो स्वि वाङ पिन् ।
तिव् पि म्वक् लाव् हि ।
माव् यु म्वि पो किन् ।
खिङ लिन् मुन् ल्वङ् चा ।
सुम् पा लु ताङ हाङ् ।
वाङ् यान् पेत् (पिच्) पो मे ।
माव् मि सु पान् वे लिङ नु हान् ।
माव् हाक् ङाव् मे प्येङ ।
म्वङ ञिङ् ना कुङ् च्वङ् ।
त्वि माव् आम् स्वत् नेन् (निञ्) ।

[१०]

पुरुष भी ऐसे ही होते हैं ।
काम करना नहीं चाहते है ।
खेत मे काम करना नहीं चाहते है ।
महा आलसी होते है ।
घर मे क्या है, उसे नही देखते ।
भाण्ड-पात्र टूट जाते है ।
चटाई आदि फटी जा रही हैं ।
सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है ।
घर का टट्टर टूटकर गिर रहा है ।
घर की लकड़ियाँ टूटी जा रही हैं ।
वर्षा होने पर घर मे पानी गिरता है ।
वर्षा का पानी फैल जाता है ।
छत के टूटने से,
घर का भीतर-बाहर भीग जाता है ।
व्यापार-वाणिज्य करने के लिए भी—
वह रुपया खर्च करने से डरता है ।
उन्नति की बाते नही सोचता है ।
भात खाने के बाद घर से चला जाता है ।
गाँव मे घूमता-फिरता है ।
जहाँ कही भी वह हँसी-मजाक मे ही रहता है ।

जहाँ अधिक लोग रहते है,
वहाँ सिर पर चादर बाँधकर हँसता है ।
सभी लोगो के बीच हँसता है ।
हर वक्त वह मदिरा पीता रहता है ।
'सन्तुष्ट हूँ', ऐसा नहीं कहता है ।
ताश, कौड़ी, जूआ खेलने मे लगा रहता है ।
सम्पत्ति और शरीर को नष्ट करता है ।
माँ-बाप को त्याग देता है ।
माँ-बाप की देखरेख नही करता है ।
अपनी स्त्री से प्यार नही करता है ।
स्त्री के कुछ कहने पर गुस्सा करता है ।
पत्नी को अपनी नही सोचता है ।

फु नौं हाङ् खेन् (खिञ्) लो पाइ पान् ।	दूसरे की सुन्दर बेटी को देखनें पर उसे छेड़ता है ।
त्वङ् ताना-सिला वाङ् यान् ।	दान-पुण्य की भावना नहीं रखता है ।
त्येव् पान् नाम् क्याङ् यो ।	हमेशा आलसी बना रहता है ।
लाक् ल्येम् खिङ् पिङ्ञा ।	प्रज्ञावान् होने की विधि को,
माव् खौं का पाइ स्वन् ।	सीखना नही चाहता है ।
सिला मेत् कोः माव् खा चा ।	शील-धर्म से भी अपनी सहायता नही करता है।
ञा आम् त्वि मान् ।	नियम-नीति का पालन नही करता हैं ।
कुन् नान् को खाइ युक् ।	ऐसे लोग अच्छे नही होते है ।
डिन् ङा चुत् मो चौं ।	ज्ञान कुछ भी नही होता है ।
या नाप् ला पाइ प्वङ् ।	ऐसे लोगों के साथ मत रहो ।
त्वङ् आव् नाङ् काव् लात् तावान् ।	मेरी कही हुई बातों को अच्छी तरह समझ लो ।
लान् खाम् पु....ऐ ... !	हे मेरे प्रिय पौत्र.... !

[११]

तान् नाइ केन् (किञ्) ति चौं पु लात् ।	मैं सच बातें कह रहा हूँ ।
हौं मौं पुक् अम् वाइ नौं चौं ।	इन्हे सँभालकर मन में रखो ।
फौं याम् या नाप् लात् ।	दूसरे के पूछने पर मत कहो ।
प्वइ चिङ खिङ लान् ।	हमसे द्वेष करनेवाले बहुत होते है ।
या कौं यु पिन् वान् ।	उनके पास मत जाओ ।
ङाव् मे काव् खाम् ह्वो ।	अपनी स्त्री के साथ सोते हुए,
या खे तो स्वक् लिन् ।	उससे मजाक मत करो ।
याङ नाइ हु डिन् का पिन् खेन (खिञ्) ।	वह यदि तुम्हारे मन की बाते जान लेगी, तो बाद मे परेशानी होगी ।
नाप् आन् थुन् चेत् (चिच्) कुन् ।	सात प्रकार की स्त्रियाँ होती है ।
चौं लुन् इक् चौं तिङ ।	अच्छी भी होती हैं, और बुरे स्वभाव की भी।
आन् तिं क्येम् सि को ।	इनमे सच्चरित्रा चार प्रकार की होती हैं ।
पिक् पो माङ मि फुन् ।	जो मारने पर भी गुस्सा नही करती ।
फु हौं चाम् साम् कुन् ।	दुश्चरित्र स्त्रियाँ तीन प्रकार की है ।
चौं लुन् नाङ तो लिङ ।	उनका चित्त बन्दर जैसा होता है ।
यिङ चाइ लुक् अक् त्वङ ।	वे अपने गर्भ से जो-सन्तान जनती हैं,
न्वङ च्वि ख्येक् लान् सु हांङ मान् ।	हमारा शत्रु होती है ।
ख्रो चिङ हेत् (हिच्) से लुम् ।	सम्पत्ति के साथ मजाक करती है ।

नाप् फित् पिन् मे स्वङ।	दूसरे के यहाँ क्रन्दन करती है।
मि स्वङ क्वप् सुक् काव् को. मि।	अपनी सन्तान होने के कारण अपने को ही कष्ट होता है।
माङ कुन् का पाइ का।	दूसरे लोग व्यापार-वाणिज्य के लिए जाते है।
डव् वाइ फा खाइ से को: मि।	दूसरे देशों मे जाते रहते हैं।
माङ को माव् नु हान्।	कुछ तो किसी भी बात का ध्यान नही रखते है।
र्चा तान् प्येत् पो मे को: मि।	अपने माँ-बाप को त्यागते हैं।
यिङ साव् को: नाङ नाइ।	स्त्रियाँ भी ऐसी होती हैं।
काइ ङे केन् (किन्) नान् कुन।	सेवा करनेवाले अच्छे लोग विरले होते है।
माङ को सिन् चौं माव्।	कुछ का मन खोखला होता है।
आम् आव् खाम् पो मे।	माँ-बाप की बाते नही मानते है।
ने स्वन् लात् से पाव्।	उपदेश देने पर भी जिनका सुधार नही होता।
लु तो काव् आइ कुन् को. मिते नाम्।	इससे अपने-आपको ही लज्जा होती है।
लान् खाम् पु.. .ए... !	हे मेरे प्रिय पौत्र.. .....!
[१२]	[१२]
खा को: केन् (किन्) नि को।	नौकर से भी डरना चाहिए।
हो चौं कुत् नौं हाङ।	उसका मन मलिन रहता है।
नान् कुम् थोइ (थुन्) चौं स्वि।	संसार मे अच्छे लोग बहुत कम होते हैं।
खाच् च्वि लान् सु वाङ चाँ मान्।	जो मानव के शत्रु होते है,
उक्चा खिङ स्वङ लिङ।	वे अपनी सम्पत्ति को ही—
ह्निङ पि मिङ वाङ हङ।	हर साल देखते हैं।
मि नाम् पिन् चाङ मौं।	अधिक धनवान् होने पर लोग घृणा करते है।
खौं चौं क्येम् प्वङ खेन् (खिन्)।	उसके मन में अशुद्ध भाव ही रहते हैं।
वान् स्वइ पान् थिङमा।	असमय मे ही मृत्यु उसके पास आती है।
त्वङ ता वाङ चौं लिङ।	तभी दुःख-कष्ट को समझता है।
ताइ पिन् पो पिक्सा।	मरने के बाद प्रेत होता है।
उक्चा काव् पा फान्।	(वह) अपनी सम्पत्ति से ही बुरा होता है।
को से हुम् पाइ ताङ।	सन्मित्र मार्ग में साथ देते है।
हाङ खिङ लाक् साम् लिङ।	अच्छे वस्त्र पहने हुए—
हान् स्वङ मिङ खौं नाइ।	दूसरे को देखने पर जो लेने की इच्छा करता है,
खेत् पाइ खाङ हेत् (हिच्) खेन् (खिन्)।	(उसे) स्वयं ही कष्ट उठाना पड़ता है।

हेत् (हिच्) ये या प्राइ युम् चौं खो।	बुरे मित्र पर भरोसा मत करो।
लाक् ल्येम् हु साफो चाङ सा।	ज्ञानी होकर समझ लेना चाहिए।
तुन् वान् पि न्वङ काव्।	अपने कुटुम्बी भी—
माङ फङ फेत् (फित्) कान्।	कुछ तो लड़ाई-झगड़ा करते हैं।
यिव् ख्वङ क्वप् ख्वङ लिङ।	सम्पत्ति के लिए कलह करते हैं।
हिङ पि ना माव् को।	वह हजारों साल तक चिन्तित ही रहता है।
चाङ आम् वाइ नौं साइ।	वह मन में द्वेषभाव रखता है।
माइ माव् को तिव् वान्।	वह घृणा करता रहता है।
न्वक् नान् फा पिङ चे डाम् मिङ।	देश में शासन करनेवाला राजा,
कुन् लिङ् फु लाक् लितु।	चोरी-डकैती,
लुम् फाइ हाम् कुप् नाम्।	हवा, पानी और आग—
काम् कान् यु काव् खुन्।	ये मार्ग में बाधा देते है।
पो फाइ थिन् फि लुङ्।	वन में रहनेवाला राक्षस।
ङु याम् चाङ त्वत् मेन् (मिञ्)।	साँप भी डँसता है।
मि स्वि खिङ लान् सु।	बाघ-भालू हमारे शत्रु होते है।
याङ पाइ यु फ्येङ चौ।	उनके पास मत जाओ।
कात् से नाइ माङ मि।	कोई बलवान् होने पर भी,
खिङ हिङ माव् सु त्वत्।	वीर होने पर भी त्राण नहीं पाता है
खुन् ताइ इक् खुन् थाव्।	बुढापा और मृत्यु अवश्य ही आयगी
खाव् हाम् खिङ चेप् (चिप्) नाव्।	रोग-व्याधि होना निश्चित है।
को वाङ त्वङ नौं पा।	गर्भावस्था में रहते समय,
लोफा आन् खौं नाइ।	सबसे पहले लोभ आता है।
लोसा क्वप् तान्ना।	दोष के कारण तृष्णा होती है।
आविच्चा चौं खेन् (खिञ्)।	अविद्या के कारण बुरे कर्म होते है।
अक् च्वि यिङ हाङ साङ।	उसका कोई फल दिखाई नहीं पड़ता।
म्वङ पिन् तो हिप् हम्।	जन्म के साथ ही बाधाएँ आती है।
मिङ ङालाइ सि कान्।	नरक चार स्तर के होते है।
पान् प्वक् खाम् ताङ खि।	आते-जाते हुए कष्ट पाते है।
हङ चौ काव् पा पिन्।	यह अपने मन से उत्पन्न दुःख है।
माव् कात् यिन् यु माइ।	आराम से रहने की नौबत नहीं आती है।
पिङ नाइ आम् पो-म्बि।	इससे ऊब जाते है।
डिङ फाक् का को. मि।	जाना चाहे भी, तो जा नहीं सकते।
पिन् तो वाइ हङ् चौं काव् खेन् (खिञ्) त्वन्।	इच्छा होने पर और भी इच्छा की वृद्धि होती है।

कात् हुन्-माव् या साव् ।
पान् अन् चो पुन् का ।
चात् ना साङसाला ताक् मा ।
चेत् (चित्) ञो पान् चाङ-नाइ ता हान् ।
खे चान् का ति याक् क्वइ ता ।
लान् खाम् पु . .. ऐ........!

शान्ति से रहने का समय नहीं मिलता है ।
बीते हुए दिन चले गये हों (तो)
भविष्य के सांसारिक बन्धन आयेंगे ।
सप्त योनि तक समझ पाओगे ।
यही दुःख-कष्ट है ।
हे मेरे प्रिय पौत्र........!

[१३]

पिङ नौं सु हु थि ।
पालामी हुङ थेम् ।
यासु खान् साव् नाइ ।
लुङ ला खाक् खात् ताइ सिङ चो ।
खन् चौं खो हेत् (हिन्) ते ।
या पु ति निव् ख्वङ ।
म्येप् वाइ सिङ हाइ नाइ ।
वान् ताइ आम् च्वम् नोइ (नि) ।
वाङ पान् च्वङ आलु ।
फु नाङ नाइ नि त्वन् ।
पो नाङ वान् का वाइ पिन् तुन् ।
खिन् पिन् (पेन्) खाव् हुङ पुङ मित् माक् ।
नाम् लुङ पुन् से काव् ।
थुंक् थाव् तो मा हिन् ।
किन् इम् त्वङ पो लिव ।
खिङ क्वि नाइ स्वि ल्येंक् ।
तिव् पि माव् अर्न् याक् ।
मि माक् इक् डिन् खाम् ।
त्वङ ताना को. वाङ पिङ नाइ ।
पाइ पिन् स्वि हिङ नौ च्वइ हुङ ।

प्येक् वा वाङ पान् का त्वइ लिङ ।
कुसो काम् थाव् यिङ पुवा नाम् ।
बे चिम् फ्यु फा हुक् खुङ ।
पान् पुङ खाप् स्वन् थी ।

[१३]

सब कुछ समझने की चेष्टा करो ।
पारमिताएँ सहायक होंगी ।
आलसी बनकर बैठे मत रहो ।
(धन को) आजीवन सँभालकर रखो ।
अपने मन को भली भाँति समझ लो ।
कृपण के पास मत जाओ ।
(धन) छिपाकर रखने से खो जाता है ।
मरने पर वह हमारे साथ नहीं जाता ।
दान-धर्म करते रहो ।
ऐसे लोग अच्छे होते हैं ।
दान-धर्म सस्य-रोपण जैसा होता है ।
धान का पौधा बढ़ने पर ही धान फलेगा ।
बीज बहुत अधिक होंगे ।
उन्हें काटकर घर मे लाओ ।
भर पेट खाने के बाद बच जाय तो,
बचे हुए से नमक-मिर्च खरीद सकते हो ।
वर्ष-भर के लिए चिन्ता नहीं रहती है ।
धनवान् होने पर सोना-चाँदी होगा ।
दान का फल भी ऐसा ही होता है ।
जहाँ जन्म लेने पर भी उससे सहायता मिलती है ।

थोड़ा दान करने पर भी—
कुशल-कर्म की वृद्धि होती है ।
स्वर्ग मे हम रह सकते हैं ।
वहाँ अप्सराएँ भरी हुई हैं ।

फान् था मान् पिन् को कुन् मेत् ।	जो सुकर्म करता है, उसकी प्रतीक्षा में वे रहती हैं ।
नाङ चाव् प्यासात् त्वि च्वम् ।	राजा की तरह सिंहासन पर बैठ पाओगे ।
खाव् च्वि फा चाक्यावाते ।	चक्रवर्ती राजा जैसा बनोगे ।
ताङ का सिले क्योन् (क्यान्) पिङ लुम् ।	चारों दिशाओं के देशों के अधिपति बन सकोगे ।
हुङ ह्लाङ माव् का लिङ ।	लोग तुम्हारी प्रशंसा करेंगे ।
नि फेन् (फिञ्) कु सेन् (सिञ्) खा ।	जन्म-जन्मान्तर सुफल पाओगे ।
सिला साम् चिङ च्वम् ।	तुम शीलवान् बनोगे तो, वह
कुप् हम् नाङ चिक् फान् ।	रस्सी बँटने की भाँति होगा ।
खाम् खाम् फावाना ।	ध्यान-भावना करते रहो ।
वायाख्या वान् खिन् ।	रात-दिन इसका पालन करो ।
माक् सान् खिङ हुङ ह्लाङ ।	सुमार्ग की प्राप्ति कर,
साइ ताङ चे निपान् ।	निर्वाण का पथ पा सकोगे ।
साङ न्वि पुन् प्राम्मा ।	ब्रह्मलोक प्राप्त करोगे ।
साया काङ प्वङ ल्वङ ।	वह बहुत विस्तृत है ।
ह्लाइ याक् याङ ल्वन् मी ।	वहाँ गरीब नहीं है ।
ह्लिङ ह्लि चो काम्फा ।	(वहाँ) कल्प-कल्पान्तर तक रह पाओगे ।
डाव् सौं नाङ फाइ काइ ।	शरीर का तेज प्रज्वलित होगा ।
खिङ भाइ माव् प्येत् खिङ ।	दुःख-कष्ट नहीं रहेगा ।
चान् माक् फो खेन् (खिञ्) त्वन् ।	यह मार्ग उत्तम है ।
तात् हन् चौं चाङ हत् ।	मनुष्य मतान्तर का खण्डन कर पार होता है ।
ख्वइ यिन् पुन् तिवा ।	शान्त-दान्त होता है ।
सा ह्लाव् क्वन् फि साङ ।	देव-ब्रह्म में श्रेष्ठ बनोगे ।
च्वङ चिङते फा ।	श्रेष्ठ राजाओं मे सबसे बड़े हैं—बुद्ध ।
लाइ पा चाव् ह्लान्ता ।	अर्हत्-पद को प्राप्त भिक्षु—
फाँ थिङ यु मान् तिङ ।	जो वहाँ पहुँचते है, प्रसन्न रहते हैं ।
सिङ से चो निप् ताइ ।	इस मर्त्यभूमि पर
माव् साम् प्वक् स्वङ पान् ।	लौटकर नहीं आते ।
ताङ फान् खात् फाक् ह्लाङ ।	वहाँ दुःख-कष्ट नष्ट कर दिया गया है ।
च्येङ हुङ निफुता ।	वहाँ निर्भय होकर रह सकते हो ।
नाइ ख्येम्सा कात् यिन् ।	रोग-व्याधियाँ नहीं होती हैं ।
हृत् ह्लान् चाङ या चौं ।	दुःख-कष्ट नहीं होते ।
ताङ फान् खात् फाक् ह्लाङ तेना ।	सभी दुःख-दर्द मिट जायेंगे ।
लान खाम् पु .. ऐ.... !	हे मेरे प्रिय पौत्र.... !

[१४]	[१४]
आन् वा हा डिन् खो त्ना चाम् ।	धर्म पाँच प्रकार है ।
फ़ौं ताक् स्वन् आव् फ़ौं त्वङता आम् नाइ ।	इन्हे ध्यान मे रखना दुष्कर है ।
पिङ नौं न्वि खिङ य्वम् थाव् हो खाव् खिव् माङ ।	शरीर जीर्ण हो जायगा, दाँत टूटेंगे, बाल पक जायेंगे ।
खेन् (खिञ्) हौं खिङ नाङ नाइ खान् काङ यान् काइ ।	अनुरोध करता हूँ, इस जीर्णता को दूर करो ।
हान् चौ या हौं थाव् ।	किसी को वृद्धावस्था प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती ।
पिन् हाङ वाइ क्वइ नुम् च्वन् ङ्वन् ।	किशोर-युवक बने रहने की इच्छा होती है ।
प्येक् मान् खे काव् वाइ खाम् य्वन् आम् नाइ ।	यह प्रार्थना करने पर भी नही मिलता है ।
स्वङ पिङ ताङ चिप् इक् ताङ खाइ ।	रोग-व्याधियाँ तो आयेगी ही ।
या हौं त्वङ नाङ नाइ चाप् खिङ ।	व्याधियो को दूर हटाकर
पिन् तो हौं यु चुन् थुइ (थुञ्) चौं नि ।	सुख-शान्ति से रहने की इच्छा होती है ।
प्येक् मान् त्वङ ता काव् तिव् पि आम् नाइ ।	सोचने पर भी वह मिलना दुष्कर है ।
साम् लिङ त्वङ ताङ ताइ सिङ चो ।	एक बार मरना अवश्य ही है ।
माव् हाङ सत्वा लुम्फा च्वत् तो. वाङ मिङ ।	पृथ्वी के प्राणी-मात्र को मरना होता है ।
खिङ नाङ नाइ कोः याक् म्वि थिङ ।	इससे त्राण पाऊँगा, ऐसा मत सोचो ।
पान् साव् हौं क्वइ हिङ मान् तिङ ।	अधिक उम्र तक जीवित रहने की इच्छा होती है ।
खान् तेम् पि मिङ आसाङखं ।	असख्य साल तक रहने की इच्छा होती है ।
आन् खाइ प्येक् वा नाङ नाइ आम् नाइ हेन् (हिञ्) ताइ ।	यत्न करने पर भी मृत्यु ध्रुव है ।
सि खो त्वङ थाम्मा त्ना ।	चार धर्म-पथ यही है ।
खे तो तुक् हाइ सु लुम् पा माव् मान् ।	पृथ्वी पर सभी एक दिन गिर जाते है ।
आव् चेम् (सिञ्) आन् खिङ त्वङ लिङ उक्चा ।	अपनी सम्पत्ति का भार वहन कर,
इक् नोइ आसाक् हाङ खान्था पान् खिङ ।	पंच स्कन्ध रहने तक ही है ।
आम् हन् मान् तिङ नाङ चौं खो ।	यही संसार की नीति है ।
पिङ नान् खिङ साफो कु च्वङ ।	यह सत्संकल्प है ।
काव् केन् (किञ्) डिन् को पुन् पिङ का ।	मैं उससे बहुत डरता हूँ ।
माव् हौं लु हौं मा साक् ख्वइ ।	अच्छे-बुरे की विवेचना करता रहता हूँ ।
नो खौं मान् तिङ चाम् ताङ नि ।	मैं कैसे सुपथ प्राप्त कर पाऊँगा ।

प्येक् लाक् प्वम्-प्वम् काव् साव् नि आम् नाइ ।	यह माँगने या प्रार्थना करने पर भी नहीं मिलता है ।
लाइ चिङ सुत् हाङ त्वङ ता हा साम् ।	उसके बाद आते है, पाँच धर्म ।
ताक् प्वइ खुन् खो लात् माक् माम् होः ने ।	उन पाँच धर्मों को तुम्हें बताता हूँ ।
नाइ कोः वा नोइ त्वङ माव् मान् माव् तिङ नि को ।	शरीर कभी अमर नही होता ।
साम् लुम् फि कुन् का पिन् तो च्वत् सिङ ।	देव-मनुष्य सबमे यह रहता है ।
आव् चेम् चान् सुत् च्वम् प्राम्मा ।	ब्रह्मलोक भी इससे पीडित है ।
तों हत् चान् का मा कुन् साव् ।	सभी त्रिलोकवासी,
फोता मान् ति तिङ माव् मि फ़ाॅ ।	प्राणी-मात्र पीडित होते है ।
ताङ लुङ यिङ सेन् (सिञ्) मौं थाइ त्वत् ।	सभी किसलय के अंकुर जैसे होते है ।
ताङ आन् ङिन् खाम् क्येव् स्येङ नि उक्चा ।	धन-सम्पत्ति सभी कुछ,
प्येक् ति आसाक् हाङ खान्था लुम् चौं ।	जीवित रहने तक के लिए है ।
खुप् म्वि काम् वाइ फा ताव् प्येक् मा थिङ ।	भाग्य में जो है, वह मिल जायगा ।
प्येक् ति त्वन् खाङ खौं साव् हिङ आम् त्वत् ।	माँगते रहने पर भी उससे छुटकारा नहीं मिलता ।
माङ पान् खो लिङ सिङ से म्वि मुत् चाङ ।	सम्पत्ति समाप्त हो जाती है ।
सु थिङ म्वि थोइ (थुञ्) चौं हाङ साव् ङाव् ।	सम्पत्ति न रहने पर चुपचाप रहना होगा ।
माङ क्वङ आसाक् सिङ सुत्का यिन् ङाइ ।	कुछ तो वृद्ध होकर मरते है ।
वेन् (विञ्) से खो लिङ वाइ काङ नाइ पिन् पुत् ।	सम्पत्ति का मालिक दूसरा बनता है ।
हेत् (हिच्) नान् त्वन् आव् वाइ वुङ-वुङ ।	यही तुम्हारी याचना थी ।
वा काया हौं खिङ ताङ नाइ मा हङ खिम् चौं ।	ये आकर मुझे कष्ट न दे ।
उक्चा क्येव् स्येङ लाक् ङिन् खाम् ।	स्वर्ण, मोती आदि धन-सम्पत्ति,
याङ मि मुत् त्वम् का फ्वङ हाम् चात् हे ।	कण के बराबर भी न घटने पायें ।
ताङ आन् यु हिङ चो आसाक् ।	हजार साल जीवित रहने पर भी—
हाॅ नाइ यु लान् लाक् चाम् ताङ नि ।	लाख-करोड़ वर्ष तक रहने की इच्छा होने पर भी,
प्येक् मान् वा नाङ नाइ काव् आङ त्वङ ता ।	अनेक प्रार्थनाएँ करने पर भी,
साफो पिङ नाइ त्वङ ता माव् नाइ ।	सकल्प करने पर भी धर्म नही मिलता है ।
ताङ खाव् ङापा त्वङ ता हा च्वङ ।	धर्म पाँच प्रकार है ।
त्वत् मान् वाइ वाङ हङ फौं मान् ।	इन्हें मन में धारण करो ।

चेम्-ति साङ्खा फाकु चाव् लाइ पा।
मो हुङ् चाव् पुङ्ना माव् ल्वत्।
फि न्वि च्वि मानात्।
साङ यु फ फुम् मेत् स्वन् तेम्।
कुन् लुम्फा चेन् (चिञ्) चाम् यिङ चाइ।
प्वङ खा चि प्वा कु वान् डाइ सौं हाङ।
थाङ ति तो फौं काव् ग्वन् आव् माव् नाड।
चाङ हाइ खाम् ताङ माइ सुन् खि।
सुपिङञा केन् (किञ्) चाव् फा।
हो. पान् लाइ खुन् तापे शावाका हौं च्येङ।
तो क्वइ विङ स्येङ चान् सुत् च्वम् निपान्।
म्वङ नाइ हत् हान् याव् एकान् डिम् चौं।
का पाइ खाव् विङफा निपान् याङ यान् चाम्।
ताङ खाव् डा पा च्विङ ताङ फान् नाइ फाक् क्वइ याव्।
लान् खाम् पु....ऐ ...!

सभी भिक्षुसघ भी,
गणक-ब्राह्मण भी कोई नही बचता है।
देवता मार भी—
ब्रह्मलोक मे व्याप्त है।
पृथ्वी पर स्त्री-पुरुष भरे हुए हैं।
सभी सकुशल रहना चाहते है।
माँगने, याचना करने पर भी नही मिलता है।
एक बार कष्ट मे पडकर रोना ही होता है।
हमारे सुप्रज्ञ बुद्ध भगवान् ने
अपने श्रावक-संघ को उपदेश दिया है।
अन्तिम अवस्था निर्वाण है।
जब वहाँ पहुँचोगे, तब शान्ति पाओगे।
निर्वाण न मिलने तक मुक्ति नही है।
तभी पाँच प्रकार के कष्टो से छुटकारा पाओगे।
हे मेरे प्रिय पौत्र . !

[१५]

हा च्वङ खिङ नि को।
तो फौं आम् ल्वत् नाइ।
पिङ नान् च्वि कुन् थाव्।
हेत् (हिच्) चाव् पिङ ताङ मिङ।
आम् नुना प्येङ फौं।
का नौं माव् तो खाइ।
खुन् किन् मिङ पिङ मान्।
कु यान् फा यिङ चाइ।
माव् हौं ल्वत् खिङ फौं।
खि चौं नाङ कान् सिङ।
ग्वन् खाङ नौं प्वइ च्वत्-च्वत् वा से नाइ।
माव् चौं थाव् यिन् खि।
तिव् पि मिङ वाङ हङ।
आव् हिन् खाम् हेत् (हिच्) फाक्।
कु पाक् वा न्वम्-न्वम्।
या हौं थाव खिङ खिङ।

[१५]

पाँच प्रकार के भय होते है।
इनसे कोई भी वच नही सकता।
वही बुढापा है।
वही प्रमुख बना हुआ है।
युवक-बच्चे-वृद्ध का फर्क नही रखता है।
जहाँ जाने पर भी छुटकारा नही पा सकते।
चाहे शासन करनेवाला राजा हो या रंक।
पृथ्वी पर जितने पुरुष-स्त्री है।
छोटा-बड़ा कोई भी बचता नही है।
सभी को चिन्ता बनी रहती है।
विनती करने पर भी बचा नही जा सकता।
वृद्ध होने की इच्छा न होने के लिए,
हर साल सोचते रहो, फिर भी—
इसे धन देकर भी खरीदा नही जा सकता।
याचना करना भी विफल होता है।
(कोई भी) बुढ़ापा आने देना नही चाहता।

हिङ पि यु मान् तिङ ।	(सभी) हजार साल तक निश्चिन्त रहना चाहते हैं ।
च्वन् ङंवन् हाङ क्वइ खेन् (खिञ्) ।	युवावस्था को प्राप्त करना चाहते हैं ।
तिन् फा पिङ खाइ ङाव् नोइ ना ।	प्रशंसा पाना चाहते हैं ।
प्येक् मान् वा नाङ नाइ कोः खुन् थाव् ।	इतना चाहने पर भी वृद्ध होना ही है ।
माव् हुन् वाइ वाङ से ।	उससे छुटकारा नहीं मिलता है ।
साङ वा फवम् नाङ वा हो चौं ।	प्रार्थना कर यदि पा सके,
तो फौं का ताक् थाव् चाम् ऐ ।	तो शरीर कभी वृद्ध नहीं होगा ।
लाइ चिङ ल्वङ ताङ खाइ ।	और दूसरा है रोग ।
माव् ल्वत् नाइ साक् कुन् ।	रोग आने पर छुटकारा नहीं मिलता है ।
लुम्फा मु यिङ चाइ ।	स्त्री-पुरुष सभी को
हिङ पि तो यु माइ ।	हजार साल तक चिन्ता रहती है ।
नौं तो त्वत्तिङसा ।	शरीर में बत्तीस प्रकार के मल है ।
लुक् खान्था ङापा ।	पाँच प्रकार के स्कन्ध और
थात् सि च्वि पिन् हो ।	चार धातु ही मूल हैं ।
नि को माव् ति फिङ ।	यह (शरीर) भय उत्पन्न कराता है ।
पुन् नि का पिक् न्वक् ।	देखने में सुन्दर लगता है ।
नाव् लान् तो ताङ खिङ ।	अन्दर मल से भरा हुआ है ।
न्वि लित् काव् यिन् पिन् ।	वह रक्त-मांस है ।
नाव् मिन् च्वत् ताङ हाङ ।	इसमे मल भरा पड़ा है ।
ला चिङ फ्वत् नौं साइ ।	अँतड़ियाँ मल से भरी है ।
लुक् माव् नाइ चिप् त्येङ ।	शरीर में वेदना होने पर उठा नहीं जाता है।
तेचा-थात् लुम् फाइ ।	तेजोधातु से वायु जलती है ।
वाइ-वाइ नौं हाङ ।	शरीर जलता रहता है ।
माङ वान् खाइ हो पान् ।	सिर में दर्द होता है ।
थुइ (थुञ्) चौं सान् सुन् माव् ।	साँस लेने पर कम्पन होता है ।
माङ फाव् ल्वङ लुङ हू पाङ लुङ ।	कभी दस्त होता है ।
सुङ खि यू वाप्-वाप् ।	चिन्तित रहते हैं ।
माङ वान् पिन् त्वङ खिन् ।	कभी पेट से ऊपर आता है ।
माव् सु चुन् साव् डाव् ।	केवल चिन्ता ही बनी रहती है ।
माङ फाव् कुन् चेप् (चिप्) त्येङ ।	वेदना होने लगती है ।
खे थिङ कू पिन् म्वि ।	हर रोज ऐसा होता है ।
माङ पान् पिन् पा न्वक् ।	कभी बाहर होता है ।
लुन् ल्वक् त्येक् ल्वङ फि ।	(घाव) फटने से पीब निकलती है ।

माङ फाव् कौँ ताङ तो ।	शरीर सूज जाता है ।
हो चौँ काप् नौँ हाङ ।	मन क्लान्त होता है ।
नाम् लुङ माव् पे लात् ।	अनेक कष्ट होते हैं ।
उपात् याप् चौँ कुन् ।	विपत्तियाँ आदमी पर भार होती है ।
खिङ खाइ ल्वङ चिप् नाव् ।	दु:ख-व्याधि, ज्वर आते है ।
नाव् मिन् तु मा हम् ।	तब मल निकलता है ।
सेन् (सिञ्) पिङ खिङ लोका ।	नाना रोग-व्याधियाँ ।
आना काब्-सिप् हुक् पाइ च्वङ ।	रोग-व्याधियाँ सोलह प्रकार की होती है ।
माव् खौँ नाइ य्वन् खाङ ।	(ये) तुम्हारे न माँगने पर भी मिलती है ।
वाङ पान् च्वङ सु लाप् ।	उसके लिए कुछ देना नही होता है ।
ताङ प्येङ या ह्रौँ मिङ ।	मिलता भी नहीं करनी होती है ।
डिङ फाक् त्वङ चेप् (चिप्) नाव् ।	दु:ख-रोग सभी जायँ ।
ह्राम् घो या मा पिन् ।	कभी मुझे न हों ।
चेप् (चिप्) नाव् केन् (किञ्) हौँ हाइ सिङ-सिङ ।	रोग-व्याधियाँ सभी चली जायँ ।
हम् म्वि तिङ क्वम् वाइ ।	तुम्हारे प्रार्थना करते रहने पर भी,
ल्वङ खाइ याङ मि चु ।	वे नही मानती हैं ।
लुम्फा का मि चौँ ।	पृथ्वी के प्राणी-मात्र ।
खिङ फौँ तो नाङ नाइ ।	सभी को (यह) भोगना पडता है ।
तो हाव् इक् खिङ पिन् ।	सभी के लिए रास्ता एक है ।
हुम् डिन् केन् (किञ्) याम् निव् याव् हो ।	सभी एक प्रकार के है ।
साम् लिङ ल्वङ ताङ ताइ ।	दूसरा और एक मरण है ।
पिन् साइ क्येव् खिङ हाङ ।	रस्सी की भाँति शरीर मे लपेटा हुआ है ।
न्वि निन् इक् तिङ नाम् ।	जल मे हो या थल मे,
काम् यिङ त्येक् नान् मो ।	सभी रोते-चिल्लाते रहते है ।
तालिक्सान् तो चौँ ।	तिर्यंच जीव-जन्तु ।
फौँ को साङ ताक् ख्वइ ।	सभी को मरना ही होगा ।
मि चौँ आम् नाइ ल्वत् ।	जीवमात्र ही (इससे) छुटकारा नही पाते ।
खान् हत् चान् लुम् ताम् नाका ।	नागलोक में भी यह व्याप्त है ।
कुन् तौँ फा ताङ लाइ ।	पृथ्वी में जितने मनुष्य है ।
याङ पाक् पाइ च्वि लिङ ।	एक सौ एक प्रकार जाति के लोग है ।
फि न्वि क्वि खाक् चान् आका खाचो ।	पीपल वृक्ष के बडे-बडे सभी देवता,
लुक् खा नात् क्वन् फ्वि ।	पेड़ की शाखाओ के सभी देवता,
क्येङ लुङ च्वत् कुती ।	सारी पृथ्वी मे व्याप्त हैं ।

फि लाइ कुप् कुङ फान् ।	यक्ष, राक्षस, सभी ।
माव् आन् पे नाम् त्वन् ।	गिनाये नही जा सकते ।
चान् फे वा हुक् खुङ ।	छह स्वर्गलोक है ।
पान् पुङ खाप् स्वन् खिन् सुत् च्वम् आलुपा ।	जाते हुए आत्मब्रह्म पहुँचा है ।
पिङ नाङ ह्रान् प्राम्मा ताङ् लुङ ।	ब्रह्मलोक मे भी वही शासन करता है ।
माव् विन् त्वत् हिङ नौं ।	कही भी बचा नही जा सकता ।
का मि चौं लुक् ह्राङ ।	जनमने पर एक बार मरना होता है ।
लाइ पा चाव् ह्रान्ता ।	अर्हतो को भी यह होता है ।
पिचेक्का-पुक्था फा ।	प्रत्येकबुद्ध को भी ।
वोङ चिङते मुन् हिङ ।	ईश्वर होने पर भी ।
ताङ मिङ वाइ चाव् यौं ।	बुद्ध ही सबसे प्रमुख है ।
तो नान् याङ पाइ त्वत् ।	वे भी छुटकारा नहीं पा सके ।
तात् फाक् यु व्येङ खाम् ते नाम् ।	भागकर भी मुक्ति पा सकते है, सम्भव नही है।
माव् खौं ख्वइ वाइ पान् ।	मरने की इच्छा न होने पर भी ।
व्वन् यान् पुन् से ह्राङ ।	मुक्ति पाने की इच्छा से ।
आव् डिन् खाम् हेत् (हिच्) फाक् ।	धन-धान्य से मृत्युराज को मनाने,
वोन् पाक् चाङ कुप् कुन् ।	(या) हजार उपायो द्वारा रक्षा करने पर भी लोग बच नही पाते ।
क्वन् स्येङ स्वङ पु लाइ ।	मणि-स्वर्ण से अथवा—
यिङ चाइ मु फुङ खा ।	नौकर-चाकर, स्त्री-पुरुष से भी,
क्वइ नाम् मुन् लान् लाक् ।	लाख देने पर भी,
फा चान् कुप् फे लाइ ।	कीमती वस्तु देने पर भी,
पुम् यिङ वाइ तान् ता ।	आँख के सामने रखने पर भी,
लासा माव् अक् खो ।	इन सभी का कोई महत्त्व नही है ।
लुन् सुप् वा से पाव् ।	हजार प्रार्थना करने पर भी,
हि तो काव् ताक् पिन् म्वि नौं ।	इस शरीर को मरने के बाद पा नही सकते ।
न्वक् नान् मु सिक् ह्रान् ।	उसके बाद हजार सेनाओं से,
तिव् पान् खौं खे ह्राङ ।	रक्षा करने पर भी यह शरीर बचता नही है ।
विङ लुङ फ्वम् लाइ थाप् ।	सारे राष्ट्र को प्राचीर से,
माप्-माप् लाम् मित् इक् ताव् फाइ ।	घेरकर रखने पर भी, तेज तलवार हाथ मे रहने पर भी,
म्यक् नात् काङ कुप् कुङ ।	धनुष, बाण, बन्दूक आदि—
नाइ ताङ लुङ याङ त्वत् ।	रहने पर भी (मृत्यु से) बचा नहीं जा सकता ।

केन् (किञ्) हा खाव् मो हाङ ।
हक् डिङ लेम् ताक् फान् ।
चाङ मा इक् लाथा ।
सि·ता हे वान् खिन् आम् नाइ ।
कुन् नौं का हेम् ख्वङ ।
स्वइ-स्वइ सिन् वौं हाइ चाम् याव् ।
नाङ नाइ तो नि को ।
तो हाव् इक् तो पिन् ।
ताङ लुङ माव् मान् तिङ ।
कु डिङ फा पिङ निव् ।
मिङ फाइ खाप् पिङ ङ् ।
थ्येव् निन् फु हौं फे ।
सेन् (सिञ्) खा चो काम्फा ।
आम् ल्वत् वाइ याव् या वाइ पेन् (पिन्) ।
कित्-कित् याव् ताइ-ताइ ।

ढाल और कवच (रहने पर भी),
तेज भाले से मारने पर भी,
हाथी, घोड़े और रथ के द्वारा
हर वक्त रखवाली करने पर भी,
जो भी मनुष्य हो,
एक दिन मर ही जायगा ।
यह भय का कारण है ।
अपना हो या पराया,
कोई भी स्थिर नही होता ।
ससार की एक ही गति है ।
पक्तिबद्ध प्रदेश सर्प जैसे हैं ।
पृथ्वी टूटकर धूल बन उड जायगी ।
असख्य कल्प तक—
हम उससे छुटकारा पा नही सकते ।
जन्म और मृत्यु, मृत्यु और जन्म का चक्र चलता रहता है ।

नाम् लाइ माव् नाफ् नाइ ।
लाङ निन् माव् विन् लाप् ।
ति वाइ खाप् ताङ मिङ ।
माव् हाङ का पाइ खेम् ।

इसकी सीमा नही है ।
पृथ्वी कही खाली नही है ।
सभी स्थानो मे मृत शव रखे हुए है ।
सुई के अग्रभाग के समान भी पृथ्वी खाली नही है ।

चेम् निन् इक् तौं नाम् ।
हिङ नान् या पाइ वा ।
तो का खाप् खा नि ।
नुक् को लिङ क्वइ-क्वइ ।
ल्वइ-ल्वइ हौं क्येम् थ्येङ ।
या वेन् (विञ्) से पिन् पेत् ।
तो हेत् नाइ आव् मा ।
याङ हु हेत् (हिच्) पिङ नान् ।
क्वङ् कान् वाइ हुम् ति ।
मि को वोइपुला न्वइ स्येङ् क्वइ याव् ।
का नाइ वा माव्-माव् ।
पो आव् नुक् कुन् ख्वइ ।

जल और स्थल कही भी खाली नही है ।
बहुत वर्ष हुए, कहा नही जा सकता है ।
इस शरीर मे अच्छाई नही है ।
सिर्फ आदमी की ही हड्डियाँ,
ढेर बनाकर रखी जाती तो,
न फेंकी गई होती तो,
यदि इस प्रकार किया गया होता,
ऐसा किया जाता, तो—
ढेर लगाकर (उन्हे) जमा किया जाता,
(तो) वह विपुल पहाड के बराबर होता ।
यह साधारण-सी बाते है,
(जो) मनुष्यो की हड्डियो के बारे मे कही गई है ।

म्येङ् मुन् इक् हिन् हान् ।
लान् का ताम् न्वि निन् ।
आम् पाइ खाइ सेतो ।
पो होइ (हुन्।) हो न्वइ ङिङ ।
नाम् लुङ पुन् ति लात् ।

लाइ चात् थाइ ख्वन् खिङ ।
लुम्फा का मि चौं ।
तो फौं आम् ल्वत् नाइ ।
खिङ हाव् इक् खिङ पिन् ।
हुम् डिन् का हेम् ताइ चाम् याव् चौं ।
लान् खाम्. पु ..ऐ....!

[१६]

साम् ताक् खाड पिङ खो ।
तो खाम् म्वक् हौं च्येङ ।
साफा ल्वङ थाम्मा ।
लु प्येक् का खे ताइ ।
माव् मान् तिङ पिङ निव् ।
मि यिव् पिङ मा ख्वङ ।
डिन् खाम् हा ख्वङ उक्चा पाङ ।
थाङ हाङ ल्वङ नौं चौं ।
चाङ मा इक् तो खाइ ।
यिङ चाङ मू खा चौं ।
हा च्वङ खिङ लान् सु ।
यु माइ वाङ चौं खो ।
फु लाक् इक् खुन् मिङ ।
फाइ हिङ कुप् नाम् थुम् ।
लुम् लुङ पाव् मा त्वङ ।
चाङ ख्वङ कित् मि फे ।
माङ फाव् चाङ फेत् (फित्) खुन् ।
तुन् सुन् ना माव् की ।
माव् ति सिङ उक्चा ।
माङ हा ल्येक् फाइ माइ ।

मक्खी और छोटी मक्खियाँ,
जितनी भी पृथ्वी में है,
इनकी बाते कही नही गई है ।
साधारण तौर पर ही कही गई है ।
असंख्य है, कहकर समाप्त नही किया जा सकता ।

बार-बार शरीर बदलता रहता है ।
पृथ्वी पर जितने जीव-जन्तु है,
कोई भी बच नही सकता ।
अपने और पराये, कोई भी (हो),
सभी एक पथ में जाते है ।
हे मेरे प्रिय पौत्र....!

[१६]

और, दूसरी बातें कहता हूँ ।
ध्यान से मन मे धारण करो ।
सुधर्म-पथ पर (चलो) ।
इससे विचलित होकर नष्ट न हो ।
यह (जीवन) क्षणिक है ।
हमारे शरीर (मन) मे बुरे विचार न आये ।
निजी सम्पत्ति, पाँच प्रकार के वैभव है ।
सदा-सर्वदा मन मे रखना चाहिए ।
हाथी, घोड़े और भैसे,
नौकर-चाकर, स्त्री-पुरुष—
पाँच प्रकार के शत्रु है ।
(इनसे) मन मे सदा अशान्ति रहती हैं ।
चोर, लुटेरे, राजा,
अग्नि और जल ये पाँच है ।
आँधी और झंझावात,
इनका उपद्रव (व्याप्त) हो सकता है ।
कभी राजदण्ड भी भोगना पड़ता है ।
इन बाधाओ के आने पर अशान्ति होती है ।
सम्पत्ति का कोई आधार नही है ।
यह कभी अग्नि में जल जायगी ।

तो च्वङ लिङ माव् नाइ सुम् से पाव् को. मि ।	जलकर कुछ भी नही बचेगा, कुछ नही प्राप्त हो सकेगा ।
माङ फावं नाम् हम् हिप् ।	कभी नदी का जल उपद्रव करेगा ।
तुक् चुम् नाइ खि निङ यु माइ को॰ मि ।	जल में डूबकर क्रन्दन होगा ।
माङ पान् चाम् लुम् पाव् त्वङ ।	कभी आँधी-झझावात का प्रकोप होता है ।
हङ हिन् काव् पुत् पाङ कोः मि ।	घर-द्वार उजड़कर नष्ट होगे ।
माङ फाव् यु नाइ-नाइ ।	कभी यो ही गिर जाते है ।
तुक् हाइ फाक् से म्वि चात् हे को मि ।	हाथ से छूटकर भी खो सकता है ।
माङ पान् आसाक् थुन् खिङ फा प्येत् खो लिङ (ल्येङ) ।	कभी बढ़ती हुई अवस्था मे भी धन-सम्पत्ति छोड़ना होता है ।
माङ फाव् चो यिन् हिङ ।	कभी दीर्घ आयु तक रहते हैं ।
फान् थिङ खिङ खाम् माइ ।	जब गरीबी आ दबोचती है, तब (आदमी) पछताता है ।
तान् नाइ केन् (किञ्) खिङ याक् ।	यह बड़े दु.ख की बात है ।
आम् वे फाक् त्वइ पिन् ।	इससे मुक्ति नही पा सकते ।
प्येङ खौं त्वत् पिङ नान् ।	इससे यदि मुक्ति पाना चाहे तो,
साव् चान् तिङ क्वइ वा ।	खड़े होकर कहने पर भी नही मिलती है ।
खो लिङ इक् खा साक् ।	सम्पत्ति और नौकर-चाकर,
या लु प्येक् सुत् हाङ ।	सभी नष्ट हो जाते है ।
हौं मा तिङ क्वइ वा पिङ निव् ।	कहे, तो सभी की एक ही गति है ।
ख्वि यिव् फाक् क्वइ हाङ ।	चिन्ता की बाते अलग होती हैं।
सिन् चौं नि मा हङ ।	यदि मन मे अच्छे विचार आते है,
लुन् वाङ हङ उन चुन् ।	घर मे परिपूर्णता होती है ।
माव् साक् हे साक् याव् ।	(धन) कभी घटता नही है ।
त्वइ-त्वइ मे खिन् निन् वान् ।	दिनानुदिन बढ़ता ही जाता है ।
नाङ नाइ वा से नाइ ।	यह कहने की ही बात है ।
खुन् ताइ आम् प्वइ फा ।	मगर मृत्यु किसी को भी नही छोडती ।
हिङ नान् काताक् थाव् ।	बहुत दिन के बाद वृद्ध होता है,
डाव् हि ग्वत् फिव् का ।	तुम्हारा सभी सौन्दर्य ।
माव् त्वत् नाइ काइ काङ ।	इससे छुटकारा नही है ।
ताङ खेन् (खिञ्) साम् चिङ लिङ ।	पुन. विपत्तियाँ ही आती हैं,
खो लिङ फिङ उक्चा ।	सभी धन-सम्पत्तियो पर ।
या फाक् हौं त्वङ फान् ।	दु ख की बाते समझ लेनी चाहिए ।
फि युं फा कुप् साङ ।	आकाश के देवब्रह्म,

कुन् मिङ चान् चे लुम् ।
सात् म्येङ नाङ कान् सिङ ।
आम् मान् तिङ खिङ फौं ।
अनिच्चा दुक्खा अनात्ता ताङ लुङ ।
तो क्वइ विङ हुङ चान् निपान् ति तिङ क्वइ याव् चौं ।
लान् खाम् पु. . ऐ....!

पृथ्वी के सभी लोग,
कीट-पतंग, सभी की एक ही गति है ।
कोई भी चिरस्थायी नही है ।
सभी अनित्य, दुःखी और अनात्म ही हैं ।
केवल निर्वाण ही नित्य है ।
हे मेरे प्रिय पौत्र....!

[१७]

लाइ चिङ ख्वत् हाक् डिन् काया ।
सात्तावा सेन् (सिञ्) म्येङ ।
लुम्फा का मि चौं ।
तो फौं नाङ कान् सिङ ।
खुङ न्वि चान् फा वाक् ।
लान् लाक् मु फि साङ ।
कुन् लुम्फा यिङ चाइ ।
माइ-माइ काम् कु ति ।
तो फौं खौं यु तिङ ।
कु सिङ कु वाइ पान् ।
ख्वत् हाक् खिङ ख्वङ लिङ ।
हिङ पि तो हम् थ्येङ ।
मि नाम् से चौं काव् ।
माव् खौं हौं मुत् य्वम् ।
खिङ थाव् इक् ताङ ताइ ।
य्वन् हाइ से यु चुन् ।
खि फान् सु म्वि कौं ।
हौं फ्वम् नाङ चौं खो ।
वा नाङ नाइ तिव् वान् ।
ताक् हान् नौं चौं आङ म्वि नौं ।

सेन् (सिञ्) पिङ खिङ उक्चा ।
तुक् सिङ का ताक् मि ।
माव् मि खाम् मुत् य्वम् ।
हम् म्वि वाइ से पाव् ।
मि नाइ ल्वङ थाम्मा ।

[१७]

पुन. दूसरी वाते कह रहा हूँ ।
सभी सत्त्व की वाते ।
पृथ्वी मे जितने जीव-जन्तु हैं,
सभी की एक ही गति है ।
समग्र स्वर्गलोक,
लाख-लाख देवब्रह्म,
पृथ्वी के स्त्री-पुरुप,
सभी स्थानों में परिपूर्ण हैं ।
सभी सोचते हैं कि मैं दीर्घायु वनूँ ।
किन्तु, सभी मरते हैं ।
धन-सम्पत्ति के प्रति सभी लालायित रहते हैं ।
हर क्षण संग्रह करने की इच्छा मे है ।
सभी से मुझे ही अधिक मिले ।
(धन) कभी समाप्त न हो ।
बुढापा और मृत्यु—
कभी मुझे न आयें ।
दु.ख और चिन्ता कभी न हो ।
मेरे मन की इच्छा के अनुसार हो ।
इस प्रकार सदा कहते रहने पर भी,
सोचने के अनुसार कभी (इच्छा) पूर्ण नहीं होती ।

सभी सम्पत्ति तो,
क्षय होने मे ही है ।
कहने के अनुसार नहीं होता है ।
प्रार्थना करना भी व्यर्थ होता है ।
धर्मशास्त्र में इसी प्रकार कहा गया है ।

हृङ **खान्था** तो खिङ ले साङ ।
आम् हृन् त्येङ पिङ निव् ।
खि यिव् आम् फाक् नाइ ।
खुन् ताइ इक् खुन् थाव् ।
हेत् (हिच्) चाव् पिङ ताङ मिङ ।
ल्वङ खाइ आम् का पिन् ।
सेन् (सिञ्) चाङ कु खिङ को ।
ताक् प्वङ हि माव् चाङ ।
आङ से पाव् नान् चौँ याव् ।
लान् खाम् पु . ऐ . ।

हमारे शरीर की बाते ।
(जो शरीर) कभी स्थावर नही रहता ।
चिन्ताओ से छुटकारा नहीं है ।
बुढापा और मृत्यु ने ही
सब पर अधिकार कर लिया है ।
रोग-व्याधि से छुटकारा नही है ।
ये सभी मनुष्यो पर आते है ।
इसका कोई निवारण नही है ।
इस सम्बन्ध मे सोचना व्यर्थ है ।
हे मेरे प्रिय पौत्र . !

[१८]

साङ हौँ ल्वत् पिङ् नाङ चाम् ।
चेम् काइ हौँ आव् थेम् क्येम् था ।
काम् **सिन्** साङ् ताङ् लु ।
यासु खान् क्येव् चा ।
फावाना चिङ् च्वम् ।
हम् कान् या हौँ फाक् ।
साङ् नान् चाङ् ताक् ल्वत् ।
नाइ हत चान् माक् फो ङिम् चौँ ते हो ।

का नाइ ल्वङ् डापा ।
त्रा केन् (किञ्) नाइ याक् ।
आव् चेम् चाव् साङखा ।

याचा चाव् मो मिङ् ।
फा मा नात् खुन् सुङ् ।
साङ् लुङ् प्रम्मा ।
कुन् मिङ् काङ् चान् ताम् ।
चेन् (चिञ्) चाम् सु यिङ नाइ ।
थाङ हाङ वा पिन् फौँ ।
नौँ चौँ क्येम् ग्वात् ख्येव् ।
ताक् ग्वन् आव् माव् नाइ ।
खिङ डा-पा हा च्वङ ।
ताक् प्वइ म्वक् हो ने ।

[१८]

इससे छुटकारा पाना चाहे तो,
पहले से सावधान रहना चाहिए ।
शील का पालन कर, दान करना चाहिए ।
सभी को इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए ।
साथ मे भावना भी करनी चाहिए ।
इन तीनो को कभी छोडना नही चाहिए ।
तभी मुक्ति पा सकते है ।
तभी निर्वाण प्राप्त कर शान्ति से रह सकते है ।

ये पाँच प्रकार की बाते है ।
इस धर्म का आचरण करना दुष्कर होता है ।
भिक्षुसघ को भी इसका पालन करना चाहिए ।

राजा और मन्त्रियो को भी,
मारो को भी,
देवब्रह्म को भी,
पृथ्वी के मनुष्यो को भी,
ससार के स्त्री-पुरुषो को,
सभी जीव-जन्तुओ को,
मौन रहकर यह भाव रखना चाहिए ।
याचना करने पर भी न मिलनेवाली चीजे ।
ये पाँच प्रकार की नीतियाँ हैं ।
तुम्हे उपदेश करता हूँ ।

साफो केन् (किञ्‌) मि नाइ ति चौँ ।
फा वोङ मुन् सुङ ।
खौँ हौँ ल्वत् ताङ लुङ ।
खौँ हौँ हु ल्येङ ह्रान् ।
हुइ (हुञ्) पान् चाङ नाइ च्येङ ।
हो पान् चाव् साङखा ।
फा ल्वत् खो काथा थिङ च्वम् ।
पिन् हत् याव् अन् ह्राव् ।
नाव् नाव् नाइ फो माक् ।
थाङ तो फौँ या खान् ।
ह्रान् सिङ चो पो ताइ ।
चाव् खाम् यालुङ लुम् ।
क्येम् किम् वाइ वाङ साइ ।
त्वम्-त्वम् हौँ खुन् खाइ ।
ल्वङ माइ नौँ चौँ थिव् ।
आनिक्चा खाम्-खाम् ।
— लाम्-लाम् त्येङ क्वइ थो ।
चि फेन् (फिञ्) खिङ माव् मान् ।
पान् चौँ काव् स्वन् तो ।
तुक्खा ल्वङ ताङ खि ।
तिव् पि हौँ हु च्येङ ।
स्वन् ने लात् चौँ काव् ।
थुक् थाव् खुन् वाङ हिन् ।
आनात्ता नि को ।
तो ह्राव् माव् नाइ वा ।
ह्रा च्वङ खिङ खान्था ।
लुक् काया खिन् पिन् ।
पान् प्वक् खाम् ताङ फान् ।
आव् पान् ति त्वङ मे ।
सेन् (सिञ्) खा माव् सु थाव् ।
पान् काव् च्वत् साम् खुङ ।
ल्वङ नाङ नाइ नि को ।
ति ह्रो चौँ तिन् फान् ।

ये मन की सुचिन्ताएँ है ।
भगवान् सर्वज्ञ बुद्ध ने
सभी को मुक्ति मिल सके और
सभी के जानने के लिए
ये बाते कही हैं ।
भिक्षुसंघ के सम्मुख कहा है ।
वे यह कहकर निवृत्त हुए ।
पहले के लोगों ने भी मुक्ति पाई है ।
सबने सुमार्ग प्राप्त किया है ।
कोई इसे हेय न समझे ।
न मरने तक इसे,
सुबह-शाम कभी न भूले ।
मन मे गाँठ बाँधकर रखे ।
अन्तर से इसका मनन करे ।
मन मे दुःख उत्पन्न होने पर भी ।
अनित्यता की बाते,
बार-बार मनन करनी चाहिए ।
मरणशीलता की बाते ।
अपने मन को अपने-आप समझाओ ।
दु ख-वेदना की बातें,
सदा समझ लेनी चाहिए ।
अपने मन को समझाना चाहिए ।
घर में सदा कहना चाहिए ।
अनित्यता भी भय की बात है ।
'मेरा शरीर' कहकर दावा नहीं कर सकते ।
पाँच स्कन्ध का यह शरीर,
इसी से कार्य होता है ।
बार-बार जन्म लेकर दुःख पाते है ।
माँ के गर्भ से जन्म लेते है ।
कोटि बार जन्म लेने पर भी उसका अन्त नहीं होता ।
इसी त्रिभुवन मे जीव बार-बार आता ही रहता है ।
यह भय का कारण होता है ।
इससे सतर्क रहना चाहिए ।

क्षा त्रा कुप् साङखा ।	बुद्ध धर्म और संघ का,
स्वत् मान् या वाङ यान् ।	त्रिशरण छोडना नहीं चाहिए ।
हेत् (हिच्) नाङ स्वइ पा खो ।	गले मे पहने अलंकार की तरह—
यो मुन् कु नौँ खाम् ।	सदा ही (इसका) गुण-गान करना चाहिए।
आव् पिन् ति चौँ पिङ ।	यही हमारे मन का आशय है।
काम् लिङ या लुम् से ।	इसे गलती से भी नहीं छोड़ना चाहिए ।
साङ नान् केन् (किञा्) नि त्वन् ।	तब बहुत अच्छा होगा ।
म्वन् यिङ चान् विङ खाम् ।	निर्वाण की कामना करने पर भी
हृत् डाइ चाम् याव् सु. ऐ....सु....न....!	वह शीघ्र ही प्राप्त हो सकेगा . !
साधु. .. साधु....साधु....!	साधु....साधु....साधु....!
सुत्-याव्	समाप्त

पालि-शब्दानुक्रमणी

श्यामि-उच्चारण	पालि	हिन्दी
आनात्ता	अनत्ता	अनात्म
आनिश्चा	अनिच्च	अनित्य
आलुपा	अरूप	रूप-रहित
आसाङखे	असंख	असंख्य
उप्पामा	उपमा	उपमा
काथा	गाथा	कथा (गाथा)
काम्	कम्म	कर्म
काम्फा	कप्प	कल्प
काया	काय	काय (शरीर)
कुसो	कुसल	कुशल
खान्था	खन्ध	स्कन्ध
खान्थि	खन्ति	क्षान्ति (क्षमा)
ङालाइ	निरय	नरक
चाक्यावाते	चक्कवत्ती	चक्रवर्ती
चात्	जाति	जाति (जन्म)
ताना	दान	दान
तान्ना	तण्हा	तृष्णा
तालिक्सान्	तिरच्छान	तिरश्च (तिर्यंच)
तुक्खा	दुक्ख	दु.ख
तेचो-थात्	तेजोधातु	तेजोधातु
त्वत्तिङसा	द्वत्तिंस	द्वात्रिंश (बत्तीस)

थात्	धातु	धातु
थाम्मा	धम्म	धर्म
थाम्मासत्	धम्मसत्थ	धर्मशास्त्र
नाका	नाग	नाग (लोक)
निपान्	निब्बान	निर्वाण
निफुता	निब्भूता	निर्भयता
पालामी	पारमी	पारमिताएँ
पिक्ता	पेत	प्रेत
पिञ्ञा	पञ्ञा	प्रज्ञा
पिचेका-पुक्था	पच्चेकबुद्ध	प्रत्येकबुद्ध
पुञ्ना	ब्राह्मण	ब्राह्मण
प्राम्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा
फावाना	भावना	भावना
माक्	मग्ग	मार्ग
मानात्	मार	मार (शत्रु)
मोहा	मोह	मोह
याचा	राजा	राजा
याहान्	अरहत	अर्हत्
लाक्	लक्ख	लाख
लाथा	रथ	रथ
लोका	रोग	रोग
लोफा	लोभ	लोभ
विने	विनय	विनय
वोइपुला	वैपुल्य	वैपुल्य (पहाड़ : विपुलाचल)
साङखा	सघ	संघ
साङखाला	संखार	सस्कार
साथे	सेट्ठी	सेठ
सात्वा/साताावा	सत्त	सत्त्व (प्राणी)
सावाका	सावक	श्रावक
सिक्या	सक्क	शक्र (इन्द्र)
सिन्/सिला	सील	शील
सुपिञ्ञा	सुपञ्ञा	सुप्रज्ञ
हान्ता	अरहन्त	अर्हन्त

△ जवाहरलाल नेहरू-विश्वविद्यालय, नई दिल्ली : ११००६७

काव्यशास्त्र के आलोक में प्रतीक और उपमान

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

अप्रस्तुतविधान के माध्यम से जब सर्जक साहित्यकार अपनी अभिव्यंजना को प्रभावक बनाने का प्रयास करता है, तब ललित साहित्य में प्रतीकों या उपमानों की सृष्टि होती है। जिन प्रतीको अथवा उपमानो का सम्बन्ध सामूहिक भावो से होता है, वे अधिक प्रभावी होते है और त्वरित बोधगम्य भी हो जाते है। लोकहृदय की पहचान रखनेवाला कवि या साहित्यकार ही सामूहिक भावद्योतक प्रतीको या उपमानो को अच्छी तरह प्रस्तुत कर सकता है। कॉडवेल, जिसे 'कलेक्टिव इमोशन' कहता है, उसे ही आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण' कहा है। सारांश यह कि सामूहिक भाव और साधारणीकरण एक ही बात है।

पश्चिम के काव्यशास्त्र ने हमें प्रतीक, सिमली और मैटाफर की अवधारणाएँ प्रदान की है। भारतीय काव्यशास्त्र ने रूपकातिशयोक्ति, उपमा, रूपक आदि अलंकारो की संकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। आधुनिक शैलीविज्ञान या काव्यशास्त्र के अधीतियो के लिए कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब किसी कविता में उपमान ही होता है, उपमेय नही होता। ऐसी स्थिति जब सामने आती है, तब काव्यशास्त्र के अध्येता यह नही समझ पाते कि वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है, या अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार, या वहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रतीक है।

पश्चिम में प्रतीकवाद का आरम्भ जेराल्ड डी० नर्वल की कृतियो मे हुआ था। रोजेटी और सिल्वी ने उसका अनुवाद किया, अँगरेजी मे। फ्रास मे बोदलेयर, वर्लें और मैलार्मे प्रतीकवादी आन्दोलन के प्रवर्त्तक माने जाते है।

प्रतीक और उपमान वास्तव मे काव्यशास्त्र की भूमि पर एक ही हैं या पृथक्-पृथक्—यह विषय आज के अध्येताओ के समक्ष बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न बनकर उपस्थित हो जाता है। जिस कविता मे केवल अप्रस्तुतविधान-सूचक शब्द ही होता है, वहाँ काव्यशास्त्र का अध्येता यह निर्णय नही कर सकता कि वह शब्द प्रतीकसूचक है अथवा उपमान-सूचक। यह समस्या प्रमुख रूप से रूपकातिशयोक्ति अथवा अप्रस्तुतप्रशसा की स्थिति मे प्रायः उत्पन्न होती है।

प्रतीक की परिभाषा या लक्षण क्या है? इसके सम्बन्ध मे प्राय यह कह दिया जाता है कि अधिक प्रयोग, अर्थात् प्रसिद्धि के कारण उपमान ही प्रतीक बन जाता है।

डॉ० नामवर सिंह अपनी पुस्तक 'छायावाद' (द्वितीय सस्करण, १९६८ ई०, पृ० १०१-१०४) में लिखते है: "हर युग की कविता मे कुछ-न-कुछ उपमान रूढ होकर प्रतीक बन जाते हैं। जैसे, मध्ययुग की कविता मे खंजन अथवा मीन का नाम लेते ही

आँख का बोध होने लगता है। उपमानों की इसी रूढि के आधार पर कवियो ने रूपकातिशयोक्ति का भवन खड़ा किया।"

राम सीता की माँग में सिन्दूर दे रहे है। उसके लिए तुलसी 'रामचरितमानस' (बाल०; ३२५।९) मे लिखते है : 'अरुन पराग जलजु भरि नीकें। ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें॥' यहाँ राम के हाथ को कमल की, सिन्दूर को पराग की, राम की भुजा को साँप की, और सीता के मुख को चन्द्रमा की उपमा दी गई है।

इस अर्द्धाली में उपमान तो है, लेकिन उपमेय नही। इसलिए, भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार, यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। हाथ के लिए कमल और मुख के लिए चन्द्रमा प्रसिद्ध उपमान है भी; इसलिए डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार, यहाँ कमल और चन्द्रमा को प्रतीक भी माना जा सकता है। डॉ० सिंह ने अपनी उक्त पुस्तक ('छायावाद') में इसका उल्लेख भी किया है :

जा दिन यह 'पंछी' उड़ि जइहै।
'पिंजरा' तब सूनो ह्वै जइहै॥ (अज्ञात)

इन पंक्तियो में प्रयुक्त पंछी और पिंजरा को डॉ० नामवर सिंह रूपकातिशयोक्ति मानते हुए उपमान-विधान के अन्तर्गत स्वीकार करते है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनुसार, प्रतीक-विधान के अन्तर्गत भी। सारांश यह है कि डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार, रूपकातिशयोक्ति का पंछी और पिंजरा एक तरफ उपमान है, तो दूसरी ओर प्रतीक भी। अर्थात्, उपमान = प्रतीक।

डॉ० नगेन्द्र का मत है कि "प्रतीक और उपमान की भेदक रेखा सूक्ष्म और तरल है। सामान्यतः, उपमान ही अपनी अति प्रसिद्धि के कारण प्रतीक बन जाता है। उपर्युक्त उद्धरण के 'पिंजरा' को तो इस तर्क से प्रतीक माना जा सकता है; क्योंकि निर्गुण सन्तकाव्य मे इसका शरीर के सन्दर्भ मे बार-बार प्रयोग हुआ है। लेकिन, 'पंछी' को प्रतीक मानना शायद कठिन होगा। उपर्युक्त लक्षण सामान्य प्रतीकों पर ही लागू होता है। अचेतन के प्रतीको या अनुष्ठान आदि से सम्बद्ध प्रतीको की स्थिति सर्वथा भिन्न है।"

डॉ० सिंह तथा डॉ० नगेन्द्र के मतों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि डॉ० सिंह प्रतीक और उपमान में भेद नही करते; लेकिन डॉ० नगेन्द्र प्रतीक और उपमान में कुछ भेद अवश्य स्वीकार करते है।

उपमान-विधान की प्रमुखता रूपकातिशयोक्ति मे ही नही, अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार मे भी रहती है। एक वाक्य इस प्रकार है : 'पक्षियों मे एक चातक ही कृतार्थ है, जो इन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी से याचना नही करता।' इसमे अप्रस्तुत चातक के द्वारा प्रस्तुत स्वाभिमानी याचक की व्यंजना हो रही है। स्वाभिमानी याचक उपमेय और चातक उपमान है। अप्रस्तुत की प्रशंसा के कारण यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी है। डॉ० सिंह के मतानुसार, यहाँ चातक को प्रतीक भी माना जा सकता है और इसका प्रतीयमान स्वाभिमानी याचक माना जायगा।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या प्रसिद्ध उपमान ही प्रतीक है या उपमान और प्रतीक में कुछ अन्तर भी है। यदि कुछ अन्तर है, तो कैसा है, कितना है और किस सन्दर्भ मे है ?

मूल बात यह है कि अप्रस्तुत तो रूपकातिशयोक्ति अथवा अप्रस्तुतप्रशंसा मे भी रहता है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रतीक-विधान मे भी। अन्तर यह है कि प्रतीक मे रहनेवाला अप्रस्तुत-विशेष अपने प्रस्तुत को अनेक सूक्ष्म स्तरो के साथ विस्तृत आयामो मे उद्घाटित किया करता है। प्रतीक के अप्रस्तुत से प्रस्तुत के भाव की प्रभावशालिता और मार्मिकता अधिक बढ जाती है। एक प्रतीक पुंजीभूत प्रतीयमानो को भी व्यंजित किया करता है। कमल जब रूप और गुण के साम्य को व्यष्टि-रूप मे प्रकट करेगा, तब वह उपमान होगा और मुख उपमेय होगा, लेकिन जब कमल से सुन्दरता, कोमलता, स्निग्धता, गन्ध, निर्लेपता, उदात्तता, निर्मलता आदि भावपुंज की व्यंजना होगी, तब वह प्रतीक होगा। एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि प्रतीक में उपमान अन्तर्भूत भी हो जाता है। उपमान जब रूपगुण-साम्य से अलग क्रियासाम्य, भाव-साम्य या प्रभावसाम्य को प्रकट करता है, तब वह प्रतीक बन जाता है।

> हर सड़क पर, हर गली में,
> आज आतिशी शीशे बहुत पाये जाते हैं,
> जो किसी क्षण, किसी जगह,
> आग लगाने से नहीं चूकते।

इन पंक्तियो मे प्रतीक है आतिशी शीशा और प्रतीयमान है प्राणघातक ईर्ष्यालु व्यक्ति। यह साम्य सारूप्य या साधर्म्य पर आधृत नही है।

> आज मै देख रहा हूँ मौन,
> युगान्तर से 'मानवता' त्रस्त।
> 'द्रौपदी-सी' लुटती असहाय। (रांगेय राघव)

इन पंक्तियो मे द्रौपदी प्रतीक है और मानवता प्रतीयमान। यहाँ द्रौपदी और मानवता में रूप-गुण-साम्य नही है, इसलिए द्रौपदी को उपमान और मानवता को उपमेय नही माना जा सकता।

> उठो उठो मेरे 'शिव', ताण्डव करो, कुहराम मचा दो।
> कंकालो की अस्थि-नींव पर खड़े विश्व-साम्राज्यवाद की,
> आज ईंट-से-ईंट बजा दो।' (शिवमंगल सिंह 'सुमन')

इन पंक्तियों मे शिव प्रतीक और मजदूर-किसान प्रतीयमान है।

> यह 'दीप' अकेला स्नेहभरा,
> है गर्वभरा मदमाता, पर
> इसको भी 'पंक्ति' को दे दो। (अज्ञेय)

यहाँ दीप प्रतीक है और व्यक्ति प्रतीयमान। पंक्ति प्रतीक है और समाज प्रतीयमान।

फूल लाया हूँ कमल के,
क्या करूँ इनका ?
पसारें आप अंचल, छोड़ दूँ,
हो जाय जी हलका। (भवानीप्रसाद मिश्र)

इन पंक्तियों में कमल के फूल प्रतीक और कवि के गीत प्रतीयमान हैं।

क्या करूँ जो 'शम्भुधनु' टूटा तुम्हारा,
तोड़ने को मैं विवश हूँ। (गिरिजाकुमार माथुर)

टूटा शम्भुधनु प्रतीक है और टूटी हुई तथा विगलित परम्परागत रूढ़ियाँ प्रतीयमान।

महाप्राण निराला की एक कविता है :

टूटे सकल बन्ध,
कलिके ! दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गन्ध।
(सम्पादक : रामविलास शर्मा, 'राग-विराग' से)

क्रान्तिकारी परिवर्त्तन के लिए निराला ने कली का खिलना प्रतीक-रूप मे प्रस्तुत किया है। उक्त पंक्तियों की वाक्यरचना में कली का खिलना अभिव्यक्त है और यही क्रिया प्रतीक है।

रूपकातिशयोक्ति का अप्रस्तुत सीमित प्रस्तुत को सूचित करता है। वहाँ कमल केवल हाथ को और चन्द्र केवल मुख को सूचित करेगा। लेकिन, जब कमल से निर्लिप्त आत्मा की अनेक भाव-व्यंजनाएँ होंगी और सरोवर-जल से ब्रह्म की व्यंजना होगी, तब कमल प्रतीक बनेगा। उस समय कमल से शुद्धता, स्वच्छता, निर्लेपता, शाश्वत विकासशीलता, दिव्यता आदि पुंजीभूत भावों का संकेत मिलेगा। उस स्थिति में कमल प्रतीक ही कहा जायगा, उपमान नहीं। जैसे :

काहे री नलिनी तू कुम्हलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी॥
जल में उतपति जल में बास।
जल में नलिनी तोर निवास॥ (कबीर)

इन पंक्तियों में नलिनी (कमलिनी) प्रतीक और आत्मा प्रतीयमान है। सरोवर का जल ब्रह्म है। अतः, सरोवर-जल प्रतीक और ब्रह्म प्रतीयमान है।

प्रतीक लक्षणानिरपेक्ष भी हो सकता है। पात्र, घटना और कथानक भी प्रतीक के रूप में आ सकते हैं। प्रतीकों के भेद भी हो सकते हैं। जैसे : १. प्राकृतिक प्रतीक २. सांस्कृतिक प्रतीक, ३. ऐतिहासिक प्रतीक और ४. सैद्धान्तिक प्रतीक।

निम्नांकित कविता मे पात्रसूचक व्यंजनागर्भ ऐतिहासिक प्रतीक है—अभिमन्यु :

खूब हँसो और बाँसो उछलो, अपनी विजय-श्री पर।
तुमने उस निहत्थे 'अभिमन्यु' को जो मारा है, उस समय;
जब वह अपने रथ का पहिया निकाल रहा था।

प्रतीक के तीन विकसित सोपान हैं १. फैन्सी, २. कल्पना और ३ प्रतीक।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में स्पष्ट लिखा है कि 'प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नही, वलिक भावना जाग्रत् करने की निहित शक्ति है।' इसी कथन के समर्थन मे आचार्य शुक्ल अपने ग्रन्थ 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे भी लिखते है : "छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभावसाम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कही-कही तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभावसाम्य लेकर ही अप्रस्तुतो का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप मे या प्रतीकवत् (सिम्बॉलिक) होते हैं। जैसे सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल, प्रेमी के स्थान पर मधुप।" (आचार्य शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', संवत् २०२५ वि०, पृ० ६३९)

प्रतीक प्राय कल्पना के सहारे प्रारम्भ मे स्वय कवियो द्वारा मानकर तथा रचकर प्रयुक्त कर दिये जाते हैं। इसलिए, प्रारम्भ मे उनको समझना भी कठिन हो जाता है। आज की नई कविता मे सम्प्रेषणीयता का अभाव इसलिए भी पाया जाता है कि उसमे कवियो के द्वारा प्रयुक्त प्रतीक उनके ही अपने मानसलोक के प्रतीक है। उनमे कवियो की अपनी निजता है। उन प्रतीको के माध्यम से जिन भावो और विचारों को वे कवि सकेतित करना चाहते हैं, वे प्रतीक अभी सार्वभौम नही बने है। अभी उन्होने लोकहृदय मे प्रवेश नही किया है। एक कविता मैंने किसी मासिक पत्र मे पढी थी। उसकी पक्ति इस प्रकार है

'आज युगो के बाद हिमालय हिचकी भरकर रोया।'

इस पक्ति में हिमालय प्रतीक और महात्मा गान्धी प्रतीयमान है। यह बात मेरी समझ मे तब आई थी, जब इस कविता को मैं आदि से अन्त तक पढ गया और अन्त मे, कोष्ठक मे यह लिखा भी पढ लिया, 'कस्तूरबा के निधन पर।'

महाराणा प्रताप द्वारा लिखित पत्र को जब पृथ्वीराज ने पढा था, तब पृथ्वीराज ने अकबर से कहा था कि यह पत्र जाली है। दूसरी तरफ पृथ्वीराज ने महाराणा को यह लिखा था : 'लगता है, अब हिमालय तालाब मे डूबने जा रहा है।' इस पंक्ति मे हिमालय प्रतीक है और महाराणा प्रताप प्रतीयमान। सन्दर्भ या प्रसंग के आँगन मे हिमालय एक स्थल पर महात्मा गान्धी को सकेतित करता है, तो दूसरे स्थल पर महाराणा प्रताप को। एक कहानी मे यह वाक्य था 'मेरी बात सुनकर उसकी अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो गई।' यहाँ अग्नि प्रतीक और क्रोध प्रतीयमान है।

'कठोपनिषद्' (अ० २, वल्ली १, मन्त्र ८) में परमेश्वर को अग्नि बताया गया है : **'अरण्योर्निहतोः जातवेदा ।'** यहाँ **जातवेद** (अग्नि) प्रतीक और **परमेश्वर** प्रतीयमान है ।

'ऋग्वेद' का ऋषि उस परम चेतन सत् को अग्नि, यम तथा मातरिश्वन् कहता है : **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।'** (ऋक्, १।१६४।४६) । इस मन्त्र मे वह सत् प्रतीयमान है और अग्नि, यम तथा मातरिश्वन् उसके प्रतीक है। आँख प्रतीक पर रहे और मन परम चेतन सत्ता पर, ऋषि यही चाहता है। ये प्रतीक भावना जाग्रत् करने के लिए ही हैं । इनमें रूप-गुण-साम्य नही है ।

एक ही प्रतीक, सन्दर्भ-भेद से पृथक्-पृथक् प्रतीयमानो को सूचित कर सकता है। उपमान मे ऐसा नही होता । जैसे एक स्त्री दूसरी स्त्री से कहने लगी : 'तुझे मालूम है क्या ? मालती के घर मे बहुत सुन्दर बटुआ आया है ।' यह वाक्य उस स्त्री ने तब कहा था, जब मालती का पुत्र विवाह करके लौटा था । इस सन्दर्भ मे **बटुआ** प्रतीक है और इस प्रतीक का प्रतीयमान है छोटी-सी सुन्दर विवाहिता बहू, जिसका विवाह मालती के पुत्र के साथ हुआ है ।

अब निम्नांकित लोकगीत की पंक्तियों में प्रयुक्त **'बटुआ'** शब्द पर ध्यान दीजिए :

सरकै नाहिं बटुआ डोरी बिना ।
सोने कौ लोटा गंगाजल पानी ।
पीवै नाहिं रसिया गोरी बिना ।। सरकै नाहिं....।।

इस गीत में **'बटुआ'** शब्द रसिया को सकेतित करता है। अतएव, यह कहा जा सकता है कि **बटुआ** प्रतीक है और **रसिया** प्रतीयमान। **डोरी** प्रतीक है और **गोरी** प्रतीयमान।

सस्कृत तथा हिन्दी के काव्यग्रन्थों में **कमल** एक प्रसिद्ध उपमान है, जो नेत्र उपमेय के लिए प्रयुक्त किया जाता है । **अप्पयदीक्षित** ने अपने अलंकार-ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' मे रूपकातिशयोक्ति का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है : **'पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान् नि.सरन्ति शिताः शरा.'** । (देखो, नील कमल से तीक्ष्ण बाण निकल रहे है ।) इस उद्धरण मे **कमल** उपमान और **नेत्र** उपमेय है। **बाण** उपमान और **कटाक्ष** उपमेय है। यह व्यष्टिसूचक अप्रस्तुत-विधान है । कमल बहुत ही प्रसिद्ध उपमान है और यह नेत्रो के लिए रूढ भी हो गया है । तो क्या, यहाँ कमल को प्रतीक कहा जा सकता है ? कवि **भूषण** की एक पंक्ति है : **'झरैं अरबिन्दन ते बुन्द मकरन्द के।'** इस पंक्ति का **अरबिन्दन** आँखों के लिए आया है और **मकरन्द के बुन्द** का प्रयोग आँसुओं के लिए है। अत., **अरबिन्दन** उपमान और आँखें उपमेय है । यह रूपकातिशयोक्ति का सुन्दर उदाहरण है ।

डॉ० नामवर सिंह के मतानुसार, **अरबिन्दन** प्रतीक है; क्योंकि यह आँखों के लिए रूढ हो गया है । उनका मत है कि उपमान रूढ होकर प्रतीक बन जाते है। हमारा मत है कि **भूषण** की उपर्युक्त पंक्ति मे आज भी **अरबिन्दन** को उपमान ही माना जायगा; क्योंकि यह सारूप्य और साधर्म्य को आधार मानकर चला है और चलता आया है। इसका सम्बन्ध व्यष्टि से है, समष्टि से नही ।

छायावादी कवियों ने प्रिया के लिए मुकुल शब्द का प्रयोग किया है। 'मुकुल' मे रूपसाम्य या गुणसाम्य नहीं है। कवि की दृष्टि से भावोद्‌बोधन का प्रभावसाम्य माना जा सकता है। इसलिए, 'मुकुल' प्रतीक और 'प्रिया' प्रतीयमान है। आचार्य शुक्ल का भी प्रतीक के सम्बन्ध मे यही मत है। कवि की मनोभाव-भूमि को प्रिया जिस तरह प्रभावित करती है, कुछ-कुछ उसी प्रकार मुकुल ने भी उसे प्रभावित किया है, इसीलिए मुकुल प्रतीक माना जाना चाहिए, उपमान नही। कवि प्रतीको को अपनी कल्पना से सृष्ट किया करते है। प्रतीक को विचार या भाव का सकेत-मात्र समझा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे प्रतीक किसी प्रतीयमान के लिए यो ही निश्चित कर लिया जाता है। जब उसका प्रयोगातिशय सामूहिक भावो की अभिव्यक्ति करने लगता है, तब उस प्रतीक को सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है।

प्रतीक और प्रतीयमान युगानुसारी भी होते है। वैदिक सहिता-काल मे अन्धकार अज्ञान का प्रतीक था। छायावादी हिन्दी-कविता मे अन्धकार दु ख का प्रतीक बन गया. '**आरोह तमसो ज्योतिः।**' (अथर्व०, ८।१।८) अर्थात्, अज्ञान से ज्ञान की ओर बढो। 'मेरे जीवन मे अन्धकार।' (छायावादी हिन्दी-कविता) अर्थात्, मेरे जीवन मे दु ख है।

हमारा राष्ट्रीय ध्वज 'तिरगा झण्डा' है। इसके तीन रंग क्या सकेत करते है, इसे कोई सुगमता से नही जान सकता। तिरगे झण्डे के रगो का एक इतिहास है। इसके तीन रग प्रतीक-मात्र है। सन् १९२९ ई० मे **महात्मा गान्धी** ने तिरंगे के तीनो रगो को इस प्रकार प्रतीक रूप मे निश्चित किया था

प्रतीक	प्रतीयमान
१ लाल रग	१. हिन्दू-जाति
२ हरा रंग	२. मुस्लिम-जाति
३ सफेद रग	३. अन्य सब सम्प्रदाय तथा जातियाँ

फिर, सन् १९३९ ई० मे **वल्लभभाई पटेल** ने तीनो रंगो मे कुछ परिवर्त्तन किया और इस प्रकार प्रतीक निश्चित किये .

प्रतीक	प्रतीयमान
१ केसरिया रंग	१. साहस और त्याग
२ हरा रग	२ निष्ठा और शौर्य
३. सफेद रंग पर चरखा	३. सत्य

सन १९४७ ई० मे सविधान-सभा मे जो निर्णय किया गया, वह इस प्रकार था · सफेद रग पर चरखे का स्थान अशोकचक्र ने ले लिया। उस अशोकचक्र मे चौबीस अरे थे। सारनाथ के सिंह-स्तम्भ पर जो अशोकचक्र है, उसे ग्रहण किया गया। तब, पं० जवाहरलाल नेहरू ने उस तिरंगे झण्डे को भारत की प्राचीन सस्कृति का प्रतीक बताया। अब तिरंगा झण्डा हमारी स्वतन्त्रता, शान, गौरव तथा प्राचीन सस्कृति का प्रतीक माना जाता है।

स्वस्तिक चिह्न भी भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। वेदमन्त्रों मे 'ॐ' प्रतीक है, सृष्टि, संस्कृति और नादब्रह्म का। ये तीन प्रतीयमान हैं और इनका प्रतीक एक 'ॐ' है।

प्रतिमा और प्रतीक मे अन्तर है। एक प्रतिमा में अनेक प्रतीक समाविष्ट रह सकते हैं। विष्णु की एक प्रतिमा में निम्नांकित प्रतीक समाविष्ट हैं :

प्रतीक	प्रतीयमान
१ हृदय की कौस्तुभ मणि	१. निर्मल-निर्लेप आत्मा
२. एक हाथ में गदा	२. शक्ति
३. शंख	३. निर्भयता प्रदान करनेवाला
४. चक्र	४. संसार-गति

'रामचरितमानस' का प्रतीक कैकयी गृह-कलह, स्वार्थ, विघटन, आपत्ति आदि कई प्रतीयमानो को सूचित करती है। इस तरह एक प्रतीक कई प्रतीयमानों को अभिव्यंजित किया करता है। प्रतीक लक्षणागर्भ और व्यंजनागर्भ भी हुआ करते हैं।

एक उपमान का प्राय: एक ही उपमेय हुआ करता है। अर्थात्, उपमान का सम्बन्ध व्यष्टि से है। एक प्रतीक के कई प्रतीयमान हो सकते हैं, अर्थात् प्रतीक का सम्बन्ध समष्टि से है। प्रतीक बिम्ब से भी पृथक् है। बिम्ब का सम्बन्ध प्रमुखतः चक्षुओं से है। चाक्षुष बिम्बो को ही बिम्ब मानना चाहिए। बिम्बो में रंग-रेखाओं द्वारा प्रभावी चित्रांकन प्रमुख होता है। प्रतीक प्राय. व्यंजनात्मक होते हैं। उपमान जहाँ रूप और धर्म से सम्बद्ध है, वहाँ प्रतीक प्रभावसाम्य से विशेषरूपेण सम्बद्ध है। प्रतीक का आयाम उपमान से बड़ा होता है। प्रतीक पूरे कथानक को भी समेट सकता है। पूरी घटना भी उसमें समाविष्ट हो सकती है। श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने वशिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष को आधार मानकर एक खण्डकाव्य की रचना की है, जिसका शीर्षक है 'सर्गान्त'। उसके कथानक मे वशिष्ठ मुनि शान्ति के, विश्वामित्र दम्भ के और राजा कल्माषपाद क्रोध के प्रतीक माने जा सकते हैं।

जैसा कहा गया, मानस की कथा के प्रसंग मे कैकयी अनेक प्रतीयमानो को अभिव्यंजित करती है। किसी कविता-छन्द मे जब कैकयी किसी कलहकारिणी नारी के लिए उपमान बनकर आयगी, तब वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार का अप्रस्तुत तत्त्व होगी। किसी कलहकारिणी स्त्री के लिए एक व्यक्ति ने यह वाक्य कहा : 'देखो, कैकयी आ गई!' यहाँ कैकयी उपमान है, प्रतीक नही। आज लोक में कलहकारिणी स्त्री के लिए कैकयी शब्द बहुत प्रचलित है। फिर भी, हम यहाँ कैकयी को प्रतीक नहीं कहेगे। कैकयी उपमान ही मानी जायगी। यहाँ कैकयी गुणसाम्य (धर्मसाम्य) को लेकर प्रयुक्त है और वह व्यष्टि की सूचक भी। प्रतीक प्रभावसाम्य को लेकर चलता है और वह भावपुंज (समष्टि) का सूचक होता है। काव्यशास्त्र की भूमि में उपमान और प्रतीक में यही अन्तर है। ••

△ ८१७, हरिनगर
अलीगढ़ : २०२००१ (उ० प्र०)

महाकवि व्रजनिधि और उनके काव्य

△ डॉ० सन्तकुमार शर्मा

राजाओं एवं राजपूतों के स्थान राजस्थान की भूमि वीर-प्रसविनी, वीर-रक्षिणी तथा साहित्य-सरिता को सतत प्रवाहित करनेवाली रही है। यहाँ का साहित्य चारण-भाटो, जैन कवियों, राजाओं एवं सन्त-महात्माओं की देन है। यहाँ वीर और भक्ति के साथ ही रीतिकालीन साहित्य की भी प्रमुख रूप से सृष्टि हुई है। राजस्थान के इस परिवेश में जयपुर के शासको का योगदान श्लाघ्य एवं स्तुत्य है। यहाँ के सवाई प्रतापसिंह 'व्रजनिधि' रसिक भक्त, काव्यकर्त्ता, संस्कृति एवं साहित्य के संरक्षक-सम्पोषक तथा महान् शासक के रूप में चिन्तनीय एव स्मरणीय है। इनके शासनकाल मे जितनी साहित्यिक श्रीवृद्धि हुई, उतनी अन्य किसी समय नही हो सकी।

सवाई प्रतापसिंह का जन्म स० १८२१ वि० की पौष कृष्ण-द्वितीया, तदनुसार सन् १७६४ ई० के ९ दिसम्बर को जयपुर में महाराणी चूड़ावतजी के गर्भ से हुआ। वह जयपुर के निर्माता सवाई जयसिंह के पौत्र एवं सवाई माधोसिंह के पुत्र थे। पन्द्रह वर्ष की अल्पायु मे ही वह स० १८३५ वि० की वैशाख कृष्ण-तृतीया को सिंहासनारूढ हुए, और पच्चीस वर्ष, तीन माह, पच्चीस दिन शासन एवं साहित्यिक कोष की श्रीवृद्धि करके सं० १८६० वि० की श्रावण शुक्ल-त्रयोदशी, तदनुसार सन् १८०३ ई० के १ अगस्त को दिवंगत हुए। इतनी अल्पायु में विलासिता, शृंगारिकता, संघर्षमय जीवन, राजनीतिक रहस्य एवं शासनतन्त्र के भार आदि के वातावरण मे भी, जल मे पद्मपत्र के समान निर्लिप्त रहकर भक्ति से ओतप्रोत रचनाएँ करना इस राजा की विशिष्टता ही रही।

महाकवि व्रजनिधि एवं उनकी रचनाओं के बारे मे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'व्रजनिधि-ग्रन्थावली' के अतिरिक्त अन्य प्रामाणिक सूचना अद्यावधि अनुपलब्ध थी। इस ग्रन्थावली मे व्रजनिधि की तेईस रचनाएँ प्रकाशित की गई हैं। मिश्रबन्धुओ ने उनकी सात रचनाओ का उल्लेख किया है।[1] डॉ० गजानन्द मिश्र ने ग्रन्थावली के अतिरिक्त तीन रचनाओ—'आरतीसग्रह', 'राजनीति' एवं 'रासरसतरंग' के नाम निर्दिष्ट कियें है।[2] इनके अतिरिक्त, अन्य सूचना उपलब्ध नही थी। मुझे शोध-काल में व्रजनिधि के कुल ४८ ग्रन्थ देखने को मिले है। इन ग्रन्थों मे समस्त को यहाँ

१. मिश्रबन्धु : मिश्रबन्धुविनोद, नाम-सं० १०१२, पृ० ८१५।

२. जयपुर के हिन्दी-कवियों के योगदान का मूल्यांकन (शोध-प्रबन्ध), पृ० २४३।

विवेच्य न बनाकर केवल प्रमुख दस ग्रन्थों की विवृति इस लेख मे समाविष्ट की जा रही है। ये ग्रन्थ इस प्रकार है : १. रसभास्कर; २ श्रृंगारसुधानिधि; ३ राजनीति; ४ प्रेमपदार्थ-चन्द्रिका; ५. प्रेमपदार्थटीका; ६. ब्रजनिधिचरितशतक; ७ हस्तिनामावली, ८. आरतीसंग्रह; ९. चान्द्रायण और १० दानलीला।

१ **रसभास्कर**[1] : यह नवरसपरक लाक्षणिक ग्रन्थ है। ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकाश (अध्याय) के अन्त की पुष्पिका से ग्रन्थ का सवाई प्रतापसिंह-कृत होना स्पष्ट होता है। यथा : "**इति श्रीमन्महाराजाधिराजमहाराजराजराजेन्द्रश्रीसवाईप्रतापसिंह-देवविरचिते भास्करे.......रसवर्णन नाम.. .... प्रकासः।**"

उन्ही के आश्रित कवि **गणपति भारती** के रसपरक ग्रन्थ 'रससिरताज' में सवाई प्रतापसिंह द्वारा कवि को दिया गया आदेश भी इसकी पुष्टि करता है। यथा :

हुकम कर्‌यो तासो तहाँ नृपवर बुद्धि अपार।
'रसभास्कर हमने कर्‌यो' ताको अति विस्तार।।
ताते ता अनुसार ही, सूक्ष्म ग्रन्थ करि देहू।
रस सिरताज सु तासु को नाम भले करि लेहू।।

गणपति भारती के ग्रन्थ मे उद्धरण-चिह्नाकित पंक्ति का उद्धृत होना निश्चय ही यह सिद्ध करता है कि 'रसभास्कर' के रचयिता ब्रजनिधि थे। **भारती** भी अद्यावधि अज्ञात थे; किन्तु हमारे शोध मे यह और इनके २८ ग्रन्थ भी प्रकाश मे आये है।[2]

ग्रन्थ का मंगलाचरण छप्पय से किया गया है। मगलाचरण मे गणेश, सरस्वती, भगवान् शकर, गोविन्द आदि की वन्दना है। तत्पश्चात् काव्यप्रयोजन, विभावादि-वर्णन एव साहित्यशास्त्रोक्त नौ रसो का वर्णन है, जो इस प्रकार है :

प्रथमो प्रकास.	.	विभावादिवर्णन	पृ० १ से ६ तक
द्वितीयो प्रकासः	:	श्रृंगाररसवर्णन	पृ० ७ से २४ तक
तृतीयो प्रकास.	:	हास्यरसनिरूपण	पृ० २५ से ३७ तक
चतुर्थो प्रकासः	:	करुणरसलक्षण	पृ० ३७ से ४१ तक
पंचमो प्रकास·	:	रौद्ररसवर्णन	पृ० ४१ से ५९ तक
षष्टमो प्रकास.	:	वीररसवर्णन	पृ० ५९ से ८६ तक
सप्तमो प्रकासः	:	भयानकरसवर्णन	पृ० ८६ से ९४ तक
अष्टमो प्रकासः	:	विभत्सवर्णन	पृ० ९४ से १११ तक
नवमो प्रकास.	:	अद्‌भुतरसवर्णन	पृ० १११ से ११७ तक
दशमो प्रकासः.	:	शान्तरसवर्णन	पृ० ११७ से १२५ तक

१ इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति महाराजा सयाजीराव के संग्रहालय-पुस्तकालय में संगृहीत ग्रन्थ-सं० १७०० पर उपलब्ध है।

२. द्र० शोध-प्रबन्ध : 'ब्रजनिधि और उनका कविमण्डल', पृ० ३९-४०।

इस ग्रन्थ मे रसवर्णन मम्मट के मतानुसार है। रस के बिना कविता सम्भव नही। यथा

रस बिन कवितु न होत है, यह जानत सब कोय।
ताते रसवर्णन करौं, मम्मट मत को जोय ॥[1]

प्रत्येक रस का पहले लक्षण दिया गया है, तत्पश्चात् सुन्दर उदाहरणो से उसकी पुष्टि की गई है। अधिकतर रसो के स्वनिष्ठ एवं परनिष्ठ रूप देकर उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। इन लक्षणो एव उदाहरणो मे कवित्त, कुण्डलिया, दोहा, छप्पय, मोतीदाम, भुजंगी, त्रिभगी, हरिगीतिका आदि छन्दो का प्रयोग हुआ है। सवैये भी सुन्दर बन पड़े है। रसखान की तुलना मे उसे रखने का लोभ-संवरण नही किया जा सकता। यथा :

छाँड़ि समाधिन को सनकादिक ध्यान मे आवत पांवनि ही परै।
सिष्ट वशिष्ट सहै तप कष्ट तऊ तिह देपन काज जरै॥
भारती सौ भयौ नन्द कुमार कहौ इनकी गति कौ उचरै।
'गावरी की वृषभानु की डावरी' तापर भावरी सी भरियौ करै ॥[2]

उद्धरण-चिह्नांकित पंक्ति मे स्वाभाविकता, भाषागत सरलता, खिजलाहट, दर्शक की निर्णय-दृष्टि की ईर्ष्या एवं 'भावरी सी भरियौ करै' की चित्रात्मकता को नकारा नही जा सकता। यह ग्रन्थ मेरे शोध-प्रबन्ध से पूर्व साहित्यिक जगत् मे पूर्णत. अज्ञात था। लाक्षणिक ग्रन्थ होते हुए भी इसके उदाहरणो मे कवि की काव्यात्मकता, सरसता एवं परिपक्वता झलकती है। ग्रन्थान्त की पुष्पिका के अनुसार, इस ग्रन्थ का रचनाकाल वैशाख कृष्णपक्ष ७, बृहस्पतिवार सं० १८४३ वि० निर्धारित होता है।[3]

२. शृंगारसुधानिधि[4] : इस ग्रन्थ की रचना का श्रेय भी व्रजनिधि को ही है। ग्रन्थ का विषय राधारूप-सौन्दर्य-वर्णन एवं उनके प्रिय कृष्ण के विभिन्न रूपो का चित्रण है। राधा का अभिसारिका-रूप एव कृष्ण के संग केलि-चित्रण सामान्य नायक-नायिका के रूप मे उभरकर सामने आये है। राधा-कृष्ण के अतिरिक्त कतिपय चित्र इस प्रकार के भी है, जिनका भक्ति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है। इस प्रकार के भावपरक छन्द इसी रचना मे प्राप्य है। अन्यथा, व्रजनिधि की प्रत्येक रचना भक्तिभाव मे ही अनुस्यूत है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ गणेशवन्दन से होता है। दोहा-सं० २ से १४ तक [illegible] (राजवंश) का वर्णन किया गया है। इसके आगे के वर्णनो मे क्रम नही है। [illegible]

१ रसनाटकर, दोहा-सं० १० ।

२ उपरिवत्, पृ० ११३, दोहा-सं० ९ ।

३ संवत अष्टादश सतक त्यालीस नृप सार।
असित पक्ष वैसाख की सप्तमि सुरगुरुवार ॥२८॥

४. इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति महा० रा० के मदपालय-पुस्तकालय मे ग्रन्थ-सं० १९४८ पर उपलब्ध है।

जन्य सुख का वर्णन है, तो कहीं वियोगजन्य दुःख का। कहीं नायक के अंगों का प्रसंग है, तो कहीं रतिविलास का। ग्रन्थ में कुल २४९ कवित्त, सवैया एव दोहे ६१ पृष्ठों में लिखे गये है। ग्रन्थ में अधिकांश चित्र नायक-नायिकापरक है। कही नवोढा नायिका के मुख से अमृत-बैन झरते है तथा कुचभार से कमर लचकती है, तो कही विरहिणी नायिका की विरहदग्ध स्थिति से कवि की सहानुभूति परिलक्षित होती है। नायिका ने सभी रागरंग, सखियो का संग एव घर के अन्य प्रसंग छोड़ दिये है। विरह के प्रलाप एवं विरहाग्नि से सन्तप्त नायिका के उपचार मे चन्दन, बिजन, केसर आदि का उपयोग करने पर भी नायिका का ताप शान्त नही हो पाती है। यथा .

तजें राग रंग सब सखिन के संग छाँड़े घर के प्रसंग बकै आक बाक सान मैं।
चंदन चतावै सखी ज्यों ज्यों दुःख पावै लगै कमल बिजन तेज जैसे तेज भान मैं॥
ब्रजनिधि कह्‌ प्यारी केसरि की क्यारी दुती बिझुकि बिझुकि मन बूड़त उफान मैं।
न्हान की न सुधि न सम्हार खान पानन की जरि जरि उठै तन बिरह कसान मैं॥[1]

बिहारी कवि के अनुसार, अबतक यह स्थिति तो सामने आई है कि गुलाब की शीशी विरहिणी पर उड़ेलने से वह बीच में सूख जाती है, अर्थात् विरहाग्नि की शान्ति में उसका आंशिक योगदान अवश्य है। किन्तु, ब्रजनिधि की इस नायिका की विचित्र स्थिति है कि ज्यों-ज्यो शीतल पदार्थों का प्रयोग होता है, त्यो-त्यो उसकी विरहाग्नि भड़कती है। यह अतिशयोक्ति, विरोधाभास एवं ऊहात्मक स्थिति अपने-आपमें विशिष्ट ही है।

इस शृंगारी ग्रन्थ का प्रारम्भ सं० १८४१ वि० की वैशाख सुदी त्रयोदशी, सोमवार को हुआ एवं समापन सं० १८४२ वि० की माघ सुदी पंचमी को।[2] पुष्पिका मे रचना-समाप्ति की तिथि सं० १८४८ दी गई है।[3] सम्भवतः, यह समय उस लिपिकार का है, जिसने उपलब्ध पोथी की प्रतिलिपि तैयार की होगी।

३. **राजनीति** :[4] यह गद्यरचना भी ब्रजनिधि की है। मुझे इसकी जो प्रति उपलब्ध हुई है, वह सम्भवतः किसी अन्य व्यक्ति की लिखी हुई है; क्योंकि ग्रन्थारम्भ में 'प्रताप-

---

१. शृंगारसुधानिधि, कवित्त-सं० ३८।

२. ग्रंथ को जनम भयो संवत् अठारह से च्यार पर येक धरि अति मन भायो है।
परम पुनीत बइसाष मास शुक्ल पक्ष तेरसि सु सोमवार छबि सरसायो है॥
ग्रंथ परिपूरण अठारह से च्यार बोय माघ सुदी पांचे शुक्रवार छबि छायो है।
माधव तनय श्रीप्रताप रचना करिके नाम सु शृंगारसुधानिधि के बनायो है॥

३. पुष्पिका : "श्रीमन्महाराजाधिराजमहाराजराजराजेन्द्रश्रीसवाईप्रतापसिंहदेव-विरचिते शृंगारसुधानिधि नाम ग्रन्थः समाप्तोऽयम्। संवत् १८४८ का॥ मिति श्रावण कृष्ण १३ गुरुवासरे॥ शुभ संवत्॥ कल्याणमस्तु॥"

४. इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति महा० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में ग्र० सं० १४९६ पर उपलब्ध है।

प्रशंसा' के दोहे एवं सोरठे मिलते है। स्वयं कवि ऐसा नही कर सकता। रचना तीन अध्यायो मे बँटी हुई है. १ नृपति-राजनीति-वर्णन; २. राजा-प्रशसा और ३. सेवगधर्म-वर्णन।

ग्रन्थ का प्रारम्भ सरस्वती एवं गुरु की वन्दना से किया गया हैं। इसके तीनो अध्यायों का अध्ययन करने से स्वामी-धर्म की नीति स्पष्ट हो जाती है। यथा :

इन तीनो परभावकों, सुनें चतुर चित लाय।
स्वामिधर्म समझै सदा, सकल पदारथ काय ॥[१]

इस ग्रन्थ की गद्य-वचनिका भी पाठकों के लिए सन्दर्भित है: "प्रथम तो राजा आपका राज कै आपका बंदोबस्त मैं करै। पाछै शत्रु को बंदोबस्त करै। राजा आपके नग की वा देस की वा भूषा पियासा वा अङ्ग हीन वा निराधार की वा दु:षी की वा बेवारिस पुरष तथा स्त्री तथा कोई जीव ज्या की पालना करै. ।"[२] ग्रन्थ मे दिये गये दोहे के अनुसार, इस गद्यकाव्य का समय श्रावण शुक्ला ३, सोमवार, सवत् १८४४ वि० माना जा सकता है।[३]

४. **प्रेमपदार्थचन्द्रिका**[४] : कवि ब्रजनिधि ने एक रागपद मे 'प्रेमपदार्थ' की रचना की है। इस एक पद के पाँच भाग कर कवि ने प्रत्येक के पच्चीस-पच्चीस अर्थ दिये है। यथा . 'अरि यह बात अटपटी हित की' को पच्चीस अर्थो और उदाहरणों से समझाया है। चकोर का अंगारे खाना, चन्द्रमा का दिन मे मलिन रहना, कुमुदिनी का स्नेह, स्वर्ण-सुहाग-स्नेह, कमल-सूर्य, फूल-भ्रमर, पपीहा-स्वातिबूँद, पतंग-दीपक, मीन-जल, मृग-राग, लोभी-धन, लोहा-चुम्वक आदि उदाहरणो से हित की अटपटी स्थिति स्पष्ट की गई है। वचनिका का एक उदाहरण प्रस्तुत है · "सो मैं तो अतहकर्न की बात सवही सुनाई अब अरी है सषी या दुष को लाज करिवौ तोको उचित है। काहू विधि वा ब्रजनिधि सो मोको मिलाय दुषिया को दुष दूर करिवौ, या मैं बड़ो पुण्य है ॥२५॥" इस प्रकार, 'प्रेमपदार्थचन्द्रिका' एवं 'प्रेमपदार्थ-टीका' दोनो एक ही ग्रन्थ है। 'चन्द्रिका' की टीका वस्तुत विद्वत्तापूर्ण है। इसमे कवि ने विषय को जैसा स्पष्ट कर दिया है, वैसा सम्भवत. आगे के टीकाकार नही कर सकते थे।

५. **रासरसतरंगिणी** .[५] जब शरद् ऋतु का आगमन होता है, तव लीलाधर कृष्ण भी व्रजवालाओ के साथ रास रचाते है। इस ऋतु मे मुरली-वादन का अपना महत्त्व है।

---

१. 'राजनीति', दोहा-सं० १०५।
२. द्र० पोथी 'राजनीति', दोहा-सं० १।
३. संवत अठारह वरष, बीते चंवालीस।
श्रावण उज्ज्वल तीज तिथि, बार वरण रजनीस ॥१०६॥
४. इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति महा० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में ग्रन्थ-स० २१९४ पर उपलब्ध है।
५. इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति महा० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में उपलब्ध है।

रास और मुरली के पद विभिन्न राग-रागिनियो एवं आलापचारी दोहों और पदो के रूप मे निबद्ध है। रसास्वादन-हेतु दो काव्यांश :

सुखद सरद सुंदर निसा, प्रगट्यौ पूरन चंद।
जमुनां तीर तमाल तर, बनि बैठे नंद नंद ।।

अधर मधुर मुरली धरी, करी तान की सैल।
परी कांन ब्रजवधुन के, टरी कांनि कुल गैल ।।

रचनाकाल सवत् १८५५ एवं रचनास्थान जयपुर नगर है।

६. ब्रजनिधिचरितशतक[1] : ब्रजनिधि की यह काव्यरचना अपने इष्ट के गुणगान में लिखी गई है। कवि का इष्ट अन्य ईश्वरीय अवतारो की तरह प्रत्यक्ष है। उसके चरित्र का गुणगान यश, समृद्धि एवं भक्तिदायक होता है। इस शतक मे कवि ने ब्रजनिधि (कृष्ण) की मंगलश्याममूर्त्ति को मन में बसाते हुए छन्द की रचना की हैं। शतक का सुमिरन सर्वसिद्धि-प्रदायक है। कवि की अनुभूतिजन्य अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है :

सतक सुनै मन दै गुनै, सोभा बुधि सरसाहि।
ब्रजनिधि भक्ति हियें बसै, सबै सिद्धि है ताहि ।।[2]

सौ पदों एव छन्दों में रचित यह काव्य पूर्णत. भक्ति से ओतप्रोत है। रचनाकाल जेठ की दोयज, रविवार, सं० १८४४ वि० है। जेठ की द्वितीया शुक्लपक्ष अथवा कृष्णपक्ष की थी, यह सन्दिग्ध है।[3]

७. हस्तिनामावली[4] : यह कृति हाथियों के वर्णन को तो इंगित नही करती, किन्तु इसमे कुल ३७ पृष्ठो मे २७१२ हस्तिनाम निर्देशित किये गये है। प्रत्येक वर्ण पर हाथियों के सौ से अधिक नाम है। जैसे : कृष्णगज, करणगज, गालिबगज, घनगम्भीरगज, हंसगजराज आदि। कोश-साहित्य की दृष्टि से रचना का विशेष महत्त्व है।

८. आरतीसंग्रह[5] : इस संग्रह मे कवि ब्रजनिधि के भावसुमन ब्रह्म के सभी अवतारों को अर्पित हुए है। इनमे नृसिंह, परशुराम, कल्कि, मत्स्य, कच्छ, वराह, वामन, बुद्ध

---

१. इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति महा० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में ग्र० सं० १९२७ पर उपलब्ध है।
२. ब्रजनिधिचरितशतक, दोहा-सं० १०१।
३. संवत् ठारै सै चौवाली, जेष्ठ दैज रविवार।
ब्रजनिधि करुनामय सतक, पढिहौं सुकवि संवार ।।
४. इस रचना की ह० लि० प्रति म० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में ग्र० सं० ३६१८ पर उपलब्ध है।
५. इस ग्रन्थ की ह० लि० प्रति म० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में ग्र० सं० १२६६ पर उपलब्ध है।

आदि अवतारों के अतिरिक्त, मोहिनी, हरि, धन्वन्तरि, वेदव्यास, गजोद्धारक हरि, दत्तात्रेय, कपिला, नर-नारायण, ध्रुव, पृथु, हयग्रीव, ऋषभदेव, हंसदेव, यज्ञदेव, सनकादिक, श्रीकृष्ण, गणेश, गोविन्द, अम्बा, शिव, ब्रह्मा, सूर्य तथा रामचन्द्र की आरती कवि ने गाई है। क्र० सं० २३ पर आशीर्वादात्मक छप्पय है :

ध्रुव, बरद, पृथु हयग्रीव और रिषभ, हंस करणा करहु।
सनकादि, यज्ञ अवतार, सब नृप प्रताप रछ्या करहु ।।[1]

'गोविन्द' जयपुर-शासकों के इष्ट के रूप में रहे है। आज भी जयपुर नगर के हजारों नागरिक भगवान् गोविन्द के मन्दिर मे प्रतिदिन दर्शन-हेतु समवेत होते है। इस देव की आरती के कुछ अंश इस प्रकार है .

कंज लोचन भव विमोचन भाल मुकुट विराजितं ।
मुक्त माल विसाल छबि धर पीत पट कटि छाजितं ।।
अधर बंसी अतिप्रशंसी ध्वनित ध्वनि सरसाहि मां ।
श्री नन्द नन्दन जगत् बन्दन पाहि मां हरि पाहि मां ।।
जुरि जो पढ़ैर सुनै सुचित करि यहै ब्रजनिधि आरती ।
ताकैं बसै मुष कमल में नव नित्य नृत्यत भारती ।।
यह लोक में सुष पायकें भव जलधि को सो ही तरै ।
गोविन्द करुना सिन्धु तापै आप ही करुणा करै ।।

रचना का समय ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष दोयज, रविवार, सं० १८४७ है ।[2]

९. **चान्द्रायण** :[3] ब्रजनिधि का यह विनय-अष्टक चान्द्रायण छन्द के रूप मे प्रस्तुत हुआ है। इस छन्द के द्वारा कवि ने अपने इष्ट से कुछ याचना विनय के रूप मे की है। याचना पूरी होने के बाद की निम्नांकित पंक्ति प्रत्येक छन्द के अन्त में रखी है : 'इतना द्यो ब्रजनिधि, फेर नहीं बोलणा ।'

भक्त को अपने इष्ट की न्यूनाधिक सेवा का अवसर भले ही प्राप्त होता रहे, किन्तु इष्ट के दर्शन-हेतु वह सर्वभाव से समर्पित है। कृष्ण की प्रत्येक क्रिया सखीभाव से मुग्ध भक्त को न केवल विमोहित करती है, बल्कि उन्हें इन लीलाओं मे अपने इष्ट के साक्षात् दर्शन की प्रतीति भी होती है। राधाकृष्ण की अष्टयाम सेवा में भी यह भाव प्रमुख रूप से समाविष्ट है। इस रचना की कतिपय काव्य-पंक्तियाँ इस प्रकार है

---

१. आरतीसंग्रह, ह० लि० प्रति, पृ० ७७ ।
२ पुष्पिका : "इति श्रीमन्महाराजाधिराजमहाराजराजराजेन्द्रश्रीसवाईप्रतापसिंहदेव-विरचिता श्रीरामचन्द्रनिराजना सम्पूर्णम् ।। मिति जेष्ठ शुक्ल पक्ष तिथै द्वितीय २ वीतवारे ।। संवत् १८४७ को ।। श्रीरस्तु ।।"
३. इस रचना की ह० लि० प्रति (पु० सं० १३१८) महा० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में सुरक्षित है।

कब ही सेवा कुंज सु झांकी महल की।
हित मंडल की लेहु बुहारी टहल की॥
कब ही बंसीवट तट जमुन तट डोलणा।
इतना द्यो बृजनिधि फेर नहीं बोलणा॥

सुनें भागवत रसिक, अनन्यन सों सदा।
मनत करत नित रहे चित्त में सर्वदा॥
हित कुल को करि दरस, सरस रस चोलणा।
इतना द्यो बृजनिधि फेर नही बोलणा॥[1]

१०. दानलीला[2] : मूल कृति में एक सोरठे के अन्दर ब्रजनिधि नाम का उल्लेख है। शेष दोहों मे कोई नाम दृष्टिगत नही होता। सोरठा इस प्रकार है:

ओछे घट ना समात, जुगल वस्त अति ही घरी।
गुन नहिं गायो जात, ब्रजनिधि लीला रंगभरी॥

व्रजेश्वर की लीलाएँ उनके जीवन के हर पहलू के साथ जुड़ी हुई हैं। राधा का जन्मस्थान—पर्वतमालाओ से घिरा हुआ बरसाना भी कृष्णप्रेमियो से अविदित नहीं है। इन्ही पर्वतो की ऊँची चोटियो पर दो मन्दिर है, जिनमें एक सवाई माधोसिंह द्वितीय जयपुराधीश द्वारा निर्मित है। यही एक संकीर्ण मार्ग 'सांकरी षोरि' के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ कृष्ण-गोपियो की नोंकझोंक होती रहती थी।

दही चुराने और लूटने के प्रसंग तो सामने आये होगे, लेकिन उसी प्रसंग में दही का दान सचमुच न केवल हमारे लिए, बल्कि गोपिकाओं के लिए भी एक अपूर्व बात थी:

सोनों रूपो अरु रतन, बसन दान हूँ होय।
गोरस दांन हि नां सुन्यौं, लेत देत है कोय॥

जिस दान का नाम ही नही सुना, उसी पर दाता और ग्रहीता—दोनों पक्षो में रसधाराएँ प्रवाहित करना ब्रजनिधि की अपनी विशेषता है:

प्रीति भई रस रीति की, दुहूँ ओर इकसार।
उनको मन इन तें लयो, इनको मन उन लार॥

इस दानलीला को पढ़कर भी जिनके मन में हेत (प्रेम) नहीं उपजता, वे सचमुच निष्ठुर, रसहीन एवं मानवता से दूर हैं.

यही दांनलीला सुनै, मन न बढ़े नहि हेत।
वह निश्चै करि जांनियै, वह जीवत हो प्रेत॥

---

१. चान्द्रायण, छन्द-सं० ४-५।
२. इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति महा० स० के संग्रहालय-पुस्तकालय में ग्र० सं० ३४०२ पर उपलब्ध है।

इस रचना में दोहा-सं० ४७ मे उल्लिखित रचनाकाल के आधार पर इसका समय मगसिर बदी, बुधवार, सं० १८५२ वि० है।

उपरिविवृत रचनाओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्रजनिधि पूर्णत. भक्त थे। उनकी रचनाओं मे भाषा-वैविध्य रहा है · हिन्दी (खड़ीबोली), उर्दू, व्रजभाषा, डिंगल, राजस्थानी (जयपुरी ढूँढाड़ी) का प्रचुर प्रयोग हुआ है। निश्चय ही, वह भाषाओ के निष्णात विद्वान् एवं बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। विषय और भाषा की विविधता, काव्यशास्त्र, संगीत, स्थापत्य एवं चित्रकला सभी क्षेत्रो में उनकी पहुँच थी। कविवर ब्रजनिधि का समय सम्पूर्ण जयपुरी-साहित्य का स्वर्णिम काल है।

वर्णित काव्यग्रन्थ अद्यावधि साहित्यिक जगत् मे अज्ञात रहे है। इनमे 'रसभास्कर' तो रस का लाक्षणिक ग्रन्थ है तथा 'राजनीति' नीतिपूर्ण गद्य की रचना। शेष सभी रचनाएँ भक्ति-भावना से ओतप्रोत है। कवि ब्रजनिधि की वदान्यता एवं विदग्धता किसी भी प्रकार के दौर्मनस्य से रहित शुद्ध, सात्त्विक स्थिति की परिचायिका है। उनकी अन्य रचनाएँ भी प्राप्त होने की सम्भावना है। जिस प्रकार रीतिकाल के पद्माकर, देव, बिहारी आदि कवियो के साहित्य अपने विभिन्न रूपों मे साहित्यिको के विवेच्य विषय बने, तदनुरूप ही ब्रजनिधि-साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा है।

●●

△ राजकीय संस्कृत-महाविद्यालय
मनोहरपुर (राजस्थान)

●

महार्घ सम्मति

"परिषद् की गतिविधियो से मैं भली भाँति परिचित हूँ। विगत तीन दशको में, परिषद् ने शोध और अनुसन्धान के क्षेत्र मे उल्लेखनीय कार्य किया है तथा भारत के महान् साहित्यकारो की रचनाओ को हिन्दी-भाषा मे प्रकाशित कर विशिष्ट मानदण्ड भी स्थापित किया है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी प्रशंसनीय उपलब्धियों के कारण बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् देश की अग्रणी सस्था बन गई है। मुझे आशा है कि विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा परिषद् भविष्य में भी अपनी महत्परम्परा को सुरक्षित रखेगी और हिन्दी-भाषा के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान करती रहेगी।"

△ विदेश-मन्त्री, भारत
नई दिल्ली

△ श्री पी० वी० नरसिंह राव

●

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के निबन्ध

डॉ० नरेशकुमार

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। उन्होंने उच्च कोटि के निबन्ध लिखे। हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में उनका योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट है। वैसे तो उन्होंने विविध प्रकार के निबन्ध लिखे, परन्तु सांस्कृतिक एवं कलात्मक विषयों से सम्बद्ध गवेषणापूर्ण निवन्ध लिखने में उनकी सर्जन-क्षमता श्लाघनीय रही। विचारो और तथ्यों का विवेचन वह भारतीय संस्कृति की महिमा को दृष्टि में रखकर करते थे। वह जिस प्रकार वेद, पुराण एवं भारतीय शास्त्रों के प्रति श्रद्धालु थे, उसी प्रकार जनपदीय सस्कृति के प्रति अनुरक्त भी। इसीलिए, उनके निबन्ध इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृति के मौलिक चिन्तन के क्षेत्र मे सातिशय समादृत है। उनके विशिष्ट निबन्ध-संग्रहों की रचना-विवृति इस प्रकार है :

निबन्ध-संग्रहों के नाम	संख्या	पृ० सं०
१. उरुज्योति (सन् १९३७ ई०)	२३	१७७
२ पृथिवीपुत्र (सन् १९४९ ई०)	३७	३६३
३. कला और संस्कृति (सन् १९५२ ई०)	२७	३०६
४. कल्पवृक्ष (सन् १९६० ई०)	२०	१६०
५. माताभूमि (सं० २०१० वि०)	४२	३४०
६. भारत की मौलिक एकता (सन् १९५४ ई०)	१०	१८९
७. वेदविद्या (सन् १९५९ ई०)	२७	२९९
८. वेदरश्मि (सन् १९६४ ई०)	१०	९४
९. वाग्धारा (सन् १९६६ ई०)	२५	२०६
	कुल २२१	२१३४

इनके अतिरिक्त, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थों तथा सम्पादित ग्रन्थो मे भी डॉ० अग्रवाल के लगभग एक हजार निबन्ध प्रकाशित है। यहाँ विषय के आधार पर उनके निबन्धों का विवेचन उपन्यस्त है :

१. व्यक्तिविशेष तथा उनकी जीवनी से सम्बद्ध निबन्ध :

राष्ट्रीय समस्याओ तथा सास्कृतिक विषयों को डॉ० अग्रवाल के निबन्धों मे प्रमुख स्थान प्राप्त है, परन्तु साथ ही उन्होंने व्यक्तिविशेष के व्यक्तित्व तथा जीवन-वृत्त पर भी कुशल चित्रकार की भाँति अपनी तूलिका चलाई है। उन्होंने भारतीय साहित्य के लब्धकीर्त्ति साधकों, मनीषियों, कलाकारों तथा समाजसेवियों का यथार्थपूर्ण मूल्यांकन अपने निबन्धो में किया है। जिस किसी के प्रति उनके हृदय मे श्रद्धा तथा आस्था थी, उसके गुणों का वर्णन

करने मे उनकी लेखनी कभी नही चूकी। कभी-कभी तो व्यक्तिविशेष के व्यक्तित्व पर उन्होने एकाधिक निबन्ध लिखे। 'सेठजी के व्यक्तित्व-सूत्र' (सेठ कन्हैयालाल पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित), 'साहित्य-कामधेनु का सुहस्त दोग्धा',[1] 'हिन्दी के अनन्य सेवक आग्ल विद्वान् श्री ए० जी० शिरेफ'[2] आदि निबन्धो मे महामानवो के पूत व्यक्तित्व तथा उनकी साहित्यसेवाओं पर प्रकाश डाला गया है। 'माताभूमि' निबन्ध-संग्रह में आकलित उनके यथानिर्दिष्ट निबन्ध महात्मा गान्धीजी के व्यक्तित्व तथा कार्यों पर प्रकाश डालते है · 'राष्ट्र का धर्मशरीर', 'चमकीला सत्य', 'मै स्वयं हवि हूँ', 'दावानल-आचमन', 'कर्त्तव्य कर्म की हुण्डी', गान्धी . पुण्यस्तम्भ' और 'गान्धी · राष्ट्रीय बुद्धि-समवाय।'

'कला और संस्कृति' नामक निबन्ध-सग्रह मे मनु, वाल्मीकि, व्यास आदि प्राचीन भारतीय विभूतियो और कलामर्मज्ञ आनन्द कुमारस्वामी, चित्राचार्य अवनीन्द्र, नन्दलाल और यामिनी राय के सम्बन्ध मे लिखे गये निबन्ध इसी कोटि मे परिगणित हो सकते है। 'आनन्द कुमारस्वामी' नामक निबन्ध मे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार, यामिनीराय को कलाकार के रूप मे चित्रित किया गया है और उनके चित्रो के रूप-विधान को भारतीय भूमि मे उपजा हुआ बताया गया है।[3] भारतीय संस्कृति के अग्रदूत 'महापुरुष श्रीकृष्ण' नामक निबन्ध मे श्रीकृष्ण के गुणो पर मानवीय दृष्टि से विचार किया गया है।[4]

डॉ० अग्रवाल के व्यक्तित्वपरक निबन्धो मे 'सच्चे देशभक्त'[5], 'हँसमुखी साहित्यिक'[6], 'सांस्कृतिक शृखलाओ के उद्धारक डॉ० रघुवीर'[7], 'राष्ट्रकवि श्रीगुप्तजी'[8], 'आचार्य ललिता-प्रसाद शुक्ल'[9], 'शुक्लजी की हिन्दी-ससार को देन'[10], 'सच्चे अध्यात्मसाधक साधु टी० एस्० वासवानी'[11], 'विश्वात्मा पुरुष मालवीयजी'[12] आदि इसी कोटि के है। यह भी ध्यातव्य है कि व्यक्तिविशेष के गुणो का विवेचन करते हुए उन्होने उपयोगी ऐतिहासिक सूचनाएँ भी दी है। इस दृष्टि से उनका 'परम भट्टारक महाराजाधिराज श्रीस्कन्दगुप्त'

---

१ 'त्रिपथगा' (श्रद्धांजलि-अंक), वर्ष ८, अंक ११, पृ० ४३-४४।
२. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', ३ फरवरी, १९६३ ई०, पृ० २५।
३. डॉ० अग्रवाल : 'कला और संस्कृति', पृ० २९८।
४. उपरिवत्, पृ० ४९-५०।
५. श्रीतनसुखराय-स्मृतिग्रन्थ, पृ० ५४।
६. बाबू गुलाबराय-स्मृतिग्रन्थ, पृ० ५७-५८।
७. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', ९ जून, १९६३ ई०, पृ० ७।
८. 'देवनागर', वर्ष ११, ज्येष्ठ, २०२२ वि०, अंक १, पृ० ३-४।
९. 'जनभारती', वर्ष ७, अक २ एवं ३, स० २०१६ वि०, पृ० ९।
१०. 'साहित्य-सन्देश', अप्रैल-मई, १९४१ ई०, पृ० ४४५।
११. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', १० अप्रैल १९६६ ई०, पृ० १०।
१२. उपरिवत्, ७ जनवरी, १९६२ ई०, पृ० ५-६।

निबन्ध उल्लेखनीय है ।[1] महर्षि व्यास के सम्बन्ध मे उनका निबन्ध ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकाशित करने में सक्षम है ।[2] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से सम्बद्ध 'हिन्दी के इन्द्र'[3] तथा 'भारतेन्दु : आलोचकों की दृष्टि में'[4], 'आनन्द कुमारस्वामी'[5], 'देवकल्प पण्डितजी'[6], आदि उनके ऐसे निबन्ध है, जिनमे सन्तोचित रीति से परगुण के परमाणुओ को पर्वताकार बनाया गया है ।

२. सामयिक समस्याप्रधान निबन्ध :

डॉ० अग्रवाल केवल संस्कृति के गूढ रहस्यो की विवेचना के ही आग्रही नही रहे, अपितु सामयिक समस्याओं, जैसे राष्ट्र की सुरक्षा, वेरोजगारी, भाषा की समस्या, आर्थिक विषमता एवं शासन-व्यवस्था की बुराइयों की ओर भी उनकी विचारधारा एवं चिन्तनशीलता प्रस्फुरित हुई है । चीन के आक्रमण के समय उन्होंने देशवासियों का, युद्ध के राष्ट्रीय यज्ञ में अपना सब कुछ बलिदान करने को आह्वान किया था ।[7] इसी भाँति देश की पराधीनता के समय लिखे गये उनके निबन्ध देशवासियो को, खोये हुए गौरव एवं स्वाभिमान को पुन: प्राप्त करने की प्रेरणा देते है ।[8]

कभी-कभी कटु व्यंग्य करने तथा कटु यथार्थ को अंकित करने मे भी डॉ० अग्रवाल ने जागरूकता का परिचय दिया है । उदाहरणार्थ, उन्होने नेताओं द्वारा योजनाओ के उद्घाटनों में समय अधिक लगाने और ठोस काम न हो पाने की तीखी आलोचना की है ।[9] आत्मनिरीक्षण द्वारा ही हम अपनी भ्रान्तियों को पहचान सकते है, यह सन्देश हमें उनके निबन्धो में मिलता है ।[10] स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में उत्सव मनाये गये, परन्तु आर्थिक दुर्दशा के कारण ये महोत्सव उन्हे आनन्द प्रदान नहीं करते थे ।[11] वस्तुत:, डॉ० अग्रवाल ने प्रदर्शन तथा ठाठवाटवाली मनोवृत्ति की आलोचना की है । वर्तमान भारत की स्थिति का अध्ययन करके उन्होंने सिद्ध किया है कि सच्चा लेखक सामयिक यथार्थ परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता । समाज में व्याप्त दारिद्र्य को देखकर उनकी आत्मा चीत्कार कर उठी थी : "रात-दिन उत्सवों की

१. 'महारथी-पत्रिका', जनवरी, १९२९ ई०, पृ० ४०५–४०७ ।
२. डॉ० अग्रवाल : 'कल्पवृक्ष', पृ० ५८ ।
३. 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', सं० २००७ वि०, पृ० १४८–५१ ।
४. 'साहित्य-सन्देश', अक्टूबर, १९५० ई०, पृ० २१७ ।
५. 'जीवन-साहित्य', अक्टूबर, १९४८ ई०, पृ० २२ ।
६. सा० 'हिन्दुस्तान', १९ जुलाई, १९६४ ई०, पृ० ६ ।
७. 'पांचजन्य', १५ नवम्बर, १९६२ ई०, पृ० ११ ।
८. 'महारथी', जनवरी, १९२९ ई०, पृ० ४१७–१९ ।
९. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', १० फरवरी, १९५७ ई०, पृ० ५ ।
१०. उपरिवत्, २६ जनवरी, १९५८ ई०, पृ० ९ ।
११. उपरिवत्, पृ० १० ।

धूम है, जैसे देश की ओर से हम निश्चिन्त हो बैठे हो, या बाजे-गाजे के प्रदर्शन से ही यह प्रकट करना रह गया हो कि हम सब सुखी है।"[1] डॉ० अग्रवाल ने युवको के लिए काम के अभाव पर दु.ख अभिव्यक्त किया है। बेरोजगारी की समस्या को देखकर उनका हृदय रो पड़ा था।[2] उन्होने देश के विकास के लिए कार्यान्वित की गई योजनाओ के प्रति भी अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की है। देश मे पदाधिकारियो की बाढ-सी आ गई, परन्तु ये योजनाएँ बेरोजगारी की समस्या को हल करने मे असमर्थ रही।[3] इस समस्या के समाधान के लिए वह सदैव गान्धीजी की, कुटीर-उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देनेवाली नीति का समर्थन करते रहे।

३. साहित्यिक निबन्ध :

डॉ० अग्रवाल ने साहित्यिक विषयो पर सफलतापूर्वक लेखनी चलाई है। यहाँ उनके कतिपय साहित्यिक निबन्ध वर्गीकृत रूप में द्रष्टव्य हैं

(अ) हिन्दी-साहित्य : 'माताभूमि' मे संगृहीत 'सूरदास' तथा 'तुलसीदास'; 'वाग्धारा' मे सगृहीत 'रामचरितमानस का महत्त्व'; 'पदमावत' की सजीवनी व्याख्या की भूमिका मे 'जायसी' और 'कीर्त्तिलता' की व्याख्या की भूमिका मे विद्यापति के कृतित्व का विवेचन उनके द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त, 'हिन्दी-साहित्य पर सस्कृत का प्रभाव',[4] 'युगकवि',[5] 'आदर्श ही जिनका ईश्वर था'[6], 'राष्ट्रकवि श्रीगुप्तजी'[7] आदि उनके साहित्यिक निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं।

(आ) भाषाविज्ञान . डॉ० अग्रवाल ने भाषाविज्ञान-सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे है, जिनसे उनकी असाधारण भाषाशास्त्रीय योग्यता का परिचय मिलता है।[8]

(इ) नये अर्थों पर विचार . डॉ० अग्रवाल ने अपने निबन्धो मे नये अर्थों पर भी विचार किया है। उन्होने प० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' (पृ० ३४) मे उद्धृत जगडूशाह-सम्बन्धी निम्नांकित दोहे पर विमर्श किया है :

नवकरवाली मणिअडा तिहिं अग्गता चियारि।
दानसाल जगडूतणी किती कलिहि मझारि॥

---

१. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', १० फरवरी, १९५७ ई०, पृ० २३।
२. 'माताभूमि', पृ० १९७।
३ साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', १० फरवरी, १९५७ ई०, पृ० ५।
४. 'आलोचना', जनवरी, १९५३ ई०, पृ० ३९–४६।
५. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५०७–१६।
६. सा० 'हिन्दुस्तान', २५ अप्रैल, १९६५ ई०, पृ० १३ तथा ३६।
७. 'देवनागर', वर्ष ११, ज्येष्ठ, २०२२ वि०, अक १, पृ० ३-४।
८ द्रष्टव्य : 'ना० प्र० प०', भाग ५४ सं० २००६ वि० तथा भाग ५६; 'हिन्दी-अनुशीलन', वर्ष १३, जनवरी-जून, सा० 'हिन्दुस्तान', ११ मार्च १९५१ ई०; 'भाषा', सितम्बर, १९६८ ई०।

इसमें प्रथम पंक्ति का अर्थ अस्पष्ट था, जिसका डॉ० अग्रवाल ने व्युत्पत्तिपरक अर्थ दिया।[1]

(ई) भाषा-सम्बन्धी : राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्याओं पर डॉ० अग्रवाल ने गम्भीरता से विचार किया है। इस दृष्टि से 'हिन्दी के प्रति'[2], 'हिन्दी का भविष्य',[3] 'हिन्दी की उदार वाणी'[4] आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

(उ) छन्दःशास्त्र : डॉ० अग्रवाल ने 'कीर्त्तिलता' में प्रयुक्त छन्दों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है।[5]

४. कला-सम्बन्धी निबन्ध :

निबन्धों के विषयों के चयन में डॉ० अग्रवाल का विशेष आग्रह संस्कृति के साथ-साथ कलाविषयक भी रहा। उन्होंने कला के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला है और कला तथा संस्कृति का युगसापेक्ष दृष्टि से विश्लेषण किया है। साथ ही, साहित्य एवं कला की पारस्परिक घनिष्ठता और पूरकता का युक्तियुक्त विवेचन भी उनके निबन्धों में मिलता है। 'माताभूमि' एवं 'कला और संस्कृति' में संगृहीत ऐसे अनेक निबन्ध पठनीय हैं।

५. संस्कृति-सम्बन्धी निबन्ध :

डॉ० अग्रवाल के निबन्धों मे प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति का ज्ञान-वैभव और विचारों की मौलिकता का अपूर्व समन्वय मिलता है। अतीत की गाथा के साथ नूतनता को अपनाने का सन्देश उनके कथनों में निहित है। उनके निबन्धों में भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा प्रवहमाण हुई है। सांस्कृतिक लेखो के माध्यम से प्रामाणिक, विद्वत्तापूर्ण, तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक सुचिन्तित सामग्री प्रस्तुत करने मे डॉ० अग्रवाल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। 'कल्पवृक्ष' में संगृहीत 'संस्कृति का स्वरूप' तथा 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्'; 'माताभूति' में संगृहीत 'मातृभूमि', 'भारतीय विचारो के मेघजल' और 'जहाँ नाचते-गाते लोग'; 'कला और संस्कृति' में संगृहीत 'पूर्व और नूतन', 'भारत का चातुर्दिश दृष्टिकोण' आदि निबन्धों में सास्कृतिक विचारधारा ताने-बाने के रूप में पिरोई हुई है।

शैली की दृष्टि से निबन्धों का विभाजन ·

१. वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निबन्ध : डॉ० अग्रवाल ने कुछ वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। उदाहरणार्थ, 'चित्राचार्य अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल और यामिनीराय', 'आनन्द कुमारस्वामी', 'मध्यकालीन शस्त्रास्त्र (मेरी दतिया-यात्रा)',

१. द्रष्टव्य : 'ना० प्र० प०', वर्ष ६१, सं० २०१३, पृ० ६४–७० ।
२. 'हिन्दी-आन्दोलन' : सम्पादक : लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ३५–४१ ।
३. 'साहित्य-सन्देश', सितम्बर, १९५७ ई०, पृ० १३८–४० ।
४. 'मातामूमि', पृ० ५०–६२ ।
५. कीर्त्तिलता की संजीवनी व्याख्या, भूमिका, पृ० १०६–२३ ।

'कटाहद्वीप की समुद्रयात्रा' ('कला और संस्कृति' मे संगृहीत) आदि निबन्ध वर्णन एवं विवरणप्रधान है। 'सौन्दर्यमय सौराष्ट्र' उनका विवरणात्मक निबन्ध है, जिसमें सौराष्ट्र की चन्द्रभागा, फलकू, ब्राह्मणी, मच्छ आदि नदियो तथा वहाँ के जनजीवन का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[1]

२. **विचारात्मक निबन्ध** : डॉ० अग्रवाल के अधिकांश निबन्ध विचारप्रधान है, जिनमे गम्भीर चिन्तन की प्रधानता है, परन्तु साथ ही भावुकता की झलक भी उनमे मिलती है। उन्होने अपने विचारात्मक निबन्धों मे ऐतिहासिक प्रमाण देते हुए प्रतिपाद्य विषय पर गहराई से विचार किया है। साहित्य, कला और संस्कृति पर लिखे गये उनके निबन्ध इसी कोटि के अन्तर्गत उल्लेखनीय है। उक्त विषयों से सम्बद्ध निबन्धो मे तर्कपूर्ण, गम्भीर एवं मौलिक विचार मिलते है। डॉ० अग्रवाल की लेखन-शैली इतनी सरस है कि उनके विचारात्मक निबन्धों मे पाठक को तनिक भी रूक्षता अथवा नीरसता की अनुभूति नही हो पाती, प्रत्युत एक अविच्छिन्न प्रवाह के कारण रुचि बँधी रहती है।

एक बात और भी उल्लेखनीय है कि डॉ० अग्रवाल इतिहास, साहित्य, कला और पुरातत्त्व के अतिरिक्त लोक-परम्पराओं के गम्भीर-से-गम्भीर तथ्यों को समसामयिकता से जोडने में सिद्धहस्त रहे है। उदाहरणार्थ, 'पृथिवीपुत्र' मे संकलित 'जनपदीय अध्ययन की आँख', 'जानपद-जन', 'जनपदो का साहित्यिक अध्ययन', 'जनपदीय कार्यक्रम', 'जनपदीय साहित्यकारो का दायित्व' आदि निबन्धो में जनपदीय साहित्य के उत्थान के लिए मौलिक चिन्तन की प्रधानता मिलती है।

३. **भावनात्मक निबन्ध** : डॉ० अग्रवाल अपने निबन्धो मे विचारक के साथ-साथ भावुक निबन्धकार के रूप मे भी दृष्टिगत होते है। मस्तिष्क की स्थितप्रज्ञता के साथ उनकी कल्पना अग्रसर प्रतीत होती है। उनके निबन्धों में विचारो और भावो का ऐसा मणिकांचन-संयोग मिलता है कि कही-कहीं तो यह कहना कठिन हो जाता है कि यह निबन्ध भावात्मक है या विचारात्मक। 'कृष्ण का लीलावपु' ('कल्पवृक्ष') तथा 'महापुरुष श्रीकृष्ण' ('कला और संस्कृति') नामक निबन्धो मे लेखक की उमड़ती हुई भावधारा दर्शनीय है। भावुकता-प्रधान प्रसंग आने पर लेखक के साथ-साथ पाठक भी तन्मयता का अनुभव करता है। इस सन्दर्भ मे यह उद्धरण द्रष्टव्य है . "पर हाय, आज कई वर्षों से उस फीवारे ने जल की बूँद के भी दर्शन नही किये। वह खड़ा है जीवन के शुष्क दुर्भिक्ष का अभिशाप लिये। किस अपराधी को वह इसके लिए दण्डित करे ? वह मूक है, पर उसकी मौन भाषा का तीक्ष्ण स्वर हमारी सार्वजनिक जडता को पुकार कर कह रहा है।"[2] इस प्रकार के अनेक स्थल डॉ० अग्रवाल के कृतित्व मे मिलते हैं, जहाँ उनकी बुद्धि हृदय के साथ अग्रसर होती है।

१ साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', २९ सितम्बर, १९५७ ई०, पृ० ७ तथा ३६।
२. 'पृथिवीपुत्र', पृ० १३१।

४. **समीक्षात्मक निबन्ध :** डॉ० अग्रवाल ने कतिपय निबन्धो मे साहित्यकारो के कृतित्व की समीक्षा भी की है, जिससे उनके कुशल समीक्षक होने की क्षमता का परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ, **मैथिलीशरण गुप्त** के कृतित्व पर लिखित निबन्ध 'युग-कवि'[१] एव 'पदमावत' की संजीवनी-व्याख्या के प्राक्कथन से उनकी उच्चस्तरीय समीक्षात्मक योग्यता का परिचय मिलता है। उन्होने अनेक पुस्तकों की मूल्यांकनपरक समीक्षाएँ भी लिखी है, जो उनके समीक्षात्मक निबन्धो में परिगणनीय है।

५. **गवेषणापूर्ण निबन्ध** . गवेषणात्मकता डॉ० अग्रवाल के निबन्धों की प्रधान विशेषता है। उन्होने अपने अनेक निबन्धो मे नये तथ्यो को खोजकर प्रस्तुत किया है, साथ ही शोध की अछूती दिशाओ की ओर भी संकेत किया है। उदाहरणार्थ, 'देश की सीमाएँ' नामक शोधपूर्ण निबन्ध मे प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान को आधार बनाकर भारत की प्राचीन सीमाओ का गवेपणापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।[२] वस्तुतः, उन्होंने भारतीय विद्या के अध्ययन से परिपुष्ट गवेषणात्मक निबन्ध लिखकर निबन्ध-साहित्य को गतिमय प्रसार दिया है।

६. **व्याख्यात्मक निबन्ध :** डॉ० अग्रवाल ने अनेक व्याख्यात्मक निबन्ध भी लिखे है। उनके व्याख्यात्मक निबन्धों मे वैदिक सूक्तों की व्याख्या विशेप रूप से उल्लेखनीय है।[३] 'कल्पवृक्ष' मे सगृहीत 'वैदिक परिभाषा मे शरीर की सज्ञाएँ' नामक लेख मे शरीर के लिए प्रयुक्त प्रतीको की व्याख्या प्रस्तुत की गई है और 'कल्पवृक्ष' शीर्षक निबन्ध मे कल्पवृक्ष की रोचक प्रतीकात्मक व्याख्या पठनीय है। एक लेख में डॉ० अग्रवाल ने **गोस्वामी तुलसीदास** की निम्नांकित चौपाई की नये ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की है :

विधुवदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना वर नारी॥

अर्थात्, चन्द्रमुखी और सब भाँति अलंकृत स्त्री भी बिना पति के शोभा नही पाती है।[४] उन्होने 'बसन' शब्द को 'प्रेमी' या 'पति' का पर्याय मानकर सर्वथा नवीन अर्थ दिया है।

इस प्रकार, प्रत्येक कोटि के निबन्धो मे डॉ० अग्रवाल के विद्याविनीत व्यक्तित्व के अन्तरंग पक्षों—जैसे, पाण्डित्य का गोपन, स्वाभाविक सरलता, सहृदयता, रसज्ञता आदि की अभिव्यक्ति होती है। डॉ० अग्रवाल के लेखन पर प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ ही उनके विस्तृत एव गहन अध्ययन की गहरी छाप मिलती है।

जे २३५; पटेलनगर प्रथम
गाजियाबाद (उ० प्र०)

---

१. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५०७—५१।
२. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', २४ मार्च, १९६३ ई०, पृ० ४-५ तथा ९।
३. 'पृथिवीपुत्र', पृ० ४—३४।
४. साप्ता० 'हिन्दुस्तान', १२ अगस्त, १९६२ ई०, पृ० ५।

हिन्दी की लोकनाट्य-परम्परा

●

श्रीअविनाशचन्द्र

नाट्यशैलियों की जो विधाएँ लोकजीवन की स्वाभाविकता से सीधे जुड़कर, उसकी सामूहिक आवश्यकताओ एवं प्रेरणाओ से निर्मित होने के कारण, लोकवार्त्ता के कथानकों, धार्मिक-सामाजिक लोकविश्वासों तथा अन्य लोकतत्त्वो को समेटकर चलती है, उन्हे ही हम 'लोकनाट्य' कहते है। इस तरह के लोकनाट्य-रूपों की कुछ स्वतन्त्र विशेषताएँ होती हैं। जैसे : इनमें काव्य, संगीत एवं नृत्य-तत्त्व की प्रधानता होती है, साथ ही जनजीवन के हर्षोल्लास को उन्मुक्त रूप मे व्यक्त किया जाता है, इनका आकर्षण मंचन की प्रक्रिया अधिक है, कथा कम। फिर भी, लोकनाटको का मंच-विधान जटिल नही होता। लोकनाट्य जितने लिखे नही जाते है, उतने रचे जाते है एवं उनमें शास्त्रसम्मत अभिनय के चारो अंगों मे 'आहार्य' तथा 'सात्त्विक' को छोड़कर, 'आंगिक' और 'वाचिक' अभिनय की प्रधानता होती है। लोकनाट्य का स्वरूप जड नही होता, वल्कि निरन्तर गतिशील होता है, जिससे कालक्रम मे, उनके स्वरूप मे समयानुसार परिवर्त्तन होते रहते है। यहाँ, हिन्दी-क्षेत्र के लोकनाट्य-रूपो के मूल स्वरूप की विवेचना के साथ कालान्तर मे हुए उनके स्वरूप-परिवर्त्तनो तथा उनके प्रभावों पर विचार उपन्यस्त है।

रासलीला : यह प्रचलित अर्थ मे कृष्णचरित्र से सम्बद्ध नृत्य-संगीत-प्रधान नाट्य-रूप है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे 'श्रीमद्भागवत' मे कथा है कि राधा एव अन्य गोपियो मे अभिमान और अहकार उत्पन्न होने के कारण कृष्ण अन्तर्धान हो जाते है। गोपियो द्वारा लीलाएँ करने पर वह पुन: प्रकट होते है। विद्वानो ने इस कथा के आधार पर यह माना है कि 'रासलीला' की उत्पत्ति वियोग-शृंगार से हुई है और इसका उपजीव्य 'श्रीमद्भागवत' है।

लेकिन, जैसा हम जानते है, लोकनाटको का स्वरूप कभी जड नही होता, साथ ही, पन्द्रहवीं शती तक 'रास' की लगभग तीन स्पष्ट शैलियाँ, अर्थात् जननाटको की धारा, अपभ्रंश के 'चरिउ' एवं रासो मे से 'रासलीला' का सीधा सम्बन्ध प्रथम, यानी जननाटकों की धारा के साथ है। इसीलिए, 'रासलीला' का उद्‌भव 'श्रीमद्भागवत' से मानते हुए भी **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** का यह अनुमान बिलकुल सही प्रतीत होता है कि "भागवत महापुराण मे श्रीकृष्ण की लीला' की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है, उससे भिन्न एक और परम्परा थी, जिसका प्रकाश जयदेव के 'गीतगोविन्द' मे हुआ।... सूरदास

आदि परवर्त्ती भक्त कवियों में ये दोनो परम्पराएँ एक दूसरे से गुँथकर एक हो गईं ।" ('मध्यकालीन धर्म-साधना' : पृ० १३५) तात्पर्य यह कि 'रासलीला' का मूल स्रोत श्रीमद्भागवत भले ही हो, इस नाट्यशैली को विकसित करने का श्रेय वैष्णव (भागवत)-धर्मान्दोलन की लोकप्रियता तथा व्यापकता को है ।

कहा जाता है कि 'रास' के संस्थापको मे **स्वामी हरिदास**, **हितहरिवंश**, **घमण्डी देव**, **नारायणभट्ट** आदि **वल्लभाचार्य** के सहयोगी रहे है। दानलीला, मानलीला, माखनचोरी, ग्वाल-बालो के साथ ठिठोली आदि के अभिनय, साथ ही, वैष्णव कवियों की रचनाओं पर, विशेषतः सूर के पदों के आधार पर, विविध लीलाएँ होती रहीं । यह परम्परा अपने अनगढ़ रूप मे **नन्ददास** तक चलती रही । पन्द्रहवी-सोलहवी शती मे व्रजभूमि मे यह परम्परा एक नये उत्साह के साथ प्रकट हुई । रास-परम्परा के इस विकास में **नन्ददास**, **व्रजवासीदास**, **ध्रुवदास**, **दामोदरस्वामी**, **नारायणस्वामी**, **भारतेन्दु**, **वियोगी हरि** आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया । आजकल 'रास' की अनेक पुस्तकें उत्तर भारत मे मिलती है, जिनमे कथोपकथन की गीतिबद्ध शैली के साथ संगीत एव अभिनय के निर्देश भी यत्र-तत्र उपलब्ध है ।

लेकिन, जनरुचि और अभिनयात्मक प्रसाधन के लोकाश्रित विकास में 'रासलीला' अधिकांशतः शृंगारप्रधान हो गई । परिणामतः, रास की लीलाएँ न सिर्फ दूसरे प्रान्तों में वहाँ के परम्परागत नाट्यरूपों को प्रभावित करने लगीं, बल्कि अपने क्षेत्र में भी आगे चलकर यह विभिन्न लीलाओं (नरसिंहलीला, भागीरथलीला, प्रह्लादलीला, नागगौर की लीला आदि) के प्रयोग का आधार बनी । 'रासलीला' की गीतिनाट्यवाली प्रकृति भी धीरे-धीरे गद्यगन्धी होती गई, परिणामतः विकृतियो का समावेश हुआ । 'इन्द्रसभा'वाली शैली और पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो का प्रभाव भी इसके कारण बने ।

'रासलीला' व्रजभूमि के लोकनाट्य 'रासक' पर आधृत एक लोकप्रिय नाट्यशैली है। इसमे नृत्य के साथ आंशिक रूप मे संवाद एवं प्रधान रूप में सगीत की स्थिति होती है । अभिनय का स्पर्श पाकर यही 'रास' लोकनाट्य की श्रेणी मे आ गया । कुल मिलाकर, 'रासलीला' नाट्य के कुछ तत्त्वों से अनुप्राणित होकर अपने लोकसंग्रही रूप मे खुले रंगमच की नाट्यशैली हो गई । दो-चार चौकियों के सहारे कही पर 'रासलीला' का आयोजन कर लिया जाता है । संगीतज्ञ विविध वाद्ययन्त्रों के साथ नीचे बैठ जाते है, 'गीतगोविन्द', 'भागवत' आदि के श्लोक अथवा सूरदास, नन्ददास आदि के कतिपय पदों का 'मगलाचरण' के रूप मे गान होता है । फिर, राधाकृष्ण आसन पर विराजमान होते हैं और 'लीला' आरम्भ होती है । कथासूत्र को जोड़ने के लिए संगीतज्ञ सूत्रधार और उसके साथी (कोरस) शुरू से अन्त तक वाद्ययन्त्रो के साथ बैठे रहते है ।

रूपसज्जा और वेशभूषा के लिए विशेष तामझाम की जरूरत नही होती । काजल, चन्दन, सुरमा, मुरदासंग, पन्नियों से चमकाये हुए मुकुट आदि तथा कुछ कीमती

साड़ियों से काम निकल जाता है। वेशभूषा मे परिवर्त्तन के लिए समयानुसार पात्रों के आगे एक परदा-सा डाल दिया जाता है, ताकि दर्शक नेपथ्य-परिवर्त्तन के समय उन्हे देख न सके। कथा की गति संगीत की ध्वनि के माध्यम से धीरे-धीरे बढती है। सम्पूर्ण लीला नृत्यात्मक गतियों और मुद्राओ पर अवलम्बित होती है। कभी-कभी कथोपकथन का भी सुन्दर रूप दिखाई पड़ता है। एक ही रात मे कभी एक, तो कभी दो-तीन कथा-प्रसगो की भी लीलाएँ अभिनीत होती है। वाद्ययन्त्रो मे वीणा, पखावज, मृदंग, मुरली आदि के प्रयोग की, समयानुसार, व्यवस्था रहती है। आजकल, हारमोनियम-तबले का स्वर भी सुनाई पड जाता है।

रामलीला भारतीय नाट्य-परम्परा मे रामकथा से सम्बद्ध नाट्यशैली के सकेत बहुत पहले से मिलते है, जैसे 'हरिवशपुराण', 'उत्तररामचरित', 'महानाटक' या 'हनुमन्नाटक'; जैन परम्परा के 'रामरास' और 'सन्देशरासक'; 'गुजराती लोकनाट्य 'भवाई'; महाराष्ट्र के लोकनाट्य 'ललित', असम तथा बगाल के 'जात्रा'-नाटक एवं गुरु नानक के 'आसा दीवार' मे इस तरह के सकेत है। 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डि के इस कथन —'खेलो नहीं बालकन्ह मीला। करो सकल रघुनायक लीला॥' से स्पष्ट है कि तुलसी से पूर्व भी रघुनायक-लीला की परम्परा थी।

तुलसी-पूर्व 'हरिवशपुराण', 'हनुमन्नाटक', जैनरास-परम्परा आदि की रामलीला और आज की रामलीला मे यद्यपि मूलभूत कुछ समानताएँ है, जैसे रामलीला रामभक्ति के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से युक्त धार्मिक लोकनाट्यरूप है, साथ ही यह कि इसके प्रस्तुतीकरण की शैली नाटकीय होने से केवल सवादो पर आधृत नही है, तथापि तुलसी-पूर्व और आज की रामलीला मे अन्तर भी है कि तुलसी-पूर्व रामलीला का आधार जहाँ अधिकाशत वाल्मीकि की 'रामायण' है, वहाँ आज की रामलीला मे तुलसीदास-कृत 'रामचरितमानस' का निश्चित आधार रहता है। ऐसा लगता है, जैसे रामलीला की परिकल्पना मानस की व्यवस्था के रूप मे की गई हो। इसीलिए, आज बहुमत इसी पक्ष मे है कि 'रामलीला' के प्रवर्त्तक गोस्वामी तुलसीदास है। कालक्रम से 'मानस' पर आधृत रामलीला की भी कई प्रदर्शन-पद्धतियाँ प्रचलित हो गई है। जैसे :

१ झाँकी-दृश्यो और शोभायात्रा से युक्त अभिनटन-परक पद्धति, जिसमे मानस-पाठ होता रहता है और अभिनेता बीच-बीच मे अभिनय करते है। सवाद सक्षिप्त होते हैं। कुछ दृश्यो के पस्तुतीकरण मे दृश्यात्मक रूप मे सजे हुए यानो पर जुलूस निकाला जाता है। साथ ही, दूसरे यानो मे रामायणी मानस का पाठ करते चलते है। जैसे : चित्रकूट (काशी), चित्रकूटधाम, चित्रकूट (करबी), बिसाऊ (राजस्थान) आदि की रामलीलाएँ ।

२. **संवादपरक प्रस्तुति :** इसमे रामकथा के प्रसंगो को संवादों में ढालकर अलग-अलग प्रसंगो के नाटकीय आलेख तैयार किये जाते है। आलेख तैयार करने मे 'मानस'

के अतिरिक्त दूसरे राम-साहित्य (जैसे : 'गीतावली' 'रामललानहछू', 'रामचन्द्रिका', 'आनन्दरघुनन्दन', 'जानकीमंगल' आदि) से भी सहायता ली जाती है। अनेक गीत और लोकगीत भी जोड़े जाते है। इस तरह की प्रस्तुति का सबसे पहला प्रयोग रामनगर की रामलीला में बताया जा सकता है, परन्तु अब अनेक स्थलो, जैसे अस्सी (वाराणसी), अयोध्या, इलाहाबाद, लखनऊ, मथुरा, मध्यप्रदेश आदि की रामलीलाएँ भी इसी रूप में होने लगी है। प्रस्तुतीकरण की यह पद्धति रामलीला-मण्डलियों द्वारा भी अपना ली गई है, परन्तु उनकी मंच-परिकल्पना पूरी तरह परदेवाली, पारसी-थियेटर के समान है।

३. पिछले समय, लगभग एक-डेढ सौ वर्षो से रामलीला की गेय-शैली का प्रचलन भी हुआ है। इनके संवाद गेय होते है, 'मानस'-पाठ भी अधिकतर रागबद्ध होता है। टुंपादा (राजस्थान और हरियाना) के साथ उत्तराखण्ड (अलमोड़ा आदि) की रामलीलाएँ इसी कोटि की हैं। रामलीला की उपर्युक्त प्रदर्शन-पद्धतियो के सन्दर्भ में विद्वानो की राय है कि अभिनटन-परक शैली रामलीला का प्रारम्भिक रूप है। नाटकीय संवादप्रधान शैली बाद का संशोधन है।

उपर्युक्त तीनो पद्धतियो मे झाँकी और शोभायात्रा के महत्त्व तथा 'मानस' के समावेश जैसे कुछ समान तत्त्वो को देखते हुए यह बात उचित भी प्रतीत होती है। रामलीला मे रामकथा को विभिन्न नाटकीय दिवसो में विभक्त कर लिया जाता है। इसी के अनुसार, रामलीला कही दस या ग्यारह, कही पन्द्रह, कही इक्कीस और कही एकतीस दिनो तक चलती है। पूर्ण रामकथा एक दिन मे कही प्रस्तुत नही होती। रामलीला का रगमंच अपने ढग का यथार्थवादी रंगमच है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण का लाभ उठाते हुए प्रदर्शन किये जाते हैं। जैसे : वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरो मे होती हैं, तो गगा पार करने के लिए नगर के किसी जलाशय को चुना जाता है। चित्रकूट के लिए नगर के बाहर किसी मैदान को घेरा जाता है, तो भरतमिलाप और रामतिलक पुनः नगर मे लौटकर प्रस्तुत होता है। इसके यथार्थवादी रंगमंच का एक और स्वरूप है, जिसमे विस्तृत मैदान के दो विरोधी छोर लंका और अयोध्या मान लिये जाते हैं और मध्य के उन्नत मंच पर अभिनय आयोजित होता है। पर, ध्यातव्य है कि यह मचीय रूप रामलीला के प्रारम्भिक रूप से अधिक सम्बद्ध है। उपर्युक्त विभिन्न पद्धतियो के सन्दर्भ में इस मंचीय रूप मे लोच पैदा हुई है।

रंगमंच के नवोन्मेष के पिछले वर्षो में 'रामलीला' नाम से कई अभिनव प्रयोग भी हुए है, जिनमे इस परम्परागत रामलीला की अनेक रूढियो का समावेश हुआ है। इनमे सर्वप्रथम आधुनिक प्रयोग उदयशंकर की मुक्ताकाशी एवं छायानाट्य-शैली मे प्रस्तुत रामलीला है। फिर, शान्तिवर्द्धन के 'लिटिल-बैले ट्रूप' द्वारा कठपुतली-शैली मे प्रस्तुत रामलीला, सचिनशंकर का रामलीला-नाटक और भारतीय कलाकेन्द्र (दिल्ली) की रामलीला (दशहरे के अवसर पर) की तीस-वर्षीय नियमित नृत्य-नाट्य-शैली के प्रदर्शन है। ये सभी प्रदर्शन लोकप्रिय भी हैं। फिर भी, ये सभी आधुनिक प्रयोग है, जो परम्परागत

रामलीलाओ के अन्तर्गत नही आते (रामलीला के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य . डॉ० इन्दुजा अवस्थी की पुस्तक—'रामलीला : परम्परा और शैलियाँ')।

नौटकी, स्वाँग या भगत . नौटकी, स्वाँग या भगत की सज्ञाएँ भिन्न है, लेकिन इन तीनो मे कुछ ऐसी समानताएँ भी है, जो उन्हे एक ही नाट्य-परम्परा (सागीत) की विभिन्न शैलियाँ सिद्ध करती है, जैसे इनकी मूल प्रवृत्ति का शृ गारी होना तथा इनमे काव्य और सगीत को अधिक महत्त्व प्राप्त होना। **डॉ० श्याम परमार** ने भी लिखा है कि नौटकी कही स्वाँग के नाम से विख्यात है, तो कही भगत के नाम से। ऐतिहासिकता की दृष्टि से स्वाँग की प्राचीनता मे सन्देह नही, भगत मध्यकाल की वस्तु है और नौटकी प्राचीन स्रोत मे रीतिकालीन अथवा उससे थोड़े पहले की मिली-जुली धारा है। **अमीर खुसरो** की भाषा का प्रभाव नौटकी मे लक्षणीय है, जो निस्सन्देह मुसलमानी प्राश्रय का प्रतिफल प्रतीत होता है। ('लोकधर्मी नाट्य-परम्परा', पृ० ५०)

'नौटकी' शब्द को कुछ लोग नाटकी (स०) का अपभ्रंश मानते है, तो कुछ लोग नौटकी नाम की मुलतान की एक राजकुमारी से सम्वद्ध गाथा से इसका उद्भव स्वीकारते है। (गाथा के लिए द्र० . रूरल थियेटर इन इण्डिया' . **जगदीशचन्द्र माथुर**, पृ० ६९)। इस तरह नौटकी का जन्मकाल और नाम तो विवादास्पद है ही, वदलती हुई परिस्थितियो के आवश्यकतानुरूप नौटकी ने अपना स्वरूप भी खूब वदला है। लेकिन, फिर भी हाथरस और कानपुर नौटंकी के मुख्य गढ माने जाते हैं। सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, कन्नौज आदि के अन्य प्रसिद्ध नौटंकी-दल है। प्रस्तुति के दौरान हाथरसवाली नौटकी मे जहाँ गीत-सगीत और गान-शैली पर आग्रह रहता है, वहाँ कानपुर की नौटंकी मे सवाद और अभिनय-शैली पर। नौटकी के वाद्ययन्त्रो मे मुख्यत नगाड़ा तथा अन्य यन्त्रो मे सारगी, ढोलक और हारमोनियम का प्रयोग होता है। भाषा कोई एक नही, वरन् उत्तर भारत की विभिन्न वोलियो का मिश्रित रूप है। हाथरस की तुलना मे कानपुर की नौटकी मे उर्दू का प्रयोग अवश्य ही अधिक होता है।

नौटकियो मे कुछ रामायण, महाभारत, पुराण और लोककथा पर आश्रित हैं, कुछ प्रसिद्ध प्रेमकथाओ (लैला-मजनू, शीरी-फरहाद आदि) पर, कुछ ऐतिहासिक एवं वीरतापूर्ण घटनाओ (अमरसिंह राठौर, सुलताना डाकू आदि) पर, तो कुछ नौटकियाँ सामाजिक कथानको (वेटी का सौदा, गरीव किसान, भारत-दुर्दशा आदि) पर आधृत हैं। **नाथूराम गौड़, राधेश्याम, लम्बरदार, श्रीकृष्ण पहलवान** आदि नौटंकी-लेखको मे प्रसिद्ध है।

लेकिन, ध्यातव्य है कि इन नौटंकी-लेखको ने प्रसग-समन्वय का ध्यान कभी नही रखा। यहाँ सीता भी वेश्या की तरह नचाई जा सकती है और दुष्यन्त भी 'ट्विस्ट' कर सकते हैं। अतिनाटकीय और एकालापी सवादो की भरमार होती है। धीरे-धीरे इसने पारसी-थियेटर से अधिक प्रभावित होकर प्रस्तुतीकरण मे शहरीपन, अश्लीलता

और भ्रष्ट रुचि के तत्त्वों का समावेश भी कर लिया है। भोंड़े और अश्लील फिल्मी-धुनों के गीत अधिक प्रयुक्त होने लगे है।

'भगत' और 'नौटकी' मे मोटे तौर पर अन्तर यह है कि गुरु-परम्परा या अखाड़े का महत्त्व भगत में अधिक है। भगत और नौटंकी दोनों में यद्यपि अभिनेताओं द्वारा गणेश-पूजन के बाद वास्तविक प्रदर्शन प्रारम्भ करने की प्रथा रही है, तथापि नौटंकी की तुलना में धार्मिक भाव भगत में अधिक महत्त्व रखता है। अन्यथा, कथानक, काव्यत्व और मंचीय स्वरूप में दोनों समान हैं।

ब्रज तथा हरियाना में नौटकी के ढग की 'भगत' का प्रचलन है। स्वाँग का भी इसमें पूरी तरह समावेश है। डॉ० सत्येन्द्र ने ब्रज में दो प्रकार की भगतो की चर्चा की है—आगरा की भगत और हाथरस की भगत। खुले ऊँचे मंच पर भगतों के सप्ताह तक चलने की परम्परा रही है, यद्यपि इधर भगत का मचीय विकास कई स्थितियों से गुजरा है। आजकल आगरा और हाथरस का मंच लगभग एक-सा है। अन्तर केवल यह है कि आगरा में एक परदे का प्रयोग होता है, जबकि मथुरा और हाथरस में मंच परदा-रहित, खुला रहता है। (विस्तार के लिए द्रष्टव्य : डॉ० **नेमिचन्द्र**-सम्पादित 'आधुनिक हिन्दी-नाटक और रगमंच' मे **श्रीरामनारायण अग्रवाल** का लेख)। भगतो में विविध प्रकार की लीलाएँ होती है। इनमे मोरध्वज, हरिश्चन्द्र आदि धार्मिक और शान आलम, भक्त पूरनमल, सियाहपोश आदि शृगारिक कथानक भी प्राप्त होते है। भगत-लेखको मे भी वही लोग प्रसिद्ध है, जो नौटकी-लेखन में हैं; जैसे **नत्थाराम** या **नाथूराम** आदि।

स्वाँग की शैली हरियाना, रोहतक, हाथरस तथा एटा जिलों में खूब प्रचलित है। यह शैली इतनी पुरानी है कि सिद्धकवि **कण्हपा** (९वी शती) ने इसका उल्लेख किया है : **'आली डोंबि तोए सम करीब मसांगु निघिण कण्हपाली जो ई जग।'** कबीर ने भी एक साखी मे स्वाँग का उल्लेख किया। इस शैली के नाटको मे स्त्रियो को विशेष महत्त्व प्राप्त रहा है। महाराष्ट्र मे **सन्त तुकाराम** के समय स्त्रियो के स्वाँग रचने का वैसा ही चलन था, जैसा आजकल पुरुषो में है। शृगारिक तथा फूहड़ अभिनय के कारण **तुकाराम** ने इसका विरोध भी किया था। यह शैली इतनी व्यापक है कि जिस किसी नाट्य-रूप मे मुखौटेवाली वेशभूषा का प्रयोग होता है, वही स्वाँग की स्थिति हो जाती है। नौटंकी मे मूँछवाले तक स्त्रियो का रूप धारण करते रहे है, यह भी स्वाँग ही है। स्वाँग-शैली के नाटको मे पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी तरह के कथानको का सन्निवेश होता है। जैसे : 'राजा भरथरी', 'गोपीचन्द्र', 'भक्त पूरनमल', 'हीर-राँझा' आदि। इस शैली के सबसे लोकप्रिय नाट्यकार है **लक्ष्मीचन्द**। उन्नीसवी शती के अन्त में **रामगरीब चौबे** तथा **दीपचन्द** ने एक तरह से इसका पुनरुद्धार किया। स्वाँग का मंचीय स्वरूप आज भी खुला मंच ही है।

माच या ख्याल : 'माच' मालवा के पठार और निकटवर्ती क्षेत्र का लोकनाट्य है। 'माच' शब्द 'मंच' शब्द का मालवी तद्भव रूप है, जिसका, मच बाँधना, तैयार करना या उसपर अभिनीत किया जानेवाला 'ख्याल' (खेल)—इन दोनो ही अर्थो मे प्रयोग किया जाता है। यह एक सामान्य धारणा है कि लोकनाट्य के मंच अधिकांशत खुले होते हैं, लेकिन लोकनाट्य के कई रूपो से 'माच' किंचित् भिन्नता इस अर्थ मे भी लिये हुए है कि इसकी मच-व्यवस्था अपने ढग की और विशिष्ट होती है।

'माच' नाट्य शुरू करने के कुछ सप्ताह पहले इसके अभिनेता एकजुट होकर ग्राम अथवा शहर के किसी खुले स्थान में, शुभ मुहूर्त्त देखकर 'माच' के खम्भ (स्तम्भ) गाडते है। अपने गुरु से खम्भ की पूजा करवाते है। पूजनकाल मे ढोलक का निरन्तर बजना अनिवार्य-सा माना जाता है। स्थापित खम्भों के सहारे मंच की ऊँचाई प्राय: पाँच से दस फुट तक होती है। आवश्यकतानुसार, मच की लम्बाई-चौडाई को घटाया-बढाया भी जा सकता है। ऊपर चार बल्लो के सहारे सफेद चादर तानकर उसमे रग-बिरगे कागज के फूल साटे जाते है। इस तरह का सुसज्जित मच यद्यपि चारो तरफ से खुला रहता है, तथापि उसकी सुरक्षा के लिए जो व्यवस्था की जाती है, उसका 'माच' की प्रस्तुति मे अपना महत्त्व है। इसके लिए मंच के दोनो ओर दो-दो पाट और वेदी के सामने चार खम्भे लगाये जाते है। सामनेवाले चार खम्भों के निकट सोलह युवक, एक जमादार, एक थानेदार और एक बादशाह के बैठने की व्यवस्था रहती है। पीछे की तरफ के पाट—'बारह घाट के पाट' और 'टेक के पाट' कहलाते हैं। पहले पाट पर मण्डली के विश्वस्त कार्यकर्त्ता और अभिनेता प्रस्तुति के समय उपस्थित रहते हैं। दूसरे पाट पर अभिनेताओ के बोल का साथ देने तथा उन्हे विश्राम का अवसर प्रदान करने के लिए कुछ लोग बैठे रहते है, जो सामूहिक स्वर मे 'बोल' और 'टेक' दुहराते है।

मच के एक ओर कुछ अनुभवी (वृद्ध) इस निमित्त बैठे रहते है कि बोल, ढोलक की थाप, पद-सचालन या हाव-भाव आदि मे कोई त्रुटि हो, तो वे सचेत कर सकें। मच पर एक ओर 'माच' के प्रणेता (गुरु) का आसन भी होता है। यह व्यवस्था एक तरह से निर्देशन के रूप मे होती है, यद्यपि इसपर कोई बैठता नही। प्रकाश के लिए मशाले व्यवहृत होती हैं, जिन्हे मच के तीन खम्भो पर लगाकर मशालची देखरेख करते रहते है। आजकल जहाँ बिजली के उपकरण उपलब्ध रहते है, वहाँ मशाल का प्रयोग नही किया जाता।

अभिनेता वस्त्र आदि के परिवर्त्तन के लिए मंच के निकट किसी स्थान पर चले जाते है। चारो तरफ खुला मंच होने के कारण नेपथ्य जैसी कोई चीज यहाँ नही होती। दर्शक चारो तरफ से देख सकते है, यद्यपि सुविधा के लिए व्यावहारिक स्तर पर दर्शक तीन ओर से ही बैठते हैं। 'माच' मे लोकनाट्य की लगभग सभी विशेषताएँ, जैसे लोकगीतो की मर्मस्पर्शिता, रूढ अभिनय-पद्धति, पद्यपरक संवाद आदि तो है ही, इनके अलावा संगीत इस नाट्य-रूप का प्राण है। ढोलक 'माच' का प्रमुख वाद्ययन्त्र है, साथ ही सारगी से भी काम लिया जाता है।

कथावस्तु की दृष्टि से माच-साहित्य पौराणिक, प्रेमकथात्मक, ऐतिहासिक और लोककथात्मक है। धार्मिक कथावस्तु पौराणिक होते हैं तथा ऐतिहासिक कथानकों में शृंगार का महत्त्व है। शौर्य के साथ प्रेम की व्यंजना कथानक का विशेष लक्षण है। पात्रों में स्त्री-पुरुष दोनों ही होते हैं, बल्कि प्रत्येक 'माच' में पाँच स्त्रीपात्रों की अपेक्षा होती है। अत., कभी ऐसा भी होता है कि किसी 'माच' में पुरुष से अधिक स्त्रीपात्र ही हो जाते हैं। अभिनय के समय दूसरे पात्र के प्रवेश को पूर्वप्रविष्ट पात्र सूचित करता है। साथ ही, पात्र अपना अभिनय समाप्त कर मंच पर ही एक ओर जाकर बैठ जाते हैं। 'माच' का इतिहास कोई पुराना नहीं है। इसके पहले मालवा में 'डाराडारी' नामक खेल का प्रचलन था। 'डाराडारी' से तात्पर्य उन स्त्री-पुरुष वीरों से होता है, जिनका सम्बन्ध मददगार के रूप में लोकजीवन से रहता आया है। 'माच' का इतिहास तो पिछले केवल सौ-सवा सौ वर्षों का ही है।

मालवा में प्रचलित 'माच' के आदि प्रवर्तक **बालमुकुन्द गुरु** हैं। **कालूराम उस्ताद**, मेरु गुरु **राधाकिशन गुरु** आदि ने इसको विकसित किया। **राधाकिशन गुरु** की परम्परा के कुछ नये माचकार **नाथूसिंह उस्ताद, सिद्धेश्वर सेन** आदि हैं। 'माच' राजस्थान में 'ख्याल' के रूप में भी प्रचलित है। ऐसा नहीं है कि 'माच' और 'ख्याल' दोनों बिलकुल एक ही चीज हैं, फिर भी दोनों भिन्न होकर भी तात्त्विक दृष्टि से एक हैं। **बालमुकुन्द गुरु** अपनी माच-रचनाओं को 'ख्याल' कहते हैं : 'ख्याल माच काडोला मारुणी, असली माच का सेठ-सेठानी।' जबकि; राजस्थान के 'ख्याल' माच नहीं है। (विस्तार के लिए द्रष्टव्य : 'लोकनाट्य · परम्परा तथा प्रवृत्तियाँ' : **डॉ० महेन्द्र भानावत**)

हिन्दी-क्षेत्र में उपर्युक्त लोकनाटकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नाट्यरूप भी हैं, जो किसी प्रदेश-विशेष तक सीमित होकर भी समृद्ध हैं।

विदेशिया : बिहार के **भिखारी ठाकुर** (सन् १८८७ ई०) द्वारा प्रवर्तित इस लोकनाट्य में भोजपुरी-लोकगीतों के माध्यम से बिहार का लोकजीवन अभिव्यक्त हुआ है। रोजी-रोटी की खोज में बिहार के असंख्य लोग घर-परिवार छोड़ देश-देशान्तरों में जाते रहे हैं। कुटुम्बीजन ऐसे लोगों के कमाकर लौटने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अपने प्रियतम की बाट जोहती प्रियतमाओं की वेदना असाढ़-सावन के मौसम में बिरहा, कजरी, झूमर आदि के बोलों में फूट पड़ती है। बिहार में प्रचलित इन्हीं बिरहा, कजरी, लोरिक, विजयभान, झूमर आदि लोकधुनों के आधार पर **भिखारी ठाकुर** ने 'विदेशिया' की रचना की, जो धीरे-धीरे इतनी लोकप्रिय हो गई कि यह बिहार की एक अलग नाट्यशैली ही बन गई। बिहार के भोजपुरी-क्षेत्र में तो 'विदेशिया' की पैठ बहुत गहरी है ही, बाहर भी, गोरखपुर और वाराणसी से कलकत्ता आदि तक इसकी धूम है।

'विदेशिया' में पात्रों की वेशभूषा, मंच और सांगीतिक परिवेश भी काफी सहज-सामान्य होता है। सूत्रधार की तरह पात्र-परिचय देनेवाला तथा कथाप्रसंग को आगे

बढानेवाला पात्र 'विदेशिया' में 'बातिक' कहलाता है। साजिन्दे और गवैयों के दल को यहाँ 'समाजी' कहा जाता है।

जाट-जाटिन : मिथिलांचल (उत्तर बिहार) के इस लोकनाट्य के उद्भव के विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। 'जाट-जाटिन' पूरी तरह स्त्रियों का मनोरंजक नाटक रहा है। इसके मूल स्वरूप में स्त्रियाँ ही मर्द का वेश धारण करती, गीत गाती, नाचती और अभिनय करती है। दर्शक भी स्त्रियाँ ही होती है। जाट-जाटिन एक दूसरे पर ताना मारनेवाले गीतों के साथ नृत्य करते है। आजकल गाँवों मे यद्यपि इसका आयोजन कम होता गया है, तथापि बिहार के कुछ-एक मचों से अब इसके कलात्मक प्रदर्शन समय-समय होने लगे हैं, जिसमे मर्द जाट बनता है और स्त्री जाटिन, साथ ही दर्शको मे पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध सब होते है।

'बिदापत या कीर्त्तनिया' · यह एक मैथिली-लोकनाट्य है। इसमे मालवा के 'माच' की भाँति प्रारम्भ मे प्रवेशगीत द्वारा समस्त पात्रो का परिचय कराया जाता है। इसके प्रारम्भिक दौर मे कवि **विद्यापति** के गीतो पर आधृत अभिनय होता था। आगे **उमापति** के 'पारिजातहरण' की कथा के आधार पर इसकी संरचना हुई। **कान्हराम, नन्दीपति, विश्वनाथ, बालाजी** आदि इस शैली के अन्य नाटककार है। इसके प्रारम्भिक रूप को कीर्त्तन-भजनप्रधान गीतो की अधिकता के कारण, 'कीर्त्तनिया' नाटक कहा गया। अब भी 'बिदापत नाच' के पर्याय-रूप मे लोग इसे स्वीकार करते है। दोनो नाट्यरूप अलग-अलग रहे हैं, फिर भी इस विषय पर विद्वानो मे मतभेद है। इसकी प्रदर्शन-शैली बगाल की 'जात्रा' से भी मिलती-जुलती है। पूर्णिया और दरभगा की कई मण्डलियाँ इस दिशा मे कुछ समय पूर्व तक सक्रिय थी। आजकल पूर्णिया और दरभगा की एकाध मण्डली ही इस दिशा में सक्रिय बताई जाती है।

इनके अतिरिक्त, बिहार के बेगूसराय जिले मे वहाँ के बखरीबाजार से सम्बद्ध तथा जादू-टोने पर आधृत लोकनाटक **'बहुरा-गोढ़नी'** ('नेटुआ दयालसिह') प्रचलित रहा है। बिहार के ही नालन्दा जिले मे **'जितिया'** नामक एक लोकनाट्य-रूप प्रचलित है। ये दोनों नाट्यरूप अभी पर्याप्त शोध की अपेक्षा रखते है।

कड़ा : यह राजस्थान की एक नाट्य-शैली है, जिसमे वीर रस की प्रधानता रहती हैं तथा नगाड़े की टेक पर लोककथा का गान होता है।

भँड़ैत . यह नाट्यरूप भाँड़ जाति के व्यवसाय से जुड़ा हुआ है। लखनऊ, बनारस, कन्नौज, मानिकपुर आदि में इनका व्यवसाय खूब चलता है। इनमे भाँड़ अपने लतीफो, लफ्फाजियो, चुटकियो तथा वाचालता से दर्शको का मन मोहते हैं। इनकी लोकप्रिय भँड़ैतियाँ है : 'चमेलिया लौण्डी', 'अय्याराम कोरी', 'नाऊ भठियारिन' इत्यादि।

लोकनाटको का एक और भी प्रकार है, जिसे विकास-क्रम मे नृत्य और नाटक के बीच की चीज होने से नाट्यप्राय' या 'नृत्य-नाट्य' कहा जाता है। नृत्य-नाट्य या

नाट्यप्राय-श्रेणी में गुजरात के 'भवाई', बुन्देलखण्ड के 'राईनृत्य', राजस्थान के 'कठपुतली-नृत्य' आदि के अतिरिक्त बिहार के 'डोमकच', किरात-अर्जुन का युद्ध दिखानेवाले लोक-नृत्य, आदिवासियों के 'छाऊ-नृत्य' तथा राजस्थान के 'घूमर-नृत्य' आदि की चर्चा हो सकती है। पूर्ववर्णित 'जाट-जाटिन' भी अधिकांशतः इसी कोटि की चीज है।

कुल मिलाकर, हिन्दी-क्षेत्र की लोकनाट्य-परम्परा का यही स्वरूप हमारे सामने है। आज इन लोकनाट्यो की सामान्य विधियाँ अगर कही रामलीला-सगीत जैसे धर्मनिरपेक्षप्राय संगीत-नाटकों से मिलती-जुलती हो गई है, तो 'माच' मे रासलीला की सामग्री पाई जाती है। हिन्दी-नाटको पर भी इन लोकनाट्य-रूपो का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियो ने तो लोकनाट्य के तत्त्वो को अपनाया ही, इधर नये नाटककारो तथा रंगकर्मियों ने भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन बातो से लोकनाटकों की इस विशेषता पर प्रकाश पड़ता है कि इनका स्वरूप जड नहीं है, बल्कि निरन्तर गतिशील है।

△ दयाल-भवन, महेन्द्रू
पटना : ८०००००६

'उर्दू-कविता पर एक दृष्टि' : विशिष्ट सम्मति

"डॉ० कलीमुद्दीन अहमद द्वारा लिखित तथा प्रो० रामप्रसाद लाल द्वारा हिन्दी मे अनूदित 'उर्दू-कविता पर एक दृष्टि' पढकर परम सन्तोष हुआ। डॉ० अहमद जीवन और जगत् की सौन्दर्यमयी सोद्देश्यता से भरी तीक्ष्ण दृष्टिवाले आलोचक—रसप्राण भावक है। ऐसी बेबाक़ तकरीर, ऐसी निष्पक्ष निर्भीक आलोचना और उर्दू-कविता का सांगोपाग अनुशीलन-मूल्यांकन पढकर तबियत खुश हो गई। लेखक ने बिना किसी प्रकार की प्रतिबद्धता और पूर्वाग्रह के अपनी बात कही है। स्थान-स्थान पर अँगरेजी-कविता के साथ तुलना ने पुस्तक को व्यापक धरातल प्रदान किया है। आशा है, परिषद् का यह प्रकाशन काव्यप्रेमियों को—उर्दू-हिन्दी-भावप्रवणता के रसग्राहको को समान रूप से प्रिय होगा।"

△ दक्षिण सिविल लाइन
पचपेड़ी, जबलपुर (म० प्र०)

△ पं० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

प्राचीन भारतीय राजनीतिक जीवन में स्त्रियों की भूमिका

डॉ० सोहनकृष्ण पुरोहित

भारतीय समाज मे स्त्रियो की महत्ता प्राचीन काल से निर्विवादरूपेण स्वीकृत की जाती रही है। लेकिन, इस महत्ता की स्वीकृति मुख्यत धार्मिक क्षेत्र मे रही है, सामाजिक क्षेत्र मे अपेक्षया कम और राजनीतिक क्षेत्र मे अप्रत्यक्ष। धार्मिक जीवन में शक्ति की महत्ता सामाजिक जीवन मे नारी का आदरपूर्ण स्थान, लेकिन राजनीतिक जीवन मे शासिका रानियो की विरल सख्या, इन तीन वातो से सामान्य स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस विषय मे, भारतीय प्रागैतिहासिक युग के बारे मे कुछ भी कहना असम्भव है, सिवा इस सामान्य सम्भावना के कि विश्व के नवपाषाणकालीन समाज के समान भारत के नवपाषाणकालीन समाज की व्यवस्था भी मातृसत्तात्मक रही होगी। इसके पश्चात् भारतीय इतिहास मे सैन्धव-सभ्यता का युग आता है। इस युग मे स्त्रियो ने राजनीतिक क्षेत्र मे क्या योगदान किया था, इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कठिन है। किन्तु, मोहनजोदडो तथा हडप्पा के उत्खनन से प्राप्त मूर्त्तियो मे नारी-मूर्त्तियो की अधिकता तथा सैन्धवो द्वारा मातृशक्ति की पूजा से तत्कालीन समाज मे स्त्रियो के महत्त्व पर समीचीन प्रकाश पड़ता है।[1]

डॉ० श्रीराम गोयल का विचार है कि सैन्धव-समाज मे सम्भवत भाई-बहन के विवाह की प्रथा प्रचलित थी।[2] उस अवस्था मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मिस्र के समान सिन्धुदेश मे भी राजा अपनी वहनो के साथ विवाह करते होगे। परन्तु, इस विषय मे निश्चितरूपेण कुछ भी कहना कठिन है। सैन्धव-सभ्यता के अवसान-काल मे आर्यो ने भारत मे प्रवेश किया। उनकी राजनीतिक व्यवस्था प्रधानत राजतन्त्रात्मक थी। उनके समाज मे स्त्रियो का सम्मानपूर्ण स्थान निर्विवाद और सर्वज्ञात है। इसका कारण यह था कि यज्ञकर्म मे पति के साथ पत्नी का सहयोग अनिवार्य माना जाता था। उस समय लडकियो को लड़को के समान शिक्षा दी जाती थी और उनके विवाह वयस्क होने पर ही किये जाते थे। वस्तुत, वैदिक युग के प्रारम्भ से आधुनिक काल तक भारत मे स्त्रियो की सामाजिक अवस्था मे अवनति हुई है। लेकिन, जहाँतक राजनीतिक जीवन का प्रश्न है, आर्यो ने इस क्षेत्र मे स्त्रियों की भूमिका को गौण रखा।

---

१. वैदिक एज, पृ० १९०।

२. डॉ० श्रीराम गोयल : विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, पृ० ४२९।

इस निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य है ऐसे विषयों की समीक्षा करना, जिनमें स्त्रियों ने राजनीतिक जीवन को सायास प्रभावित किया। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण देखने मे आते है, जिनमे किसी राजा की माँ, बहन अथवा स्त्री ने तत्कालीन राजनीतिक घटनाचक्र को प्रभावित किया। जातको मे ऐसी कथाएँ आती है, जिनमें, अन्तःपुर में रहनवाली रानियो ने पर-पुरुषो के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया और उन्ही की सहायता से षड्यन्त्र करके राजा का तख्ता उलटने का प्रयत्न किया। राजनीतिक जीवन पर स्त्रियो के प्रभाव का एक उदाहरण रामायण की कथा मे है। राम को चौदह वर्ष का वनवास दिलवाने मे कैकयी तथा मन्थरा का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। राम को वन में भेजने का षड्यन्त्र दशरथ के अन्त पुर की उस दलगत राजनीति का परिणाम था, जो राम को युवराज चुने जाने के बहुत पहले से चली आ रही थी। मौर्यकाल मे अशोक की रानी तिष्यरक्षिता ने षड्यन्त्र करके अपने रूपवान् सौतेले पुत्र कुणाल को अन्धा करवा दिया। यदि कुणाल अन्धा न किया जाता, तो मौर्यवंश का इतिहास कुछ और ही होता।

कर्टियस ने लिखा है कि नन्दवंश का संस्थापक जाति से नाई था, लेकिन वह मगध के राजा की रानी का प्रेमी बन बैठा और रानी के माध्यम से उसने राजा का विश्वास प्राप्त करके उसे धोखे से मार डाला।[1] इस राजा की पहचान **काकवर्ण** से की जाती है। गुप्तकाल में भी अन्तःपुर की राजनीति पर स्त्रियों का प्रभाव पड़ने के दृष्टान्त मिलते है। उदाहरणार्थ, ध्रुवदेवी का चन्द्रगुप्त द्वितीय पर वैसा ही प्रभाव था, जैसा नूरजहाँ का जहाँगीर पर।[2] ध्रुवदेवी ने भी नूरजहाँ की तरह सम्राट् को प्रभावित करके राजनीति मे हस्तक्षेप किया था। गुप्तकाल मे ध्रुवदेवी ही एक ऐसी रानी है, जिसकी अपनी स्वतन्त्र मुद्रा मिली है। इसपर उसे महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की महादेवी और महाराज गोविन्दगुप्त की माता कहा गया है।[3] **आयगर** का मत है कि ध्रुववेदी ने इस मुहर के प्राप्तिस्थल 'वैशाली' के गवर्नर के रूप में शासन किया था।[4] हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त की दूसरी रानी कुबेरनागा से पन्द्रह-सोलह वर्ष कनिष्ठा थी, परन्तु इसके बावजूद द्वितीय चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ध्रुवदेवी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ने ही शासन किया। इस राजमहिषी का सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त पर इतना अधिक प्रभाव था कि इसके चंगुल मे फँसे रहने के कारण उसने साम्राज्य-विस्तार में अभिरुचि लेनी ही कम कर दी। इस प्रकार, चन्द्रगुप्त ने, शक्ति और साधन से सम्पन्न होते हुए भी, अपने राज्यारोहण के बाद कई दशको तक कोई नया प्रदेश नही जीता।

---

१. एज ऑव इम्पीरियल युनिटी, पृ० ३०।

२. डॉ० श्रीराम गोयल : प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ० १८०।

३ उपरिवत्।

४. एस्० के० आयंगर : एन्शियेण्ट इण्डिया ऐण्ड साउथ इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, १, पृ० २८३ (पूना, सन् १९४१ ई०)।

अन्त पुर की राजनीति पर प्रभाव पडने का दूसरा उदाहरण छठी शती ई० का है। गुप्तकाल के अन्तिम दिनो मे हूणनेता मिहिरकुल ने भारत पर आक्रमण के समय जब बौद्धो पर अत्याचार किये, तब तत्कालीन गुप्तसम्राट् नरसिंहगुप्त बालादित्य-राज ने उसे कर देना बन्द कर दिया। इसपर मिहिरकुल, बालादित्य के विरुद्ध सेना लेकर चढ आया, किन्तु इस युद्ध मे गुप्तनरेश की जीत हुई। युआन-च्वांग के अनुसार, बालादित्यराज के अश्वारोहियो ने मिहिरकुल को पकड लिया और वे उसे नरसिंहगुप्त के पास ले गये, परन्तु बालादित्यराज की माता ने अपने पुत्र को आदेश दिया कि वह मिहिरकुल को उसके समक्ष उपस्थित करे। ऐसा किये जाने पर उसने मिहिरकुल को ससार की नश्वरता का उपदेश दिया तथा अपने पुत्र से मिहिरकुल को छोड़ने का अनुरोध किया। बालादित्य ने अपनी माता के अनुरोध का पालन करते हुए मिहिरकुल को कैद से मुक्त कर दिया।[1] यह एक वृद्ध बौद्ध राजमाता द्वारा राजनीति मे अनपेक्षित रूप से हस्तक्षेप करने का रोचक उदाहरण है।

इसके विपरीत, बहुत-सी रानियो द्वारा अपने पतियो या भाइयो को युद्ध के लिए उकसाये जाने का विवरण मिलता है। उदाहरणार्थ, द्रौपदी के विषय मे कहा गया है कि वह पाण्डवो को कौरवो के विरुद्ध भडकाती रहती थी। इसी प्रकार जैनग्रन्थो के अनुसार, मगधराज अजातशत्रु की रानी पद्मावती ने हल्ल और बेहल्ल को सेयणक नामक हाथी तथा १०८ लडियो का हीरे का हार, जो उन्हे बिम्बिसार ने दिये थे, वापस प्राप्त करने के लिए उकसाया था, जिसके कारण वज्जिसंघ तथा मगध के सम्बन्ध बिगड़ गये थे।[2]

चौलुक्य-चाहमान के इतिहास मे इससे मिलती-जुलती घटना अर्णोराज की पत्नी देवल्लदेवी की है, जिसने अपने भाई कुमारपाल को अपने पति अर्णोराज के विरुद्ध भडकाया था।[3] लेकिन, इन घटनाओ से अधिक महत्त्वपूर्ण वे दृष्टान्त है, जिनमे कतिपय रानियो ने स्वय राजसत्ता का उपयोग किया था। जैसा कि सभी जानते है, प्रत्येक राजा की पत्नी रानी कहलाती थी। लेकिन, शासन पर उनका विशेष प्रभाव नही होता था। यहाँ हमारा आशय उन रानियो से है, जो राजा की पत्नी होने के कारण नही, वरन् राज्याधिकारिणी शासिकाएँ होने के कारण रानी कहलाती थी। भारतीय इतिहास मे ऐसे बहुत कम उदाहरण ज्ञात है, और ज्ञात उदाहरणो मे भी अधिकतर ऐसे ही है, जिनमे किसी रानी को गलती से राज्याधिकारिणी मान लिया गया। इस विषय मे सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि भारत मे स्त्रियो को राज्य की उत्तराधिकारिणी कभी नही माना गया है। राजकीय उत्तराधिकार का नियम सामान्य दायाधिकार के नियमो से भिन्न था। सामान्य दायाधिकार मे किसी व्यक्ति की सम्पत्ति उसके सभी पुत्रो को मिलती थी, लेकिन राज्य

---

१. बील : बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑव दि वेस्टर्न वर्ल्ड, १, पृ० १६८–७१।

२. एज ऑव इम्पीरियल युनिटी, पृ० २३; डॉ० सोहनकृष्ण पुरोहित : उत्तर भारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास, पृ० ५३।

३. दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टीज़, पृ० ५०-५१।

पर केवल राजा के ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार माना जाता था। 'रामायण', 'महाभारत', 'अर्थशास्त्र' और 'शुक्रनीति' तथा अन्यान्य ग्रन्थों मे राजा का उत्तराधिकारी उसके ज्येष्ठ पुत्र को और उसके अभाव मे अन्य पुरुष-सम्बन्धियों को, उनकी सम्बन्ध-निकटता के अनुसार, माना गया है। लेकिन, किसी भी अवस्था में किसी राजा के बाद उसकी पुत्री, रानी अथवा माँ का राज्य पर अधिकार नहीं माना जाता था। इस तथ्य के प्रकाश में अनेक ऐसे उदाहरण, जिनमे आधुनिक विद्वानों ने किसी स्त्री को राज्याधिकारिणी शासिका माना है, पुनर्विचारणीय हो जाते है।

लिच्छवि-राजकुमारी कुमारदेवी का विवाह गुप्तवंश के तृतीय शासक प्रथम चन्द्रगुप्त के साथ हुआ था। प्रथम चन्द्रगुप्त की, राजा-रानी-प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं।[1] उनके पुरोभाग पर चन्द्रगुप्त तथा कुमारदेवी की मूर्त्तियाँ बनी हैं तथा राजा के बायें हाथ के नीचे लम्बवत् 'चन्द्र' और दण्ड के बाहरी भाग मे गुप्त' एव दाहिनी ओर 'श्रीकुमारदेवी' अंकित है। इन मुद्राओं के पृष्ठभाग पर 'लिच्छवय.' शब्द भी उत्कीर्ण है। जैसा कि सर्वमान्य है, ये सिक्के उक्त विवाह की स्मृति में जारी किये गये और इसके परिणामस्वरूप लिच्छवि-राज्य गुप्त-साम्राज्य मे मिला लिया गया था। परन्तु, इस राज्य को गुप्त-साम्राज्य मे मिलाये जाने का कारण क्या था? आयंगर, अलतेकर आदि का यह मत प्राय. सर्वस्वीकृत है कि कुमारदेवी अपने पिता की उत्तराधिकारिणी एवं लिच्छवि-राज्य की शासिका थी।[2] लेकिन, डॉ० श्रीराम गोयल का आग्रह है कि प्राचीन काल मे प्रचलित उत्तराधिकार के नियम को देखते हुए इस निष्कर्ष को स्वीकार नही किया जा सकता। उनका कहना है कि लिच्छविनरेश की उत्तराधिकारिणी कुमारदेवी नही, वरन् समुद्रगुप्त रहा होगा। समुद्रगुप्त को गुप्त-अभिलेखो मे 'लिच्छविदौहित्र' कहा जाना इसका अतिरिक्त प्रमाण है। अत:, डॉ० गोयल का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि यहाँ 'दौहित्र' शब्द का प्रयोग 'पुत्रिका-पुत्र' नामक विशिष्ट प्रकार के पुत्र के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनुसार समुद्रगुप्त न केवल अपने पिता का पुत्र और उत्तराधिकारी था, वरन् अपने नाना का भी पुत्रकल्प दौहित्र और उत्तराधिकारी था।[3] इस प्रकार, लिच्छवि-राज्य गुप्तो को समुद्रगुप्त के माध्यम से मिला।

इसी प्रकार की भ्रान्ति मौखरी रानी राज्यश्री के विषय में भी फैली हुई है। राज्यश्री का पति ग्रहवर्मा सातवी शती में उत्तरप्रदेश, बिहार आदि का शासक था।

---

१. द्र० अ० स० अलतेकर : गुप्तकालीन मुद्राएँ; श्रीराम गोयल : हिस्ट्री ऑव इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० ९५, पादटिप्पणी।

२ मजूमदार तथा अलतेकर : वाकाटक गुप्त एज पृ० १२८; अलतेकर : गुप्त-क्वायनेज, पृ० २; स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २९४; आयंगर, ए० आइ० एस्० आइ० एच्० सी०, पृ० २३६।

३. डॉ० श्रीराम गोयल : हि० इ० गु०, पृ० ९७।

उसे गौडनरेश शशाक और मालवराज देवगुप्त ने मार डाला था। उसकी रानी राज्यश्री ने विन्ध्याचल पर्वत पर जाकर अपनी जान बचाई थी। सन् ६०६ ई० मे हर्षवर्द्धन ने, जो थानेश्वर का राजा एव राज्यश्री का भाई था, मौखरी-राज्य को शत्रुओ के चगुल से छुडाया।[1] इसके बाद हम मौखरी-राज्य पर हर्ष को शासन करता हुआ पाते हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि हर्ष मौखरी-राज्य का स्वामी कैसे बन गया। इसका उत्तर सभी विद्वान् इस प्रकार से देते रहे है कि ग्रहवर्मा की हत्या के बाद हर्ष ने राज्यश्री की, जो कन्नौज की स्वामिनी थी, सहायता के लिए कन्नौज का शासनभार सँभाला होगा। इतिहासज्ञों की यह भी मान्यता रही है कि ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद राज्यश्री का कन्नौज पर अधिकार होने का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता; क्योकि भारतीय इतिहास मे कभी किसी रानी को अपने पति की उत्तराधिकारिणी नहीं माना गया है।[2] ग्रहवर्मा के बाद उसके पुत्र को और पुत्र के अभाव मे भाई या भतीजे को राजा बनना चाहिए था। मौखरियो के नालन्दा से प्राप्त अभिलेख मे ग्रहवर्मा के अनुज का उल्लेख भी मिल गया है, जिसका नाम 'सु' अक्षर से प्रारम्भ होता है। उसने महाराजाधिराज की उपाधि के साथ शासन किया था। इसलिए, अब यह स्पष्ट है कि हर्ष ने मौखरी-राज्य पर अपनी सत्ता 'सु' के न्यायोचित अधिकार की अवहेलना करके स्थापित की होगी।

लेकिन, हिन्दू-शासन-व्यवस्था-मे नारियो का सिंहासन पर अधिकार न होते हुए भी कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य मिलते है, जब कतिपय महत्त्वाकाक्षिणी रानियो ने कूटनीति से अथवा स्थिति का लाभ उठाकर राजसत्ता पर अधिकार कर लिया। ऐसा प्राय उन उदाहरणो मे हुआ, जब कोई महत्त्वाकांक्षिणी रानी अपने अल्पवयस्क पुत्रो की सरक्षिका बनी। भारत जैसे विशाल देश मे इस प्रकार की घटनाएँ असम्भव नही थी। दूसरे कुछ प्रदेशो मे, किसी युग-विशेष मे कुछ जातियो ने स्त्रियो के शासिका बनने के अधिकार को स्वीकृत भी किया था। कही-कही तो हमे स्त्रीराज्य तक का उल्लेख भी मिलता है। 'जैमिनीभारत' मे स्त्रीराज्य की प्रमिला नामक शासिका का उल्लेख मिलता है। उसका अर्जुन पाण्डव से युद्ध हुआ था, यद्यपि स्त्रीराज्य का उल्लेख यहाँ गूढ रहस्यमय आख्यान के रूप मे किया गया है।[3] लेकिन, ऐसे राज्य की स्थिति अन्य साक्ष्य से भी संकेतित है। सातवी शती मे भारत की यात्रा करनेवाले युआन-च्वांग के अनुसार, ब्रह्मपुत्र-राज्य के उत्तर मे स्थित सुवर्णगोत्र-प्रदेश मे स्त्रियो का राज्य था। वहाँ उत्तराधिकार भी स्त्रियो के पक्ष मे होता था। रानी का पति राजा कहलाता था, परन्तु शासन-संचालन रानी ही किया करती थी। इस राज्य मे पुरुषों का कार्य खेती करना तथा उपद्रवों का उन्मूलन

१ दिनेशचन्द्र सरकार स्टडीज् इन दि सोसायटी ऐण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ एन्शियेण्ट ऐण्ड मेडियेवल इण्डिया, पृ० २२९।

२ इतिहास-समीक्षा, जयपुर, वर्ष १, अंक २, पृ० १४२-१४३।

३ दिनेशचन्द्र सरकार . यथापूर्व, पृ० २२९।

करता था।[1] युआन-च्वांग के इस कथन का समर्थन नू-वाँग नामक तिब्बती जाति के विवरण से होता है, जिसकी शासिका पिन-चिन कहलाती थी। युआन-च्वांग ने दक्षिण मे भी एक स्त्रीराज्य का वर्णन किया है, जो लागल के समीप पश्चिमी बलूचिस्तान मे था।[2] 'वृहत्संहिता' में भी उत्तरी पश्चिमी भारत मे ऐसे ही राज्य का उल्लेख मिलता है।[3]

कुछ रानियो के अल्पवयस्क पुत्रों की सरक्षिकाओ के रूप मे शासन करने का उल्लेख दक्षिणी भारत के सातवाहन-वश मे मिलता है। इस वंश के शासक **प्रथम शातकर्णी** की रानी **नागानिका** ने अपने पुत्र **वेदश्री** की अल्पावस्था में संरक्षिका के रूप मे शासन किया था। नानाघाट-अभिलेख[4] मे उसके द्वारा कई यज्ञों को सम्पादित करने का भी उल्लेख मिलता है, यद्यपि स्त्रियो को वैदिक यज्ञ सम्पादित करने का अधिकार नही था।[5] श्रौतयज्ञ करने पर तो स्त्रियाँ दण्ड की अधिकारिणी होती थी। डी० आर्० भाण्डारकर का मत है कि **नागानिका** द्वारा यज्ञ करने की कल्पना तो अनुमान से परे है।[6] अतः, ये यज्ञ उसने या तो अपने काल मे किये होगे और या फिर ब्राह्मणो से करवाये होगे। **नागानिका** द्वारा यज्ञो के सम्पादन का प्रश्न चाहे अनिर्णीत हो, परन्तु तत्कालीन राजनीति पर उसका प्रभाव स्पष्टतया द्योतित है। सातवाहन-वश मे **गौतमीपुत्र शातकर्णी** नामक नरेश के बीमार पड़ जाने पर उसकी माता ने संरक्षिका के रूप मे शासन किया था। यद्यपि यह सम्भावना निर्विवाद नही है।

उत्तर भारत मे किसी स्त्री के सरक्षिका बनने का प्राचीनतम उदाहरण सम्भवत: **एगेथोक्लिया** का है, जिसने **प्रथम स्ट्रेटो** की बाल्यावस्था में,-जो कदाचित् उसका पुत्र था, शासनभार सँभाला था। **एगेथोक्लिया** सम्भवत **मिनाण्डर** की पत्नी और **एगेथोक्लीज्** की पुत्री या बहन थी। उसने **स्ट्रेटो** के साथ सहमुद्राएँ जारी की थी।[7] संरक्षिका रानियों का एक बहुत अच्छा उदाहरण **प्रभावती गुप्ता** का है। वह गुप्तसम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री और वाकाटक-नरेश **द्वितीय रुद्रसेन** की रानी थी। **द्वितीय रुद्रसेन** की मृत्यु चतुर्थ शती ई० के अन्तिम चरण मे हुई थी। परिणामस्वरूप, उसका पुत्र **दिवाकरसेन** युवराज बनाया गया था। उसकी माता **प्रभावती गुप्ता** ने प्रायः तेरह वर्ष संरक्षिका के रूप मे शासन किया, जैसा कि प्रभावती गुप्ता द्वारा अपने पुत्र के तेरहवें वर्ष मे जारी किये गये

---

१. **वाटर्स : ऑन युआन-च्वांग ट्रैवेल्स इन इण्डिया, पृ० ३३०।**

२ उपरिवत्, पृ० २५७।

३ वराहमिहिर : बृहत्संहिता, १४।२२।

४. **जर्नल ऑव बम्बई ब्रांच ऑव रॉयल एसियाटिक सोसायटी, १३, (सन् १८७७ ई०), पृ० ३११।**

५. **शांखायनब्राह्मण, २७।४।**

६. **इण्डि० एण्टि०, भाग ४७, पृ० ७२।**

७. **ए० के० नारायण : दि इण्डोग्रीक्स, पृ० ११०।**

पूजा-दानपत्र से प्रमाणित है।[1] अत., दिवाकरसेन के शासन के तेरहवे वर्ष में उसकी आयु सोलह वर्ष से अधिक माननी पडेगी। हिन्दू-राजपरम्परा के अनुसार, उस समय उसे सिंहासन पर बैठने मे कोई बाधा नही थी, लेकिन इसके बावजूद हम पाते हैं कि वह उस समय भी केवल युवराज रहा। इसका कारण प्रभावती गुप्ता का सत्तालोलुप होना ही हो सकता है। प्रभावती गुप्ता के दुर्भाग्य से दिवाकरसेन की भी अल्पायु मे मृत्यु हो गई। इसके वाद, उसने सम्भवत. अपने दूसरे पुत्र दामोदरसेन की सरक्षिका के रूप मे शासन किया। प्रभावती गुप्ता के इस प्रकार सत्ताधारिणी बनने के कई गम्भीर परिणाम हुए—विशेषत इस दृष्टि से कि वाकाटक-राज्य पर गुप्तो का प्रभाव बढ़ गया, जो वाकाटक-प्रदेश मे गुप्त-लिपि के व्यापक प्रयोग एव गुप्त-पदाधिकारियो की नियुक्ति से स्पष्ट है।

रानियो के इस प्रकार सरक्षिका के रूप में शासन करने का उदाहरण चौहान-वंश के इतिहास मे भी मिलता है। तृतीय पृथ्वीराज की माता कर्पूरदेवी ने अपने प्रधानमन्त्री कदम्बवास की सहायता से करीब तीन वर्ष चौहान-राज्य पर शासन किया था। 'पृथ्वी-राजविजय' महाकाव्य के अनुसार, वह बहुत कुशल सरक्षिका सिद्ध हुई।[2]

प्राचीन इतिहास से स्पष्ट है कि कुछ रानियो ने न्यायत अथवा अन्यायत. सत्ता-धारिणी बनकर शासन किया। सम्भवत, ऐतिहासिक युग मे इसका प्राचीनतम उदाहरण क्लियोफस का है। वह ऐस्सीकेनोस जाति के राजा की पत्नी थी। सिकन्दर का आक्रमण होने पर तथा अपने पति के मृत्यु हो जाने के बाद उसने यूनानी आक्रमणकारी का सामना किया था। कर्टिअस के अनुसार, उसने पति की मृत्यु के पश्चात् शासिका के रूप मे शासन किया और अन्त मे सिकन्दर से पराजित होकर उसकी अकशायिनी बनी और उसने एक पुत्र को जन्म भी दिया।[3] क्लियोफस के समान शत्रु का सामना करने मे वीरता का प्रदर्शन दाहिर की रानी लाड़ीबाई ने भी किया था, जिसकी चर्चा मुस्लिम-इतिहास-कारों ने की है।[4] राजपूत-काल मे इस प्रकार का उदाहरण चित्तौड़ की रानी पृथा का भी मिलता है।[5]

लेकिन, महत्त्वाकाक्षिणी रानियो के उदाहरणो मे सबसे प्रमुख स्थान कश्मीर की रानी दिद्दा का है। उसने लगभग सन् ९५८ से १००३ ई० तक कश्मीर की राजनीति को अपने नियन्त्रण मे रखा था।[6] वह लोहर के राजा सिंहराज की कन्या तथा शाही

१. दि० च० सरकार : सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ४११।
२. पृथ्वीराजविजय, ९।१।३४।
३. स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ५८।
४. ईश्वरीप्रसाद : हिस्ट्री ऑव मेडियेवल इण्डिया, पृ० ५८-५९।
५. टॉड : एनलस ऐण्ड एण्टीक्विटी ऑव राजस्थान, भाग १।
६. एच्० सी० रे डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नॉर्दर्न इण्डिया, भाग १, पृ० १३।

राजा भीमपाल की पौत्री थी। उसका विवाह कश्मीर के राजा क्षेमगुप्त (सन् ९५०-९५८ ई०) से हुआ था, जो अत्यन्त विलासी था। उसपर दिद्दा का इतना अधिक प्रभाव था कि वह कश्मीर में 'दिद्दा-क्षेम' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।[1] क्षेमगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अभिमन्यु कश्मीर का शासक बना।[2] लेकिन, अल्पायु होने के कारण दिद्दा ने उसकी सरक्षिका के रूप मे कश्मीर पर शासन करना प्रारम्भ किया। उसने अपने विरुद्ध हुए विद्रोहो को दबाने मे कुशल कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। उसने अपने प्रधानमन्त्री फल्गुण से झगडा कर उसे अपदस्थ कर दिया तथा यशोधर नामक व्यक्ति और उसके सहायको के विद्रोहो को दबाने मे बल और भेद की नीति का सफल प्रदर्शन किया।[3] उसका कृपापात्र नरवाहन नामक मन्त्री था, जिसे दिद्दा ने 'राजानक' नामक उपाधि प्रदान की थी।[4] परन्तु, सिन्धु नामक व्यक्ति द्वारा कान भर दिये जाने पर दिद्दा नरवाहन से रुष्ट हो गई। दिद्दा ने नरवाहन को इतना अपमानित किया कि उसने आत्महत्या कर ली।[5] अब दिद्दा को संग्राम नामक डामर से भय उत्पन्न हुआ, अतः उसने फल्गुण को पुनः बुलाया।[6] ऐसे घटनाचक्र के समय उसके पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु क्षयरोग से हो गई। दिद्दा ने अभिमन्यु के पुत्र नन्दीगुप्त को सिंहासन पर बैठाया। इसके बाद दिद्दा पुत्रशोक से एक वर्ष तक पीडित रही और धर्मकार्यो में लगी रही। परन्तु, शोक शान्त हो जाने पर उसने सन् ९७३ ई० में अपके पौत्र नन्दीगुप्त की हत्या करवा दी। उसके पश्चात् उसने अपने पौत्र त्रिभुवन एवं भीमगुप्त को क्रमश सिंहासन पर बैठाकर मरवा डाला और सन् ९८० ई० मे स्वय राजसिंहासन पर बैठकर शासन करने लगी। स्वतन्त्र शासिका बन जाने पर दिद्दा ने तुंग को अपना प्रधानमन्त्री बनाया।[7] परन्तु, उसके विरोध मे ब्राह्मणो ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को दिद्दा ने घूस देकर शान्त किया। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे रानी दिद्दा ने अपने भाई उदयराज के पुत्र संग्रामराज को अपना युवराज बनाया,[8] जो रानी दिद्दा की मृत्यु होने पर सन् १००३ ई० मे सिंहासनारूढ हुआ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक रूप से कश्मीर के राज्य पर रानी दिद्दा का केवल सरक्षिता बनने का अधिकार था। परन्तु, वह स्वभाव से महत्त्वाकांक्षिणी थी, इसलिए करीब २३ वर्षो तक उसने पूर्ण अधिकारो के साथ शासन किया। कश्मीर के

१. कल्हण : राजतरंगिणी, ६।१५१-१५८।
२ उपरिवत्, ६।१८८।
३. उपरिवत्, ६।३३७।
४. उपरिवत्, ६।२६१।
५. उपरिवत्, ६।२७६।
६. उपरिवत्, ६।२८४।
७. सर्वाधिकरण।
८. कल्हण : पूर्वोक्त, ६।३५५।

इतिहास मे इस प्रकार का एक और उदाहरण मिलता है, जब वहाँ कोटादेवी नामक स्त्री ने लगभग सन् १३३८ ई० मे थोड़े समय के लिए शासन किया था।

भारत के अन्य प्रदेशो के विपरीत, बगाल के मिदनापुर एव उड़ीसा के गंजाम जिलो-वाले प्रदेश पर शासन करनेवाले भौमकर-वंश मे कई सत्ताधारिणी रानियो का उल्लेख पिछले वर्षो में प्राप्त अभिलेखो मे मिला है।[1] वहाँ विभिन्न अवसरो पर करीब छह बार स्त्रियो को राज्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। इन छह शासिकाओ मे पाँच तो मृत राजाओं की रानियाँ थी और एक पुत्री। इस वश के अभिलेखो मे गोस्वामिनी को उडीसा की योग्य शासिका कहा गया है। इसीलिए, उसके बाद की रानियो ने कई बार 'गोस्वामिनी' की उपाधि धारण की। अभिलेखो के अनुसार, भौमकर-वश की प्रथम सत्ताधारिणी शासिका त्रिभुवनमहादेवी थी।[2] वह नागवंश की कन्या थी। ढेन केनाल-ताम्रपत्र[3] (सन् ९५१ ई०) के अनुसार, वह राजा ललितविस्तर की पत्नी तथा राजमल्ल की पुत्री थी। उसने सामन्तो के आग्रह और गोस्वामिनी का उदाहरण दिये जाने पर शासन-भार स्वीकार किया था। इसका कारण यह था कि उस समय राज्य का कोई उत्तराधिकारी नही था। इस कथन की पुष्टि तलेचर-दानपत्र[4] (सन् ९७६ ई०) से भी होती है। इस अभिलेख के अनुसार, शुभाकर तृतीय उर्फ कुसुमहार की मृत्यु के पश्चात् उसकी माता त्रिभुवनमहादेवी ने शासन करना प्रारम्भ किया, परन्तु अपने पौत्र लवणभार के वयस्क होने पर उसे राज्य सौंप दिया। हाल ही मे प्राप्त दानपत्र[5] के अनुसार, लवणभार त्रिभुवन-महादेवी की विधवा पुत्रवधू के द्वारा गोद लिया गया था।

अतः, स्पष्ट है कि त्रिभुवनमहादेवी[6] ने अपने पुत्र के निःसन्तान मर जाने पर स्वयं सिंहासन पर बैठी थी। वह तबतक शासन करती रही, जबतक उसकी विधवा पुत्रवधू का गोद लिया हुआ पुत्र वयस्क नही हो गया। भौमकर-वश मे दूसरी शासिका पृथ्वीमहादेवी उर्फ त्रिभुवनदेवी द्वितीय हुई, जो सन् ९८९ ई० मे शासन कर रही थी। वह भौमकर-राजसिंहासन पर अपने पिता की सहायता से बैठी थी। यद्यपि वह स्वय विष्णुभक्त थी, तथापि उसके राज्यकाल मे कई शैव मन्दिरो का निर्माण हुआ था। भौमकर-वंश मे ही शुभाकर पंचम की मृत्यु के पश्चात् चार रानियो ने क्रमश शासन किया। इनमे प्रथम थी गौरी महादेवी, जो शुभाकर पंचम की पत्नी थी। उसकी उत्तराधि-कारिणी उसकी पुत्री दण्डमहादेवी थी। 'परमभट्टारिका महाराजाधिराजपरमेश्वरी

१. आइ० एच्० क्यू०, २९, पृ० १४८; इ० आइ० २९, पृ० ८१।
२. बी० मिश्र : उड़ीसा अण्डर दि भौमकर किंग्स, पृ० १२ अ।
३. उपरिवत्, पृ० २३।
४. उपरिवत्, पृ० ३२।
५. इ० आइ०, २९, पृ० २१० अ।
६. त्रिभुवनमहादेवी ने गोस्वामिनी की उपाधि धारण की तथा बौद्धधर्म के स्थान पर वैष्णवधर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त की।

दण्डमहादेवी' के कई दानपत्र मिलते है।[1] वह परम शिवभक्त स्त्री थी। उसकी उत्तराधिकारिणी उसकी सौतली माँ बकुलदेवी बनी। उसने सन् १०३५ ई० में एक घोषणा-पत्र प्रचारित किया था।[2] बकुलदेवी के पश्चात् उसकी जेठानी धर्मदेवी शासिका बनी। वह भौमकर-वंश की अन्तिम शासिका थी।

परवर्ती काल मे दक्षिण भारत मे कुछ राजाओ ने अपनी रानियों के साथ संयुक्त रूप से शासन किया था। दक्षिण कनारा के आलूप-राजवंश में पटरानी को राजा के साथ शासन करने की स्वतन्त्रता थी। उदाहरण के लिए, सन् १२६१-६२ ई० में वीर पाण्ड्यदेव आलपेन्द्रदेव ने अपनी प्रमुख पट्टदेवी के साथ वराहकन्यापुर नामक राजधानी मे रहकर राज्य किया था।[3]

प्राचीन भारत मे स्त्रियो ने केवल शासिका के रूप में ही राजनीति को प्रभावित नही किया, अपितु उच्च पदो पर रहकर भी अपने प्रभाव का उपयोग किया था। वैदिक काल मे स्त्रियों ने राजनीतिक जीवन को किस सीमा तक प्रभावित किया, कहना कठिन है। 'ऋग्वेद' में, स्त्रियों के 'सभा' मे भी भाग लेने का उल्लेख मिलता है। एक अन्य संस्था 'विदथ' मे भी स्त्रियाँ भाग लेती थी।[4] वह उसमें केवल उपस्थित ही नही होती थी, वरन् उसकी कार्यवाहियो मे भी भाग लेती थी। 'तैत्तिरीयब्राह्मण' के अनुसार, राजा की रत्निपरिषद् मे स्त्रियो को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[5] सम्भवतः, राजा धार्मिक कारणो से स्त्रियो को रत्निपरिषद् मे स्थान देता था। मौर्यकाल मे राजा की रक्षा का कार्य स्त्रियाँ करती थी।[6] उस समय नगर तथा सैनिक छावनी के निरीक्षण मे वेश्याओं की सहायता ली जाती थी।[7] कौटिल्य अमात्यों की नियुक्ति के समय संन्यासिनी-वेषधारी गुप्तचरियो की सहायता लेता था।[8] वह राजा को सलाह देता है कि महारानी से मिलते समय बूढी परिचारिका को अपने साथ रखे।[9] अशोक के समय स्त्रियो को 'स्त्री-अध्यक्ष' के पद पर नियुक्त किया जाता था।[10] कल्हण ने सामन्तो के रूप मे 'डामरियों' का उल्लेख किया है।[11] वह छद्दा (> क्षुद्रा) नामक स्त्री-योद्धा,

---

१. इ० आइ०, २९, पृ० ७९।
२. उपरिवत्, ३६, पृ० ३०७।
३. साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शन्स ९, भाग १, संख्या ३९५-३९६।
४. ऋग्वेद, १।१६७।३।
५. तैत्तिरीयब्राह्मण, १।७।३; ऋग्वेद, ५।३०।९।
६. स्त्राबो, १५।१।५५।
७. उपरिवत्।
८. अर्थशास्त्र, १।५।९।
९. उपरिवत्, १।१५।१९।
१०. अभिलेख, १२।
११. कल्हण : राजतरंगिणी, ८।३११५।

और उच्चपदस्थ स्त्री-अधिकारी सिल्ला का उल्लेख भी करता है।[1] स्मृतियो के अनुसार, स्त्रियाँ राजकीय दस्तावेज तैयार करती थी। सातवाहन-काल मे लोटा नामक स्त्री लेख का प्रारूप तैयार करती थी। गजाम के एक लेख को वाच्चिका तथा जाच्चिका ने पंजीकृत किया था।[2] विद्याधरभंज अमोघकलश की मुहर उसकी रानी जयमहादेवी तथा अनन्तवर्मा की मुहर रानी श्रीवासभट्टारिका रखती थी। गुप्तसम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त की रानी ध्रुवदेवी की अपनी पृथक् मुहर थी। राष्ट्रकूट-राज्य मे स्त्रियाँ गवर्नर के पद पर नियुक्त की जाती थी।[3] प्राचीन भारत मे स्त्रियो के ग्रामसभा मे रहकर कार्य करने का उल्लेख भी मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत मे राजसत्ता पर स्त्रियो का अधिकार कभी नही माना गया था। जब कभी उन्होने शासन किया, परिस्थितियो का लाभ उठाकर किया। भौमकर-वश इसका अपवाद अवश्य है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक जीवन को राजघरानो के षड्यन्त्रो ने गम्भीर रूप से प्रभावित किया। लेकिन, स्त्रियों ने जब भी शासिका अथवा उच्च पद पर रहकर कार्य किया, अपनी कुशलता अवश्य प्रदर्शित की। इस प्रकार, प्राचीन भारतीय राजनीतिक जीवन स्त्रियो के प्रभाव से अछूता नही रहा था। ●●

△ प्रवक्ता, इतिहास-विभाग
जोधपुर-विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

---

१. कल्हण : राजतरंगिणी, ११३६-३७।

२. इ० आइ० २८, पृ० ३३५।

३. महालिगम् साउथ इण्डियन पॉलिटी, पृ० ६२।

साहित्यिक अनुस्मृति :

संक्रान्ति-काल और बिहार के साहित्यकार

पं० मदनमोहन पाण्डेय

बिहार मे, वर्त्तमान शती के चौथे दशक तक, हिन्दी में जो साहित्य-रचना हुई, वह अधिकाशत देशप्रेम और देशभक्ति से ओतप्रोत एव स्वातन्त्य-सग्राम को उत्प्रेरित करने-वाली रही। साहित्य ने सदा युग को अनुप्राणित करने की चेष्टा की है और सामाजिक-राजनीतिक क्रान्तियाँ भी साहित्य के माध्यम से ही होती आई है। सन् ब्यालीस की क्रान्ति तक अनेक महापुरुषो ने अपने सतत चिन्तन और बौद्धिक प्रयास से हिन्दी-साहित्य के भाण्डार को राजनीतिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक साहित्य से समृद्ध किया, साथ ही नव-युवकों को भी साहित्य-निर्माण के लिए अनुप्रेरित किया। इस अवधि में, हिन्दी-भाषा को अच्छे साहित्यकार, कवि, आलोचक और कहानीकार प्राप्त हुए, जिनकी सेवाएँ सदा सराही जायेगी और जिनका साहित्य सदा पढा जाता रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। इस काल मे, साहित्य के हर क्षेत्र और हर विधा मे जो कुछ लिखा गया, वह अधिकाधिक पाठकों द्वारा पढा गया और प्रशंसित हुआ।

स्वतन्त्रता-पूर्व हिन्दी के साहित्यकारो ने कर्त्तव्यवश ही साहित्य का निर्माण किया। सघर्षरत देश मे कर्मठता और त्याग की भावना प्रबल होती है और इसी के अनुरूप हिन्दी के तत्कालीन साहित्यसेवियो की कर्मचेतना गतिशील रही। परन्तु, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद स्थिति ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि देश मे उपभोक्ता-संस्कृति ('कंज्यूमर कल्चर') की नीव पड गई। गान्धीजी के अवसान के बाद तो यह संस्कृति बडी तेजी से पनपने लगी। हम जिस उत्साह के साथ मनसा, वाचा, कर्मणा युग-परिवर्त्तन के लिए, सचेष्ट थे, वह, सन् अडतालीस के आते-आते ठप पड़ गया। संविधान की स्वीकृति, यानी सन् पचास तक हम बाट जोहते रहे कि देश के नेतृत्व की ओर से समुचित दिग्दर्शन होगा, पर वैसा कुछ हुआ नही।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, विगत चार-पाँच दशको तक देश के संघर्षशील नेताओ मे अधिकांश की मनोवृत्ति भोगोन्मुख हो गई। निर्माण की अवधि में यह भोग-प्रवृत्ति बड़ी घातक सिद्ध हुई, जिसे आज हम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे है। संविधान लागू होते-होते भारत में प्रायः दो वर्गों की नींव पड़ गई और आगे चलकर इन्हीं दो वर्गों के प्रभाव-

क्षेत्र मे समग्र देश जा पहुँचा। इनमे पहला, नेताशाहों का वर्ग था और दूसरा, नौकरशाहों का वर्ग। किन्तु, इन दोनो वर्गो मे समुचित रूप से तालमेल न बैठ पाया, फलत. दोनों के बीच खींचातानी चलती रही। नौकरशाहो ने ठकुरसुहाती और दरबारदारी का सहारा लेकर नेताशाहो पर प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की। परिणामत, नेताशाही अधिकार की सुविधाओ के उपभोग की ओर झुक गई। ज्ञातव्य है, उपभोक्ता-संस्कृति लोभ तथा स्वार्थ की जननी है और कुकर्म है उसका सहोदर। कहना न होगा कि नेताशाही के इसी काल मे भ्रष्टाचार का बीज-वपन हुआ।

इसी संक्रान्ति-काल मे, प्रबुद्ध जनो के मन में कुछ कर गुजरने की बेचैनी बढ़ी। ये सभी-के-सभी शीघ्रातिशीघ्र रचनात्मक परिवर्त्तन देखना चाहते थे। सन् पैंतालीस की अन्तिम अवधि मे मैंने **आचार्य बदरीनाथ वर्मा, प० रामशरण उपाध्याय, श्रीलक्ष्मी-नारायण सुधांशु** जैसे उच्च स्तर के लोगो के पास पत्र लिखा और उनकी राय जाननी चाही कि पाठ्य-पुस्तको के सम्बन्ध में क्या परिवर्त्तन लाया जाय और कौन-सा दृष्टिकोण अपनाया जाय। कुछ ने पत्र द्वारा अपनी राय दी, कुछ ने विचार-विमर्श के लिए बुलाया। नेता अपने राज्य के विद्वानो, अधिकारियो तथा जनसाधारण का सहयोग चाहते थे और वे इनके साथ विचार-विमर्श के लिए तत्पर थे। वे जनसाधारण के विचारो से कुछ ग्रहण करना चाहते थे, साथ ही उसका मार्गदर्शन भी उन्हे अभीष्ट था। **आचार्य बदरीनाथ वर्मा** उन दिनो बिहार के शिक्षामन्त्री होने के साथ ही जनसम्पर्क-विभाग के भी मन्त्री थे। उनकी प्रवृत्ति समस्याओ पर खुलकर बात करने की थी। वह स्वय साहित्यिक अभिरुचि के शिक्षक और पत्रकार थे तथा बिहार राष्ट्रीय विद्यापीठ (सदाकत-आश्रम) के संचालक रह चुके थे, साथ ही प्रकाशको और लेखको के सेवा-सहयोग के भी इच्छुक थे। तत्कालीन मुख्य-मन्त्री **बिहारकेसरी डॉ० श्रीकृष्ण सिंह**, वित्तमन्त्री **श्रीअनुग्रहनारायण सिंह** एवं शिक्षामन्त्री **आचार्य बदरीनाथ वर्मा** ने बिहार के उन साहित्यकारो को, जिन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन मे परोक्ष या प्रत्यक्ष योग दिया था, विभिन्न सरकारी सेवाओ मे नियुक्त कर आशा की थी कि ये स्वतन्त्रताप्रेमी साहित्यकार सच्चे अर्थ मे देशहित के लिए कार्य करेंगे और इनकी जीविका की समस्या भी हल होगी। इन्ही उद्देश्यो से **आचार्य बदरीनाथ वर्मा** ने 'राष्ट्रीय विद्यापीठ' और राष्ट्रीय विद्यालयो के स्नातको के अतिरिक्त, अन्यान्य साहित्यकारो और, सम्पादको को शिक्षा और जनसम्पर्क-विभाग में पदस्थापित किया। दिनकरजी उन्ही दिनो जनसम्पर्क-विभाग मे एक उच्च पदाधिकारी थे।

सन् १९४७ ई० मे **आचार्य बदरीनाथ वर्मा**, काशी-विद्यापीठ के एक समारोह मे सम्मिलित होने के लिए काशी पहुँचे हुए थे और वही **पं० छविनाथ पाण्डेयजी** से उनकी मुलाकात हुई। उन दिनो पण्डितजी दै० 'आज' के कार्यालय मे कार्यरत थे। **बदरी बाबू** ने उनसे पटना चलने को कहा और यह विचार हुआ कि प्रौढशिक्षा के लिए बिहार-सरकार द्वारा कुछ साहित्य तैयार कराया जाय। पण्डितजी जब पटना आ गये, तब उन्हे यह भार दिया गया। प्रारम्भ में, पण्डितजी को तीन वर्षों तक हिन्दी-भाषा

और साहित्य की सेवा के उद्देश्य से बिहार-सरकार के पुस्तकालय-विभाग और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का प्रारम्भिक संघटनात्मक कार्य करना पडा। पुस्तकालयों की वस्तुस्थिति के प्रत्यक्ष अनुभव के लिए पण्डितजी ने बिहार के तत्कालीन सभी जिलो के गाँवो मे जाकर लगभग २०० पुस्तकालयो का निरीक्षण किया। प्रत्येक जिले मे पण्डितजी को दो-चार ऐसे सज्जन मिल जाते थे, जिनके साथ दौरा करने से उन्हे वस्तुस्थिति की जानकारी मे विशेष सहूलियत का अनुभव होता था।

चार-पाँच वर्षो मे ही प्रौढशिक्षा के लिए लगभग चालीस पुस्तके पण्डितजी ने लिखवाई, जो शिक्षा-विभाग से प्रकाशित हुई। **बदरी बाबू** ने **पं० सुरेश्वर पाठक विद्यालंकार** को पण्डितजी के सहायक के रूप मे नियुक्त किया। इसी क्रम में उन्होंने **पं० नन्दकिशोर तिवारीजी** को पटना बुलाकर उन्हे जनसम्पर्क-विभाग से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'बिहार' के सम्पादकत्व का भार सौपा। पटना मे, सन् सैतालीस से पचपन के बीच साहित्यकारो का एक ऐसा दल था, जिसमे **दिनकरजी, सुधांशुजी, बेनीपुरीजी, जयनाथ मिश्र, पं० छविनाथ पाण्डेय** और **द्विजजी** जैसे कर्मठ साहित्यसेवी थे, जो प्राय आपस में मिला करते थे और उनकी सायकालीन मित्रगोष्ठी हुआ करती थी, जिसमे मुख्यत हिन्दी-भाषा और साहित्य की समुन्नति के विषय मे चिन्तन होता था। यह गोष्ठी एक प्रकार का अनौपचारिक 'ब्रेन ट्रस्ट' थी, जो साहित्यिक-भाषिक गतिविधि का पर्यवलोकन करती थी और तद्विषयक नवीन कार्य-प्रगति के लिए समय-समय सरकार को सुझाव भी देती थी।

बिहार-सरकार ने अपने राज्य मे हिन्दी और नागरी को राजभाषा और राजलिपि के रूप मे स्वीकृति सन् १९४८ ई० मे ही दे दी थी, जिसके कार्यान्वयन के लिए 'राजभाषा-विभाग' की स्थापना हुई और उसकी कार्य-प्रगति की देखभाल के लिए एक समिति भी बनाई गई। **पं० हंसकुमार तिवारी** इस समिति के निरीक्षक-सदस्य नियुक्त हुए। **तिवारीजी** ने चाकरी तो स्वीकार नही की, पर मानदेय के आधार पर आशिक कार्यभार सँभाला। राज्य के सरकारी कार्यालयो के निरीक्षण के क्रम मे हिन्दी और नागरी-लिपि के प्रयोग-विस्तार के निमित्त कार्यकर्त्ताओ को प्रेरित-प्रोत्साहित करना, तद्विषयक विभिन्न परामर्श देना और इस सम्बन्ध मे हुई प्रगति का प्रतिवेदन सरकार के मन्त्रिमण्डल के समक्ष उपस्थित करना निरीक्षक का मुख्य कर्त्तव्य था। यह कार्य **तिवारीजी** ने लगभग बीस वर्षो तक किया। सच पूछिए, तो इस राजभाषा-विभाग के उत्प्रेरक **श्रीसुधांशुजी** स्वयं थे। इस विभाग मे भी **पं० रामलोचन शर्मा 'कण्टक', सत्यव्रत शर्मा 'सुजन'** आदि हिन्दी के विद्वान् लाये गये, जो हिन्दी के लिए अनुवाद, पारिभाषिक शब्दो के निर्माण आदि कार्यो मे लगे। इस विभाग मे जितनी नियुक्तियाँ हुई, उनमें प्राय सभी हिन्दी के प्रेमी और लेखक थे।

श्रीसुधांशुजी के प्रयास से विधान-सभा मे पारित प्रस्ताव द्वारा 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' की स्थापना की स्वीकृति सन् १९५० ई० मे मिली और उसके सचालन के लिए **आचार्य शिवपूजन सहायजी** को राजेन्द्र कॉलेज, छपरा से **पटना** लाया गया और परिषद्

के प्रकाशन-विभाग की देखरेख के लिए प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीअनूपलाल मण्डल को नियुक्त किया गया। हिन्दी की विद्वन्मण्डली द्वारा परिषद् के सचालन की अपनी परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसमे उस समय के प्रसिद्ध साहित्यकारो का सहयोग प्राप्त हुआ। परिषद् के उद्देश्यो और कार्यो के अन्तर्गत हिन्दी मे उच्चस्तरीय शोध और उसके प्रकाशन द्वारा बिहार के बहुमुखी सांस्कृतिक जीवन को मूल्य देना ही मुख्य है।

संविधान की स्वीकृति और उसके अनुकूल प्रशासनिक दृष्टि से राज्य-सघटन होते-होते बिहार मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, राजभाषा-विभाग, प्रौढशिक्षा-विभाग तथा जन-सम्पर्क-विभाग हिन्दी के उन्नयन मे सचेष्ट हो गये। इन विभागो मे दर्जनो साहित्यकार सरकारी सेवाओ मे आ गये। सरकारी तन्त्र मे साहित्यसेवियो के आ जाने से प्रबुद्ध-वर्ग मे आशा बँधी कि आगे चलकर हिन्दी-जगत् मे अपेक्षित परिवर्त्तन होगा और कुछ हुआ भी। परन्तु, सरकारी तन्त्र मे आते ही ये साहित्यकार भी, अधिकाशत नौकरशाही प्रवृत्ति के हो गये और इनकी सारी सर्जनात्मक प्रतिभाएँ साहित्य की ओर से मुड़कर नौकरीपेशे के प्रति आग्रहशील हो गई। इनके द्वारा जो उच्चतर साहित्य के निर्माण की सम्भावना थी, वह कुण्ठित हो गई। चाकरी के चक्कर और जीवन-निर्वाह की उलझन मे पड़कर ये केवल सरकारी तन्त्र के पुरजे होकर रह गये।

कुछ साहित्यकार तो राजनीति मे उतर पडे और विधान-सभा तथा विधान-परिषद् की सदस्यता ग्रहण कर उसी में उलझ गये! हिन्दी-साहित्यकारो की माँग आकाशवाणी-केन्द्रो में भी हुई। बिहार के अनेक साहित्यकार इस विभाग से जुड गये और चाकरी बजाने लगे। सन् १९५० ई० के आते-आते विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयो मे उपाधि-धारी साहित्य-अध्यापको की माँग बढी, और इस प्रकार, छठे दशक के आते-आते बिहार मे साहित्यकारो के तीन वर्ग बन गये सरकारी साहित्यकार, अध्यापक साहित्यकार और स्वतन्त्र साहित्यकार। तीसरे वर्ग मे अधिकतर नये रँगरूट, यानी उदीयमान साहित्यकार के अतिरिक्त पुराने साहित्यकार भी, जो सख्या मे कम थे, स्वतन्त्र साहित्य-रचना मे ही संलग्न रहे। सत्ता और सरकार ने इन स्वतन्त्र साहित्यकारो की उपेक्षा ही की, ऐसा कहा जा सकता है। उक्त तीनो वर्गों मे प्रत्येक वर्ग की अपनी विशिष्टता थी। अध्यापक साहित्यकार विद्वत्ता की ओर मुडे और उनपर पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का प्रभाव पडने लगा। उनकी भाषा से सहजता और सरलता तिरोहित होने लगी। अधिकतर अध्यापक साहित्यकारो की दृष्टि भारतीय और अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालयो की गतिविधि की ओर उन्मुख रही और कुछ ने उच्चस्तरीय साहित्य के विशिष्ट अगो पर, विशिष्ट वर्गो के लिए अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। शास्त्रीय आलोचना-साहित्य का विकास हुआ। आगे चलकर ये अध्यापक साहित्यकार जनवर्ग से दूर होते गये। इनमें अधिकाश की भाषा और शैली जटिल, फलत. जनसाधारण के लिए दुर्बोध रही।

इसी अवधि मे भारत-सरकार ने निर्णय किया कि भाषा के आधार पर राज्यों का संघटन किया जाय। इस निर्णय से बिहार-राज्य की पूर्वी और दक्षिणी सीमा-स्थित क्षेत्रो

मे, दो राज्यों के बीच आपसी खीचतान चली और अनपेक्षित भाषिक आन्दोलन भी हुए। बिहार-सरकार ने हिन्दी-प्रचार-प्रसार के लिए पुरुलिया, धनबाद, चाइबासा, सन्ताल-परगना, सरायकेला आदि क्षेत्रो तथा अहिन्दीभाषी राज्यों मे हिन्दी-प्रचार-अधिकारी नियुक्त किये, जिनमें अधिकतर हिन्दीसेवी साहित्यकार थे। इस सन्दर्भ मे, दक्षिण तथा पूर्वोत्तर भारत मे हिन्दी-प्रचार के लिए समर्पित हिन्दीसेवियों मे **श्रीव्रजनन्दन शर्मा श्रीरामानन्द शर्मा, श्रीअवधनन्दन, श्रीलालजी सहाय** आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इस संक्रान्ति-काल में जनजीवन मे जटिलता का प्रवेश हो चुका था। साहित्य के क्षेत्र मे भी अनेक प्रकार की विधाओं और वादो का विवाद प्रारम्भ हो गया था। जनसाधारण की विकृत होती हुई रुचि के अनुसार कहानी, कविता, उपन्यास आदि पाठ्य-सामग्री की रचना शुरू हुई। विलास-वैभव, यौनाचार की मादकता आदि से पूर्ण भ्रष्टाचार और अपराध की कथाओ का रसमय चित्रण द्वारा जनसाधारण की रुचि का व्यावसायिक उपयोग कर अधिकांश नये हिन्दी-लेखकों और प्रकाशको ने प्रचुर धनार्जन किया! सत्साहित्य के पाठको की सख्या मे ह्रास हुआ और उत्तेजक यौन साहित्य के पाठको की संख्या मे आशातीत वृद्धि हुई। हिन्दी मे विद्या-व्यसनियों की सख्या मे वृद्धि हुई या नहीं, कह नही सकता, पर विद्या-व्यवसायियो की वृद्धि बड़े जोरों से हुई।

इस अवधि में लगभग हजारो मानपत्र या स्तुतिपत्र भी लिखे गये, जिनमे अधिकांश की भाषा अतिशय प्राजल, कर्णमधुर और विद्वत्तापूर्ण रही, तथ्य और कथ्य का प्रदर्शन अतिशयोक्ति से भी कुछ ऊपर ही रहा। काश, उस समय के ऐसे सभी मानपत्तो का संग्रह कही एक जगह देखने को मिलता, तो उसमे साहित्य और समाजशास्त्र के अध्येताओ को कुछ दिलचस्प सामग्री अवश्य मिलती और जनता के चाटुतापूर्ण मनोविज्ञान का मजेदार अध्ययन भी होता। इस अवधि मे उस समय अपने राज्य मे लगभग दस उत्तम अभिनन्दन-ग्रन्थ भी सम्पादित हुए, जिनमे बिहार के तथा इतर राज्यो के हिन्दी-विद्वानो की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ सम्मिलित की गईं। अवश्य ही, इन अभिनन्दन-ग्रन्थो की सामग्री संग्रहणीय और पठनीय रही।

इस प्रकार, सन् पैंतालीस से पचपन के संक्रान्ति-काल की गतिविधि राजनीति के अधीन हो गई। काल का प्रभाव चिन्तन, भाषा और साहित्य पर अवश्य पड़ा, किन्तु भाषा और साहित्य काल को प्रभावित नही कर पाये, क्योंकि उस (काल) पर राजनीति राज्य कर रही थी। सरकार और जनता के सहयोग से बिहार के त्रिमूर्ति **डॉ० श्रीकृष्ण सिंह** (मुख्यमन्त्री), **श्रीअनुग्रहनारायण सिंह** (वित्तमन्त्री) तथा **आचार्य बदरीनाथ वर्मा** (शिक्षामन्त्री) ने हिन्दी-भाषा और साहित्य के लिए जो कुछ विशेष करना चाहा, वे कर नही पाये। उनकी सद्भावना या प्रयास मे कोई शंका नही, पर जो सोचा गया, वह नही हुआ, चाहकर भी वे परिस्थिति की परवशता के शिकार हो गये! हिन्दी-भाषा और साहित्य का वर्चस्व राजनीति के दंगल में गौण और नगण्य हो गया! ••

△ २ बी, राजेन्द्रनगर, पटना-८०००१६

स्मृति-तर्पण :

शोधपुरुष नाहटाजी

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

जो व्यक्ति बीकानेर (राजस्थान) के कुलीन घराने मे उत्पन्न हुआ हो, जिसके बडे और सम्पन्न कुल का व्यापार कलकत्ता से असम तक फैला हो, जिसकी शिक्षा कुल जमा पाँचवी तक हुई हो, बचपन में जिसके हाथ पीले कर दिये गये हों, जिससे घरवालों की यह अपेक्षा हो कि होश सँभालने पर वह व्यवसाय को बढाकर घर की दौलत मे इजाफा करेगा, उसके मन में यदि अप्रत्याशित रूप से प्राचीन पाण्डुलिपियो, शास्त्र-भाण्डारो और पुरानी कलात्मक वस्तुओ की खोजबीन करने की लगन लग जाय और एकमात्र शोध ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाय, तो वह समर्पितप्राण शोधपुरुष नही है, तो और क्या है ?

सन् १९२७ ई० मे छोटी-सी घटना, युवा अगरचन्द नाहटाजी के दृष्टिकोण को बदल देती है। कृपाचन्द्र सूरि का नाहटो की कोठरी पर ठहरना और नाहटाजी का उनसे प्रभावित होकर, प्राचीन ग्रन्थो की खोज का आग्रह पाल लेना, यह सब कुछ ही क्षणो मे घटित हो गया। उस समय के यतियो की, जिनपर शास्त्र-भाण्डारो की देखभाल का उत्तरदायित्व था, कबूतरबाजी और कुटेव तथा कीमती ग्रन्थो को मिट्टी के मोल बेचने की प्रवृत्ति देखकर नाहटाजी का शोध संग्रह-विषयक सकल्प दृढ से दृढतर हो गया। उन्होने अपने बल-बूते पर वह काम करने का बीड़ा उठाया, जो कई शोधक पुरुषों का काम था। पाण्डुलिपियाँ संगृहीत करना, शास्त्र-भाण्डारो की वर्गीकृत सूची तैयार करना, पुराने खेतड़ो की खरीद करके उनकी छानबीन करना आदि ऐसे काम है कि देखकर आश्चर्य होता है, नाहटाजी अपने दम पर यह सब कैसे करते रहे ! निश्चय ही, घरवालो को यह सब प्रीतिकर नही था, घरेलू अड़चनें भी आई, परन्तु वे नाहटाजी को अपने स्वीकृत रास्ते से विचलित नही कर सकी। यह सोचना गलत है कि नाहटाजी केवल अपनी लगन के कारण इस क्षेत्र मे आये। इसके मूल मे उनकी सुविचारित दृष्टि थी। उनकी मान्यता थी कि प्राचीन साहित्य और कलावस्तुओ का संग्रह करना महत्त्वपूर्ण कार्य है और यह प्राचीन संस्कृति का पता लगाने के लिए आवश्यक भी है। गीता के अनुसार, उनके विचार से कर्म मे कुशलता का नाम ही कला है। इस दृष्टि से वह अपने मिशन के बहुत बडे फनकार थे। पुरातात्त्विक संग्रह की इस शोधयात्रा मे उन्हे कभी खण्डहरो और गुफाओ की धूल फाँकनी पड़ी, कभी चिलचिलाती धूप मे भूखे-प्यासे मीलो चलना पड़ा, कभी तहखानो मे चमगादड़ो से पाला पड़ा और कभी उन्होने जीर्ण-शीर्ण छत के नीचे पोथियों के पन्नो की धूल साफ की।

पुण्यश्लोक नाहटाजी देशी पद्धति के व्यक्ति थे। मझोला कद, साँवला रंग, भारी-भरकम गठा शरीर, घनी मूँछे, कुछ खोजती गहन दृष्टि और लहरियादार बीकानेरी पगड़ी

देखकर यह अन्दाज लगाना मुश्किल था कि यह मारवाड़ी सेठ शोधपुरुष भी हो सकता है। उनसे मिलना साक्षात् सादगी और नम्रता से मिलना था। वह सूचनाओं के जीवित सन्दर्भ और खोजों की लम्बी सूची थे। पुराने ग्रन्थों को ढूँढने और संगृहीत करने का उनका ढंग भी कम मनोरंजक नहीं था। जहाँ भी जाते, काम से निबटकर, वह जिस नगर मे होते, पुरानी पुस्तकों की दूकानों—कबाड़खानों मे जा पहुँचते और जो भी जीर्ण-शीर्ण कागजों का ढेर होता, उसे एकमुश्त खरीद लेते। इस तरह कई मूल्यवान् कृतियाँ उन्हे मिट्टी के मोल मिल जाती। नाहटाजी के व्यक्तित्व को चमकानेवाला एक और पहलू है, वह है उनका संयत धार्मिक जीवन। पुरानी रचनाओं की खोज और संग्रह के अतिरिक्त उन्हें दूसरा कोई शौक नही था। उनका नियम था कि वे पाँच लाख से अधिक का संचय नहीं करेंगे। धन के परिसीमन की इस प्रवृत्ति ने उन्हें भौतिक आकर्षण और ऐश्वर्य के भोग की कामना से विरत रखा। बीकानेर मे उनके द्वारा स्थापित 'अभय पुस्तकालय' उनका जीवित-जाग्रत् साधना-स्मारक है, जो वास्तव मे शोधतीर्थ है। जाने कितने शोधार्थियो ने वहाँ रहकर शोध-उपाधियाँ प्राप्त की। निरन्तर अभ्यास के कारण प्राकृत और अपभ्रंश-भाषाओं पर नाहटाजी का खासा अधिकार हो गया था। उनकी एक खूबी यह थी कि वह समानधर्मा खोजियो की पूरी जानकारी रखते थे, और उनसे उनका सम्पर्क बना रहता था। आज का काम कल पर नहीं छोड़ते थे, फल की व्यर्थ चिन्ता उन्होने कभी नहीं की। उनका कहना था कि कर्म, आत्मानुभव की दिशा मे बढ़ने का एक साधन है। राजस्थानी-भाषा और आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की बहुत-सी गुत्थियाँ तबतक नहीं सुलझ सकती, जबतक विद्वान् प्राचीन भाषाओं के साहित्य का अध्ययन नही करते।

'पृथ्वीराजरासो' की ऐतिहासिकता और मूल आकार के विषय में नाहटा-बन्धुओं की खोज महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी-विद्वानो मे अगरचन्दजी और भँवरलालजी की जोडी, 'नाहटा-बन्धु' के नाम से प्रसिद्ध है, जबकि वे चाचा-भतीजे है। नाहटाजी उन शोधपुरुषों मे है, जो जिन्दगी-भर कच्चा माल इकट्ठा करते रहे, ताकि आनेवाली पीढ़ियाँ उसके अध्ययन से ज्ञान के नये और अज्ञात क्षितिज को उद्घाटित कर सके।

नाहटाजी सौभाग्यशाली थे कि भरे-पूरे परिवार मे जनमे और भरा-पूरा परिवार छोड़कर चल बसे (जन्म : चैत्र-कृष्ण-चतुर्थी, सन् १९१० ई०; निधन : १२ जनवरी, १९८३ ई०)! वह इसलिए भी महान् भाग्यशाली थे कि शोध में क्षेत्र मे सफल रहे, उन्हें सीमान्त-पारगामी ख्याति मिली और वह शोध के बृहत्तर संसार से जुड़ सके। यदि अतिशयोक्ति न हो, तो यह कहा जा सकता है कि उन जैसा स्वत.सिद्ध 'नॉन-अकादमिक' शोधपुरुष पिछले एक हजार वर्ष मे पैदा नहीं हुआ। अवश्य ही, वह प्रेरणास्पद और वन्दनीय शोधपुरुष थे। ●●

△ शान्ति-निवास, ११४, उषानगर
इन्दौर : ४५२००९

अनुस्मरण :

सारस्वत तीर्थ
म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी

डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी

सन् १८८१ ई० मे, जयपुर मे आविर्भूत और सन् १९६५ ई० मे वाराणसी मे तिरोभूत प्रतिभापुञ्ज महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी की समग्र जीवन-यात्रा धर्म, साहित्य एवं संस्कृति को समर्पित रही। यह उनके प्रकाशित दर्जनो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो, छह सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं और दशाधिक अप्रकाशित ग्रन्थो के माध्यम से सहज ही परिलक्षणीय है। गत वर्ष (सन् १९८२ ई०), गणतन्त्र-दिवस पर आयोजित स्मृति-समारोह, 'श्रीगिरिधरगौरवम्' ग्रन्थ के प्रकाशनोत्सव, 'श्रीगिरिधर-शोध-सस्थान' द्वारा छह ग्रन्थो के प्रकाशन, समस्त भारत मे सम्पन्न उनके जन्मशती-वर्ष आदि सारस्वत कार्य उनकी व्यापक लोकप्रियता और महाप्राज्ञता के परिचायक है।

पुण्यश्लोक चतुर्वेदीजी अपार रचना-ससार के अपर प्रजापति थे। संस्कृत के अतिरिक्त, हिन्दी और व्रजभाषा मे विरचित अपनी कविताओ द्वारा वह जनमानस का ध्यान राष्ट्रीयता और सामाजिक उद्‌बोधन-कार्य की ओर उन्मुख करने मे पूर्ण सफल रहे। उनकी मरणोत्तर प्रकाशित काव्यकृति 'छवि की किरणे' की भूमिका मे आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है· "श्रीचतुर्वेदीजी व्रजभाषा के समर्थ कवि थे। वस्तुत, संस्कृत के कवि भाषा एव उपभाषाओ के प्रति कभी उपेक्षा की दृष्टि नही रखते थे, श्रीचतुर्वेदीजी की कृतियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।"

ऋजुप्राज्ञ चतुर्वेदीजी सस्थाकल्प व्यक्तित्व से विमण्डित थे। उन्होने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना मे महामना पं० मदनमोहन मालवीय को और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) की प्राणप्रतिष्ठा मे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन को पूर्ण सहयोग दिया था। सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्रो मे हिन्दी की निष्काम सेवा का व्रत लेकर चलनेवाले यथानिर्दिष्ट विद्वान् उनके बराबर सहयोगी रहे : राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी, प० जवाहरलाल नेहरू, देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, महामना पं० मदनमोहन मालवीय, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, स्वामी करपात्रीजी, म० म० पं० शिवकुमार मिश्र, म० म० पं० रामावतार शर्मा, म० म० पं० विद्याधर गौड, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी,

श्रीबालमुकुन्द गुप्त, योगिराज वनखण्डी, पं० दीनदयालु शर्मा, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि। इनसे चतुर्वेदीजी का निरन्तर पत्र-व्यवहार होता रहता था।

चतुर्वेदीजी का आस्पद अतिशय सम्माननीय था। ब्रिटिश-शासनकाल में भारत-सरकार ने उन्हें 'महामहोपाध्याय' उपाधि प्रदान की, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय ने अपनी सर्वोच्च उपाधि 'वाचस्पति' से विभूषित किया, उनकी विशिष्ट संस्कृत-सेवा के निमित्त राष्ट्रपति की ओर से उन्हे सम्मान-पत्र प्रदान किया गया और साहित्य-अकादमी ने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा भाषणमाला के अन्तर्गत प्रकाशित उनके महार्घ ग्रन्थ 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' की रचना के लिए उन्हे पाँच हजार की धनराशि से पुरस्कृत किया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने संस्कृत-पण्डितों के शिरोमणि चतुर्वेदीजी की पद-वन्दना करते हुए विद्वत्पूजा की प्राचीन परम्परा को समुचित मूल्य दिया। तत्कालीन दरभंगा-नरेश अन्तिम समय तक उनका पूर्ण सम्मान करते रहे। निश्चय ही, चतुर्वेदीजी अपने समय की अद्वितीय सारस्वत विभूति थे। उन्होने अपना सम्पूर्ण अमूल्य जीवन ज्ञान-गरिमा के शोध, संरक्षण, सवर्द्धन, पोषण और उन्नयन मे विसर्जित कर दिया।

सम्पादकवरेण्य चतुर्वेदीजी का सम्पादन-कार्य हिन्दी एव संस्कृत-पत्रकारिता के लिए उच्चतम प्रतिमान है। उन्होने जयपुर से अखिलभारतीय संस्कृत-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित प्रसिद्ध संस्कृत-मासिक 'संस्कृत-रत्नाकर' का सन् १९१४ से १९२० ई० तक सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त, उन्होने 'ब्रह्मचारी' हिन्दी-मसिक पत्र को सन् १९१५ से १९२५ ई० तक अपनी सम्पादन-मनीषा से गौरवान्वित किया। उनके सम्पादन-काल में 'ब्रह्मचारी' पत्र ने हिन्दी मे कई नूतन आयामों का निर्देश किया था, यह उसकी प्राचीन संचिकाओ से स्पष्ट है। वह पत्र ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, ज्वालापुर (हरिद्वार) से प्रकाशित होता था। दो वर्षो तक 'वैष्णवधर्मपताका' और चार वर्षो तक अखिलभारतीय चतुर्वेदी-महासभा द्वारा प्रकाशित 'चतुर्वेदी' पत्रिका के सम्पादन के क्रम में अनेक नवीन प्रतिभाओ के कृतित्व को प्रकाश मे लाने का श्रेय उन्हे प्राप्त है। ज्ञातव्य है, उस समय हिन्दी-पत्रिका की प्रकाशन-विधा अपनी शैशवावस्था मे थी।

चतुर्वेदीजी की सम्पादित कृतियो मे मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर द्वारा चार भागो मे प्रकाशित 'वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी और चौखम्बा संस्कृत-सीरीज से प्रकाशित 'निबन्धादर्श' का अपना विशिष्ट महत्त्व है। उन्होंने जिन ग्रन्थो को अपनी व्याख्याओ से विभूषित किया, उनमे 'ब्रह्मसिद्धान्त', 'महर्षिकुलवैभवम्' तथा 'महाकाव्यसग्रह' उल्लेखनीय हैं। गीता-व्याख्यानमाला के तीन भागो मे, उनकी सनातनधर्म-विषयक विद्वत्ता को प्रकाशित करनेवाली मान्य विवेचनाओ से गीता के कई अचर्चित पक्ष उद्घाटित हुए है। उनके कतिपय उल्लेख्य प्रकाशित ग्रन्थ इस प्रकार है : १. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', २. 'पुराण-परिशीलन' (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना); ३. 'वैदिक विज्ञान'

(लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, दिल्ली), ४ 'साहित्यिक निबन्ध' (मोतीलाल बनारसीदास); ५ 'उपनिषद्-परिशीलन' (मदनमोहन-शिक्षण-संस्थान, देवरिया), ६ 'वैदिक वर्ण-व्यवस्था और श्राद्ध' (विद्या-निकेतन, वाराणसी); ७ 'वेदविज्ञानबिन्दु' (सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी), 'पुराणपारिजात' (दिल्ली), ८ 'श्रीकृष्ण और शिवतत्त्व तथा प्रत्यालोचन' (किशोर-विद्यानिकेतन, भदैनी, वाराणसी), ९ दर्शन-अनुचिन्तन' (भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता), १०. 'भारतीय दर्शनों मे आत्मा', ११ गीता-व्याख्यानमाला (तीन भागो मे) आदि । इनके अतिरिक्त, 'ऋषियो का वैज्ञानिक रूप' और 'शकराचार्य के सिद्धान्त' नामक उनकी कृतियाँ भारतीय दर्शन की अभूतपूर्व नूतन वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करती है। चतुर्वेदीजी की उक्त रचनाओ से **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** तथा **आचार्य बलदेव उपाध्याय** जैसे धुरीण लेखको ने प्रेरणाएँ ग्रहण की और इन्होने अपने ग्रन्थो मे उनके अनेक सन्दर्भो को यथाप्रसग उद्धृत किया।

शास्त्रार्थमहारथी चतुर्वेदीजी का निजी जीवन भी दार्शनिक दृष्टि से सारस्वत धर्म-निर्वाह के कठिन व्रत की ससिद्धि और दार्शनिक चिन्तन के व्यावहारिक क्रियान्वयन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उक्त किशोर-विद्यानिकेतन, भदैनी, वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थ 'वैदिक वर्ण-व्यवस्था और श्राद्ध' चतुर्वेदीजी तथा **प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति** के सनातनधर्म और आर्यसमाज के सभामचो पर सम्पन्न दो शास्त्रार्थो पर आधृत है। पूरी पुस्तक मे बाईस भाषणो का सकलन है। वर्णव्यवस्था-शास्त्रार्थ मे प्रत्येक पक्ष के छह-छह और श्राद्ध-शास्त्रार्थ मे प्रत्येक पक्ष के पाँच-पाँच भाषण हैं। दोनो शास्त्रार्थ आज से सड़सठ वर्ष पूर्व सन् १९१६ ई० के १७ मार्च को प्रारम्भ हुए थे। **महात्मा गान्धी** भी इस शास्त्रार्थ-सभा मे उपस्थित हुए थे। आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व गुरुकुल काँगड़ी मे **प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति** ने किया। इस शास्त्रार्थ के कारण सनातनी वक्ता चतुर्वेदीजी का ततोऽधिक यशोविस्तार हुआ।

इत पूर्व व्याख्यानवाचस्पति **पं० दीनदयालुजी उपाध्याय** की मैत्री और प्रेम-भावनाओं ने चतुर्वेदीजी को व्याख्यानपारगामी बना दिया था। किन्तु, इस शास्त्रार्थ से कटुता या मतभिन्नता की जगह प्रेम, ज्ञान और सद्भाव की पावन मन्दाकिनी प्रवाहित हुई। आगे चलकर भी अनेक सभामंचो पर चतुर्वेदीजी तथा प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति का पारस्परिक सौहार्दपूर्ण वाग्योग हुआ।

विश्वविद्यालयीय प्राध्यापन-सह-प्रशासन के क्षेत्र मे भी चतुर्वेदीजी का स्थान गौरवोद्दीप्त रहा। धर्म, साहित्य और सस्कृति की अनवरत सेवा करते हुए चतुर्वेदीजी ने लाहौर-स्थित सनातनधर्म कॉलेज के प्राचार्य-पद को महिमान्वित बनाया। तदनन्तर, बीस वर्षो तक जयपुर मे महाराजा संस्कृत-कॉलेज के प्राचार्य रहे। अन्त मे, वह काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के सस्कृत-शिक्षा-सचालक (डायरेक्टर) बने और इसी पद से सेवानिवृत्त होकर उन्होने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की। सन् १९१८ से १९२२ ई० तक

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने चतुर्वेदीजी के शोधकार्यों में सहयोग किया। यह उन दोनों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार से पूर्णतः स्पष्ट है। चतुर्वेदीजी के शताधिक पत्रों में, जिनका संकलन उनके सुयोग्य पुत्र **डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी** ने किया है, उनका विशाल साहित्यिक व्यक्तित्व निखरकर सामने आता है।

यद्यपि चतुर्वेदीजी का अधिकांश कृतित्व श्रीगिरिधर-शोध-संस्थान द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है और आगे भी प्रकाशन-कार्य चल रहा है, तथापि उनके वैदिक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चिन्तन तथा साहित्यिक धरोहर के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता बनी हुई है। उनके समस्त कृतित्व की रचनावली के रूप में प्रकाशन से प्राच्य ज्ञान-गरिमा की विलुप्तप्राय विपुल सम्पदा सुलभ होगी, इसमे सन्देह नही। सारस्वत तीर्थकल्प चतुर्वेदीजी की पूज्यातिशयता के प्रति शत-शत नमन ! ●●

△ **हिमाचल-संस्कृत-संस्थान**
चन्द्रभवन, गुलेर
जि० कॉगड़ा : १७६०२८

महार्घ सम्मति

'परिषद-पत्रिका' के अप्रैल, १९८३ ई० के अक की प्रति मिली। पत्रिका का प्रति अंक ही यदि श्रेष्ठता की छाप लिये आये, तो कितनी बार उसकी भूरिश. प्रशंसा की जाय। इस अक मे प्राचीन और नवीन विषयों के सम्बन्ध मे प्रबन्धों का समुचित सम्मिलन है। किसान-आन्दोलन में राहुलजी के कृतित्व से नये लोग भी परिचित हो जायेंगे, जो उनके इस रूप को नही जानते। ऐसे ही निराला और उर्वशी-सम्बन्धी लेख भी नवीन लोगो पर है। किन्तु, ऐसे विषयों पर शोध की आँख का मूल्य अभी आँकने का समय नही आया है। हमारे खयाल से और २०-२५ वर्षो के पश्चात् इनपर सही मूल्यायन की तटस्थता आयगी। 'बाणभट्ट का प्रीतिकूट ग्राम' प्रबन्ध अच्छा है और इसे प्रामाणिक तथ्यो से पूर्ण होने के कारण स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसे ही सभी प्रबन्ध तो महत्त्व के मान से परिपूर्ण है, किसका-किसका उल्लेख किया जाय।

पत्रिका का 'अतीत-दर्शन' स्तम्भ सदा ही आकर्षक होता है—इस बार भी है। 'प्रकीर्ण सामग्री का शोध-महत्त्व' नामक सम्पादकीय टिप्पणी लोगो को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली है। इससे प्रेरित हो लोग अगर संग्रह की ओर और सजग हों, तो क्या ही अच्छा। **पं० मदनमोहन पाण्डेय** का कोई लेख जब छपता है, तब मैं उसे अवश्य बडे चाव से पढ़ता हूँ; क्योंकि उनके संस्मरणात्मक ढग के लेख ऐतिहासिक महत्त्व के होते है।

□ **रतनपल्ली, शान्तिनिकेतन (प० बं०)**
पिन : ७३१२३५

□ **डॉ० शिवनाथ**

स्वाध्याय-कक्ष

सहज-सिद्ध : साधना एवं सर्जना .[१]

प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वभारती, शान्तिनिकेतन मे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुद्रित सस्करण है। सहज सिद्धो का अवतरण और उनकी कृतियो का निर्माण भारतीय संस्कृति मे स्वतन्त्र महत्त्व का अधिकारी है। अत., उनकी रचनाओ का अध्ययन-अनुशीलन इस शती के आरम्भ से ही होता रहा है। इस ओर विदेशी और बगाली विद्वानो का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट हुआ। उनके अनुसन्धान के फलस्वरूप पर्याप्त सामग्री सामने आई। पर अब भी आवश्यकता बनी हुई थी कि एतद्विषयक नवीन सूचना और सामग्री का, अपभ्रंश, सस्कृत, बँगला और तिब्बती-भाषाओ के अध्ययन से उपलब्ध सामग्री के आलोक मे परीक्षण कर विवेकसम्मत निर्णय प्रस्तुत किये जायँ। विद्वान् लेखक ने प्रौढ भापा मे यह कार्य सम्पन्न किया है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ छह अध्यायों मे विभक्त है। **प्रथम अध्याय** मे, सिद्धो के ऐतिहासिक कालक्रम पर विचार करते हुए चमत्कारी तथ्यो और निजन्धरी प्रवादो को छोडकर सिद्धो की जीवनी की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को प्रमुखता दी गई है। इसमे **सरहपा, लुईपा, कान्हपा, शबरपा, तिल्लोपा, भुसुकु** आदि पन्द्रह सिद्धो की जीवनियो पर विचार किया गया है और अन्त मे दोहा-चर्याकार सिद्धो की, विभिन्न स्रोतो से प्राप्त सूची भी दी गई है। **द्वितीय अध्याय** मे, सिद्ध-साहित्य मे निहित दर्शन के अध्ययन की पूर्वपीठिका के रूप मे बौद्धधर्म के परवर्त्ती विकास को शून्यवाद, तथता, सहजयान आदि कई उपशीर्षको मे बाँटकर साम्प्रदायिक मान्यताओ का पुखानुपुख विवेचन किया गया है। इससे **तृतीय** और **चतुर्थ अध्यायो** मे सहजयानी सिद्धो के साधना-पक्ष के स्पष्टीकरण मे सहायता मिली है। लेखक का स्पष्ट अभिमत इन शब्दो मे व्यक्त हुआ है · "सिद्धो का मार्ग सशोधनो की भूमिका पर टिका है और यह मूल रूप मे पूर्ववर्त्ती धारणाओ का ऋणी है। इसकी मौलिकता यह है कि हमारा चित्त जो (कुछ सस्कार या विज्ञान, आवश्यकता अथवा विन्यासवश) चाहता है, उसे स्थायी या अस्थायी तौर पर जोर देकर विनष्ट करने का उपक्रम ही अत्यन्त कष्टकर है, इस प्रवृत्ति का मार्जन सम्भव है, संहार कठिन है। जीवन की मूल प्रेरणाओ को नकारा नही जा सकता।" (पृ० १७८) उक्त अध्यायो के अन्तर्गत शून्यता, महा-करुणा, सहज, गुरु आदि की मौलिक मीमासा श्लाघ्य है। सिद्धो की भावभूमि की सप्रमाण विवृति बोधगम्य है।

---

१. लेखक : डॉ० रणजीतकुमार साहा, प्रकाशक . वाणी प्रकाशन ६१-एफ्, कमलानगर, दिल्ली : ११०००७, मुद्रक : अशोक कम्पोजिंग एजेन्सी, गोपाल प्रिण्टिग प्रेस, दिल्ली, ११००३२; संस्करण · प्रथम, सन् १९८० ई०; पृ० सं० २३६; मूल्य : साठ रुपये।

सिद्धों की समस्त वाणी प्रतीको मे व्यक्त हुई है। ये प्रतीक विभिन्न क्षेत्रों से गृहीत है, अतः इन्हे औपम्यमूलक, व्यवसायमूलक, पशुवर्गीय, जन्तुवर्गीय, वनस्पतिवर्गीय, साम्प्रदायिक एव अध्यात्ममूलक, मनोरजनमूलक, व्यवहारमूलक आदि वर्गो मे विभक्त कर सहज व्याख्या की गई है। पंचम और षष्ठ अध्याय मे सिद्धो के सामाजिक एवं सास्कृतिक वैशिष्ट्य का उद्घाटन किया गया है। सिद्धो ने आदिम, सहज और ग्रामीण जीवन की चित्रावलियों से अपनी वाणी को अलंकृत किया है और उनके साहित्य मे दो संस्कृतियो की टकराहट भी सशक्त रूप मे व्यक्त हुई है। आर्येतर सस्कृति की विभेदक रेखा सिद्ध-साहित्य (८वी से १२वी शती) से आँकी जा सकती है। लेखक ने सिद्धो की 'मिट्टी की सोधी गन्ध मे रची-बसी' रचनाओ के मर्म का सम्यक् उद्घाटन करने की चेष्टा की है। पूरे ग्रन्थ के अध्ययन से सिद्धो की भावभूमि और अभिव्यक्ति-शैली पूर्णत उजागर होती है।

मुद्रण सर्वथा निर्दोष और आवरण-पृष्ठ नयनाभिराम है। उत्कृष्ट एव सुरुचिपूर्ण प्रस्तुतीकरण के लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनो हार्दिक बधाई के पात्र है।

△ डॉ० पूर्णमासी राय

o

किरन्तन[1] :

सत्रहवी शती (सन् १६१८–१६९४ ई०) मे आविर्भूत महामति प्राणनाथजी ने विभिन्न संस्कृतियों एव धर्मो के सारभूत तत्त्वो से जिस समन्वयकारी दर्शन को प्रतिष्ठा दी, उसका समग्र रूप सत्रह ग्रन्थो के समवाय-रूप 'कुलजमसरूप' नामक वृहद् ग्रन्थ मे प्रकट हुआ। इसी का आठवाँ ग्रन्थ है 'किरन्तन'। इसके माध्यम से महामति प्राणनाथजी ने 'बेद' और 'कतेब' ग्रन्थों के अभिप्रेत अर्थ को सारी मानवता के लिए ईश्वरीय सन्देश बना देना चाहा। उन्होंने सभी धर्मो की अन्तर्निहित एकता को पहचान कर प्रेमाश्रित नवीन मार्ग का निर्देश किया। 'किरन्तन' उसी विश्वधर्म की प्रेरणा, मानव-एकता और विश्व-शान्ति का सूत्र प्रदान करनेवाला ग्रन्थ है।

विद्वानो ने 'किरन्तन' का तात्पर्य 'कीर्त्तन' से लिया है। परमात्मा की कीर्त्ति, यशोगान या प्रार्थना में जो पद गाये जाते है, उन्हे 'कीर्त्तन' की सज्ञा दी जाती है। पर, वर्ण्य विषय की दृष्टि से इसमें धर्म, दर्शन, नैतिकता, भक्ति, समाज-सुधार, राष्ट्रभक्ति आदि विषयो का काव्यात्मक चित्रण है। उपनिषद्, गीता एव भागवत पर आधृत व्यापक हिन्दू-धर्म का विवेचन है। उनकी वाणी जहाँ एक ओर आध्यात्मिक जीवन से सम्बद्ध है और मानव को उदारवादी विश्वधर्म, गम्भीर दर्शन, उच्च नैतिकता तथा प्रेमलक्षणा भक्ति का अनुभव प्रदान करती है, वही दूसरी ओर लौकिक जीवन की समस्याओ से सम्बद्ध

---

१. रचयिता : महामति प्राणनाथ; सम्पादक डॉ० रणजीतकुमार साहा; प्रकाशक · श्रीप्राणनाथ मिशन, डी-१९३, डिफेंस कॉलोनी, नई दिल्ली : ११००२४, मुद्रक : एवरेस्ट प्रेस, ४, चमेलियान रोड, दिल्ली-११०००६; संस्करण · प्रथम, सन् १९८१ ई०; पृ० सं० ४४३; मूल्य : चालीस रुपये।

सामाजिक विषमता, जाति-पाँति, छुआछूत आदि पर आधृत भेदभाव को दूर करके आत्मिक समानता का सन्देश देती है।

अन्य सन्तो की भाँति **महामति प्राणनाथजी** ने भी अपने सम्पूर्ण वाङमय मे प्रेम के माध्यम से ही एकेश्वरवाद, अद्वैत और तदनुरूप अक्षरातीत की आनन्दपूर्ण सत्ता को निर्देशित करना चाहा। प्रेमतत्त्व को ही उन्होने बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नयन के लिए योग्य और उपादेय बताया। इस प्रेम के विविध आयामो मे मधुरभावापन्न प्रेम को उन्होने वरीयता प्रदान की है। इस ग्रन्थ में उन्होने प्रियवियोग एव तज्जन्य विरहकातर स्वरो का मुखर वर्णन किया है। विरहाग्नि ही प्रेम की कसौटी है, जिसमें तपकर या निखरकर ही प्रेम प्रगाढ या पुष्ट होता है। प्रियविरह-व्यथा ही वह शर्त्त है, जिसमे तपकर एव मानसिक पीडा सहकर ही कोई अपने प्रिय का सन्धान पा सकता है, अत वे बार-बार उसी दुख की माँग करते है, जिससे प्रिय के प्रति प्रेम प्रतिपल बढता जाय **'मै वह दुख मांगू पीउ पे, जो पीउ सो पल-पल रंग चढ़ाए।' (किरन्तन, प्र० १७।११)**

प्रबुद्ध सम्पादक **डॉ० रणजीतकुमार साहा** ने 'अनुशीलन' के अन्तर्गत 'किरन्तन' मे प्रतिपादित भावभूमि की विशद व्याख्या इस रूप मे की है कि इस ग्रन्थ की आध्यात्मिक साधना का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। इसके साथ ही पुस्तक के अन्त मे पारिभाषिक शब्दो की पचास से अधिक पृष्ठो मे ऐसी सप्रमाण व्याख्या की गई है कि गूढ शब्दो का रहस्य भी स्वत. खुल जाता है। 'किरन्तन' के सम्पादन का वैशिष्ट्य यह है कि इसमे एक पृष्ठ पर काव्य का मूल भाग मुद्रित है और दूसरे पृष्ठ पर उसका हिन्दी-अनुवाद। कुल ११३ प्रकरणो मे विभक्त यह ग्रन्थ सर्वधर्मसमन्वय की व्यापक चेष्टा का अभिनव प्रस्थान कहा जा सकता है। इसके अध्ययन से **महामति प्राणनाथजी** की उदार आध्यात्मिक चेतना और मौलिक चिन्तन की आवर्जक अभिव्यक्ति होती है।

पुस्तक की छपाई इतनी शुद्ध, स्पष्ट एव प्राजल है कि वह पाठक के लिए सहज आकर्षण का विषय बन जाती है। पुस्तक का आवरण नयनाभिराम है।

△ **डॉ० पूर्णमासी राय**

o

भारतीय काव्य-समीक्षा में औचित्य-सिद्धान्त[1] :

भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक सिद्धान्तो के मूल्याकन-हेतु डॉ० राममूर्त्ति त्रिपाठी के सम्पादन मे मैकमिलन द्वारा पुस्तकमाला प्रकाशित हो रही है। यह कृति उसी की अभिनव कडी है। इसके अतिरिक्त, भारतीय काव्य-समीक्षा मे अलंकार-सिद्धान्त, ध्वनि-

१. लेखक डॉ० रामलखन शुक्ल, रीडर, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा (गुजरात), प्रकाशक मैकमिलन इण्डिया लि०, ४, कम्युनिटी सेण्टर, नारायणा इण्डस्ट्रियल एरिया, फेज १, नई दिल्ली - ११००२८, मुद्रक - गुप्ता प्रिण्टर्स, नई दिल्ली : ११००३२; संस्करण : प्रथम, सन् १९८१ ई०; पृ० सं० २२३; मूल्य : पचास रुपये।

-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त, शब्दव्यापार-विचार तथा शब्दशक्ति-विवेचन आदि विषयों से सम्बद्ध पुस्तकें भी प्रकाशन-क्रम मे है। मैकमिलन द्वारा यह एक अच्छा और ठोस काम हो रहा है। इस पुस्तकमाला के सम्पादक डॉ० त्रिपाठी स्वयं भी भारतीय काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् है। 'औचित्य-विमर्श' डॉ० त्रिपाठी की बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है। इस विषय पर उनकी देखरेख मे डॉ० रामलखन शुक्ल (अब स्वर्गीय) की यह पुस्तक बहुत सुन्दर और सारगर्भ है। डॉ० शुक्ल ने बहुत मिहनत और सूझ-बूझ के साथ, पुस्तक को दो खण्डो मे विभक्त कर, विषय के साथ पूरा न्याय किया है।

प्रथम खण्ड में औचित्य, अर्थ और व्याप्ति, औचित्य-सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास, आचार्य क्षेमेन्द्र और औचित्य, आधुनिक भारतीय विचारक और औचित्य, पाश्चात्य समीक्षा में औचित्य आदि विषयों पर जमकर विचार किया गया है। 'औचित्य का विनियोग' शीर्षक द्वितीय खण्ड मे औचित्य और आदिकाल का काव्य, औचित्य और भक्तिकाल का काव्य, औचित्य और रीतिकाल तथा आधुनिक काल का काव्य विचार्य विषय बनाया गया है। इसमें औचित्य के अन्तरग और बहिरंग स्वरूप के अन्तर्गत तुलसी, जायसी, सूर, नन्द, हितहरिवंश, बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर, घनानन्द आदि कवियो के काव्यो मे औचित्य के उत्स और स्वरूप को ढूँढ़ा गया है। सबसे महत्त्वपूर्ण इस विषय से सम्बद्ध आधुनिक काव्य का विवेचन और उदाहरण है। आश्चर्य है, इतना पुराना काव्य-सिद्धान्त आधुनिक युग मे भी इतना प्रासंगिक कैसे रह पाया है। पन्त, प्रसाद, मैथिलीशरण, निराला और दिनकर की बात तो छोड़ दीजिए, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, मुक्तिबोध, जगदीश गुप्त आदि नये कवियो की कविताओ के उदाहरण देकर डॉ० शुक्ल ने अपने सिद्धान्त की व्याप्ति और प्रभाव का उल्लेख किया है।

पुस्तक का महत्त्व डॉ० त्रिपाठी की 'पातनिका' से और बढ गया है। बहुत थोड़े मे उन्होने सहृदय की दृष्टि से औचित्य पर विचार करते हुए पहले तो क्षेमेन्द्र के वक्तव्य और औचित्य-चिन्तको के चिन्तन से उत्पन्न समस्याओ के समाधान का सार दिया है, फिर 'पाश्चात्य चिन्तन और औचित्य के नये क्षितिज' शीर्षक के अन्तर्गत तोल्सतोय, क्रोचे, आइ० ए० रिचर्ड्स, टी० एस्० इलियट, मार्क्सवाद, अन्तश्चेतनावाद आदि के प्रसग मे भी औचित्य-सिद्धान्त पर विचार किया है। इस प्रकार, सम्पादक और लेखक दोनो ने एक प्राचीन काव्य-सिद्धान्त को आधुनिक रूप मे रखकर परखने का प्रयास किया है। समय की आवश्यकता को देखते हुए, निश्चय ही, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है, जिसे मैकमिलन के सहयोग से पूरा किया जा रहा है। इसके लिए सम्पादक और प्रकाशक की जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम है।

पुस्तका का उत्कृष्ट मुद्रण, प्रस्तुतीकरण आदि मैकमिलन के स्तर के अनुरूप है।

△ डॉ० श्यामसुन्दर घोष

०

आधुनिक हिन्दी-नाटकों में खलनायकत्व[1] :

प्रस्तुत ग्रन्थ राँची-विश्वविद्यालय की पी-एच्०-डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का मुद्रित रूप है। प्रस्तावना मे इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० **त्रिपुरारिशरण श्रीवास्तव** ने कहा है "डॉ० **कुमार विमल** ने निदेशक के रूप मे ही नही, अपितु तपस्वी की तरह विषय-विवेचन से लेकर पक्ति-पक्ति अवलोकित करने तक का कष्ट उठाया है। उनकी कृतियो, पत्रों, सुझावो तथा सकेतो से काँच को कचन बनाने मे सुविधा हुई है।" इससे लगा कि शोध-प्रबन्ध मे दम-खम होना चाहिए, दृष्टि होनी चाहिए। लेकिन, पढकर निराशा ही हाथ लगी। अपनी बात उदाहरण से ही स्पष्ट करूँ।

'शोध की उपलब्धियाँ एव स्थापनाएँ' शीर्षक अध्याय मे लेखक की स्थापना है : "आधुनिक का अर्थ भविष्योन्मुख वर्त्तमान है। बहुत पीछे छूट गया समसामयिक अथवा समकालीन आधुनिक नही माना जाना चाहिए। आधुनिक हिन्दी-नाटकों का प्रारम्भ **जयशकर प्रसाद** के बाद माना जाना चाहिए। सम्भवत, **लक्ष्मीनारायण मिश्र** इसके केन्द्र-बिन्दु हो सकते है।" इससे ऐसा लगता है कि शोध-प्रबन्ध मे **प्रसाद** के बाद के अत्याधुनिक नाटककारो का अध्ययन किया गया होगा और उसके आधार पर खलनायकत्व को निरूपित किया गया होगा। लेकिन नही, उपर्युक्त स्थापना के बाद ही लेखक लिखता है: "खलनायकत्व का हिन्दी-नाटको के सन्दर्भ मे विवेचन करते समय मैने महत्त्व की दृष्टि से **भारतेन्दु** और **प्रसाद** के नाटको का भी अपेक्षित मूल्याकन किया है।" इससे लेखक की वैचारिक विसंगति का स्पष्ट बोध होता है। शोध-प्रबन्ध मे ऐसी पद्धति उपयोगी नही मानी जाती, वहाँ तो स्पष्ट सकल्पना और निश्चित रूपबन्ध होना चाहिए। ढीला-ढालापन शोध-प्रबन्ध मे का गुण नही कहा जा सकता। और फिर, जिस **लक्ष्मीनारायण मिश्र** के बारे मे लेखक का यह खयाल है कि वह आधुनिक हिन्दी-नाटको के केन्द्रबिन्दु हो सकते है, उनके सम्बन्ध मे लेखक की राय यह है कि **लक्ष्मीनारायण** मिश्र का संस्कृत-साहित्य का सम्पर्क प्रभावी रहा, इसलिए उनके विषय पर पौराणिक चेतना और ऐतिहासिक साक्ष्यों का प्राबल्य रहा!

शोध-प्रबन्ध की भाषा तो और भी निराश करती है। न तो उसमे स्पष्टता है और न तर्क। बहुत प्रयास करके आशय समझना पडता है। यदि यही काँच को कंचन बनाना है, तो फिर कुछ कहना ही नही है।

पुस्तक का मुद्रण स्वच्छ एवं नवीन आकलपन से सवलित आवरण हृदयावर्जक है।

△ **डॉ० श्यामसुन्दर घोष**

o

१. लेखक : डॉ० त्रिपुरारिशरण श्रीवास्तव, हिन्दी-विभाग, डोरण्डा कॉलेज, राँची–२; प्रकाशक : अनुपम प्रकाशन, पटना : ८०००४; मुद्रक : सरस्वती प्रिण्टिग प्रेस, पटना : ८०००४, संस्करण : प्रथम, सन् १९८१ ई०; पृ० सं० ३०८; मूल्य : पैंसठ रुपये।

गीता : एक नव्य चिन्तन[1] :

हिन्दी के ख्यातयशा लेखक डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' की प्रस्तुत कृति उनके द्वारा की गई 'सरस्वती-समर्चना' के उन्नीसवें सुमन के रूप मे प्रकाशित है। गीता, भारतीय प्राच्य वाङमय की प्रसिद्ध 'प्रस्थानत्रयी' के तीन ग्रन्थो मे अन्यतम है। यह भारतीय जीवन-दर्शन का आक्षरिक पर्याय है। गीता के मानव-जीवन से नित्य सम्बद्ध होने के कारण ही भारतीय चिन्तको ने अपनी-अपनी साधना, अनुभूति और वैचारिक दृष्टिकोण के आधार पर उसकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की है; और जबतक भारतीय जीवनधारा प्रवाहित रहेगी, गीता की नई-नई व्याख्याएँ होती रहेगी। डॉ० सुमन की यह विशिष्ट कृति, गीता की इसी क्रमागत महत्त्वपूर्ण व्याख्यान-परम्परा मे अपना उल्लेखनीय स्थान रखती है।

इस कृति मे, डॉ० सुमन ने गीता की प्रासंगिकता सिद्ध करते हुए उसके विभिन्न पक्षो पर नई दृष्टि से चिन्तन किया है। अधीती लेखक की व्याख्या मुख्यतया दार्शनिक विश्लेषण और शोध-अनुशीलन के ऐतिहासिक धरातल पर प्रतिष्ठित है। उन्होने अपनी मूल प्रतिज्ञा को कुल अट्ठारह प्रकरणो मे निबद्ध किया है और प्राय. गीता के श्लोकाशो—जैसे : 'स्वधर्मे निधन श्रेय', 'गहना कर्मणो गति', 'सर्वभूतहिते रता.' आदि—को ही शीर्षक के रूप मे उपन्यस्त करके अपने तद्विषयक विचारो को, भौतिकविज्ञान, खगोलशास्त्र, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, अध्यात्मदर्शन, साहित्यशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास आदि विषयो के आलोक मे पल्लवित किया है। इसी प्रकार, गीता के कृष्ण तथा अर्जुन के पर्यायवाची नामो की विनियोग-सगति पर लिखे गये दो विशिष्ट प्रकरणो का भाषिक या शब्दशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से अधिक मूल्य है।

कुल मिलाकर, मनीषी लेखक का चिन्तन सर्वथा मौलिक है ओर उन्होने गीता के मूल तत्त्वो को आधार बनाकर सर्वथा नवीन और स्वतन्त्र चिन्तन किया है, जिससे गीता की गूढता सर्वजनसुलभ हो गई है, साथ ही उनके कथ्य का प्रस्तुतीकरण सच्चे अर्थ मे अभिनव शैली का हृदयहारी आस्वाद प्रदान करता है। निस्सन्देह, यह ग्रन्थ गीता का साहित्यशास्त्रीय प्रतिकल्प है।

पुस्तक का स्वच्छ-निर्दोष मुद्रण नेत्रप्रसादक है तथा कृष्ण की प्रिय धार्य वस्तु बाँसुरी और मोरपख से प्रतीकित आवरण गरिमापूर्ण।

—डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

o

---

१. लेखक . डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', ८।७, हरिनगर, अलीगढ़ २०२००१; प्रकाशक . (श्रीमती) बसन्ती देवी शर्मा, वासन्ती प्रकाशन, पता : उपरिवत्; मुद्रक : नवयुग प्रेस, महावीरगंज, अलीगढ़; आवरण-सज्जा : डॉ० मधुकर चतुर्वेदी श्रीवार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़; संस्करण , प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० १६८; मूल्य : पचास रुपये।

भोजपुरी-मेघदूत[1] :

महाकवि कालिदास-कृत कालजयी कृति 'मेघदूत' विश्वविश्रुत है। अतएव, इस भाष्यगर्भ महाकाव्यकल्प खण्डकाव्य के बारे मे कहा गया है, इस ससार मे जबतक मेघ गरजते-वरसते रहेगे, तबतक कवि-सकेतित वर्णनो और भावो की नई-नई व्याख्याएँ होती रहेगी। और, यही कारण है कि इस मेघकाव्य के मर्म को समझने का व्यापक प्रयास, विश्व-स्तर पर विभिन्न विद्वानो द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणो से प्रस्तुत टिप्पणियो, विवृतियों, व्याख्याओ और अनुवादों के माध्यम से किया गया है। इस काव्य में, कालिदास ने समग्र भारतीय सास्कृतिक चेतना की व्याख्या काव्यभाषा मे उपन्यस्त की है, इसलिए इस बीजात्मक उच्चतर काव्य की विवेचना या अनुवाद करके कोई भी, पांक्तेय व्याख्याता या अनुवादक बन जाय, सहज सम्भाव्य है। कहना न होगा कि सारस्वत जगत् के सुप्रतिष्ठ हस्ताक्षर पं० हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'-कृत इस काव्य का भोजपुरी-अनुवाद मूल कृति को समझने के लिए पूर्वसूरियो द्वारा किये गये वहुविध प्रयास की परम्परा के ही नवीनतम विकास के रूप मे अकनीय है। साथ ही, यह भी लक्ष्य करने की बात है कि शास्त्र-दीक्षित कविर्मनीपी श्रीसहृदयजी ने भोजपुरी-अनुवाद के व्याज से 'मेघदूत' की एक नई व्याख्या ही प्रस्तुत कर दी है। फलत , वह, 'मेघदूत' के अनुवादक के साथ ही उसके व्याख्याता या पुनर्मूल्याकन-कर्त्ता के रूप मे भी उभरकर सामने आये है।

इस कृति के प्रारम्भ मे कृतविद्य विद्वान् श्रीसहृदयजी ने 'पूर्वाकाश' शीर्षक से छत्तीस पृष्ठो की विशद भूमिका उपस्थापित की है, जिसमे उनकी व्यापक शास्त्रचिन्ता और तीक्ष्ण शोध-सूक्ष्मेक्षिका की मौलिकता का प्रशसनीय विनियोग हुआ है। अनुवादक की, इतनी लम्बी भूमिका लिखने की वाध्यता का कारण है; क्योकि एक ओर उन्होने अपने अनुवाद मे विभिन्न प्राचीन तथा अर्वाचीन व्याख्याओ मे सकेतित परम्परागत मूलार्थ के विपरीत नये अर्थों के उपपादन द्वारा अपने मौलिक चिन्तन से पाठको को परिचित कराना चाहा है और दूसरी ओर अपनी गवेषणा-शक्ति की गम्भीरिमा को लक्षित कराना भी उनका अभीष्ट रहा है, साथ ही उन्होने परिनिष्ठित या टकसाली भोजपुरी मे गूढार्थबहुल काव्यकृति 'मेघदूत' के गहन भावो को अभिव्यजित कर सकने की क्षमता को भी इगित करने की चेष्टा की है। अपने इन सुनियोजित लक्ष्यो की सिद्धि मे वह, अवश्य ही, श्लाघनीय पाण्डित्य का प्रदर्शन कर सके है। कुल मिलाकर, उन्होने अपने

१. अनुवादक : पं० हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय', निदेशक, भोजपुरी-अकादमी, बोरिंग रोड, पटना ८००००१; प्रकाशक : आमोद-प्रमोद प्रकाशन, महेश-सदन, मोहन-पुर (पुनाईचक), पटना ८०००२३, मुद्रक : आदर्श प्रेस, आर्यकुमार पथ, पटना : ८००००४; मुखपृष्ठ-मुद्रक कालिका प्रेस, आर्यकुमार पथ, पटना : ८००००४; संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० ३६+७३; मूल्य . तीस रुपये।

अनुवाद के क्रम मे, पूर्व-व्याख्याताओं या अनुवादकों द्वारा अधिगृहीत मूलभावों को अतिशय निपुणता के साथ ततोऽधिक अभिनव विस्तार दिया है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने की अनिवार्यता के कारण, विशद रूप से लिखी गई, 'मेघदूत' के इस भोजपुरी-अनुवाद की भूमिका, मूल कृति की स्वतन्त्र और विशिष्ट व्याख्या बन गई है। इसलिए, अधीती पाठकों के प्रति अनुवादक का यह आग्रह असंगत नही कि भोजपुरी-रूपान्तर पढ़ने के पहले उसके मर्म या गुण-दोष के सही अवगम के लिए प्रस्तुत कृति का 'पूर्वाकाश' पढ़ना आवश्यक है।

यह सर्वविदित है कि 'मेघदूत' विप्रलम्भ शृंगार का कूटस्थ काव्य है। और इसीलिए, उसके कर्त्ता **महाकवि कालिदास** ने व्यथा-विमूर्च्छित विप्रलम्भ की सम्यक् सांगीतिक अभिव्यंजना के लिए 'मन्दाक्रान्ता' छन्द को अनुकूल मानकर उसी में इसकी अवतारणा की है। चूँकि, काव्यचेता अनुवादक को इस काव्य का भोजपुरी में अनुवाद करना इष्ट था, इसलिए उसने भोजपुरी के प्रसिद्ध विरहव्यंजक छन्द 'बिरहा' को चुना और इस सन्दर्भ मे विशिष्ट सम्मतिकार **आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा** का यह मन्तव्य मूल्यवान् है कि 'त्रिपाठीजी ने मन्दाक्रान्ता' के प्रभाव को भोजपुरी के 'बिरहा' छन्द मे सुरक्षित रखा है। ध्यातव्य है कि 'बिरहा' छन्द पाठ्य से अधिक श्रव्य रूप मे आस्वाद्य होता है। इसीलिए, 'बिरहा' छन्द मे, समश्लोकी रूप मे अनूदित यह कृति सांगीतिक स्वरलहरी मे सुनने मे ही अधिक आनन्ददायक होगा।

सस्कृत, हिन्दी और भोजपुरी के समानान्तर मर्मज्ञ श्रीसहृदयजी की विशिष्टता इस अर्थ मे भी है कि वह स्वय 'बिरहा' छन्द के अच्छे गायक भी है, इसीलिए उनका यह भोजपुरी-अनुवाद विषयवस्तु, भापा, भाव और सागीतिक लय की दृष्टि से ततोऽधिक प्रामाणिक बन पड़ा है, साथ ही प्रख्यात आलोचक **डॉ० कुमार विमल** के शब्दो मे, 'विशिष्ट' को 'साधारण' तक पहुँचाने मे यह एक श्लाघ्यतम सारस्वत प्रयास सिद्ध हुआ है। स्थालीपुलाकन्याय से अनुवाद के आस्वादन के लिए एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

मूल :

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥
(उत्तरमेघ, श्लोक ७)

अनुवाद :

जाहाँ नाया नोहरिन के फुफुती-बन्हनवाँ पिरिति से फफसि होय ढील
कामबस पियालोग बेकरार हूँथवन मे खींचेले पितम्बरी के चीर।
उपरे उठत गहगह लाफवालू मनि-दिअवन के सामनेहिं पाय
लाज से मुअल कनेअन के फेंकल मूठि-चूरना बेरथ होइ जाय॥

यहाँ 'बिम्बाधराणां' के लिए 'नाया नोहरिन के', 'नीवीबन्ध' के लिए 'फुफुती-वन्हनवाँ', 'क्षौम' के लिए 'पितम्वरी के चीर', 'अर्चिस्तुङ्ग' के लिए 'उपरे उठत गहगह लाफवालू', 'ह्रीमूढानां' के लिए 'लाज से मुअत कनेअन के' आदि भोजपुरी के टकसाली शब्दो का विन्यास कल्पनामनोरम एवं कलाभूयिष्ठ वस्तुचित्रो को विमोहक सौन्दर्य की आवर्जक अतिशयता प्रदान करता है ।

निश्चय ही, कालिदास की, सौन्दर्य, प्रतीक, बिम्ब और कल्पनाबहुल काव्यभाषा का यह अद्वितीय भोजपुरी-रूपान्तर 'न भूतो न भविष्यति' कहावत को चरितार्थ करता है। साथ ही, इससे 'मेघदूत' के हिन्दी-अनुवाद की परम्परा को भोजपुरी-जनपदीय शब्दो से समृद्ध होने का महत्त्वपूर्ण भाषिक आयाम भी प्राप्त हुआ है। पुस्तक के अन्त मे यदि ठेठ भोजपुरी-शब्दो की हिन्दी-अर्थसहित अनुक्रमणी दे दी जाती, तो भोजपुरीतर-भाषियो के लिए अनुवाद के तत्त्वतल तक पैठने मे अधिक सहूलियत होती।

पुस्तक का मुद्रण प्राय. निर्दोष और 'आश्लिष्टसानु' मेघ के लिए 'कल्पितार्घ' यक्ष के चित्र से अंकित आवरण नयनाभिराम है।

△ डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

o

वनफूल[1] :

पत्रकारिता-जगत् के सघर्षजीवी हस्ताक्षर श्रीगुलाबचन्द्र अभय ने प्रस्तुत उपन्यासिका द्वारा कथा-जगत् मे अपना प्रशंसनीय अभिज्ञान उपस्थापित किया है। आधुनिक युवा पीढी के लिए प्रेरक तत्त्वो से संवलित तथा प्रेमचन्दोत्तर आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कथा-परम्परा के विकसित युगीन आयामो से मण्डित इस कृति मे संघर्ष को सफलता का पर्याय सिद्ध किया गया है। यथापरिवेषित कथा के दो प्रमुख चरित्र हैं—सुधीर और प्रेमा, जो प्रकृति-पालित वनफूल के प्रतीक-रूप मे अंकित किये गये है, और इसी शब्द को पुस्तक की आख्या के रूप मे रखा गया है! अपनी अनुभूति को ईमानदारी से अभिव्यक्त करने की कला मे निपुण लेखक ने सुधीर और प्रेमा के कठिनतम जीवन-सघर्ष झेलने और फिर उनके अनुक्रमशः सफलता के सोपान पर पहुँचने की आस्वादपूर्ण कथा को मार्मिकता के साथ उपन्यस्त करने मे अपनी विलक्षण कथाकोविदता का सहज श्लाघ्य परिचय प्रदर्शित किया है।

---

१. लेखक : श्रीगुलाबचन्द्र अभय, प्रबन्ध-सम्पादक, 'पत्राचार', पटना-विश्वविद्यालय, पटना : ८०००५; प्रकाशक : सुश्री शीलादेवी अभय, आलमगंज पुलिस चौकी, राजीपुर महन्थ का पश्चिमी फ्लैट, पटना : ८०००७; वितरक : किरण प्रकाशन, अशोक राजपथ, पटना : ८०००४; मुद्रक मुरलीधर प्रेस, पटना ८०००६; सस्करण ' प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० १०२, मूल्य . बीस रुपये।

कथानायक सुधीर कष्टो से भरी मातृपितृहीन अपनी जीवन-यात्रा के क्रम मे पहले होटल का बैरा, फिर रिक्शाचालक, पुन. गृहशिक्षक का कार्य करता है और अन्त मे बी० ए० ऑनर्स की परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त कर सम्पादक के पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है और उसकी मातृहीना धर्मभगिनी प्रेमा बूट-पॉलिश करनेवाली की जिन्दगी से ऊपर उठकर डॉक्टर की पत्नी बन जाती है।

इस सन्दर्भ मे कथाकार द्वारा चित्रित संघर्ष का वातावरण कही भी अस्वाभाविक नही प्रतीत होता, वरन् यही मूलकथा को विकसित करनेवाला बन गया है। हालाँकि, कही-कही घटना का प्रवाह लेखक के चिन्तन-प्रवाह से अवरुद्ध-सा प्रतीत होता है, किन्तु वह चिन्तन-प्रवाह पाठको के मन की जिज्ञासा के आवर्जन को कुण्ठित बना देने की सीमारेखा का अतिक्रमण नही करता, वरन् जीवन और मृत्यु के बीच आबद्ध मानसिकता की यथार्थता को दार्शनिक अभिव्यंजना की गरिमा प्रदान करता है। लेखकीय विश्वास, भाग्य या पारमेश्वरी आस्था और पुरुषार्थ या श्रम के समन्वय से होनेवाले जीवनोत्कर्ष की अवधारणा से जुड़ा हुआ है। कुल मिलाकर, इस उपन्यास की 'थीसिस' है कि प्रतिकूल परिस्थितियो और सघर्षो से लड़ना ही पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त, वर्त्तमान जीवन-व्यवस्था की विसगतियो—निर्धन श्रमिको का शोषण, तिलक-दहेज का अभिशाप, यौन उच्छृखलता, युवा पीढी की दिग्भ्रष्टता, राजनेताओ की कुत्सापूर्ण जीवन-नीति आदि—के सटीक समावेश द्वारा लेखक ने अपनी कथा को प्रासगिक बनाने का भी प्रयास किया है।

सरल भाषा-शैली मे निबद्ध इस उपन्यासिका का वस्तुचित्रण बिम्बधर्मी होने के कारण अतिशय सप्राण है। शारीरिक और प्राकृतिक सुषमा का रमणीय रेखाकन भी बड़ा मोहक है। किन्तु, मुद्रण स्वच्छ और निर्दोष नही है! आवरण मे भी वनफूलो का चित्राकन तो प्रशसनीय है, किन्तु यथाकित उत्तु गयौवना का चित्र अनपेक्षित तथा आधुनिक सुसस्कृत कलाभिरुचि के प्रतिकूल है। मूल्य मे भी प्रकाशकीय परिग्रह स्पष्ट परिलक्षित होता है।

△ **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव**

o

महाभारत[1] :

नीति, धर्म, व्यवहार, शासन आदि को छोड दिया जाय, तो भी महाभारत में आई हुई कथाएँ इतनी अधिक है कि उन्हे रस-सहित प्रस्तुत करना एक महाग्रन्थ मे ही सम्भव है। इसीलिए, आधुनिक प्रवृत्ति उसके छोटे-मोटे प्रसग उठाकर यथामति यथारुचि

१. रचयिता : श्रीद्वारकाप्रसाद अधिवक्ता; प्रकाशक . श्रीकृष्णकुमार मानव, मानव प्रकाशन-मन्दिर, अनन्तपुर अमरपुरा, नौबतपुर (पटना), संस्करण : प्रथम, नवम्बर, १९७८ ई०; पृ० सं० ३२६; मूल्य : पक्की जिल्द दस रुपये, साधारण जिल्द आठ रुपये।

प्रतिभा या कल्पना का रंग चढाकर या नया अर्थ देकर उन्हे प्रस्तुत करने की है। सम्पूर्ण महाभारत की कथाएँ सक्षेप मे ही सही, उपजीव्य बनाकर काव्य-रचना करना विरल है। अत, इस दृष्टि से यह काव्य-रचना विलक्षण है।

किन्तु, अधिक घटनाओ को सक्षेप मे चलाऊ ढग से लेने पर किसी मे भी कथारस या काव्यसौष्ठव का समावेश नही हो पाया है। इसमे गृहीत उन्नासी प्रसंग भी किसी योजना मे नही है। कही उनका शीर्षक व्यक्ति (शान्तनु · २) है, तो कही घटनाएँ (जयद्रथ-वध ६६) और कही युद्ध-दिवस (५३ से ६६)। नियोग (५) पर लिखी १२ पंक्तियाँ कुछ भी सिद्धि देती नही लगती। वडे प्रसग जरूर प्रभावशाली वन पडे हैं, जैसे चीरहरण (२६), अगाधिकारी (१३) आदि। पूरा ग्रन्थ तीन भागो—आयोजन (सबसे बडा : पृ० २१–१८२), सघर्ष (पृ० १८५–२८८) और परिणाम (सबसे छोटा . पृ० २९१–३२६) मे विन्यस्त है। युद्ध-वर्णन (तेरह दिन का अलग शीर्षक देकर), भीम-द्रोणविवाद (६७) और गदायुद्ध (७०) मे रचयिता का मन विशेष रमा है, इसीलिए विस्तार से लिखा है। महाभारत का पर्व-विभाजन नही अपनाया गया। लगता है, विभिन्न प्रसग समय-समय मौज मे लिखे और सकलित कर लिये गये। भाषा वक्तव्यप्रधान, प्रवाहमयी तथा प्रसादगुणयुक्त है, किन्तु कही-कही बोझिल भी है। सोलह-सोलह मात्राओ पर यति देकर ३२ मात्राओ का छन्द प्राय. प्रयुक्त है, कही-कही उसमे दोष भी हैं। स्थानीय प्रभाव के कारण यत्र-तत्र व्याकरण-च्युति भी आ गई है।

कवि ने लिखा है . 'कथा फिर से सुनाऊँ, यह हृदय की लालसा है।' सो, उसने कथा कह दी है, बस। मूल्य भी अधिक नही, छपाई साधारण, पर मोटे टाइप मे, जिससे अल्पशिक्षित, धर्मपरायण, रोज पाठ करने के अभिलाषी, समय काटने का व्याज चाहनेवाले तथा ऐनक लगाकर पोथी वाँचनेवाले वृद्धो को यह कृति जरूर पसन्द आयगी।

△ श्रीबाबूराम वर्मा

o

इन्द्रधनुष के पंख[1] :

प्रस्तुत कृति श्रीसतीशराज पुष्करणा द्वारा सम्पादित हिन्दी की छन्दोबद्ध कविताओ का प्रतिनिधि सकलन है। इसमे राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कवियो के साथ-साथ उभरती प्रतिमाएँ भी अपनी-अपनी काव्य-रश्मियो के साथ उपस्थित है। स्पष्ट है, सकलन मे कवियो की कविताओ का समावेश उदारता के साथ किया गया है और सम्पादक महोदय का उद्देश्य, आज के अतुकान्त युग मे तुकान्त तथा

१. सम्पादक श्रीसतीशराज पुष्करणा प्रकाशक : विवेकानन्द प्रकाशन महेन्द्रू, पटना : ८००००६; सस्करण . प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० १६४; मूल्य साधारण सस्करण पन्द्रह रुपये; विशिष्ट संस्करण बीस रुपये।

छन्दोबद्ध कविताओ की ओर सहृदय काव्यपाठको के ध्यान को खीचने और प्रभावित करने का है। प्रस्तावना-लेखक **प्रो० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'** ने हिन्दी मे छन्दोबद्ध काव्यो के छन्दो का ऐतिहासिक एव वैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन किया है, जो संस्कृत एव उर्दू-साहित्य की कविताओ को समझने-समझाने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। 'मेरा दृष्टिकोण' मे 'हिन्दी-साहित्य मे छन्दोबद्ध काव्य का क्रमबद्ध विकास' शीर्षक से उपन्यस्त सम्पादकीय निवेदन स्वीकृत विषय के स्पष्टीकरण मे सहायक है। सम्पादक महोदय का यह सारस्वत प्रयास छन्दोबद्ध काव्य के विकास का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करता है। साथ ही, काव्य-वैविध्य के संकलन की दृष्टि से इस कृति का 'इन्द्रधनुष के पख' नाम भी सार्थक है।

पुस्तक का मुद्रण-आवरण सामान्य है।

△ **डॉ० स्वर्णकिरण**

o

प्रेमपीयूष[1] :

प्रस्तुत कृति हिन्दी-कवि **श्रीनरेन्द्रप्रसाद 'नवीन'** द्वारा लिखित प्रेमपरक गीतों का सरस संग्रह है। 'पुरोवाक्' मे कविवर **पं० रामदयाल पाण्डेय** द्वारा प्रस्तुत अभिमत— 'नवीनजी प्रेम की लहराती लहरो के प्रेमी है', शत-प्रतिशत सत्य है। नवीनजी प्रेम को जीवन का मूल उत्स मानते है और इसी से वह मानव-जीवन की सार्थकता और असार्थकता को तौलते है। जीत और हार दोनो के प्रेम का राग छेड़ना, दोनो मे प्रेम को अवस्थित देखना नवीनजी का वैशिष्ट्य है। मतलब यह कि वह प्रेम को दर्शन या जीवन की पद्धति-विशेष के रूप मे मानकर चलते है और अपनी अनुभूति को शब्दबद्ध करते है।

सग्रह मे गेय-अगेय, छन्दोबद्ध और छन्दोमुक्त दोनो प्रकार की रचनाएँ है, जो सहृदय पाठको को रसविभोर करने की क्षमता रखती है। शिल्प-पक्ष के प्रति कवि विशेष सतर्क नही है। सम्भव है, सगीत-तत्त्व कवि पर हावी हो, पर कविता एवं गीत की माधुरी, शक्ति एव उपयोगिता के प्रति वह विशेष उद्ग्रीव है। तुकान्त की तुलना मे अतुकान्त गीतो के लेखन में उसे अधिक सफलता मिली है। कविताओ के शीर्षक छायावादी है, पर उनमें यथार्थ जीवन के बोध का अभाव नही है।

पुस्तक का मुद्रण-आवरण साधारण है।

△ **डॉ० स्वर्णकिरण**

●

---

१. **रचयिता : श्रीनरेन्द्रप्रसाद 'नवीन'; प्रकाशक : पीयूष प्रकाशन, महेन्द्रू, पटना : ८०००००६; संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० ६४, मूल्य : साधारण संस्करण दस रुपये; विशिष्ट संस्करण पन्द्रह रुपये।**

कबीर-जयन्ती के अवसर पर :

कबीर की 'लोई'

हिन्दी के सगुण-निर्गुणवादी भक्त कवियो के जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। इसके दो कारण है : एक तो, उनका जीवन परमात्मा के लिए समर्पित था, इसलिए कवि के रूप मे आत्मख्याति की लालसा उनमे नही थी, दूसरे, कवियो की जीवनियो को अलग से सुरक्षित रखने की कोई प्रथा उस समय नही थी। जब कोई कवि प्रसिद्ध हो जाता, तब उसके नाम के साथ इतनी किवदन्तियाँ जुड जाती कि उसके सही व्यक्तित्व की पहचान एक समस्या हो उठती। कबीर जैसे फक्कड, सर्वहारा तथा अध्यात्म के प्रवक्ता कवि के बारे मे यह समस्या और भी जटिल है। उनकी उक्तियों से स्पष्ट है कि वह जुलाहे के कुल मे पले, और उनका धन्धा कपडे बुनना था। यह कहना कठिन है कि जिस जुलाहा-दम्पति (नीरू और नीमा) ने उन्हे पाला-पोसा, वह उसके सगे बेटे थे या उसने परित्यक्त शिशु के रूप मे तालाब के किनारे उन्हे पड़ा पाया, और अपने घर लाकर उनका पालन-पोषण किया। कबीर गृहस्थ थे। उनके एक पत्नी थी और पुत्र का नाम 'कमाल' था। पत्नी का नाम लोई बताया जाता है। कबीर ने 'लोई' शब्द का प्रयोग बहुत बार और भिन्न-भिन्न अर्थो मे किया है, परन्तु उनके काव्य मे कही से भी यह स्पष्ट सकेत नही मिलता कि उनकी पत्नी का नाम लोई ही था, या कुछ और।

सामाजिक पाखण्ड और धार्मिक ढोग की आलोचना के अतिरिक्त कबीर ने राम, अल्लाह आदि नामो से सम्बोधित पदो और साखियो मे ईश्वर के प्रति, अपनी भक्ति को अभिव्यक्ति दी है, जिसमे वह लौकिक दाम्पत्य और सम्बन्धो का प्रतीक-रूप मे प्रयोग करते है। उदाहरण के लिए, उनके इस कथन को लिया जा सकता है :

> मेरी बहुरिया को धनिया नाउ।
> ले राख्यौ रामजनिया नाउ॥
> इन मुंडियन मेरा घर धुंधरावा।
> बिटवहि राम रमौआ लावा॥

यहाँ अपनी आत्मा को राम की बहुरिया मानते हुए कबीर कहते हैं . मेरी वधू (आत्मा) का नाम धनिया है, परन्तु मैंने उसका नाम 'रामजनिया' रख लिया है। इन मुँडिया लोगो ने मेरे घर मे गड़बड़झाला-सा मचा दिया है, राम (सगुण) को बिटलाकर रमौआ (निर्गुण) ला दिया है।

पुराने समय में पत्नी को 'धन्या' कहते थे। 'धनिया' उसी का अपभ्रंश है। इसी प्रकार, रामजनिया रामजन, यानी रामभक्त (हरिजन की तरह) का स्त्रीलिंग रूप है, रामजनी 'रामजनिया = राम की भक्तिन'। यहाँ कबीर अपनी आत्मा को राम की भक्तिन कहकर पुकारते हैं। उनका यहाँ यह भी संकेत है कि पहले वह राम (सगुण) के भक्त थे, परन्तु मुँड़िया साधुओं ने उनको जगह रमैया (निर्गुण राम) सौंप दिया। लेकिन, कबीर के कतिपय मूर्द्धन्य विशेषज्ञों ने उक्त कथन का लौकिक अर्थ ग्रहण करते हुए लिखा है कि सम्भवतः कबीर के दो पत्नियाँ थीं। इनमें पहली पत्नी 'लोई' की जाति का पता नहीं, परन्तु दूसरी (धनिया) सुन्दर थी और अच्छी जाति की थी, जिसे लोग रामजनिया भी कहते थे। सम्भवतः, वह वेश्या रही हो। इसी मत को आगे बढ़ाते हुए डॉ० त्रिगुणायत लिखते हैं कि लोई विवाहिता थी, जब कि दूसरी (धनिया) रखैल थी। इससे बढ़कर कबीर के चरित्र का हनन और क्या हो सकता है!

कबीर का उक्त प्रसंग आध्यात्मिक सन्दर्भ में है, यह बात उनके निम्नांकित कथन से भी सिद्ध है। माया और भक्ति की तुलना करते हुए वह कहते हैं:

भलो भयी मुई मेरी पहली बरी
कहु कबीर जब लहुरी आई
बड़ी का सुहाग टर्‌यौ
लहुरी संग भई अब मेरे
जेठी और धर्‌यौ

अच्छा हुआ कि वह (माया) मर गई, जिसका मैंने पहले वरण किया था। कबीर कहते हैं कि अबके लहुरी (छोटी, यानी भक्ति) आई है, उसने बड़ी का सौभाग्य छीन लिया। छोटी जब मेरे साथ हो गई है, तब (यह देखकर) जेठी (माया) ने किसी और को रख लिया है, वह दूसरी के साथ हो गई। दोनों का अर्थ एक है: पहले उदाहरण की धनिया या रामजनिया, भक्ति का ही प्रतीक है। जहाँ भक्ति रहती है, वहाँ माया नहीं टिक सकती, यह स्पष्ट है।

जहाँतक, 'लोई' शब्द का सम्बन्ध है, वह कबीरवाणी में तीन अर्थों में प्रयुक्त है: पत्नी, कम्बल और जनसमूह। 'लोक' से बना 'लोग' शब्द समूहवाचक भी है और व्यक्तिवाचक भी। दूसरे अर्थ में 'लोग' का स्त्रीलिंग 'लुगाई' होगा, 'लोई' इसी का संक्षिप्त रूप है। माया से संवाद करते हुए कबीर कहते हैं:

कहत कबीर सुनहु रे लोई; अब तुमरी परतीति न होई।

दूसरे संवाद में माया से कबीर कहते हैं कि तुम्हारी करवट के साथ सोने से काशी करवट लेना अच्छा। माया बार-बार उनसे गले लगने का अनुरोध करती है और प्रतिज्ञा करती है कि देह के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी वह उनके साथ रहेगी, तुम मेरे एकमात्र अच्छे प्रिय हो, और मैं तुम्हारी नारी! इसपर, कबीर की उक्त दोटूक प्रतिक्रिया है: यहाँ 'लोई' का अर्थ लुगाई है, जो माया के लिए सम्बोधित है। क्योंकि, उक्त संवाद

कबीर और माया के बीच है, न कि कबीर और उनकी पत्नी के बीच। कबीर की पत्नी का नाम 'लोई' था या नही, यह इससे सिद्ध नही होता। इतने स्पष्ट अर्थ के बाद भी, यदि कोई कहे कि कबीर यह सब 'लोई' से कह रहे हैं, तो मानना होगा कि कबीर के दो पत्नियाँ ही नही थी, बल्कि वह पहली ब्याहता पत्नी से बहुत झगड़ते भी थे।

एक और जगह कबीर ने 'लोई' का प्रयोग पत्नी के अर्थ में किया है :

सुनि अंधली लोई बेपीर; उन मुँडियन भजि सरन कबीर।

ओ मेरी अन्धी (विवेकहीन) निर्दय लोई (आत्मा), तू उन मुँडिया साधुओ को भज, कबीर जिनकी शरण मे है। यहाँ भी 'लोई' आत्मा-रूपी पत्नी के लिए सम्बोधन-शब्द है।

कम्बल के अर्थ मे 'लोई' के प्रयोग का उदाहरण निम्नांकित है :

लीर लीर लोई थई; तऊ न छाड़ै रंग।

लोई (रोमपटी) तार-तार हो गई, लेकिन वह अपना रंग नही छोड़ती। व्युत्पत्ति है : रोमपटी > लोअअई > लोई। समूह के अर्थ मे लोई/लोइ का प्रयोग कबीर ने सबसे अधिक किया है। जैसे :

दुनिया दोस रोस है लोई; अपना कीया पावै सोई।

हे लोगो, दुनिया मे रोष करना दोष है, आदमी वही पाता है, जो अपना किया हुआ है।

कहै कबीर सुनहु रे लोई, भनड़ घड़ण संवारण सोई।

हे लोगो, सुनो, कबीर कहता है कि नाश करनेवाला, बनानेवाला और सँवारनेवाला वही है।

निष्कर्ष यह कि कबीर ने अपनी वाणी मे कही भी अपनी पत्नी के नाम के रूप मे 'लोई' शब्द का प्रयोग नही किया। 'लोग' का स्त्रीलिंग 'लोई' समूहवाचक संज्ञा है, व्यक्ति-वाचक नही। अरबी-फारसी मे 'लोई' शब्द नही है। लोई का एक अर्थ रोटी बनाने के लिए प्रस्तुत आटे की गोली भी है, जिसका प्रयोग कबीर ने नही किया। संसारी कबीर के एक ही पत्नी थी। उसका नाम 'लोई' ही था, यह कहना कठिन है। आत्मा या भक्त आत्मा को कबीर ने 'लोई' कहा है, परन्तु वह समूहवाचक सम्बोधन है। इसी भक्तिन आत्मा को उन्होने 'धनिया' और 'रामजनिया' नामों से अभिहित किया है।

कबीर की भाषा ठेठ लोकभाषा से जुड़ी हुई है। उनके प्रतीक गृहस्थ-जीवन और लोक से लिये गये है। उनका अर्थ उसी सन्दर्भ मे करना उचित है, जिसमें वे प्रयुक्त हैं। कबीर की भाषा, शब्द और प्रतीको का सही सन्दर्भ मे अध्ययन करना एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। सधुक्कडी या अटपटी वाणी मानकर उसके अप्रासंगिक या मनमाने अध्ययन का परिणाम हितकर नही होगा।

△ शान्ति-निवास, ११४, उषानगर
इन्दौर : ४५२००२

△ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

0

स्मृति-अर्चन :

भारतीय मनीषा के मूर्त्त रूप म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

भारतीय मनीषा की महिमा को उजागर करनेवाले आधुनिक विद्वान् व्याख्याताओ में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज का विशिष्ट स्थान है। आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न कविराजजी अपने अध्ययन, मनन, चिन्तन और साधना द्वारा महाप्राज्ञता के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे, जिनकी ज्ञान-गरिमा के आलोक मे हम अपने परम्परागत रिक्थ पर उचित ही गर्व कर सकते हैं। ऐसे सत्पुरुष विरल ही होते है और उनके सम्पर्क-सान्निध्य में आकर उनका स्नेहभाजन बनना सौभाग्यसूचक ही कहलायगा।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कारामुक्त होकर मैं काशी मे रहने लगा था। इसी बीच मैंने भारती भण्डार, इलाहाबाद में भारतीय दर्पण-ग्रन्थमाला के प्रकाशन की योजना बना ली थी, जिसमें, एक-दो खण्डो मे भारतीय सन्त-परम्परा पर ग्रन्थ निकालने की भी बात थी। प्रो० आर्० डी० रानाडे, दक्षिणी भारत की सन्त-परम्परा के बारे में लिखने को तैयार थे और उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा पर लिखने के लिए मेरे अग्रज आचार्य परशुराम चतुर्वेदी से प्रस्ताव किया गया था और ग्रन्थमाला के संयोजक प्रो० वासुदेव उपाध्याय के आग्रह पर उन्होने अपनी स्वीकृति भी दे दी थी। परन्तु, बलिया जैसे साधनहीन स्थान में रहकर यह कठिन कार्य पूरा करना सम्भव नही था। वहाँ समृद्ध पुस्तकालय का अभाव था। इसलिए, हमने यह निश्चय किया कि बीच-बीच में मेरे अग्रज आवश्यकतानुसार काशी जाकर वहाँ के पुस्तकालयों का पूरा-पूरा उपयोग करेंगे। इस प्रकार, काशी मे उपलब्ध विद्वानों तथा साधकों से विचार-विमर्श करने तथा अपेक्षित परामर्श लेने का सुयोग भी मिल सकेगा। इस काम के लिए काशी से बढ़कर अधिक उपयुक्त स्थान और कोई नही हो सकता था, जो विद्याकेन्द्र ही नही, विभिन्न साधनाओ का साधनापीठ भी है। उस समय, वैदिक ही नही, वैदिकेतर वाममार्गी साधनाएँ भी वहाँ प्रचलित थी, जिनके साधक अपनी-अपनी साधना-पद्धति में रमे हुए थे। मै इसी क्रम मे पहले-पहल कविराजजी के सम्पर्क मे आया था।

धीरे-धीरे, सम्पर्क-सान्निध्यवश मै जान सका कि कविराजजी सुप्रसिद्ध परमहंस योगी विशुद्धानन्दजी के शिष्य होकर भी किसी साम्प्रदायिक दुराग्रह के वशीभूत नहीं है। उनके लिए ज्ञान, भक्ति, योग, तन्त्र और साधना एक एव अखण्ड है। सत्य का स्वरूप शाश्वत तथा अविभाज्य है। उसका देश-कालबाधित रूप-भेद अनुभूति से अधिक अभिव्यक्ति का है और अनुभूति का अन्तर अपनी-अपनी सीमा और सामर्थ्य के कारण है। तत्त्वतः, सभी एक नही, शून्य है। वस्तुगत भेद अस्थिर एवं अस्थायी है। इस दृष्टि के लिए साधक को पार्श्वदर्शी सामान्य जन से आगे बढ़कर, सतत साधना द्वारा दूरदर्शी ही नही, पारदर्शी भी बनना पड़ेगा, तभी वह अनुभूतियों के स्तर-भेद और उनके अन्तरावलम्बन को हृदयंगम कर सकेगा।

साहब का नाम छपा है और अध्यक्ष के रूप में पं० गौरीनाथ झा, व्याकरणतीर्थ का। इस अंक के सम्पादकों में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी के नाम मुद्रित हुए हैं। 'पुरातत्त्वांक' के सम्पादन के लिए कुमार साहब ने विशेष सम्पादक के रूप में महापण्डित राहुलजी और आचार्य नरेन्द्रदेव को आमन्त्रित किया था। आचार्य नरेन्द्रदेव तो अपनी रुग्णता और जेलयात्रा के कारण योगदान न कर पाये, पर राहुलजी ने महार्घ योगदान किया।

पुरातत्त्वांक का प्रकाशन होते ही विद्वानो और पत्र-पत्रिकाओं ने इसके शोध-महत्त्व को रेखांकित किया, जिनमें प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार के अतिरिक्त पण्डित अवध उपाध्याय, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, प्रो० रामदास गौड, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, पं० किशोरीदास वाजपेयी, हरिऔध, डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, डॉ० ए० बनर्जी, श्री एन्० के० भट्टशाली, आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य, श्री एस्० पर्णवितान (लंका), वर्मा के नेता भिक्षु उत्तमा आदि के नाम उल्लेख्य हैं। प्रो० विद्यालंकार ने सम्पादक को प्रेषित अपनी सम्मति में लिखा है : "पुरातत्त्वाक से बड़ी तृप्ति हुई। आपने वास्तविक ज्ञान जनता को भेंट किया है। भदन्त राहुल के वज्रयान-विषयक लेख, समूचे अंक में, मुझे महत्त्वपूर्ण और मौलिक जान पड़े। उनके कारण यह अक भारतीय अध्ययन के स्थायी वाङमय में गिना जा सकेगा; क्योंकि उनकी प्रामाणिकता अभी अनेक दशाब्दियों तक ज्यों-की त्यों बनी रहेगी।"

वस्तुतः, इस विशेषांक के प्रकाशन और तैयारी के क्रम में भी राहुलजी ने दो ऐसे महत्त्वपूर्ण शोध-विषयो को खोज निकाला, जिनसे 'इतिहास' और 'साहित्य' में शोध का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। ये विषय थे—'विक्रमशिला' और 'सिद्ध कवि'।

राहुलजी ने बहुत-से सिद्धों को 'भंगलदेश' (वर्त्तमान भागलपुर) का रहनेवाला बताया है। इस स्थापना से स्पष्ट होता है कि भागलपुर जिले की पुरातात्त्विक खोज राहुलजी ने काफी गहराई से की थी। भागलपुर के इतिहास, भूगोल और साहित्य की निकट से खोजबीन किये बिना इस तथ्य का उद्भावन सम्भव भी नहीं था। गत कुछ वर्षो की विक्रमशिला की खुदाई से राहुलजी की इस स्थापना की शत-प्रतिशत पुष्टि होती है।

सिद्धों की भाषा का अध्ययन करते हुए राहुलजी ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि विक्रमशिला से जुड़े हुए सिद्धों की काव्यभाषा पर विक्रमशिला (भागलपुर) के आसपास प्रचलित भाषा का प्रभाव है। इस प्रसंग मे विनयश्री की भाषा के सम्बन्ध में राहुलजी ने 'दोहाकोश' (ग्रन्थकार : सरहपाद) की भूमिका मे लिखा है : "यह गीत इसीलिए अपना महत्त्व नहीं रखते कि यह सिद्धों की टकसाल के हैं, बल्कि इनकी भाषा वही मालूम होती है, जो १२वीं-१३वी सदी में विक्रमशिलावाले प्रदेश (भागलपुर जिले) मे बोली जाती थी। विनयश्री के एक पद में प्रयुक्त 'गेल्लिअहुँ' शब्द आज भी वहाँ इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।" राहुलजी का यह संकेत हमें शोध-विषय के लिए पर्याप्त सामग्री देता है। पुरातत्त्व-विशेषांक में संकलित अन्य रचनाएँ भी इसी प्रकार के शोध-महत्त्व से संवलित हैं।

इस 'पुरातत्त्वांक' के प्रकाशन के पूर्व जैसी आशा थी, उसके अनुकूल ही पुरातत्त्व-विज्ञान के अधिकारी विद्वानो ने इसे अपनाया। 'पुरातत्त्वांक' को पाते ही सम्मतियाँ और बधाई के पत्र सम्पादक को आने लगे। उस समय विहार के एकमात्र अँगरेजी-दैनिक पत्र 'सर्चलाइट' ने १९ मार्च, १९३३ ई० के अंक मे, अपने सम्पादकीय मे लिखा : 'हमने अभी-अभी विहार की प्रमुख पत्रिका 'गंगा' का पुरातत्त्वाक देखा है। इस विशेषाक की पृष्ठ-संख्या ३३० और चित्र-संख्या २०० है। हमे विश्वास है कि इन अप्राप्य चित्रो को संगृहीत करने और छापने मे घोर परिश्रम एव वहुत व्यय करना पड़ा होगा। अधिकाश लेख उन उच्च कोटि के विद्वानो ने लिखे हैं, जिन्हे विषय-विशेष मे अन्तरराष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त है। कोई भी लेख ऐसा नहीं, जो पाण्डित्यपूर्ण न हो और जिससे लेखक की एतद्विषयक विद्वत्ता का पूर्ण परिचय न मिलता हो। यदि इस विशेषाक को बिहार-उड़ीसा के 'रिसर्च जर्नल' का ही एक अतिरिक्त अक कहा जाय, तो अनुपयुक्त न होगा।"

पुरातत्त्व-विद्या मे अन्तरराष्ट्रीय प्रसिद्धिप्राप्त इतिहासज्ञ **डॉ० के० पी० जायसवाल** ने कहा है कि "इसमे वहुत अच्छे और नये लेख है। आशा है, हिन्दी-जनता इसे पढ़कर इतिहास और पुरावृत्त की ओर आकृष्ट होगी। महास्थविर राहुलजी के लेख बड़े महत्त्व के हैं। उनका, विषयो का सिंहावलोकन प्रगाढता, नूतनता तथा सूक्ष्मता का द्योतक हैं। 'पुरानी हिन्दी' (हिन्दी का जन्मकालीन) वाला लेख तो बहुत ही मार्के का है।" विख्यात विद्वान् श्री ओ० सी० गांगुली ने लिखा है कि 'भारतीय पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों के परिणाम को लोकविश्रुत करने का यह एक साहसपूर्ण प्रयास है।'

समसामयिक पत्रिकाओ ने भी इस विशेषाक के महत्त्व की चर्चा की। उस समय की विख्यात पत्रिका 'चाँद' ने मई, १९३३ ई० के अपने अक मे लिखा है : " 'गगा' का यह 'पुरातत्त्वांक' निस्सन्देह हिन्दी मे एक नई चीज है, हिन्दी के मासिको मे इस विषय के लेख भी वहुत कम देखने मे आते है। ऐसी दशा मे 'गंगा' के संचालकों ने पुरातत्त्वाक निकालकर हिन्दी का विशेष उपकार किया है। यह विशेषाक हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है। इसके द्वारा हिन्दी का उपकार और 'गगा' के गौरव की वृद्धि हुई है।" साप्ताहिक 'प्रताप' कानपुर ने लिखा है : "गंगा विहार की अकेली मासिक पत्रिका है। यह पत्रिका हिन्दी-संसार की उच्चतम पत्रिकाओ मे किसी प्रकार कम नही है। **पं० रामगोविन्दजी** त्रिवेदी ने इसे बिहार मे जन्म देकर सत्य ही हिन्दी-संसार का वहुत ही उपकार किया है।"

जनवरी, १९३३ ई० के पुरातत्त्व-विशेषांक के वाद 'गंगा' का फरवरी, १९३३ ई० का अक पुरातत्त्व-परिशिष्टाक के रूप मे ही प्रकाशित हुआ था, हालाँकि ऐसी कोई घोषणा पत्रिका मे प्रकाशित नहीं है। पर, उक्त अंक में प्रकाशित सामग्री को देखने से स्पष्ट होता है कि पुरातत्त्वाक के लिए प्राप्त सामग्री का यथासमय प्रकाशन न होने के कारण फरवरी-अंक में उसे स्थान दिया गया, जिसमे विख्यात भाषाविद् **श्रीनलिनीमोहन** सान्याल का मौलिक

शोध-निबन्ध 'बिहारी-भाषाओ की उत्पत्ति और विकास' प्रकाशित हुआ है। इस निबन्ध के साथ सान्यालजी का चित्र भी छापा गया है और उन्हे 'भाषातत्त्वरत्न' कहा गया है। यह उल्लेख्य है कि बिहारी-भाषाओ के सम्बन्ध में इसके पूर्व डॉ० ग्रियर्सन के अलावा किसी अन्य विद्वान् ने कुछ भी नही लिखा था। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि 'गंगा' के पुरातत्त्व-विशेषांक का शोध-महत्त्व निर्विवाद है।

△ भगवान पुस्तकालय, भागलपुर (बिहार) △ डॉ० बेचन

o

समीक्षा : पुनश्चिन्तित सर्जना

समीक्षा के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम मे यथानिर्दिष्ट प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाते हैं : (अ) रचना के अनन्तर समीक्षा की अपेक्षा क्यों की जाती है ? (आ) रचनाकार स्वयं समीक्षा करे अथवा उस विषय का कोई अन्य अधिकारी विद्वान् ? (इ) यदि कोई अन्य विद्वान् समीक्षा करे, तो उसमे रचनात्मक प्रतिभा का होना भी आवश्यक माना जाय अथवा नहीं ? (ई) क्या कृति (भाषा मे अभिव्यक्त वस्तु और रूप) से भिन्न समीक्षा का कोई अन्य आधार पूर्णतया विश्वसनीय हो सकता है ? (उ) तादात्म्यबोध, अर्थात् रचना की मूल अनुभूति का साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? तत्त्वतः, रचना के अनन्तर रचनाकार भावक (पाठक, श्रोता अथवा समीक्षक) से विशेष भिन्न नही रह जाता। अर्थात्, रचना के पश्चात् रचना की मूल चेतना तक पहुँचने के लिए एकमात्र साधन रह जाता है कृति का विश्लेषण, जिसे 'समीक्षा' की सज्ञा दी जाती है।

परन्तु, यह स्मरण रखना है कि प्रक्रिया-भेद से रचनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य मे अन्तर दिखाई पड़ता है, अन्यथा दोनों कृतिकारों मे समान रूप से सर्जनात्मक प्रतिभा तथा क्षमता की अपेक्षा की जाती है। रचनात्मक साहित्य की रचना-प्रक्रिया जहाँ समाप्त हो जाती है, वही से आलोचनात्मक साहित्य की रचना-प्रक्रिया आरम्भ होती है। तात्पर्य यह कि रचना और आलोचना पूर्वान्ति सूत्र से एक-दूसरे से अनुस्यूत होकर सामान्य पाठक को सम्यक् अर्थबोध की अनुकूलता प्रदान करती है। रचनात्मक साहित्य के सर्जना-क्रम को जहाँ इन रूपो में प्रस्तुत किया जा सकता है : (क) अनुभूति की अप्रकट सघनता; (ख) अभिव्यक्ति का उपक्रम और (ग) अभिव्यक्त (टंकित, मुद्रित, हस्तलिखित वा कथित) रूप, वहाँ इसके ठीक विपरीत समीक्षात्मक साहित्य का सर्जना-क्रम इस प्रकार रहता है. (क) अभिव्यक्त रूप का अध्ययन; (ख) अभिव्यक्ति के उपक्रम से अवगत होने का प्रयास. अर्थात् चिन्तन-अनुशीलन और (ग) मूल अनुभूति का साक्षात्कार, अर्थात् तादात्म्यबोध।

यहाँ रचनाकार और समीक्षक के सर्जना-क्रम की इस विभिन्नता को स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम स्थिति मे रचनाकार केवल अनुभूति के स्तर पर रहता है।

उसे स्वय ही यह ज्ञात नही रहता कि वह उस अनुभूति को किस रूप मे अभिव्यक्त करेगा। पर, उसके अचेतन अथवा अर्द्धचेतन मे अनुभूति का आवेग उद्वेलित होता रहता है। दूसरी स्थिति मे रचनाकार अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया मे, अर्थात् वह अपने एकमात्र साधन—'शब्द' के सम्यक् चयन मे लग जाता है। अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति उपयुक्त शब्द से ही हो सकती है। इसी क्रम मे 'साहित्य-रूप', अर्थात् विधा-निर्धारण की समस्या भी उत्पन्न हो जाती है। विषय और विधा, अर्थात् 'कथ्य' एवं 'अभिव्यक्ति' का एक-दूसरे से प्रभावित होना सहज है। तीसरी स्थिति मे रचना स्पष्ट रूप ग्रहण कर लेती है। दूसरे शब्दो मे, यहाँ आकर रचना का 'अस्तित्व' स्थापित हो जाता है। अर्थात्, अनुभूति भाषा के रूप मे अभिव्यक्त हो जाती है, जो सामान्यतया सबके लिए उपलब्ध होती है। इस प्रकार, रचना की अनुभूति विशिष्ट न रहकर, निर्विशिष्ट बन जाती है, अर्थात् वह सबकी अनुभूति का आधार हो जाती है। सक्षेप मे, यही रचनाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति का क्रमिक रूप रहता है।

समीक्षक सर्वप्रथम 'रचना' को पढता है। वह अभिव्यक्त कथ्य को ठीक से समझने के लिए कृति-विशेष को बार-बार देखता है, उसकी सरचना, अर्थात् घटन एव ग्रथन पर विचार करता है और अन्ततः मूल भाव अथवा विचार से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। अत , स्पष्ट है कि समीक्षक को भी रचना-प्रक्रिया से पूर्णत अवगत होना पड़ता है, अन्यथा वह किसी कृति की सम्यक् विवेचना नही कर सकता।

उपरिलिखित सर्जना-सोपान के विश्लेषण के अतिरिक्त समीक्षक को और भी अनेक विषय और ज्ञान से परिचित रहना पडता है। उसे सास्कृतिक संवेदना, परम्परा, सामाजिक परिवर्त्तन, आधुनिकता, जीवन-मूल्य, पर्यावरण एव उन समस्त विचारधाराओ की सामान्य जानकारी भी रखनी पड़ती है, जिनसे रचना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुआ करती है।

तात्पर्य यह कि समीक्षक के लिए दृष्टि-समग्रता अपेक्षित हो जाती है। और इस प्रकार, समीक्षा पुनश्चिन्तित सर्जना का रूप ग्रहण कर लेती है। इसी मे उसकी सार्थकता निहित है। निष्कर्षत , यही कहा जा सकता है कि . (क) समीक्षा भी सर्जना ही है, पर इसका रूप पुनश्चिन्तनात्मक होता है। (ख) सफल समीक्षक के लिए रचनात्मक प्रतिभा आवश्यक है। (ग) यदि रचनाकार तटस्थ होकर स्वय समीक्षा करे, तो वह सबसे अच्छा समीक्षक हो सकता है। (घ) कृति से भिन्न कोई अन्य मत अथवा दृष्टि पूर्ण विश्वसनीय अथवा मान्य नही हो सकती। (ङ) आरोप अथवा प्रतिवाद समीक्षा का लक्षण नही है।

△ रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
पटना-विश्वविद्यालय, पटना : ८००००५

△ डॉ० सीताराम झा 'श्याम'

0

पर्याय : व्याख्यासापेक्ष संज्ञा

'पर्याय' शब्द सुनते ही संस्कृतकोविदों का ध्यान 'पर्यायवाचक' की ओर जाता है, जो नैसर्गिक भी है, प्रासगिक भी । इसका एक अन्य अर्थ भी है—'क्रमश.' । क्रमवोधक 'पर्याय' का प्रयोग कादाचित्क है ।

१. सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम् । (वायु०, ४०।४१९)
२. (क) कालः पर्यायधर्मेण, (ख) पर्याययोगात् ।।
(म० भा०, शान्तिपर्व, ३४।४)

परन्तु, पारिभाषिक तौर पर 'पर्याय' का व्यावहारिक अर्थ इन दोनों अर्थों से सर्वथा भिन्न है : पर्याय = वंश या खानदान । यथा :

समानं कुलभावश्च दानादानं तथैव च ।
ययोर्वंशसमानं हि पर्यायं तत् प्रचक्षते ।। (कुलदीपिका)

जिन वाक्यों मे, वंश के सन्दर्भ में 'पर्याय' शब्द पाया गया और संस्कृत-टीकाकारों ने जहाँ 'क्रमशः' को वैठाने का असफल प्रयास किया है, वहाँ अर्थ का अनर्थ हो गया है ! आवश्यकता इस वात की है कि 'खानदान' के अर्थ में प्रयुक्त 'पर्याय' शब्द के पारिभाषिक स्तरीय प्रयोजन को टीकाकार, आलोचक तथा शोधकर्त्ता समझने का यत्न करे । यथा :

१. महापद्मस्य 'पर्याये' भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ।
२. नन्दा 'पर्यायभूता.' पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ।
३. 'पर्याय'पातितह्रिमोक्षिणभसर्वगामि.... । (मुद्राराक्षस, ३।१७ और २७)
४. विक्रमादित्य'पर्यायः' महेन्द्रादित्यसम्भवः ।
असौ विषमशीलो हि साहसाङ्क-शकोत्तरः ।। (कश्चित्)

△ ए-१०, अमर कॉलोनी, लाजपतनगर
नई दिल्ली : ११००२४
△ पं० चन्द्रकान्त वाली शास्त्री

●

सन्देश : पत्र

"प्रारम्भ में कोई सन्देश या बात भोजपत्र आदि पर ही लिखी जाती थी । इसलिए, कालान्तर में कागज पर या किसी अन्य वस्तु पर लिखी हुई सन्देश-वार्त्ता, घटना आदि को 'पत्र' कहने लगे । कागज भी पत्तियों से ही बनता था, इसीलिए वह भी 'पत्र' कहलाया । ....पन्ना शब्द भी सं० 'पर्णक' से विकसित है : सं० पर्णक > प्रा० पण्णअ > पण्णा > पन्ना ।"

△ 'संस्कृति, साहित्य और भाषा' : डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

●

पत्र : प्रतिक्रियाएँ

[१]

मान्यवर सम्पादकजी,

'परिषद्-पत्रिका', वर्ष २२ : अंक ४ (जनवरी, १९८३ ई०) मे प्रकाशित डॉ० सर्वानन्द पाठक का 'गीता के प्रमुख प्राचीन टीकाकार' शीर्षक लेख पढा। लेख डॉ० पाठक की विद्वत्ता के अनुरूप नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे चलाऊ ढंग से ही प्रस्तुत कर दिया गया है। 'गीता' के प्रमुख प्राचीन टीकाकारो का परिचय अवधानतापूर्वक व्यस्थित रूप से नही दिया जा सका है। इसीलिए, उसमे तथ्यात्मक अशुद्धियाँ आ गई है।

'गीतार्थसग्रह' तो यामुनाचार्य की ही रचना है, रामानुजाचार्य की नही। रामानुजाचार्य की गीता की टीका का नाम तो 'गीताभाष्य' है। मध्वाचार्य का जन्म सं० १२५६ वि० की विजयादशमी को हुआ था। अत., उनके सं० १२१६ वि० मे होने का प्रश्न ही नही पैदा होता। मध्वाचार्य के परिचय-क्रम (संख्या ३) मे ही निम्बार्काचार्य के विषय मे भी कुछ लिख दिया गया है, जो उचित नही है; क्योंकि उनका स्वतन्त्र परिचय दिया जाना ही उचित था और वह सख्या ५ पर दिया भी गया है, किन्तु यह परिचय अत्यन्त अल्प है। एक ही जगह पूर्ण परिचय दिया जाना चाहिए था।

कश्मीरी भट्टाचार्य का वास्तविक नाम 'केशव काश्मीरी भट्टाचार्य' है। इन्हे निम्बार्काचार्य का समसामयिक वतलाना असंगत है और हास्यास्पद भी। यह निम्बार्क-सम्प्रदायी तो थे ही, उस सम्प्रदाय के आचार्य भी थे, किन्तु निम्बार्काचार्य के समसामयिक नही थे। यह उनसे काफी समय बाद सिकन्दर लोदी के समय मे हुए। यह गांगल भट्टाचार्य के शिष्य और इस सम्प्रदाय के प्रौढ दिग्विजयी विद्वान् तथा ३३वें आचार्य माने जाते हैं। निम्बार्क-सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत-मत' ही है। अत, यह लिखना कि रामानुज के विशिष्टाद्वैत-मत से इस सम्प्रदाय को पृथक् करने के लिए इसे 'द्वैताद्वैत' कहा जा सकता है, निरर्थक है।

डॉ० पाठक ने एक स्थान पर लिखा है : 'और लगता है कि यह पन्थ शंकराचार्य के पहले से ही चला आ रहा है।' यह 'पन्थ' कौन-सा है, उसका नामोल्लेख स्पष्ट रूप से होना चाहिए था। लेख मे आगे इस 'पन्थ' का आशय 'द्वैत-सम्प्रदाय' प्रकट होता है, जो संगत नही है। 'द्वैतमत' के प्रवर्त्तक मध्वाचार्य का उल्लेख पहले ही संख्या ३ पर किया जा चुका है। अब पुनः उसके सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से लिखना उचित प्रतीत

नहीं होता। **मध्वाचार्य** के विषय में जो कुछ लिखा जाना था, संख्या ३ पर ही लिखना चाहिए था। यहाँ **डॉ० भाण्डारकर** के आधार पर **मध्वाचार्य** के समय के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा गया है, उसका कोई तालमेल सख्या ३ पर **मध्वाचार्य** के समय के बारे मे दिये गये **डॉ० भाण्डारकर** के उल्लेख से नहीं है। **मध्वाचार्य** के समय के सम्बन्ध मे भी एक ही स्थान पर प्रामाणिक रूप से लिखा जाना चाहिए था।

निम्बार्काचार्य का आविर्भाव कब हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर वर्त्तमान ज्ञान की दशा मे असम्भव-सा है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह सम्प्रदाय वैष्णव-सम्प्रदायों मे प्राचीनतम है। 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखित इनका वेदान्त-भाष्य 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' के नाम से प्रसिद्ध है। अत., लेखक का 'भी' के साथ 'इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखी थी', लिखना अनावश्यक है।

△ १४, **खटीकान**
मुजफ्फरनगर : २५१००२ (उ० प्र०)

△ **श्रीवेदप्रकाश गर्ग**

[२]

मान्यवर सम्पादकजी,

'परिषद्-पत्रिका' के अप्रैल, '८३ अंक के लिए अनेक धन्यवाद। अपनी परम्परा के अनुसार यह अंक भी पर्याप्त सामग्री से संवलित है। **पं० मदनमोहन पाण्डेयजी** की अनुस्मृतियाँ 'हिन्दी-संस्थाएँ और बिहार' में कहीं-कहीं तथ्यो की थोडी उलट-पुलट है। हालाँकि, स्वयं ही उन्होने इसे 'सम्भवत' कहा है। फिर भी, पाठको की जानकारी के लिए निवेदन है कि 'अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का चतुर्थ अधिवेशन सन् १८१३ ई० मे भागलपुर के 'भगवान पुस्तकालय' के प्रागण मे ६ एवं ७ दिसम्बर को हुआ था। इस अधिवेशन का उल्लेख अपने निबन्ध के पृ० ११५ के तीसरे अनुच्छेद मे करते हुए पाण्डेयजी ने लिखा है : "सम्भवत, सन् १९१५ ई० मे भागलपुर-हिन्दी-सभा' के प्रयास के 'अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन भागलपुर मे सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ"

पूरा निबन्ध काफी 'स्केची' है। चूँकि, इसे पाण्डेयजी ने 'अनुस्मृतियाँ' कहा है, इसलिए मुझे इस सन्दर्भ में ज्यादा कुछ नहीं कहना है। वैसे अगर उन्होने आसानी से सुलभ बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ 'बिहार की साहित्यिक प्रगति' मे सम्मेलन के सभापतियो के अभिभाषणो को देख लिया होता, तो कदाचित् यह निबन्ध 'स्केची' होने से बच जाता।

△ **प्रधानाचार्य, मारवाड़ी महाविद्यालय**
भागलपुर : ८१२००७

△ **डॉ० बेचन**

[३]

मान्यवर सम्पादकजी,

'परिषद्-पत्रिका', वर्ष २३ : अंक १ (अप्रैल, १९८३ ई०) मे डॉ० हर्षनन्दिनी भाटिया का 'राउलवेल मे नारी-सौन्दर्य के उपकरण' शीर्षक लेख पढने को मिला।

'राउलवेल' ११वी शती की छोटी-सी काव्यकृति है, जो धार (मालवा) से, शिलालेख के रूप मे प्राप्त हुई है। सम्प्रति, वह बम्बई के प्रिंस ऑव वेल्स पुरातत्त्व-संग्रहालय मे सुरक्षित है। इसका महत्त्व इसलिए है कि तत्कालीन लोक-काव्यभाषा मे रचित यह कृति हिन्दी-प्रदेश की सबसे पुरानी काव्यकृति है, जो पश्चिमी भारत मे लिखी गई। इसमें ६ खण्ड और ४६ छन्द हैं। एक-दो अपवाद छोड़कर शैली तुकान्त है। इसमे जिन नायिकाओ के शिख-नख का वर्णन है, उनमे पहले चार की क्षेत्रीय पहचान स्पष्ट नही है। अन्तिम दो मे एक गौडी और दूसरी मालविनी है।

'राउलवेल' के दो सस्करण है, जिनके सम्पादको (डॉ० मायाणी तथा डॉ० माता-प्रसाद गुप्त) मे यह मतभेद है कि कृति पूरी है या अधूरी ? मैं डॉ० गुप्त के मत से सहमत हूँ कि यह पूरी रचना है। कृति के आदि और अन्त मे यह उल्लेख कि 'मैंने जैसा जाना, वैसा लिखा' उसको सम्पूर्ण सिद्ध करता है।

कृति की विषयवस्तु के विचार से 'राउल' नाम की दो व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं : प्रथम 'राजकुल' से (राअउल > राउल) और द्वितीय 'रागवती' से (राइल्ल > राउल)। 'रागवती' का प्राकृत शब्द 'राइल्ल' है। 'वेलि' का विकसित रूप 'वेल', मध्ययुग मे छोटी काव्यकृति का नाम था। अत., प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'राउलवेल' का अर्थ है 'अनुरागवती के सौन्दर्य का वर्णन करनेवाली रचना, या अनिन्द्य सुन्दरी से शोभित राजकुल का प्रसग। 'राउलवेल' का 'राजकुलविलास' अर्थ करना उसके महत्त्व को कम करना है।

अपभ्रंश-कविता मे नारी-सौन्दर्य-चित्रण की दोनों शैलियाँ (शिख-नख और नख-शिख) प्रचलित रही है। 'राउलवेल' मे पहली शैली है। सभी नायिकाओ के वर्णन के अन्त मे कवि का निष्कर्ष है कि अनुरागमयी नारी ही 'राउल' है, या जहाँ ऐसी सुन्दरी है, वह 'राउल' है, चाहे वह झोपडी हो या राजप्रासाद। नायिकाओ के वस्त्रो और अलकारो का भी वर्णन है, परन्तु वे मध्ययुग मे उपयोग मे आनेवाले सामान्य उपकरण हैं। सौन्दर्य की वास्तविक होड गौडी और मालविनी मे है। गौडी प्राकृतिक प्रसाधनो से सजाकर प्रस्तुत की गई है, जबकि मालविनी स्वर्णालकारो से।

यह कहना सही नही है कि ये नायिकाएँ किसी कलचुरी-राजा के गौड सामन्त की विवाहिताएँ है। सीधा-सा तर्क है कि कोई भी राजा कभी यह सहन नही करेगा कि उसका अधीनस्थ सामन्त एक साथ छह सुन्दरियों को अपने अन्त.पुर मे प्रवेश दे दे, और वह देखता रहे। दूसरे, यदि वे गौड सामन्त की विवाहिताएँ है, तो जिस तरह उनके रूप का चित्रण है, उसका कोई औचित्य नही रह जाता।

डॉ० गुप्त के ये निष्कर्ष भी तथ्यों के विपरीत हैं कि 'राउलवेल' त्रिपुरी में लिखी गई, जिसकी भाषा दक्षिण कोसली है। क्योंकि, त्रिपुरी उस समय कई राज्यों का केन्द्र-विन्दु था। पं० **दामोदर शास्त्री** के 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की भाषा पूर्वी कोसली है, ये दोनो मिलकर उस व्यापक कोसली का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो कभी पूरे राष्ट्र के व्यवहार का माध्यम थीं, और जिनसे खड़ी वोली का विकास हुआ।

वास्तव में, 'राउलवेल' की भाषा तत्कालीन लोकभाषा है, जो उस समय कविता का माध्यम थी। ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय परमारो की राजधानी धार कई राज्यो के सम्पर्क-केन्द्र में थी। मुंज और तैलप-सुन्दरी मृणालवती का रोमांस विख्यात है और यह भी सब जानते है कि वाद मे उसकी क्या दुर्दशा हुई! त्रिपुरी की धरती पर, कोई कवि मालविनी के सौन्दर्य का वर्णन क्यो करेगा? और, धार के शासकों के उस वर्णन को शिलालेख के रूप में सुरक्षित रखने में क्या दिलचस्पी हो सकती है?

'रोड' पश्चिमी भारत का कवि था। इसलिए, मालविनी के सौन्दर्य-चित्रण मे उसकी विशेष दिलचस्पी थी। वह कहता है कि 'जब वह उज्ज्वल वेश में प्रवेश करती है, तब कामदेव अपना हथियार डाल देता है, केश-रचना से रक्तकमलों को पराजित करनेवाले पैरो तक उसका सौन्दर्य व्याप्त है। उसके सौन्दर्य को देखकर कवि अपनी बुद्धि को कचरा मानता है। उसके ऊँचे वर्त्तुल स्तन सौन्दर्य से भरे स्वर्णकलश हैं, उसके गले मे मोती का हार देखनेवाले को नश्वर संसार अविनश्वर लगने लगता है। उसकी कंचुकी कामदेव का रक्षा-कवच है, रति उससे वात करने मे झिझकती है।' मध्ययुग में देश, प्रकृति और सामुद्रिकशास्त्र के आधार पर नारियों के वर्णन की परम्परा लोकप्रिय रही है, परन्तु 'राउलवेल' की नायिकाएँ विशुद्ध रूप से नारी-सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करती हैं।

'राउलवेल' की भाषा अवहट्ट और लोकभाषा के बीच की काव्यभाषा है, और एक काव्यभाषा में विभिन्न वोलियों के शब्दो और प्रयोगों का मिलना, कोई विस्मय की वात नही। इनके आधार पर इसकी भाषा को किसी एक प्रदेश की भाषा सिद्ध नही किया जा सकता। इस सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए 'राउलवेल' की रचना और उसके विभिन्न स्रोतों की गहन गवेषणा अपेक्षित है।

△ शान्ति-निवास
११४, उषानगर, इन्दौर (म० प्र०)

△ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

[मई से जुलाई १९८३ ई०]

कबीर-जयन्ती :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान मे, ज्येष्ठ पूर्णिमा, दि० २५ जून, १९८३ ई०, शनिवार को, बिहार के सुप्रसिद्ध साहित्यकार **पं० रामदयाल पाण्डेय** के सभापतित्व मे क्रान्तद्रष्टा **सन्त कबीरदास** का जयन्ती-समारोह सम्पन्न हुआ। समारोह का शुभारम्भ प्रसिद्ध सन्त एवं कथावाचक **पं० श्रीमन्नारायण चतुर्वेदी** द्वारा प्रस्तुत कबीरदास के पदगान से हुआ।

जयन्ती-समारोह का उद्‌घाटन करते हुए पटना उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति **प० सतीशचन्द्र मिश्र** ने कहा कि एकेश्वरवाद के समर्थक सन्त कबीरदास धर्मवाद से अधिक अध्यात्मवाद के उपासक थे। वह रूढिवाद के विरोधी महापुरुषो मे अग्रणी थे।

सभापति-पद से कबीरदास के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते हुए **पं० रामदयाल पाण्डेय** ने कहा कि हिन्दी-भाषा का स्पष्ट स्वरूप सर्वप्रथम कबीरदास की काव्य-कृतियो मे ही प्राप्त होता है। उन्होने हिन्दू-संस्कृति के साथ ही हिन्दुस्तानी-संस्कृति को भी प्रतिष्ठित किया। उनके काव्यो मे केवल खण्डन ही नही प्राप्त होता, अपितु प्रहार मे समाहार का साक्षात्कार भी उनके धर्म-दर्शन मे मिलता है।

डॉ० सीताराम 'दीन' ने कहा कि कबीर की काव्यकृति घोर निराशा की स्थिति मे भी आशा का सचार करनेवाली है। वह मानव-समाज के अध्येता थे। **प्रो० श्यामनन्दन शास्त्री** ने कहा कि कबीरदास ऊर्जा के महान् स्रोत थे। उनकी ऊर्जा का एक अंश भी यदि मानव ले सके, तो उसका जीवन सार्थक हो जाय। **डॉ० पूर्णेन्दुनारायण सिन्हा** ने कहा कि कबीरदास साम्प्रदायिक एकता के पक्षपाती थे, इसलिए उनका जन्मदिवस एकता-दिवस के रूप मे मनाया जाना चाहिए। **आचार्य श्रुतिदेव शास्त्री** ने कहा कि कबीर यथार्थ सत्य के प्रवक्ता थे। समन्वयवादी विचारक कवियो मे उनका स्थान सर्वोपरि है। **डॉ० परमानन्द पाण्डेय** ने कहा कि बिना पोथी पढे अपनी आन्तरिक साधना से महान् साधक बननेवाले कवियो मे कबीरदास अद्वितीय थे। **डॉ० उमेशचन्द्र मधुकर** ने कहा कि कबीरदास निराकारवाद के प्रवक्ता होते हुए भी मूलत. साकारवादी थे। **कविवर श्रीवाल्मीकिप्रसाद 'विकट'** ने कहा कि कबीर मे त्रिगुण तत्त्व का समन्वय था। **श्रीदिनेश प्रसाद** ने कहा कि कबीरदास क्रान्तिवादी और समाजसुधारक कवि थे।

अन्त मे, परिषद् के शोध-उपनिदेशक तथा 'परिषद्-पत्रिका' के सम्पादक **डॉ० श्रीरजन सूरिदेव** ने आगत महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा कि कबीरदास की सामाजिक चेतना का मूल मन्त्र अपरिग्रहवाद था। उन्होंने आधुनिक वक्रजडवादी समाज को ज्ञान से संवलित सही जीवन-दिशा की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी।

o

सूर-संगोष्ठी :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान मे सूर-जयन्ती (२५ जुलाई, १९८३ ई०) के क्रम मे सूर-संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसका सभापतित्व हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार **पं० रामदयाल पाण्डेय** ने किया। समारोह का प्रारम्भ सन्त तथा कथावाचक **पं० श्रीसत्नारायण चतुर्वेदी** तथा **श्रीमुसाफिर ब्रह्मचारी** द्वारा प्रस्तुत सूर के पदगान से हुआ।

संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधिपति **श्रीनन्दलाल ऊँटवालिया** ने कहा कि **सूरदास** ने द्वैतवादी विचारो और सगुण भक्ति के माध्यम से भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा की, इसलिए भारतवर्ष उनका ऋणी है।

सभापति-पद से सूर के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते हुए **पं० रामदयाल पाण्डेय** ने कहा कि सूरदास वर्त्तमानकालिक चेतना-शक्ति के मूल केन्द्र थे। उनके कृतित्व से ज्ञानालोक की प्राप्ति के लिए उसका अनुशीलन करना आवश्यक है। ज्ञानप्राप्ति की दृष्टि से इस प्रकार के सन्त कवियो की जयन्तियो का प्रासंगिक महत्त्व हुआ करता है। उन्होंने कहा कि सूरदास के महनीय काव्य और उनके उदात्त चरित्र के माध्यम से हम पार्थिव सत्ता से अपार्थिव सत्ता का साक्षात्कार करते है।

डॉ० उमेशचन्द्र मधुकर ने कहा कि सूर के पदो मे वेदमत और लोकमत का एकत्र समाहार परिलक्षित होता है। **डॉ० गोपाल राय** ने कहा कि सूरदास अपने युग के महामानव थे और जन्मान्ध होते हुए भी वह अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न थे। उनके पदों में ज्ञान और संगीत की अतुल सम्पदा भरी हुई है। **डॉ० अजितनारायण सिंह 'तोमर'** ने कहा कि अन्तश्चक्षु से युक्त सूरदास का वात्सल्य-चित्रण हिन्दी-साहित्य मे अद्वितीय है। **डॉ० सीताराम झा 'श्याम'** ने कहा कि कृष्णलीला ही सूर की रचनाशीलता का अन्यतम निदर्शन है। सूरसागर न केवल महाकाव्य है, अपितु उसमे नाटकीय तत्त्वो के समावेश के कारण वह महानाटक भी है। **डॉ० परमानन्द पाण्डेय** ने कहा कि विश्व-साहित्य मे सूर-काव्य का अद्वितीय स्थान है।

आगत महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव** ने कहा कि सूरदास उत्तम कोटि के भक्त थे, इसलिए कृष्णलीला के पदगान-रूप साधन-भक्ति द्वारा भगवत्स्वरूप की प्राप्ति करना उनका साध्य था।

o

परिषद् के गौरव-ग्रन्थ का प्रकाशनोत्सव :

विगत ९ मई (सन् १९८३ ई०) को राष्ट्रपति-भवन, नई दिल्ली मे राष्ट्रपति श्रीज्ञानी जैल सिंह ने डॉ० सीताराम झा 'श्याम' द्वारा लिखित एव विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित गौरव-ग्रन्थ 'नाटक और रगमच' का प्रकाशनोद्घाटन-कार्य सम्पन्न किया। इस समारोह का आयोजन राष्ट्रपति-भवन की ओर से ही किया गया था। इस अवसर पर भारत के राष्ट्रपति एवं लेखक के अतिरिक्त मुख्य अतिथि के रूप मे हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक पद्मभूषण डॉ० नगेन्द्र उपस्थित थे।

राष्ट्रपति-भवन के सुसज्जित सभाकक्ष मे समुपस्थित विद्वद्वृन्द के समक्ष विशिष्ट मंच से राष्ट्रपति महोदय ने, विशेप प्रकाश-व्यवस्था मे, 'नाटक और रंगमंच' ग्रन्थ का प्रकाशनोद्घाटन करते हुए अपने भापण मे कहा

"जीवन और जगत् की स्थितियो को प्रभावकारी रूप मे अभिव्यक्त करने का सवसे सरल माध्यम नाटक और रगमच है। चूँकि नाटक को हम रगमच पर देखते है, इसलिए उसका तुरत प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है। नाटक के दृश्य आकर्षक होते है, उनकी ओर हमारा विशेष झुकाव होता है। नाटक मे सवाद कहने के भी अपने ढंग होते है, जो अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार देखने और सुनने एवं आनन्द प्राप्त करने के काम एक ही साथ नाटक और रंगमच द्वारा सम्पन्न होते है। चेतना उत्पन्न करने मे तो नाटक और रगमच की समता दूसरा कोई माध्यम कर नही सकता।"

राष्ट्रपति महोदय ने कहा . "डॉ० श्याम ने अपनी प्रशंसनीय प्रतिभा और कठिन परिश्रम से 'नाटक और रंगमच' नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना कर राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की महान् सेवा की है। मैं लेखक को वधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वह इसी प्रकार भविष्य मे भी साहित्य और देश की सेवा करेंगे। हिन्दी, के प्रचार-प्रसार मे संलग्न विहार-राष्ट्रभाषा-परिपद् का भारत के शोध-सस्थानो मे विशिष्ट स्थान रहा है। परिपद् द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है। अपनी गौरवपूर्ण प्रकाशन-परम्परा मे परिपद् ने 'नाटक और रंगमच' ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जो निश्चय ही अपने विषय की एक उत्कृष्ट कृति है।"

ग्रन्थ-प्रकाशनोद्घाटन-समारोह के मुख्य अतिथि के रूप मे बोलते हुए हिन्दी के विश्वविश्रुत समीक्षक पद्मभूषण डॉ० नगेन्द्र ने कहा "पटना-विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग के रीडर एवं विद्वान् लेखक डॉ० श्याम ने पहले भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। उनका यह 'नाटक और रगमच' शीर्षक ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लिखा गया है। इसमे सामग्री की विशदता, विश्लेपण-पटुता और शोध दृष्टि की सूक्ष्मता विद्यमान है। हिन्दी-साहित्य-भाण्डार को समृद्ध करने मे इस ग्रन्थ का अपना महत्त्व रहेगा।"

ग्रन्थ-लेखक डॉ० श्याम ने ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा और प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए कहा : 'नाटक और रंगमंच किसी भी समाज और देश की प्रगति के सूचक होते हैं।

नाटक और रंगमंच का निर्माण जहाँ हमारे समाज की आर्थिक समृद्धि एवं सुरुचि-सम्पन्नता का द्योतक है, वहीं नाटक देखने की तीव्र उत्कण्ठा सामाजिकों की जागरूकता की मूल पहचान है।"

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की सम्पादिका श्रीमती शीला झुनझुनवाला ने धन्यवाद-ज्ञापन किया। इस सारस्वत समारोह मे देश के अनेक विशिष्ट विद्वान्, साहित्यकार, सासद और पत्रकार उपस्थित थे।

o

परिषद् के दो उल्लेख्य प्रकाशन :

गत जून (सन् १९८३ ई०) महीने में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ :

प्रथम ग्रन्थ है महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज (अब स्वर्गीय) द्वारा लिखित **'स्वसंवेदन'**। मूल बँगला मे प्रस्तुत इस ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद प्रसिद्ध कविर्मनीषी एव यशस्वी बँगला-हिन्दी-अनुवादक **पं० हंसकुमार तिवारी** (अब स्वर्गीय) ने किया है। कुल चालीस रुपये में प्राप्य ३८१ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में **कविराजजी** ने अपने चित्त में बोधरूप में समय-समय उदित प्रज्ञालोक की गूढ ज्ञानमय तत्त्वोपलब्धियों को दैनन्दिनी-शैली मे, लिपिबद्ध किया है। यह ग्रन्थ प्रबुद्ध पाठको को अधिकाधिक आध्यात्मिक प्रेरणा और मार्गदर्शन प्रदान करनेवाला है।

द्वितीय ग्रन्थ है लब्धप्रतिष्ठ साहित्यमनीषी **डॉ० रामअवध द्विवेदी** (अब स्वर्गीय) द्वारा लिखित **'साहित्य-सिद्धान्त'** का द्वितीय संस्करण। यह, नवीन दृष्टिकोण से लिखित, भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तो के तुलनात्मक विशद अध्ययन एवं सार्वभौम चिन्तन से संवलित महार्घ ग्रन्थ है। कुल पच्चीस रुपये मे प्राप्य २२२ पृष्ठों का यह ग्रन्थ साहित्यशास्त्र के पाठकों को उच्चतर साहित्यिक चेतना का स्तर प्रदान करने मे पूर्ण सक्षम है।

●

●

शोक-प्रस्ताव

विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-परिवार की ओर से शोकसभाएँ आयोजित कर निम्नांकित दिवगत हिन्दीसेवियो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की गई और शोक-प्रस्ताव पारित किये गये ·

[१]

यह जानकर परिषद्-परिवार मर्माहत है कि आन्ध्रनिवासी प्रसिद्ध हिन्दीसेवी श्रीरमेश चौधरी आरिगपूडि ने ७ मई (सन् १९८३ ई०) को अपनी इहलीला सवरण कर ली ! तेलुगुभाषी होते हुए भी उन्होने राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो महत्त्वपूर्ण सेवा की है, वह हिन्दीभाषी हिन्दीसेवियो के लिए स्पृणीय और अनुकरणीय है ।

पुण्यश्लोक आरिगपूडिजी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कथाकारो मे पाक्तेय थे। सन् १९५७ ई० मे उनकी प्रथम हिन्दी-पुस्तक प्रकाशित हुई। उसके वाद अबतक उनकी कई दर्जन कथा-पुस्तके प्रकाश मे आ चुकी है। उनकी कतिपय कथा-पुस्तके उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत भी हुई है। उनका धार्मिक उपन्यास कतिपय विश्वविद्यालयो मे पाठ्य-पुस्तक के रूप मे स्वीकृत हुआ है और कतिपय हिन्दी-उपन्यासो का अन्य भाषाओ मे अनुवाद किया गया है।

स्व० आरिगपूडिजी आजीविका की दृष्टि से पत्रकार और लेखक थे, साथ ही वर्चस्वी कथाकार, यशस्वी भाषातत्त्वज्ञ और मनस्वी सम्पादक के रूप मे अतिशय समादृत थे। उनके लोकान्तरण से हिन्दी-जगत् एवं राष्ट्रीय गगन के एक विशिष्ट उज्ज्वल ज्योतिर्मय नक्षत्र का अस्त हो गया !

[२]

हिन्दी के ख्याततनामा वयोवृद्ध कवि तथा मगलाप्रसाद पारितोषिक-विजेता श्रीगुरुभक्त सिंह 'भक्त' के देहावसान (१७ मई, १९८३ ई०) से परिषद्-परिवार को हार्दिक क्लेश हुआ है। कविवर भक्तजी के निधन से हिन्दी की काव्य-साधना-परम्परा का एक गौरवपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया !

पुण्यश्लोक भक्तजी छायावादी काव्यकाल के श्रेष्ठ कवियो मे परिगणनीय थे। यद्यपि उन्होने वाद मे छायावादी प्रभाव से मुक्त प्रगतिवादी काव्य-रचनाएँ भी की। उनका 'नूरजहाँ' खण्डकाव्य ऐतिहासिक काव्यधारा के काव्यो मे सर्वाधिक चर्चित कृति है। वह स्वभाव से अतिशय सरल और विनम्र व्यक्तित्व से विमण्डित थे। उनके लोकान्तरण से हिन्दी-काव्यजगत् मे जो रिक्तता आई है, वह अपूरणीय है !

[३]

देश के वरिष्ठ राजनेता, प्रमुख स्वतन्त्रता-सेनानी एवं मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल **श्रीसत्यनारायण** सिंह के देहावसान (२६ जुलाई, १९८३ ई०) से परिषद्-परिवार को हार्दिक कष्ट हुआ है। उनके निधन से विहार और पूरे देश ने एक अच्छा नागरिक और सच्चा देशभक्त खो दिया है !

पुण्यश्लोक **श्रीसत्यनारायण सिंहजी** कर्मठ, राष्ट्रवादी, मृदुभाषी और सुयोग्य राजनेता थे। उनकी गणना गान्धीवादी कुशल प्रशासकों मे होती थी। स्व० सिंहजी उनलोगों में थे, जिन्होंने अपना संसदीय जीवन पुरानी केन्द्रीय असेम्बली से प्रारम्भ किया और उसके बाद संविधान-सभा तथा लोकसभा में सक्रिय भाग लिया।

आज से पचास वर्ष पहले **श्रीसत्यनारायण सिंहजी** केन्द्रीय विधान-सभा के युवा सदस्यो मे अतिशय समादृत थे और **पं० मोतीलाल** नेहरू, **पं० जवाहरलाल नेहरू** एवं **श्रीमती इन्दिरा** गान्धी तीनों के परम विश्वासपात्र थे। निश्चय ही, राष्ट्र और समाज की सेवा को समर्पित **श्रीसत्यनारायण सिंहजी** जैसा लोकप्रिय व्यक्तित्व आज अतिशय विरल हो गया है।

श्रीसत्यनारायण सिंहजी साहित्य, संस्कृति एवं कला के उपासकों और अनुरागियों में अन्यतम थे। उनका वैयक्तिक जीवन उनकी अपनी कला-चेतना का रमणीय प्रतिरूप था। वह 'रामचरितमानस' के मर्मज्ञ थे तथा साहित्य और संस्कृति के समुत्थान के लिए सतत सचेष्ट रहते थे। उन्होंने, सन् १९६५ ई० मे आयोजित बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के १४वे वार्षिकोत्सव का सभापतित्व करके परिषद् को गौरवान्वित किया था। उनके अवसान से हिन्दी-जगत् अपने एक महान् शुभानुध्यायी से सदा के लिए वंचित हो गया। परिषद् तो इसे अपनी अपूरणीय वैयक्तिक क्षति मानती है !

परिषद्-परिवार उक्त तीनों दिवंगत महानुभावो की निर्मल आत्माओ के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा निवेदित करता है, साथ ही उनके शोकतप्त परिवार के धैर्य के लिए परमपिता से सविनय प्रार्थना करता है !

(पं०) रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

●

परिषद् के अभिनव गौरव-ग्रन्थ

●

१. तान्त्रिक वाङमय में शाक्तदृष्टि (द्वि० सं०) : म०म० पं० गोपीनाथ कविराज १६.००
२. तन्त्र तथा आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन : ले० : म० म० पं० गोपीनाथ कविराज : अनु० : पं० हंसकुमार तिवारी १३.५०
३. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त : लेखक-अनुवादक : उपरिवत् २३.००
४. स्वसंवेदन : लेखक-अनुवादक : उपरिवत् ४० ००
५. रहीम-साहित्य की भूमिका : डॉ० बमबम सिंह 'नीलकमल' ३० ००
६. काव्य में अभिव्यंजनावाद : डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु १२ ००
७. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त : उपरिवत् १३.००
८. नाटक और रंगमंच डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ३५.००
९. उर्दू-कविता पर एक दृष्टि (प्रथम खण्ड) . ले० : प्रो० कलीमुद्दीन अहमद : अनु० : प्रो० रामप्रसाद लाल २०.००
१०. पहेली-कोश . सं० : पं० विक्रमादित्य मिश्र २०.००
११. एलिफैण्टा : श्रीहरिनन्दन ठाकुर २१.५०
१२. लीलारसतरंगिणी : सं० : डॉ० परमानन्द पाण्डेय ४५.००
१३. भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास . डॉ० रामजी पाण्डेय ५०.००
१४. साहित्य-सिद्धान्त (द्वि० सं०) : डॉ० रामअवध द्विवेदी २५.००

●

परिषद् के आगामी प्रकाशन (यन्त्रस्थ)

१. भोजपुरी-भाषा और साहित्य (द्वि० सं०) · डॉ० उदयनारायण तिवारी
२. चित्रकाव्य : सैद्धान्तिक विवेचन एवं ऐतिहासिक विकास : डॉ० रामदीन मिश्र
३. मैथिली-संस्कार-गीत : स० · श्रीराधावल्लभ शर्मा
४. कीर्त्तिलता : सं० : डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव
५. आधुनिक हिन्दी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका : डॉ० धीरेन्द्रनाथ सिंह
६ हिन्दी-साहित्य और बिहार (ख० ४) : सं० : डॉ० बजरंग वर्मा : श्रीकामेश्वर शर्मा 'नयन'
७. उर्दू-कविता पर एक दृष्टि (द्वि० खण्ड) : ले० : प्रो० कलीमुद्दीन अहमद अनु० : प्रो० रामप्रसाद लाल
८. उपन्यास की भाषा : डॉ० जगदीशनारायण चौबे
९. भारतीय प्रतीक-विद्या (द्वि० स०) : डॉ० जनार्दन मिश्र
१०. काव्यालंकार (से हिन्दी-भाष्य-सहित : द्वि० सं०) : भाष्यकार : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा

●

प्राप्तिस्थान :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

●

परिषद् के प्रगतिशील चरण : मनीषियों के आशंसन

- परिषद् राष्ट्रभाषा के स्तरीय प्रकाशन के क्षेत्र में, शासकीय सीमा में अग्रणी रही है। उसी की देखादेखी उत्तरप्रदेश मे 'हिन्दी-समिति' की स्थापना हुई और परिनिष्ठित ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। मैं सर्वतोभावेन परिषद् की सफलता का अभिलाषी हूँ।

  ☐ **आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र**

- भारतीय भाषा, साहित्य, सस्कृति एवं इतिहास पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थो से मै पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ। सभी भारतीय साहित्यिक शोध-सस्थानो मे परिषद् अग्रगण्य है।

  ☐ **डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या**

- परिषद् ने विगत पच्चीस वर्षों मे हिन्दी-जगत् की और उसके माध्यम से समस्त भारतीय वाङ्मय तथा भारतीय संस्कृति, दर्शन आदि की जो सेवा की है, उसे शब्दों मे आँकना बहुत कठिन है। **भाई शिवपूजन सहायजी** ऐसा स्वप्न बराबर देखते थे। परिषद् ने इस स्वप्न को साकार किया और एक-से-एक अमूल्य ग्रन्थ विद्वत्समाज को भेंट किये। वह परम्परा उज्ज्वल हो रही है और परिषद् का भविष्य स्वर्णिम है।

  ☐ **श्रीरायकृष्णदास**

- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-साहित्य को अनेक मूल्यवान् ग्रन्थों से समृद्ध किया है। हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करनेवाली संस्थाओ में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। अनेक रूपों मे हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार इससे सम्बद्ध रहे है। **स्व० आचार्य शिवपूजन सहायजी** जैसे मनीषी ने बडी सावधानी से इस पौधे को लगाया था। उनका आशीर्वाद सदा इसके साथ रहा हैं।

  ☐ **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी**

- परिषद् ने जो अबतक राष्ट्रभाषा की उत्तरोत्तर प्रगति मे उल्लेखनीय योगदान किया है, वह किसी से छिपा नही है और इसकी सभी सराहना करते है।

  ☐ **आचार्य परशुराम चतुर्वेदी**

- मेरी तो धारणा है, समस्त भारत मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का महत्त्व सर्वोपरि है; क्योंकि इसके द्वारा जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन हुआ है, वैसा अन्य किसी परिषद् द्वारा सम्भव नही हो सका। मै इसे देश की सर्वोत्कृष्ट शोध-संस्था मानता हूँ।

  ☐ **डॉ० रामकुमार वर्मा**

- 'एक राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, एक हृदय हो भारतजननी'—इस उक्ति को सार्थक बनाये रखने का, भारत की सरकारी एवं स्वायत्त संस्थाएँ प्रयत्न कर रही हैं। इस प्रयत्न में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्तुत्य सेवा सर्वाधिक है।

  ☐ **श्री टी० के० कृष्णस्वामी**

प्रकाशक : **बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-४**
मुद्रक : **रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, लंगरटोली, पटना-८००००४**

परिषद्-पत्रिका

...

'परिषद्-पत्रिका'-नियमावली

१. 'परिषद्-पत्रिका' में केवल उच्च कोटि के गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों, परिषद्-प्रकाशनों के समीक्षात्मक निबन्धों, सम्पादकीय टिप्पणियों, अन्य प्रकाशनों की समीक्षाओं, परिषद् के शोधकार्यों की प्रगति, 'परिषद्-पत्रिका' अथवा अन्य पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित निबन्धों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय, साहित्यिक गतिविधियों आदि का प्रकाशन हुआ करेगा। 'परिषद्-पत्रिका' मे कविता, कहानी नाटक आदि का प्रकाशन नही होगा। परिषद्-प्रकाशनों के विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य प्रकाशन-संस्थाओ के विज्ञापन भी पत्रिका मे प्रकाशित होंगे।

२. गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबन्धों पर ही यथानिर्दिष्ट दर से अधिकतम ५०.०० रु० तक ही साम्मानिक दिया जा सकेगा : निबन्ध के मुद्रित प्रथम तीन पृष्ठों के लिए १०.०० रु० प्रतिपृष्ठ और शेष मुद्रित पृष्ठों के लिए ५.०० रु० प्रतिपृष्ठ की दर से साम्मानिक दिया जायगा। परन्तु, निदेशक को यह अधिकार होगा कि लेखक-विशेष की कृति और व्यक्तित्व को दृष्टि मे रखकर कम पृष्ठ रहने पर भी ५०.०० रु० तक साम्मानिक दे सकेंगे।

३. सभी तरह की रचनाएँ स्वतः पूर्ण एवं उत्तम कोटि की होने पर ही स्वीकृत हो सकेंगी।

४. निबन्धों के सम्पादन में काट-छाँट, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि का अधिकार सम्पादक के अधीन सुरक्षित रहेगा।

उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

●

त्रैमासिक 'परिषद्-पत्रिका'

कतिपय महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय विशेषांक, जो अपने-आप में शोध-सन्दर्भ हैं :

१. नलिन-स्मृति-अंक : वर्ष १ : अंक ४ (जनवरी, १९६२ ई०) : १.५०
२. आचार्य शिवपूजनसहाय-स्मृति-तीर्थ : वर्ष ३ : अंक २ (जुलाई, १९६३ ई०) : १.५०
३. भाषा-सर्वेक्षणांक : वर्ष ८ : अंक ३-४ (अक्टू० '६८—जन० '६९ ई०) : ४.००
४. म० म० गोपीनाथ कविराज-स्मृति-तीर्थ : वर्ष १८ : अंक २ (जुलाई, '७८ ई०) : २.५०
५. जगदीशचन्द्र माथुर-स्मृति-परिशिष्ट : वर्ष १८ : अंक ४ (जन० '७९ ई०) : २.५०
६. राजर्षि जन्मशती-विशेषांक : वर्ष २२ : अंक १ (अप्रैल, १९८२ ई०) : ५.५०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग

पटना-८००००४

●

परिषद्-पत्रिका
[शोध-त्रैमासिक]

[९१]

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय : पं० रामदयाल पाण्डेय

डॉ० कुमार विमल

●

सम्पादक

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

●

विषय-प्रस्तुति

'परिषद्-पत्रिका' मे प्रकाशित निबन्धो में प्रतिपादित विचारों और तथ्यों का उत्तरदायित्व निबन्ध-लेखकों का है, सम्पादक का नही ।—सं०

―
परिषद्-पत्रिका
[शोध-त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ॥—भारतेन्दु

वर्ष : २३
अंक : ३
आश्विन, विक्रमाब्द २०४०; शकाब्द १९०५; अक्टूबर, १९८३ ई०
वार्षिक : २५.००
एक प्रति : ७.००

अतीत-दर्शन

शास्त्रार्थ : सन्मार्ग के अन्वेषण का माध्यम

"आजकल राजनैतिक विषयो मे वाद-प्रतिवाद बड़े जोर-शोर से होते हैं। हर एक नेता अपना मत न माननेवालो को समझाता है, युक्ति से दबाता है, फटकारता भी है। ऐसे वादों में शिष्ट मर्यादा का अतिक्रमण भी बहुधा होता है, किन्तु धार्मिक शास्त्रार्थों से घृणा करनेवाले सज्जन ही उसे जीवन का चिह्न मानते हैं। उसकी अत्यन्त आवश्यकता बताते हैं।...जिस वस्तु को जो प्रयोजनीय समझता है, उसके सम्बन्ध में शास्त्रार्थ करना भी वह उचित मानता है। राजनैतिक लोग राजनीति मे और साहित्यसेवी साहित्य में शास्त्रार्थ उचित समझते हैं। संस्कृत-विद्या के व्याकरण, न्याय आदि जिन दिनों प्रयोजनीय समझे जाते थे, उन दिनो उनमे शस्त्रार्थ का खूब रिवाज था। आजकल धर्म बेचारे को बहुत-से लोग निकम्मा समझते हैं, वे ही धर्म-विचार और धार्मिक शास्त्रार्थों की निन्दा करते हैं। और विषयो मे विचार या शास्त्रार्थ करते रहने पर भी धार्मिक शास्त्रार्थों की निन्दा करना स्पष्ट धार्मिक दुर्बलता है। विश्वास का बहाना-मात्र है। धर्म को व्यर्थ वस्तु समझनेवाले महोदय धार्मिक शास्त्रार्थों की निन्दा करते हैं, या जो अपने मन्तव्यों की सचाई स्पष्ट जानते है, वे शास्त्रार्थों से घृणा के बहाने बचना चाहते है। सन्मार्ग के अन्वेषण की यदि आवश्यकता है, तो शास्त्रार्थ अवश्य होने चाहिए। हाँ, विचार-रूप शास्त्रार्थ होने चाहिए, द्वेषमूलक या दम्भमूलक कदापि नही।"

△ पं० चतुर्वेदीजी की कृति 'आत्मकथा और संस्मरण' (प्र० : शरद प्रकाशन, अस्सी वाराणसी, सन् १९६७ ई०) से आकलित

△ म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी [आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की व्यक्तिपरक आलोचना-शैली के प्रतिकार के निमित्त लिखित प्रसंग से उद्धृत]

स्मृति-तर्पण :

समादृत सौन्दर्यशास्त्री डॉ० रामलखन शुक्ल

प्रतापगंज, बड़ौदा (गुजरात)-निवासी प्राध्यापक **श्रीरामनाथ शर्मा** ने सूचित किया है कि हिन्दी-जगत् के समादृत सौन्दर्यशास्त्री डॉ० **रामलखन शुक्ल** ने विगत ९ मई (सन् १९८३ ई०) को; बड़ौदा मे, कुल इक्यावन वर्ष की उम्र (जन्म : २ मई, १९३२ ई०) मे, हृद्‌गति रुक जाने के कारण, असमय और अकस्मात् अपनी इहलीला समेट ली ! ज्ञातव्य है, डॉ० शुक्ल 'परिषद्-पत्रिका' के मनीषी लेखकों मे धुरिकीर्त्तनीय थे । निश्चय ही, उनकी, साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र से सम्बद्ध महार्घ रचनाओ से पत्रिका सातिशय गौरवान्वित होती थी और इसके प्रबुद्ध पाठक उन रचनाओ मे निहित तद्विषयक शोध-तथ्यो का अध्ययन कर ततोऽधिक लाभान्वित होते थे । प्रबल मनस्ताप का विषय है कि डॉ० शुक्ल के अप्रत्याशित लोकान्तरण से 'परिषद्-पत्रिका' के पृष्ठ उनकी शास्त्रसिक्त लेखनी के लालित्य से सदा के लिए वंचित हो गई !

डॉ० शुक्ल के अनुजकल्प मित्र **श्रीरामनाथ शर्मा** ने उनका जो संक्षिप्त परिचय प्रेषित किया है, उसमें पुण्यश्लोक शुक्लजी के जीवन के कतिपय ध्यातव्य अन्तरंग और वहिरंग आयामों की ओर संकेत किया गया है, जिनसे शुक्लजी का, महान् सारस्वत उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील निरभिमान आदर्श व्यक्तित्व साकार होता है । डॉ० शुक्ल ने वाराणसी (उत्तरप्रदेश) के बड़ागाँव (जंगीगंज) में जन्म ग्रहण किया था । उनकी शिक्षा अलीगढ़ मुस्लिम-विश्वविद्यालय और काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में हुई थी । उन्होने सरदार-पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभविद्यानगर (आनन्द : गुजरात) से पीएच्० डी० की और जबलपुर-विश्वविद्यालय (मध्यप्रदेश) से डी० लिट्० की उपाधियाँ आयत्त की थी । वह संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, उर्दू और अँगरेजी-भाषाओं के ज्ञाता थे । उनकी शोध-महार्घ रचनाएँ भारत की उच्चतर पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित हुई है । उनके अध्ययन के विषयों में साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र की प्रमुखता रही । उनके एतद्विषयक मूल्यवान् ग्रन्थो मे 'साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन' (पीएच्० डी० शोध-प्रबन्ध), 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएँ' (डी० लिट्० शोध-प्रबन्ध), 'भारतीय साहित्य के सिद्धान्त', 'औचित्य-सिद्धान्त', 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का काव्यशास्त्रीय रूप', 'शब्दशक्ति-विवेचन', 'भारतीय काव्य-समीक्षा में औचित्य-सिद्धान्त' आदि का सान्दर्भिक महत्त्व है । उन्होंने 'प्रणय-पथ', महेन्द्रादित्य' और 'विक्रमादित्य' नाम की तीन औपन्यासिक कृतियों का भी प्रणयन किया है ।

प्रौढप्रज्ञ डॉ० शुक्ल उपस्थितशास्त्र एवं छात्रप्रिय हिन्दी-प्राध्यापकों की गौरवमयी परम्परा मे पांक्तेय थे। उन्होंने गुजरात कॉलेज, अहमदाबाद तथा शासकीय कॉलेज, दमन एव दीव मे विचक्षणतापूर्वक अध्यापन-कार्य करने के बाद बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव-विश्वविद्यालय मे रीडर के पद पर मृत्युपर्यन्त प्रतिष्ठित रहे। वह सूरत के दक्षिण गुजरात-विश्वविद्यालय की हिन्दी-अभ्यास-समिति के अध्यक्ष थे। ज्योतिर्विद्या मे भी उनकी पैठ बड़ी गहरी थी।

विद्वत्प्रतिष्ठ डॉ० शुक्ल का आत्मोन्मुख सारस्वत व्यक्तित्व जितना ऊर्जस्वल था, पार्थिव व्यक्तित्व उतना ही तेजोदीप्त। विनम्र, स्वाभिमानी और विनोदमुखर शुक्लजी स्पष्टवादी और आदर्शवादी साहित्यिक पुरुष थे। सत्य के प्रति आग्रह और असत्य के प्रति औदासीन्य उनका सहज संस्कार था और आतिथेयता सहज गुण। उनके अवसान के तेईस वर्ष पहले ही, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मनभावती शुक्ल का असामयिक अवसान हो गया था। निन्दास्तुतिनिरपेक्ष, त्यागपरायण और आत्माराम शुक्लजी के एकाकी विधुर जीवन का सम्पूर्ण समय अध्ययन-अध्यापन और साहित्य-साधना को ही समर्पित था।

वैचारिक आन्वीक्षिकी से संवलित डॉ० शुक्ल ने साहित्य-चिन्तन की दिशा मे मनीषामुखर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की पाण्डित्य-परम्परा को विकसित किया था। आचार्य शुक्ल की ही भाँति उनके साधारणीकरण और सौन्दर्यशास्त्र-विषयक आचार्यकल्प अभिनव चिन्तन का भी साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे कोशशिलात्मक मूल्य है। एक सामान्य किसान-परिवार मे जन्म लेकर हिन्दी के अग्रगण्य मनीषियो मे अपनी कूटस्थता स्थापित करने मे उन्होंने जो अनवरत संघर्ष किया, वह साहित्य-पथ के भावी यात्रियों के लिए अनुकरणीय आदर्श है।

निश्चय ही, डॉ० शुक्ल के लोकान्तरण के समग्र हिन्दी-साहित्य और विश्वविद्यालय-जगत् के शास्त्रपूत प्राध्यापक-वर्ग मे जो रिक्तता आई है, वह अपूरणीय है। 'परिषद्-पत्रिका'-परिवार की ओर से दिवंगत शुक्लजी की मेधामहिम आत्मा के प्रति आन्तरिक श्रद्धा विनिवेदित है! 'मधु द्यौरस्तु!'

△ सूरिदेव

o

संस्कृत-वाङ्मय के गौण कवि और प्रमुख कवियों की गौण रचनाएँ

किसी भी भाषा-वाङ्मय का निर्माण उसके रचनाकारो द्वारा होता है। इनमे कुछ रचनाकार गौण होते है और कुछ प्रमुख। ऐसी स्थिति मे किसी भी भाषा-वाङ्मय के अध्ययन की समग्रता उसके गौण और प्रमुख रचनाकारो की सम्पूर्ण रचनाओ से ही सम्भव है। किन्तु, आधुनिक शोध-जगत् मे, प्रमुख रचनाकारो के जीवन और उनकी बहुश्रुत रचनाओ के शोध और विवेचन पर जितना आग्रह प्रदर्शित किया जाता है, उतना गौण रचनाकारो और उनकी अल्पश्रुत रचनाओ पर नही। इसीलिए, आधुनिक शोधकार्य सर्वांग न

होकर एकाग ही रह जाता है। हालाँकि, इधर हिन्दी-जगत् मे हिन्दी के गौण रचनाकारो की रचना-प्रक्रिया और जीवन-पद्धति पर शोध की न्यूनाधिक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, किन्तु संस्कृत-वाङमय के गौण रचनाकारों के सम्बन्ध मे शोध की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव दृष्टिगत होता है। ज्ञातव्य है कि संस्कृत-वाङमय मे अनेक ऐसे गौण रचनाकार है, जिनकी रचना-प्रतिभा किसी भी प्रमुख संस्कृत-रचनाकार से कम नही है। इसलिए, उनके सम्बन्ध में भी शोधालोचन का अपेक्षित आग्रह संस्कृत-शोधकर्त्ताओं के लिए नितान्त वाछित है। संस्कृत के ऐसे गौण रचनाकारो मे **चन्द्रक, परिमल, दीपक, धर्मकीर्त्ति, मालवरुद्र, कार्पटिक, श्यामलक, राजपुत्र मुक्तापीड, गौड कुम्भकार, उत्पलराज, महेन्द्रराज, भट्टलट्टन, भट्टमल्लट, मालव-कुवलय, परिव्राजक, उपाध्याय गंगक** आदि अनेक कवि उल्लेखनीय है, जिनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर शोध-अध्ययन साग्रह अपेक्षित है।

इसी प्रकार, संस्कृत के **कालिदास, भास, भवभूति, श्रीहर्ष, राजशेखर, क्षेमेन्द्र** आदि प्रमुख रचनाकारो की गौण कृतियो पर अनुसन्धाताओं का ध्यान प्रायः आकृष्ट नही होता। उदाहरण के लिए, संस्कृत के प्रसिद्ध युगचेता कूटस्थ कवि एवं कश्मीरनरेश **अनन्त** के महामात्य **क्षेमेन्द्र** (११वीं शती) को रखा जा सकता है। वह अपने युग के अशिष्ट और अशान्त वातावरण से इतने क्षुब्ध, आकृष्ट और मर्माहत थे कि उसे उन्होंने शिष्ट और शान्त बनाने के लिए, अविराम भाव से अपनी लेखनी को काव्य की विभिन्न विधाओं की रचना मे लगाया। इसी का रुचिर परिणाम उनका विशाल साहित्य है। **महर्षि वेदव्यास** के आदर्श पर रचना करनेवाले वह महाकवि न केवल नाम से, अपितु यथार्थतः **'व्यासदास'** थे। किन्तु, सम्प्रति, **क्षेमेन्द्र** की प्रमुख कृतियो मे 'बृहत्कथामंजरी', बोधिसत्त्वावदानकल्पलता', 'कविकण्ठाभरण', 'सुवृत्ततिलक' एवं 'औचित्यविचारचर्चा' जितनी चर्चित है, उतनी उनकी शेष अट्ठाईस गौण कृतियो पर कदाचित् ही चर्चा होती है। क्षेमेन्द्र की, काव्यकला की दृष्टि से अतिशय उत्कृष्ट गौण कृतियाँ इस प्रकार है :

१. अमृततरंगकाव्य, २. अवसरसार, ३. कनकजानकी, ४. कविविलास, ५. चतुर्वर्गसंग्रह, ६. नर्ममाला, ७. चारुचर्या, ८. चित्रभरतनाटक, ९. दर्पदलन, १०. दशावतारचरित, ११. देशोपदेश, १२. नीतिकल्पतरु, १३. नीतिलता, १४. पद्यकादम्बरी, १५. भारतमजरी, १६. मुक्तावली, १७. मुनिमतमीमांसा, १८. रामायणमंजरी, १९. ललितरत्नमाला, २०. लावण्यवती, २१. वात्स्यायनसूत्रसार, २२. विनयवल्ली, २३. व्यासाष्टक, २४. शशिवंशमहाकाव्य, २५. समयमातृका, २६. सेव्यसेवकोपदेश, २७. पवनपंचाशिका एवं २८. कविकर्णिका।

कहना न होगा कि क्षेमेन्द्र के ये सभी ग्रन्थ संस्कृत-वाङमय की अमूल्य धरोहर हैं और तद्युगीन लोकजीवन के सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से अपना ततोऽधिक महत्त्व रखते है। विद्वत्प्रवर **पं० मदनमोहन झा** ने 'औचित्यविचारचर्चा' के स्व-सम्पादित

संस्करण की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका मे लिखा है कि क्षेमेन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी लेखनी से जिस तरह अलंकारशास्त्र के उत्तमोत्तम ग्रन्थो की रचना हुई, उसी तरह अनेक महाकाव्य और खण्डकाव्य भी रचे गये। उनके ग्रन्थों में विभिन्न रसो के अनुपम पद्य प्राप्त होते है। उनकी नीतिमय कविताओ का साम्राज्य देखते ही बनता है। हास्यरस के तो संस्कृत-साहित्य मे एकमात्र प्रतिनिधि कवि क्षेमेन्द्र ही है। उनकी 'देशोपदेश' तथा 'नर्ममाला' कृतियों मे ऐसी मधुर मनोरंजक कथाएँ है, जिनमें हास्य के व्याज से प्रभावक उपदेश उपन्यस्त किये गये हैं। क्षेमेन्द्र की कृतियो का मूल स्वर है—तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक विसंगतियो का निराकरण और जनता के चरित्र का सुधार। क्षेमेन्द्र की मान्यता है कि हास्य के द्वारा प्रस्तुत की गई युक्तियाँ श्रोताओ के मर्म को विद्ध कर उन्हे दोषमुक्त होने की प्रेरणा देती हैं। छात्रों और राज्याधिकारियो पर मीठी चुटकियों का आस्वाद लेने की दृष्टि से उनके 'देशोपदेश' और 'नर्ममाला' ग्रन्थो की प्रासंगिकता आज भी यथावत् अक्षुण्ण है।

इस प्रकार, अनेकानेक प्रमुख संस्कृत-रचनाकारो की, काव्यगरिमा से मण्डित गौण कृतियो के शोध-अध्ययन से ऐसे सारस्वत वातायन उद्घाटित हो सकते है, जिनसे भारतीय सांस्कृतिक उत्कर्ष के अनेक हृदयहारी दृश्य सुलभ सम्भव है।

△ सूरिदेव

o

भोजपुरी-हिन्दी-कोश : आदर्श द्वैभाषिक जनभाषा-कोश

संस्कृत में एक सूक्ति है : **'बधिरः कोशवर्जित.।'** अर्थात्, कोश से अनभिज्ञ व्यक्ति बहरा होता है, यानी उसके पास शब्दो के ज्ञान का अभाव होता है, इसलिए वह दूसरों के द्वारा प्रयुक्त शब्दो को, उनके अर्थ न जानने के कारण, सुनकर भी वधिरवत् न सुन पाने की स्थिति मे रहता है। अतएव, विभिन्न शब्दो और उनके अर्थो की अभिज्ञता के लिए कोश का अध्ययन अपेक्षित है।

भाषाशास्त्र के प्रति विद्वानो की अभिरुचि ज्यो-ज्यो बढ़ती गई, कोशनिर्माण-प्रक्रिया में भी वैविध्य और विस्तार होता गया। अधुना, व्यक्तिगत और संस्थागत रूप से कोश-निर्माण का कार्य बहुत ही व्यापक स्तर पर हो रहा है; विशेषकर द्वैभाषिक, त्रैभाषिक और चातुर्भाषिक कोशो की रचना पर अधिक बल दिया जा रहा है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक सुविकसित भाषावैज्ञानिक युग मे भी कोश-निर्माण के अभाव की पूर्ति की अपेक्षा बनी हुई है। हालाँकि, कतिपय शोध-संस्थाएँ और शोधरुचि सुधीजन इस दिशा मे निरन्तर प्रयत्नशील हैं।

द्वैभाषिक कोशो के रचना-बाहुल्य की दृष्टि से कोहिमा-स्थित नागालैण्ड-भाषा-परिषद् का कार्य उल्लेखनीय है। इस परिषद् के मनस्वी एवं मनीषी मन्त्री **प्रो० व्रजविहारी कुमार** के सतर्क सम्पादन मे पूर्वोत्तर भारत की अनेक ज्ञाताज्ञात जनभाषाओं के विभिन्न द्वैभाषिक कोशो की रचना हुई है और वे भारत-सरकार के शिक्षा एव समाजकल्याण-

न्त्रालय के आंशिक अर्थ-साहाय्य से प्रकाशित होकर हिन्दी-भाण्डार के लिए पर्याप्त समृद्धिकर सिद्ध हुए है। इस प्रकार के कोशो की महत्ता और उनकी उपादेयता 'परिषद्-पत्रिका' में समय-समय (इस अंक मे भी पृ० सं० १६९ द्रष्टव्य) कीर्त्तित होती रही है। बहुभाषाविद् कोशनिर्माता **प्रो० व्रजविहारी कुमार** पूर्वोत्तर भारत की जनभाषाओं के अतिरिक्त उत्तर भारत की बहुप्रथित जनभाषा भोजपुरी के भी मर्मज्ञ है; क्योंकि भोजपुरी उनके अपने घर की बोलचाल की भाषा है। इसीलिए, भोजपुरी के शब्द-वैभव से हिन्दी-जगत् को परिचित कराने का उनका सारस्वत प्रयास स्वाभाविक और उचित है।

इस प्रयास की पूर्त्ति के लिए ही **प्रो० कुमार** ने 'भोजपुरी-हिन्दी-कोश' का निर्माण किया है, जिसका प्रकाशन (सन् १९७८ ई०; मूल्य पच्चीस रुपये) भोजपुरी-ससद् (जगतगंज, वाराणसी) ने किया है और संशोधन हिन्दी और भोजपुरी-भाषा के बहुश्रुत विद्वान् **डॉ० विवेकी राय** और **डॉ० विजयनारायण सिंह** ने किया है। यद्यपि, यह भोजपुरी-कोश (कुल पृ० सं० २१६) बृहत्काय नही है, तथापि इसे, भोजपुरी-संसद् के कार्यकारी अध्यक्ष **श्रीईश्वरचन्द्र सिन्हा** के प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार, भोजपुरी का प्रथम प्रामाणिक शब्दकोश होने का ऐतिहासिक गौरव प्राप्त है। हालाँकि, यह कोश वास्तव मे कोशनिर्माण की दिशा मे केवल एक शुभारम्भ है, जो हिन्दी और भोजपुरी के कोशमर्मज्ञ प्रेमियो को सम्पूर्ण बृहत् कोश तैयार करने की प्रेरणा देगा।

इस कोश में लगभग एक हजार भोजपुरी के शब्द हिन्दी-अर्थ-सहित संकलित हैं। कोशकार की ओर से प्रारम्भ मे उपन्यस्त भूमिका भोजपुरी के भाषाशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी है। मुद्रण-प्रविधि की दृष्टि से यदि भोजपुरी-शब्दो के अक्षर हिन्दी-अर्थ के अक्षरों से भिन्न होते, तो मूल भोजपुरी-शब्दो को पकड़ने में कोश-अध्येताओं को अधिक सुविधा होती। सम्भव है, इस कोश के मुद्रक भोजपुरी प्रेस के मुद्रण-उपकरणों की अपनी सीमा होगी। जो हो, प्राय निर्दोष मुद्रण और सामान्य आवरण से सवलित एवं कोश-जगत् के लिए अपना स्वतन्त्र अभिज्ञान उपन्यस्त करनेवाली यह कृति हिन्दी-संसर्ग के कारण भोजपुरी को सीमान्त-पारगामिनी प्रतिष्ठा देनेवाली सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

△ **सूरिदेव**

o

'सूर-साहित्य-सन्दर्भ-कोश' अनुकरणीय तात्त्विक शोधकार्य

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित होनेवाली स्वनामधन्य शोध-त्रैमासिकी 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' ने शोधालोचन के नये आयामों और विभिन्न मानदण्डो के दिशा-निर्देशन द्वारा शोधेतिहास के क्षेत्र मे कोशशिलात्मक महत्त्व आयत्त किया है। इसीलिए, यह शोध-पत्रिका हिन्दी के अनुसन्धान-जगत् मे नवीन और प्राचीन साहित्यिक स्थापनाओं की जानकारी के निमित्त अनिवार्य तो है ही, गम्भीर चिन्तन और विशद मौलिक वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से भी, इसकी आवश्यकता स्वीकार्य है। यही कारण है कि शोध-

गवेषणा के क्षेत्र मे सन्दर्भ या आधारोपजीव्य के रूप मे, इस धुरिकीर्त्तनीय पत्रिका की भूयोभूय आवृत्ति होती आ रही है।

हिन्दी में शोधकार्य की प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाली यह शोध-त्रैमासिकी, सम्प्रति, अपने गरिमापूर्ण जीवन के नवे दशक को पूरा कर रही है। इसके महनीय विशेषाकों ने भाषा, साहित्य और कला-सस्कृति के क्षेत्र मे अपना अभिनव शोध-अभिज्ञान तो उपस्थापित किया ही है, इसका प्रत्येक अंक भी साहित्य-विवेचना की दृष्टि से विशिष्ट ही होता है। इस परिप्रेक्ष्य मे, प्रस्तुत पत्रिका के वर्ष ८४-८६ (सवत् २०३६-२०३८ वि०) के समस्ताक (मूल्य · तीस रुपये) का उल्लेखनीय महत्त्व है। इसमे समाकलित शोध-महार्घ सामग्री मे अधिकतर सूर-काव्य का ही अन्तरंग अध्ययन आधिकारिक लेखनियो द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है, जिसमें हिन्दी के मनीषी प्राध्यापक **डॉ० राजनारायण राय** द्वारा 'सूर-साहित्य-सन्दर्भ-कोश' शीर्षक से कुल आठ खण्डो मे प्रस्तुत लगभग सौ पृष्ठो का शोध-संकलन, निश्चय ही, श्रमसाध्य, अथच श्लाघ्य एवं अनुकरणीय सारस्वत प्रयास के रूप मे विन्यस्त है।

इस शोध-सकलन के **प्रथम खण्ड** मे, सूरदास की कृतियो का विशद विवरण है, **द्वितीय खण्ड** मे, सूर-सम्बन्धी मुद्रित शोध-प्रबन्धों की सूची है, **तृतीय खण्ड** मे, सूर-काव्य के,समीक्षात्मक ग्रन्थो तथा साहित्य-संकलनो की सूची उपन्यस्त हुई है, **चतुर्थ खण्ड** मे, प्रासगिक रूप से, क्रमश., भक्तिकालीन साहित्य से सम्बद्ध प्रकाशित शोध-प्रबन्धों एवं शोध-निबन्धो की विवरणी है, **पंचम खण्ड** में, सूर के 'भ्रमरगीत' पर लिखे गये टीकाग्रन्थों की सूची है, **षष्ठ खण्ड** मे, विभिन्न भारतीय तथा भारतीयेतर विश्वविद्यालयो मे सम्पन्न सूर-सम्बन्धी शोधकार्यों की सूची उपस्थापित की गई है, **सप्तम खण्ड** मे, आँग्ल-ग्रन्थों मे प्राप्य सूर-सामग्री संकेतित हुई है और **अष्टम खण्ड** में, पहले, पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित सूर-विषयक निबन्धो की सूची है, उसके बाद क्रमश सूर-सम्बन्धी पदसंग्रहों, आलोचनात्मक शोध-प्रबन्धो एवं अन्य ग्रन्थो, पुन. विशेषाक-कल्प पत्रिकाओ और स्मारिकाओं तथा आँग्ल एवं फ्रेंच-भाषाओ के ग्रन्थो का विवरण है।

इस प्रकार, अधीती लेखक द्वारा प्रस्तुत सूर-साहित्य की वृहत् सन्दर्भ-सामग्री-सूची ('बिब्लियोग्राफी') तात्त्विक शोध ('फण्डामेण्टल रिसर्च') की दृष्टि से अतिशय मूल्यवान् है। इस सूचीकरण से शोधकर्त्ताओं के लिए सूर-साहित्य के शोध का विस्तृत आयाम हस्तामलक हो गया है। **डॉ० राय** यदि भक्तिकाल के अन्यान्य प्रमुख कवियों, जैसे **कबीर, तुलसी, जायसी, मीराँ** आदि के साहित्यो की भी सूची प्रस्तुत कर दे, तो हिन्दी-जगत् का, निस्सन्देह, अतिशय कल्याण हो। **डॉ० राय** अकुण्ठित भाव से सारस्वत श्रम करने की क्षमता से सम्पन्न है, इसलिए इनकी बीहड़ शोधयात्रा की सफलता के प्रति मै सहज ही आश्वस्त हूँ। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' अपनी इस गौरवमयी शोध-प्रस्तुति के लिए सातिशय धन्यवादार्ह है। △ **सूरिदेव**

●

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन : तीर्थंकल्प हिन्दी-संस्थान

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) हिन्दी का लोकप्रतिष्ठ तीर्थंकल्प संस्थान है, जिसकी आत्मा के साथ शलाकापुरुषोपम **राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डनजी** जैसे समर्पित हिन्दी-साधक की त्याग-तपस्या और निष्काम कर्मचेतना जुडी हुई है। आज से तीस-बत्तीस वर्ष पूर्व सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन अखिलभारतीय काँगरेस-अधिवेशन के समान राष्ट्रीय स्तर पर होते थे और स्वातन्त्र्य-संघर्ष मे सहज संलीन कर्मचेता राष्ट्रसेवी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार की गतिविधियों मे सक्रिय भाग लेने की दृष्टि से सम्मेलन के अधिवेशनों में सोत्साह सम्मिलित होते थे। यह परम्परा समाप्तप्राय हो गई थी। किन्तु, गत १, २ और ३ जुलाई (सन् १९८३ ई०) को कुरुक्षेत्र (हरियाना) मे सम्पन्न सम्मेलन के त्रिदिवसीय ४१वें अधिवेशन ने उस परम्परा को पुनर्जीवित कर हिन्दी-भाषा और साहित्य के बहुकोणीय अभ्युदय के निमित्त समस्त राष्ट्रीय शक्तियों का आह्वान किया है। इस अधिवेशन मे लगभग पाँच सौ प्रतिनिधियों, स्थायी समिति के सदस्यों मान्य राष्ट्रकर्मी राजनेताओ और हजारो हिन्दीप्रेमियों ने भाग लिया।

प्रथम दिन, १ जुलाई को, सम्मेलन के, उक्त अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध एव विद्यावयोवृद्ध हिन्दी-हितचिन्तक **श्रीगंगाशरण सिंह** ने हिन्दी को समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त नही होने के कारण हार्दिक खेद प्रकट किया और उद्वेलित स्वर में उन्होंने कहा कि यह नितान्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तीन दशकों से भी अधिक समय बीतने के बाद भी हिन्दी को उचित स्थान पाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है! इसी प्रकार, अपने अध्यक्षीय भाषण मे प्रख्यात हिन्दीमनीषी **डॉ० हरवंशलाल शर्मा** ने भी वर्त्तमान मानव-मूल्यों के ह्रास के प्रति आन्तरिक चिन्ता व्यक्त की और विषादपूर्ण, किन्तु आस्थावादी स्वर मे कहा कि मानव-मूल्यों के अवमूल्यन के सन्दर्भ में हमारा जो विषाद है, वह वास्तव में सास्कृतिक है, इसलिए हम निराश नही है। आवश्यकता इस बात की है कि हम साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे निष्ठा और आत्मविश्वास-पूर्वक सतत सर्जनारत रहें। सम्मेलन के कर्मवादी प्रधानमन्त्री **श्रीप्रभात शास्त्री** ने अपने वक्तव्य मे हिन्दी-विश्वविद्यालय (सम्मेलन द्वारा संचालित) की संघटन-सम्बन्धी समस्याओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला। साथ ही, सम्मेलन द्वारा अनुष्ठित हिन्दी-समुत्थान के विभिन्न कार्यक्रमों का विशद विवरण प्रस्तुत किया।

द्वितीय दिन, २ जुलाई को, खुले अधिवेशन मे कतिपय वरिष्ठ हिन्दीसेवियों को 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि से अलंकृत किया गया और इस प्रकार सम्मेलन ने प्र-वृद्ध हिन्दी-विद्वानों को उनका प्राप्य सारस्वत सम्मान देकर अपनी प्रश्रयपूर्ण अभिवादनशीलता और वृद्धोपसेविता का आदर्श परिचय उपस्थापित किया। उसी दिन, रात्रि मे नौ बजे से अखिलभारतीय स्तर का कवि-सम्मेलन आयोजित हुआ, जो ब्राह्म मुहूर्त्त तक अव्याबाध रूप से रसवर्षण करता रहा। किन्तु, यह ध्यातव्य है कि यथाप्रस्तुत कविताओं में युगबोध

[शेष पृ० १८६ पर

मधुसूदनसरस्वती की दृष्टि में भक्तिरस

●

डॉ० रामलखन शुक्ल*

रस की जो शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की गई है, उसमे नौ रसो की ही परिगणना हुई है : शृगार, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र, वीर, अद्भुत, करुण और शान्त। रस के आचार्यों ने भक्ति को भाव की संज्ञा दी है, जो भगवद्विपयक रति ही है और जिसका अन्तर्भाव रतिभाव मे हो जाता है। फलत, उन्होने भक्ति का रस-रूप मे विवेचन नही किया है। आचार्य रूपगोस्वामी ने और आचार्य मधुसूदनसरस्वती ने भक्ति का रस-रूप मे विवेचन किया है। रूपगोस्वामी कृष्ण-विषयक भक्ति को रस मानते है और अन्य देवता-विषयक रति को भाव। मधुसूदनसरस्वती ने भक्तिरस को 'नवरसमिलित' या 'परम-पुरुषार्थ'-रूप माना है। उन्होने भक्ति को रस ही माना है, भाव नही। अत., उनका आशय यह है कि भक्तिरस मे नवो रसो की अवस्थिति होती है। नवरसमिलित वह परम पुरुषार्थ-रूप होता है।

भक्त का मन यम, नियम आदि अष्टाग योगमार्ग, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग से भगवान् का स्मरण करता है। भक्तियोग से निरन्तर भजन करनेवाले भक्त के मन मे जव भगवान् स्थित हो जाते है, तव उसके सारे विषय-संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार, भक्त का सम्पूर्ण प्रेम भगवान् मे ही प्रतिष्ठित हो जाता है और भागवत आदि ग्रन्थो को श्रवण करते समय उसकी मनोवृत्ति भगवदाकार होकर द्रवीभूत हो जाती है। जव इस प्रकार की मनोवृत्ति हो जाती है, तव भाव, विभाव आदि के संयोग से भगवदाकारता-रूप रति नामक स्थायी भाव परमानन्द-साक्षात्कारात्मक रूप मे प्रादुर्भूत होता है। यही भक्तियोग है और इसे रसज्ञ परमपुरुपार्थ-रूप मानते हैं।[1]

आचार्य मधुसूदनसरस्वतीजी ने भक्तियोग को ही परमपुरुपार्थ माना है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये पुरुषार्थचतुष्टय भी भक्तियोग के साधन ही हैं। वही परम पुरुपार्थ है, जो दु.ख से असम्भिन्न सुख-रूप है।[2] उन्होने फल और साधन-भेद से भक्ति के दो प्रकार माने है · 'भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या

---

* शोक है कि प्रस्तुत निवन्ध के लेखक डॉ० रामलखन शुक्ल का, विगत ९ मई (सन् १९८३ ई०) को असामयिक और आकस्मिक देहावसान हो गया ! मृत्यु के पूर्व यथाप्राप्त उनका यह लेख यहाँ स्मृतितर्पण-स्वरूप उपन्यस्त है।—सं०

भक्तिशब्देन फलमभिधीयते'[३]: अन्तःकरण का भगवदाकार होना ही भक्ति है, भाव में प्रत्यय करके भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति करें, तो भक्ति का अर्थ होता है—फल। इसका निरतिशय पुरुषार्थ-रूप होना प्रामाणिक ही है। 'भज्यते=सेव्यते भगवदाकारमन्त.करणं क्रियते ऽनयेति.'[४] जिसके द्वारा अन्त करण को भगवदाकार-रूप किया जाता है, वही भक्ति है। इस प्रकार, करण से व्युत्पत्ति करने पर भक्ति शब्द से श्रवण, कीर्त्तन आदि का बोध होता है और भक्ति पुरुषार्थ न होकर साधन हो जाती है। इस प्रकार, फल और साधन-रूप से भक्ति के दो प्रकार माने जाते हैं और दोनो परमपुरुषार्थ की ओर ले जाते है।

आचार्य मधुसूदनसरस्वती ने ब्रह्मविद्या और भगवद्भक्ति दोनों को एक नहीं माना है। चित्त का द्रवीभाव हो जाने पर सविकल्पक वृत्ति-रूप से मन का भगवदाकार होना ही भक्ति है और चित्त का द्रवीभाव हुए विना ही अद्वितीय आत्ममात्र के साक्षात्कार से सम्पन्न निर्विकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्मविद्या कहलाती है।[५] दोनो मे साधन-भेद, फल-भेद और अधिकारी-भेद हैं। भक्ति का साधन भगवान् के गुणों की गरिमा से सम्पन्न ग्रन्थों का श्रवण है, जबकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यो का अनुशीलन ब्रह्मविद्या का साधन है। भक्ति का फल भगवद्विषयक प्रेम की आत्यन्तिक वृद्धि है और अज्ञान-निवृत्ति ब्रह्मविद्या का फल है। प्राणिमात्र भगवान् की भक्ति कर सकता है, किन्तु ब्रह्मविद्या का अधिकारी 'नित्यानित्यवस्तुविवेक'-सम्पन्न व्यक्ति है।[६] दोनो मे भेद होते हुए भी दोनो का लक्ष्य एक ही है: निरतिशय आनन्द की उपलब्धि, जहाँ दुःख का लेश भी नही रहता। भक्ति को परिभाषित करते हुए वह कहते है कि भगवद्गुण-श्रवण आदि से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के विषय मे धारावाहिकता को प्राप्त वृत्ति को भक्ति कहते है। धारावाहिकता से उनका तात्पर्य है कि तेल की धार के समान अविच्छिन्न रूप से चित्त-वृत्ति का भगवदाकार हो जाना।[७]

चित्त का द्रवीभाव किस प्रकार होता है, इसपर प्रकाश डालते हुए सरस्वतीजी ने कहा है कि चित्त नामक द्रव्य स्वभाव से ही लाक्षा के समान कठोर होता है, किन्तु तापक विषयो का संयोग होने पर वह द्रव-अवस्था को प्राप्त हो जाता है।[८] काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक आदि चित्त-रूपी लाक्षा के तापक है। इनके शान्त हो जाने पर वह फिर ज्यों-का-त्यों कठोर हो जाता है। द्रवीभूत चित्त मे वस्तु द्वारा ढाला गया जो उसका अपना स्वरूप है, वही संस्कार, वासना, भाव अथवा भावना शब्द से अभिहित होता है।[९] रति, शोक आदि चित्त के द्रवीभाव तक ही विद्यमान रहते है और जबतक वे विद्यमान रहते है, तभी तक चित्त भी द्रवीभूत रहता है। उनके शान्त हो जाने पर चित्त अपनी कठोर अवस्था को प्राप्त कर लेता है, किन्तु जब चित्त मे भगवद्विषयक भाव का उदय होता है और उससे चित्तद्रुति होती है, तब चित्त मे भगवदाकारता आ जाती है, जो नित्य होती है। दूसरे विषयों के ग्रहण करने पर भी वह विचलित नही होती।

मधुसूदनसरस्वती के अनुसार, भगवद्भक्त तीन प्रकार के होते है: १. उत्तम, २. मध्यम और ३. प्राकृत। १. उत्तम भक्त वह है, जो समस्त प्राणियों में आत्मा की भगवद्-

रूप मे स्थिति देखता है और भगवद्स्वरूप आत्मा मे सब प्राणियो को लक्षित करता है। २ मध्यम कोटि के भक्त मे चित्त की ईषद् द्रवावस्था मे भगवदाकारता पूर्ण द्रुति के विना वासनाभास-रूप ही होती है, इस कारण वह भक्त ईश्वर मे प्रेम, भगवद्भक्तो मे मैत्री, भागवत धर्म मे श्रद्धा रखनेवाले मूढो पर भी कृपा और भगवान् से द्वेष करनेवालो के प्रति उपेक्षाभाव रखता है। ३ प्राकृत भक्त वह है, जिसके चित्त मे द्रुति उत्पन्न नही हुई, फिर भी उसके लिए प्रयत्न करता है और भागवत धर्मो का श्रद्धा से अनुष्ठान करता है। चित्त की कठोरता को नष्ट करके उसे द्रवित करने की ओर प्रवृत्त भक्त प्राकृत कोटि का कहा जाता है।[10]

साहित्यशास्त्र मे भाव, विभाव आदि के संयोग से स्थायी भाव की ही रस-रूप मे अभिव्यक्ति होती है। मधुसूदनसरस्वती इसका निरूपण करते हुए कहते है कि द्रवीभूत चित्त मे स्थित वस्तु को स्थायी भाव नाम से अभिहित किया जाता है और वही परमानन्द-रूप से व्यक्त होकर रसता प्राप्त कर लेता है। उनकी दृष्टि मे स्वयं परमानन्द-स्वरूप भगवान् ही द्रवावस्था को प्राप्त मन मे स्थित होकर स्थायिभावरूप से पूर्ण रसता को प्राप्त होते है।[11] उन्होने स्वयं इस आशका का निराकरण कर दिया है कि जब भगवान् को आलम्बन माना जाता है, तव उन्हे स्थायी भाव-रूप मे किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है। उनका कहना है कि परमानन्द-स्वरूप भगवान् का बिम्ब-रूप तो आलम्बन-विभाव मे परिगणित किया जाता है और मन पर उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह स्थायी भाव-रूप है। अत, इस कथन मे किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नही है। और, जब स्वयं भगवान् ही स्थायी भाव-रूप है, तव भक्तिरस का परमानन्द-स्वरूप निर्विवाद है।[12] उनका यह अभिप्राय है कि शृगार आदि मे जो सुखात्मक रस-प्रतीति होती है, उसका कारण भी सुख-स्वरूप चैतन्यघन ही है, माया की विक्षेप और आवरण-शक्ति के कारण क्रमश अकार्य का कार्य-रूप और अखण्ड आनन्द-रूप मे प्रतीति होती है। वस्तुत., समस्त चराचर जगत् के मूल मे आनन्द है। कान्ता आदि से अवच्छिन्न चैतन्य ही कान्ता आदि मान से मेय हो सकता है। अत., द्रवीभूत चित्त मे उसका आविर्भाव होता है, किन्तु जडता के मिश्रण के कारण शृंगार आदि की रसता मे न्यूनता रह ही जाती है। सरस्वतीजी के अनुसार, केवल भक्तिरस ही ऐसा है, जो परमानन्द-स्वरूप होता है। उनका यह प्रतिपादन वेदान्त के अनुसार है। किन्तु, उन्होने साख्यमत के अनुसार भी रस पर विचार किया है। साख्यमत मे प्रकृति त्रिगुणात्मक है: सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुण है और तीनों क्रमश सुख-दु.ख और मोहात्मक है। प्रत्येक वस्तु सुख-दु ख-मोहात्मक है, पर जब वह सुखात्मक रूप से मन मे प्रविष्ट होती है, तब स्थायी भाव-रूप होकर रस-रूप में परिणत हो जाती है। रजस्-तमस् से अनुविद्ध सत्त्व के उद्रेक के कारण जो चित्तद्रुति होती है, वह सुखात्मक ही होती है, फलत रस सुखात्मक होते है।[13] साख्य के अनुसार भी मन की विषयाकार-परिणति हो जाती है। वेदान्त मे तो यह प्रतिपादित है ही; क्योंकि आवरण-भंग के लिए मन की विषयाकार-परिणति अनिवार्य है।

आचार्य सरस्वती ब्रह्ममात्र को सत्य मानते है, किन्तु उनका कहना है कि यद्यपि सत्-रूप भगवान् ही हैं, पर घट, पट आदि में सत्ता-रूप से ही सब विषयो का भी स्फुरण होता है और श्रुति के अनुसार, ऐसा कहा जा सकता है कि यह सब ब्रह्म ही है; क्योकि उस ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है और उसी मे लीन हो जाता है।[१४] अतः, जगत् और ब्रह्म मे अभेद है। जागतिक प्रतीति स्वप्न आदि प्रपंच की तरह ही बाध्य है। जबतक आत्मबोध नही हो जाता, तबतक संसार वास्तविक-सा प्रतीत होता है, किन्तु भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर स्वप्नजगत् की भाँति इस जगत् का बाध भी हो जाता है। अतः, भगवदाकार स्फुरण होने पर वे सारे जागतिक प्रपंच अथवा विषय निवृत्त होकर भगवद्-रूप ही हो जाते है; क्योकि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर अध्यस्त की निवृत्ति हो जाती है।[१५]

भगवद्भक्ति के उपायो पर विचार करते हुए **मधुसूदनसरस्वती** ने 'श्रीमद्-भागवत' का ही अनुसरण किया है। भागवत मे ग्यारह भूमिकाओ का उल्लेख है। वे है : १. महापुरुषों की सेवा, २. उनकी दया का पात्र होना, ३ उनके धर्मो मे श्रद्धा, ४. भगवद्-गुणश्रवण, ५. भगवद्भक्ति मे रति का अकुरित होना, ६. स्वरूप की अधिगति (स्वरूप को समझना), ७. परमानन्द भगवान् में प्रेमवृद्धि, ८. भगवान् के प्रति प्रेम का स्फुरण (साक्षात्कार) होना, ९. भगवद्धर्म मे निष्ठा, १०. भगवद्भक्तो के गुणो को अपने मे ले आना और ११. प्रेम की पराकाष्ठा।[१६] भगवद्गुण-श्रवण मे उन्होने नौ प्रकार के भजनों का वर्णन किया है, जिनमे भगवान् विष्णु के गुण के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।[१७] उन्होने यह निर्दिष्ट किया है कि सात भूमिकाओ तक ही भक्त को अपनी साधना का अभ्यास करना पड़ता है, उसके पश्चात् शेष चार भूमिकाएँ विना प्रयत्न के ही साध्य है। भक्त उत्तरोत्तर उन्हे प्राप्त करता हुआ प्रेम की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और उस स्थिति मे पल-मात्र के लिए भी भगवन् का विरह उसे असह्य प्रतीत होता है। भागवत के प्रसंग मे गोपिकाओ की प्रेम-पराकाष्ठा को उन्होने भक्ति की चरम परिणति के रूप में दरसाया है।

मधुसूदनसरस्वती ने चित्तद्रुति के कारणों के भेद से साध्य-भक्ति और साधन-भक्ति का वर्णन किया है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि चित्त-रूपी लाक्षा के तापक है, उनमे कामजन्य भक्ति के दो प्रकार है : सन्निधान और असन्निधान। शरीर का जो विशिष्ट सम्बन्ध है, उसके विषय मे उत्कट इच्छा होना ही **काम** है। सन्निधान सामीप्य का और असन्निधान दूरी का वाचक है। इन्हे ही क्रमशः सन्निकर्ष और विप्रकर्ष भी कह सकते है। प्रेमी की सन्निधि होने पर शरीर का सम्बन्धावेश होता है और असन्निधि से मानसिक सम्बन्ध, इसी को विप्रलम्भ कहते है।[१८] इसी सन्निधान और असन्निधान के भेद से, काम से चित्त के द्रवित होने पर चित्त में जो श्रीकृष्णविषयक निष्ठा-रूप रति उत्पन्न होती है, वह क्रमशः सम्भोग और विप्रलम्भ नाम से दो प्रकार की होती है।[१९] रस के

आचार्यों ने शृंगार रस के सम्भोग और विप्रलम्भ नामक दो प्रकार माने है, किन्तु **मधुसूदन-सरस्वती** ने भगवद्विषयक रति के ही वे दो प्रकार माने है। शृंगार भी रतिजन्य ही है। अत, उनके इस कथन मे किसी प्रकार का दोष नही है। प्रश्न यह उठता है कि रति तो कामजन्य ही है और उसमे जो शारीरिक या मानसिक सम्बन्ध होते हैं, वे तो वैषयिक ही होते है, जबकि भगवद्विषयक रति मे वैषयिक सम्बन्ध को स्वीकार नही किया जा सकता। स्वय **मधुसूदनसरस्वती** ने अन्यत्र कहा है :

प्रसरति विषयेषु येषु राग परिणमते विषयेषु तेषु शोकः।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते रुविपरिपाकशुचामगोचरोऽसि ॥[२०]

हे भगवन् ! जिन विषयो मे अधिक अनुराग होता है, वे ही अन्त मे शोक उत्पन्न करनेवाले होते हैं, किन्तु परम रमणीय आपके स्वरूप मे रुचि और अनुराग होना तो उचित ही है, क्योकि आपके प्रेम की परिणति मे शोक कभी होता ही नही।

'श्रीमद्भागवत' मे सम्भोग और विप्रलम्भ के असख्य उदाहरण उपलब्ध हो जाते है। प्रश्न यह उठता है कि वे उदाहरण शृंगार के कहे जायँ या भक्ति के। यदि श्रीकृष्ण-विषयक निष्ठा को ही भक्ति का निकष माना जाय, तो उन्हे भक्तिरस मे ही परिगणित किया जा सकता है; फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि सम्भोग और विप्रलम्भ का जो स्वरूप उसमे पाया जाता है, वह साहित्यशास्त्र की दृष्टि से शृंगार का ही स्वरूप है। इसी प्रकार, **सूरदास** आदि कवि यद्यपि भक्त कवि है, तथापि उन्होने गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण और गोपिकाओ की प्रेम-भावना की जिस धरातल पर व्यजना की है, वह शृंगार का ही धरातल है, भक्तिरस का नही।

आचार्य सरस्वतीजी ने क्रोध का इस प्रकार निरूपण किया है : ईर्ष्या से उत्पन्न होनेवाला चित्त का दाह क्रोध कहलाता है। इस क्रोध से होनेवाली चित्त की द्रुति मे जो रति होती है, उसे द्वेष कहते हैं।[२१] साहित्यशास्त्रियों ने इसे ईर्ष्या-मान के अन्तर्गत परिगणित किया है। द्वेष से उत्पन्न होनेवाली चित्त की व्याकुलता दो प्रकार की होती है . द्वेष के उद्दीपक को देखने से उपद्रावक-नाशविषयिणी और उपद्रावक-प्रीति-विषयिणी। **मधुसूदनसरस्वती** ने पहले प्रकार की, द्वेष के उद्दीपक को देखने से उपद्रावक-नाशविषयिणी भक्ति के उदाहरण-रूप मे शिशुपाल के श्रीकृष्ण के प्रति द्वेषभाव को प्रस्तुत किया है। **तुलसीदास** ने भी रावण आदि के द्वेष को उसी रूप मे वर्णित किया है और इसीलिए उन्होने दरसाया है कि भगवान् रामचन्द्र ने उन्हे भी मोक्ष प्रदान किया। यह पहला प्रकार शुद्धत द्वेष ही है और दूसरा प्रकार ईर्ष्यामान-जन्य प्रीति ही है। इसका उदाहरण सपत्नी-गमन आदि से द्वेष करनेवाली गोपिकाओ का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम है। उन्होने इन दोनो प्रकारो को भक्तिरस मे ही परिगणित किया है, किन्तु साहित्यशास्त्र की दृष्टि से पहला प्रकार रौद्ररस और दूसरा शृंगार रस ही है।

भय : द्वेष का कारण न होकर भी जो चित्त की विकलता केवल अपने अपराध से क्षोभ उत्पन्न करनेवाली है, उस विकलता से उत्पन्न चित्तद्रुति होने पर श्रीकृष्णविषयिणी

जो रति होती है, उसे भय कहते है।[२२] जब भक्त यह अनुभव करता है कि भगवान् के प्रति उससे अपराध हो गया है, तब उसके मन मे क्षोभ उत्पन्न करनेवाला भय उत्पन्न होता है, जिससे चित्तद्रुति होती है और इस चित्तद्रुति के होने पर भी श्रीकृष्णविषयिणी रति अक्षुण्ण बनी रहती है। फलतः, इससे जो रस निष्पन्न होता है, वह प्रीति-भयानक नाम से अभिहित होता है।

स्नेह : पाल्य-पालक लक्षणवाला पुत्रादिविषयक भाव स्नेह कहा जाता है और इसी प्रकार सेव्य-सेवकभाव का स्नेह दूसरे प्रकार का है, जिसके तीन भेद है : १. दास्य, २. सख्य और ३. मिश्रित (जिसमें दास्य और सख्य दोनो हों)। इस प्रकार, द्विविध भाव के स्नेह से जन्य द्रुतिशाली चित्त में जो श्रीकृष्णाकारता होती है, वह पाल्य-पालकभाव से वत्सलरति और सेव्य-सेवकभाव से प्रेयोरति कही जाती है।[२३] मधुसूदनसरस्वती के अनुसार, इन सभी प्रकार के स्नेह से जो भक्ति उत्पन्न होती है, वह साध्य-भक्ति होती है, साधन-भक्ति नही। साधन-भक्ति मे कोई-न-कोई कामना निहित रहती है, पर साध्य-भक्ति अपने-आप मे ही इष्ट होती है। उदाहरण के लिए, नन्द और यशोदा का श्रीकृष्णविषयक स्नेह, जिसमे किसी प्रकार की कामना निहित नही है। यह वात्सल्य-भक्तिरस है। इसी प्रकार, प्रह्लाद, हनुमान् आदि की भक्ति दास्यभाव की है, गोप श्रीदामा आदि की भक्ति सख्यभाव की है और अर्जुन, उद्धव आदि की भक्ति उभयभाव (दास्य और सख्यमिश्रित) की होती है, जिसमें आत्मनिवेदन का भाव रहता है। इस प्रकार की भक्ति मे भक्त अपने-आपको भगवान् का दास और सखा दोनो समझता है।

हर्ष : चित्त का समुल्लास ही हर्ष है। यह चार प्रकार का होता है · परम आनन्द-मय भगवान् की महिमा से उत्पन्न शुद्ध हर्ष, हास, विस्मय और उत्साह, इन चारों में सर्वोत्तम प्रकार पहला ही है। यह जो परम आनन्दमय भगवान् की महिमा से उत्पन्न हर्ष है, उससे चित्तद्रुति होने पर जो रति होती है, वह शुद्धा होती है। उस रति में भगवान् का साक्षात्कार होता है। उस रति के प्राप्त हो जाने पर शास्त्रों द्वारा उपदिष्ट समस्त साधनाओ का प्रयोजन समाप्त हो जाता है।

लज्जा, वाणी की विकृति, विकृत वेश, चेष्टा आदि से जन्य दूसरे प्रकार का हर्ष होता है, इससे चित्तद्रुति होने पर जो चित्त का समुल्लास होता है, उसे हास कहते है। भगवान् की चेष्टाओ से यह हास उत्पन्न होता है और भगवान् श्रीकृष्ण की व्रजलीलाओ मे इसके प्रचुर उदाहरण प्राप्त हो जाते है।

अलौकिक, चमत्कारी वस्तु को देखने से उत्पन्न होनेवाला हर्ष तीसरे प्रकार का है। इससे उत्पन्न होनेवाली द्रुति मे जो चित्त का विकास होता है, वह विस्मय कहा जाता है। भगवान् के असाधारण चरित्र को देखकर इस प्रकार का विस्मय होता है।

युद्ध के उपस्थित होने पर वीरो के चित्त मे जो हर्ष उत्पन्न होता है, वह चौथे प्रकार का हर्ष है। उससे द्रुत हुए चित्त का समुल्लास उत्साह कहा जाता है। शूर-वीर को भगवान् की शौर्यलीला मे अधिक अभिरुचि होती है।[२४]

शोक : प्रियवियोग-जनित चित्त मे जो विकलता होती है, उससे जन्य चित्तद्रुति मे प्रविष्ट रति शोक कही जाती है।[२५]

जुगुप्सा : विषयो मे तुच्छता का ज्ञान होने से जो घृणा हो जाती है, वह दया है ('कारुण्य, करुणा, घृणा, कृपा, दयाऽनुकम्पा स्यात्।'—अमरकोश)। उससे चित्त की द्रुति होने पर जो अनुभूति होती है, उसे जुगुप्सा कहते है। उसके तीन प्रकार होते हैं : उद्वेगिनी, क्षोभिणी और शुद्धा। १ दुर्गन्धिपूर्ण शरीर के व्रण आदि को देखने से जो घृणा उत्पन्न होती है, वह उद्वेगिनी है, २. श्मशान आदि मे रहनेवाले भूत, प्रेत, पिशाच आदि को देखने से उत्पन्न घृणा क्षोभिणी होती है और ३. देह, इन्द्रिय आदि के दुःखत्व के विचार से जो घृणा उत्पन्न होती है; उसे शुद्धा कहते है।[२६]

दयोत्साह : शोच्य की रक्षा के लिए अनुकम्पा से जो प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से द्रवीभूत चित्त मे जो उत्साह होता है, उसे 'दयोत्साह' कहते है।

दानोत्साह : अभिलषित पदार्थ के माँगे जाने पर जो अपना सर्वस्व देने के लिए तत्पर रहता है, इस प्रकार का जो महान् उद्यम चित्त की द्रुति का कारण होता है, उसे 'दानोत्साह' कहते है।

धर्मोत्साह . धर्म की रक्षा के लिए प्रयत्नपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है और उससे जो चित्त का विस्तार होता है, वह द्रुति की स्थिति मे 'धर्मोत्साह' कहा जाता है।[२७]

शम : समस्त काम्य विषयो मे स्पृहा का न होना ही वशीकार नामक वैराग्य है, उससे द्रुत हुए चित्त का प्रकाश 'शम' कहा जाता है। इस प्रकार, सरस्वतीजी ने काम, क्रोध, भय, स्नेह, शोक, हर्ष, दया (जुगुप्सा) और शम, इन स्थायी भावो का वर्णन किया है। ये सभी इस कारण स्थायी भाव हैं कि ये चित्त की द्रुति के कारणभूत तत्त्व हैं। ये ही विभाव आदि के आश्रय से रसता को प्राप्त होते है।

धर्मोत्साह, दयोत्साह, तीन प्रकार की जुगुप्सा और शम ये छहो अन्यविषयक हैं, भगवद्विषयक नही। भगवद्विषयता से भिन्न होने के कारण धर्मवीर, दयावीर, बीभत्स और शान्त ये भक्तिरसता नहीं प्राप्त कर पाते। इस प्रकार, उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि जिसमे भगवद्विषयता नही होती, वह भक्तिरस का विषय नही है। शृंगार आदि भी तभी रसता को प्राप्त होते हैं, जब उनका आलम्बन-विभाव भगवान् हो, अर्थात् जब वे भगवद्विषयक हो। ईर्ष्याजन्य और भयजन्य द्वेष भगवद्विषयक होने पर भी भक्तिरसता को नही प्राप्त होते; क्योकि वे साक्षात् चित्तद्रुति के विरोधी है।[२८] इसीलिए, शुद्ध रौद्र तथा रौद्र-भयानक ये दोनों रस प्रीति-विरोधी होने से रंचमात्र भी आस्वाद्य नही होते। कामज दो रति (सम्भोग और विप्रलम्भ), शोक, प्रीतिजनक भय, विस्मय, युद्धोत्साह और दानोत्साह ये भगवद्विषयक रस के भी स्थायी भाव हो सकते है। ये सभी भाव नीर-क्षीर के समान परस्पर सम्मिश्रित हो जाते हैं और जिस प्रकार विभाव आदि के योग से शृंगार आदि रसो की प्रतीति होती है, उसी प्रकार यदि इनके

विभाव आदि आलम्बन भगवान् हों, तो ये ही भक्तिरस कहे जाते है। शृंगार, करुण, हास्य, प्रीति-भयानक, अद्भुत, युद्धवीर और दानवीर ये रस मिश्रित होते है।[२९]

शुद्धा रति, वत्सलरति और प्रेयोरति ये तीनो अन्य स्थायी भावों से मिश्रित न होने से अमिश्र रति कही जाती हैं। अत. विशुद्ध, वत्सल और प्रेयान् ये ही तीन भक्तिरस है, जो अन्य रस से मिश्रित न होकर सर्वागपूर्ण होते है।[३०]

मधुसूदनसरस्वती ने भक्तिरस को 'नवरसमिलित' कहा है। उन्होने परम्परा से स्वीकृत नौ रसों के स्थान पर शृंगार, करुण, हास्य, प्रीति-भयानक, अद्भुत, युद्धवीर, दानवीर, वत्सल और प्रेयान् की नौ रसो में गणना की है और इन सबसे भक्तिरस का मिश्रण प्रतिपादित किया है और शुद्ध रति-स्थायिभावात्मक भक्तिरस की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है। उन्होंने, जैसा पहले कहा गया, धर्मोत्साह, दयोत्साह, तीन प्रकार की जुगुप्सा और शम को अन्यविषयक माना है। अतः, उनसे जन्य धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स और शान्त रस की भक्तिरसता नहीं स्वीकार की है। मिश्रण से उनका यह आशय नही है कि वे परस्पर मिश्रित होते है, वरन् जब उनके आलम्बन, विभाव आदि भगवान् होते हैं, तब वे भक्तिरस हो जाते है, किन्तु शुद्ध भक्तिरस शुद्ध रतिजन्य होता है और वही प्रकृत भक्तिरस है।

मिश्रित होने पर भी शृंगार सबसे अधिक बलवान् होता है; क्योंकि उसी मे ही रति की तीव्रता और तीव्रतरता दिखाई देती है। कुछ रस केवल संकीर्ण होते है, कुछ सकीर्ण-मिश्रित, कुछ केवल मिश्रित और कुछ शुद्ध, इस प्रकार रस चार प्रकार के होते है। रौद्र, रौद्र-भयानक, धर्मवीर, दयावीर, बीभत्स और शान्त ये केवल संकीर्ण होते है। उन रसो में स्थायी भाव अन्यविषयक और रति भगवद्विषयक हो सकती है। पूर्ववर्णित मिश्र रस—शृंगार, करुण, हास्य, प्रीति-भयानक, अद्भुत, युद्धवीर, दानवीर, वत्सल और प्रेयान् ही अन्यविषयक होने पर संकीर्ण-मिश्रित कहे जाते है और भगवद्विषयक होने पर केवल मिश्रित होते है। शुद्ध रस केवल तीन है—वत्सल, प्रेयान् और विशुद्ध, जो किसी से संकीर्ण नही होते।[३१]

योग के अनुसार भक्तिरस के चार प्रकार है: राजसी, तामसी, शुद्ध सात्त्विकी और मिश्रिता। उनमे पहली भक्ति ईर्ष्याजन्य द्वेष से होती है, दूसरी भयजन्य द्वेष से, तीसरी हर्षजन्य होती है और चौथी काम, शोक आदि से जन्य होती है। यद्यपि, इन चारो का मुख्य कारण सत्त्वगुण ही है, तथापि दूसरे गुणो के उत्कट हो जाने के कारण इनके अन्य भेद हो जाते है। इन चारो मे राजसी और तामसी भक्ति ईर्ष्याजन्य तथा भयजन्य द्वेष से उत्पन्न होती है। ईर्ष्या और भय से दुःख ही होता है। अत., सुख-विरोधिनी होने से इनमे रति नही होती। अन्तिम दो शुद्ध सात्त्विकी और मिश्रिता मे रति होती है; क्योकि इनमे चित्तद्रुति पूर्णतया होती है और यह रति का मुख्य कारण है। ये चारो प्रकार की भक्ति यदि निश्चल रूप से भगवद्विषयिणी हो, तो पुनः तीन प्रकार की होती है—दृष्टफला, अदृष्टफला और दृष्टादृष्टफला। राजसी और तामसी भक्ति

केवल अदृष्टफला होती है, मिश्रित भक्ति दृष्ट और अदृष्ट फलवाली होती है और शुद्ध सत्त्वजन्य भक्ति भी साधको के लिए दृष्ट-अदृष्ट फलवाली होती है और सनक आदि जैसे सिद्धो के लिए दृष्ट फलवाली। सुख की अभिव्यक्ति तथा भक्तिविधायक शास्त्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भक्ति सामान्य रूप में दृष्ट-अदृष्ट फलवाली होती हैं, जैसे ग्रीष्म से सन्तप्त व्यक्ति के लिए गंगास्नान। जब रजोगुण और तमोगुण से सत्त्वगुण का अंश अभिभूत रहता है, तब भक्ति के दृष्ट फल मे प्रतिबन्ध लग जाता है, किन्तु अदृष्ट फल क्षीण नही होता; जैसे शीत, वात आदि से आतुर व्यक्ति यदि गगास्नान करे, तो उसे दृष्ट फल की प्रतीति नहीं होती, किन्तु उसका अदृष्ट फल नष्ट नही होता। उसी प्रकार, जीवन्मुक्तो का अदृष्ट फलाश प्रतिबन्धित रहता है, जैसे नहा-धोकर भोजन करने के बाद कोई गंगा मे तैरने जाय, तो उसे गगास्नान-जन्य पापक्षय-रूप फल प्राप्त नहीं होता। वर्त्तमान शरीर से भोगने योग्य फल दृष्ट कहा जाता है और आगामी देह से भोगने योग्य फल अदृष्ट।[३२]

रज और तम की प्रबलता में सात्त्विक सुख की अभिव्यक्ति ऐसे ही क्षीण हो जाती है, जैसे तीव्र वायु के झोको से दीपक की लौ समुचित रूप से प्रकाश नहीं कर पाती। इससे स्वयम्प्रकाश से चैतन्यरूप आनन्दाकार जिसमे होता है, ऐसी धारावाहिकी मनोवृत्ति प्रतिबन्ध के कारण सुखाभिव्यक्ति के योग्य नही होती। जब रजोगुण के प्रवल होने से सत्त्वांश अभिभूत हो जाता है, तब ईर्ष्या-द्वेषमिश्रित मनोवृत्ति परमानन्द की अनुभूति नही कर पाती और तमस् की प्रबलता के कारण सत्त्वांश के अभिभूत होने से भयजन्य द्वेषमिश्रित परमानन्द की भी अनुभूति नही कर पाती। कंस की भयजन्य द्वेषमिश्रित मनोवृत्ति थी। फलत., उसे भगवद्विषय मे सुख की अनुभूति नही हुई।[३३]

रजोगुण और तमोगुण से विहीन जो भगवद्विषयिणी एकाग्रचित्त की वृत्ति होती है, वही सुखाभिव्यंजक होने से रति कहलाती है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति सात्त्विकी और मिश्रिता भक्ति मे होती है। रजोगुण और तमोगुण के न्यूनाधिक्य के अनुसार ही भगवद्विषयक रति में भी न्यूनाधिक्य होता है। भगवान् के विरह मे जैसा दु ख होता है, वैसी ही रति भी देखी जाती है। उसमे भी मृदु, मध्य और अधिक मात्रा की विशेषता परिलक्षित होती है। भगवान् के विरह मे जिसे जितनी अधिक मात्रा मे दुःख होगा, उसकी भगवद्विषयक रति उतनी ही अधिक समझी जायगी। इसी आधार पर यह रति मृदु, मध्यमा और तीव्रा कही जा सकती है। वैकुण्ठ, द्वारका और श्रीमद्वृन्दावन में यह रति क्रमश. मृदुतीव्रा, मध्यतीव्रा और तीव्रातीव्रा (अतितीव्रा) अनुभव की जाती है।[३४]

यह भक्ति स्पर्श, शब्द, रूप, रस तथा गन्ध इन पाँच विपयो को केवल और समुच्चय रूप से ग्रहण करती हुई छह प्रकार की होती है। शुद्धा और व्यामिश्रिता रूप से यह पुनः दो प्रकार की होती है। उपाधिरहित भक्ति शुद्धा और उपाधिसहित व्यामिश्रिता कही जाती है। उपाधिरहित परमानन्द-स्वरूप भगवान् की महिमा से अकुरित होनेवाली

भक्ति भजनीय अनन्त गुणों से संयुक्त होने से एकरूपा ही कही जाती है। उपाधिरहित भक्ति निर्गुण और उपाधिसहित भक्ति सगुण कही जाती है। जो उपाधिसहित भक्ति है, वह काम, सम्बन्ध और भय से तीन प्रकार की होती है. शृंगारमिश्रिता भक्ति कामजा कही जाती है, सम्बन्धजा वत्सलभक्ति और प्रेयोभक्ति है तथा भयजा भक्ति प्रीति-भयानक रस हैं। जब ये चारो प्रकार की रति—कामजा, सम्बन्धजा वत्सल-भक्ति और प्रेयोभक्ति और भयजा भक्ति—एक साथ ही व्यक्त हों, तब पानकरसन्याय से परम विलक्षण रस की अनुभूति होती है। चारो प्रकार की रति की युगपत् अवस्थिति सामान्य रीति से सम्भव नही है, किन्तु अभ्यास से उन्हे एक साथ अनुभूत किया जा सकता है। व्रजदेवियो मे स्पष्टतः चारो प्रकार की रति देखी गई है। उनके चित्त का आलम्बन लेने से अपना चित्त भी वैसा ही हो जाता है। अन्य रसों के विभाव आदि से संकीर्ण भगवद्विषयिणी रति भी चित्ररूपवत् विचित्र स्थिति प्राप्त कर लेती है, अर्थात् जिस प्रकार नील, पीत, शुक्ल आदि रंगों के मेल से विचित्र चित्र-निर्मिति होती है, उसी प्रकार भक्तिरस के उद्दीपन विभाव आदि जब शृंगार आदि रसो के उद्दीपन आदि से मिश्रित होते है, तब विचित्र रस की प्रतीति होती है। अन्य रसों और उनके विभाव आदि से रहित होने पर स्वरूप-मात्र को प्रकाशित करती हुई शुद्धा रति सनकादि की रति की तरह दसवी सर्वातिशायी रसता को प्राप्त होती है। देवादिविषयक रति तथा व्यंजना से प्रकाशित व्यभिचारी भाव 'भाव' कहे जाते है, उन्हे रस नही कहा जाता। भरत मुनि आदि रसाचार्यो का ऐसा मत है। देव पूर्ण रूप से परमानन्द के प्रकाशक नही होते, किन्तु जो परमानन्द-रूप परमात्मा श्रीकृष्ण हैं, उनके सम्बन्ध मे यह मत प्रयुक्त नही किया जाना चाहिए। मधुसूदनसरस्वती ने रसाचार्यो की देवादिविषयक रति को भाव मानने के विचार को वैसे तो स्वीकार कर लिया है, किन्तु परमानन्द-रूप श्रीकृष्णविषयक रति को भक्तिरस की सज्ञा दी है। रूपगोस्वामी ने बहुत ही विस्तार के साथ भक्तिरस का प्रतिपादन किया है। इसके साथ ही मधुसूदनसरस्वती का यह मत भी है कि कान्तादि-विषयक जो रति है, उसमें भी पूर्ण सुख या आनन्द का लेशमात्र भी स्पर्श नही रहता। भगवद्रति शृंगार आदि की तुलना मे परिपूर्ण रस है। अतः, भक्तिरस ही रस है। क्रोध, शोक, भय आदि से जन्य रस साक्षात् सुखविरोधी है। उन्हे अत्यल्प अनुभव-मात्र से रस मान लिया गया है, जबकि भक्तिरस उनकी अपेक्षा हजारोगुना आनन्द देनेवाला अनुभव से सिद्ध है। अतः, उसे जो रस नही मानते, वे मिथ्या अपलाप करते हैं।[३५]

साहित्यशास्त्र मे भगवद्विषयक रति को रति के अन्तर्गत ही रखा गया है और भक्ति को भाव की ही संज्ञा दी गई है, किन्तु मधुसूदनसरस्वती ने भक्ति को रस की ही सज्ञा नही दी है; वरन् उसे ही एकमात्र रस माना है। उन्होने परमानन्द-रूप श्रीकृष्णविषयक रति को भक्ति माना है और इस भक्तिरस की अनुभूति को ब्रह्मानन्द कहा है, जबकि साहित्यशास्त्र मे रसानुभूति को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' सिद्ध किया गया है। इस दृष्टि से भी भक्ति-रसानुभूति अन्य रसों की अनुभूति की तुलना में श्रेष्ठतर और लोकोत्तर है।

भक्तिरस का निरूपण करने के अनन्तर उन्होने 'रसतत्त्व क्या है,' 'रस का आधार कौन है', 'इस रस का प्रत्यायक (बोधक) क्या है' और 'रस की प्रतीति कैसी होती है', इन प्रश्नो पर भी विचार किया है। उनके अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से सुख-रूप मे व्यंजित स्थायी भाव ही रस है। सुख आत्मस्वरूप होता है और इस कारण उसका कोई आधार नही है; किन्तु उसको अभिव्यक्त करनेवाली वृत्ति का आधार 'सामाजिक' का मन है। 'रसो वै स.', रस ही वह आत्मा है और उस आत्मा का आधार कोई नही है, किन्तु 'सामाजिक' की सात्त्विक वृत्तियो से सुख अभिव्यंजित होता है और वृत्तियो का आधार मन होता है। सामाजिक को रस की मानसी प्रतीति होती है। अत , उसका आधार मन ही है।

रस के प्रत्यायक (बोधक) काव्यार्थनिष्ठ रति आदि स्थायी भाव लौकिक होते हैं और रस का अनुभव करनेवाले 'सामाजिक' मे रहनेवाले वे ही स्थायी भाव समानविषयक होने पर भी अलौकिक होते है। बोध्य (काव्य आदि) मे रहनेवाले रति आदि सुख-दु.ख उत्पन्न करनेवाले होते है, किन्तु 'सामाजिक' मे रहने पर वे सुखजनक-मात्र ही होते है। सामाजिकनिष्ठ भाव निश्चय ही दु ख के उत्पादक नही होते। इस कारण, करुण आदि रसो के रसत्व का प्रतिघात नहीं होता। लौकिक रति आदि के कारण वे लौकिक ही होते हैं और उन्हे ही काव्य मे विभाव की संज्ञा दी जाती है। लौकिक रति आदि के लोक मे जो कार्य हैं, वे काव्य मे अनुभाव कहे जाते है और जो सहकारी हैं, वे ही काव्य मे व्यभिचारी भाव है। 'सामाजिक' मे रहनेवाले अलौकिक रति आदि के उद्बोध मे ये तीनो सम्मिलित रूप से कारण कहे जाते है। तीनो भावो (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) के सहित स्थायी भाव को ग्रहण करनेवाली समूहालम्बनात्मक सात्त्विकी मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। यही वृत्ति तत्काल ही उत्तम सुख व्यक्त करती है, वही रस है। कुछ आचार्य उस समूहालम्बनात्मक मनोवृत्ति को ही रस कहते है।[३६] उन्होने विभाव आदि से सवलित स्थायी भाव को रस माना है। उनके अनुसार स्थायी भाव रस है, यह कहना उपचार-मात्र है। रस की अभिव्यक्ति मे किसी प्रकार का व्यवधान न होने से उसका क्रम प्रतीत नही होता, इसी कारण उसे 'असलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि' कहते हैं। रस, भाव इन दोनो के आभास, भावशान्ति आदि भी प्रतीति मे क्रम के लक्षित न होने के कारण 'असलक्ष्यक्रमव्यग्यध्वनि' के अन्तर्गत आते हैं।[३७]

सरस्वतीजी का मत है श्रुतिकटु आदि दोष रसप्रतिबन्धक है। अत उनका रस-सामग्री मे अभाव भी अनिष्टनिवारक है और उनका होना अनिष्टकारक। रीतियो और गुणो का ज्ञान भी रस की दृष्टि से कारण-रूप होता है और सम्यक् रीति से सम्प्रज्ञात और प्रयुक्त अलकार भी रस के परिपोषक ही सिद्ध होते है। गुण, अलकार, रीति और भावो के प्रत्यायक (बोधक) शब्द ही व्यजना-वृत्ति से रस की प्रतीति कराते है। श्रुति के अनुसार, 'रसो वै स.' इस प्रकार आत्मरूप रस सभी प्रकार से सुखात्मक है। स्वप्रकाश

रस की प्रतीति निर्विकल्प और सुखात्मक होती है। आगम के अनुसार, परमानन्द-स्वरूप आत्मा ही रस है और शब्द से रस की अभिव्यक्ति होती है।[३८]

आलोचना : अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही **मधुसूदनसरस्वती** ने अपनी यह प्रतिज्ञा व्यक्त की है कि वह 'नवरसमिलित', 'परमपुरुषार्थरूप' भक्ति का निरूपण करेंगे, किन्तु परम्परा से स्वीकृत साहित्यशास्त्र के नौ रसों के स्थान पर अपने ढग से नौ रसो की कल्पना की है। उनके अनुसार शृंगार, करुण, हास्य, प्रीति-भयानक, अद्भुत, युद्धवीर, दानवीर, वत्सल और प्रेयान् ये नौ रस हैं। उन्होने इस प्रकार, शुद्ध भयानक, बीभत्स, और रौद्र-बीभत्स की रसता स्वीकार नही की है। यह दूसरी बात है कि किसी-न-किसी रूप मे उन्होने उनका निरूपण अवश्य किया है। परम्परा-विहित रति स्थायी भाव ही शृंगार रस-रूप में विभाव आदि से पुष्ट होकर अभिव्यंजित होता है और वत्सल तथा प्रेयान् का भी स्थायी भाव वही रति ही है, भले ही उसे किसी दूसरे नाम से क्यों न अभिहित किया जाय। उनके द्वारा निरूपित वत्मल और प्रेयान् का शृंगार मे सहज अन्तर्भाव हो जाता है। दानवीर और युद्धवीर वीर रस के ही दो प्रकार हैं तथा प्रीति-भयानक मे यदि प्रीति की प्रधानता है, तो वह भी रति ही है। अत., प्रीति-भयानक भी शृंगार मे ही अन्तर्भूत हो जाता है। सब मिलाकर शृंगार, करुण, हास्य और अद्भुत ये चार ही रस शेष रह जाते हैं। अतः, उनकी यह प्रतिज्ञा स्वयमेव भग हो जाती है कि भक्तिरस 'नवरसमिलित' है।

सरस्वतीजी ने भक्तिरस को परमपुरुपार्थ-रूप कहा है, जबकि साहित्यशास्त्र मे रस सद्य.परनिर्वृति-परमविश्रान्ति-रूप मे निरूपित हैं। काव्यरस लोकोत्तर चमत्कारजनक एव आनन्दमय है · वह परमानन्द-रूप नही है तथा उसकी अनुभूति मे वैषयिक सम्बन्ध बना रहता है। फलतः, रस का आनन्द सामान्य वैषयिक आनन्द से तो ऊपर होता है, पर ब्रह्मानन्द से नीचे की स्थिति मे रहता है। उसे परमानन्द की कोटि में नही रखा जा सकता। परमानन्द को अनुभूत करनेवाला साधक परा कोटि मे पहुँचकर पुनः लौकिक धरातल पर नहीं आता, जबकि काव्यरसिक रसानुभूति की अवस्था में परमविश्रान्ति-रूप आनन्द का अनुभव करता है और काव्य के अनुशीलन से विरत होते ही लौकिक धरातल पर पहुँच जाता है। अतः, यदि भक्तिरस काव्यरस है, तो वह परमपुरुषार्थ-रूप नही कहा जा सकता। भक्ति अपने रूप मे परमपुरुषार्थ-रूप हो सकती है, किन्तु काव्यरस के रूप मे नही।

सरस्वतीजी ने भक्तिरस के स्थायी भाव के रूप से भगवदाकारता-रूप रति को माना है और यही रति नामक स्थायी भाव परमानन्द-साक्षात्कारात्मक रूप में प्रादुर्भूत होता है। उनके अनुसार अन्त करण का भगवदाकार होना ही भक्ति है। भक्ति-सम्बन्धी उनकी स्थापना भी यही सिद्ध करती है कि भक्ति साध्य है और साधना से उसकी उपलब्धि होती है। एक बार अन्त.करण का भगवदाकार हो जाना साध्य की सम्प्राप्ति है और

उसके अनन्तर वैषयिक सम्बन्ध नहीं रह जाता। इस आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार निरूपित भक्तिरस को बाध्यरस नहीं कहा जा सकता।

सरस्वतीजी का यह भी प्रतिपादन है कि सविकल्पक वृत्ति से मन का भगवदाकार होना ही भक्ति है। चित्त अविच्छिन्न रूप से भगवदाकार हो जाता है। उनके अनुसार, निर्विकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्मविद्या है। काव्यरस न तो सविकल्पक होता है और न तो निर्विकल्पक। अत, उनके द्वारा प्रतिपादित भक्तिरस की गणना काव्यरस में नहीं की जा सकती। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि भगवद्गुण-श्रवण आदि से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के विषय में धारावाहिकता को प्राप्त वृत्ति को भक्ति कहते हैं। काव्यरस काव्य-सामग्री की उपस्थिति तक ही प्रतीत होता है, किन्तु सर्वेश्वर के विषय मे धारावाहिकता को प्राप्त वृत्ति नित्य होती है। अत, भक्तिरस को काव्यरस नहीं कहा जा सकता।

मधुसूदनसरस्वती ने यह भी प्रतिपादित किया है कि भक्तिरस के आलम्बन भी भगवान् हैं और स्वयं भगवान् ही स्थायी भाव-रूप से पूर्ण रसता को प्राप्त होते हैं। उनकी यह स्थापना भी विवादास्पद है। भगवान ही आलम्बन और भगवान् ही स्थायी भाव है, यह एक विरोधात्मक स्थिति है। उन्होंने अन्यत्र भगवद्विषयक रति को स्थायी भाव माना है।

मधुसूदनसरस्वती का कहना है कि भगवदाकार का स्फुरण होने पर सारे जागतिक प्रपञ्च अथवा विषय निवृत्त होकर भगवद्रूप ही हो जाते हैं, जबकि काव्यरस की प्रतीति तक ही जागतिक विषय की निवृत्ति होती है और प्रतीति के अनन्तर सहृदय अपने प्रकृत धरातल पर आ जाता है। इस प्रकार का भगवदाकार स्फुरण किसी-किसी साधक मे होता है, जबकि काव्यरस-प्रतीति समस्त सहृदयों को होती है। इस आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि उनके द्वारा निरूपित भक्तिरस काव्यरस नहीं है।

शृंगार आदि मे सुखात्मक प्रतीति माया की विक्षेप और आवरण-शक्ति के कारण होती है। इस प्रतीति के मूल में सुख-स्वरूप चैतन्यघन ही है। वस्तुतः, समस्त चराचर जगत् के मूल मे आनन्द है। कान्ता आदि से अवच्छिन्न चैतन्य ही कान्ता आदि मान से मेय हो सकता है, अत द्रवीभूत चित्त में उसका आविर्भाव होता है, किन्तु जडता के मिश्रण के कारण शृंगार आदि की रसता मे न्यूनता रह जाती है। केवल भक्तिरस ही ऐसा है, जो परमानन्द-स्वरूप है। जिस दर्शन के आधार पर उन्होंने शृंगार आदि की सुखात्मक प्रतीति को मायाजन्य कहा है, उसी के आधार पर पण्डितराज जगन्नाथ ने भग्नावरण-भंग की बात कहकर चित्त की आनन्दाकार परिणति की स्थापना की है और यह सिद्ध किया है कि इस प्रकार की प्रतीति एकघन आनन्दस्वरूप होती है। उन्होंने भी रसानन्द को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' माना है; क्योंकि रसानुभूति चिन्मय प्रकाशमय और आनन्दमय होती है, किन्तु उसे परमानन्द की संज्ञा नहीं दी जा सकती। भक्तियोग से साधक परमानन्द की अनुभूति कर सकता है, किन्तु उसे भक्तिरस नहीं कहा जा सकता।

उन्होने सांख्यमत के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक वस्तु सुख-दुःख-मोहात्मक होती है, पर जब वह सुखात्मक रूप से मन मे प्रविष्ट होती है, तब स्थायी भाव-रूप होकर रसरूप में परिणत हो जाती है। रज, तम से अनुविद्ध सत्त्व के उद्रेक के कारण जो चित्तद्रुति होती है, वह सुखात्मक ही होती है। **भट्टनायक** और **अभिनवगुप्त** ने भी रज, तम से अनुविद्ध सत्त्व के उद्रेक के कारण रसानुभूति को सुखात्मक माना है। साख्यमत के अनुसार, मन की विषयाकार-परिणति हो जाती है और वेदान्त मे भी यह प्रतिपादित है कि आवरण-भंग के लिए मन की विषयाकार-परिणति अनिवार्य है, किन्तु चित्त की भगवदाकार-परिणति सत्त्वोद्रेक से ही हो सकती हैं। अतः, सांख्यमत के आधार पर भक्तिरस का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, जबकि मधुसूदनसरस्वती का प्रतिपाद्य यही है।

उन्होने भक्ति की ग्यारह भूमिकाओं का उल्लेख किया है। उनमें अन्तिम प्रेम की पराकाष्ठा है, जिसके उदाहरणस्वरूप उन्होने गोपिकाओ के प्रेम को दिखाया है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपिकाओ का प्रेम विशुद्ध प्रेम है, उनमे निश्चय ही प्रेम की पराकाष्ठा देखी जा सकती है। कहने के लिए उसे भले ही प्रेमाभक्ति कहा जाय, किन्तु वह 'सम्भोग और विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत ही आता है। **रूपगोस्वामी** ने राधा के प्रेम को 'महाभाव की संज्ञा दी है और उसमे ही भक्ति के वास्तविक स्वरूप को देखा है। किन्तु, काव्य-वर्णित राधा-प्रेम तथा गोपी-प्रेम को सहज रूप से शृंगार रस का विषय सिद्ध किया जा सकता है। राधा के प्रेम की अनन्यता वस्तुत भक्ति-भावना नही, है, वरन् ऐहिक प्रेम की पराकाष्ठा ही है।

मधुसूदनसरस्वती ने भक्ति को साध्य और साधन दो रूपों मे निरूपित किया है। साध्य और साधन-भक्ति के कामज सन्निधान (सम्भोग) और असन्निधान (विप्रलम्भ), क्रोधजन्य द्वेषरूपा उपद्रावक नाश-विषयिणी तथा ईर्ष्यामानजन्य प्रीति (उपद्रावक प्रीति-विषयिणी) भयजन्य प्रीति-भयानक तथा स्नेहजन्य वत्सल, दास्य, सख्य, मिश्रित आदि भक्ति के प्रकारों की परिगणना की है। जो स्नेहज भक्ति है—वत्सल, दास्य, सख्य और मिश्रित—वह अपने-आप मे साध्य है, क्योकि वह अपने-आप में इष्ट है। भक्ति के इन प्रकारो मे कोई कामना निहित नही है, जबकि साधन-भक्ति मे कोई-न-कोई कामना रहती है। उनके द्वारा निरूपित सन्निधान और असन्निधान-भक्ति सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के ही प्रकार है। इसी प्रकार क्रोधजन्य, द्वेषरूपा भक्ति रौद्ररस है और ईर्ष्यामान-जन्य प्रीति विप्रलम्भ शृंगार का ही प्रकार है। प्रीति-भयानक मे प्रीति का यदि प्राधान्य है, तो उसका भी अन्तर्भाव शृंगार मे ही हो जायगा। वत्सल, दास्य, सख्य और मिश्रित भी स्नेह की प्रधानता के कारण रति स्थायी भाव के ही रूप है। उन्होंने हर्षजन्य जिस शुद्ध रति को निरूपित किया है, उसमे भगवान् का साक्षात्कार होता हैं। यह भक्तियोग का विषय है, काव्य का नही।

मधुसूदनसरस्वती के अनुसार, कामज दो रति (सम्भोग और विप्रलम्भ), शोक, प्रीतिजनक भय, विस्मय, युद्धोत्साह और दानोत्साह ही भगवद्विषयक रति के स्थायी

भाव हो सकते है। उन्होने शृंगार, करुणा, प्रीति-भयानक, अद्भुत, युद्धवीर और दानवीर को मिश्रित रस माना है। मिश्रित कहने का आशय यही है कि यदि इनके आलम्बन भगवान् हों, तो भक्तिरस और यदि दूसरे आलम्बन हो, तो शृंगार आदि रस की मिश्रित अवस्थिति नही स्वीकार की जा सकती और मधुसूदनसरस्वती ने इसे भी स्पष्ट कर दिया है। विभाव आदि के कारण ये शृंगार आदि भी हो सकते हैं और भक्तिरस भी। उन्होने शुद्धा रति, वत्सलरति और प्रेयोरति को ही अमिश्र रति माना है तथा विशुद्ध, वत्सल और प्रेयान्, इन तीन को ही सर्वांगपूर्ण भक्तिरस माना है। उन्होने जिसको विशुद्ध भक्ति माना है, वह काव्य का विषय नही है, क्योंकि वह सहृदय-अनुभूति-गम्य नही है और वत्सल और प्रेयान् की शृंगार से बहुत पृथक् स्थिति नही मानी जा सकती।

रस को सकीर्ण, संकीर्ण-मिश्रित, केवल मिश्रित और शुद्ध चार प्रकार मे विभक्त करना औचित्यपूर्ण नही है। उन्होने जिसे शुद्ध रस माना है, वह ब्रह्मसाक्षात्कार-रूप होने के कारण सहृदय-अनुभव-गम्य नही है तथा जिन्हे वे सकीर्ण आदि कहते है, वह अपने विभाव आदि के कारण शुद्ध ही होते है तथा उनसे उसी सवेदन का उद्रेक होता है, जो अभिप्रेत होता है।

योगमत के अनुसार, सरस्वतीजी ने जिस भक्ति का निरूपण किया है, उसके भी कई प्रकार-भेद दरसाये हैं और उनमे सात्विकी एव मिश्रिता मे भगवद्विषयक रति की उत्कटता सिद्ध की है। मिश्रिता मे सत्त्वगुण के साथ रजोगुण तथा तमोगुण का न्यूनाधिक मिश्रण पाया जाता है, जबकि सात्त्विकी मे शुद्ध सत्त्व रहता है। अत., वह भक्ति शुद्धा होती है। भगवान् के विरह मे जिसे जितना अधिक दु ख होगा, उसकी भगवद्विषयक रति उतनी ही अधिक होगी। यह रति मृदु, मध्यमा और तीव्रा होती है। यहाँ भी कहा जा सकता है कि यह भक्ति साधक की अनुभूति का विषय है, काव्य का विषय नही।

मधुसूदनसरस्वती ने भक्ति के दो प्रकार और माने है . उपाधिरहित निर्गुण भक्ति और उपाधिसहित सगुण भक्ति। निर्गुण भक्ति एकरूपा ही होती है, जबकि सगुण भक्ति काम, सम्बन्ध और भय से तीन प्रकार की होती हैं। कामजा भक्ति शृंगारमिश्रित होती है, सम्बन्धजा वत्सलभक्ति और प्रेयोभक्ति तथा भयजा प्रीति-भयानक भक्ति है। उन्होने इन चारो प्रकार की रति की युगपत् स्थिति भी स्वीकार की है और व्रजदेवियों मे उनकी अवस्थिति दिखाई है। वस्तुत, चारो प्रकार की रति की युगपत् स्थिति नही स्वीकार की जा सकती। जिस समय जिस रति की प्रधानता होगी, उसी से जनित रस माना जायगा। रसो के मिश्रित होने या न होने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है।

मधुसूदनसरस्वती ने भी देवादिविषयक रति को जो व्यजना से प्रकाशित होती है भाव की सज्ञा दी है। देव पूर्ण रूप से परमानन्द के प्रकाशक नहीं होते, किन्तु परमानन्द-रूप श्रीकृष्ण के विषय मे यह नही कहा जा सकता। उन्होने भक्तिरस को ही परिपूर्ण रस माना है। उन्होंने स्वप्रकाश रस की प्रतीति को निर्विकल्प और सुखात्मक माना है;

जबकि इससे पहले रसानुभूति (भक्ति रस की अनुभूति) को सविकल्प और ब्रह्मानन्द को निर्विकल्प सिद्ध किया है। इस प्रकार, दो परस्पर विरोधी मतों को उन्होंने प्रतिपादित किया है। वस्तुत., रस न तो निर्विकल्प ही है और न ही सविकल्प।

मधुसूदनसरस्वती ने जिस भक्ति का प्रतिपादन किया है, वह भक्तियोग है, जो काव्य का विषय नहीं है। भक्त कवियों ने देवादिविषयक रति या श्रीकृष्णविषयक रति या रामविषयक रति को काव्य के धरातल पर अभिव्यक्ति दी है और रति की नाना रूपों में व्यंजना हुई है। भक्ति-भावना की अत्यन्त विशद अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य में हुई है और उसका स्वरूप काव्यात्मक है, जो सहृदय-हृदय-रंजन में सक्षम है, जिससे सहृदय में तन्मयीभाव का आसादन हो जाता है और सहृदय सहज रूप से कवि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है; किन्तु **मधुसूदनसरस्वती** ने भक्ति में अन्तःकरण की भगवदाकार-परिणति को आवश्यक माना है, जबकि इस प्रकार की भगवदाकार-परिणति साधकों में ही हो सकती है, सहृदय काव्यरसिको मे नही।

सन्दर्भ-संकेत :

१. श्रीभगवद्भक्तिरसायनम्, पृ० १०-११; अनुवादक : जनार्दनशास्त्री पाण्डेय; प्र० मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
२. उपरिवत्, पृ० ११-१३।
३. उपरिवत्, पृ० २१।
४. उपरिवत्।
५. उपरिवत्, पृ० २७।
६. उपरिवत्।
७. उपरिवत्, पृ० ३३।
८. उपरिवत्, पृ० ३५।
९. उपरिवत्, १।५-६।
१०. उपरिवत्, पृ० ३९-४१।
११. उपरिवत्, १।९-१०।
१२. उपरिवत्, पृ० ४५।
१३. उपरिवत्, पृ० ५४।
१४. 'सर्वं खल्विदम्ब्रह्म ....।'—छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।१।
१५. श्रीभगवद्भक्तिरसायनम्, पृ० ७६।
१६. उपरिवत्, पृ० ९३।
१७. उपरिवत्।
१८. उपरिवत्, २।२।३।
१९. उपरिवत्, २।४।

२०. श्रीभगवद्भक्तिरसायनम्, पृ० १४२-१४३
२१. उपरिवत्, २।५ ।
२२. उपरिवत्, २।८ ।
२३. उपरिवत्, २।९–११ ।
२४. उपरिवत्, २।११–१६ ।
२५. उपरिवत्, २।१७ ।
२६ उपरिवत्, २।१८-२० ।
२७. उपरिवत्, २।२१–२३ ।
२८. उपरिवत्, २।२४–२९ ।
२९. उपरिवत्, २।३०–३३ ।
३०. उपरिवत्, २।३४-३५ ।
३१. उपरिवत्, २।३६–४० ।
३२ उपरिवत्, २।४१–५० ।
३३. उपरिवत्, २।५१–५४ ।
३४. उपरिवत्, २।५८–६१ ।
३५. उपरिवत्, २।६३–७९ ।
३६. उपरिवत्, ३।१–१३ ।
३७ उपरिवत्, ३।१४–१७ ।
३८. उपरिवत्, पृ० ३।१८–२४।

●

●

श्रीमद्भागवत के टीकाग्रन्थ और ग्रन्थकार

●

△ पं० रामनारायण मिश्र

'श्रीमद्भागवत' की टीकाओ एवं एतद्विषयक विवेचनापरक ग्रन्थों की वृहत् सूची, श्री एम्० एन्० चटर्जी ने 'श्रीमद्भागवत' के अपने अँगरेजी-अनुवाद, जिसका प्रकाशन कलकत्ता से सन् १८९५ ई० मे हुआ था, की भूमिका (पृ० १८–२१) मे दी है। उसमे एक सौ छत्तीस टीकाग्रन्थो की नामावली है, और चटर्जी महोदय ने स्पष्टतः उल्लेख भी किया है कि यह नामावली सर्वांगपूर्ण नही है। सन् १८९५ ई० के पश्चात् नूतन संस्कृत-टीकाग्रन्थों की रचना की सम्भावना अत्यल्प है; क्योकि उस समय तक संस्कृत-भाषा का अध्ययन-अध्यापन ह्रासोन्मुख हो चुका था। यहाँ यह उल्लेख्य है कि उक्त सूची मे कतिपय ऐसे अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रौढ टीकाग्रन्थों के नाम समाविष्ट नही हो पाये, जो श्रीचटर्जी द्वारा यथानिर्धारित काल से प्राचीनतर थे।

भागवत के टीकाग्रन्थों की विवेचना के सौविध्य की दृष्टि से उन्हें नौ श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में ऐसे ग्रन्थो का समावेश कर सकते है, जिसमें टीकाग्रन्थ और ग्रन्थकार दोनो केवल नामतः उल्लिखित है। इस प्रकार के बाईस ग्रन्थ हैं। द्वितीय श्रेणी में ऐसे तीस ग्रन्थ उल्लेख्य हैं, जिनमें टीकाग्रन्थो के नाम तो है, परन्तु उनके लेखकों के नाम अनुपलब्ध हैं। तृतीय श्रेणी मे ऐसे तेरह टीकाकारो के नाम है, जिनकी टीकाओं के नाम अनुपलब्ध है। चतुर्थ श्रेणी मे ऐसे सात टीकाग्रन्थों एव टीकाकारो के नाम हैं, जो स्कन्ध-टीकाकार है। पचम श्रेणी में भी ऐसी सात टीकाओं के नाम है, जो कतिपय श्लोको की ही टीकाएँ है। इनमे पाँच टीकाकारो के नाम उपलब्ध हैं और दो के अनुपलब्ध। षष्ठ श्रेणी में ऐसा भागवत-विषयक साहित्य है, जिसमें ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के नाम निर्दिष्ट हैं। ये गणना मे उनतीस है। सप्तम श्रेणी में एतद्विषयक इक्कीस ग्रन्थो के नाम है, जिनके कर्त्ताओ के नाम नही है। अष्टम श्रेणी मे टीकाग्रन्थ के लेखक का नाम है, परन्तु उसकी कृति का नही। ऐसा लेखक गणना मे केवल एक है। नवम श्रेणी में छह भागवत-विषयक चम्पूग्रन्थ, उनके रचयिताओ के नाम के साथ, परिगणनीय हे।

आगे यथानिर्दिष्ट वर्गीकरण में किंचित् अशुद्धि की भी सम्भावना है; क्योंकि मूल ग्रन्थो को देखे विना, केवल सूची की छानबीन करके ही यह वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। ऐसी स्थिति में कतिपय ग्रन्थ अवान्तर श्रेणी में भी समाविष्ट हो सकते है।

१ केवल नामत. उपलब्ध टीकाग्रन्थ और ग्रन्थकार : १ अन्वयबोधिनी : चूडामणिचक्रवर्त्ती, २ क्रमसन्दर्भ : जीवगोस्वामी; ३ तत्त्वदीपिका . कल्याणराय; ४ तात्पर्यदीपिका . नृहरि; ५. पदरत्नावली : विजयध्वज, ६ प्रकाश श्रीनिवास, ७ बालबोधिनी : गिरिधर; ८ बुधरंजनी वासुदेव, ९ भागवतचन्द्रचन्द्रिका : वीरराघव, १०. भागवततत्त्वभास्कर . शिवप्रकाशसिंह; ११. भागवततत्त्वसार राधामोहन शर्मा; १२. भागवततात्पर्यनिर्णय : आनन्दतीर्थ; १३. भावार्थदीपिका . शिवराम, १४- भावार्थदीपिका : श्रीधरस्वामी; १५. भावार्थदीपिकास्नेहपूरणी : केशवदास; १६ भागवतपरितोषिणी . गणेश, १७. भागवतपुराणार्कप्रभा : हरिभानुशुक्ल; १८ भागवतपुराणसारार्थदर्शिनी विश्वनाथ चौबे; १९ भागवतपुराणसूचिका : अनूपनारायण, २०. भावप्रकाशिका : नरसिंहाचार्य, २१ सारार्थदर्शिनी · विश्वनाथ चक्रवर्त्ती और २२ सुबोधिनी · बालकृष्णदीक्षित ।

२ ग्रन्थकार-नामरहित टीकाग्रन्थ : १. अमृततरंगिणी; २. आत्मप्रिया; ३. एकनाथी, ४ कृष्णपदी, ५ जयमंगला, ६ तत्त्वप्रदीपिका, ७ तात्पर्यचन्द्रिका; ८. तात्पर्यदीपिका, ९ तात्पर्यप्रदीपिका; १०. परमहंसप्रिया, ११ प्रबोधिनी; १२ चूर्णिका, प्रहर्षिणी, १३. बोधिनीसार; १४. भागवत, १५ भागवतोत्पल; १६ भागवतक्रोडपत्र; १७ भागवतपुराणभूषण, १८ भागवतसंक्षेपव्याख्या; १९ माधवीय, २० मुनिप्रकाशिका; २१. रसमंजरी, २२. वामनी, २३. वासनाभाष्य; २४ विद्वत्कामधेनु, २५ शुकपक्षीय, २६ शुकहृदय, २७. सम्बन्धोक्ति, २८ सर्वोपकारिणी, २९ सुदर्शनी और ३० हनूमद्भाष्य ।

३ टीकाग्रन्थ-नामरहित टीकाकार १ कृष्णभट्ट, २ कौरसाधु, ३. गोपालचक्रवर्त्ती; ४ चक्रवर्त्तीनारायण, ५ जनार्दनभट्ट, ६. व्रजभूषण, ७. भेदवादिन्, ८ यदुपति, ९ वरदाचार्यपुत्रनरहरि, १०. विष्णुस्वामी, ११ श्रीनिवासाचार्य; १२. सत्याभिनवतीर्थ और १३ सुदर्शन ।

४. स्कन्ध-टीकाकार १ एकादशस्कन्धतात्पर्यचन्द्रिका : ब्रह्मानन्द २. एकादशस्कन्धदीपिकादीपन . राधाचरणगोस्वामी, ३. एकादशस्कन्धसार : ब्रह्मानन्दभारती; ४. पंचमस्कन्धटीका : वल्लभाचार्य, ५. बृहद्वैष्णवतोषिणी (दशमस्कन्धटीका) सनातनगोस्वामी; ६. लघुवैष्णवतोषिणी (दशमस्कन्धटीका) : जीवगोस्वामी और ७. सुबोधिनी : वल्लभाचार्य ।

५ महत्त्वपूर्ण श्लोकों के टीकाकार · १. भागवतकौमुदी (भागवत के कतिपय कठिन श्लोकों की व्याख्या) . रामकृष्ण; २. भागवतपद्यत्रयी (आद्य तीन श्लोकों की टीका) : सदानन्द, ३. भागवतपुराणप्रथमश्लोकटीका . जयराम, ४. भागवतपुराणाद्यश्लोकटीका : मधुसूदनसरस्वती, ५. श्रीमद्भागवताद्यपदव्याख्याशतकम् : वंशीधरशर्मा, ६. भागवतलीलाकल्पद्रुम (भागवत के प्रथम श्लोक का अर्थ . अर्थकार का नाम अनुपलब्ध) और ७. वेदस्तुतिव्याख्या (व्याख्याकार का नाम अनुपलब्ध)

६. **श्रीमद्भागवत-विषयक साहित्य एवं उसके लेखक** : १. अनुक्रम (अनुक्रमणिका) : वोपदेव; २. अनुक्रमणिका : वल्लभाचार्य; ३. दुर्जनमुखचपेटिका : रामाश्रम; ४. निबन्ध-विवृतिप्रकाश : वित्थल (विट्ठल) दीक्षित; ५ बृहद्भागवतामृत : सनातनगोस्वामी; ६. भक्तिरत्नावली : विष्णुपुरी; ७. भक्तिरसामृतसिन्धु : जीवगोस्वामी; ८. भागवतामृत : विष्णुपुरी; ९. भागवततत्त्वदीपप्रकाशावरणभंग : पीताम्बर; १०. भागवततत्त्वप्रदीप (भागवततत्त्वनिबन्ध) : वल्लभाचार्य; ११. भागवतदशमस्कन्धकथासंग्रह : केशवशर्मा; १२. भागवतनिबन्धयोजना : पुरुषोत्तम; १३. भागवतपुराणतत्त्वसंग्रह : रामानन्दतीर्थ; १४. भागवतपुराणप्रकाश : प्रियादास; १५. भागवतपुराणमंजरी : रामानन्दतीर्थ, १६. भागवतपुराणभावार्थदीपिकासंग्रह : रामानन्दतीर्थ; १७. भागवतपुराणभावार्थदीपिका-प्रकरणक्रमसंग्रह : रामानन्दतीर्थ; १८. भागवतपुराणाशय : रामानन्दतीर्थ; १९. भागवत-रहस्य : वृन्दावनगोस्वामी; २०. भागवतशंकानिवारणमंजरी : शिवसहाय; २१. भागवत-सन्दर्भ : जीवगोस्वामी; २२. भागवतसार : गोविन्दविद्याविनोद, २३. भागवतपुराणस्वरूप-विषयशंकानिरास : पुरुषोत्तम; २४. भागवतपुराणस्वरूपविषयशंकानिरास : श्रीनाथ; २५. मुक्ताफल : वोपदेव, २६. श्रुत्यध्यायदीपिकादीपन : राधाचरणगोस्वामी, २७. संक्षेपभागवतामृत : जीवगोस्वामी; २८. सर्वार्थसंवादिनी : जीवगोस्वामी और २९. हरिलीला : वोपदेव।

७. **भागवत-साहित्य, जिनके ग्रन्थकारों के नाम अनुपलब्ध हैं** : १. चैतन्यचन्द्रिका; २. तन्त्रभागवत; ३. बृहद्भागवतमाहात्म्य; ४. भगवल्लीलाचिन्तामणि, ५. भाग-वताष्टक, ६. भागवतादितन्त्र; ७. भागवतामृतकणिका; ८. भागवतपुराणबन्धन; ९. भागवतपुराणानुक्रमणिका; १०. भागवतपुराणबृहत्संग्रह; ११. भागवतपुराण-महाविवरण; १२. भागवतपुराणप्रामाण्य; १३. भागवतपुराणप्रसंगदृष्टान्तावली; १४. भागवतपुराण; १५, भागवतश्रुतिगीता, १६. भागवतसंग्रह; १७ भागवतसार-समुच्चय; १८. भागवतसप्ताहानुक्रमणिका; १९. भागवतसारसंग्रह; २०. भागवतस्तोत्र और २१. लघुभागवतमाहात्म्य।

८. **एक भागवत-साहित्यकार, जिनकी कृति का नाम अनुपलब्ध है** : १. वित्थल (विट्ठल)।

९. **भागवत-विषयक चम्पूग्रन्थ** : १. आनन्दवनचम्पू : कविकर्णपूर; २. गोपाल-चम्पू : जीवगोस्वामी; ३. भागवतचम्पू : अभिनवकालिदास; ४. भागवतचम्पू : अक्षयशास्त्री, ५. भागवतचम्पू : चिदम्बर और ६. भागवतचम्पू : रघुनाथकवि।

सम्प्रति, उपर्युक्त नौ श्रेणियों मे विभक्त भागवत के टीकाग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों पर सक्षिप्त रूप से समेकित प्रकाश डालना समीचीन होगा। सर्वप्रथम, श्रेणी १, ४, ६ एवं ९ मे चर्चित **जीवगोस्वामी** के जीवनवृत्त एवं उनकी सात कृतियों—१. क्रमसन्दर्भ, २. लघुवैष्णव-तोषिणी, ३. भक्तिरसामृतसिन्धु, ४. भागवतसन्दर्भ, ५. संक्षेपभागवतामृत, ६. सर्वार्थसंवादिनी

एव ७ गोपालचम्पू के विषय मे विवेचन किया जायगा। **जीवगोस्वामी** के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध मे विभिन्न मत है, परन्तु 'सप्तगोस्वामी' ग्रन्थ के मतानुसार, उनका जन्म सन् १५११ ई० मे रामकेलि-ग्राम मे हुआ था। उनके आविर्भाव के कुछ काल पश्चात् उनके पिता अनुपम अपने अग्रज **रूपगोस्वामी** के साथ वृन्दावन की यात्रा पर चले गये थे। जब वह वृन्दावन से लौट रहे थे तब मार्ग मे ही उनका स्वर्गवास हो गया था। उस समय बाल-रूप **जीवगोस्वामीजी** की उम्र केवल चार वर्ष की थी। प्रारम्भ से ही बालक **जीवगोस्वामी** तेजस्वी तथा कुशाग्रबुद्धि थे।

स्वकृत श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की लघुवैष्णवतोषिणी टीका के अन्त मे **जीवगोस्वामी** ने आत्मवंश का परिचय दिया है। वह कहते है कि प्राचीन काल मे **जगद्गुरु सर्वज्ञ** नाम के एक यजुर्वेदीय भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण कर्णाट (कर्णाटक) मे सिंहासनारूढ थे, जो सर्वशास्त्रनिष्णात थे। उनके पश्चात्, उनके पुत्र **अनिरुद्ध** सिंहासनारूढ हुए। इनके दो रानियाँ थी। बडी रानी से **रूपेश्वर** तथा छोटी से **हरिहर** का जन्म हुआ। **अनिरुद्ध** ने अपने जीवनकाल मे ही अपने दोनो पुत्रो के मध्य राज्य का समविभाजन कर दिया। रूपेश्वर शास्त्र मे जितने ही निपुण और साधुप्रकृति थे, हरिहर ठीक इनके विपरीत आचरण करते थे। इनकी कुटिलता से त्रस्त रूपेश्वर ने 'स्थानत्यागेन दुर्जन' की नीति का अनुसरण कर, अपने समस्त राज्य का परित्याग कर दिया और वह वर्द्धमान जिले के शिखरनगर मे जाकर निवास करने लगे, क्योकि वहाँ का राजा **शिखरेश्वर** पूर्वकाल से ही इनका मित्र था। इनके पुत्र **पद्मनाभ** थे। पद्मनाभ के पाँच पुत्र थे, जिनमे एक पुत्र **मुकुन्द** थे। मुकुन्द के पुत्र **कुमारदेव** थे और इनकी सन्तान के रूप मे **अमर, सन्तोष और वल्लभ** आविर्भूत हुए, जो **चैतन्यदेव** की कृपा प्राप्त कर क्रमश **सनातनगोस्वामी, रूपगोस्वामी** तथा **अनुपमगोस्वामी** के नामो से गौडीय सम्प्रदाय मे सुविख्यात हुए। **जीवगोस्वामी** के पिता अनुपम (पूर्वाश्रम मे **वल्लभ**) की राम मे अगाध भक्ति थी और इनके दोनो अग्रज **सनातनगोस्वामी** तथा **रूपगोस्वामी** कृष्ण के भक्त थे। **जीवगोस्वामी** ने पैंसठ वर्षों तक वृन्दावन-वास किया। पचासी वर्ष की उम्र मे, सन् १५९६ ई० में उन्होने अपनी लोकलीला समाप्त की।

श्रीजीवगोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ है . १ श्रीहरिनामामृतव्याकरण, २ श्रीगोपालविरुदावली, ३. श्रीश्रीभक्तिरसामृतशेष, ४ श्रीमाधवमहोत्सव, ५ सकल्पकल्पद्रुम, ६. भागवतसन्दर्भ (षट्सन्दर्भ), ७ सर्वसवादिनी, ८. क्रमसन्दर्भ, ९ लघुवैष्णवतोषिणी, १०. ब्रह्मसहिता (पचमाध्याय) की टीका, ११ अग्निपुराणस्थगायत्रीभाष्य, १२ गोपालतापिनीटीका (सुखबोधिनी), १३ भक्तिरसामृतटीका (दुर्गमसगमनी), १४ उज्ज्वलनीलमणिटीका (लोचनरोचनी), १५ पद्मपुराणोक्तश्रीकृष्णपदचिह्न, १६ श्रीराधिकाकरचिह्न, १७ सूत्रमालिका, १८ धातुसग्रह, १९ भावार्थसूचकचम्पू, २० योगसारस्तवटीका एव २१ गोपालचम्पू। इस ग्रन्थसूची मे **श्रीचटर्जी** द्वारा उल्लिखित ग्रन्थ भी सन्निविष्ट है।

'क्रमसन्दर्भ', 'लघुवैष्णवतोषिणी' एवं 'षट्सन्दर्भ' मे जो भागवत-सम्मत भक्ति तथा भगवान् के स्वरूप विवेचित है, उन्ही को क्रम से इनमे प्रतिपादित किया गया है तथा 'श्रीमद्भागवत' के बारहो स्कन्धों की क्रमश व्याख्या है। दशम स्कन्ध की टीका का नाम 'लघुवैष्णवतोषिणी' है। 'भक्तिरसामृत' ('भक्तिरसामृतसिन्धु' पर 'दुर्गमसंगमनी' टीका) में भक्तिरस की सांगोपांग विवेचना है। यह ग्रन्थ, वास्तव मे, उनके चाचा रूपगोस्वामी द्वारा रचित है और इसपर उनके भतीजे जीवगोस्वामी ने यथोक्त 'दुर्गमसगमनी' नाम की टीका लिखी है। अत , 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के स्थान पर 'भक्तिरसामृतसिन्धुटीकादुर्गमसगमनी' लिखना चाहिए था, क्योकि मूल लेखक रूपगोस्वामी थे, जीवगोस्वामी नही। जीवगोस्वामी ने विद्वत्तापूर्ण 'दुर्गमसंगमनी' टीका लिखकर इसमे चार चाँद लगा दिया है। 'भागवतसन्दर्भ' और 'सर्वार्थसंवादिनी' में भागवत-सम्मत भक्ति तथा भगवान् के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसमे छह खण्ड है . तत्त्वसन्दर्भ, भगवत्सन्दर्भ, परमात्मसन्दर्भ, कृष्णसन्दर्भ, भक्तिसन्दर्भ एवं प्रीतिसन्दर्भ। भागवत का यह समीक्षात्मक ग्रन्थरत्न जीवगोस्वामी की भक्ति-साधना तथा प्रकाण्ड मनीषा को सर्वदा समुद्भासित करेगा। यह उनके विराट् वैदुष्य का, साथ ही एकनिष्ठ कृष्णभक्ति का भी कीर्त्तिस्तम्भ है। इनकी 'सर्वसवादिनी' या 'सर्वार्थसवादिनी' टीका से मण्डित यह 'षट्सन्दर्भ' अचिन्त्यभेदाभेद का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें वेद, वेदांग, न्याय. सांख्य, पातंजलयोग, स्मृति, पुराण आदि सर्वशास्त्रो के सिद्धान्तों, अथच पूर्वाचार्यो के मत-मतान्तरो का मन्थन कर उनका सवाद, अर्थात् समन्वय किया गया है। इसमे ११७ ब्रह्मसूत्रों एव ७९ आकर-ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत हैं। 'भक्तिसन्दर्भ' एवं 'प्रीतिसन्दर्भ' खण्डों की रचना मे वह अपने पितृव्य रूपगोस्वामी के ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के अत्यधिक ऋणी हैं। 'संक्षेपभागवतामृत' मे भागवत के मधुर प्रकरण विवेचित है। 'गोपालचम्पू' ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध मे स्वयं वह कहते है :

> यन्मया कृष्णसन्दर्भे सिद्धान्तामृतमाचितम् ।
> तदेव रस्यते काव्याकृतिप्रज्ञारसज्ञया ॥ (१।६)

अर्थात्, 'कृष्णसन्दर्भ' (षट्सन्दर्भान्तिर्गत चतुर्थ सन्दर्भ) मे जिस सिद्धान्तामृत का मैंने संग्रह किया है, उसी का ही इस ग्रन्थ मे काव्य की जिह्वा द्वारा आस्वादन करता हूँ।

इस काव्यरचना में दार्शनिक सिद्धान्तो का ही वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ गौडीय वैष्णवसमाज का गौरवरूप है, जिसमे कृष्णलीलाओ का हृदयहारी वर्णन है।

पदरत्नावली : भागवत की इस टीका की रचना विजयध्वज ने द्वैत-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से की है, जो अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है। इन्होने द्वैत-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आनन्दतीर्थ के 'भागवततात्पर्य' का, जो भागवत का सारसग्रह है, पूर्णतः अनुसरण किया है। इनकी शेमुषी एव नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा अद्वितीय थी। इन्होने व्याकरण, कोश, पुराण एवं स्मृतियों की सहायता से भागवत के कतिपय दुरूह स्थलों की अपूर्व व्याख्या की है। इनका जीवनकाल पन्द्रहवीं शती है।

बालबोधिनी : यह वल्लभाचार्य के वंशज गोपाल के पुत्र **गिरिधर** (सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध) द्वारा रचित भागवत की एक अत्यन्त सुन्दर टीका है। इसे 'बालप्रबोधिनी' भी कहते हैं। इसमे भागवत की व्याख्या प्राजल और सरल भाषा मे विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत की गई है। भागवत के नवीन अध्येताओ के लिए यह कामधेनुकल्प है, परन्तु संस्कृत-साहित्य का दुर्भाग्य है कि यह सहज सुलभ नही है।

भागवतचन्द्रचन्द्रिका . इसे 'भागवतचन्द्रिका' भी कहते है। इसके लेखक **वीरराघव** ने इसमे भागवत की व्याख्या विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण से की है। इनका प्रादुर्भाव चौदहवी शती मे हुआ था। इनके पिता का नाम **श्रीशैल** था, जो वत्सगोत्र के थे। इनके पिता के शिष्य **लक्ष्मणमुनि** इनके विद्यागुरु थे।

भागवततात्पर्यनिर्णय : इसके रचयिता **आनन्दतीर्थ** हैं। इनके इतर प्रसिद्ध नाम **मध्व, पूर्णबोध, पूर्णप्रज्ञ, नन्दतीर्थ, वासुदेव** प्रभृति हैं। मध्व **लध्वगेहभट्ट** के पुत्र थे, जो शृगेरी से लगभग चालीस मील पश्चिम मे स्थित उडपी के निकट रजतपीठ-ग्राम मे रहते थे। उडपी वर्त्तमान काल मे दक्षिणी कनारा मे मध्वमत का प्रधान केन्द्र है। रजतपीठ-ग्राम, जहाँ मध्व ने जन्म लिया था, सम्भवत. आधुनिक कल्याणपुर है। वह **अच्युतप्रेक्ष** के शिष्य थे। दीक्षा के समय उन्हे **पूर्णप्रज्ञ** नाम प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् **आनन्दतीर्थ** नाम हुआ। इन्होने उत्तर तथा दक्षिण भारत मे व्यापक रूप से भ्रमण किया। इनके प्रादुर्भाव-काल के सम्बन्ध मे मतैक्य नही है। बहुतो का अनुमान है कि इनका जन्म सन् ११९७ ई० में हुआ था तथा उन्नासी वर्ष तक जीवित रहकर सम्भवतः सन् १२७६ ई० में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की। इन्होने समग्र भारत के प्रमुख तीर्थो मे पर्यटन कर अपने द्वैतमत का प्रचुर प्रचार-प्रसार किया। इन्होने छोटे-बड़े सैतीस ग्रन्थो की रचना की। मध्व, **शकर** के जन्मजात प्रतिपक्षी प्रतीत होते है।

'श्रीमद्भागवत' पर **मध्व** का जो 'भागवततात्पर्यनिर्णय' टीकाग्रन्थ है, उसमें इन्होने भागवतपुराण के बारहो स्कन्धो के विभिन्न अध्यायो से कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोको का चयन कर उनमे अपनी टिप्पणियाँ जोड़ दी है। इन सक्षिप्त टिप्पणियो मे नैरन्तर्य नही है और मूल के कई अध्याय पूर्णत. छोड़ दिये गये है। यह ग्रन्थ इस अभिप्राय से लिखा गया है, जिससे आपातत यह प्रमाणित हो जाय कि मध्व का द्वैतवाद भागवत मत से परिपोषित है। यह कभी-कभी अपने मत की पुष्टि अन्य पुराणो के सन्दर्भो द्वारा भी करते है और अन्त मे भागवत के सच्चे मत के रूप मे अपने मत का सक्षिप्त साराश दे देते है। 'भागवततात्पर्यनिर्णय' पर कतिपय टीकाएँ इस प्रकार है : 'भागवततात्पर्यव्याख्या' (जिसे 'तात्पर्यबोधिनी' भी कहते है), २. 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या-विवरण'; ३. 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या-पद्यरत्नावली', ४. भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या-प्रबोधिनी', ५. 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-व्याख्या' (श्रीनिवास-रचित) तथा **यदुपति, छलारि** एवं **वेदगर्भनारायण** की ६ 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय-टीका'।

भावार्थदीपिका . इसके सुविख्यात टीकाकार **श्रीधरस्वामी** दाक्षिणात्य थे, परन्तु वह सदा काशी में निवास करते थे। उनका जीवनकाल चौदहवीं शती का मध्य है। उनकी यह टीका सर्वश्रेष्ठ एवं अत्यन्त प्रौढ है। उनके समसामयिक दाक्षिणात्य टीकाकार **मल्लिनाथ** ने जिस प्रकार संस्कृत के लघुत्रयी एव बृहत्त्रयी-काव्यो पर टीका इस डिण्डिमघोष के साथ की है कि **'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया। नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नान-पेक्षितमुच्यते ॥'** ठीक उसी प्रकार, **श्रीधरस्वामी** ने समासपद्धति में टीका लिखी है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती टीकाकार **चित्सुखाचार्य** (सन् १२२०–८४ ई०) की टीका का अनुसरण किया है तथा यह घोषणा की है कि वह परम्परागत अर्थ का ही निरूपण करते है :

'सम्प्रदायानुरोधेन पौर्वापर्यानुसारतः ।
श्रीभागवतभावार्थदीपिकेयं प्रतन्यते ॥'

तुलना के लिए यह कहना अप्रासगिक न होगा कि **मल्लिनाथ** के कथन मे भी इसी प्रकार सादृश्य है :

'तथापि दक्षिणावर्त्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।
वयं च कालिदासोक्तिष्ववकाशं लभेमहि ॥'

श्रीधर के विषय मे प्रसिद्धि है :

'व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा ।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः ॥'

अर्थात्, भागवत का अर्थ व्यास और शुकदेव जानते है, परन्तु राजा परीक्षित के विषय मे यह कहना कि भागवत का अर्थ जानते समझते थे, सन्देहास्पद है; परन्तु **श्रीधर** तो नृसिंह भगवान् की कृपा से इसका सर्वार्थ जानते है।

'भक्तमाल' (छप्पय ४४०) मे **श्रीनाभादासजी** का कथन है कि काशी के **बिन्दुमाधव** ने **श्रीधर** की टीका को प्रामाणिकता प्रदान की थी। इससे अभिप्रमाणित होता है कि **श्रीधरस्वामी** ने अपनी कालजयी टीका मे भागवत का परम्परीण प्रामाणिक अर्थ दिया है। इस टीका की विश्रुति की कल्पना इस बात से भी की जा सकती है कि वैष्णव-सम्प्रदाय के बहुमान्य टीकाकारों ने अपनी टीका मे उनकी टीका का निस्संकोच प्रकट रूप से अनुसरण किया है और साथ ही घोषणा भी की है कि उनकी टीका **श्रीधरस्वामी** की टीका की विशद व्याख्या-मात्र है।

सारार्थदर्शिनी : इसके लेखक **विश्वनाथ चक्रवर्त्ती** है। यह टीका **जीवगोस्वामी** की ही अनुसारिणी है, परन्तु यह अतिविस्तृत और विशद तथा भागवत के सामान्य अध्येताओ के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

सुबोधिनी : इसके रचयिता **बालकृष्णदीक्षित** वल्लभ-सम्प्रदायानुयायी थे। इनका दूसरा नाम **लालूभट्ट** था और यह तेलुगु-ब्राह्मण थे और सम्भवतः सत्रहवीं शती में वर्त्तमान थे।

इन्होने **वल्लभाचार्य** की **सुबोधिनी** पर टीका लिखी है, जिसका नाम 'सुबोधिनीयोजन-निवन्धयोजन' था। सम्भवत, इसका सक्षिप्त नाम 'सुबोधिनी' कर दिया गया हो। इसके अतिरिक्त, यह असमीचीन-सा जँचता है कि एक वल्लभसम्प्रदायी अपने सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक के ग्रन्य का नाम अक्षरश वही रखे, जो मूल ग्रन्थ का नाम हो। अत, यह अधिक तर्कसंगत है कि **वालकृष्णदीक्षित** ने अपने टीकाग्रन्थ के नाम-वैशिष्ट्य के लिए 'सुबोधिनी-योजन-निवन्धयोजन' नाम रखा हो। **डॉ० एस्० एन्० दासगुप्त** ने अपने 'भारतीय दर्शन का इतिहास' ग्रन्थ मे इसे वालकृष्णदीक्षित-रचित टीका निर्दिष्ट की है।

द्वितीय श्रेणी मे उल्लिखित टीकाग्रन्थो मे केवल 'शुकपक्षीय' टीकाग्रन्थ की जानकारी इन पक्तियो के लेखक को है। **डॉ० दासगुप्त** के ग्रन्थ मे भी अन्य ग्रन्थो के विषय में सूचना अनुपलब्ध है। 'शुकपक्षीय' टीकाग्रन्थ की रचना सम्भवतः विशिष्टाद्वैतानुयायी **सुदर्शन सूरि** ने की है। यह १३वी १४वी शती मे विद्यमान थे। यह हारितगोत्रज थे। इनके पिता का नाम **वाग्विजय** था। **वात्स्य वरदाचार्य** के यह शिष्य थे। जनश्रुति है कि अलाउद्दीन खिलजी की सेना ने श्रीरंगम्-मठ को ध्वस्त किया और उसी मे इनका परलोकवास सन् १३६७ ई० मे हो गया।

श्रेणी-सं० ३ मे उल्लिखित **यदुपति** टीकाकार माध्वमतानुयायी थे। उन्होने माध्व-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक **आनन्दतीर्थ** के 'भागवततात्पर्यनिर्णय' की टीका लिखी है।

विष्णुस्वामी, परम्परा से विशुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के प्राचीनतम सस्थापक माने जाते है, जिसका **वल्लभाचार्य** द्वारा जीर्णोद्धार किया गया। **श्रीधरस्वामी** भी अपनी, भागवतपुराण की यथोक्त टीका 'भावार्थदीपिका' मे इनका उल्लेख करते है और सम्भवत. इन्होने भागवतपुराण पर एक टीका लिखी थी, परन्तु ऐसी कोई रचना अब उपलब्ध नही है।

श्रीनिवासाचार्य ने 'प्रकाश' नामक टीका लिखी है, परन्तु यह किस सम्प्रदाय की दृष्टि से रचित है, इसकी सूचना **डॉ० दासगुप्त** ने नही दी है, न ही इसके विषय मे अन्य सूचना उपलब्ध है। इस कोटि के अन्य टीकाकारो के विषय मे इन पक्तियो के लेखक को पता नही है।

श्रेणी-सं० ४ मे स्कन्ध-टीकाकारो के नामो का उल्लेख किया गया है। इस श्रेणी के **वल्लभाचार्य, सनातनगोस्वामी** एवं **जीवगोस्वामी** के विषय मे पता है, परन्तु अन्य चार के विषय मे इन पक्तियो के लेखक को जानकारी नही है। **जीवगोस्वामी** तथा उनकी कीर्त्ति-कथा की चर्चा प्रथम कोटि के टीकाकारो मे कर दी गई है। **वल्लभाचार्य** का जीवनकाल सन् १४८१–१५३३ ई० है। वल्लभ के जीवन की घटनाएँ अधिकतर काशी, अरैल (प्रयाग) तथा वृन्दावन से सम्बद्ध है। यह **यज्ञनारायणभट्ट** की वंश-परम्परा मे उत्पन्न हुए थे। इनके प्रपितामह **गंगाधरभट्ट** और पितामह **दादागणपतिभट्ट** थे। इनके पिता नाम **लक्ष्मणभट्ट** था। लोकश्रुति है कि इनके प्रपितामह, पितामह तथा पिता, तीनो ने मिलकर एक सौ सोमयाग किये थे। यह दक्षिण भारत के तेलुगु-ब्राह्मण-परिवार के सदस्य थे और जिस ग्राम के

निवासी थे, उसका नाम 'केकर खम्हू्ल' था। इनकी माता का नाम जल्लमगरू था। यथाप्राप्त परम्परागत विवरणो से स्पष्ट है कि यह वाराणसी के सन्निकट परम्पारण्य (?) में सन् १४८१ ई० के वैशाख मास के कृष्णपक्ष की एकादशी तिथि को आविर्भूत हुए थे। जब लक्ष्मणभट्ट काशी पर मुसलमानो के आक्रमण का समाचार सुनकर पलायन कर रहे थे, तब वल्लभ एक वृक्ष के नीचे सातवे मास मे गर्भयुक्त हुए। इन्होने आठवे वर्ष मे अपने पिता से दीक्षा प्राप्त की और इनका प्राथमिक विद्याभ्यास विष्णुचित्त के अधीन हुआ। इनके सभी शिक्षक मध्व-सम्प्रदाय के थे। इन्होने वाराणसी के रेकनभट्ट की पुत्री महालक्ष्मी से विवाह किया था। विजयनगराधीश श्रीकृष्णराय (सन् १५००–१५२५ ई०) के दरबार मे द्वैतमत के आचार्य व्यासतीर्थ की अध्यक्षता मे इन्होने अद्वैतवादियों को परास्त कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया। निम्बार्क-मत के आचार्य केशव काश्मीरी भट्टाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु से इनकी घनिष्ठता थी।

वल्लभ ने चौरासी ग्रन्थो की रचना की तथा इनके चौरासी प्रधान शिष्य भी थे। चतुर्थ कोटि मे उल्लिखित टीकाओ मे पाँचवी वल्लभ-कृत 'श्रीमद्भागवत' के पंचम स्कन्ध की टीका तथा सातवी 'सुबोधिनी' है। षष्ठ कोटि मे उल्लिखित 'अनुक्रमणिका' एव 'भागवततत्त्वप्रदीप (अथवा 'भागवततत्त्वनिबन्ध') और सप्तम कोटि मे उल्लिखित 'भागवत-सारसमुच्चय' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनकी सबसे माधुर्यपूर्ण कृति भागवत की 'सुबोधिनी' टीका है। शुद्धाद्वैतीय अथवा पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय की दृष्टि से लिखित यह टीका अत्यन्त हृदयावर्जक है तथा चूडान्त विद्वत्ता का द्योतक भी। इसकी भाषा की प्राजलता एवं भक्तिभाव की मनोहारिणी अभिव्यक्ति वल्लभ की महाप्राज्ञता को सकेतित करती है। यद्यपि, यह सम्पूर्ण भागवत की टीका नही है, तथापि इस पाण्डित्यपूर्ण टीका के पठन-पाठन से जो आनन्दोद्भव होता है, वह 'रसौ वै स.' का साक्षात्कार करानेवाला है।

वल्लभ का जन्मक्षेत्र आन्ध्रप्रान्त था, पर इस कृष्णयजुर्वेदी ब्राह्मण का कर्म-क्षेत्र गुजरात था, जहाँ 'भागवतसारसमुच्चय' का प्रचार-प्रसार अत्यधिक है। यह भागवत के प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं दशम स्कन्धो के कतिपय अध्यायों पर उपलब्ध सुविख्यात टीका है। वल्लभ का 'भागवततत्त्वनिबन्ध' भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ है। यह तीन भागों मे विभक्त है, जिनमे प्रथम भाग — शास्त्रार्थ-प्रकरण' में दार्शनिक स्वरूप-निरूपक १०५ कारिकाएँ समाविष्ट है, द्वितीय भाग 'सर्वनिर्णयप्रकरण' धर्मनीति के कर्त्तव्यो से सम्बद्ध विषयो का विवेचन करता है तथा तृतीय भाग 'भागवतप्रकरण' मे भागवतपुराण के बारहो स्कन्धो का सारांश समाविष्ट है। वल्लभ के द्वितीय-पुत्र विट्ठल थे, जिनके प्रपौत्र पुरुषोत्तम हुए। इन्होने वल्लभ की 'सुबोधिनी' पर 'सुबोधिनीप्रकाश' टीका लिखी है।

सनातनगोस्वामी : चैतन्य के समय मे हुसेनशाह गौड का नवाब था। इस्लाम-सम्प्रदायानुयायी दो युगल ब्राह्मण, सकर मलिक और दबिर खास, उसके दो उच्च-पदाधिकारी थे। चैतन्य को रामकेलि-ग्राम में देखकर वे युगल भाई अत्यन्त प्रभावित

हुए थे। बाद में, उन्होने अपनी समस्त सम्पत्ति निर्धनो मे वितरित कर दी और स्वयं संन्यासी होकर **सनातनगोस्वामी** और **रूपगोस्वामी** नाम से सुविख्यात हुए। कहा जाता है कि **रूपगोस्वामी** काशी मे चैतन्य से मिले, जहाँ इन्हे उनसे उपदेश प्राप्त हुआ। इन्होने अनेक महनीय संस्कृत-ग्रन्थो की रचना की।

ऐसी जनश्रुति है कि जब **हुसेनशाह** ने सुना कि **सनातन** उसे छोड देने का विचार कर रहे है, तब उसने इन्हे कारागार मे बन्द करवा दिया। परन्तु, सनातन ने कारागार-अध्यक्ष को रिश्वत दे दी, जिसने इन्हें मुक्त कर दिया। इन्होने तुरत गंगा पार कर संन्यास-जीवन ग्रहण किया और अपने भाई **रूपगोस्वामी** से भेंट करने यह मथुरा गये और वहाँ इन्होने चैतन्य से भेंट की। **सनातनगोस्वामी** ने दस ग्रन्थो की रचना की, जिनमे चौथी एवं छठी कोटि मे निर्धारित क्रमश. 'बृहद्वैष्णवतोषिणी (भागवत दशम स्कन्ध की टीका) तथा 'बृहद्भागवतामृत' अत्यन्त प्रसिद्ध है।

पंचम कोटि मे पाँच महत्त्वपूर्ण श्लोक-टीकाकारो एव कृतियों का उल्लेख है तथा दो कृतिकारो के नाम अनुल्लिखित है। इन पंक्तियो के लेखक को **वंशीधरशर्मा** एव **मधुसूदनसरस्वती** के विषय मे जानकारी है, पर अन्य पाँचो के विषय मे नही है।

मधुसूदनसरस्वती सुविख्यात वेदान्ती थे। उनका नाम तथा यश अद्वैतवेदान्त के इतिहास मे अतुलनीय है। वह जैसे उच्च कोटि के वेदान्ती थे, वैसे ही शीर्षस्थ भक्त भी थे। जनश्रुति है कि उनके तीन गुरु थे— **श्रीराम**, **माधव** एव **विश्वेश्वर**। ऐसी किंवदन्ती है कि उनका जन्म फरीदपुर जिले के अन्तर्गत कुटालीपाड़ा के किसी ग्राम मे हुआ था। उनके पूर्वपुरुष **राममिश्र** वैदिक ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम **प्रमोदन पुरन्दराचार्य** था। उनके तीन भाई थे— **श्रीनाथचूडामणि**, **यादवानन्द न्यायाचार्य** तथा **वागीशगोस्वामी**। उनके पूर्वाश्रम का नाम **कमलनयन** था। वह नवद्वीप मे **हरिराम तर्कवागीश** के छात्र थे और **गदाधरभट्ट** के सतीर्थ्य। उन्होने कुछ दिन पूर्वाश्रम में रहकर गृहत्याग किया। वह काशी मे चौसट्ठी घाट पर एक मठ में निवास करते थे। **तुलसीदास** के प्रति वह प्रगाढ श्रद्धा रखते थे। तुलसीदास की कविता के विषय मे यह श्लोक प्रसिद्ध भी है:

'आनन्दकानने काश्यां तुलसी जङ्गमस्तरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥'

सरस्वतीजी का आविर्भाव-काल सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी ऐसा अनुमान है कि सोलहवी शती के उत्तरार्द्ध तथा सत्रहवी शती के पूर्वार्द्ध मे वह अवश्य विद्यमान थे। वेदान्तशास्त्र मे १ 'अद्वैतसिद्धि', २ 'सिद्धान्तविन्दु', ३. 'वेदान्तकल्पलतिका', ४. 'अद्वैतरत्नरक्षण', ५ 'सक्षेपशारीरकसारसग्रह' एव 'गूढार्थदीपिकासग्रह' उनके महार्घ ग्रन्थ माने जाते है तो भक्तिशास्त्र मे १. 'भगवद्भक्तिरसायन' तथा इसके प्रथम उल्लास की टीका, २. 'श्रीमद्भागवतपुराणाद्यश्लोकटीका' एव ३. पुष्पदन्त-कृत 'शिवमहिम्नः-स्तोत्र' की टीका अतिशय समादृत कृतियाँ हैं। काव्यग्रन्थो में 'आनन्दमन्दाकिनी' तथा 'कृष्णकुतूहल' उल्लेख्य हैं।

वंशीधरशर्मा ने भागवत के प्रथम श्लोक पर 'श्रीमद्भागवताद्यपदव्याख्याशतकम्', टीका लिखी है। वह भागवत के विश्वकोश थे, साथ ही गौडीय सम्प्रदाय के अनुयायी और राधा के महाभक्त थे। वह कौशिक गोत्र के गौडीय ब्राह्मण थे। 'श्रीमद्भागवत' की स्वकृत अद्वैतमतानुसारणी टीका 'भावार्थदीपिकाप्रकाश' मे उन्होने **जीवगोस्वामी** तथा **विश्वनाथ चक्रवर्ती** का उल्लेख किया है। **श्रीधरस्वामी** की टीका 'भावार्थदीपिका' के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। यह सर्वविदित है कि **श्रीधरस्वामी** ने अपनी टीका मे राधा का कोई उल्लेख नही किया है, राधा के प्रति श्रद्धा एवं अनुराग की बात तो आकाशपुष्प ही है, फिर भी राधा के अनन्य भक्त और राधा मे ही एकनिष्ठ भक्ति रखनेवाले **वंशीधर** ने **श्रीधरस्वामी** के प्रति जो श्रद्धा-प्रसून समर्पित किये है, वह अतुलनीय और विस्मयोत्पादक है। **वंशीधर** अपने समय के अतिशय उद्भट और शीर्षस्थ विद्वानो मे अग्रगण्य थे। विद्यावारिधि **वंशीधर पण्डितराज जगन्नाथ** के उक्तिवैचित्र्य—**'इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं, नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः'** के प्रतीक थे। ऐसा शिखरस्थ विद्वान् अत्यन्त विनीत भाव से 'समित्पाणि' औपनिषदिक ब्रह्मचारी के सदृश कहता है कि सरस्वती के वरद पुत्र, सर्ववेत्ता श्रीधर की महती कृपा से ही वह अपनी टीका, उनके भाष्यार्थ के विशदीकरण-मात्र के लिए ही रच रहा है। इस प्रकार के प्रकाण्ड विद्वान् गौडीय वैष्णव **वंशीधर** से मथुरा के पार्वतेय विद्वानो ने विनयपूर्वक 'श्रीमद्भागवत' की टीका लिखने का अनुरोध किया था, जिसके फलस्वरूप, उस भारतीपुत्र की प्रौढ लेखनी से 'भावार्थदीपिकाप्रकाश' टीका प्रस्तुत हुई। स्वय **वंशीधर** कहते है **'अथ मथुराविद्वज्जनप्रेरणया श्रीवंशीधरशर्मा मङ्गल व्याकरोति।'** परन्तु, संस्कृत-साहित्य का अभाग्य है कि यह ग्रन्थ सम्प्रति सुदुर्लभ है। सम्भव है, यह किसी प्राचीन पुस्तकालय या किसी भाग्यशाली ग्रन्थसग्रही के पास सुरक्षित हो।

षष्ठ श्रेणी मे उल्लिखित **वोपदेव** और उनकी कृतियो पर थोड़ी बहुत जानकारी उपलब्ध है। **वोपदेव** की जन्मभूमि आधुनिक दौलताबाद (दक्षिण) के समीप थी। उनके पिता का नाम **केशव** था। वह अपने समय के विश्रुत भिषक् थे। उनके गुरु का नाम **धनेश** अथवा **धनेश्वर** था। उस समय देवगिरि पर यादवो का राज्य था। उनका जीवनकाल तेरहवी शती है। वह देवगिरि के यादवराजा **महादेव** एव **रामचन्द्र** के राज्यकाल मे थे। इन राजाओ के करणाधिपति और मन्त्री थे **हेमाद्रि** (**कलिदास** के 'रघुवश' के एक टीकाकार) और उनकी प्रसन्नता के लिए कविराज वोपदेव ने कुल छब्बीस ग्रन्थो की रचना की - सस्कृत-व्याकरण के दस, वैद्यक के नौ, तिथिनिर्णय का एक, साहित्य के तीन और भागवत-तत्त्व के तीन—'परमहंसप्रिया', हरिलीलामृत' (हरिलीला) एवं 'मुक्तफल'। इनमे 'हरिलीलामृत' और 'मुक्ताफल' मुद्रित है। 'हरिलीलामृत' का ही दूसरा नाम 'भागवतानुक्रमणिका' ('अनुक्रम' या 'अनुक्रमणिका' भी) है। वोपदेव उच्च कोटि के वैयाकरण भी थे और उनके विषय मे प्रसिद्धि है कि वह क्रीडा-कौतुक जैसी सरल पद्धति से बालको को व्याकरण सिखा देना चाहते थे। वोपदेव ने 'हरिलीलामृत' मे समग्र भागवत का साराश दे दिया है।

सनातनगोस्वामी और रूपगोस्वामी के जीवन एवं उनकी कृतियों की चर्चा पहले ही यथास्थान कर दी गई है।

पुष्टिमार्गी विट्ठलदीक्षित वल्लभ के द्वितीय पुत्र थे। उन्होने 'निबन्धविवृतिप्रकाश', डॉ० दासगुप्त के अनुसार, 'दशमस्कन्धविवृति' ग्रन्थ लिखा है। यह वल्लभाचार्य-लिखित 'भागवततत्त्वनिबन्ध' की टीका है। 'भागवततत्त्वदीपप्रकाशावरणभग' के लेखक पीताम्बर भी पुष्टिमार्गी थे। वल्लभ द्वारा लिखित कारिकाओ पर उनकी ही स्वरचित टीका के प्रथम भाग पर पीताम्बर ने यह ग्रन्थ लिखा है। 'भागवतनिबन्धयोजना' एव 'भागवतपुराण-स्वरूपविषयशकानिरास' के लेखक पुरुषोत्तम, वल्लभ के वशज थे। उनका जन्म सन् १६७० ई० मे हुआ। वह वल्लभ-सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ प्रमुख सदस्यो मे अन्यतम थे। उनकी 'भागवतनिबन्धयोजना' वल्लभ की 'सुबोधनी' की टीका पर आधृत है। 'भागवतस्वरूप-विषयशकानिरास' (डॉ० दासगुप्त ने अपने ग्रन्थ मे इसका नाम 'उपदेश-विषय-शंका-निरासवाद' लिखा है, जो सम्भवत उक्त ग्रन्थ का इतर सक्षिप्त नाम है) उनकी दूसरी रचना है।

नवम श्रेणी में उल्लिखित छह ग्रन्थो मे इन पक्तियो के लेखक को चार ग्रन्थो के विषय मे जानकारी नही प्राप्त हुई है। 'गोपालचम्पू' के विषय में जीवगोस्वामी के प्रसंग मे यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। कविकर्णपूर (सोलहवीं शती) ने अपने 'आनन्दवृन्दा-वनचम्पू' मे श्रीकृष्ण की ललित लीलाओ का वर्णन सरस शब्दावली मे किया है। ग्रन्थकार अपने समय के लब्धकीर्त्ति श्रेष्ठ कवियो मे थे। इनका नाम गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय के परिपोषक कवियो मे अत्यन्त समादृत है।

डॉ० सुरेन्द्रनाथदास गुप्त ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास मे पैतालीस टीकाओ और सात ग्रन्थकारो के नाम दिये है, जिनमे 'अमृततरगिणी' के कर्त्ता श्रीरसाचार्य, सुबोधिनीकार बालकृष्णयति एव ग्रन्थकार विश्वेश्वर के नाम छोडकर अन्य सभी नाम श्रीचटर्जी द्वारा प्रोक्त है। श्रीचटर्जी की सूची मे जहाँ एक सौ छत्तीस नाम दिये गये है, डॉ० दासगुप्त ने केवल बावन नाम दिये है। श्रीचटर्जी की सूची मे जिस प्रकार कतिपय अत्युत्कृष्ट टीका-ग्रन्थ अचर्चित हैं, उसी प्रकार डॉ० दासगुप्त के विषय मे भी है। उन अचर्चित टीकाग्रन्थो के नाम इस प्रकार है . १ 'दीपनी' : राधारमणगोस्वामी, २ 'भावार्थदीपिकाप्रकाश' · वंशीधर शर्मा, ३ 'अन्वितार्थप्रकाशिका' गंगासहाय, ४. 'सिद्धान्तप्रदीप' शुकदेवाचार्य, ५. 'भक्तमनोरजनी' : भागवतप्रसाद, ६. हरिभक्ति-रसायन' . हरिसूरि एव ७ 'वेदस्तुति' : नीलकण्ठ चतुर्धर।

'दीपनी' श्रीराधारमणगोस्वामी द्वारा रचित 'श्रीमद्भागवत' की अद्वैतमतानुसारिणी टीका है। यद्यपि इनकी प्रवृत्ति गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुकूल है, तथापि इनकी टीका श्रीधरी टीका की ही विशद व्याख्या है। इन्होने अपने टीकाग्रन्थ मे केवल यही निर्देश किया है कि इनके पिता का नाम गोवर्द्धनलाल तथा माता का नाम किशोरी था। इनके पितामह का नाम जीवनलाल तथा पितामही श्रीकृष्णकुँअर थी। जीवनलाल इनके

पितामह और आध्यात्मिक गुरु थे। वशीधर शर्मा द्वारा रचित 'भावार्थदीपिकाप्रकाश' टीकाग्रन्थ के विषय मे पहले ही विवेचन कर दिया गया है। 'अन्वितार्थप्रकाशिका' टीका-ग्रन्थ **गंगासहाय** द्वारा विरचित है। यह सम्भवत बूँदीनरेश **श्रीरामसिंह** एवं **श्रीरघुवीरसिंह** के मन्त्री थे। इन्होंने अपने विषय मे विवरण नही दिया है और ऐसा लगता है कि अतिवृद्धावस्था मे अपनी टीका की रचना की थी; क्योकि अपने विषय मे लिखते है 'जडधीर्निरपत्रपोऽहम्।' भागवत का अर्थ समझने के लिए यह अत्यन्त उपादेय टीका है। इस टीका मे प्रत्येक शब्द का अर्थ और व्याकरण की विशेषताएँ यथास्थान विवेचित है। 'सिद्धान्तप्रदीप' टीकाग्रन्थ निम्बार्कमतानुयायी **श्रीशुकदेवाचार्य** द्वारा लिखित है। **डॉ० दासगुप्त** ने इनके विषय में कुछ नही लिखा है, परन्तु **पं० बलदेव उपाध्याय** ने 'भारतीय दर्शन' में तथा **डॉ० गणेश वासुदेव टगोर** ने अपने अँगरेजी-अनुवाद की भूमिका में इनका उल्लेख-मात्र किया है। 'भक्तमनोरजनी' टीका **भागवतप्रसाद**-रचित है। इनका नामोल्लेख **डॉ० गणेश वासुदेव टगोर** ने भागवत के अँगरेजी-अनुवाद की भूमिका में किया है। 'हरिभक्तिरसायन' के लेखक **हरिसूरि** है। इन्होंने सवत् १८९४ वि० (सन् १८३७ ई०) के आसपास 'भक्तिरसायन' नामक टीकाग्रन्थ लिखा था। अर्थ श्लोकों मे लिखा गया है। श्लोको की संख्या लगभग पाँच सहस्र है। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के उनचास अध्यायों के मूल एवं अर्थ के आधार पर उत्कृष्ट भावो की उद्भावना की गई है।

'वेदस्तुति' भागवत के दशम स्कन्ध के ८७वे अध्याय मे अट्ठाईस श्लोको मे वर्णित है। इसमे भागवत के सारतत्त्व का संग्रह तथा षड्दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसकी टीका **नीलकण्ठ चतुर्धर** ने की है, जो अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है और उनकी बहुमुखी प्रतिभा का द्योतन करती है। सत्रहवी शती के अन्त में उनका आविर्भाव काशी मे हुआ। उनके पिता का नाम **गोविन्दसूरि** और माता का नाम **फुल्लाम्बिका** था। उनके पूर्वज **गोविन्द** कूर्परग्राम अथवा कोपरगाँव मे गोदावरी-तट पर कचेश्वर और शुक्रेश्वर-मन्दिर के निकट निवास करते थे। कोपरगाँव से ये लोग क्रमशः तीन स्थानों मे होते हुए, अन्त मे पैठण मे जाकर बस गये। यह पैठण अहमदनर जिले मे है। कूर्परग्राम से **कमलाकर** नामक पण्डित काशी आये थे और यही रहते हुए उन्होने **नीलकण्ठ** के समय 'आचारप्रदीप' की रचना की थी। नीलकण्ठ के गुरु क्रमश. 'भूमा' मे **गोपाल**, 'वेद' में **शिव**, 'वेदान्त' मे **लक्ष्मणार्य**, 'ऋतुविधि' मे **नारायणतीर्थ**, 'तर्क' मे **धीरेशमिश्र**, 'महाभाष्य' मे **गोलगंगाधर** और 'श्रौत' मे **चिन्तामणि** थे। ये सभी अपने समय के सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न उद्भट विद्वान् थे।

कहना न होगा कि 'श्रीमद्भागवत' की उपरिवर्णित टीकाएँ और टीकाकार अपनी वैचारिक मौलिकता और शास्त्रीय गहनता के कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ और ग्रन्थकार की गरिमा से विमण्डित है। ये ग्रन्थ यदि वैष्णव-वाङ्मय की महानिधि है, तो ग्रन्थकार प्राचीन वैष्णव-साहित्यकारों मे शलाकापुरुष की महिमा आयत्त करते है। ●●

△ **सावित्री-सदन, 'बी' एरिया, मीठापुर, पटना-८००००१**

साबिन-आलुन : करबी-रामायण

डॉ० कृष्णनारायणप्रसाद 'मागध'

करबी (असमीया-उच्चारण : 'कार्बी')-जाति असम के मुख्यत. करबी-आङलाङ जिले मे बसी है। थोड़ी आबादी पड़ोसी इलाको—शिवसागर, नगाँव एव कामरूप जिलो मे भी है।[1] तिब्बती-बर्मी-वर्ग की हिन्द-मंगोलीय जातियो मे करबी-जाति का विशिष्ट महत्त्व है। करबी लोग अपने को 'आरलेङ' (मनुष्य) कहते है। 'करबी' नाम 'आरलेङ' की अपेक्षा नवीन है। 'करबी' नाम क्यो पड़ा, इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कठिन है। उनमे प्रचलित विश्वास है कि राम के बाण (कर मे बाण) के वाहक अथवा धारक होने के कारण ही वे 'करबी' कहलाये। वे 'मिकिर' नाम से भी जाने जाते हैं। मिकिर नाम उन्हे दूसरे पड़ोसियो (मुख्यत असमी-हिन्दुओ) से मिला है।[2] आजकल 'करबी' शब्द ही अधिक प्रचलित हैं। ध्यातव्य है कि करबी' और 'मिकिर' शब्द उनकी जाति और भाषा, दोनो के बोधक है, किन्तु 'आरलेङ' केवल जातिसूचक शब्द है।

करबी मूलत प्रकृतिपूजक ('एनिमिस्ट') है, किन्तु गिरिवासियो की अपेक्षा मैदानी इलाको मे निवास करनेवाले लोग अपेक्षया प्रभावशाली एव सुसंस्कृत पडोसी हिन्दुओ की रीति-नीति, वेश-भूषा, खान-पान, आचार-विचार और संस्कारो से अधिक प्रभावित है। इधर मिशनरियों के अबाध धर्मप्रचार के परिणामस्वरूप दो-चार प्रतिशत ने ईसाइयत भी स्वीकार कर ली है। नवधर्मान्तरित ईसाइयो से अन्तर करने की दृष्टि से परम्परीण करबी लोग अपने को 'हहारी'/'हङहारी' (ससारी) कहते है। गैर-ईसाई (ससारी) करबी लोगो की जीवन-पद्धति पडोसी हिन्दुओ की जीवन-पद्धति से प्राय मिलती-जुलती है। शिक्षा के प्रचार से दोनो मे अन्तर मिटता-सा जा रहा है।

---

१. करबी-सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य :
   (क) एटि दृष्टित करबी-मिकिर (असमीया). श्रीजयसिङ तेराङ, असम-साहित्य-सभा, सन् १९६५ ई०।
   (ख) करबी-जनगोष्ठी (असमीया) : श्रीलङकम तेरान, असम-साहित्य-सभा, सन् १९७४ ई०।
   (ग) करबी लामतासाम : आर० तेराङ, सन् १९७४ ई० एवं सन् १८७२ ई० और उसके बाद की जनगणना के प्रतिवेदन।

२. 'मिकिर' शब्द अनादरसूचक माना जाता है, इसीलिए इस शब्द का प्रचलन सरकारी स्तर पर रोक दिया गया है। इसकी जगह अब केवल 'करबी' शब्द ही चलता है।—ले०

करबी (अथवा मिकिर)-भाषा को ग्रियर्सन ने नगा-बोड़ो-उपवर्ग के अन्तर्गत माना है, किन्तु इसका किंचित् साम्य कुकीचिन-वर्ग की भाषाओं से भी दिखाई पड़ता है। इसलिए, इसे नगा और कुकीचिन के मध्य की कड़ी या उनकी अन्तरालवर्त्तिनी भाषा कहना संगत है। इस भाषा ने पड़ोसी समृद्ध भाषा असमीया से बहुत-से शब्द ग्रहण कर उन्हें अपनी प्रकृति के अनुरूप ढाल लिया है। थोड़े शब्द इसने पड़ोसी खासी-भाषा से भी लिये हैं। इधर रेडियो आदि बहुजन-सम्प्रेषण के माध्यमों की सुविधा हो जाने के कारण इसमें नये-नये शब्दों को ग्रहण करने और पचाने की क्षमता भी बढ़ी है। परिणामतः, बोलचाल की भाषा और जनसमाज में परम्परा से प्रचलित मौखिक साहित्य (मुख्यतः लोकगीतों, लोकगाथाओं) की भाषा मे पार्थक्य बढता जा रहा है।

करबी-जाति की लोकप्रिय गाथा साबिन-आलुन की भाषा न केवल परम्परीण, अपितु प्राचीन भी है। बड़े-बूढों और यहाँतक कि बुजुर्ग गायकों में भी अधिकांश को इसकी भाषा अबूझ अथवा दुरूह प्रतीत होती है। दुरूहता का एक कारण यह भी है कि करबी-लोकगीतों और लोकगाथाओं (जिनमें साबिन-आलुन भी है) में ललित और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए विशेष अर्थबोधक पद अथवा शब्द प्रयुक्त मिलते हैं जिनके प्रचलन बोलचाल की भाषा मे प्राय. नहीं हैं।

साबिन-आलुन :

सामान्य परिचय : ध्यातव्य है कि करबी-समाज मे प्रचलित रामकथा की आख्या रामकथा अथवा रामायण नही है। यह एक लोकगाथा-मात्र है. जिसकी अभिधा है—साबिन आलुन। करबी-भाषा में 'लुन' का अर्थ है—गान या गीत। 'साबिन' व्यक्तिवाचक संज्ञा है। इस लोकगाथा के सम्भवतः प्रथम गायक (अथवा रचयिता?) का नाम साबिन है। साबिन-आलुन का शाब्दिक अर्थ है—साबिन का गीत. यानी साबिन नामक व्यक्ति द्वारा गाया (या रचा ?) गया गीत।

साबिन-आलुन लगभग ढाई हजार पंक्तियों की लोकगाथा है।[1] इसके आनुष्ठानिक रूप से गान और अभिनय में कतिपय विधि-निषेधों के पालन करने का भी विधान है।

---

१. साबिन-आलुन (छाबिन-आलुन), डिफु-साहित्य-सभा, जून, १९७६ ई०। डिफु-साहित्य-सभा द्वारा प्रकाशित पाठ अपूर्ण है। उसमें कुल ११२८ पंक्तियाँ हैं, जिनमें सीताहरण के पश्चात् लक्ष्मण द्वारा एक साथ भात खाने के लिए किये गये आग्रह पर राम के भात पकाने की तैयारी (लगभग आधी कथा) तक की ही कथा है। इसका एक अन्य रूपान्तर श्रीशामसिंह हान्से ने भी संकलित किया है, जो अभी अप्रकाशित है। प्रस्तुत लेखक ने उक्त रूपान्तर को भी देखा है। दोनों रूपान्तरो में पार्थक्य अधिक है। यह दूसरा रूपान्तर पहले की अपेक्षा वाल्मीकीय रामकथा के अधिक निकट और अपेक्षया कम प्राचीन है। प्रथम रूपान्तर का प्रस्तुत लेखक ने देवनागरी में लिप्यन्तरण और हिन्दी एवं अँगरेजी में अनुवाद (अप्रकाशित) भी किया है।—ले०

आनुष्ठानिक गान के लिए वातावरण की पवित्रता पर विशेष बल दिया जाता है। लोक-विश्वास है कि किसी भी गायक को एक ही बार मे इसका आद्योपान्त गान नही करना चाहिए। आनुष्ठानिक रूप मे इसे बारह दिनो मे गाये जाने का विधान है, पर आजकल प्राय तीन दिनो मे पूरा गा लिया जाता है। पुन यह भी विश्वास है कि किसी भी गायक को अपने जीवन मे बारह बार (तीन दिनो मे पूरा गानेवालो के लिए केवल तीन बार) से अधिक इसका आनुष्ठानिक गान नही करना चाहिए एवं अन्तिम बार गान समाप्त किये जाने पर विशेष अनुष्ठान करने — मुरगी की बलि देने, मदिरा ढालने आदि के विधान हैं। इन विधि-निषेधो के कारण अस्वाभाविक नही कि इसके गायक आज इक्के-दुक्के ही मिल पाते है। खेद का विषय कि आजकल ईसाइयत के प्रचार और आधुनिक चकाचौध का प्रभाव बढ़ जाने के कारण भी इस गाथा की जनप्रियता कम होती जा रही है।

'साबिन-आलुन' के राम-लक्ष्मण और सीता हैं नारायण (परब्रह्म) और उनकी पत्नी (लक्ष्मी ?) के अवतार ही, पर यह मानना भूल होगा कि इस लोकगाथा का महत्त्व धार्मिक है। न तो यह धार्मिक लोकगाथा है और न करबी-समाज मे इसका धार्मिक महत्त्व है। इसका महत्त्व केवल सामाजिक और सांस्कृतिक है। वास्तविक अर्थ मे यह करबी-समाज का सामाजिक-सांस्कृतिक दर्पण है। धार्मिक पूजा-उपासना की दृष्टि से कोई भी जाति अथवा समाज भले ही भिन्न रहा है, पर इसमे दो मत नही कि 'रामायण' की कहानी ने न केवल भारत की विभिन्न वनवासी-गिरिवासी जातियों के, अपितु भारतेतर देशो की असख्य जातियो के सांस्कृतिक निर्माण मे भी पर्याप्त योगदान किया है। करबी-समाज के सामाजिक-सास्कृतिक ढाँचे को निर्मित करने मे भी इसके अपूर्व योगदान को नकारा नहीं जा सकता। तभी, करबी लोग इस गाथा को न केवल पवित्र तथा शुभ एवं दानवता पर मानवता की विजय का प्रतीक मानकर इसके प्रति आदर का भाव प्रकट करते और गान मे विधि-निषेधो का दृढतापूर्वक पालन करते है, अपितु मानव-मूल्यो के निर्धारण की दृष्टि से भी इसे मापक मानदण्ड स्वीकार करते है।

करबी-समाज मे रामकथा कब से प्रचलित हुई और उसने इस लोकगाथा ('साबिन-आलुन') का रूप कब लिया, इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना अनुमानाश्रित-मात्र ही होगा। बूढे-बुजुर्ग भी इस विषय मे कुछ नही जानते। उनमे मौखिक प्रचलन से ही यह आजतक पीढी-दर-पीढी चलती आई है। श्रीरेंङ बॅड तेरॉङ के अनुमान से असमीया-समाज मे माधवकन्दलीय रामायण के लोकप्रिय होने के पश्चात् ही इस गाथा को आकार मिला होगा। माधवकन्दलि ने वराही राजा महामाणिफा (महामाणिक्य) के आश्रय मे पहली असमीया-रामायण लिखी थी। असम्भव नही कि तभी करबी-प्रजा मे भी महामाणिफा की माधवकन्दलीय रामायण की कथा प्रविष्ट हुई हो। इसका अनुमान इससे भी होता है कि करबी-गोकगीतो मे 'माणिक' नाम बहुधा आता है, जो राजा की लोकप्रियता का प्रमाण है। पुन. रामायणकार माधवकन्दलि के जन्मक्षेत्र मध्य असम मे उनकी कृति का शीघ्रतापूर्वक लोकप्रिय बन जाना भी असम्भव नही है। साथ ही, वह इसे माधवकन्दलीय

रामायण से अनुप्रेरित भी मानते है।[1] किन्तु, श्रीतेरॉङ के अनुमान से सबका सहमत होना आवश्यक नही। तर्क की दृष्टि से उनका अनुमान साधार नही प्रतीत होता। यदि उनका अनुमान मान लिया जाय, तो भी 'साबिन-आलुन' के प्रचलन का समय (चौदहवीं शती नही) पन्द्रहवीं शती के पूर्व कूता ही नही जा सकता।

श्रीरॅङ बॅङ तेरॉङ ने 'साबिन-आलुन' को माधवकन्दलीय रामायण से अनुप्रेरित माना है, किन्तु दोनों के तुलनात्मक अनुशीलन से विदित होता है कि 'साबिन-सालुन' मे कथाप्रसंगों की भिन्नता तो है ही, कथाक्रम मे भी भिन्नता है। अतएव, यह कहना अपेक्षित नही कि माधवकन्दलीय रामायण वाल्मीकीय रामायण का पुनराख्यान-मात्र है—विशुद्ध शास्त्रीय परम्परा की साहित्यिक कृति है, जबकि 'साबिन-आलुन' सर्वथा लोक-परम्परा पर आधृत सर्वजनप्रिय सुखबोधक लोकगाथा-मात्र। वस्तुतः, माधवकन्दलीय रामायण की कौन कहे, 'साबिन-आलुन' की प्रेरणा के मूल मे कोई भी परम्परीण साहित्यिक या धार्मिक रामायण नहीं है।

श्रीतेरॉङ ने ही एक अन्य बात सुझाई है, जो अधिक महत्त्व की है· करबी लोगो ने जब 'झूम' खेती पर निर्भरता छोड़ स्थायी बस्तियाँ बसाकर मैदानी इलाको मे खेती शुरू की होगी, सुसस्कृत पड़ोसी हिन्दुओ से उनका सम्पर्क हुआ होगा एव तत्परिणाम-स्वरूप जातीय कट्टरपन की जगह उनमे पान्थिक सहिष्णुता विकसित हुई होगी, सम्भवत· तभी उनमे रामकथा प्रविष्ट हुई होगी।[2] इस आधार पर अनुमित होता है कि उनमे रामकथा का प्रवेश और प्रचार चौदहवी-पन्द्रहवी शती मे नही, बल्कि उसके कई शतियो पूर्व ही हुआ होगा। यह और बात है कि उनमे रामकथा के प्रचलित होने, लोकप्रियता प्राप्त करने इत्यादि के कई शती पश्चात् ही 'साबिन-आलुन' को आकार मिला हो। उनमें प्रचलित एक अन्य लोककथा (सृष्टि की कथा) से भी रामकथा के प्राचीन प्रचलन के अनुमान की पुष्टि होती है।

नगाँव जिले के डवका मे प्राप्त अवशेषो पर विचार करते हुए प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० सूर्यकान्त भूञा ने डवका को गुप्त-साम्राज्य का अंग माना है। प्राप्त अवशेष वहाँ किसी प्राचीन हिन्दू-साम्राज्य के अस्तित्व के साक्ष्य उपस्थित करते है।[3] वह अंचल करबी-जाति की मुख्य वासभूमि के न केवल निकट है, बल्कि उसकी वासभूमि भी है। असम्भव नही कि हिन्दू रीति-नीतियों ओर धार्मिक-सामाजिक किस्से-कहानियो से उनका परिचय तभी हुआ हो। रामकथा के छिटपुट प्रसंगो के प्रवेश भी, असम्भव नही, तभी से आरम्भ

१. श्रीरॅङ बॅङ तेराङ : साबिन-आलुन, दि करबी-रामायण, एन् आर्टिकिल इन दि सोवेनियर, ऑल इण्डिया ट्राइबल कॉन्फ्रेंस, सन् १९७८ ई०, गुवाहाटी, पृ० ३६।

२. उपरिवत्, पृ० ३५।

३. डॉ० एस्० के० भूञा : ऐंग्लो-आसामीज् रिलेशन्स, सन् १९४७ ई०, पृ० ४५।

हुए हो। परम्परागत रूप से कई शतियो तक चलनेवाली अति मन्द प्रवेश-प्रक्रिया ने करबी लोगों को रामकथा के अति त्रुटित रूप से ही सही पर परिचित अवश्य करा दिया होगा। कथा से परिचित होने के सौ-दो सौ वर्षों के पश्चात् ही कभी उन्होंने उसे गाथा का रूप दिया होगा।

सुसंस्कृत पड़ोसियो में प्रचलित लोकप्रिय रामकथा ने यदि किसी साहित्यिक कृति (रामायण) के माध्यम से करबी-समाज मे जड़े जमाई होती, तो उसमे उस रामकथा का लुटित रूप नही होता। निश्चय ही, उसने किसी जनप्रिय लोकमाध्यम — गीत-नृत्य, खेल-तमाशे (ओजापालि, ढुलिया, भाड़ीगान, कठपुतली-नृत्य इत्यादि) से और वह भी एक ही बार समग्रता मे नही, वरन् शनै-शनै कई खण्डो मे प्रसग-प्रसग बँटकर ही प्रवेश किया होगा। इसलिए, उस समाज मे यदि वाल्मीकीय परम्परा की रामकथा का शुद्ध और सर्वथा सरल रूप भी घर न कर सका, तो आश्चर्य कैसा ! मैंने अन्यत्र दुर्गावर ('गीत-रामायण') एवं रघुनाथ महन्त ('शत्रुंजय' एव 'अद्भुतरामायण') की रचनाओ पर विचार करते हुए असम की लोक-परम्परा मे रामकथा के किंचित् भिन्न रूप मे प्रचलित होने का अनुमान किया है। असम्भव नही कि लोकधारा की ही कोई रामकथा लोकमाध्यम से करबी-समाज में प्रविष्ट हुई हो। बात कुछ भी हो सकती है। इतना अवश्य है कि रामकथा ने करबी-समाज में प्रविष्ट होकर अपना सर्वथा स्वतन्त्र और नवीन विकास किया है। कम-से-कम 'साबिन-आलुन' मे गेय बनी रामकथा कलमी पौधे-सी बिलकुल नही रह गई है। वह करबी-परिवेश से आद्योपान्त इतनी ओतप्रोत है कि रामभक्त वैष्णवों को उसे अपना कहने मे भी शायद संकोच हो। इसके बावजूद, वह वाल्मीकीय परम्परा की ही रामकथा है। असम्भव नही कि उसका गान आज से हजारो वर्ष पहले प्रचलित हुआ हो, किन्तु पीढी-दर-पीढी मौखिक प्रचलन से उसकी काया किंचित् परिवर्त्तित होती रही हो। वर्त्तमान समय मे प्रचलित 'साबिन-आलुन' की भाषा एव उसमे निहित एकाध विचार (राम को परब्रह्म का अवतार मानना आदि) उसे ढाई-तीन सौ वर्षो से अधिक प्राचीन सिद्ध करने मे अक्षम है, किन्तु केवल इस आधार पर ही उसका रचनाकाल भी ढाई-तीन सौ पूर्व स्थिर किया जाना कदाचित् सगत नही होगा।

कथासार : प्राचीन काल मे स्वय परब्रह्म (नारायण) ने देवता और दस्युओ को अनुशासित करने के लिए पृथ्वी पर जन्म लिया था। पृथ्वी पर नर-रूप मे वह राम-लक्ष्मण नाम से दशरथ के पुत्र-रूप मे उत्पन्न हुए थे। राम-लक्ष्मण के उत्पन्न होने के पूर्व ही लंका मे वीर राक्षस रावण और उसके भाइयो का जन्म हो चुका था। रावण (**राबण**) के बारह सिर थे। उसके बारह रानियाँ थी। उसके तीन और भाई थे—विभीषण (**बिमीखन**), महिरावण (**राबणमहि**) और मेघनाद (**मेकनात**)। रावण बड़ा पराक्रमी, शक्तिशाली और अत्याचारी था। वह सदा अत्याचार और पापकर्म मे लिप्त रहता था। उसके अत्याचार से त्रस्त हो देवता आपस मे निर्णय करके एकदिन नारायण के पास गये और रावण के अत्याचारो से मुक्ति के लिए उनसे उन्होने प्रार्थना की। नारायण ने पृथ्वी पर

आकर रावण के अत्याचारों का पता लगाकर लौटने पर इस सम्बन्ध में अपनी पत्नी (लक्ष्मी ?) से विचार-विमर्श किया। रावण के अत्याचारों को समाप्त करने के लिए दोनों ने अन्ततः पृथ्वी पर नर-रूप मे जन्म लेने का निश्चय किया। नारायण ने स्वयं राम-लक्ष्मण के नाम से दशरथ के पुत्र-रूप मे जन्म धारण करने को सोचा एवं अपनी पत्नी को जनक राजा (**जनक रेचें/बामन पो/हेमफु बामन**) के घर मे सीता (**सीता कुङरी/सिङता कुङरी/इता कुङरी; कुङरी < कुवँरी < कुमारी**) के नाम से जन्म लेने को कहा।

नारायण के आदेश पर लक्ष्मी (?) एक विस्तृत मैदान मे मयूर पक्षी के अण्डे के रूप में प्रकट हुई। पशुचारण के समय उस अण्डे पर चरवाहों की नजर पड़ी। चरवाहो ने उसे उठा लिया और पहचान के लिए हेमफु (अधीश्वर, राजा, ग्रामवृद्ध) के पास उसे वे ले गये। हेमफु ने बताया कि वह मयूर पक्षी का अण्डा है। चरवाहो ने अण्डे को उबालकर खाने को सोचा, किन्तु हेमफु बामन (जनक ब्राह्मण) ने उसके विषाक्त होने की आशका प्रकट कर खाने से मना कर दिया। इस प्रकार, झाँसा देकर जनक ने चरवाहों से अण्डे को स्वय खाने के लिए प्राप्त कर लिया और अपनी पत्नी हेमफी (वसुमती ?) को उसे बाँस से निर्मित टोकरी मे रख देने के लिए कहा। हेमफी ने अण्डे को टोकरी मे रख दिया। हेमफु उसे खाना भूल गया और खेत मे काम करने के लिए पाही पर चला गया। इधर अण्डा दिनानुदिन बढने लगा। कुछ दिनों के पश्चात् हेमफी ने देखा कि अण्डा एक सुन्दरी बालिका के रूप में परिणत हो गया है! हेमफी ने उस बालिका को पुत्रीवत् स्वीकार कर लिया और उसका नाम 'सीता कुङरी' रखा।

हेमफी ने सीता का यत्नपूर्वक लालन-पालन किया और उसे अन्य लोगों की नजरों से बचाये रखा। सीता दिन-दूनी रात-चौगुनी बढने लगी। उसने बाहर जाकर अन्यो के साथ मिलकर खेलने की इच्छा प्रकट की, किन्तु माता हेमफी ने उसे बाहर जाकर दूसरो के साथ खेलने से इसलिए मना कर दिया कि कही लोग उससे ईर्ष्या न करे।

हेमफु का गृहाराम बड़ा ही सुन्दर था, किन्तु देखभाल के अभाव मे वह झाड़-झंखाड़ो से पूरी तरह आच्छादित हो गया था। एक दिन खेल-खेल में ही सीता ने आराम के सारे झाड-झखाड़ो उखाड़कर साफ-सुथरा कर दिया। वही लोहे का एक विशाल धनुष भी पड़ा हुआ था। सीता ने उसे बायें हाथ से उठाकर दाहिने हाथ मे ले अन्यत्र रख दिया एवं उस स्थान को लीप-पोतकर सुन्दर बना दिया। इससे गृहाराम पहले की तरह ही आकर्षक हो गया। इसे देखकर हेमफी [अधीश्वरी, रानी; वसुमती (?), सीता की माता] चकित रह गई।

सीता ने अभी तक अपने पिता को नही देखा था। एक दिन उसने माता से अपने पिता के बारे में पूछा। माता ने बताया कि वे 'झूम' खेती करने के लिए पाही पर गये हुए है। पाही पर बारह खेत है। वह वही है। सीता ने वहाँ जाने को सोचा। अतः, माता की आज्ञा से वह खाद्य और पेय—भात, शराब (लाओपानी=भात को सड़ाकर

बनाई गई शराब) इत्यादि टोकरी मे सजाकर, उसे माथे के सहारे पीठ पर लटकाकर पिता के पास गई। पाही पर मड़ई मे पहुँच सीता ने उस (मड़ई) की सफाई की और पिता को भात खा लेने के लिए बुलाया। सीता की पुकार सुन हेमफु चकित रह गया। वह उसे पहचान तो नही सका, पर बार-बार पुकारे जाने पर वह मड़ई मे आया और भात-पानी खा लेने के पश्चात् घर जाकर सीता के विषय मे जानकारी प्राप्त करने की बात उसने सोची। सीता के साथ ही वह घर लौट आया। उसकी पत्नी हेमफी ने उसे सीता के विषय मे सारी जानकारी दी। सब कुछ सुन लेने के पश्चात् उसे प्रसन्नता हुई। गृहाराम को साफ-सुथरा और धनुष को अन्यत्र रखा देख वह भी आश्चर्य मे पड़ गया। यह जानकर कि सीता ने उसे उठाकर रखा है, वह जितना आश्चर्यित हुआ, उतना ही प्रसन्न भी। तभी हेमफी से विचार-विमर्श करके हेमफु ने निश्चय किया कि उस धनुप पर प्रत्यचा (डोरी) चढा देनेवाले व्यक्ति के साथ ही वह सीता का विवाह करेगा।

हिमालय के अचल मे एक राज्य था, जिसकी राजधानी आजोथा (अयोध्या) थी। वहाँ के राजा धरम रेचें [धर्मपरायण राजा, दशरथ (?)] थे। उनके दो रानियाँ थीं— करबी (मानवी, कौशल्या ?) और हिंईपी (मानवी-रूपी राक्षसी; कैकयी ?)। धरम रेचें नि सन्तान थे। एक दिन वे चमकुरु (यमराज) के पास गये। उन्होने चमकुरु से सन्तान-प्राप्ति का उपाय पूछा। चमकुरु ने उन्हे सन्तरे (अन्य रूपान्तर मे आम) के एक विशेप पेड़ के बारे मे बताया और उसका एक फल ले जाकर रानियो को खिलाने के लिए कहा। दशरथ (धरम रेचें) एक छड़ी लिये उक्त वृक्ष के निकट गये। वृक्ष सन्तरों से लदा था। उन्होंने उसपर छड़ी से एक वार प्रहार किया। सन्तरे गिरे तो अनेक पर दशरथ को मात्र एक छोटा-सा कच्चा सन्तरा ही हाथ लगा। उसे ही ले वह घर लौटे। रानियो द्वारा पूछे जाने पर उन्होने सारी बातें बताई और उन्हे खाने के लिए सन्तरा दे दिया। पूरा सन्तरा अकेली हिंईपी ही खा गई। इससे करबी (बड़ी रानी) बड़ी दु खी हुई। घर को बुहारने पर उसे सन्तरे के छिलके-भर मिले। उसने छिलके मे से ही कुछ को खा लिया और कुछ को घाँघरे (पिनि) मे बाँधकर रख लिया। दोनों रानियाँ गर्भवती हुई और यथासमय शुक्ल पक्ष मे, सूर्योदय की वेला मे, दोनो पुत्रवती बनी। करबी के पुत्र हुए राम और हिंईपी के लक्ष्मण (लखन)। जन्माशौच की समाप्ति के पश्चात् स्वयं नारायण ने वहाँ उपस्थित हो राम-लक्ष्मण को आशीर्वाद दिया।

राम-लक्ष्मण के जन्मकाल मे लका मे अपशकुन हुआ। वहाँ रावण का मुकुट खिसककर धरती पर गिर पड़ा। इसमे उसने अनुमान किया कि धरती पर उसका कोई वीर शत्रु उत्पन्न हो गया है। अत , पता लगाकर उसकी हत्या के लिए उसने अपने योद्धाओ को सभी दिशाओं मे भेजा। कुछ योद्धा अयोध्या भी आये और उन्होने दशरथ के आँगन मे शिशु राम-लक्ष्मण को खेलते हुए देखा। पूछे जाने पर राम-लक्ष्मण ने उनका अभिप्राय समझकर बताया कि हम दोनों ही राम-लक्ष्मण हैं। हम पृथ्वी पर पाप-पुण्य का विचार करने के लिए आये है। हम रावण का वध करेगे। हमारे हाथो

मारे गये लोग स्वर्ग जायेंगे, किन्तु रावण के हाथो मारे जानेवाले लोग नरकगामी बनेंगे। रावण बड़ा अत्याचारी और पापी है। हम उसे समाप्त करेंगे।

राम-लक्ष्मण की बाते सुन योद्धाओ को विश्वास हो गया कि रावण सचमुच पापी है और ये शिशु नर-रूप मे ईश्वर हैं। अतः, राम-लक्ष्मण की प्रशंसा करते हुए वे लंका लौट गये। रावण को उन्होंने मिथ्या कह दिया कि अरण्य मे खाद्य-सामग्री के समाप्त हो जाने पर हमारी मरणासन्न स्थिति हो गई। अत, बडी कठिनाई से हम किसी प्रकार बचकर लौट सके हैं। रावण को उनकी बातो पर विश्वास हो गया।

सीता के विवाह-योग्य होने पर वामन पो (ब्राह्मण पिता; जनक) ने हेमफी से राय कर निश्चय किया कि इस वर्ष नदी मे नई बालू पड़ने (नदी की बाढ़ उतर जाने) के पश्चात् सीता के विवाह का आयोजन किया जायगा। उसने अपनी प्रजा को बुलाया और सीता-विवाह की शर्त्त की घोषणा की धनुप को उठाकर उसपर प्रत्यंचा (डोरी) चढ़ाने-वाले व्यक्ति के साथ कुमारी सीता का विवाह किया जायगा। उन्होने दूर-दूर के राजाओ को इसके लिए आमन्त्रित करने को तो कहा ही, लकानरेश को ताम्बूल-वीटक अर्पित कर विशेष रूप से लिवा लाने के लिए कहा। जनक रेचें का सन्देश लेकर दूत रावण के पास गये और उन्होंने उसे पान के बीडे दे सीता-विवाह की शर्त्त सुनाकर आमन्त्रित किया। शर्त्त सुनकर रावण अट्टहास कर उठा। उसने गर्वोक्ति की . धनुष पर डोरी चढाना कौन-सी बडी भारी बात है, वह पहाड़ से अधिक भारी तो होगा नही। तत्पश्चात् वह अपने स्वर्णरथ पर सवार होकर जनक के पास जा पहुँचा।

जनक ने सोने और चाँदी के दो आसन सजा रखे थे। रावण कभी सोने के आसन पर बैठता और कभी चाँदी से आसन पर। उसने अपनी ओर से दो पनवट्टो मे ताम्बूल के बीड़े जनक (हेमफु) और वसुमती (हेमफी) को समर्पित किये। रावण के सम्मानार्थ सीता ने सोने के पनबट्टे मे ताम्बूल-वीटक सजाकर रावण को समर्पित किया। स्वागत-सत्कार की रस्म पूरी होने के पश्चात् रावण धनुष के पास गया। उसने सारी शक्ति लगाकर धनुष को उठाना चाहा, पर वह टस-से-मस भी न हुआ। इससे लज्जित हो रावण यह कहकर लका लौट गया कि मै भविष्य मे कभी-न-कभी सीता को अपहृत कर प्राप्त करूँगा।

रावण के लौट जाने के बाद राम-लक्ष्मण के विषय में सुनकर जनक ने दूतो से सीता-विवाह की शर्त्त का समाचार उन दोनो के पास भी भिजवाया। दूत अयोध्या के लिए चल पड़े। रास्ते में उन्हे एक अजगर मिला। अजगर ने दूतो की बाते सुनकर स्वयं भी धनुष पर डोरी चढाकर सीता को पाने की अभिलाषा की। उसे दुत्कारते हुए दूतो ने कहा कि तुम आदमी तो हो नही, इसलिए सीता को नही पा सकते। साथ ही, उसे मैदानी इलाके की ओर भाग जाने को कहा। अजगर को मैदानी इलाके की ओर जाने के लिए प्रेरित कर बारह दिन और बारह रातोवाले लम्बे रास्ते से वे अयोध्या की ओर बढ़ गये।

अयोध्या पहुँचकर वे राम-लक्ष्मण से मिले। राम-लक्ष्मण के निकट दूतो ने सीता-विवाह की शर्त्त एवं रावण की धनुष उठाने मे विफलता इत्यादि का वर्णन किया। सारी बाते सुनकर राम-लक्ष्मण ने कहा कि जिस धनुष को रावण भी नहीं उठा सका, भला हम अल्पवयस्क बालक उसे कैसे उठा पायेंगे। तब भी सीता-विवाह के आयोजन को देखने के लिए वे जनक के यहाँ जाने को तैयार हो गये।

माता-पिता से अनुमति एवं रास्ते के लिए खाद्य-सामग्री—दूध इत्यादि ले राम-लक्ष्मण दूतो के साथ ही जनक के घर की ओर चल पडे। थोड़ा आगे जाने पर दूतो ने बताया कि वहाँ जाने के लिए दो रास्ते है। दाई ओर वाली राह एक दिन की है और बाई ओर वाली बारह दिन और बारह रातों की। पहली राह मे एक भयंकर राक्षसी का अड्डा है और दूसरी राह की बाई ओर ताम्बूल के वृक्ष तथा दाई ओर मेवे के (फलदार) वृक्ष है। इसमे खाद्य वस्तुएँ सहज ही उपलब्ध हैं। राम-लक्ष्मण ने एक दिनवाली राह से ही चलने का निश्चय किया। दूत भी उन्ही के साथ हो लिये।

कुछ दूर आगे बढने पर रास्ता रोके हुए राक्षसी दिखाई पड़ी। बार-बार अनुरोध किये जाने पर भी जब राक्षसी ने राह न छोड़ी, तब राम-लक्ष्मण ने अपने-अपने दाव (कटार-विशेष) से राक्षसी पर आक्रमण कर उसका सिर धड से अलग कर दिया (सम्भवत. यह ताडका-वध का प्रक्षेपण है)। राक्षसी के सिर और धड रास्ते के दोनो ओर क्रमश पश्चिम और पूर्व मे लुढक गये। राक्षसी-वध करके वे आगे बढ गये और सन्ध्या समय जनक के यहाँ जा पहुँचे।

राम-लक्ष्मण को बैठने के लिए जनक ने सोने-चाँदी के आसन दिये, किन्तु उनपर बैठना उचित न समझ दोनो जमीन पर ही बैठ गये। इससे सबने उन्हे अनाथ समझा। तत्पश्चात्, उनके सम्मानार्थ सीता ने सोने के पनवट्टे मे उन्हे ताम्बूल अर्पित किया। धनु सन्धान के लिए आग्रह किये जाने पर पहले उन्होने अपनी असमर्थता प्रकट की, किन्तु पुन आग्रह किये जाने पर वे एक बार प्रयत्न करने को राजी हो गये। राम-लक्ष्मण ने उपस्थित जनसमूह को साक्षी बनने के लिए कहा। धनुष की ओर राम को बढते हुए देख कई लोगो ने टिप्पणी भी की . जिसे वीर रावण तक नही उठा सका, उसे यह कोमलतनु किशोर कैसे भला उठा पायगा? धनुष के पास पहुँच राम ने नारायण की प्रार्थना की, तत्पश्चात् धनुष को सहज ही उठाकर उसपर प्रत्यचा चढा दी। राम के धनु सन्धान करते ही सब चकित रह गये। सबने हर्ष प्रकट किया। तत्पश्चात् सीता ने राम के गले मे जयमाला डालकर उन्हे पति-रूप मे स्वीकार कर लिया एवं पति-पत्नी (राम-सीता) सजे-सजाये बडे घर (कोहबर?) के अन्दर चले गये।

जनक के यहाँ बारह दिन (अन्य पाठ . दो सप्ताह) रहने के पश्चात् राम-लक्ष्मण ने अयोध्या लौटने को सोचा। राम के परामर्श पर सीता ने माता-पिता से ससुराल जाने की आज्ञा माँगी। उसे आज्ञा मिल गई। उसे पहुँचाने के लिए कुछ लोगों के साथ

स्वयं हेमफी-हेमफु (रानी-राजा; सीता के माता-पिता : वसुमती एवं जनक) भी चले। रास्ते मे उन्हे एक वनकुक्कुट मिला। वह नवविवाहित सीता-राम की राह रोककर खड़ा हो गया। राम-लक्ष्मण का वध कर उसने सीता को उठा ले जाना चाहा। क्रुद्ध हो राम ने उसका वध करने को सोचा, किन्तु सीता द्वारा यह समझाये जाने पर कि यह तो जंगली पक्षी है और फिर अपनी ही सृष्टि है, राम का क्रोध समाप्त हो गया। सीता की बात सुन वनकुक्कुट लज्जित हो एक ओर उड़ गया। (यह जयन्त काक के प्रसंग का ही सम्भवत. प्रक्षेपण है)। कुछ और आगे जाने पर धूप की प्रचण्डता के कारण प्यास से सबके कण्ठ सूखने लगे। रास्ता चलना कठिन हो गया। इसका कोई उपाय न देख राम ने आहूँत (अश्वत्थ) का एक विशाल वृक्ष उखाड़ लिया और उसी की छाया में सभी आगे बढ़ते रहे।

थोड़ा और आगे जाने पर उनकी भेंट बङ-काथार (काथार = कुठार; बङ-काथार = कुठारधारी परशुराम) से हुई। वह रास्ता रोके अड़े रहे और राम-लक्ष्मण द्वारा बार-बार आग्रह किये जाने के बाद भी रास्ते से हटने को तैयार नही हुए। वह राम-लक्ष्मण का वध कर सीता को अपने पोते से ब्याहने के लिए ले जाना चाहते थे। अन्तत, राम-लक्ष्मण और परशुराम में युद्ध हुआ। राम ने वाण-प्रहार द्वारा उनका मस्तक काट डाला। इस प्रकार, परशुराम का वध कर राम सबके साथ आगे बढे। सन्ध्या होते-होते सभी अयोध्या जा पहुँचे।

अयोध्या में धरम रेचें (दशरथ) ने सामाजिक शिष्टाचार के अनुरूप सबका स्वागत किया। हेमफु-हेमफी एवं अन्य सभी अतिथिगृह मे टिकाये गये। सबको यथायोग्य खाद्य-सामग्री—भात, मछली, लाओपानी इत्यादि—दी गई। दूसरे दिन अपने लोगों के साथ हेमफु-हेमफी घर लौट गये।

अयोध्या मे रहते हुए राम-लक्ष्मण को अभी कुछ ही दिन (अन्य पाठ : बारह दिन) हुए थे कि दशरथ ने उन्हे सीता-सहित वन मे नारायण पहाड़ पर जाकर बारह वर्षो तक निवास करने का आदेश किया। राजा के आदेश से सीता-सहित राम-लक्ष्मण बारह वर्षो के लिए वन में चले गये और नारायण पहाड़ पर जा बसे।

उधर धनु.सन्धान नही कर पाने के कारण सीता को विना पाये ही रावण के लंका लौटने पर उसकी बहन दुर्पनखा (शूर्पणखा) ने ताना मारा : तुम केवल कहने के लिए ही वीर हो, सीता तक को प्राप्त करने में विफल रहे। और, वह स्वयं सीता की खोज में निकल पड़ी। नारायण पहाड़ पर वह राम-लक्ष्मण की गड़ई के पास जा पहुँची। वहाँ उस समय उसे केवल सीता ही दिखाई पड़ी। सीता के सरल मनोभाव का लाभ उठाकर दुर्पनखा (अथवा द्रुप) ने उसका सारा वृत्तान्त जान लिया। पुनः शिकार से लौटते हुए लक्ष्मण को देख वह उनके सौन्दर्य पर मुग्ध भी हो गई। उसने उन्हें पतिरूप मे प्राप्त करने की इच्छा की। सीता ने भी उसे अपनी धर्म-बहन बना लेने की इच्छा प्रकट की। दूसरे दिन पुन. आने की बात कह दुर्पनखा लंका लौट गई।

लका पहुँचकर शूर्पणखा ने रावण को राम-लक्ष्मण एवं सीता के नारायण पहाड़ पर निवास करने की बात कही। उसने बताया कि वहाँ एक विशाल अश्वत्थ के नीचे उनकी मडई है। मड़ई के आगे की भूमि पत्थरो से पाटकर समतल बना ली गई है। राम-लक्ष्मण सदा युद्ध (शिकार ?) करते रहते है और सर्वांगसुन्दरी सीता अश्वत्थ के नीचे करघे पर वस्त्र बुनती रहती है। बुनाई-कला मे सीता पटु है। वस्त्र मे वह रंग-बिरंगे फूलो और पक्षियो की आकृतियाँ बुनती है, जो सर्वथा सजीव प्रतीत होती हैं। इतने सुन्दर वस्त्र तो मैंने अन्यत्र देखे भी नही है। सीता के बारे मे रावण को विस्तृत सूचना देकर एवं उसे अपहृत करने के लिए प्रेरित कर शूर्पणखा दूसरे दिन नारायण पहाड़ पर पुन आई।

इधर देवर लक्ष्मण को सीता ने शूर्पणखा को पत्नी बना लेने के लिए समझाना शुरू किया : तुम दोनो भाइयो के शिकार पर चले जाने से मुझे कुटी मे अकेले रहना पडता है। शूर्पणखा को धर्म-बहन बना लेने पर मेरा अकेलापन तो दूर होगा ही, बुनाई के लिए एक सहयोगिनी भी पा जाऊँगी। फिर, दो पुरुषो के साथ अकेली रहना मेरे लिए लोकनिन्दा का भी कारण बन रहा है। अत , तुम्हें शूर्पणखा को पत्नी बना लेना चाहिए। लाख समझाने पर भी लक्ष्मण ने शूर्पणखा को पत्नी बनाना स्वीकार नही किया। उन्होने बताया कि वह राक्षसी है, मानवी नही। उसे पत्नी बनाने पर न केवल वंश-मर्यादा समाप्त होगी, बल्कि हम सबको विपत्तियाँ भी झेलनी पड़ेगी। लक्ष्मण को राजी होते न देख सीता क्रुद्ध हो उठी एव उसने कटूक्ति आरम्भ की : तुम्हारे कपट को मैं समझती हूँ; राम की मृत्यु के पश्चात् तुम मुझे ही पत्नी बनाना चाहते हो। मुझ अकेली महिला के साथ तुम दो पुरुषो को रहने मे तनिक लज्जा भी नही आती क्या ? इत्यादि। इतना कह उसने दाव उठाकर लक्ष्मण पर चलाने का भी भाव प्रकट किया। लक्ष्मण को लगा कि निश्चय ही कुछ विपरीत घटना होनेवाली है। अतः, शूर्पणखा को पत्नी बनाना स्वीकार करते हुए लक्ष्मण ने उसके पुन. आने पर उसे शयनकक्ष मे भेज देने को कहा। किन्तु लक्ष्मण सीता से यह कहना न भूले कि ऐसा करना पाप होगा।

पाही पर से लौटने के पश्चात् लक्ष्मण अपने शयनकक्ष में चले गये। साथ मे उन्होने दाव भी रख लिया। तभी शूर्पणखा वहाँ आ गई। सीता ने सारी बातें बताकर उसे लक्ष्मण के शयनकक्ष मे भेज दिया। सीता के निर्देश पर शूर्पणखा लक्ष्मण के शयनकक्ष मे प्रविष्ट हो उनकी मच्छरदानी मे जैसे ही घुसी, वैसे ही उन्होने दाव से उसके नाक-कान काट लिये। विरूपा शूर्पणखा लज्जित हो चिल्लाती हुई आकाशमार्ग से उड़कर लंका की ओर भागी। लक्ष्मण ने सीता को वह दृश्य दिखलाया और भविष्य मे आनेवाली कठिनाइयो की आशका भी प्रकट की।

दूसरे दिन, शूर्पणखा रावण के साथ सीता की कुटी के पास आई। रावण साधुवेश मे कुटी के पास ही छिप गया और शूर्पणखा स्वर्णमृग का रूप धारणकर कुटी के सामने से निकली। स्वर्णमृग पर मुग्ध हो सीता ने राम से उसका शिकार कर चर्म लाने का

अनुरोध इसलिए किया कि वस्त्र बुनते समय उक्त चर्म को वह आसन के रूप में प्रयुक्त करेगी। लक्ष्मण ने उसे मायामृग बताते हुए उसके पीछे न पड़ने की बात कही। सीता द्वारा बार-बार अनुरोध किये जाने पर उसकी सुरक्षा का भार लक्ष्मण पर सौंप राम ने स्वर्णमृग का पीछा किया। रावण के कपट की सम्भावना कर राम ने सीता को सावधान रहने का आदेश दिया। स्वर्णमृग का पीछा करते हुए राम बारह पहाडो के पार निकल गये। अन्तत., स्वर्णमृग का शिकार कर वे उसकी खाल खीचने मे जुट गये। (इस प्रकार शूर्पणखा का वध हो गया)।

राम के दूर निकल जाने पर, ओट मे छिपे रावण ने राम के स्वर का अनुकरण कर 'मैं मारा गया' की पुकार लगाई। उस पुकार को रावण का छल समझकर लक्ष्मण ने इसलिए ढोलक बजाना शुरू कर दिया कि वह छद्म पुकार सीता को न सुनाई पड़े। किन्तु, लक्ष्मण की चतुराई काम न आई। पुकार सुने सीता ने राम के रक्षार्थ लक्ष्मण को उनतक जाने के लिए आग्रह किया। लक्ष्मण ने उसे राक्षसी माया बताकर सीता को समझाने की विफल चेष्टा की। सीता लक्ष्मण पर कटूक्ति करने लगी . तुम तो चाहते ही हो कि राम मारे जायें, जिससे मुझे प्राप्त कर सको इत्यादि। सीता के आरोप से लक्ष्मण तिलमिला उठे। अन्तत , उन्होने वाण से कुटी के आगे और पीछे शुभ और अशुभ की दो-दो रेखाएँ खीचीं और वह उन्हे मन्त्रपूत कर धनुष-वाण सँभाल, पुकार आनेवाली दिशा में राम की खोज करने के लिए बढ गये। कुटी से प्रस्थान करने के पूर्व उन्होने सीता को उन रेखाओ से बाहर न निकलने की चेतावनी भी दी।

मालम पहाड़ को पार करने के पश्चात् लक्ष्मण ने देखा कि राम तलहटी मे एक पहाड़ी सोते के किनारे आग जलाकर हिरण के मांस को बाँस के सहारे लटकाये झुलसा (कर सुखा) रहे है। लक्ष्मण के वहाँ पहुँचते ही राम चकित हो गये। सारी बाते जानने के पश्चात् भी उन्होंने लक्ष्मण पर क्रोध करते हुए कहा कि सीता को अकेली छोड़कर यहाँ आना अच्छा नहीं हुआ।

इधर अवसर पाकर छद्मसाधुवेशी रावण हाथ मे दोतारा (वाद्यविशेष) लिये कुटी के समक्ष आया। भूखा-प्यासा, ज्वरग्रस्त और थका-हारा होने का भाव प्रकट करते हुए उसने 'मुझ भूखे-प्यासे को पानी पिलाओ' की आवाज लगाई। सीता ने उसे राम-लक्ष्मण के लौटने तक प्रतीक्षा करने को कहा, क्योंकि लक्ष्मणरेखा को लाँघने पर वह पाप-भागिनी बनेगी। रावण ने कहा : तुम जैसा उचित समझो, वैसा ही करो, किन्तु तुम्हारे द्वार पर मुझे प्यास से मर जाने पर भी तुम्हे पाप लगेगा। स्वयं विचार करो कि दोनों में कौन पाप बड़ा है। फलतः, प्यासे साधु के मर जाने को बड़ा पाप जानकर ही सीता (बाँस के) चोगे में पानी ले आई और रेखा के भीतर से ही उसने पानी पिलाना चाहा। शारीरिक अशक्तता प्रकट करते हुए रावण बैठा ही रहा और उसने सीता से बाहर निकलकर पानी पिला जाने का आग्रह किया। रेखा को पार कर सीता जैसे ही

पानी लिये बाहर आई, वैसे ही रावण ने उसके हाथ पकड़ लिये। सीता चिल्लाती रही, किन्तु उसे अपनी पकड़ मे कसे रावण तीन-चार पहाड़ो के पीछे ले गया, जहाँ उसने अपने रथ को रख छोड़ा था। वहाँ सीता को रथ पर बैठाकर आकाशमार्ग से वह लंका के लिए प्रस्थान कर गया।

आकाशमार्ग से रथ पर बलात् ले जाते हुए अपहृता सीता को राम-लक्ष्मण ने भी देखा। राम ने उसपर बाण भी चलाना चाहा, किन्तु सीता ने ही चिल्लाकर बाण चलाने से यह कहते हुए रोक दिया कि बाण से मेरी भी मृत्यु हो सकती है। यदि भाग्य ने साथ दिया, तो हम पुन. मिलेंगे।

रथ को आकाशमार्ग से जाते हुए वॅ-मु (विशाल पक्षी; जटायु ?) ने भी देखा। वॅ-मु ने रथ पर झपट्टा मारा किन्तु रावण ने दाव चलाकर उसका एक पंख काट डाला। फलत., वह नि.सहाय होकर धरती पर गिर पडा।

सीताहरण के शोक से राम विक्षुब्ध हो लक्ष्मण का वध करने पर उतारू हो गये। राम का विरोध न करते हुए लक्ष्मण ने अपना वध किये जाने के पूर्व केवल एक बार एक ही पत्तल पर उनके साथ भात खा लेने की इच्छा प्रकट की। लक्ष्मण के अनुरोध को राम ने स्वीकार कर लिया और भात पकाने की तैयारी मे जुट गये। उन्होंने एक लकड़ी रखकर आग जलाने की चेष्टा की, पर आग न जली। तत्पश्चात् एक और लकड़ी जोड़कर आग जलाने की उन्होने चेष्टा की। इस बार भी वह विफल रहे। लक्ष्मण ने उन्हे एक और, यानी तीन लकडियाँ जोड़कर आग जलाने की राय दी और वैसा किये जाने पर आग जल उठी। उसके बाद, एक खूँटे के सहारे भात पकाने के पात्र को राम ने रखना चाहा, पर पात्र सँभल नही सका। पुन., एक और खूँटा गड़ाकर उन्होने पात्र को सँभालने की चेष्टा की, तब भी उन्हे विफलता ही मिली। यह देख लक्ष्मण ने उन्हें तीन खूँटों के सहारे पात्र को सँभालने की सलाह दी। राम ने वैसा ही किया और इस बार वे पात्र सँभालने मे सफल हो गये। तदनन्तर, लक्ष्मण ने लकडियो और खूँटो के दृष्टान्त से राम को आश्वस्त किया कि सीता हमे अवश्य मिलेगी और हम तीनों पहले की तरह ही सुखी होगे। इससे राम को सान्त्वना मिली और उन्होने लक्ष्मण के वध करने का विचार छोड़ दिया। (मुद्रित 'साविन-आलुन' की ११२८ पक्तियो मे कथा यहीं तक आ पाई है।)

एक साथ भात खा चुकने के पश्चात् राम-लक्ष्मण पचवटी की ओर चल पड़े। रास्ते मे आहत वॅ-मु (जटायु) दिखाई पडा। लक्ष्मण के उपचार के पश्चात् उसकी चेतना लौटी। उसने सारी घटनाएँ बताकर और सीता की प्राप्ति का आश्वासन देकर दम तोड दिया। उनकी अन्त्येष्टि के लिए राम-लक्ष्मण ने चिता सजाई। चिता के प्रज्वलित होते ही जटायु के साथ ही राम भी उसमे कूद पडे। चिता तीन दिनो तक जलती रही। उसे बुझते न देख लक्ष्मण ने देओपानी नदी से पानी लाकर चिता बुझाई।

चिता के बुझने पर राम उससे वैसे ही उठ आये, मानों अभी-अभी वे नींद से जगे हों। तत्पश्चात्, 'देओपानी' नदी में स्नान आदि से मरणाशौच समाप्त कर प्रातःकाल राम-लक्ष्मण पुन. आगे बढ़ गये। थोड़ा आगे जाकर वे सीता की प्राप्ति के उपाय पर विचार-विमर्श करने के लिए रुक गये।

सीता-प्राप्ति के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करने के लिए राम-लक्ष्मण ने सभी वनवासियों—वानर, हलौ, वानराधिपति, हलिमान (हनुमान्) आदि के साथ ही उनके सगे-सम्बन्धियों, स्वजातियों आदि को भी आमन्त्रित किया। यह पूछने पर कि लंका तक कौन जा सकता है, हनुमान् ने सम्मति प्रकट की। राम-लक्ष्मण ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वहाँ से सभी आगे बढ़े। आगे 'जिर' पर्वत पर उनकी भेंट वालि और सुग्रीव से हुई। सारी बातें सुन वालि-सुग्रीव ने भी राम-लक्ष्मण की सहायता करना स्वीकार कर लिया। वालि ने आश्वस्त किया कि चिन्ता करने की आवश्यकता नही। उसने यह भी बताया कि कुछ दिन पूर्व ही मैंने रावण को अपनी पूँछ मे लपेटकर बारह दिन और बारह रातो तक सागर में डुबोये रखा था। अब तो वह लंका चला गया है। अतः, वहाँ जाने पर ही उससे भेंट होगी। वालि के उक्त कथन की सत्यता पर हनुमान् को उस समय तक विश्वास नहीं हुआ, जबतक उक्त घटना के बारे में उन्होंने अपनी माता से पूछ नही लिया। वहाँ से सभी आगे बढ़ते हुए सागरतट के एक द्वीप पर पहुँचे।

लंका-प्रवेश के लिए सागर मे सेतु-बन्धन आवश्यक था। राम के आदेशानुसार सबने राम-नाम का उच्चारण करते हुए वृक्ष, चट्टान आदि ला-लाकर सेतु-बन्धन का कार्य आरम्भ किया। उसे देखकर लंकावासियों ने राम का प्रमाद-मात्र समझा। तभी विभीषण ने रावण को सीता लौटा देने की राय दी। इसपर, रावण क्रुद्ध हो उठा और उसने अनेक अपशब्द कह विभीषण को अपनी सभा से बहिष्कृत कर दिया।

दूसरे दिन, हनुमान् लंका में प्रविष्ट हुए। उन्हे विभीषण मिला। विभीषण ने हनुमान् को सीता के ठहराये जाने का स्थान दिखला दिया। वहाँ से हनुमान् सीता के पास गये। सीता को उन्होंने अपना परिचय दिया। हनुमान् की अँगुली में राम की अँगूठी देखकर सीता आनन्दित हुईं। हनुमान् ने सीता को राम-लक्ष्मण के आगमन का समाचार भी सुनाया एवं अपनी भूख शान्त करने के लिए उससे कुछ खाने को माँगा। सीता ने उन्हें एक पपीता दिया। उनकी भूख न मिटी। अतः, उन्होंने फलों के बाग के बारे मे पूछा एवं सीता द्वारा बताये जाने पर वे शिशुरूप धारण कर वहाँ गये। स्वयं पहरा देने के व्याज से उन्होने बाग के रक्षकों की छुट्टी कर दी एवं अपना स्वरूप विस्तारित कर, कुण्डलीकृत पूँछ को ऊँचे आसन की तरह बनाकर उसपर जम गये। वहीं से वृक्षों के फल तोड़-तोड़कर वह खाने लगे। इस अद्भुत कार्य की सूचना रावण को मिली। रावण उन्हें देखने के लिए वहाँ आया भी और कुछ दूरी पर से ही ऐसा अनुमित कर कि सम्भवतः यह वही है, जिसने मुझे पूँछ में लपेटकर सागर में डुबोये रखा था, दूसरे दिन युद्ध करने की बात कहते हुए लौट गया।

इधर राम-लक्ष्मण के पास जाकर विभीषण ने बताया कि रावण के प्राण (प्राणापहारक वाण ?) उसके शयनकक्ष के एक खोखले खूँटे (बाँस के चोंगे) मे छिपाया हुआ है। रावण-वध के लिए उसे प्राप्त करना आवश्यक है। उसने यह भी बताया कि अन्य लंकावासियो के प्राण जंगल मे हैं। यह जानकारी पाकर राम की सेना ने हुंकार भरा, जिससे आकाश निनादित हो उठा।

दूसरे दिन सवेरा होते ही युद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध मे रावण ने बाण-प्रहार कर लक्ष्मण के वक्ष को छलनी कर दिया, जिससे वह मूर्च्छित हो गये। उनके उपचारार्थ हनुमान् हूहू-हाहा पर्वत पर से ओषधि लाने गये। सवेरा होने के पूर्व ही औषधोपचार होना था। कही सूर्योदय न हो जाय, यह सोचकर ही हनुमान् ने सर्वप्रथम सूर्य को पकड़कर अपनी काँख मे दबा लिया। औषध पहचानने मे विफल होने पर हनुमान् ने पूरा पहाड़ ही उठा लिया और उसे लिये वह लंका की ओर उड़ चले। रास्ते मे भरत-शत्रुघ्न ने गुलेल से हजारो गोलियाँ मार हनुमान् को धरती पर उतरने के लिए विवश कर दिया। परिणामत, क्रुद्ध हो हनुमान् ने उनकी (भरत-शत्रुघ्न की) हत्या कर दी। उसके बाद वह पहाड़ उठाये लंका गये। वहाँ पहचानकर ओषधि का सग्रह किया गया।

औषधोपचार के लिए लंका से रावण की वृद्धा माता को लाया गया। उसने सबको धीरज बँधा लक्ष्मण के घाव को एक खँले (बाँस की पतली कमाची या सरकण्डे के टुकड़े) से बलपूर्वक कुरेदना आरम्भ किया। उसका कपट हनुमान् की आँखो से छिपा नही रहा। अत:, उसे अलग कर हनुमान् ने स्वय औषधोपचार किया। औषध के प्रभाव से लक्ष्मण ने विष-वमन किया, जिसमे सर्प, सिंघी मछली, मकडे इत्यादि भी थे। थोड़ी देर बाद लक्ष्मण की चेतना लौट आई। तत्पश्चात् पुन: युद्ध आरम्भ हुआ।

युद्ध कई दिनो तक चलता रहा। एक रात हनुमान् और विभीषण को प्रहरी बना राम-लक्ष्मण सो गये। हनुमान् को कुछ समय के लिए अकेला छोड़ विभीषण अपने घर चला गया। तभी महिरावण विभीषण का रूप धारण कर आया और राम-लक्ष्मण के शयनस्थल तक पहुँच गया। हनुमान् ने उसे विभीषण जानकर पूछताछ नही की। महिरावण वहाँ से राम-लक्ष्मण को अपहृत कर पाताल ले गया। थोड़ी देर पश्चात् विभीषण के लौटने पर हनुमान् चकित हुए और दोनो राम-लक्ष्मण के शयनस्थल तक गये। वहाँ उन्हे न देखकर विभीषण ने महिरावण के छल का अनुमान किया। फलत:, जिस सुरग से महिरावण ने पाताल-प्रवेश किया था, हनुमान् भी उसी से उसके पीछे हो लिये। रास्ते में सागरतट पर आकर हनुमान् को रुक जाना पडा। वह उसके लाँघने की चिन्ता करने लगे। चिन्तावश उनकी आँखो से अश्रुबिन्दु टपक पड़े। घडियाल के वेश मे सागर-कन्या ने उन अश्रुबिन्दुओं को निगलने की चेष्टा की। उसे देख हनुमान् ने उनसे पातालपुरी पहुँचा देने का आग्रह किया। घडियालवेशी सागरकन्या ने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। उसी की सहायता से हनुमान् पातालपुरी के द्वार तक गये। वहाँ से काग-

रूप धारण कर वह राम-लक्ष्मण के पास पहुँचे और उन्होंने राम-लक्ष्मण को सलाह दी कि देवपूजा के समय आप महिरावण को नमस्कार करने की विधि बताने को कहेंगे। उसके बाद हनुमान् देवता के पास गये और उससे पूछा . आपको किसका बलिदान चाहिए—राम-लक्ष्मण की या महिरावण की ? देवता ने राम-लक्ष्मण की वलि पाने की आकांक्षा की। फलत, हनुमान् ने बेढे से लोहे का एक छड़ उखाड़कर देवता के सिर पर दे मारा। देवता का सिर धड से अलग हो गया। हनुमान् ने सिर को इतना वल-पूर्वक फेका कि वह खासी पहाड़ पर जा गिरा। उसके बाद वह देवता के रूप मे वेदिका पर स्वयं जम गये और पूजा किये जाने के लिए आवाज लगाई। दूसरे दिन पूजन के बाद वलि दिये जाने के पूर्व राम-लक्ष्मर्ण को दण्डवत् नमन करना सिखलाने के लिए देवता के आगे महिरावण ने जैसे ही सिर झुकाया कि हनुमान् ने उसपर लोहे के छड़ से प्रहार किया। इससे महिरावण की तत्काल मृत्यु हो गई। हनुमान् वहाँ से राम-लक्ष्मण को लिये लंका वापस आ गये।

दूसरे दिन हनुमान् ने रावण की पूजास्थली पर मल-मूत्र विसर्जित कर उसे अपवित्र बना दिया एवं रावण के एक सेनानी का वेश धारण कर वह स्वयं रावण के पास गये और उसे उसके शयनकक्ष मे लगे उस खोखले खूँटे को सँभालकर रखे जाने की चेतावनी दी, जिसमें उसके प्राण थे। फिर, मौका पाकर वह उसके शयनकक्ष मे जा घुसे और खूँटे को छिन्न-भिन्न कर उसमे छिपाये गये मृत्यु-बाण को हस्तगत कर लिया। (बाद मे, राम हनुमान् से उस बाण को प्राप्त कर उससे रावण-वध करने में सफल हुए)।

हनुमान् ने रावण एवं लंकावासियो को अपने मारे जाने का उपाय भी बताया कि यदि मेरी पूँछ मे तैलसिक्त मनो रूई लपेटकर आग जला दी जाय, तभी मैं जल सकूँगा। लंकावासियो ने वैसा ही किया—हनुमान् की पूँछ मे तैलसिक्त रूई लपेटकर आग जला दी। अपनी जलती पूँछ से हनुमान् ने लका के सभी घरो को आग लगा दी। इस प्रकार, पूरी लंका जलाने के बाद सीता का दर्शन कर वह राम के पास आये। राम ने हनुमान् को पूँछ की आग मुँह से खीचकर बुझाने का आदेश दिया। हनुमान् ने वैसा ही किया, जिससे उनका मुख और एक गाल झुलसकर काला पड गया। तभी से उनके वंश-धरो के मुँह और एक गाल काले होते हैं।

दूसरे दिन पुन युद्ध आरम्भ हुआ। हनुमान् से प्राप्त मृत्युबाण का सन्धान कर राम ने रावण पर प्रहार किया। बाण से आहत रावण ने पराजय स्वीकार कर ली। उसने अपनी जीवात्मा को स्वर्ग मे भेजने का अनुरोध कर शरीर त्याग दिया। अनुरोध स्वीकार कर राम ने उसे स्वर्ग भेज दिया। लंका श्मशान मे परिणत हो गया। तत्पश्चात्, राम को सीता वापस मिल गई। सीता के सतीत्व के प्रमाण के लिए राम ने अग्नि प्रज्वलित कर सीता को उसमे प्रवेश करने की आज्ञा दी। प्रज्वलित अग्नि मे सीता ने प्रवेश किया। अग्नि उसे जला न सकी। अग्निपरीक्षा के पश्चात् लक्ष्मण और सीता-सहित राम नारायण पहाड़ पर पुनः लौट आये।

बारह वर्ष बीतने पर राम-लक्ष्मण और सीता नारायण पहाड से अयोध्या लौट गये। अयोध्या मे कुछ दिन रहने के पश्चात् सीता को पुन' वनवास के लिए आदेश मिला। फलत , राम-लक्ष्मण ने सीता को एक गहन अरण्य मे पहुँचा दिया। अरण्य से लौटते समय एक अश्वत्थ के नीचे राम-लक्ष्मण विश्राम करने लगे। लक्ष्मण को नीद सता रही थी। अत , वह राम की गोद मे सिर रखकर सो गये। उस समय अश्वत्थ वृक्ष की डाल पर वालि और सुग्रीव बैठे थे। राम-लक्ष्मण के भ्रातृस्नेह को देख वालि की आँखों से अश्रु की बूँदे लक्ष्मण के गाल पर टपक पडी।[1] फलत., लक्ष्मण की आँखे खुल गईं। उन्हे लगा कि ये अश्रुबिन्दु राम के है, पर राम की आँखों मे आँसू दिखाई नहीं पडे। तब उन्होने मन्त्र द्वारा वृक्ष को पत्रहीन बना दिया और डाल पर वालि-सुग्रीव दिखाई पडे। रोने का कारण पूछे जाने पर वालि ने बताया कि तुम दोनों भाइयों मे इतने प्रेम और हम दोनो भाइयों मे सदा झगडे की बात का ध्यान आते ही मेरी आँखो मे आँसू छलक आये है। इसपर राम ने कहा कि तुम दोनो मे जो छोटा (ओछी प्रकृति का) है, उसकी मृत्यु होगी।

दूसरे दिन वालि और सुग्रीव मे युद्ध हुआ। तभी राम ने ओट से बाण-निक्षेप किया, जो वालि को जा लगा। आहत वालि ने राम पर कटूक्ति की . सीता का अपहरण किये जाने पर रावण को मैने ही बारह दिन और बारह रात सागर मे डुबोये रखकर तुम्हारी सहायता की थी, फिर भी तुमने मुझे ही मारा। वालि की बात सुन राम लज्जित हुए और उन्होने उसे पुनर्जीवित करने को सोचा, किन्तु वालि ने और जीवित रहने से अनिच्छा प्रकट करते हुए राम के हाथो मरकर स्वर्ग जाना ही उत्तभ समझा। उसके बाद, उसकी मृत्यु हो गई।

वनवासिनी सीता ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम हुआ लव। कुछ दिनो के बाद सीता की खोज-खबर लेने हनुमान् उसके पास गये। एक दिन हनुमान् की निगरानी मे लव को पालने मे छोड़ सीता नदी से पानी लाने गई, तभी हनुमान् की आँखें लग गईं और मौका पाकर लव पालने से उतरकर माँ के पीछे-पीछे चला गया। कुछ देर बाद आँख खुलने पर लव को न पाकर हनुमान् घबराये। इधर-उधर खोजने पर भी जब वह नही मिला, तब वह पत्थर के एक टुकडे को शिशु-रूप में परिणत कर पालने मे डाल वहाँ से चले गये। लौटने पर पालने मे एक और शिशु को पाकर सीता चकित रह गई। उसने लव के साथ उसका भी लालन-पालन किया। वही कुश के नाम से विख्यात हुआ।

राम-लक्ष्मण ने यह जानने के लिए कि ससार मे हमारे समान और कोई वीर है या नही, पत्थर का एक पंखदार घोड़ा बनाकर छोडा। घोड़ा सभी दिशाओ का

१. सुग्रीव के अश्रु-पतन का उल्लेख महेश्वरदास-कृत टीकारामायण' (ओड़िया), एव 'सेरीराम', 'रामकेर्त्ति' जैसी भारतेतर रामायणों में भी है।—द्र० कामिल्-बुल्के : 'रामकथा', अनुच्छेद ५१२।

विचरण कर लौट आया, किन्तु बाद में उसी घोड़े को सीता के अरण्य की ओर छोड़े जाने पर लव-कुश ने रोक लिया। घोडे को मुक्त करने के लिए पहले हनुमान् गये। लव-कुश को देखते ही उन्हे राम का पुत्र समझ हनुमान् ने उनपर आक्रमण नहीं किया, किन्तु लव-कुश ने आक्रमण कर हनुमान् का सिर काट लिया। कटे सिर को लिये वे माता सीता के पास गये। सीता हनुमान् के सिर को पहचान कर रोने लगी। उसी के आदेश पर लव-कुश ने हनुमान् के सिर को धड़ से जोड़कर पुन. जीवित कर दिया।

दूसरे दिन राम-लक्ष्मण वहाँ पहुँचे। युद्ध मे लव-कुश ने राम-लक्ष्मण के भी सिर काट लिये और वे उन्हे माता के पास ले गये। उन कटे सिरो को पहचान कर सीता और भी जोर-जोर से विलाप करने लगी। रोने का कारण पूछे जाने पर सीता ने लव-कुश को उनका परिचय दिया। माता के आदेश पर लव-कुश ने सिरों को धड़ों से जोड़कर राम-लक्ष्मण को भी पुनः जीवित कर दिया। इस प्रकार, राम-लक्ष्मण के साथ लव-कुश-सहित सीता का पुनर्मिलन हुआ। (वे सभी अयोध्या लौट आये)।

कुछ दिनो के पश्चात् सीता ने सार्वजनिक घोषणा की कि अब वैकुण्ठ लौटने का समय हो गया है। दूसरे दिन वह जिर पर्वत पर गई। वहाँ उसने वसुमती से जगह देने के लिए प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना पर पहाड़ विदीर्ण हो गया एवं वसुमती प्रकट हुई। वसुमती के साथ ही सीता उस विदीर्ण स्थली में विलीन हो गई। इससे राम-लक्ष्मण शोकमग्न हो गये।

दूसरे वर्ष राम-लक्ष्मण ने सर्पराज को बुलाया एव उसे ही संसार के सभी मनुष्यो को बुलाकर एकत्र करने का आदेश किया। सर्पराज ने सभी को बुलाकर एकत्र किया। तत्पश्चात् राम-लक्ष्मण सर्पराज को तकिया बनाकर बैठ गये और उन्होने एकत्र व्यक्तियो को बताया : हमने ससार के सभी पापियो को समाप्त कर दिया है। तुमलोग सुख-शान्तिपूर्वक जीवन बिताओ। अब हम स्वर्ग से ही तुमलोगो की देखभाल करेंगे। साथ ही, राम-लक्ष्मण ने सर्पराज को धरती छोड़कर सागर मे निवास करने का आदेश किया। तत्पश्चात् सबको विदा कर राम-लक्ष्मण स्वर्ग सिधार गये।

वैशिष्ट्य : 'साबिन-आलुन' के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि यह कोई कलात्मक साहित्यिक कृति नही, अपितु मौखिक परम्परा मे पली रोचक करबी-लोकगाथा है। लोकगाथा मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से अछूती नही है, फिर भी इसका महत्त्व धार्मिक नही, मात्र सामाजिक और सास्कृतिक है। गेय रामकथा है वाल्मीकीय परम्परा की ही, किन्तु उसके अधिकाश पात्रो, घटनाओं, विवरणों इत्यादि को इसमें स्थान नही मिला है। असम्भव नही कि उक्त परम्परा की किसी लघु आधिकारिक कथा ने किसी लोकमाध्यम से करबी-समाज में अपनी जगह बना ली हो और उसपर लोक-परम्परा की छाप शतियों तक पड़ती रही हो, फिर उसी ने करबी-मानस मे नया जीवन पाया हो, मौखिक परम्परा के कारण घटनाओं के क्रम मे अन्तर पड़ गया हो इत्यादि। इसीलिए, परम्परीण

वाल्मीकीय कथा से इसमें कुछ अन्तर पड गया है। और, कहना नही होगा कि यह अन्तर ही इसका वैशिष्ट्य बन गया है। अन्तर अथवा वैशिष्ट्य मूलतः दो प्रकार के है : (क) कथा-प्रसंगों, घटनाओं, घटना-विवरणों एव उनके क्रम तथा महत्त्वाकलन-विषयक। (ख) सामाजिक-सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवेश-विषयक। आगामी पक्तियों मे प्रत्येक पर आवश्यक विचार प्रस्तुत है।

(क) कथा एवं कथाक्रम-विषयक वैशिष्ट्य १ 'साबिन-आलुन' मे गेय रामकथा काण्डों अथवा अध्यायो मे विभक्त नही है।

२. इसमें दशरथ (धरम रेचें) की रानियाँ दो (**श्रीशामसिङ हान्से** द्वारा संकलित रूपान्तर मे तीन) ही हैं—करबी और हिंईपी, तीन नही। दोनो रानियो से दशरथ के दो पुत्र हुए—राम और लक्ष्मण। भरत और शत्रुघ्न दशरथ-पुत्र के रूप मे उल्लिखित नही है। कथा में भरत और शत्रुघ्न का उल्लेख एक स्थल पर है अवश्य, जिनका वध हनुमान् करते है, पर वहाँ उनका कोई परिचय नही दिया गया है।

३. इसमें महिरावण और मेघनाद, रावण के भाई माने गये हैं, पुत्र नहीं। रावण से अपमानित हो विभीषण ने यद्यपि राम की शरण स्वीकार नही की है, तथापि उसने राम एवं रामपक्ष की अनेकविध सहायता अवश्य की है। इस दृष्टि से हनुमान् को सीता की निवासस्थली बताने, रावण एवं लंकावासियो के सुरक्षित प्राणों के विषय मे राम को सूचित करने, राम-शिविर में प्रहरी बनने इत्यादि उसके कार्य उदाहृत किये जा सकते है। रावण-वध के पश्चात् विभीषण को लका का राज्य सौंपे जाने का भी यहाँ उल्लेख नही हुआ है।

४ सीता जनक (हिमफु/वामन पो/जनक रेचें) की पालिता पुत्री है। उसकी उत्पत्ति मयूर के अण्डे से हुई है। करबी-भाषा मे मयूर के लिए '**वॅराम**' शब्द है। असम्भव नही कि '**वॅराम**' से '**राम**' का ध्वनि-साम्य होने के कारण ऐसा हुआ हो—'वॅराम' के अण्डे से सीता कुडरी (सिडता कुडरी/इता कुडरी) की उत्पत्ति कल्पित हुई हो।

५. रामजन्म पर रावण-मुकुट के खिसकने के वर्णन कई रामायणो मे हुए है अवश्य, पर नवजात शिशु के पता करने अथवा हत्या करने के लिए रावण द्वारा चर भेजे जाने का वर्णन प्राय नहीं हुआ है। इसमे मुकुट के खिसकने पर रावण द्वारा नवजात शिशु का पता करने के लिए चर भेजे जाने, चरो के राम-लक्ष्मण से मिलने, लौटकर रावण से मिथ्या कथन करने इत्यादि के उल्लेख हुए है। ये वर्णन **लिक्-चाओ-लामाङ** (खाम्ति-रामायण) मे भी किंचित् अन्तर से प्राप्त होते हैं।

६. सीता-विवाह की शर्त्त के रूप मे धनुःसन्धान की कथा यहाँ भी है, किन्तु धनुष का सम्बन्ध शिव से नहीं जोड़ा गया है। धनुष उठाने मे विफल रावण यह कहकर लौट जाता है कि भविष्य मे सीता को मैं अपहृत कर प्राप्त करूँगा। रावण के लौट जाने के पश्चात्

ही जनक राम-लक्ष्मण को धनु सन्धान करने के लिए चर भेजकर बुलवाते है। आमन्त्रण पाकर राम-लक्ष्मण जनक के यहाँ सीता-विवाह का आयोजन देखने के लिए आते हैं, धनुप का सन्धान करने के लिए नही, किन्तु राम अन्ततः धनुष का सन्धान कर सीता को प्राप्त भी करते हैं। अयोध्या से जनक के यहाँ जाते समय राम-लक्ष्मण ने बारह दिन और बारह रातोंवाली राह छोड़कर एक दिनवाली राह से ही यात्रा की और रास्ते मे एक राक्षसी का वध भी किया। घर से प्रस्थान करते समय राम-लक्ष्मण ने दूध आदि खाद्य-सामग्री भी साथ ले ली थी।

७. विवाह केवल राम-सीता का ही हुआ है, लक्ष्मण का नही। विवाह-विधि का विशेष वर्णन नही हुआ है। सीता का राम के गले मे जयमाल डालना ही विवाह है।

८ विवाह के पश्चात् अयोध्या लौटते समय रास्ते मे राम का पहला सामना एक वनकुक्कुट से हुआ है। उसके बाद दूसरी मुठभेड़ परशुराम से हुई है। परशुराम अपने पोते के लिए सीता को प्राप्त करना चाहते है। भिडन्त मे राम ने परशुराम को न केवल पराजित, बल्कि उनका वध भी किया है।

९. राम-सीता के विवाह के अवसर पर अयोध्यावासी-सहित दशरथ उपस्थित नही हैं। पुन: लक्ष्मण-सहित राम-सीता को अयोध्या पहुँचाने के लिए अपने लोगो के साथ सपत्नीक जनक भी गये हैं। रास्ते मे धूप से बचने के लिए राम ने अश्वत्थ का एक पेड़ उखाड़ लिया है और सभी उसी की छाया मे चलते हैं।

१०. अयोध्या लौटने के कुछ दिनो बाद ही दशरथ ने राम-लक्ष्मण और सीता को वनवास करने—नारायण पहाड़ पर बारह वर्षों तक रहने का आदेश दिया है, केवल राम को नहीं। वनवास की अवधि बारह वर्ष है, चौदह वर्ष नही। पुन., यहाँ न तो वनवास के कारण उल्लिखित हुए है और न कैकयी (हिईपी) ही उपस्थित है। वनगमन के आदेश पर न तो राम की माता कौशल्या (करवी) दु.खी है और न अयोध्यावासी ही। यहाँ किसी प्रकार का वाचिक कथन नही हुआ है। राम-वियोग मे दशरथ-मृत्यु का वर्णन भी नही हुआ है।

११. वनवास-काल मे राम की कुटी मे शूर्पणखा दो दिन आई है। प्रथम दिन वह सीता से बातचीत कर दूसरे दिन भी आने का वादा कर लौट गई है। दूसरे दिन, आने पर ही सीता ने उसे लक्ष्मण की शय्या पर भेजा है और तभी मौका पाकर लक्ष्मण ने उसे विरूप बनाया है। इस पूरे प्रसंग मे राम अनुपस्थित है। शूर्पणखा के विरूप किये जाने के कारण तो भिन्न हैं ही, विरूपीकरण का विवरण भी भिन्न प्रकार का है। इस प्रसग मे कई नई उद्भावनाएँ हैं।

१२. शूर्पणखा का विरूपीकरण नारायण पहाड़ पर हुआ है, पंचवटी में नहीं। पंचवटी की ओर राम-लक्ष्मण ने सीताहरण के पश्चात्, उसके अन्वेषण के क्रम में, प्रस्थान किया है।

१३ विरूप बनी शूर्पणखा सीधे रावण के पास गई है, खर-दूषण का प्रसंग इसमें है ही नही।

१४. सीताहरण की योजना के कार्यान्वयन के लिए शूर्पणखा ही स्वर्णमृग का रूप धारण करती है, मारीच नही। राम उसी का वध करते हैं। मारीच-प्रसग इसमे नही है।

१५. राम की आवाज का अनुकरण कर लक्ष्मण को स्वयं रावण पुकारता है, स्वर्णमृग (शूर्पणखा) नही। लक्ष्मण को रावणके छल का अनुमान हो जाता है, इसलिए वह ढोलक बजाना आरम्भ करते है, जिससे रावण की आवाज सीता को सुनाई न पड़े। कुटिया छोड़ने के पूर्व लक्ष्मण उसके आगे और पीछे दो-दो रेखाएँ खीचते है। वह रेखाओं को मन्त्रपूत भी करते है।

१६ सीता का अपहरण कर रावण को ले जाते हुए राम-लक्ष्मण स्वय देखते भी है। राम बाण भी चलाना चाहते है, परन्तु सीता ही बाण चलाने से उन्हे रोक देती है।

१७ सीता के अपहरण से शोकाकुल और विक्षुब्ध राम. लक्ष्मण का वध करने पर उतारू हो जाते है, किन्तु लक्ष्मण बड़ी चालाकी और सयम द्वारा उन्हे वैसा करने से रोकने मे समर्थ होते हैं।

१८. जटायु (वॅ-मु) की चिता मे स्वयं राम भी कूद जाते हैं। चिता बुझती न देख लक्ष्मण 'देओपानी' नदी से पानी लाकर उसे बुझाते है। चिता के बुझने पर राम उससे इस प्रकार बाहर आते है, मानो वे नीद से जगे हो। उसके बाद, स्नान आदि से निवृत्त हो राम-लक्ष्मण सीता की प्राप्ति के लिए वनवासियो को एकत्र कर विचार-विमर्श करते है। उस विचार-विमर्श मे ही हनुमान् लंका जाने को तैयार होते है।

१९. सीता की सम्प्राप्ति मे वालि और सुग्रीव दोनो राम के सहायक बनते है। यहाँ वालि-सुग्रीव-द्वन्द्व आदि वर्णित नही हुए है। यह प्रसंग इसमे सीता-परित्याग के पश्चात् और भिन्न रूप मे वर्णित हुआ है।

२०. वालि ने राम को बताया है कि मैंने रावण को बारह दिन और बारह रातो तक पूँछ मे लपेट सागर में डुबोये रखा है। हनुमान् को वालि के इस कथन पर तबतक विश्वास नही होता, जबतक वह माँ से इस कथन की सचाई का पता नही कर लेते।

२१ लका मे हनुमान् को सीता के रखे जाने के स्थान का पता विभीषण बताते है। भूखे हनुमान् को खाने के लिए सीता एक पपीता देती है। इसमे हनुमान् ने सीता को अँगूठी नही दी है, वह उसे अपनी अँगुली मे पहने हुए हैं, जिसे देखकर सीता प्रसन्न होती है। हनुमान् रावण के बाग के रक्षको को स्वयं पहरा देने के बहाने उनकी छुट्टी कर देते हैं। हनुमान् अपनी कुण्डलीकृत पूँछ को ऊँचे आसनवत् बनाकर उसपर बैठ

जाते है और वही से फल-भक्षण करते है। उनके आश्चर्यजनक कार्य को स्वयं रावण भी देखने आया है और दूर से ही ऐसा अनुमान कर कि मुझे पूँछ में लपेटकर सागर मे डुबोनेवाला यही है, वह यह कहते हुए लौट जाता है कि इससे कल युद्ध करूँगा। यहाँ हनुमान् न तो बाग का विध्वंस करते है और न किसी से युद्ध ही। उन्हे बाँधकर रावण-सभा मे भी नही ले जाया जाता। लंका-दहन का वर्णन भी भिन्न रूप में हुआ है।

२२. रावण के शक्तिबाण से मूर्च्छित लक्ष्मण के उपचारार्थ औषध लाने गये हनुमान् सूर्य को काँख मे इसलिए दबा रखते है कि कही लक्ष्मण के औषधोपचार के पूर्व ही सूर्योदय न हो जाय। औषध-सहित पर्वत उठाकर लाते समय भरत और शत्रुघ्न उन पर गुलेल से गोलियाँ चलाते है। फलतः, क्रुद्ध हो हनुमान् दोनो का वध कर देते है। भरत-शत्रुघ्न के सम्बन्ध मे इसके अतिरिक्त और कोई विवरण नही मिलता।

२३. रावण के सेनानी का रूप धारण कर हनुमान् उसके शयनागार मे प्रविष्ट हो, वहाँ बाँस के चोगे मे छिपाये गये उसके प्राण (प्राणापहारी बाण) को हस्तगत कर लेते है। बाद मे उसी से राम ने रावण का वध किया है।

२४. लक्ष्मण के औषधोपचार के लिए रावण की बूढी माँ लाई गई है। औषधोपचार के क्रम मे रावण की माँ द्वारा किये गये छल हनुमान् ताड़ लेते है। अतः, उसे अलग कर हनुमान् स्वयं औषधोपचार करते है।

२५. चोगे (बाँस के खूँटे) को छिन्न-भिन्न करने के पश्चात् ही लंकावासियो को हनुमान् ने अपनी मृत्यु का उपाय बताया है और तदनुरूप लंकावासियों द्वारा हनुमान् की पूँछ मे तैलसिक्त रूई लपेटकर आग जला दी गई और हनुमान् ने लका-दहन किया। पूँछ की आग को बुझाने का आदेश यहाँ राम ने दिया है। मुँह से खीचकर आग बुझाने के कारण ही हनुमान् का मुँह और एक गाल झुलस कर काले पड़ गये।

२६. इसमे केवल महिरावण और रावण-वध ही वर्णित हुए है। मेघनाद आदि के युद्ध वर्णित नही है। रावण-वध के पश्चात् लंका के श्मशान बन जाने की केवल सूचना दी गई है, जिससे अनुमान किया जायगा कि समग्र दैत्यकुल युद्ध में मारा गया होगा।

२७. लंका-विजय के पश्चात् राम सीधे अयोध्या नही लौटते। वह पहले नारायण पहाड़ पर ही जाते है और वनवास की अवधि बारह वर्ष समाप्त होने पर अयोध्या लौटते है। अयोध्या मे कुछ दिन रहने के पश्चात् ही सीता को वनवास का आदेश मिलता है। सीता को वनवास दिये जाने के कारण एव आदेशदाता के नाम आदि का उल्लेख यहाँ नही हुआ है। सीता को वन तक पहुँचाने के लिए राम और लक्ष्मण दोनो गये है, अकेले लक्ष्मण नही। सीता वन मे किसी ऋषि के आश्रम मे भी रहती हुई यहाँ नही बताई गई है। वह शायद अकेली ही रहती है।

२८. सीता को अरण्य मे पहुँचाकर लौटते समय जिस वृक्ष के नीचे राम-लक्ष्मण विश्राम करते हैं, उसी की डाल पर वालि और सुग्रीव भी है। राम-लक्ष्मण के भ्रातृप्रेम

और अपने भाई सुग्रीव के साथ कटुता का स्मरण कर ही वालि की आँखो से आँसू टपक पडते है। यही वालि-सुग्रीव का द्वन्द्व और वालि-वध भी वर्णित हुए है। वालि-वध का कारण यहाँ उसकी ओछी प्रकृति को बताया गया है।

२९ लव और कुश यमज नही है। सीता ने जन्म दिया है केवल लव को, कुश को नही। कुश का निर्माण तो हनुमान् ने पत्थर के एक टुकडे को शिशु का आकार देकर किया है, जिसे सीता ने केवल पुत्रवत् पाला है।

३० इसमे राम द्वारा प्रस्तरनिर्मित एक पंखदार घोडे के छोडने का वर्णन हुआ है, अश्वमेध का नहीं। घोड़े के छोड़े जाने का कारण है राम-लक्ष्मण के समान वीर का पता करना। अश्व की मुक्ति के लिए हनुमान् अथवा राम-लक्ष्मण कोई भी लव-कुश से युद्ध नहीं करते। लव-कुश ने एकपक्षीय आक्रमण कर तीनो के मस्तक काट लिये है, जिन्हे माता के कहने पर उनके सिरो को धडो से जोड़कर पुन. जीवित कर देते हैं। उसके वाद, लवकुश-सहित सीता से राम-लक्ष्मण का पुनर्मिलन होता है और राम सबके साथ अयोध्या लौट आते है।

३१. सीता ने स्वर्ग-गमन की सार्वजनिक घोषणा की है। स्वर्ग-गमन के लिए वह 'जिर' पर्वत पर जाकर प्रार्थना करती है। परिणामस्वरूप, पहाड़ विदीर्ण हो जाता है और उससे वसुमती प्रकट होती है। वसुमती के साथ ही सीता विदीर्ण स्थली मे विलीन हो जाती है।

३२. स्वर्ग-गमन के पूर्व राम-लक्ष्मण सर्पराज के माध्यम से सभी मनुष्यो को एकत्र कर उन्हे उपदेश करते है। उपदेश करते समय राम-लक्ष्मण सर्पराज को तकिया बनाकर बैठते हैं (यह कल्पना, सम्भवत. विष्णु के शेष-शयन पर आधृत है)। स्वर्ग-गमन के पूर्व राम-लक्ष्मण सर्पराज को धरती छोड़ सागर मे जा बसने का आदेश देते है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि वाल्मीकीय परम्परा की रामायणो से 'साविन-आलुन' मे पर्याप्त भिन्नता है। घटनाएँ तो भिन्न है ही, कई स्थलो पर घटनाओ के क्रम मे भी अन्तर पड गया है। घटना-विवरणो मे भी अन्तर मिलता है। साथ ही, इसमे अनेक प्रसिद्ध प्रसंग—विश्वामित्र-प्रसग, कैकयी-वरदान, दशरथ-मृत्यु, गुह-केवट-प्रसग, चित्रकूट-प्रसग, अरण्य मे राम आदि का ऋषि-आश्रमो मे भ्रमण, खर-दूषण आदि का वध, सुग्रीव-राममैत्री, सुग्रीव को राज्यदान, सीता-अन्वेषण, राम का ऋष्यमूक-वास, मेघनाद आदि के युद्ध, विभीषण को राज्यदान इत्यादि—स्थान नही पा सके हैं। जो प्रसग वर्णित भी हुए है, उनमे पर्याप्त भिन्नता है।

(ख) परिवेश-विषयक वैशिष्ट्य : इसके अन्तर्गत 'साविन-आलुन' मे अंकित सामाजिक-सास्कृतिक परिवेशजन्य वैशिष्ट्य तो स्पष्ट होते ही हैं, साहित्यिक कृति से भिन्न लोकगाथात्मक परिवेश (लोककथात्मक रूढियो के अंकन) भी महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। यथा :

१. इसके सभी पात्र करवी-समाज के प्रायः परम्परीण चरित्रों के प्रतिरूप हे। उनके नाम भी प्रायः उसी के अनुरूप ढले हैं। उनके दैनन्दिन जीवन मे करवी-जीवन की वास्तविक झाँकी मिलती है। इसमे अंकित भौगोलिक परिवेश भी प्राय. (अयोध्या और लका नाम के अतिरिक्त) करबी-क्षेत्र से ही सम्बद्ध (नारायण पहाड़, जिर अथवा जिरो पहाड़, देओपानी नदी, खासी पहाड़ इत्यादि) है।

२. सीता के पिता जनक रेचें न केवल सम्पन्न करवी-किसान, बल्कि 'रेचें' (राजा), 'हेमफु' (अधीश्वर; सम्भवत. ग्रामवृद्ध) और 'बामन पो' (ब्राह्मण पिता) भी हैं। इसके बावजूद वह लालची हैं। मिथ्या कथन कर—मयूर के अण्डे को विषैला बताकर चरवाहों से उसे वह स्वयं खाने के लिए ठग लेते हैं।[1] वे है तो राजा अथवा मुखिया, पर उनका घर राजमहल नहीं है— बाँस की फट्ठियो से निर्मित सामान्य करवी-किसान का घर है। घर में सामग्री सँजोकर रखने के लिए बाँस की बनी कुछ टोकरियाँ और बाँस के चोंगे ही उनकी पूँजी हैं। वैसी ही एक टोकरी मे वह चरवाहो से प्राप्त अण्डे को सँभालकर रख देते हैं।[2] यह केवल सयोग है कि वह अण्डे को खाना भूल जाते हैं और कुछ दिनो के पश्चात् उनके फूटने पर सीता कुङरी प्रकट होती है।

जनक का अधिकांश समय पाही पर 'झूम' (शिफ्टिग) खेती करने मे व्यतीत होता है। भात और 'लाओपानी' उनके प्रिय खाद्य और पेय है। घर आये अभ्यागतों का सत्कार वह 'लाओपानी' से करते है। अयोध्या जाने पर दशरथ भी उनका सत्कार प्रथम 'लाओपानी' से ही करते है। ध्यातव्य है कि 'लाओपानी' करवी-जाति का मुख्य पेय है।

३. सीता प्रतिनिधि करवी-युवती है। अधोभाग मे 'पिनि' (घाँघरा), कटिदेश पर 'वांकोक' (अलंकृत पेटी; करधनी), वक्षदेश पर 'जिन्सो' (कंचुकी), कानों मे 'काडेङसिनरो', 'ललरी' (कर्ण-वलय) और 'नौ-रिक' (कर्णफूल), गले मे 'लेक' (हार), अँगुलियों में 'अर्नाम' (अँगूठी) और कलाइयो मे 'रँई' (कगन) धारण किये वह सजी-सँवरी करवी-राजकुमारी हैं। पितृगृह मे वह सुशीला किशोरी है, जो घर-बाहर की सफाई करती है और पाही पर झूम खेती मे जुटे अपने पिता के लिए भोजन पहुँचाती है। खाद्य-सामग्री—भात, 'लाओपानी' आदि बाँस की टोकरी मे सजा माथे के सहारे पीठ पर लटकाकर उसे वह पाही पर ले जाती है। मडई मे पहुँचकर पहले वह वहाँ की सफाई

---

१. लाके वॅरामकङ आति। अॅसॅमेर ने संथुजि ॥
अॅसॅमेर नाङतुम सरि। अकप्रु अकप्रि इुन आरनि ॥
—साबिन-आलुन, ४६-४७।

२. किम थुङ्दुङ-थुङदाङ जि। हेमफु जु साँबेइ लिजि ॥
हेमफी वाङ हॉङजाङपेन समरि। थापाँदाम बुलिङकाङ थेपि ॥
—उपरिवत्, ४८-४९।

करती है, तत्पश्चात् अपने पिता को भात खा लेने के लिए बुलाती है।[1] घर आये अतिथियो का परम्परागत रूप मे सत्कार करती है—पनवट्टे मे ताम्बूल सजाकर देती है। कुशल करबी-महिलाओ की तरह ही वह भी करघे पर वस्त्र-बुनाई की कला मे दक्ष है। वनवास मे भी करघा उसके साथ है। लक्ष्मण का शूर्पणखा को पत्नी बना लेने के प्रस्ताव के मूल मे एक कारण यह भी है कि शूर्पणखा उसकी बुनाई के काम मे सहयोगिनी बनेगी। उसकी कला की प्रशसा स्वयं शूर्पणखा ने रावण से की है वस्त्र मे रग-बिरगे फूलो, पक्षियो इत्यादि की उतनी अच्छी और सजीव-सी प्रतीत होनेवाली बुनाई (कढाई ?) तो मैंने अन्यत्र देखी ही नही है।[2]

सीता पतिव्रता है। दो पुरुषो के साथ उसे अकेली रहना अच्छा नही लगता, फिर वही लोकनिन्दा का कारण भी बनता जा रहा है। उसने अपने सतीत्व का प्रमाण अग्निपरीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त कर प्रस्तुत किया है। इन गुणो के बावजूद सीता तुनुकमिजाज है, बात-बात मे लक्ष्मण पर कटूक्तियाँ करती है। उसमे नारीजन्य सहज दुर्बलताएँ और सबलताएँ परम्परीण है।

४. दशरथ धर्मपरायण राजा (धरम रेचॅ) है। राजा है, पर राजमहल उनके पास भी नही है। बाँस की फट्टियो से बने दो कमरे का घर है उनका, जिनमें एक कमरा अतिथियो के टिकने का (हॉड फारला) भी है।[3] उसी मे वह जनक, जनक की पत्नी

---

१. जाकवे पाम लङ्केहिनि। सीता जुदेत आलामदि।।
सारनाम लापुआन माति। छाम्फ्रि पिनि आरनि।।
नेछि चॉरान थनवुनजि। बाङपु सीता कुङरी पी।।
चेजान बाङ देङखाङ मेपि। चारान जरलाङ पातेङरि।।
कखौं खेलि बानपन रि। आनछि चेलॉं दुन जाइदि।।
लेलॉं छेरॉं करहन थेपि। देङखा चेअॉं दामरि।।
—साबिन-आलुन, ६७–७१।

२. राम-क्षण आरून आछुङरि। बाङदङ देङ-चिरिपि।।
आरून दाङ लङतार थेपि। हाला सीता कुङरी पी।।
छाम्फ्रि जॉं-आरनि किरि। बाङके पिरथाक कापारनि।।
पिरथाक छनछे मुछॉरि। छरजन ताइ छालाङ मेपि।।
आमाङ पारदन छन-छुरी। पारदन छिय बॉंतेक-प्लिप्लि।।
—उपरिवत्, ३५१–३५५।

३. लेलॉं राम-क्षण आरिम्दि। तिङकेङ हॉंड-फारला लेपनि।।
रात-देत चङमि आछारि। जरलाङ चेमानि आनछि।।
त्रारान चेमानि आनछि। पुथत छाम्फ्रि आरानि।।
—उपरिवत्, ३२३–३२५।

एवं अन्य अभ्यागतों को टिकाते है। वह भी जनक आदि अतिथियों का सत्कार प्रथम 'लाओपानी' ही से करते है।

५ राम-लक्ष्मण का दैनन्दिन जीवन भी सामान्य करबी-व्यक्ति का जीवन है। वे करबी-युवको के प्रतिरूप है। इस दृष्टि से स्वर्णमृग को मारने के पश्चात् उसके मांस को बाँस की लग्गी मे लटकाकर उसे जलती आग में झौसने (सुखाने)—झौंस (सुखा) कर अगले दिन की भोजन-सामग्री के रूप में सुरक्षित रखने का राम का शब्दाकन देखा जा सकता है।[1] राम-लक्ष्मण की अन्य विशेषताएँ प्राय. परम्परीण ही है। यो 'साबिन-आलुन' के लक्ष्मण राम की अपेक्षा अधिक चतुर और सूझ-बूझवाले है। लक्ष्मण की अपेक्षा राम अधिक भावुक और उतावले हैं। सीताहरण के पश्चात् विक्षुब्ध राम का लक्ष्मण-वध के लिए उतावला बनना इसी की पुष्टि करता है।

६. इसमे अनेक ऐसी रूढियाँ (मोटिफ) प्रयुक्त हुई है, जो मूलत: लोक-परम्परा की है। अधिकाश रूढियाँ असम की विभिन्न वनवासी-गिरिवासी जातियों में प्रचलित है। कुछ मुख्य रूढियो का यहाँ संकेत-मात्र किया जाता है। यथा :

(क) **बारह संख्या** : करबी-जाति मे बारह संख्या सम्भवत: विशेष महत्त्व (सम्भवत: अशुभ) की मानी जाती है। इसमें रावण के बारह सिर, पाही पर जनक के बारह खेत, बारह दिन-रात में तय की जानेवाली दूरी, बारह वर्ष वनवास की अवधि, बारह पहाड़ो के पार स्वर्णमृग का मारा जाना, वालि का बारह दिन-रात तक रावण को सागर मे डुबोये रखना इत्यादि मे 'बारह' संख्या के प्रयोग विशिष्ट ही माने जायेंगे।

(ख) **अण्डे से बालिका की उत्पत्ति** : सीता की उत्पत्ति मयूर के अण्डे से हुई है। यह भी लोकगाथात्मक रूढि है।

(ग) **फल खाने से बालोत्पत्ति** : वृक्ष-विशेष के फल अथवा मन्त्रपूत फल खाने से बालक उत्पन्न होना भी लोककथात्मक रूढि है। राम-लक्ष्मण की उत्पत्ति में इसी रूढि का प्रयोग हुआ है। असम मे प्राप्त रामकथाओ—आदिकाण्ड (माधवदेव), **लिक्-चाओ-लामाङ** (खाम्ति-रामायण) इत्यादि—में इस रूढि का किंचित् भिन्न रूप मे प्रयोग मिलता है।

(घ) **नवविवाहितों का वनकुक्कुट से सामना** : विवाह के पश्चात् अयोध्या लौटते समय राम-सीता का सामना वनकुक्कुट से होता है। ध्यातव्य है कि वनवासियों मे कुक्कुट (मुरगी) विशेष आदरणीय पक्षी है। पुनः, करबी-लोकपरम्परा मे सम्भवत: यह विशेष रूढि भी रही है। किंचित् भिन्न रूप मे यह रूढि 'हरल-कोवँर'[2] (शरद-कुवँर) की लोक-गाथा मे भी प्रयुक्त हुई है।

---

१. **सीता पारङरा पारनि। काइपेन सॉनसेसे आबिरि।।**
काडेङ रापबॉङ पाक पेन पि। फुयेत काडेङ पाक पेन पि।।
काइपेन सॉनसेसे आबिरि। पासुनकाँङ बिरि येपि।।
—**उपरिवत्, ५९-६१।**

२. **चार्ल्स लॉयल; दि मिकिर्स, सन् १९०८ ई०, पृ० ५५-५९।**

(ड) **प्राण का शरीर से अलग रहना** . लोककथाओ की यह विशिष्ट रूढि है, जिसमे जीव (मुख्यत राक्षस) के प्राण उसके शरीर मे नही, बल्कि उससे भिन्न वस्तु (अथवा प्राणी) मे या अन्यत्र होने के वर्णन मिलते है। इसमे रावण के प्राण उसके शयनागार के बाँस के चोगे (खोखले खूँटे) और लकावासियों के प्राण अरण्य मे होने का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त, कई अन्य रूढियाँ भी 'साबिन-आलुन' मे प्रयुक्त हुई है। ये रूढियाँ इसके लोकगाथात्मक स्वरूप को पुष्ट करती है, सुचिन्तित साहित्यिक कृति होने की नही।

यही यह संकेत कर देना अप्रासगिक नही होगा कि करबी-जाति मे प्रचलित एक अन्य लोकगाथा—'सृष्टि की कथा'[1] मे भी 'साबिन-आलुन' की कई रूढियाँ प्राप्त होती है। उसमे 'बामन पो' और 'धरम रेचें' नाम तो प्रयुक्त हुए ही है, उसके कथानायक का नाम भी राम ही है। वह राम भी जिस कन्या से विवाह करता है, उसकी उत्पत्ति अण्डे से ही हुई है। उक्त कथा मे आगे वर्णन आया है कि राम के असख्य सन्ताने हुईं। मानव, दानव, पशु, पक्षी इत्यादि सभी राम की ही सन्तानें है। उनकी सन्तान ही पृथ्वी पर सर्वत्र फैल गईं। राम की मृत्यु के पश्चात् उनकी सन्तानो मे अनेक उनकी पूजा करने लगी, जिनकी आख्या बाद मे 'हिन्दू' हुई। कहना न होगा कि उक्त कथा का उत्तरार्द्ध हिन्दू-मान्यताओ से प्रभावित है। ध्यातव्य इतना ही है कि **'सृष्टि की कथा'** और **'साबिन-आलुन'** मे कई मिलती-जुलती बातें है। ये साम्य उनके परस्परावलम्बन के साक्ष्य तो है ही, प्राचीनता के भी प्रमाण है। इनसे करबी-समाज मे रामकथा के प्राचीन काल से ही प्रचलित होने के अनुमान किये जा सकते है। साथ ही, यह भी निश्चित होता है कि 'साबिन-सालुन' एक सफल करबी-लोकगाथा है, जो अपनी विशिष्टता के कारण करबी-समाज का सामाजिक-सांस्कृतिक दर्पण भी बन गया है।

उपसंहार :

उपर्युक्त विश्लेपण के पश्चात् कहा जायगा कि **साबिन-आलुन** की रामकथा वाल्मीकीय परम्परा की होकर भी इस अर्थ मे भिन्न, सर्वथा अभिनव और मौलिक है कि इसने करबी-जनजीवन से खाद्य-पानी ग्रहण कर नवीन जन्म पाया है, नये रूप मे विकास किया है। सम्भवत, यह किसी साहित्यिक अथवा धार्मिक रामायण से प्रेरित-प्रभावित नही है। यह लोकमानस की उपज है। करबी-जनजीवन मे किसी लोक-माध्यम से जड़ें जमाकर और लोकमानस की लयात्मक अभिव्यक्ति का रूप लेकर यह शतियो तक लोककण्ठ मे पलती-पनपती और अपनी कायाकल्प करती हुई वर्त्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सकी है। उस अज्ञात कृतविद्य लोककवि, किंवा प्रथम (?) गायक साबिन के नाम पर प्रचलित यह

१. **द्र० एस्० एन्० बरकातकी : दि लीजेण्ड ऑव क्रियेशन, इन दि बुक ट्राइबल फ़ोक़टेल्स ऑव असम, पृ० १३२-१३३।**

गाथा—'साबिन-आलुन' न केवल साबिन के प्राणों की सरस-मधुर अभिव्यक्ति है, बल्कि समस्त करबी-जाति की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहचान भी है। वाल्मीकीय रामायण के सम्बन्ध में **विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर** की टिप्पणी है ''वाल्मीकिर रामचरितकथा के पाठकगण केवलमात्र कबिर काव्य बलिया देखिबेन ना, ताहा के भारतवर्षेर रामायण बलिया जानिबेन। ताहा हइले रामायणेर द्वारा भारतवर्ष के ओ भारतवर्षेर द्वारा रामायण कें यथार्थभावे बुझिते पारिबेन।''[१]

इसी के वजन पर यह कहना असगत नही होगा कि साबिन-आलुन केवल लोकगाथा नही, अन्य भाषा-रामायणो की तरह ही करबी-रामायण भी है। इसके माध्यम से करबी-जाति को और उसके सामाजिक-सास्कृतिक विधि-निषेधों एवं रीति-नीतियों को ध्यान मे रखते हुए ही इसे सही ढंग से समझा जा सकता है। भारतीय भाषा-रामायणो के अपने-अपने वैशिष्ट्य है। उनकी अनेकता और विविधता मे ही भारतीय राम-साहित्य की एकता और अखण्डता अन्तःसलिलावत् वर्त्तमान है। सबकी आत्मा एक है। अपनी-अपनी सीमा और शक्ति मे सभी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ है।

●●

△ ८, न्यू फ्लैट्स
विश्वविद्यालय-परिसर
गुवाहाटी (असम) : ७८१०१४

---

१. रामायणी कथा : दीनेशचन्द्र सेन (भूमिका), पृ० १० ।

●

●

गोरखनाथ की बानियों में सामाजिक सन्दर्भ

●

डॉ० रामदीन मिश्र

गुरु गोरखनाथ ऐकान्तिक साधक एवं सिद्ध योगी थे। सामान्य गृहस्थ-समाज से उनका सम्बन्ध नही के बराबर था। गोरखनाथ अन्तिम बौद्ध सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य कहे जाते है। किंवदन्ती है कि सिंहल की योगिनियो के मायाजाल से मत्स्येन्द्रनाथ को उनके शिष्य गोरखनाथ ने ही मुक्त किया था। गोरखनाथ की बानियो मे कठोरता से ब्रह्मचर्य के पालन एव शुक्रविन्दु की रक्षा का उपदेश प्राप्त होता है। नारी का एक ही रूप गोरखनाथ को मान्य था और वह था मातृरूप। अन्य रूपो मे नारी माया है जिसके चंगुल मे फँसकर पुरुष अपना जीवन व्यर्थ कर देता है। ब्रह्मचर्य की इस कठोरता एवं जीवन से सुख और आराम के साथ ही नारी के बहिष्कार के कारण गोरखनाथ नितान्त असामाजिक हो उठे। गृहस्थ अथवा सामान्य मनुष्य के लिए उनके पन्थ मे न तो कोई आकर्षण ही रहा और न उसकी कोई उपयोगिता ही। ऐसी स्थिति मे गोरखनाथ का पन्थ विशुद्ध योगियो का ही रहा, जिनके लिए गृहस्थ-समाज संसार मे उलझानेवाली माया का एक स्वरूप-मात्र था। फलत., गोरखनाथ की बानियो मे हमे तत्कालीन समाज का कोई सुस्पष्ट रूप नही प्राप्त होता। फिर भी, दृष्टान्तो, रूपको, नीतिकथनो अथवा खण्डनात्मक उक्तियो मे प्राय. ऐसे उल्लेख मिलते है, जिनके आधार पर तत्कालीन समाज की कतिपय प्रवृत्तियो अथवा गोरखनाथ द्वारा वर्णित सामाजिक धरातल की एक क्षीण रूपरेखा देखी जा सकती है।

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा सगृहीत एव 'गोरखबानी' नामक पुस्तक मे प्रकाशित गोरखनाथ की रचनाओ मे कृषि से सम्बद्ध बातो का सर्वाधिक उल्लेख प्राप्त होता है, जो रूपको के सहारे वर्णित है। यह शरीर ही बाड़ी है और सद्गुरु ने उसमे बेल रोपी है। पुरुष-रूप किसान उसकी सिंचाई करता है, फलस्वरूप वह सुन्दर बाली घर लाता है, अर्थात् अच्छी फसल काटता है :

> काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू सत गुर बेलि रुपांणी।
> पुरिष पाणती करै धणियांणी नीकै बालि घरि आंणी॥
>
> (गो० बा०, पृ० १०७, सबदी १)

अथवा :

> घटि घटि गोरख बाही क्यारी।
> जो निपजै सो होइ हमारी॥ (१४।३७)

इसी प्रकार :

उतर देस मै मेंह धड़क्या, दक्षिण आचल छाया ।
पूरब देस थीं पाणिग बिछटी, पछिम खेत्र में पाया ।।
मन पवना धोरी जोतावो सतनां सांतीड़ा समधावो ।
दया धर्म ना बीज अणावो, इणीं परि षेत्रे जावो ।। (१२५।१-२)

इन वर्णनो में गोरखनाथ का उद्देश्य अवधूतो को अपने साधनात्मक सिद्धान्तो का ज्ञान देना है, न कि तत्कालीन सामान्य जीवन-पद्धति का चित्रण । इस क्रम मे जो दूसरा उल्लेख विचारणीय है, वह है गाय पालने, दूध दुहने, दही मथने अथवा घृत निकालने का प्रसंग । यो भी, गो शब्द का एक अर्थ इन्द्रिय होता है । इन्द्रियो पर नियन्त्रण किसी भी योग-साधना का प्रथम चरण होता है, अतः गाय से सम्बद्ध रूपक का प्रयोग भी अधिकता से मिल सकता है । गोरखनाथ की बानियो मे इसका प्रयोग एकाधिक रूपो मे उपलब्ध है :

गिगनि मंडल मै गाय बियाई कागद दही जमाया ।
छाछि छांणि पिंडता पीवीं सिधां माषण षाया ।। (६६।१९६)

अथवा :

एक गाइ नौ बछड़ा पंच दुहेबा जाइ ।
....
गोरष लो गोपलं लो गगन गाइ दुहि पीवै लो ।
मही बिरोलि अंमीं रस पीजै अनभै लागा जीजै लो ।।
....
जाति बिहुंना लाल ग्वालिया अहनिस चारै गोरू लो ।
(११३।४ और १)

अथवा :

ऐसी गावत्री घर बारि हमारै गगन मंडल मै लाधी लो ।
इहिं लागि रह्या परिवार हमारा, लेइ निरतरि बांधी लो ।।
कानां पूछां सींग बिबरजित बर्न बिबरजित गाई लो ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, तहां रहै ल्यो लाई लो ।। (११४।३-४)
....
दध मथि घृत करि लीया । (२०८।६)

उपर्युक्त पंक्तियों मे गाय से तात्पर्य यद्यपि कही इन्द्रियों से तथा कही ब्रह्मानुभूति से है, तथापि रूपकों की सतह मे जो चित्र प्राप्य है, वे तत्कालीन सामाजिक जीवन मे गो-पालन के महत्त्व की ओर निश्चित ही इंगित करते हैं ।

हठयोग से सम्बद्ध शब्दावली मे शरीर की उपमा गढ़ अथवा दुर्ग से बहुधा ही दी गई है । गोरखनाथ ने भी काया के लिए शहर एवं दुर्ग, दोनो रूपको का

उपयोग किया है तथा वर्णन मे शरीर के विभिन्न अवयवो, जैसे नाडियों, हड्डियों, आँखो, नासा-छिद्रो जैसी इन्द्रियो के लिए भी शहर अथवा दुर्ग के विभिन्न भागो अथवा व्यवस्थाओ (कोट, खाई, द्वारपाल आदि) का उल्लेख किया है। इस प्रकार, इन रूपकों के सहारे तत्कालीन नगर-व्यवस्था अथवा सुरक्षा-व्यवस्था का एक प्रशस्त चित्र प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध मे निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है :

भणंत गोरषनाथ काया गढ़ लेबा।
काया गढ़ लेवा जुगे जुगी जीवा ।। टेक ।।
काया गढ़ भींतरि नौ लख षाई, जंत्र फिरै गढ़ लिया न जाई।
ऊचे नीचे परवत झिलमिलि षाई, कोठड़ी का पांणी पूरण गढ़ जाई ।।
(१३४।१)

अथवा :

अठारह भार कोट कंठजरा लाइलै, बहत्तर कोठड़ी निपाई।
नव सुत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब काया गढ़ लिया न जाई ।।
अनहद घड़ी घड़ियाल जाइले, परम जोति दुइ दीपक लाई। (१२।१४)

इसी प्रकार, नगर अथवा शहर का रूपक निम्नाकित पंक्तियो मे प्राप्य है :

अवधू ऐसा नग्र हमारा, तिहां जोवौ ऊजू द्वारं।
अरध उरध बाजार मड्या है, गोरष कहै विचारं ।। टेक ।।
हरि प्रांण पातिसाह साह विचार काजी ।।
पंच तत ते उजहदारं मन पवन दोऊ
हस्ती घोड़ा गिनांन ते अषै भंडारं ।।
काया हमारै सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदारं।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तो चोर न झंकै द्वारं ।।
तीनि सै साठि चीरा गढ़ रचीलै, सोलह षनिलै षाई।
नव दरवाजा प्रगट दीसे, दसवां लष्या न जाई ।। (१२०।१-३)

उपर्युक्त वर्णन मे स्पष्टत नगर के द्वार, इधर-उधर के बाजार, बादशाह, काजी, वजीर, हाथी, घोडे, अक्षय भाण्डार, पहरे पर बैठा हुआ कोतवाल, ताकि चोर उधर झाँक भी नही सकते, गढ, खाइयाँ, प्रकट तथा गुप्त दरवाजे आदि की चर्चा की गई है। ये उल्लेख हमे तत्कालीन शहर तथा शासको के निवास एवं रक्षा-व्यवस्था की ओर निश्चित संकेत करते हैं

अपनी एक 'सबदी' मे गोरखनाथ ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि नगर उद्यान तथा तडागो से सुशोभित होता है, सभा की शोभा पण्डित होते है तथा राजा की शोभा उसकी विश्वसनीय सेना है। यथा :

नग्री सोभंत बहु जल मूल बिरषा, सभा सोभंत पंडिता पुरषा।
राजा सोभंत दल प्रवांणीं, यं सिधा सोभत सुधि बुधि की वांणीं ।। (२४।६५)

नागरिक जीवन से सम्बद्ध दूसरा उल्लेख चौगान के खेल का प्राप्त होता है। गोरखबानी में इस उल्लेख से युक्त एक प्रसिद्ध 'सबदी' है तथा एक अन्य पद में भी यह शब्द आया है। सबदी इस प्रकार है :

अवधू मनसा हमारी गींद बोलिये, सुरति बोलिये चौगानं।
अनहद ले षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं ॥ (२७।७६)

साथ ही, 'रमि रमिता सौं गहि चौगानं' (पृ० १०२। टेक) उल्लिखित पद का अंश है। इसके अतिरिक्त, हमे जो भी उल्लेख प्राप्त होते है, वे प्रायः सभी जीवन के सामान्य स्तर को इंगित करते हैं। गोरखनाथ का समय सामान्यतः ईसवी-सन् की नवी से ग्यारहवी शती के बीच माना जाता है। उस समय नगरो की संख्या भी थोड़ी होगी तथा नगर और गाँव मे बहुत अन्तर भी नही रहा होगा। जीविका मूलत कृषि पर ही निर्भर होगी तथा वाणिज्य मे भी खाद्य पदार्थों की ही प्रमुखता होगी। सोने, चाँदी तथा अन्य धातुओं का उल्लेख अवश्य कतिपय रचनाओ मे प्राप्त होता है। पेशो मे मछली मारनेवाले के अतिरिक्त, तेली, धोबी, सुनार, लुहार तथा ग्वाले की चर्चा मिलती है। ये सारे जीवन-सन्दर्भ रूपको के रूप मे ही अभिव्यक्त है। गोरखनाथ ने बहुधा वाणिज्य का रूपक बाँधा है। योग-साधना मे प्रवृत्त साधक कभी घाटे का सौदा नही करता :

गोरष जोगी तोला तोलै, भिड़ि भिड़ि बाधीलै रतन अमोलै। पृ० ९०।टेक)

....

तत बणिजील्यौ तत बणिजोल्यौ, ज्यूं मोरा मन पतियाई ॥ टेक ॥
सहज गोरषनाथ बणिज कराई, पंच बलद नौ गाई ॥
सहज सुभावै बाषर ल्याई, मोरे मन उड़ियांनी आई।
सुरहट घाट अम्हे बणिजारा, सुंनि हमारा पसारा ॥
लेण न जाणौं देण न जाणौं, एहा बणज हमारा।
भणत गोरषनाथ मछिंद्र का पूता, एहा बणिज ना अरथी ॥
करणीं अपणीं पार उतरणां, बचने लेणां साथीं। (१०४।१५)

इनके अतिरिक्त, निम्नाकित सन्दर्भो मे उपर्युक्त आजीविकाओ से सम्बद्ध चर्चा मिलती है ·

इक लष सींगणि नव लष बांन। बेध्या मींन गगन अस्थांन।
बेध्या मींन गगन कै साथ। सति सति भाषंत श्रीगोरषनाथ ॥
(४५।१२७)

इसी स्थल पर बाणो के द्वारा मछली के बेधने की बात कही गई है। मछली मारने के साथ तेल निकालने का उल्लेख भी गोरखनाथ ने यह कहते हुए किया है कि हमारी जाति तेली की है और गोटा (सरसो) पेरकर हमने तेल निकाल लिया है और खली को ठेल दिया है, अर्थात् अलग कर दिया है। अगिका, बज्जिका एवं मैथिली मे तेलहन, अर्थात् सरसों और राई के लिए 'गोटऽ', 'गोट' अथवा 'गोटा' शब्द भी प्रचलित है :

भणत गोरषनाथ मछिंद्र ना पूता, जाति हमारी तेली ।
पीड़ी गोटा काढ़ि लीया, पवन षलि दीयां ठेली ।। (११७।२१)

तेली के समान ही धोबी के कपडे धोने की चर्चा भी गोरखनाथ ने की है .

अह निसि धोबी धोवै त्रिबेणी की घाटी । (१५१।५४)

अथवा :

चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करि लै पाटी ।
मूंनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी ।। (११६।१)

इन पंक्तियो मे धोबी का रूपक बड़ी ही स्पष्टता से उपलब्ध है । इसी प्रकार, सुनार की चर्चा भी एकाधिक स्थलो मे की गई है । यथा ,

सोनां ल्यौ रस सोनां ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे । (९१। टेक)

अथवा .

रती का कांम मासे की चोरी, रती मैं मासा चोरै ।
मासा चोरि रहै मासे मै, इहि बिधि गरथै जोरै ।। (९२।३)

यह प्रसिद्ध है कि सुनार छोटे-मोटे सुवर्ण-कार्य मे भी कुछ-न-कुछ सोने की चोरी कर लेता है और यही इस आजीविका की विशिष्टता है । गोरखनाथ ने भी बडी स्पष्टता से उपर्युक्त सन्दर्भ मे इस विशिष्टता की ओर सकेत किया है । साथ ही, लोहार के कार्य की ओर भी निम्नांकित पंक्तियों मे सकेत है, गोकि प्रत्यक्ष रूप से लोहार शब्द प्रयुक्त नही है :

अहरणि नाद नै ब्यंद हथौड़ा, रवि ससि षाला पवनं ।
मूल चापि दिढ आसन बैठा, तब मिटि गया आवागवनं ।। (१०३।२)

इस क्रम मे एक और रूपक विचारणीय है, जिसमें अग्नि और पानी के संयोग से लोहा शुद्ध करने की वात कही गई है :

निसपती जोगी जानिबा कैसा । अगनी पांणीं लोहा मांनै जैसा । (४८।१३९)

उपर्युक्त सन्दर्भो के अतिरिक्त जिन वस्तुओ का उल्लेख इस क्रम मे महत्त्वपूर्ण है, वे है : ताला-कुंजी, तेल-दीपक, तेल-वाती, खाट-चादर, ओखली-चावल, अथवा गागर और पनिहारी । ये सभी उल्लेख सामाजिक जीवन के सामान्य तथा निम्न स्तर का संकेत करते है । फलत., यह कहा जा सकता है कि गोरखनाथ का सम्बन्ध समाज के सामान्य स्तर से ही अधिक था और उन्हे उसी स्तर का अनुभव भी था । 'शब्द' का महत्त्व बताते हुए गोरखनाथ ने ताला और कुजी का प्रयोग किया है : **सबदहि ताला सबदहि कूंची'** (८।२१) । योग की ओर सकेत करते हुए उन्होने पुनः इन दोनों शब्दो का प्रयोग किया है **'कूंची ताली सुषमन करै'** (४६।१२३) । नाडी-साधन के क्रम में उन्होने तेल एवं दीपक के रूपक का पयोग किया है, यथा : **'षूटै तेल न बूझै दीया'** (६३।१८७) । और पुन , ज्ञान के प्रकाश की सिद्धि के क्रम मे तेल और वत्ती का

उल्लेख हुआ है : 'तेल बिहूंणी बाती' (६८।२०४)। निम्नाकित पंक्तियों में दैनिक जीवन मे काम आनेवाली इस प्रकार की कतिपय अन्य वस्तुओ के उल्लेख मिलते है :

गंग जमुन मोरी षाटलड़ी रे हंसा गवन तुलाई जी।
धरणि पाथरणौं नै आभ पछेवड़ौ, तौ भी सौड़ी न माई जी ॥
षांडतड़ी मांझौ जनम बदीतौ, चांवल सांबि न सारी जी।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष बोल्या, ये तत जोऔ विचारी जी ॥ (९३।७)

यहाँ खाट, तुलाई, अर्थात् रजाई, सौड़ी, अर्थात् चादर, षाडतड़ी, अर्थात् ओखली अथवा ढेंकी एवं चावल बनाने का उल्लेख स्पष्ट है, जो सामान्य गृहस्थ के जीवन से ही अधिक सम्बद्ध है।

'अवधू गागर कंधै पांणीहारी, गवरी कंधै।' में गागर और पनिहारी का उल्लेख भी इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नही है।

गोरखनाथ की बानियों मे हमे चोर, बटमार एवं लुटेरे का उल्लेख भी एकाधिक बार मिलता है। इन बानियो मे अभिव्यक्त उस समय के सामाजिक परिवेश की कल्पना मे ये उल्लेख निश्चय ही पर्याप्त संकेत छोड़ते है :

अवधू निद्रा कै घरि काल जंजालं अहार कै घरि चोरं। (१३।३५)

अथवा.

पगां बिहूनड़ै चोरी कीधी, चोरी नै आंणी गाई। (११३।२०)

यहाँ चोरी करके गाय ले आने की बात कही गई है। इसी प्रकार, निम्नांकित पंक्तियों में सुनसान जंगल मे राह भूलकर भटकनेवाले के बटमारो अर्थात्, लुटेरों द्वारा लूटे जाने की सम्भावना बताई गई है :

अवधू बूझना ते भूलना नहीं अनबूझ मग हारै।
सूंने जंगल भटकत फिरहीं, मारि लिही बटमारै ॥ (५२।१५०)

इस क्रम मे भट्ठी चुलाने, अर्थात् मदिरा तैयार करने का वर्णन विशेष महत्त्व का है। भट्ठी चुलाने के उल्लेख के साथ ही मदिरा तैयार करने में काम आनेवाले उपकरणो का उल्लेख भी स्पष्ट शब्दों मे किया गया है। इस वर्णन से इस तथ्य का पर्याप्त संकेत मिलता है कि गोरखनाथ मदिरा बनाने की प्रक्रिया से यथेष्ट परिचित थे, हालाँकि यह उल्लेख भी योग-सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के क्रम मे ही, रूपक के रूप में हुआ है :

ईकीस ब्रह्मंड भाठी चिगावैं, पीवत सदा मतिवालं।
मनसा कलालिनि भरि भरि देवैं, आछा आछा मद नां प्यालं ॥ टेक ॥
अमृत दाषी भाठी भरिया, ता मधैं गुड़ झकोल्या।
मन महुवा तन धाहुवा, बनासपती अठारैं मोल्यां ॥ (१२२।१)

दूसरी ओर यह भी विचारणीय है कि गोरखनाथ नशाखोरी अथवा मद्य-मांसभक्षण के पूर्णतः विरोधी थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर बड़े स्पष्ट शब्दों में मद्य, मांस, अफीम, धतूरा एवं भाँग के सेवन के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की है :

अवधू मांस भषंत दया धरम का नास । मद पीवत तहां प्रांण निरास ।
भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन षोवंत । जम दरबारी ते प्रांणी रोवंत ।। (५६।१६५)
जोगी होइ पर निंद्या झषै । मद मांस अरु भांगि जो भषै ।।
इकोतरसै पुरिषा नरकहि जाई । सति सति भाषंत श्रीगोरषराई ।।
(५६।१६४)

भाँग के साथ अफीम की चर्चा निम्नांकित शब्दो मे है :

आफू षाय भांगि भसकावै । ता मैं अकलि कहां तै आवे ।
चढ़तां पित्त ऊतरतां बाई । तातै गोरष भांगि न षाई ।। (६९।२०८)

साथ ही, नीचे की 'सबदी' मे बड़े स्पष्ट शब्दो मे भाँग के दुर्गुणो का उल्लेख गोरखनाथजी ने किया है ·

सूकै कंठ अरु भूष सतापै । देह बिसर अर निंद्रा व्यापै ।।
बुधि बिन बकै बिकल होय जाय । ताते गोरष भांगि न षाय ।।
(७०।२१३)

इसके अतिरिक्त, निम्नाकित सन्दर्भ मे भी क्रमश· कुलथी और भाँग तथा धतूरा और भाँग के प्रयोग का निषेध है। इस स्थान पर कुलथी का उल्लेख क्यो है, यह स्पष्ट नहीं होता, कारण कुलथी एक ऐसा अन्न है, जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक कहा जाता है, किन्तु गोरखनाथ ने इसका उल्लेख भी भाँग के साथ ही किया है और इसको भी निषिद्ध ही माना है . 'तजौ कुलती मेटौ भंग ।' (७४।२३२)

धतूरे और भाँग के उपयोग का निषेध निम्नांकित 'सबदी' मे उपलब्ध है

धोतरा न पीवो रे अवधू भांगि न षावौ रे भाई ।
गोरष कहै सुणो रे अवधू या काया होयगी पराई ।। (७६।२४१)

यद्यपि, गोरखनाथ ने इन नशीले पदार्थों के उपयोग के निषेध का विधान केवल अवधूत योगियो के लिए किया है, तथापि उनके कथन सामाजिकता के सन्दर्भ मे उतने ही उपयोगी है, जितने योगियो के लिए । अत., इन कथनो का भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक सन्दर्भ है ।

उपर्युक्त उल्लेखो के अतिरिक्त गोरखनाथ की बानियों में ऐसी रचनाएँ यथेष्ट मात्रा में हैं, जिनका सम्बन्ध आचार-विचार तथा नैतिक आचरण से है । सामाजिक दृष्टि से भी इन विधानो अथवा उपदेशो का विशिष्ट महत्त्व सिद्ध होता है, गोकि ये भी अधिकाशत: योगियो को ही सम्बोधित हैं । इनमे प्रमुखत·, बोलने-चालने, खाने-पीने, देखने-सुनने, आदि पर नियन्त्रण, कथनी और करनी मे साम्य, नारीमात्र में मातृत्व का आरोप, ढोंगी तथा अन्य प्रकार के पाखण्डी साधुओ अथवा उपदेशको की चर्चा एवं कतिपय लोकप्रसिद्ध कथनो एवं कहावतो का उल्लेख है । यथा :

यथा　हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरै धरिबा पाव ।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणत गोरष रावं ।। (११।२७)

तथा : धाये न षाइबा, भूषे न मरिबा, अहनिसि लेवा ब्रह्म अगनि का भेवं ।
हठ न करिबा, पड्या न रहिबा, यूं बोल्या गोरष देवं ॥
(१२।३१)

गोरखनाथ के अनुसार, अच्छा आचरण यह है कि हम तटस्थ भाव से कोई भी घटना देखते-सुनते रहे, उसमे बरबस अपने को भी लिप्त नही कर ले। इस प्रकार, अलिप्त भाव से जीवन-यापन निश्चय ही उत्तम आचरण का परिचायक होगा :

गोरष कहै सुणहु रे अवधू जग मैं ऐसैं रहणां ।
आंषैं देषिबा कांनैं सुणिबा मुष थैं कछू न कहणां ॥ (२६।७२)

गोरखनाथ ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि 'बडे बडे कूले, मोटे मोटे पेट' (३८।१०९) उत्तम जीवन के लिए वांछनीय नही है। बोलने-चालने, खाने-पीने, देखने-सुनने में नियन्त्रण के साथ ही 'कथनी और करनी' का साम्य भी जीवन की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। तोता कुछ शब्दों को पढकर उन्हे दुहराना-भर सीख सकता है, लेकिन उनके अनुसार काम नही कर सकता, उनका अर्थ नही समझता। इसी प्रकार, अनुभवहीन पण्डित के साथ केवल पोथी रह जाती है। अतः, कहना आसान होता है, तदनुसार रहना कठिन, और विना रहती के कहना थोथा अथवा सारहीन है :

कहणि सुहेली, रहणि दुहेली, कहणि रहणि बिन थोथी ।
पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई षाया पंडित के हाथि रह गई पोथी ॥
(४२।११९)

अथवा :

कहणि सुहेली, रहणि दुहेली बिन षाया गुड़ मींठा ।
खाई हींग कपूर बषांणैं गोरष कहै सब झूठा ॥ (४२।१२०)

अर्थात्, विना अनुभव के कुछ भी कहना उचित नहीं है, यह तो वैसा ही होगा कि हीग खाई हो, पर कपूर के स्वाद का वर्णन कर रहा हो। इस प्रकार के कथनों के साथ ही नीतिपरक उक्तियाँ भी गोरखनाथ की बानियो मे बहुतायत से प्राप्त होती है, जिनमें अधिकाश आचरण की पवित्रता तथा व्यावहारिकता से सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ :

मूरिष सभा न बैसिबा अवधू पंडित सौं न करिबा बादं ।
राजा संग्रांमे झूझ न करबा हेलै न षोइबा नादं ॥ (४३।१२१)

स्पष्ट है कि गोरखनाथ के विचार से, मूर्खो की सभा मे बैठना नहीं चाहिए, न पण्डितों से शास्त्रार्थ करना वाछनीय है और न ही राजा से लड़ाई लड़नी चाहिए। यद्यपि, यह कथन अवधूत को सम्बोधित है, तथापि सामान्य मनुष्य पर भी समानत. चरितार्थ होता है। मूर्खो की सभा मे बैठने का परिणाम तो सर्वविदित है, अपने को पण्डित समझनेवाले व्यक्ति मे यथार्थ को स्वीकार करने की क्षमता ही नही होती और इसी प्रकार राजा की शक्ति से टकराना किसी राजा के लिए उचित होगा, सामान्य मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं, अतः इसमे उलझने से शक्ति के अपव्यय की ही आशंका अधिक है। सामान्य

जीवन मे वही मनुष्य उत्तम कहला सकता है, जिसका आचरण पवित्र हो तथा इन्द्रियों एव वाणी पर नियन्त्रण हो। गोरखनाथ का कहना है कि जो इन्द्रिय का ढीला-ढाला है तथा जिह्वा पर भी जिसका नियन्त्रण नही है, वह व्यक्ति प्रत्यक्ष 'चूहड़ा' है।

यंद्री का लड़वड़ा जिभ्या का फूहड़ा। गोरष कहै ते पर्तषि चूहड़ा।

काछ का जती मुष का सती। सो सत पुरुष उत्तमो कथी ॥ (५८।१५२)

इन पंक्तियो मे 'लडवडा', 'फूहड़ा' तथा 'चूहड़ा' शब्द विशेष रूप से ध्यातव्य है। इन शब्दो का रूप और अर्थ आज भी ग्रामीण अथवा मध्यवर्गीय समाज मे सुरक्षित है। इन कथनो मे गोरखनाथ-कालीन समाज के सम्बन्ध मे पर्याप्त सकेत मिलते हैं। पृ० ५९, सबदी १७५ मे 'छैल' शब्द का उल्लेख भी इस ओर इगित करता है। यह शब्द आज भी उसी सन्दर्भ मे प्रचलित है, जिसमे इसका प्रयोग गोरखनाथ ने किया है, यद्यपि उनका कथन अवधूत को लक्ष्य करता है। इस सन्दर्भ मे गोरखनाथ के द्वारा 'विलाइत' शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है, यद्यपि उनका तात्पर्य सम्भवत विदेश से है: **'जोगी सो जे मन जोगवै बिन विलाइत राज भोगवै।'** (३५।१०२)

इससे ऐसा आभास मिलता है कि विदेश मे शासन करनेवाला ही असल राजा माना जाता होगा अथवा सच्चे अर्थ मे राज्य भोगना ही विदेश पर शासन करना समझा जाता होगा। आज 'विलायत' शब्द इँगलैण्ड के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु दसवी-ग्यारहवी शती मे इस शब्द का प्रयोग अवश्य ही विचारणीय है।

इन उल्लेखो के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रसंग भी गोरखनाथ की रचनाओ मे प्राप्त होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध किसी सामाजिक सन्दर्भ से जोडना यद्यपि कठिन है, तथापि दूर का सकेत ग्रहण किया जा सकता है। **'तीनि जणँ का संग निवारौ नकटा, बूचा, काणा'**, (७७।२४९) अथवा, **'मन चंगा तौ कठौती ही गंगा'** (५३।१५३) जैसी कहावतो तथा

त्रिया न स्वांति बैंद र रोगी रसायणी अर जाचि धाय।

बूढा न जोगी सूरा न पीठि पाछै घाव यतनां न मानै श्रीगोरषराय ॥ (६९।२१०)

जैसी उक्तियो मे यह देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गोरखनाथ योगी, आजीवन ब्रह्मचारी तथा ऐकान्तिक साधक थे, इसीलिए गृहस्थो के लिए उनके पास कोई स्थान न था, न सासारिकता से ही उनका तात्पर्य था और नारी केवल मातृरूप मे ही उन्हे मान्य थी:

सांइ सहेली सुत भरतार सरब सिसटि की एकौ द्वार।

पैसता पुरिस निकसता पूता ता कारणि गोरष अवधूता ॥ (७६।२४२)

उनके सारे कथन अवधूतो के लिए ही है और उन्ही को सम्बोधित हैं, फिर भी उनके द्वारा प्रयुक्त रूपको, दृष्टान्तो तथा अन्य प्रसगो मे ऐसे संकेत मिलते है, जिनसे तत्कालीन सामाजिक जीवन का एक हल्का, पर स्पष्ट चित्र प्राप्त हो सकता है। ●●

△ रीडर. हिन्दी-विभाग
पटना-विश्वविद्यालय, पटना ८००००५

रीतिकालीन ऐतिहासिक एवं साहित्यिक घटनाएँ

●

डॉ० भुवनेश्वरप्रसाद वर्मा 'कमल'

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विद्वानो ने सं० १७०० से १९०० वि० तक के सुदीर्घ काल-विस्तार को 'रीतिकाल' के नाम से अभिहित किया है। इस काल के अन्तर्गत सैकड़ो कवियो ने हजारों काव्यग्रन्थो की रचनाएँ की। इन काव्यग्रन्थों मे अनेक ऐसे है, जिनमे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक गतिविधियों की झाँकी मिलती है। शोध-अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखकर यहाँ कालक्रमानुसार रीतिकाल की साहित्यिक घटनाओ की तत्कालीन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ के साथ तुलना प्रस्तुत की गई है।

प्रस्तुत विवरण मे कुछ शब्दो के सक्षिप्त रूपों के प्रयोग किये गये हैं। उन सक्षिप्त शब्दरूपों को आसानी से ग्रहण किया जा सके, इस उद्देश्य से उनके पूर्ण शब्दरूपो को उपन्यस्त किया जा रहा है :

अनु० = अनुवाद; औरंग० = औरंगजेब; अं० = अँगरेज; ई० = ईसवी-सन्; ई० इ० क० = ईस्ट इण्डिया कम्पनी; क० = कम्पनी (ईस्ट इण्डिया); ग० जे० = गवर्नर जेनरल; गद्दी० = गद्दीनशीन; ज० = जन्म; तृ० = तृतीय; द्वि० = द्वितीय; नि० = नियुक्त; प्र० = प्रथम, भा० = भारत; मृ० = मृत्यु; वि० = विक्रम-सवत्; वि० सं० = विक्रम-सवत्; स्थ० = स्थगित; स्था० = स्थापित; स० = सम्पादक।

प्रस्तुत विवरण में तीन स्तम्भ है। प्रथम स्तम्भ मे ऐतिहासिक घटनाओं का कालक्रमानुसार उल्लेख किया गया है। इसी स्तम्भ मे भारतीय शासन-सत्ता के सर्वोच्च पदाधिकारियो के नाम एव उनके राजत्व-काल का उल्लेख भी किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसके राजत्व-काल मे कौन-कौन-सी ऐतिहासिक एवं साहित्यिक घटनाएँ घटित हुईं। द्वितीय स्तम्भ में (ऐतिहासिक घटनाओ के नामोल्लेख के सम्मुख) विक्रम-संवत् का एव तृतीय स्तम्भ मे कालक्रमानुसार साहित्यिक घटनाओ का उल्लेख किया गया है।

साहित्यिक घटनाओं के अन्तर्गत कवियों के जन्म, मृत्यु और काव्यग्रन्थों की रचना को ही ग्रहण किया गया है। काव्यग्रन्थों के नाम के सामने कोष्ठक मे उनके रचयिताओं

के नाम भी दे दिये गये हैं। चेष्टा यह की गई है कि सभी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक एवं साहित्यिक घटनाओ का समावेश प्रस्तुत विवरण मे हो जाय; फिर भी भूल-चूक से इनकार नही किया जा सकता।

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
शाहजहाँ का राजत्व-काल (सन् १६२७–५८ ई०), औरंगजेब द्वारा दक्षिण के वायसराय के पद का परित्याग	१७००	रसराज (मतिराम), लालदास सन्त ज०, दुखहरणदास ज०, बाबालाल ज०, सूरदास ज०, गोपालराम ज०, हरिवल्लभ ज०, जगतानन्द ज०, हरिदास ज०, धर्मदास (कृष्णभक्त) ज०, ठाकुर (प्राचीन) ज०, मण्डन ज०, रसिकदास ज०, वृन्द ज०, नारदनीति (देवीदास व्यास), अर्जुनगीता (जनभुवाल)
नूरजहाँ मृ०, गुरु हरगोविन्द मृ०	१७०२	सैयद अलावल (सूफी) ज०
मुराद द्वारा बलख-विजय, शिवाजी द्वारा तोरण-विजय	१७०३	रामकवि ज०, जैतसिंह महापात्र ज०,
शिवाजी द्वारा सिंहगढ़-विजय	१७०४	
शाहजी बीजापुर मे कैद, बीजापुर शासक को 'शाह' उपाधि	१७०५	
नई दिल्ली का उद्घाटन, फारसियो द्वारा कान्धार-विजय	१७०६	छत्रसाल ज०, कवित्तरत्नाकर (सेनापति)
	१७०७	नायिकाभेद (शम्भुनाथ सोलंकी), कवि-कल्पतरु, काव्यप्रकाश (चिन्तामणि) गुरु-चरित्र (जगन्नाथ), वृन्दावन सत (भगवत-मुदित भगवन्त)
हुगली मे अँगरेजो की फैक्टरी, औरंगजेब पुनः दक्षिण के वायसराय	१७०८	गुरु की महिमा (जगन्नाथ)
शुजा द्वारा अँगरेजो को बंगाल मे व्यापार की अनुमति	१७०९	
डच द्वारा चिनसुरा मे फैक्टरी स्थापित	१७१०	शृंगारमजरी (चिन्तामणि), कालिदास त्रिवेदी ज०, बालानन्द ज०, स्वामी प्राण-नाथ महामति ज०, रज्जब ज०, सुन्दरदास ज०, (मृ० सं० १७४६ वि०), नरसी मेहता की हुण्डी (जेठमल)
	१७११	रसभूषण, रसकल्लोल (तुलसीदास)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
मुगलों का हैदराबाद और गोलकुण्डा पर आक्रमण	१७१२	जम्बू के रेखते (केशव)
शिवाजी द्वारा जावली-विजय, गोलकुण्डा-राजकुमारी का औरंगजेब-पुत्र से विवाह, बीजापुर के आदिलशाह की मृ०	१७१३	
शाहजहाँ बीमार, राजगद्दी के लिए युद्ध, शिवाजी द्वारा अहमदनगर पर आक्रमण	१७१४	
दिल्ली में औरंगजेब गद्दीनशीन, औरंगजेब का राजत्व-काल (सन् १६५८-१७०७ ई०)	१७१५	
शिवाजी द्वारा अफजल खाँ की हत्या शुजा और दारा पराजित, दारा की हत्या	१७१६	ललितललाम (मतिराम)
मीरजुमला बंगाल का गवर्नर, सीलोन से पुर्तगीज बहिष्कृत मुरादकी हत्या, आराकानमें शुजा की मृ०	१७१७	रसनिधि मृ०
मुगलों द्वारा कूचविहार पर अधिकार	१७१८	भीष्मपर्व (सवलसिंह चौहान)
मीरजुमला मृ०, शिवाजी की पूना पर चढ़ाई, शाइस्ता खाँ बंगाल का गवर्नर नि०	१७२०	मानतुंगवनी चउपइ (उभयसोम), रसरत्नावली (मण्डन), रसराज (मतिराम), काशीराम ज०, कुमार मणिभट्ट ज० (मृ० सं० १८०० वि०) रामविनोद (रामचन्द्र)
शिवाजी की सूरत-विजय, फ्रेंच इण्डिया कं० स्थापित	१७२१	विहारीलाल मृ० (ज० सं० १६६० वि०)
जयसिंह द्वारा शिवाजी पराजित	१७२२	शृंगारमंजरी (चिन्तामणि), जगजीवनदास ज०, मारवाड़ के दरियासाहब का ज० (मृ० सं० १८४४ वि०), हरिभक्तिसिद्धान्त-समुद्र या श्रीकृष्णस्तुति-विरुदावली (फतेसिंह या हितराम)
शिवाजी की आगरा में प्राणरक्षा, शाहजहाँ मृ०	१७२३	गुरु गोविन्दसिंह ज०
सिक्ख-आन्दोलन	१७२४	शल्यपर्व (सवलसिंह चौहान); रसरहस्य (कुलपतिमिश्र), रसिकसंजीवनी (दिनेश पाठक)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
सूरत मे पहली फ्रेंच-फैक्टरी स्था०	१७२५	यारी साहब ज० (मृ० सन् १७२५ ई०), ककावली या ककावतीसी (उदय)
गोकला के नेतृत्व मे जाट-विद्रोह	१७२६	रससागर (गोपालराम), विचारमाल (अनाथपुरी), सर्वसार-उपदेश (अनाथ), पुहुपावती (दुखहरण)
शिवाजी-विद्रोह, सूरत-विजय, सूरत की पुनः लूट	१७२७	सभापर्व, द्रोणपर्व (सबलसिंह चौहान) वैदकसार (मथुरादास), मुअज्जम शाह के कवित्त (जैनसिंह महापात्र)
छत्रसाल के नेतृत्व मे बुन्देलो का उदय	१७२८	वृत्तविचार (शुकदेवमिश्र)
अफरीदी विद्रोह, सतनामी विद्रोह	१७२९	वैदक भिषग प्रिया (सुदर्शनभट्ट)
शिवाजी द्वारा हुबली-विजय	१७३०	नलदमन (सूरदास), रसरत्नाकर, रसार्णव (शुकदेवमिश्र) शिवराजभूषण (भूषण), देव ज० (मृ० स० १८२४ वि०), सूरतिमिश्र ज० (मृ० सं० १८०० वि०), मूसलपर्व (सबलसिंह चौहान)
शिवाजी को गद्दी, 'छत्रपति' उपाधि-धारण (राजत्व-काल, सन् १६७४—८० ई०)	१७३१	मानबत्तीसी (मानमुनि), विहार के दरिया साहब का ज० (मृ० सं० १८३७ वि०), स्वर्गारोहणीपर्व (सबलसिंह चौहान)
गुरु तेगबहादुर की हत्या	१७३२	
	१७३३	शृंगारलता, फाजिल अली प्रकाश (शुकदेव मिश्र)
शिवाजी की मैसूर-कर्नाटक-विजय	१७३४	बैताल ज०, कर्णपर्व (सबलसिंह चौहान, वामविलास (वैजनाथ सुकवि)
मारवाड़ पर मुगल-आधिपत्य	१७३५	अजबदास का झूलना (अजबदास), कृष्ण-विलास (सवितादत्त), महाराज जसवन्त सिह मृ० (ज० स० १६८३ वि०)
जजिया-टैक्स पुन. लागू, गंगा में पहला अँगरेजी-जहाज	१७३६	कवीन्द्र उदयनाथ ज०, रसरत्नाकर (सूरति-मिश्र)
शिवाजी मृ० (ज० सन् १६२७ ई०)	१७३७	द्रोणपर्व (कुलपतिमिश्र), शकुन्तलानाटक (नेवाज), बुल्लासाहब ज० (मृ० सन् १७५८ ई०)।

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
शम्भुजी को गद्दी, समर्थ रामदास मृ० (ज० सन् १६०८ ई०), शम्भुजी का राजत्व-काल (सन् १६८०–८९ ई०)	१७३८	
औरंगजेब द्वारा मराठों पर आक्रमण	१७३९	भक्तिकल्पतरु (पदुमनदास), कर्मविपाक (गंगाराम)
औरंग० के समक्ष गोलकुण्डानरेश नत, जाट-विद्रोह	१७४०	साहित्यसार (मतिराम), अनन्य अली ज० (मृ० सं० १७९० वि०)
	१७४१	उपमालंकार (बलवीर)
अँगरेज-मुगल-युद्ध, अँगरेजो द्वारा हुगली-विजय, हुगली-दहन	१७४३	युक्तितरंगिणी (कुलपतिमिश्र), भाव-पंचाशिका (वृन्द), प्रसादलता (रसिकदास)
राजकुमार अकबर की समुद्र द्वारा फारस-यात्रा, शाह आलम को कैद	१७४४	माधुर्यलता (रसिकदास)
मराठो द्वारा कांजीवरम् की लूट, सिकन्दरा मे जाटों द्वारा अकबर के मकबरे की लूट	१७४५	
औरंग० उत्तर-दक्षिण मे एकच्छत्र, शम्भुजी की हत्या, राजाराम को गद्दी (राजाराम का राजत्व-काल सन् १६८९–१७०० ई०)	१७४६	भावविलास (देव); घनानन्द ज० (मृ० स० १७९६ वि०), सुन्दरदास मृ० (ज० सं० १७१० वि०), प्रेमरत्नाकर (देवीदास)
अँगरेज-मुगल-सन्धि, कलकत्ता नगर स्था०, सतारा मे मराठो की विजय	१७४७	
जाट-पराजय, औरंगजेब का उत्कर्ष	१७४८	श्रृंगारशिक्षा (वृन्द)
	१७४९	वधूविलास या वारवधूविनोद (कालिदास); रतिरंगलता (रसिकदास)
मराठो द्वारा बरार पर आक्रमण, डच द्वारा पाण्डिचेरी-विजय	१७५०	रामरसार्णव (दलेलसिंह), रससागर (श्रीनिवास), भवानीविलास (देव), केशवदास सूफी ज० (मृ० सन् १७६८ ई०), श्रीपति ज०, बालभक्ति ज०, गुलाल साहब ज० (मृ० सं० १८५० वि०)
तंजोर के शाहजी द्वि० द्वारा मुगलों से सन्धि	१७५१	आश्रमवासिक पर्व (सबलसिंह चौहान)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
शाह आलम पंजाब-सिन्ध का वाय-सराय, मराठों द्वारा मुगलो की चित्ताल-दुर्ग में पराजय, मुगल-जहाजो पर अँगरेजो का आक्रमण	१७५२	नायिकाभेद (कुन्दन), दूलनदास ज०
	१७५३	चण्डीचरित्र (गुरु गोविन्दसिंह), रस-कदम्बचूडामणि (रसिकदास)
पन्तजी घोरपारा की हत्या	१७५४	नायिकाभेद (केशवराम), रामचरित्र (कपूरचन्द)
अं० ईस्ट इण्डिया कं० निर्मित, अं० को सूतानटी, कलकत्ता तथा गोविन्द-पुर की जमीन्दारी प्राप्त	१७५५	अध्यात्मप्रकाश (शुकदेवमिश्र), शिवाष्टक (देव), रासपचाध्यायी (जनगोपाल), मुक्ति-रत्नाकर (राजा दलेलसिंह)
मालवा पर मराठो का पहला हमला, बिदर बखत द्वारा राजाराम पराजित	१७५६	नागरीदास ज०
राजाराम मृ०, उसकी विधवा तारा-बाई गद्दीनशीन, मुगलो द्वारा सतारा पर अधिकार, ताराबाई अथवा शिवाजी द्वि० का राजत्व-काल (सन् १७००–१७०८ ई०)	१७५७	बिहार के दरियासाहब का ज० (मृ० सन् १७८० ई०), विजयमुक्तावली (छत्रसिंह), जैमिनीपुराण (प्राणनाथ), शिवसागर (दलेलसिंह), राधारमण रससागर (मनोहरदास)
दुर्गादास का विद्रोह, अं० और लन्दन ईस्ट इण्डिया क० का एकीकरण, औरंग० द्वारा पारली आदि दुर्गों पर अधिकार	१७५९	दम्पतिविलास (बलवीर), बाबा दीनदयाल गिरि ज०, कर्मशतक, कीर्त्तिशतक, पुण्य-शतक, विनोदशतक, वीरशतक, शृंगार-शतक (गोपालदास)
मराठों का बरार-प्रवेश	१७६०	कवितरंग (तिब्बी अनु० सीताराम), रामप्रियाशरण ज०, चरणदास ज० (मृ० सन् १७८३ ई०), मखदूमशाह ज०, रामप्रसाद विन्दुकाचार्य ज० (मृ० सं० १८६१ वि०), रसग्राहकचन्द्रिका या रसिकप्रियाटीका (सूरति-मिश्र), शब्दरसायन या काव्यरसायन (देव), रसतरंग (लोकनाथ चौबे), रसविलास, प्रेमतरंग, अवधीसागर (जानकीरसिकशरण), जातिविलास (देव), सीतायन (रामप्रिया-शरण 'प्रेमकली')

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
मुहम्मद अकबर मृ०	१७६१	कुशलविलास (देव), वृन्दसतसई (वृन्द)
औरंग० भयंकर बीमार	१७६२	वचनिका (वृन्द)
मराठों का गुजरात पर आक्रमण, बड़ौदा पर विजय	१७६३	
ताराबाई अपदस्थ, औरंग० मृ०, बहादुरशाह प्रथम को गद्दी, जजाऊ की लड़ाई, बहादुरशाह प्रथम का राजत्व-काल (सन् १७०७–१७१२ ई०)	१७६४	छत्रप्रकाश (लालकवि), सत्यस्वरूप (वृन्द) उषाचरित्र (जनकिशोर)
मराठानरेश शाह प्र० गद्दीनशीन, बाँदा-विद्रोह, पुनः राजपूत-विद्रोह, बहादुरशाह के सम्मुख अजितसिंह नत, शाह प्रथम का राजत्व-काल (सन् १७०८–४८ ई०)	१७६५	नायिकाभेद (खड्गराम), रसशृंगारसमुद्र (वेनीप्रसाद), बालकृष्णनायक ज०, चाचा हितवृन्दावनदास ज० (मृ० सं० १८८४ वि०), गुरु गोविन्दसिंह मृ० (ज० सं० १७२३ वि०), रसिकरंजन (संस्कृत : कुमार मणिभट्ट)
राजकुमार कामबख्श की हत्या	१७६६	अलंकारमाला (सूरतिमिश्र), अलंकार-चन्द्रोदय (रसिकसुमति), हितोपदेश (पदुमन-दास)
बहादुरशाह द्वारा सिक्खो पर आक्रमण	१७६७	अक्षरअनन्य ज०
मुगलो द्वारा सरहिन्द पर कब्जा	१७६८	रसरत्नाकर (सूरतिमिश्र)
बहादुरशाह मृ०, जहाँदारशाह गद्दीनशीन, जहाँदारशाह का राजत्व-काल (सन् १७१२-१३ ई०)	१७६९	शृंगाररसमाधुरी (कृष्णभट्ट देवऋषि), भक्तमाल रसबोधिनी (प्रियादास), कला-निधि ज०
फरुखसियर द्वारा जहाँदारशाह पराजित, जहाँदारशाह की हत्या, फरुखसियर गद्दीनशीन, फरुखसियर का शासनकाल (सन् १७१३–१९ ई०)	१७७०	रससागर, अलंकारगंगा (श्रीपति), गिरिधर कविराय ज०
मुगलों द्वारा मारवाड़ पर आक्रमण, सैयद हुसैन अली दक्षिण के वायसराय नियुक्त, बालाजी विश्वनाथ पेशवा-पद पर आसीन, हुसैन अली-मराठा-सन्धि	१७७१	जयसिंहप्रकाश (आत्माराम), अनवर-चन्द्रिका (बिहारीसतसई-टीका : शुभकरण)
विलियम हैमिल्टन का दिल्ली-आगमन	१७७२	छत्रप्रकाश (लालकवि), भूषण कवि मृ० (ज० सं० १६७० वि०), समयबोध (कृपाराम)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
राजा जयसिंह का जाटों पर आक्रमण, सिक्ख-सरदार बन्दा की हत्या	१७७३	
जजिया-कर पुन. लागू	१७७४	गरीबदास ज०,(मृ० सन् १७७८ ई०), मित्र-मनोहर (वंशीधर)
	१७७५	रसभूषण (याकूब खाँ), जगजीवनदास ज० (मृ० सं० १८१७ वि०), होली-संग्रह (जन-जगन्नाथ)
हुसैन अली दिल्ली वापस, मराठों को सुविधा देने का प्रस्ताव, जजिया-कर स्थगित, जजिया-कर पुनः लागू, रफीउद्दरजात गद्दीनशीन, तत्पश्चात् रफीउद्दौला (शाहजहाँ द्वि०) गद्दीनशीन, तत्पश्चात् नेकुसियर गद्दीनशीन, तत्पश्चात् मुहम्मदशाह गद्दी० (राजत्व-काल सन् १७१९–४८ ई०)	१७७६	रसिकरसाल (कुमार मणिभट्ट), रामचरण ज० (मृ० सन् १७९८ ई०), काव्यसरोज (श्रीपति), मोहमर्द राजा की कथा (जन-जगन्नाथ)
सैयद-बन्धुओं का पतन, जजिया-कर स्थ०, सैयद हुसैन अली की हत्या, मराठों द्वारा गुजरात-विजय, पेशवा बालाजी मृ०, बाजीराव गद्दीनशीन,	१७७७	विनोदचन्द्रिका (कवीन्द्र उदयनाथ), काव्य-सरोज (श्रीपति), रामराकेश ज०, एकादशी-माहात्म्य (सुदर्शन)
सैयद अब्दुल्ला को विष, सआदत खाँ अवध के वायसराय	१७७९	कृष्णचन्द्रिका, नायिकाभेद (वीर), दया विलास (दयाराम)
	१७८०	काव्यकल्पद्रुम (श्रीपति), मनोरथमंजरी (नागरीदास) यारी साहब मृ० (ज० सं० १७२५ वि०)
दक्षिण मे निजाम स्वतन्त्र, अजितसिंह के पश्चात् अभयसिंह गद्दीनशीन	१७८१	स्वामी नारायणसिंह ज०, स्वर्गारोहणी पर्व (महाभारत . सबलसिंह चौहान), भक्ति-सागर (चरणदास)
शुजाउद्दीन बंगाल के गवर्नर, मुहम्मद खाँ बंगश इलाहाबाद के गवर्नर	१७८२	रसिकरत्नावली (नागरीदास). बैताल-पचीसी (फकीरसिंह), हितोपदेश-कथा (जयसिंहदास)
जफर खाँ मृ० निजामुलमुल्क द्वारा शम्भुजी को सहायता, लीन्वायर पाण्डिचेरी के गवर्नर नियुक्त	१७८३	रसविलास, कुशलविलास (देव)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
अभयसिंह गुजरात के गवर्नर नियुक्त	१७८४	
	१७८५	कमरुद्दी खाँ हुलास (गंजन), दोहावली, शब्दसागर (जगजीवनदास), विहारी-सतसई-टीका (कृष्णकवि)
मराठों द्वारा बंगश बुन्देलखण्ड में पराजित	१७८६	शृंगाररसदर्पण (आजम), शृंगाररस-दर्पण (उदयनाथ कवीन्द्र), छत्रसाल मृ० (ज० सं० १७०६ वि०) अजमति खाँ यश-वर्णन (ब्रह्मदेवमिश्र)
शाहू द्वारा शम्भूजी पराजित	१७८७	खटमलबाईसी (अली मुहिब खाँ 'प्रीतम'), भागवत (अनु० गोपाल)
उत्तर भारत पर आक्रमण के लिए निजामुलमुल्क द्वारा मराठों को उत्तेजना, मुहम्मद खाँ बंगश मालवा मे, बाजीराव द्वारा गुजरात अधिकृत, शाहू-शम्भू-सन्धि, डूप्ले चन्द्रनगर-निदेशक नियुक्त, श्वेडिश ई० इ० कं० स्थापित	१७८८	विहारचन्द्रिका (नागरीदास), चिन्तामणि-पद्धति (चिन्तामणिमिश्र), हंसजवाहर (कासिमशाह)
मालवा में मुहम्मद खाँ की जगह राजा जयसिंह, बाजीराव द्वारा मालवा पर आक्रमण	१७८९	पार्श्वनाथपुराण (धर्मदेव)
	१७९०	प्रेमचन्द्रिका (देव)
	१७९१	रससारांश (भिखारीदास), सतसई, कण्ठा-भूषण (भूपति), सुधानिधि (तोष), प्रेम-सखी ज०
ड्यूमास पाण्डिचेरी के गवर्नर, मराठों द्वारा साँभर पर अधिकार, बाजीराव मालवा के शासक	१७९२	नायिकाभेद (कुन्दन), अलंकाररत्नाकर या भाषाभूषण (दलपतिराय वंशीधर), अनन्य अली मृ० (ज० सं० १७४० वि०)
नादिरशाह फारस के बादशाह	१७९३	हंसजवाहर (मखदूमशाह)
भदावर के निकट मुगल द्वारा होल्कर पर आक्रमण	१७९४	अमरचन्द्रिका या बिहारीसतसई-टीका (सूरतिमिश्र), निकुंजविलास (नागरी-दास), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ या शशिनाथ), अंगदर्पण (रसलीन), सुभाषिता-वलीग्रन्थ-भाषा (खुशाल दूबे)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
	१७९५	श्रृंगारविलास (सोमनाथ), सुजानविनोद या रसानन्दलहरी (देव), कलिवैराग्य-वल्लरी (नागरीदास), नामप्रकाश (भिखारीदास), भागवतरसिक ज०
नादिरशाह की काबुल और दिल्ली-विजय, शुजाउद्दीन मृ०, सरफराज बंगाल के गवर्नर, मराठो द्वारा सालसिट वेसीन पर अधिकार, बुरहान मुल्क मृ०, सफदरजंग उसका स्थानापन्न, अँगरेजो को दक्षिण-व्यापार का अधिकार	१७९६	रसिकमोहन (रघुनाथ), घनानन्द मृ० (ज० सं० १७४६ वि०)
बाजीराव मृ०, बालाजी राव गद्दीनशीन, आरकाट एवं कर्णाटक पर मराठा-आक्रमण, अलीवर्दी खाँ बंगाल के गवर्नर	१७९७	
मराठो द्वारा त्रिचनापल्ली पर अधिकार	१७९८	रसरत्नाकर, रसदीप (गुरुदत्त सिंह 'भूपति'), रसप्रबोध (रसलीन), रतनकवि ज०
डूप्ले पाण्डिचेरी के गवर्नर, मराठो द्वारा बंगाल पर आक्रमण, कर्णाटक नवाब सफदर अली की हत्या	१७९९	ब्रजसार, पारायणविधिप्रकाश, भक्तिसार (नागरीदास), रससारांश, छन्दार्णवपिंगल (भिखारीदास), बख्शी हंसराज ज०
रघुजी भोसले द्वारा बंगाल पर आक्रमण, निजामुलमुल्क द्वारा आरकाट-विजय, राजा जयसिंह मृ०, बंगश मृ०	१८००	कलिकुलकण्ठाभरण (दूलह), सुदामाचरित्र (हलधरदास), जोरावरप्रकाश अथवा रसिकप्रिया टीका (सूरतिमिश्र), गोपीप्रेम-प्रकाश (नागरीदास), कृष्णलीलावती पंचाध्यायी (सोमनाथ), शब्दावली (गोसाईं-दास). सूरतिमिश्र मृ० (ज० स० १७३० वि०), सहजोबाई ज०, भीखा ज० (मृ० स० १८५० वि०), कुमार मणिभट्ट मृ० (ज० सं० १७२० वि०)
निजामुलमुल्क-मराठा-सन्धि, रघुजी भोसले द्वारा बंगाल पर आक्रमण, अनवरुद्दीन कर्णाटक के नवाब, प्रथम अँगरेज-फ्रांसीसी-युद्ध	१८०१	सेवकमिश्र ज०, इन्द्रावती (नूर मोहम्मद)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
रघुजी भोंसले द्वारा उड़ीसा पर अधिकार, परन्तु पुनः पराजित, रोहिलों का उदय	१८०२	काव्यकलाधर (रघुनाथ), भक्तिमगदीपिका (नागरीदास), औषधिसंग्रह (बाबूराम पाण्डेय)
मीरजाफर उड़ीसा में नियुक्त	१८०३	काव्यनिर्णय (भिखारीदास), रसिकरसाल (कुमार मणिभट्ट), मुहूर्त्तचिन्तामणि (शम्भुनाथ त्रिपाठी)
अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण, गुजरात का अकाल, नादिरशाह की हत्या, वर्दवान में अलीवर्दी खाँ द्वारा मराठा पराजित	१८०४	रसचन्द्रोदय (उदयनाथ कवीन्द्र), बोधा ज०
निजामुलमुल्क मृ०, अहमद खाँ दुर्रानी का पंजाब पर आक्रमण, मुहम्मद शाह मृ०, अहमदशाह गद्दीनशीन, शाह मृ०, अहमदशाह का राजत्व-काल (सन् १७४८–५४ ई०)	१८०५	जैमिनीपुराणभाषा (सरजूराम पण्डित), चेतन ज०, भरथरीचरित्र (काशीनाथ), शृंगारसागर (चन्द्रदास)
अँगरेजो को मद्रास वापस, अब्दाली द्वारा पंजाब पर आक्रमण, अब्दाली काबुल वापस	१८०६	अलंकारदीपक, रसतरंगिणी (शम्भुनाथ)
रामराजा गद्दीनशीन, ताराबाई द्वारा रामराजा बन्दी, नसीरजंग मृ०	१८०७	शृंगारनिर्णय (भिखारीदास), सुजान-विलास (सोमनाथ-शशिनाथ), जगतमोहन (रघुनाथ), महाभारत (अनु० गोकुलनाथ आदि), रामरूप ज०, समरविजय (तीर्थ-राज), रामायण किष्किन्धा, लंका और उत्तरकाण्ड (बुलाकीनाथ बाबा), पदावली (माधोदास)
अलीवर्दी-मराठा-सन्धि, क्लाइव द्वारा आरकाट का बचाव, मराठों को उड़ीसा प्राप्त, मुजफ्फरजंग मृ०, सलावतजंग गद्दीनशीन	१८०८	जुगलभक्तिविनोद, फागबिहार (नागरी-दास)
अब्दाली द्वारा पंजाब, मुलतान अधि-कृत, गाजीउद्दीन दक्षिण प्रस्थित, विष देकर हत्या	१८०९	बेतालपचीसी (शम्भुनाथ त्रिपाठी), रस-चन्द्रिका (नवाब ईसवी खाँ), वनविनोद (नागरीदास), माधवविनोद नाटक (सोमनाथ या शशिनाथ), शिवचौपाई, लोकोक्तिरस-कौमुदी (शिवसहायदास)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
दिल्ली मे सफदरजंग का विद्रोह	१८१०	समयप्रबन्ध, नीतिकुण्डलिया (चाचा हित-वृन्दावनदास), तीर्थानन्द, सुजानानन्द (नागरीदास), पद्माकर ज०, कुण्डलिया (गिरिधर), कवित्त, शब्दावली, साखी, विरह-सत्य (सिद्धादास)
अँगरेज-फ्रेंच-सन्धि, सफदरजंग मृ०, शुजाउद्दौला उत्तराधिकारी, पेशवा द्वारा कर्णाटक पर आक्रमण, आलमगीर द्वि० का राजत्व-काल (सन् १७५४–५९ ई०)	१८११	शृंगारसागर (चन्द्रदास), सनेहसार, विरहविलास, बारहमासा (बख्शी हंसराज)
क्लाइव भारत वापस	१८१२	माधवानलकामकन्दला (हरनारायण), शालहोत्रभाषा (निधानकवि), कलि-चरितबेलि (चाचा हितवृन्दावनदास)
बंगाल-गवर्नर अलीवर्दी खाँ मृ०, सप्तवर्षीय युद्ध प्रारम्भ, सिराजुद्दौला बंगाल-गवर्नर, तथाकथित ब्लैक हॉल-दुर्घटना	१८१३	रूपविलास (रूपसाहि), शिवलाल पाठक ज०, जानकीविजय (सियाराम)
अहमदशाह अब्दाली द्वारा दिल्ली-मथुरा की लूट, क्लाइव द्वारा पलासी, चन्दरनगर और कलकत्ता पर अधिकार, मीरजाफर बंगाल का नवाब, पलासी-युद्ध	१८१४	
अली गौहर (शाह आलम द्वि०) का बिहार पर आक्रमण, मराठो द्वारा पजाब पर आक्रमण, अब्दाली द्वारा भीषण नरसहार; पंजाब, दिल्ली और आगरा का जीवन त्रस्त	१८१५	
गाजीउद्दीन द्वारा आलमगीर द्वि० की हत्या, अब्दाली द्वारा पंजाब से मराठो का निष्कासन, शाह आलम द्वि० का राजत्व-काल (सन् १७५९–१८०६ ई०)	१८१६	

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
कं० द्वारा वंशीटार्ट वंगाल के गवर्नर नियुक्त, मीरकासिम वंगाल के नवाव, मराठा द्वारा हैदरावाद पर आक्रमण, अब्दाली द्वारा सिन्धिया, होल्कर पराजित, क्लाइव इँगलैण्ड वापस, मराठों द्वारा दिल्ली-विजय	१८१७	हनुमतपचीसी (भगवन्त राय खीची), मोला-राम ज० (मृ० सं० १८९० वि०), जगजीवन-दास मृ० (ज० सं० १७७५ वि०), ज्योतिष-विचार (बुध), मेघमाला (मेघराज), ज्ञानसरोवर, (सुखसागर नवलदास)
माधवराव पेशवा गद्दीनशीन, पानीपत तृ० युद्ध, वालाजीराव पेशवा मृ०, हैदर अली द्वारा मैसूर अधिकृत	१८१८	नवलरसचन्द्रोदय (शोभाकवि), अलंकार-दर्पण (गुमानमिश्र), मकरन्दवाणी (हित-मकरन्द), कृष्णकल्लोल (खुमान)
निजाम अली द्वारा महोदर सलावत-जंग वन्दी	१८१९	संग्रह (सुखनन्दन त्रिवेदी)
	१८२०	गुलालचन्द्रोदय (गुमानमिश्र), सुजानचरित्र (सूदन)
वक्सर-युद्ध	१८२१	
क्लाइव पुनः भारत मे, इलाहावाद-सन्धि, वंगाल-गवर्नर मीरजाफर मृ०	१८२२	संग्रह (रामदास)
वंगाल के अफसरों की वगावत	१८२३	(तीसरे) ठाकुर ज० (मृ० सं० १८८० वि०), रसिकविनोद (हरिवंश)
मैसूर का प्रथम युद्ध, वेरेल्स्ट वंगाल के गवर्नर नि०	१८२४	देव मृ० (ज० सं० १७३० वि०), शनैश्चर देव की कथा (जोरावरमल), फागु (रूपसखी), भक्तिप्रवन्ध (जुगतानन्द)
	१८२५	वर्द्धमानपुराण (नवलदास साहि), भाषा-भरण (वैरीसाल), वुल्लासाहव मृ० (ज० सं० १७५० वि०), शव्दावली (दूलनदास)
	१८२६	अलंकारदर्पण (हरिनाथ या नाथ), कुशल-मिश्र ज०
वंगाल का अकाल	१८२७	रसिकविलास (समनेस), व्रजविलास (व्रज-वासीदास), अलंकारदर्पण (रतनकवि); विसातिनलीला (प्रेमदास), वारहमासा (शंकर)
	१८२८	रामचन्द्र की पत्तल (द्विज कुशाल), रसदृष्टि (शिवनाथ), यशोदानन्दन ज०, वाँकीदास ज० (मृ० सं० १८९० वि०), कोकमंजरी, कोकसार (आनन्दकवि)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
माधवराव पेशवा मृ०, वारेन हेस्टिंग्स फोर्ट विलियम गवर्नर, ग० जे० भी, शासनकाल (सन् १७७२–८५ ई०)	१८२९	छन्दछप्पनी, आनन्दमंगल (मनीराम मिश्र)
नारायणराव की हत्या, लार्ड नॉर्थ का रेगुलेटिंग ऐक्ट पारित, अहमदशाह दुर्रानी के स्थान पर तैमूरशाह बादशाह	१८३०	लालित्यलता (दत्त), फतेहभूषण (रतन-कवि), मनमोहन भक्तिविलास, रससिरोमनि, अलकाग्दर्पण (महाराज रामसिंह)
वारेन हेस्टिंग्स गवर्नर जेनरल नि०, रोहिला-युद्ध, राममोहन राय ज० (मृ० सन् १८३३ ई०) रेगुलेटिंग ऐक्ट लागू, कलकत्ता मे सुप्रीम कोर्ट स्था०	१८३१	अलंकारमणिमजरी (ऋषिनाथ), उषा-चरित्र (कुंजकवि), गीतगोविन्दादर्श (रामचन्द्र नागर)
नन्दकुमार को फाँसी, प्र० अँगरेज-मराठा-युद्ध, सूरत की सन्धि	१८३२	
पुरन्दर की सन्धि	१८३३	कवितारसविनोद (जनराज), पत्तल (कुंज-मणि)
	१८३४	सम्मनकवि ज०
सिरामपुर मे मिशनरियों द्वारा वंगाली प्रेस स्था०, सर टॉमस रम्बोल्ड मद्रास के गवर्नर नि०	१८३५	पचरत्नगेंदलीला (प्रेमदास), रससार (कृपानिवास), रासपचाध्यायी (आनन्द कवि)
	१८३६	अमृतसागर (जयपुरनरेश महाराजा प्रताप-सिंह बहादुर सवाई), वाणी (नवलराम), हरिश्चन्द्रकथा (बेनीबक्स), रामचरणदास ज० (मृ० सं० १८८८ वि०), युगलविलास (महाराज रामसिंह), अमरप्रकाश (खुमान या मानकवि)
द्वितीय मैसूर-युद्ध	१८३७	रसचन्द्रिका, जुगलप्रकाश (दौलतराम उजियारे), राधासुधाशतक (श्रीहठीजी), सहजानन्द ज०, बिहार के दरिया साहब की मृ० (ज० सं० १७३१ वि०)
कलकत्ता में मदरसा स्थापित, लॉर्ड मैकार्टनी मद्रास के गवर्नर नि०	१८३८	चरणदास मृ० (ज० सं० १७६० वि०) कृष्ण-चन्द्रिका (गुमानमिश्र), कल्पभाष्य (राम-चन्द्र नागर), प्रवीणसागर (प्रभानाथ)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
सलबाई की सन्धि, हैदर अली मृ० बनारस में संस्कृत-कॉलेज स्था०	१८३९	रसनिवास (रामसिंह), मधुसूदनदास ज०
फॉक्स का इण्डिया बिल, आयरकूट मृ०, जॉन गिलक्राइस्ट का भारतागमन	१८४०	रघुनाथअलंकार, रसदर्पण (सेवादास), नायिकाभेद (रंग खाँ)
मंगलोर की सन्धि, विलियम पिट का इण्डिया ऐक्ट	१८४१	शृंगारचरित (दौलतराम उजियारे), भाषा-महिम्न (मनियारसिंह), कृपानिवास ज०, रामायण अयोध्याकाण्ड (बुलाकीनाथ बाबा), स्वप्नाध्याय (इच्छागिरि), शृंगार-चरित (देवकीनन्दन)
वारेन हेस्टिंग्स का त्यागपत्र, सर जॉन मैकफर्सन भारत के ग० जे०	१८४२	काशीनरेश उदितनारायण ज० (मृ० सं० १८९२ वि०), पाण्डवचरितार्णव (देवीदास तृ०), षट्पंचाशिका (रामचरणदास)
लॉर्ड कॉर्नवालिस भारत के ग० जे०, शासनकाल (सन् १७८६–९३ ई०)	१८४३	अलंकारदर्पण (रतनेस), सरफराजचन्द्रिका (देवकीनन्दन) महाराज विश्वनाथसिंह ज० (मृ० सं० १९११ वि०)
	१८४४	चाचा हितवृन्दावनदास मृ० (ज० सं० १७६५ वि०), मारवाड़वाले दरियासाहब मृ० (ज० स० १७२२ वि०), रामआग्रह (गंगा-प्रसाद व्यास उदैनिया), रामप्रबोध (नन्द-लाल), कवितावली, रामरहस्य (रामचरण दास) प्रेमरत्न (बीवी रत्नकुँवरि), पुकार-पचीसी (देवीदास द्वि०)
	१८४५	काव्याभरण (चन्दन), नरेन्द्रभूषण (भान-कवि), तुलसीसाहब ज०, अणभौविलास (रामचरण)
टीपू द्वारा त्रावणकोर पर आक्रमण	१८४६	रसरंजन (शिवनाथ), प्रबोधचन्द्रोदय नाटक (नानकदास), नवरसरंग (लोकमणि मिश्र)
तृतीय मैसूर-युद्ध	१८४७	बारहमासा (बालमुकुन्द), कक्कापचीसी, चैत्यवन्दन, लघुपिंगल (चेतन), दस्तूरमालिका (कमला)
	१८४८	वृन्दावन ज०, दोहावली (गिरिवरदास)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
रणजीतसिंह गद्दीनशीन	१८४९	रसविलास, टिकैतरायप्रकाश (बेनी बन्दीजन), ललितलीला (लालजी साहू)
बंगाल की चिरस्थायी व्यवस्था सर जॉन शोर भारत के ग० जे०, शासनकाल (सन् १७९३–९८ ई०)	१८५०	पलटूदास ज०, गुलालसाहब मृ० (ज० सं० १७९० वि०); भीखासाहब मृ०, विष्णुविलास (लालकवि), कवितावली (सरजूदास)
महादाजी सिन्धिया मृ०	१८५१	पं० उमापति त्रिपाठी ज० (मृ० सं० १९३० वि०); विरहसागर (पहलवानदास)
अहल्याबाई मृ०	१८५२	अष्टजाम (खुमान या मान), जयसिंहप्रकाश (प्रतापसाहि), भर्तृहरिशतकभाषा (व्रजनिधि), जैमिनीपुराण (पुरुषोत्तमदास)
बालाजी द्वि० पेशवा नि०	१८५३	माधुर्यलहरी (कृष्णदास), दिललगनचिकित्सा (सीताराम)
अवध के आसफउद्दौला मृ०	१८५४	सत्यनारायणकथा (गगाधर शास्त्री), शालिहोत्र (करताराम द्विज)
लॉर्ड मौनिंगटन (वेलेस्ली) भारत के ग० जे० नि०, शासनकाल (सन् १७९८–१८०५ ई०)	१८५५	लक्ष्मणशतक (मान या खुमान), चन्द्रशेखर वाजपेयी ज० (मृ०स०१९३२वि०), रामचरण मृ० (ज० सं० १७७६ वि०), मुक्तायन (पहलवान दास), भक्तिचिन्तामणि (भक्तिराम), राग माला (गरतिजन), सच्चिदानन्दविहारस्तोत्र (भागवतदास), ए ग्रामर ऑव द हिन्दुस्तानी लैंग्वेज, ओरियण्टल लिंग्विस्ट (जॉन गिलक्राइस्ट)
सीरामपुर मे विलियम केरे द्वारा मिशन स्था०, चतुर्थ मैसूर-युद्ध, टीपू मृ०, मैसूर-विभाजन, रणजीतसिंह लाहौर के गवर्नर	१८५६	बखतविलास (भोगीलाल दुबे), शृंगारशिरोमणि (यशवन्तसिंह द्वि०)
नाना फड़नवीस मृ०, फोर्ट विलियम कॉलेज स्था०, गिलक्राइस्ट प्रधानाध्यापक नि०	१८५७	अवधूतभूषण (देवकीनन्दन), सर्वसुखशरण ज०, भगवानदास खत्री ज०, गंगाराम ज०, रामगोपाल ज०, सारशृंगार (मुरलीधर मिश्र)
	१८५८	लल्लूलाल और विला-कृत 'वैतालपचीसी'

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
		और 'माधवानलकामकन्दला' की रचना, दलेलप्रकाश (थानकवि), रामायणसूचनिका, रसिकगोविन्दानन्दघन (रसिकगोविन्द), अमृतनाथ ज०, राधाकृष्णविलास (मणिदेव), साहित्यसुधानिधि (जगतसिंह), लल्लूलाल और जवाँ-कृत 'सिंहासनबत्तीसी' और 'शकुन्तला' का प्रकाशन
बेसीन की सन्धि, बालहत्या की प्रथा बन्द	१८५९	हिन्दी-डायरेक्टरी, हिन्दी-मैनुएल (सं० गिलक्राइस्ट)
अँगरेज-मराठा-युद्ध	१८६०	परमेश्वरीदास ज०, गणेश ज०, रसविनोद (राजाराम सिंह), सोरठा (राजिया), कान्यकुब्ज-वंशावली (बाजीलाल शुक्ल), साहित्य-रस (करन), बागमनोहर (गुरुदीन पाण्डेय), विद्वद्विलास (ब्रह्मदत्त), नासिकेतोपाख्यान (सदलमिश्र)
गिलक्राइस्ट का पदत्याग, सदलमिश्र फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रधान नि०	१८६१	सतसई-वरणार्थ गद्य (ठाकुर द्वि० असनी-वाले), रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य मृ० (ज० सं० १७६० वि०), रसतरंगिणी (सुवंश शुक्ल)
सर जॉर्ज बार्लो भारत के ग० जे०, लॉर्ड कार्नवालिस मृ०, सर जॉर्ज बार्लो का शासनकाल (सन् १८०५–१८०७ ई०)	१८६२	
वेलोर-विद्रोह, मोअट फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रधानाध्यापक नि०, अकबर द्वि० का शासनकाल (सन् १८०६ से १८३७ ई० तक)	१८६३	तत्त्वार्थप्रदीप (धनीराम), भागवतचरित्र (भागवतदास), अध्यात्मरामायण का खड़ी-बोली-अनुवाद (सदलमिश्र)
	१८६४	रामशरण ज०, रामाश्वमेध (नाथ गुलाम त्रिपाठी), अमरकोश (सुवंश शुक्ल)
मैलकम की मिशन-यात्रा फारस को, एलफिन्स्टन की मिशन-यात्रा काबुल को, लॉर्ड मिण्टो भारत के ग० जे०, शासनकाल (सन् १८०८–१३ ई०)	१८६५	रामरासो (मान या खुमान), कलियुगरासो (रसिकगोविन्द), दीपप्रकाश (ब्रह्मदत्त), उपाख्यानविवेक या मसलानामा (पहलवान-दास), पिंगल, रसमंजरी (सुवंश शुक्ल)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
मोअट का त्यागपत्र, टेलर फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रधानाध्यापक नियुक्त	१८६६	रामगुणोदय (धनीराम), काव्यार्णव (संग्रामसिंह), वसन्तविलास (विष्णुदत्त), राजनीति (लल्लूलाल), हिन्दी-फारसी-शब्दसूची (सदलमिश्र)
अँगरेजो द्वारा बोरबन और मॉरिशस अधिकृत	१८६७	जगद्विनोद, पद्माभरण (पद्माकर), राग राकेश मृ० (ज० स० १७७७ वि०), रंगभूमि (नाथकवि), रामरसायन (भागवतदास), प्रेमसागर, लतायफ-इ-हिन्दी (लल्लूलाल)
अँगरेजों द्वारा जावा अधिकृत	१८६८	व्रजभाषा-व्याकरण (लल्लूलाल)
	१८६९	राजनीति (लल्लूलाल)
ई० इ० कं० का व्यापारविषयक एकाधिकार समाप्त, लॉर्ड मायरा मार्क्विस ऑव हेस्टिंग्स भारत के ग० जे०, शासनकाल (सन् १८१३–१८२३ ई०)	१८७०	सभाविलास (लल्लूलाल), बालक-चिकित्सा (बालकराम), महन्थ ललकदास ज०, रामगुलाम द्विवेदी ज०, नामरत्नमाला, अमरकोश भाषा (मणिदेव)
अँगरेज-गोरखा-युद्ध	१८७१	सेलेक्शन्स फ्रॉम दि पोपुलर पोयट्री ऑव दि हिन्दूज् (टॉमस डुएर ब्राउटन)
	१८७२	वरवैनायिकाभेद (यशोदानन्दन), सेवक ज० (मृ० सं० १९३८ वि०), तपसीराम ज० (मृ० सं० १९४२ वि०), युक्तिरामायण (जानकीप्रसाद), सभाविलास (सं० लल्लूलाल)
	१८७३	वृत्ततरंगिणी (रामसहायदास), शंकामोचन (नवलसिंह)
अन्तिम अँगरेज-मराठा-युद्ध, पिण्डारी-युद्ध	१८७४	नवरसतरंग, शृंगारभूषण (बेनीप्रवीन), रघुनाथदास ज० (मृ० सं० १९४० वि०), रसविलास (बेनी बन्दीजन), वैद्यप्रकाश (गणेशदास)
बाजीराव द्वि० अपदस्थ	१८७५	हम्मीररासो (जोधराज), जौहरितरंग (नवलसिंह), कवितासंग्रह (वैजूकवि), युगलानन्यशरण 'हेमलता' ज० (मृ० स० १९३३ वि०), चौबीसपाठ (वृन्दावन जैनी), भगवद्गीता भाषा (कृष्णमणि), पवनपरीक्षा (शिवबक्श कवि हत्याहरण)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
सर्वप्रथम स्टीम बोट भारतीय नदियों मे, एलफिन्स्टन बम्बई के गवर्नर नि०	१८७६	तीस-चौबीस पाठ (वृन्दावन जैनी), बारामासा (रुद्रनाथ), मिलाप श्रीमहाराज कौ लाट साहब से (शेख भुल्लन)
मुनरो मद्रास के गवर्नर नि०, 'समाचार-दर्पण' का प्रकाशन प्रारम्भ	१८७७	रसिकरजनी (नवलसिंह), जानकीचरण ज०, शीलमणि परमहंस ज० (मृ० सं० १९५५ वि०), सुसिद्धान्तोत्तम (रुद्रप्रतापसिंह), आनन्दरस-कल्पतरु (रामप्रसाद)
	१८७८	विज्ञानभास्कर (नवलसिंह), शिवानन्द ज०. बनादास ज० (मृ० सं० १९४९ वि०), रामायण (महाराज विश्वनाथसिंह)
	१८७९	जानकीवरशरण 'प्रीतिलता' ज० (मृ० सं० १९५८ वि०), रामविनोद (बलदेव), नृसिंह-चरित्र (मान या खुमान), पिंगल काव्यभूषण (सम्मन), यमुनालहरी, रसिकानन्द (ग्वाल) दृष्टान्ततरंगिणी (बाबा दीनदयाल गिरि)
प्राइस फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रधानाध्यापक नि०; लॉर्ड एमहर्स्ट भारत के ग० जे०, शासनकाल सन् १८२३–२८ ई०	१८८०	रघुराजसिंह (ज० मृ० सं० १९३६ वि०), ठाकुर तृ० मृ० (ज० स० १८२३ वि०), छन्दशिरोमणि (भद्रनाथ), ज्ञानमाला (कमलदास), वैद्यप्रिया (खेतसिंह), काव्यप्रभाकर (रामराज), अयोध्यामाहात्म्य (महाराज विश्वनाथसिंह)
प्रथम बर्मा-युद्ध, भारत के डच-अधिकृत स्थान अँगरेजो को हस्तान्तरित	१८८१	हम्मीरहठ (ग्वाल), ए कलेक्शन ऑव प्रोवर्ब्स ऐण्ड फ्रेजेज इन दि पर्शियन ऐण्ड हिन्दुस्तानी (रोएबक)
	१८८२	व्यंग्यार्थकौमुदी (प्रतापसाहि), काव्यशृंगार (रामचरणदास)
भरतपुर का पतन	१८८३	व्रजदीपिका (नवलसिंह), दामोदर हरिदास-चरित या ज्ञानावली (बीठू बाँकीदास), भजनविनोद (जानकीसहाय), रसरहस्य (दिनेश कवि)
सर टॉमस मुनरो मृ०, मैलकम बम्बई के गवर्नर नि०, दयानन्दसरस्वती	१८८४	महाभारत (अनु० गोकुलनाथ आदि), कृष्णजू को नख-शिख (ग्वाल), कृष्ण-ग्वालिनी का

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
ज० (मृ० सन् १८८३ ई०), दौलत राव सिन्धिया मृ०		झगड़ा (रघुनाथ कवि), विद्वन्मोदतरंगिणी (ठाकुर सुब्बासिंह श्रीधर), आनन्दवर्द्धिनी, बानी (बाबा फकीरदास), हिन्दी ऐण्ड हिन्दुस्तानी कलेक्शन्स (सं० प्राइस और तारिणीचरण)
विलियम वेण्टिक भारत के ग० जे०, शासनकाल (सन् १८२८-३५ ई०)	१८८५	रसकल्लोल (करनकवि), कूर्मचक्र (नित्यानन्द), वकाक्षरी (तोमरदास)
सतीप्रथा बन्द, ठगी के खिलाफ कारखाई (सन् १८२९-३७ ई०)	१८८६	लछिमनचन्द्रिका (रसिकगोविन्द), काव्यविलास (प्रतापसाहि), बारहमासा (अँगनेराय), अखरावली (गदाधरदास), गनकआह्लादिका (जनरामहित), रामचन्द्र को नख-शिख (रूपसहाय)
फोर्ट विलियम कॉलेज से प्रधानाध्यापक-पद उन्मूलित, मैसूर-विद्रोह, राममोहन राय की इँगलैण्ड-यात्रा	१८८७	ज्ञान की होरी, ज्ञान का बारामासा (फकीरदास), फागलीला (वीरभद्र), नेमचन्द्रिका (मनरंग जैनी), गढ़मण्डला-राजवंश-वर्णन (भिखारी)
मैसूर का शासन ई० इ० कं० के हाथ मे, रणजीतसिंह-गवर्नर जेनरल-भेटवार्त्ता	१८८८	शुकरम्भासवाद (नवलसिंह), अनुरागवाग (बाबा दीनदयाल गिरि), रामचरणदास मृ० (ज० स० १८१७ वि०)
	१८८९	शृंगारमंजरी (प्रतापसाहि), रामरहस्य, रामकण्ठाभरण (भागवतदास), ज्ञानगारी (फकीरदास)
भारतीयो की उच्च पदो पर नियुक्ति की घोषणा	१८९०	रसकल्लोल (करनकवि), रसिकगोविन्द (रसिकगोविन्द), मोलाराम मृ० (ज० सं० १८१७ वि०), बाँकीदास मृ० (ज० सं० १८२८ वि०), परमानन्दविलास या बहुरंगीसार (परमानन्द)
कलकत्ता मे मेडिकल कॉलेज स्था०, रामकृष्ण परमहंस ज० (मृ० सन् १८८६ ई०), आगरा-प्रान्त निर्मित	१८९१	दूषणदर्पण (ग्वाल), धनुपयज्ञरहस्य (रामनाथ प्रधान), व्रजेन्द्रप्रकाश (रसानन्द)
सर चार्ल्स मेटकाफ भारत के ग० जे० नियुक्त (सन् १८३५-३६ ई०)	१८९२	काशीनरेश उदितनारायण मृ० (ज० सं० १८४२ वि०), बघेलवंशवर्णन (घनश्यामदास)

ऐतिहासिक घटनाएँ	वि० संवत्	साहित्यिक घटनाएँ
लॉर्ड आकलैण्ड भारत के ग० जे० नियुक्त (सन् १८३६–४२ ई०)	१८९३	गोविन्दविलास (कृष्णकवि), बलभद्रप्रकाश (रामकवि), श्रीकृष्णरत्नावली (लक्ष्मीपति)
बहादुरशाह द्वि०, शासनकाल (सन् १८३७–५८ ई०)	१८९४	शृंगारशिरोमणि (प्रतापसाहि), अलकार-चिन्तामणि (प्रतापसाहि), वृद्धचाणक्यटीका (सीताराम)
शाहशुजा, रणजीतसिंह और अँगरेजो में सन्धि	१८९५	सुधासर (नवीन), बुधजनसतसई (बुधजन), श्रीगौरी रागे साँझी (घनश्यामदास)
रणजीतसिंह मृ०, प्रथम अफगान-युद्ध, कान्धार मे शाहशुजा गद्दीनशीन	१८९६	रसराज की टीका, काव्यविनोद, रतन-चन्द्रिका अथवा सतसईटीका (प्रतापसाहि), संगीत बालचरित्र, संगीतगोवर्द्धनलीला (कुँवरसेन), शालहोत्रप्रकाशिका (राजा श्रीधर)
	१८९७	काव्यरत्नाकर (रणधीरसिंह), रामचरण-चिह्नप्रकाशिका (रामचरणदास), वृत्त-चन्द्रिका (गदाधर तैलंग), वंशभास्कर (सूर्यमल्लमिश्रण), भीमविलास (किशनजी आढ़ा), पदावली (काष्ठजिह्वास्वामी देव)
काबुल-विद्रोह	१८९८	छन्दशतक (वृन्दावन जैनी), युगलसुधा, संक्षेप रामायण, रामरंग (विद्यारण्यस्वामी)
लॉर्ड एलेनबरा भारत के ग० जे० नियुक्त (सन् १८४२–४४ ई०)	१८९९	रसतरग (नवीन), व्रजविनोद नायिकाभेद (जगदीशलाल)
	१९००	अलंकारभ्रमभंजन, साहित्यदर्पण, साहित्य-दूषण (ग्वाल), रागसागरोद्भव, राग-कल्पद्रुम (कृष्णानन्दव्यास), मानलीला (बिसराम), रसरत्नाकर (गिरिधरदास), नाट्यदीपिका (नारायणभट्ट), सोनारी विद्या (परसनदास पाण्डे), मनिहारिनलीला (गुनी जयराम भारती), चारों दिशाओ के सुख-दु:खवर्णन (गोपालराम)

△ रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
देवघर कॉलेज, वैद्यनाथ देवघर (बिहार)

आठवें दशक के हिन्दी-व्याकरण

△ डॉ० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ

भारत मे व्याकरण-लेखन की परम्परा बहुत प्राचीन है। मैक्समूलर ने 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' मे उल्लेख किया है कि ईसा के जन्म के अनेक शतियो पूर्व भारत मे व्याकरण का लेखन-अध्ययन होता था। सत्रहवी और अट्ठारहवी शतियों मे भारतवर्ष ईसाई-धर्मप्रचारको का प्रधान कार्यक्षेत्र बन गया था। फ्रासीसियो, डचो और डेनों ने जहाँ-जहाँ व्यापारिक सस्थाएँ स्थापित की, वही-वही ईसाई-धर्म का प्रचार भी हुआ। अट्ठारहवी शती के अन्त तक निरन्तर युद्ध-विग्रह और अराजकतापूर्ण वातावरण ने उनके कार्य मे अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित की। यद्यपि कैरे सन् १७९३ ई० में भारत आ गये थे, तथापि विभिन्न केन्द्रो मे मिशनरी सोसायटियो की स्थापना का कार्य सन् १७९९ ई० मे टीपू सुलतान के पतन के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। कैरे कलकत्ता मे बसना चाहते थे, किन्तु कम्पनी के विरोध करने पर उन्हे कलकत्ता से पन्द्रह मील दूर श्रीरामपुर को अपना केन्द्र बनाना पड़ा। यूरोप के मिशनरियो को हिन्दुस्तानी-भाषा एव नागरी-लिपि से अवगत कराने के लिए व्याकरण लिखे गये थे। उस युग की, यूरोप की सांस्कृतिक और ज्ञान-विज्ञान की भाषा लैटिन थी, इसलिए हिन्दी का प्रथम व्याकरण लैटिन-भाषा मे लिखा मिलता है। उस समय लैटिन-भाषा में प्रथम व्याकरण लिखा गया था जान जोशुआ केटलेर-कृत 'द लिंगुआ हिन्दुस्तानिका' (सन् १६९८ ई०), दूसरा व्याकरण था बेंजामिन शुल्ज-कृत 'ग्रामेटिका हिन्दोस्तानिका' (सन् १७४५ ई०) और तीसरा व्याकरण कैसियानो बेलिगत्ती-कृत 'अल्फाबेतुम ब्रह्मानिकुम' (सन् १७७१ ई०) था। ये सभी लैटिन-व्याकरण थ्रैक्स के ग्रीक-व्याकरण से प्रभावित थे। थ्रैक्स ने अपने व्याकरण मे ग्रीक की ध्वनि और शब्द के स्वरूप-विवेचन एवं वर्गीकरण के अतिरिक्त लिंग, वचन, विभक्ति, पुरुष, काल एव वृत्ति का विश्लेषण किया है, साथ ही कर्त्ता एवं क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध पर संक्षेप मे प्रकाश डाला है। थ्रैक्स ने अपने व्याकरण की रचना लगभग ४०० पंक्तियो मे की थी।

वाटरमैन ने अपने ग्रन्थ 'पर्सपेक्टिव्स इन लिंग्विस्टिक्स' मे लिखा है कि ईसा के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने के लिए ईसाई-धर्मप्रचारको ने सुदूर देशो की यात्रा की, वहाँ की भाषाओं का अध्ययन किया तथा उनमे धर्मग्रन्थ बाइबल का अनुवाद प्रस्तुत किया। अनुवाद के क्रम में उन पादरियो ने भिन्न-भिन्न भाषाओ के कोशो एवं व्याकरणो की रचना की। एल्० ब्लूमफील्ड का मत है कि उनके व्याकरण लैटिन-व्याकरण की

नकल होने के कारण भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्राय: महत्त्वहीन थे। वे सब-के-सब लैटिन-व्याकरण के साँचे मे ढले होने के कारण दोषग्रस्त थे, क्योकि लैटिन-व्याकरण स्वयं ग्रीक-व्याकरण की नकल होने के कारण अवैज्ञानिक था। यही स्थिति उपर्युक्त विवेचित हिन्दी-व्याकरणों के सम्बन्ध में हम कह सकते है, जो लैटिन-भाषा मे लिखे गये थे। विदेशी विद्वानों द्वारा लिखे गये हिन्दी-व्याकरण इसी परम्परा मे आते हैं।

एक अन्य परम्परा हिन्दी-व्याकरणों के सम्बन्ध मे मिलती है, जिसका प्रारम्भ **मीरजा खाँ** के 'व्रजभाषा-व्याकरण' (सन् १६७५ ई०) से होता है। यह व्याकरण व्रजभाषा का प्रथम व्याकरण माना जाता है, जिसका संकलन 'तुहफलत-उल-हिन्द' में है, जो नास्तलिक-लिपि मे फारसी-भाषा मे है। स्पष्ट है कि यह व्याकरण फारसी-भाषा के व्याकरण की पद्धति पर लिखा गया होगा।

एक और परम्परा है, संस्कृत-व्याकरण को आधार बनाकर हिन्दी-व्याकरण की रचना करने की। इस प्रकार का प्रथम प्रयास बिहार के **पं० श्रीलाल**-कृत 'भाषा-चन्द्रोदय' (सन् १८५५ ई०) है। उनका 'भाषाचन्द्रोदय', अर्थात् 'भारतवर्षीय हिन्दी-भाषा का व्याकरण', जो 'श्रीमन्महाराजाधिराज पश्चिमदेशाधिकारी श्रीयुत् लेफ्टिनेण्ट गवर्नर बहादुर के आज्ञानुसार साहिब डरेक्टर ऑव पब्लिक इंस्ट्रक्शन बहादुर के सररिश्ते' में रचा गया था। पं० श्रीलाल ने संस्कृत-व्याकरण के आधार पर हिन्दी का व्याकरण लिखकर, उसे अनुकूल तथा अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य बनाकर हिन्दी-व्याकरण के इतिहास मे एक युगान्तरकारी प्रयास किया था।

छठें तथा सातवें दशक मे जो भाषाविज्ञान की प्रगति हुई, उसका प्रभाव आठवे दशक के हिन्दी-व्याकरणों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। भाषाविज्ञान मे भाषा के अध्ययन-विश्लेषण के लिए नये सिद्धान्तो की स्थापना की गई, जिनमे ट्रान्सफॉर्मेशनल, जनरेटिव ग्रामर, सिस्टेमिक कॉण्ट्रास्टिव ग्रामर, केस ग्रामर, स्ट्रेटिफिकेशनल ग्रामर, टैग्मैमिक ग्रामर आदि सिद्धान्त प्रतिपादित कर हिन्दी-भाषा का विश्लेषण किया गया। इस प्रकार के अनेक कार्य भारत तथा विदेशों मे सम्पन्न हुए है और हो रहे है।

डॉ० यमुना काचरू ने ट्रान्सफॉर्मेशनल व्याकरण का विधिवत् अध्ययन, चिन्तन और मनन किया है, साथ ही वह 'हिन्दी-रूपान्तरणात्मक व्याकरण के कुछ प्रकरण' सन् १९७३ ई० से पूर्व, 'ए ट्रान्सफॉर्मेशनल ट्रीटमेण्ट ऑव हिन्दी वर्बल सिण्टैक्स' (सन् १९६५ ई०) तथा 'एन् इण्ट्रोडक्शन टु हिन्दी सिण्टैक्स' (सन् १९६६ ई०) प्रस्तुत कर चुकी है, जिनमें उनके उक्त सिद्धान्त के गहन अध्ययन की पैठ का पता चलता है। **डॉ० काचरू** ने सबसे पहले रूपान्तरणात्मक व्याकरण के सैद्धान्तिक पक्ष को लिया है और फिर हिन्दी के विशेषण, उपवाक्य, प्रेरणार्थक क्रियाओं तथा भावी शोध की दिशाओं आदि पर विचार किया है। **डॉ० काचरू** की मान्यता है : "इन प्रबन्धों में रूपान्तरणात्मक व्याकरण के प्रामाणिक (स्टैण्डर्ड) या उत्पादक वाक्य-विन्यास (जनरेटिव सिण्टैक्स)-सिद्धान्त का रूप

ही अधिक स्पष्ट होता है। केवल प्रेरणार्थक वाक्यों के प्रसंग मे उत्पादक अर्थ-विन्यास (जनरेटिव सिमैण्टिक्स) की कुछ मान्यताओं का समर्थन है। उत्पादक वाक्य-विन्यास और उत्पादक अर्थ-विन्यास, इन दोनों जुड़वाँ सिद्धान्तो मे कौन-सा सिद्धान्त अन्ततः भाषा-सरचना की विज्ञानसम्मत व्याख्या प्रस्तुत कर सकेगा, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। इतना तो स्पष्ट ही है कि जहाँ उत्पादक वाक्य-विन्यास अर्थ-सम्बन्धी कई समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करने में अक्षम है, वहाँ उत्पादक अर्थ-विन्यास आन्तरिक अर्थ-संरचना (अण्डरलाइंग साइण्टिफिक रिप्रेजेण्टेशन) का सम्पर्क सतही वाक्यरचना (सरफेस स्ट्रक्चर) से जोड़ने में अभी सक्षम नही है। कुछ और भी रोचक सिद्धान्त है, जो मनुष्य की भाषा-सम्बन्धी क्षमता की व्याख्या के लिए सर्वथा भिन्न मॉडल प्रस्तुत करते है।" हिन्दी-व्याकरण पर शोध की कितनी गुंजायश है और कितनी आवश्यकता है, इसका आभास इस आंशिक विवरण से मिलेगा।

डॉ० काचरू ने 'एसपेक्ट ऑव हिन्दी ग्रामर' (सन् १९८० ई०) मे अपने हिन्दी-वाक्यविन्यास से सम्बद्ध द्वितीय चरण का अनुसन्धान, जिसका आरम्भ सन् १९६५ ई० मे किया था, सम्मिलित किया है। उन्होने इसमे सर्वप्रथम हिन्दी-भाषा के सम्बन्ध में विवेचन किया है, फिर हिन्दी-वाक्य, विधेय के निर्मापक तत्त्व, वाक्यप्रकार, सज्ञा-पदबन्ध, क्रियापद-बन्ध, विशेषण-पदबन्ध, क्रियाविशेषण-पदबन्ध पर विचार करने के पश्चात् सरल वाक्य, मिश्र वाक्य और सयुक्त वाक्य का विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि यह विस्तृत निर्देश-व्याकरण (रेफरेन्स ग्रामर) नही है, इसमे उन अशों को सम्मिलित किया गया है, जिनपर अत्यधिक हिन्दी-व्याकरणो मे विवेचन नही किया गया है। उनका एक अन्य ग्रन्थ 'हिन्दी का समसामयिक व्याकरण' (सन् १९८० ई०) भी प्रकाशित हुआ है। किन्तु, अनेक प्रयास करने पर भी वह इन पक्तियो के लेखक को अवलोकनार्थ न मिल सका।

ट्रान्सफॉर्मेशनल जनरेटिव ग्रामर पर आधृत 'हिन्दी का भाषावैज्ञानिक व्याकरण' का प्रकाशन सन् १९७३ ई० मे हुआ था। इसके विद्वान् लेखक डॉ० न० वी० राजगोपालन् (प्रोफेसर, केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान, आगरा) हैं। डॉ० राजगोपालन् का यह व्याकरण हिन्दी-भाषा का प्रथम व्याकरण है, जिसमे उन्होने ट्रान्सफॉर्मेशनल व्याकरण का उपयोग किया है। प्रस्तुत व्याकरण पाँच भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे निष्पादक तथा विपरिवर्त्तक व्याकरण (ट्रान्सफॉर्मेशनल जनरेटिव ग्रामर) का सैद्धान्तिक विवेचन है, साथ ही भाषा-विश्लेषण मे गणितीय चिन्तन के आधार पर भी विचार किया गया है। द्वितीय भाग मे वाक्य, पदबन्धसज्ञा और क्रियाविशेषण-पदबन्ध का विवेचन करने के पश्चात् वाक्य-सरचना में अन्वय पर विचार प्रकट किया गया है। तृतीय भाग में विपरिवर्त्तन, ने-वाक्य, प्रश्न-वाक्य विस्मयादिबोधक वाक्य, कर्म-प्रयोग और भाव-प्रयोग, कर्मकर्तृ प्रयोग तथा हिन्दी के पदबन्धात्मक शब्दरूपो का विवेचन किया गया है। चतुर्थ भाग मे निविष्ट वाक्य का और पाँचवें भाग मे हिन्दी के व्याकरण का विश्लेषण है, जिसमे मूल सूत्र, शब्दवर्ग स्वनिम-

प्रक्रियासूत्र और विपरिवर्त्तन-सूत्र प्रस्तुत किये गये है। डॉ० राजगोपालन् ने ५४ पदबन्ध-सूत्र तथा ३२ शब्दसंरचना-सूत्र प्रस्तुत किये है।

डॉ० लक्ष्मीबाई बालचन्द्रन् का 'हिन्दी का कारक-व्याकरण' (सन् १९७३ ई०) उनके शोधप्रबन्ध 'ए केस ग्रामर ऑव हिन्दी विद स्पेशल रिफरेन्स टु द कॉजेटिव सेण्टेन्सेज्' का, जिसपर कार्नेल-विश्वविद्यालय ने पी-एच्० डी० की उपाधि प्रदान की थी, हिन्दी-अनुवाद है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान, आगरा ने अपनी दशाब्दी-ग्रन्थ-प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत किया है।

फिलमौर ने व्याकरण मे कारक-सम्बन्धों को भाषा की संरचना का आधार माना है। डॉ० लक्ष्मीबाई के ग्रन्थ में कारक-व्याकरण को समझाने के पश्चात् हिन्दी के प्रेरणार्थक तथा कर्मवाच्य के वाक्यों का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में प्रेरणार्थक वाक्यो को सरल वाक्य मानने के आधार की विवेचना की गई है, चतुर्थ अध्याय में अभिकर्त्ता (एजेण्ट) कारक को परिभाषित करने की समस्या तथा हिन्दी-क्रियाओं के कोशीय रूप पर इसके प्रभाव का विवेचन है। पाँचवें अध्याय मे हिन्दी-क्रियाओ की कोशीय प्रविष्टियाँ तथा हिन्दी के कारक-व्याकरण के नियम प्रस्तुत किये गये है। इसमे फिलमौर के कारक-व्याकरण के ढाँचे को स्वीकार किया गया है, लेकिन हिन्दी की प्रकृति तथा संरचना को ध्यान में रखते हुए इस ढाँचे मे यथोचित परिवर्त्तन भी कर दिये गये है। डा० लक्ष्मीबाई ने माना है कि यहाँ दिये गये नियम किसी भी रूप में अन्तिम नही है, बल्कि ये काफी कच्चे नियम है।

कारक-व्याकरण के क्रम में एक अन्य ग्रन्थ है डॉ० रामनरेश मिश्र 'हंस'-कृत 'करणकारकविवेक' (सन् १९७५ ई०)। प्रस्तुत ग्रन्थ मे सात अध्याय है। डॉ० हंस ने 'शब्द विवेक एक नहीं मोटे' के अन्तर्गत ११७ (११२+५) हिन्दी-व्याकरणो को काल-क्रमानुसार प्रस्तुत कर हिन्दी-व्याकरण-साहित्य के विकास को प्रस्तुत किया है। प्रथम अध्याय मे संस्कृत, हिन्दी तथा पाश्चात्त्य विद्वानो के मतो के परिप्रेक्ष्य मे व्याकरण की परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई है।

डॉ० एस्० एन्० गणेशन् ने 'ए कॉण्ट्रास्टिव ग्रामर ऑव हिन्दी ऐण्ड तमिल' (सन् १९७५ ई०) ग्रन्थ मे स्वन-प्रक्रिया, रूपस्वनिम-विज्ञान, रूप-प्रक्रिया (शब्द, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण, परसर्ग और निपात), वाक्यविन्यास (वाक्यांश-संरचना तथा वाक्य-अन्विति), शब्दकोटि, आगत शब्द, लेखिम-विज्ञान, स्वर, व्यजन और सयुक्ताक्षर पर विचार किया है। डॉ० गणेशन् ने इस ग्रन्थ मे हिन्दी और तमिल-भाषा को, द्वितीय भाषा के रूप मे सीखने के लिए, व्याकरणिक विशेषताओ का पूर्ण तथा विस्तृत विश्लेषण कर तद्विषयक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, जो व्यावहारिक दृष्टि से परमावश्यक है।

डॉ० रामकृष्ण 'महेन्द्र' ने 'हिन्दी और राजस्थानी-भाषा का तुलनात्मक अध्ययन' (सन् १९७७ ई०) ग्रन्थ में हिन्दी एव राजस्थानी-भाषा के भाषिक अभिधेयार्थ, क्षेत्र एवं

सीमाएँ, नामकरण, वर्गीकरण, बोलियों के उद्भव और विकास के साथ ही ध्वनि-प्रकरण, सज्ञा-प्रकरण, विशेषण-प्रकरण, अव्यय-प्रकरण, क्रिया-प्रकरण, उपसर्ग एवं प्रत्यय पर विचार प्रकट किया है।

अब हम इस दशक के, हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरणो की चर्चा करेंगे। इस क्रम मे हमे दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए है। एक है डॉ० माताबदल जायसवाल-कृत 'मानक हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' और दूसरी कृति है डॉ० पूरनगिरि गोस्वामी-कृत 'हिन्दी मे लिगभेद का अध्ययन।'

'मानक हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' (सन् १९७९ ई०) मे डॉ० माताबदल जायसवाल ने हिन्दी, हिन्दुस्तानी, खड़ीबोली, रेखता, उर्दू आदि नामों का इतिहास और इन नामो के रूप-विकास के सोपान प्रस्तुत किये है। साथ ही, डॉ० ग्रियर्सन के इस भ्रम का खण्डन भी किया है कि हिन्दी-भाषा उन्नीसवी शती के पूर्वार्द्ध की देन है, जिसके आविर्भाव एव अन्वेषण का श्रेय अँगरेजो को है। डॉ० जायसवाल ने मानक हिन्दी की परम्परा ईसा की १ .वी शती से सिद्ध की है। खडीबोली टक्की-अपभ्रंश से निकली, धीरे-धीरे वह गोरखनाथ, मध्ययुगीन सन्त कवियो, महामति प्राणनाथ आदि द्वारा समन्वयात्मक राष्ट्रीय सस्कृति का द्योतन करनेवाली सिद्ध हुई। उसका यह राष्ट्रीय रूप ईसा की कम-से-कम ११वी शती से अवश्य मिलने लगता है। डॉ० जायसवाल ने ११वी शती से २०वी शती तक के ग्रन्थो के आधार पर समय-समय वदलनेवाले सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया तथा अव्यय-पदो और प्रत्ययो के प्रयोगो और रूपों का सकलन कर एक बडे अभाव की पूर्त्ति की है।

डॉ० पूरनगिरि गोस्वामी ने 'हिन्दी मे लिंगभेद का अध्ययन' (सन् १९७९ ई०) ग्रन्थ मे लिग की व्याख्या के पश्चात् आदिकालीन आर्यभाषा, मध्यकालीन आर्यभाषा तथा आधुनिक आर्यभाषा मे लिग का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है और तृतीय अध्याय मे अर्थनिष्ठता तथा शब्दनिष्ठता के आधार पर लिंग-निर्धारण, शब्दनिष्ठ लिंगो के भेद-प्रभेद, रूपाश्रित, व्युत्पत्त्याश्रित, पर्यायाश्रित एव विदेशी भाषाओ से प्रभावित लिंगविधान, खड़ीबोली तथा इतर भाषाओ मे लिगविधान तथा आधुनिक हिन्दी-कवियो के अतिशय नये शब्द-प्रयोगो के लिंगभेद पर भी विचार प्रकट किये है।

आठवे दशक मे हिन्दी-ध्वनियो पर जो कार्य सम्पन्न हुआ है, उसका उल्लेख करना समीचीन है। डॉ० भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी-ध्वनियाँ और उनका उच्चारण' (सन् १९७३ ई०) प्रायोगिक भाषाविज्ञान की दिशा मे एक श्लाघ्य प्रयास है।

डॉ० महावीरसरन जैन-कृत 'परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन' (सन् १९७४ ई०) ग्रन्थ उनके डी० लिट्० के शोध-प्रबन्ध का प्रथम खण्ड है। डॉ० जैन ने भूमिका मे भाषा के परिनिष्ठित स्वरूप तथा परिनिष्ठित हिन्दी पर अपने विचार प्रकट करने के पश्चात् ध्वनिग्रामिक विवेचन पर प्रकाश डाला है। इसके पश्चात् विवेचन का आधार प्रस्तुत किया है।

डॉ० कास्टिक ने 'ए शॉर्ट आउटलाइन ऑव हिन्दी फोनेटिक्स' (सन् १९७५ ई०) नाम की पुस्तक लिखी है। उसौवा नोरिहिको-कृत 'हिन्दी फोनोलॉजी' (सन् १९७७ ई०) मे उच्च हिन्दी-पूर्व मध्यकालीन आर्यभाषाओं मे स्वर-अनुक्रम के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनका मत है कि जब हम मध्यकालीन आर्यभाषाओं के स्वर-अनुक्रम के विकास की खोज उच्च हिन्दी मे करते है, तब हमे उन स्वरो को, शब्द में उनकी स्थिति की दृष्टि से पृथक् मानना चाहिए।

डॉ० देवदत्त शर्मा ने 'स्लैबिक स्ट्रक्चर ऑव हिन्दी ऐण्ड पजाबी' (सन् १९७१ ई०) ग्रन्थ मे, जो उनका शोधप्रबन्ध है, हिन्दी तथा पजाबी में व्यवहृत उन स्वनप्रक्रियात्मक सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया है, जिनका अबतक विश्लेषण नही हुआ है। इसमे आक्षरिक सरचना तथा उसके उपस्वनिक परिवर्त्तन पर विशेष ध्यान दिया गया है।

डॉ० शर्मा का उपर्युक्त कार्य जहाँ तुलनात्मक ध्वनिविज्ञान से सम्बद्ध है, वही डॉ० एम्० जी० चतुर्वेदी ने 'ए कॉण्ट्रास्टिव स्टडी ऑव हिन्दी ऐण्ड इँगलिश फोनोलॉजी' (सन् १९७३ ई०) मे, हिन्दीभाषियो को अँगरेजी का शिक्षण किस प्रकार दिया जाता है, इस उद्देश्य को लेकर व्याकरण के अध्ययन की आवश्यता के सम्बन्ध मे लिखा है। डॉ० चतुर्वेदी ने अपने अध्ययन का आधार प्रो० लाडो द्वारा 'लिग्विस्टिक्स ए क्रॉस कल्चर' मे प्रतिपादित सिद्धान्त को बनाया है और एतद्विषयक भूमिका की उपस्थापना के अतिरिक्त, हिन्दी-अँगरेजी के स्वरो, व्यजनों, आक्षरिक संरचना एव बलाघात की तुलना के साथ ही मात्रा, अनुतान तथा सहिता पर भी विचार प्रकट किये है। श्रीपुरुषोत्तम तिवारी के 'हिन्दी-ध्वनियो का शिक्षण' (सन् १९७६ ई०) ग्रन्थ मे हिन्दी बोलने मे पाये जानेवाले ध्वनि-सम्बन्धी दोष, हिन्दी-वाक्यध्वनि का स्वरूप, उसमे आनेवाले दोष एव निराकरण तथा हिन्दी-वाक्यरचनागत दोष एव उनके निराकरण पर विचार प्रकट किये गये है।

इस दशक मे हिन्दी-क्रियाओ पर महत्त्वपूर्ण कार्य हुए है। उनका भी सर्वेक्षण प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत होता है। डॉ० कृष्णगोपाल रस्तोगी ने 'हिन्दी-क्रियाओ का अर्थपरक अध्ययन' (सन् १९७३ ई०) के प्रथम दो अध्यायो मे सैद्धान्तिक विवेचन के साथ ही क्रियाओ पर हुए अध्ययनो का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। शेष पन्द्रह अध्यायो मे अध्ययन-प्रविधियों और उनके गुणो तथा क्रियाओ की सम्भावनाओ पर प्रकाश डाला है। डॉ० रस्तोगी ने ७७२ क्रियाओ का अध्ययन किया है।

पीटर एडविन ब्रुक ने 'दि कम्पाउण्ड वर्क्स इन हिन्दी' (सन् १९७४ ई०) मे, प्राक्कल्पना के निर्माण मे रचनान्तरणपरक सिद्धान्त का उपयोग किया है और डॉ० कालीचरण बहल के १९ अविधेय क्रिया-संयोजको के स्थान पर १५ के सम्बन्ध मे नियम निर्धारित करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होने संयुक्त क्रियाओं का एक वर्ग के रूप में अध्ययन किया है और इस क्रम मे व्याकरणिकता तथा अर्थतात्त्विकता को भी आधार बनाया है।

डॉ० ओ० गे० उलत्सिफेरोव ने 'हिन्दी में क्रिया' (सन् १९७९ ई०) नामक कृति में यूरोपीय, भारतीय तथा सोवियत लेखकों की शोधपूर्ण रचनाओं का, जिनका सम्बन्ध 'हिन्दी-क्रिया' से है, सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। डॉ० उलत्सिफेरोव ने लिखा है : "हिन्दी-भाषा की परम्परागत वर्णनात्मक रचनाओं के अलावा ऐसी रचनाएँ भी है, जो रचनान्तरणपरक तथा संरचनात्मक विश्लेषण के आधार पर लिखी गई हैं और भाषा के रचनात्मक पक्ष का अध्ययन करती है।"

हिन्दी-वाक्यविन्यास पर भी इस दशक मे अनेक कार्य सम्पन्न हुए है। डॉ० सुधा कालरा ने 'हिन्दी-वाक्यविन्यास' (सन् १९७१ ई०) मे हिन्दी-भाषा के सक्षिप्त इतिहास पर विचार प्रकट किया है, तत्पश्चात् वाक्यरचना-प्रकार का विवेचन उपस्थापित किया है।

डॉ० व्लदीमीर मिल्तनर ने 'थ्योरी ऑव हिन्दी सिण्टैक्स' (सन् १९७२ ई०) मे हिन्दी-वाक्यसंरचना का वर्णनात्मक, प्रजनक व्याकरण और रचनान्तरणपरक पद्धति से अध्ययन किया है, साथ ही वाक्य और रूपतत्त्व की महत्ता प्रतिपादित की है। ऐसा अनुभव होता है कि उन्होने वाक्य-संरचना का विश्लेषण परम्परागत पद्धति से किया है। किन्तु, उनका वाक्य-विश्लेषण अत्यधिक दुरूह हो गया है।

श्री एन्० ई० मुत्तुस्वामी ने 'हिन्दी सेण्टेन्स पैटर्न, फ्रेज पैटर्न ऐण्ड वोकेबुलरी' (सन् १९७३) मे एस्० एस्० एल्० सी० के पाठ्यक्रम मे निर्धारित पाठ्य-पुस्तको की वाक्य-संरचना, पदबन्ध-संरचना तथा शब्दावली का विश्लेषण तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया है।

डॉ० कालीचरण बहल ने 'स्टडीज इन सेण्टेन्स स्ट्रक्चर ऑव हिन्दी' (तीन भागों मे) नामक ग्रन्थ मे संज्ञा, पर्याय तथा विशेषण का अध्ययन हिन्दी-क्रिया 'करना' के साथ किया है। हिन्दी मे 'करना' संयुक्त क्रिया के नाम से जाना जाता है। डॉ० बहल ने प्रस्तुत अध्ययन हिन्दी के प्राध्यापको, अनुवादकों तथा कोशकारों को दृष्टि मे रखकर किया है, ताकि यह उनके लिए सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप मे उपयोगी सिद्ध हो सके।

हिन्दी-वाक्यसरचना से सम्बद्ध डॉ० चतुर्भुज सहाय का ग्रन्थ 'हिन्दी-वाक्य-रचना' (सन् १९७८ ई०) है। इस पुस्तक मे कुल दो अध्याय है। 'विषयप्रवेश' मे वाक्य के सम्बन्ध मे कुछ सामान्य बातें कही गई हैं। इसी प्रसंग मे कारकों की भी चर्चा की गई है। डॉ० सहाय ने अन्त मे हिन्दी-भाषा मे उपलब्ध २१ वाक्य-साँचो की सूची प्रस्तुत की है। पुस्तक विद्यार्थियो तथा प्राध्यापको के लिए सग्रहणीय एवं उपयोगी है और महत्त्वपूर्ण भी। एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक है डॉ० रामकिशोर शर्मा-कृत 'हिन्दी-भाषा का विकास और वाक्यरचना' (सन् १९७९ ई०)। डॉ० शर्मा ने प्रस्तुत पुस्तक मे हिन्दी-भाषा का ऐतिहासिक विकास, ध्वनि-संरचना, शब्दरचना, वाक्यरचना तथा हिन्दी की उपभाषाओ एवं बोलियो का विवेचन सरल तथा सुबोध शैली मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। डॉ० ओ० गे० उलत्सिफेरोव ने एक अन्य 'हिन्दी में वाक्यांश' (सन् १९७१ ई०) नामक ग्रन्थ की भी रचना की है।

इस दशक में हिन्दी-अर्थविज्ञान पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है, वह है **अन्विता अब्बी** का, हिन्दी-पुनरुक्ति-विधान से सम्बद्ध कार्य। **अन्विता अब्बी**-कृत 'सिमैण्टिक ग्रामर ऑव हिन्दी ए स्टडी इन रीडुप्लिकेशन' (सन् १९८० ई०) कार्नेल-विश्वविद्यालय में प्रस्तुत उनके शोधप्रबन्ध 'रीडुप्लिकेशन इन हिन्दी : ए जनरेटिव सिमैण्टिक स्टडी' (सन् १९७४ ई०) का संशोधित रूप है।

इस दशक मे प्रकाशित कतिपय ग्रन्थों मे हिन्दी-व्याकरण के कुछ विशिष्ट अंगों पर विशेष रूप से अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। **डॉ० सतीशकुमार रोहरा** ने 'भाषा एवं हिन्दी-भाषा' (सन् १९७२ ई०) ग्रन्थ में हिन्दी की ध्वन्यात्मक संरचना एवं वर्णन और विकास पर विशेष रूप से विचार प्रकट किया है। **डॉ० हेमचन्द्र जोशी** ने 'भाषाविज्ञान' (सन् १९७३ ई०) ग्रन्थ में हिन्दी के सम्बन्ध मे भाषावैज्ञानिक निबन्ध सकलित किये हैं, जिनमें प्रमुख है 'हिन्दी-परम्परा और विदेशी शब्द-सम्पत्ति' तथा 'हिन्दी-व्याकरण के कुछ अस्पष्ट शब्द'।

डॉ० बालकृष्ण भारद्वाज ने 'भाषाविज्ञान : मानक हिन्दी के सन्दर्भ में' (सन् १९७६ ई०) नामक ग्रन्थ में भाषा, स्वनप्रक्रिया तथा हिन्दी-स्वनव्यवस्था, अर्थ तथा उच्चस्तरीय घटक, वाक्यविचार आदि पर विचार प्रकट किये हैं। **डॉ० महेशचन्द्र** का 'परिनिष्ठित हिन्दी का रूपग्रामिक अध्ययन' ग्रन्थ इसी दशक की उपलब्धि है। इसी प्रकार, **एम्० एल्० आप्टे** द्वारा लिखित 'ए लिंग्विस्टिक एनेलेसिस ऑव हिन्दी उर्दू स्पोकेन इन बोम्बे पिजिनाइजेशन ऑव लिंग्वा फ्रैंक' (सन् १९७२ ई०) नामक ग्रन्थ इस दशक की विशिष्ट उपलब्धि के रूप में परिगणनीय है।

इस सन्दर्भ मे, हिन्दी-भाषा के विदेशी भाषाओ मे लिखित व्याकरणो के अनुवाद की ओर भी हमारा ध्यान जाता है। इस क्रम मे **डॉ० मैथ्यु वेच्चुर** ने लैटिन-भाषा मे लिखित पूर्वोक्त तीन व्याकरणो का हिन्दी-अनुवाद सन् १९७६ ई० मे प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में सबसे प्राचीन व्याकरण है **जॉन जोशुआ केटलेर**-कृत 'दि लिगुआ हिन्दुस्तानिका' (सन् १६९८ ई०) का अनुवाद 'हिन्दुस्तानी-भाषा', दूसरा व्याकरण है **बेंजामिन शुल्ज** का 'ग्रामेटिका हिन्दोस्तानिका' (सन् १७४५ ई०) का हिन्दी-अनुवाद 'हिन्दुस्तानी-व्याकरण' और तीसरा व्याकरण है **कैसियानो वेलिगत्ती**-कृत 'अल्फाबेतुम ब्रह्मानिकुम' (सन् १७७१ ई०)। विद्वान् अनुवादक ने एक लम्बी भूमिका लिखी है और अन्त मे, परिशिष्ट-रूप मे तीनो व्याकरणों मे प्राप्त अनूदित गद्यांशो के उद्धरण दिये है। यहाँ ध्यातव्य है कि **केटलेर** ने सर्वप्रथम हिन्दी का व्याकरण डच-भाषा मे लिखा था; क्योंकि उसका सम्बन्ध डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी से था। बाद मे वह व्याकरण लैटिन-भाषा मे अनूदित हुआ। **केटलेर** के व्याकरण मे हिन्दुस्तानी-शब्द केवल रोमन-लिपि मे दिये गये है। **शुल्ज** के व्याकरण में हिन्दुस्तानी-शब्दो को रोमन और फारसी-लिपि मे रखा गया है। केवल '*अल्फाबेतुम ब्रह्मानिकुम*' में ही नागरी-अक्षरों का प्रयोग हुआ है।

डॉ० शं० गो० राजवाडे ने हिन्दी का पुर्त्तगाली-भाषा मे लिखित व्याकरण 'ग्रामातिका इन्दोस्ताना' (सन् १८६७ ई०) का अनुवाद सन् १९७७ ई० मे प्रस्तुत किया है। डॉ० राजवाडे ने विस्तृत भूमिका मे इस व्याकरण की विशेषताओ की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इसमे उन्होने उच्चारण-प्रक्रियाविषयक कठिनाइयों पर पहले विचार किया है और अपनी सीमा को भी स्पष्ट किया है। व्याकरण दो खण्डो मे विभक्त है। प्रथम खण्ड मे हिन्दी का व्याकरणिक विवेचन है और दूसरे खण्ड मे व्यावहारिक हिन्दी मे प्रयुक्त शब्दावली-कोश दिया गया है।

डॉ० श्रीराम शर्मा ने **सैमुएल हेनरी कैलाग-कृत** 'ए ग्रामर ऑव हिन्दी लैंग्वेज' (सन् १८७५ ई०) का हिन्दी-अनुवाद 'हिन्दी-व्याकरण' नाम से किया है। इस महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय व्याकरण के प्रकाशन का श्रेय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग को है। कैलाग के व्याकरण के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि उन्होने भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानो द्वारा लिखित अनेक व्याकरणो—**एथरिंगटन** (सन् १८७२ ई०), **डाउसन** (सन् १८७२ ई०), **प्लेटस** (सन् १८७४ ई०), **राजा शिवप्रसाद** (सन् १८७५ ई०) तथा **बीम्स** (सन् १८७२–७४ ई०)—का पूरा-पूरा उपयोग किया था। कैलाग के व्याकरण के प्रथम सस्करण मे जहाँ कन्नौजी, व्रज, मारवाड़ी, मेवाड़ी, गढवाली, कुमाउँनी, पुरानी बैसवाड़ी, अवधी, रिवाई और भोजपुरी का विवरण था, वहाँ दूसरे संस्करण मे मागधी, मैथिली और नेपाली को भी सम्मिलित कर लिया गया। अनुवादक **डॉ० शर्मा** ने स्थान-स्थान पर पृथक् से पादटिप्पणियाँ प्रस्तुत की है। इन टिप्पणियो से व्याकरणविषयक अद्यतन विचार जानने मे सहायता मिलती है। अनुवादक ने कैलाग का जीवन-परिचय तथा कुछ छायाचित्रो को देकर स्तुत्य कार्य किया है।

उपर्युक्त सभी व्याकरणों मे अधिकतर व्याकरण यूरोप के मिशनरियो को हिन्दुस्तानी-भाषा एव नागरी-लिपि से अवगत कराने के लिए लिखे गये थे। कैलाग का सम्बन्ध अमेरिका के प्रोटेस्टेरियन चर्च से था। **डॉ० ग्रियर्सन** की मान्यता है कि लैटिन के उपर्युक्त तीनो व्याकरणो के साथ एक युग की समाप्ति होती है और सन् १७७२ ई० मे **हैडले-कृत** 'रिमार्क्स ऑन दि प्रैक्टिकल ऐण्ड वल्गर डाइलेक्ट ऑव दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' से नवीन युग का प्रारम्भ होता है।

आठवे दशक मे भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा लिखित हिन्दी-व्याकरणो के पुनर्मुद्रण भी हुए है। **एस्० एच्० कैलाग-कृत** 'ए ग्रामर ऑव दि हिन्दी लैंग्वेज' (सन् १९७२ ई०), **टिसडल-कृत** 'हिन्दुस्तानी कनवर्सेशनल ग्रामर' (सन् १९७८ ई०), **आर्० एस्० मैकग्रेगोर** का 'एन् आउटलाइन ऑव हिन्दी ग्रामर' (सन् १९७८ ई०) आदि प्रमुख पुनर्मुद्रण है।

इसी प्रकार, भारतीय विद्वानो के हिन्दी तथा विदेशी भाषाओ मे लिखित हिन्दी-व्याकरणो के पुनर्मुद्रण हुए है। **एम्० सी० सहगल** के 'मॉडर्न हिन्दी ग्रामर' का पुनर्मुद्रण (सन् १९७१ ई०) मे हुआ। **डॉ० आर्येन्द्र शर्मा-कृत** 'ए बेसिक ग्रामर ऑव मॉडर्न

हिन्दी' का पुनर्मुद्रण केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय ने सन् १९७२ ई० में कराया। डॉ० वासुदेवनन्दन प्रसाद-कृत 'आधुनिक हिन्दी-व्याकरण और रचना' (सन् १९७१-७८ ई०) के अनेक पुनर्मुद्रण हुए। डॉ० बचनदेव कुमार-कृत 'व्याकरणभास्कर' का पुनर्मुद्रण सन् १९७९ ई० मे हुआ। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (स० २०३४ वि०) मे डॉ० रामनिरंजन परिमलेन्दु का 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत प्रथम हिन्दी-व्याकरण' तथा जी० पी० श्रीवास्तव का 'राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और उनका हिन्दी-व्याकरण' प्रकाशित हुए, जिनमे व्याकरण भी मूल रूप मे प्रस्तुत किये गये है।

आठवे दशक मे हिन्दी-भाषा तथा व्याकरण से सम्बद्ध अनेक विशेषाक प्रकाशित हुए। इनमे प्रमुख है : स्वतन्त्रता की पच्चीसवी वर्षगाँठ के अवसर पर, 'भाषा' की दशाब्दि-पूर्त्ति के उपलक्ष्य मे प्रकाशित 'भाषा' त्रैमासिक का 'हिन्दी-भाषाविज्ञान-अंक' (सन् १९७३ ई०), जिसका प्रकाशन केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय, दिल्ली से हुआ। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का 'कामताप्रसाद गुरु-शती-स्मृतिग्रन्थ' सन् १९७० ई० मे प्रकाशित किया। इसी क्रम में 'भारतीय साहित्य' का 'डॉ० विश्वनाथ प्रसाद-स्मृति-विशेषांक' (सन् १९७६ ई०) महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत दशक में हिन्दी-व्याकरण से सम्बद्ध अनेक शोधप्रबन्ध भारतीय तथा विदेशी विश्वविद्यालयो में प्रस्तुत किये गये और उनपर उपाधियाँ दी गईं, जिनमे डॉ० महेशचन्द्र गर्ग : 'खड़ीबोली का रूपवैज्ञानिक अध्ययन' (मेरठ, सन् १९७७ ई०), सुधाकरसिंह : 'समसामयिक हिन्दी मे आकृति-विधान' (लखनऊ, सन् १९७६ ई०), वेदप्रकाश माहेश्वर . 'खड़ीबोली-गद्यसाहित्य मे प्रयुक्त क्रियापदों का संकालिक अध्ययन' (मेरठ, सन् १९७६ ई०), श्रीमती सत्या जोली : 'पर्यायो और विपर्यायो का अध्ययन' (आगरा, सन् १९७४ ई०), किरण अवस्थी : 'मूड ऐण्ड आस्पेक्ट इन हिन्दी' (आगरा, सन् १९७८ ई०), आभा सक्सेना : 'हिन्दी-कारकों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन' (दिल्ली, सन् १९७८ ई०), रमेशचन्द्र राय : 'हिन्दी के विशेषण-पदबन्धों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन' आदि उल्लेख्य है।

इसी प्रकार, आठवें दशक मे, हिन्दी-व्याकरण के विभिन्न अंगों पर भारतीय तथा पाश्चात्य शोध-पत्रिकाओं में हिन्दी तथा अँगरेजी मे अगणित निबन्ध भी प्रकाशित हुए है। इन सभी शोध-निबन्धो की सूचना संकलित करना कठिन कार्य है। 'परिषद्-पत्रिका' के लिए प्रस्तुत मेरा यह निबन्ध यथास्वीकृत विषय का दिग्दर्शन-मात्र है।

△ भगवती-निलयम्, १ त २, जवाहरनगर
जयपुर : ३०२००४

हिन्दी के कारक-क्रियारूप : पं० गुरु और आचार्य वाजपेयी

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

'व्याकरण' (वि+आ+करण) शब्द का अर्थ है—'विशेष रूप से पूरी तरह समझाना।' व्याकरण मे शिष्टजनो द्वारा स्वीकृत तथा प्रयुक्त शब्दो के रूपों तथा प्रयोगो को नियमबद्धता के साथ समझाया जाता है। वैयाकरण यह बता देता है कि अमुक प्रयोग अधिक प्रयुक्त किया जाता है और वह शुद्ध है। 'व्याकरण' भाषा के स्तर पर 'होना चाहिए' का पक्षधर है और भाषाविज्ञान 'होता है' का समर्थक है।

लगभग नवी-दसवी शती मे अपभ्रंश के गर्भ मे हिन्दी आ चुकी थी। भाषा के जन्म के सैकड़ो वर्ष बाद जब कोई भाषा-साहित्य स्थिरता ग्रहण कर लेता है, तब उसका व्याकरण लिखा जा सकता है। यही स्थिति हिन्दी-व्याकरणो की रही।

हिन्दी-भाषा का प्रथम मान्य एव प्रामाणिक व्याकरण सन् १९२० ई० मे नागरी-प्रचारणी सभा, काशी के तत्त्वावधान मे पं० कामताप्रसाद गुरु ने लिखा। पं० गुरु उस समय जबलपुर के मॉडल हाइ स्कूल मे सहायक अध्यापक थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से जो समिति, सिद्धान्त स्थिर करने के लिए, बनाई गई थी, उसमे सर्वश्री आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, म० म० पं० रामावतार शर्मा, पं० लज्जाशंकर झा, पं० रामनारायण मिश्र, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० कामताप्रसाद गुरु थे।

पं० गुरु के व्याकरण का हिन्दी-जगत् मे पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ। सन् १९५७ ई० तक इसके पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। सन् १९५७ ई० मे आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी-कृत हिन्दी-व्याकरण 'हिन्दी-शब्दानुशासन' के नाम के काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ। 'हिन्दी-शब्दानुशासन' के प्रमुख प्रेरक सर्वश्री आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी, पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, प० कामताप्रसाद गुरु, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और डॉ० अमरनाथ झा थे।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अधिकारी सर्वश्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० राजबली पाण्डेय, पं० करुणापति त्रिपाठी तथा पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के सहयोग से 'हिन्दी-शब्दानुशासन' शीघ्र प्रकाशित हो गया।

उक्त व्याकरण-ग्रन्थ, 'हिन्दी-शब्दानुशासन' में जो कारकीय विभक्तियों (परसर्गों) के सम्बन्ध में तथा क्रिया के वाच्यों के सम्बन्ध मे नूतन तथ्य उद्घाटित हुए है, उन्हे बीज-रूप मे **आचार्य किशोरीदास वाजपेयी** अपने 'व्रजभाषा का व्याकरण' तथा 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' में अभिव्यक्त कर चुके थे। क्रिया के वाच्यो के सम्बन्ध मे तो **आचार्य वाजपेयी** का पत्र-व्यवहार **पं० कामताप्रसाद गुरु** से भी हुआ था।

प० गुरु ने अपने 'हिन्दी-व्याकरण' मे कारको और क्रियावाच्यों के सम्बन्ध मे जो मान्यताएँ एव स्थापनाएँ व्यक्त की है, उनसे **आचार्य वाजपेयी** सहमत नही थे। आचार्य वाजपेयी ने अपनी उन मान्यताओ को 'हिन्दी-शब्दानुशासन' मे तर्कपूर्ण ढंग से स्थापित किया है। प० गुरु अपने 'हिन्दी-व्याकरण' मे कर्त्ताकारक की परिभाषा इस प्रकार करते है : "क्रिया से जिस वस्तु के विषय मे विधान किया जाता है, उसे सूचित करनेवाले संज्ञा के रूप को कर्त्ताकारक कहते है।"[1] इस परिभाषा के साथ प० गुरु '**चिट्ठी** भेजी जायगी' वाक्य मे, 'चिट्ठी' मे कर्त्ताकारक मानते हे।

अनुच्छेद ३०५ (४) में पं० गुरु यह भी लिखते है कि "जिस वस्तु के लिए कोई क्रिया की जाती है, उसके वाचक सज्ञारूप को सम्प्रदानकारक कहते है।"[2] इसी कारक के उदाहरण मे वह निम्नांकित वाक्य लिखकर '**परीक्षित को**' पद मे सम्प्रदानकारक बताते है : 'शुकदेव मुनि राजा **परीक्षित** को कथा सुनाते है।' इसी प्रकार, उसी अनुच्छेद मे लिखे वाक्य 'राजा ने **ब्राह्मण को** धन दिया' मे '**ब्राह्मण को**' पद सम्प्रदानकारक मे है।

अनुच्छेद ५३२ (क) मे पं० गुरु '**दिया**' को द्विकर्मक क्रिया बताकर '**ब्राह्मण**' को गौण कर्म और '**धन**' को मुख्य कर्म लिखते है।

अनुच्छेद १९५ मे पं० गुरु के द्वारा यह भी लिखा गया है कि "**देना, बतलाना, कहना, सुनना** और इन्ही अर्थो के दूसरे कई सकर्मक धातुओ के साथ दो-दो कर्म रहते है।" जैसे : 'गुरु ने **शिष्य को** (गौण कर्म) **पोथी** (मुख्य कर्म) दी।'

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि पं० गुरु के मतानुसार, निम्नांकित वाक्यो मे '**ब्राह्मण को**' और '**शिष्य को**' पद कर्मकारक मे भी है और सम्प्रदानकारक मे भी :

१. राजा ने **ब्राह्मण को** धन दिया।
२. गुरु ने **शिष्य को** पोथी दी।

अनुच्छेद ५२५ मे पं० गुरु 'राम **वन को** गये' वाक्य में '**वन को**' पद में अधिकरणकारक मानते है। 'हस्तिनापुर को चलिए' मे भी '**हस्तिनापुर को**' पद, पं० गुरु के मतानुसार, अधिकरणकारक मे है।

अनुच्छेद ५२७ मे पं० गुरु ने लिखा है कि साधन, कारण, रीति, सहित, अर्थ, विकार, दशा, भावपलटा और कर्मवाच्य अर्थ में करणकारक का प्रयोग होता है। जैसे :

---

१. **हिन्दी-व्याकरण, सं० २०१४ वि०, अनु०, ३०५ (१)।**
२. **उपरिवत्, ३०५ (४)।**

१. साधन : 'शिकारी ने शेर को बन्दूक से मारा।'
२ कारण : 'धन से प्रतिष्ठा बढती है।'
३ रीति · 'मेरी बात ध्यान से सुनो।'
४. सहित का भाव . 'विवाह धूम से हुआ।'
५ विकार : 'मनुष्य बालक से वृद्ध होता है।'
६. दशा 'स्वभाव से क्रोधी।'
७. भाव और पलटा . 'गेहूँ किस भाव से बिकता है।'
'वे अनाज से घी वदलते हैं।'
८. कर्मवाच्य : 'काम किसी से न किया जायगा।'

अनुच्छेद ६८९ मे पं० गुरु निम्नांकित वाक्यो मे आये हुए 'दान' और 'बात' पदो को कर्त्ताकारक मे मानते है -

१. ब्राह्मण को दान दिया गया। (कर्त्ता 'दान')
२ मुझसे वह बात पूछी जायगी। (कर्त्ता 'बात')

अनुच्छेद ३०५ मे, जैसा पहले लिखा गया, 'चिट्ठी' कर्त्ताकारक है . 'चिट्ठी भेजी जायगी।' (कर्त्ता 'चिट्ठी')

'हिन्दी-शब्दानुशासन' (पृ० १३६) मे आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है कि 'क्रिया के करने-न-करने मे जो स्वतन्त्र हो, उसे कर्त्ता कहते है।' 'राम पानी पीता है।' अथवा 'नदी मे पानी बहता है।' इन वाक्यों मे 'राम' और 'पानी' पद कर्त्ताकारक मे हैं, क्योंकि यहाँ 'राम' पीने की तथा 'पानी' बहने की क्रिया करने में स्वतन्त्र है। 'राम' पानी पीये या न पीये, 'पानी' वहे या न वहे।

पं० गुरु 'बात पूछी जायगी' और 'चिट्ठी भेजी जायगी' वाक्यो मे जो बात और चिट्ठी पद को कर्त्ता मानते हैं, उसका खण्डन आचार्य वाजपेयी इस तर्क पर करते है कि 'बात' और 'चिट्ठी' पूछे जाने तथा भेजे जाने मे स्वतन्त्र नही है। ये दोनो ही वास्तव मे बात पूछनेवाले तथा चिट्ठी भेजनेवाले व्यक्तियो पर आश्रित हैं। इसलिए, इन्हे कर्त्ता नही माना जा सकता। उपर्युक्त दोनो वाक्यो मे क्रमश 'बात' और 'चिट्ठी' कर्मकारक मे हैं; क्योंकि इनपर क्रिया का फल पड़ता है।

इसीलिए, आचार्य वाजपेयी का मत है कि 'लड़के ने रोटी खाई।' अथवा, 'लड़कियो ने रोटी खाई।'[1] वाक्यो मे 'रोटी' कर्म है—स्त्रीलिंग एकवचन मे। इसके अनुसार, क्रिया 'खाई' भी स्त्रीलिंग, एकवचन मे है। इन वाक्यो मे क्रमश. 'लड़के ने' और 'लड़कियों ने' पद कर्त्ताकारक मे है और स्वतन्त्र हैं—रोटी खाये या न खाये। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता।'[2]

---

१. हिन्दी-शब्दानुशासन, संवत् २०१४ वि० या सन् १९५७ ई०, पृ० १३८।
२. उपरिवत्, पृ० १३६।

'चिट्ठी भेजी जायगी' अथवा 'पत्र भेजा जायगा' मे **'चिट्ठी'** या **'पत्र'** पद, आचार्य वाजपेयी के मतानुसार, कर्मकारक मे है। **'भेजी जायगी'** और **'भेजा जायगा'** क्रियापद कर्मवाच्य मे है। ये दोनों क्रियापद लिंग-वचन मे अपने कर्म **'चिट्ठी'** और **'पत्र'** के अनुसार है।

अनुच्छेद ३०४ मे पं० गुरु अपने 'हिन्दी-व्याकरण' में लिखते है : "संज्ञा (या सर्वनाम) के जिस रूप से उसका सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है, उस रूप को कारक कहते है।" जैसे : 'रामचन्द्रजी ने खारे जल के समुद्र पर बन्दरो से पुल बँधवा दिया है।' **रामचन्द्रजी ने=कर्त्ता। पुल=कर्म। बन्दरों से=करण। समुद्र पर=अधिकरण। जल के=सम्बन्ध।**

उपर्युक्त वाक्य में **'जल के'** पद को पं० गुरु सम्बन्धकारक मे मानते है; किन्तु आचार्य वाजपेयी इसमे कारक नही मानते। आचार्य वाजपेयी के मतानुसार, कारक की परिभाषा इस प्रकार है : "क्रिया के साथ जिसका सीधा सम्बन्ध हो, उसे कारक कहते है" : **'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।'**[1]

इस परिभाषा के आधार पर आचार्य वाजपेयी हिन्दी में छह कारक मानते है : १. कर्त्ता, २. कर्म, ३. करण, ४. सम्प्रदान, ५ अपादान और ६. अधिकरण। आचार्य वाजपेयी सम्बन्ध और सम्बोधन को कारक नही मानते।

किन्तु, पं० गुरु हिन्दी मे आठ कारक मानते है : १. कर्त्ता, २. कर्म, ३. करण, ४. सम्प्रदान, ५ अपादान, ६ अधिकरण, ७. सम्बन्ध और ८. सम्बोधन।[2]

पं० गुरु ने आठ कारक इसलिए माने है कि वह कारकीय पद का सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द (पद से) मानते है, जबकि आचार्य वाजपेयी कारकीय पद का सम्बन्ध केवल क्रियापद से मानते है। आचार्य वाजपेयी संस्कृत-व्याकरण के अनुगामी है, विशेषत: कारक-प्रसग में।

ऐसा होने पर भी आचार्य वाजपेयी हिन्दी-भाषा मे एक 'के' को कारकीय विभक्ति भी मानते हैं। जैसे :

१ **राम** के लड़का हुआ। २. **राम** के लडकी हुई।[3]

आचार्य वाजपेयी का मत है कि ऐसे वाक्यो मे आया हुआ 'के' सदा एक रूप है। अत:, विभक्ति है। किन्तु, एक 'के' और है, जो का, की, के रूप ग्रहण करता है। यह मूलत: 'क' है, जो लिंग-वचन के कारण ही का, की, के बन जाता है। इसे हिन्दी-भाषा मे तद्धित-प्रत्यय कहा जाना चाहिए।[4] जैसे : १ **राम का** लड़का आया। २. **राम की**

---

१. हिन्दी-शब्दानुशासन, संवत् २०१४ वि०, पृ० १३६।

२. हिन्दी-व्याकरण, सं० २०१४ वि०, अनुच्छेद ३०५।

३. हिन्दी-शब्दानुशासन; स० २०१४ वि०, पृ० २२८।

४. उपरिवत्, पृ० १५९।

लड़की आई। ३. राम के लड़के आये। इन वाक्यों मे 'राम की', 'राम का' और 'राम के' विशेषणीय पद बन गये है।[1]

पं० गुरु के मतानुसार, 'जल के समुद्र पर' वाक्याश के 'जल के' में सम्बन्धकारक है; किन्तु आचार्य वाजपेयी इसमे विशेषणीय तद्धित-प्रत्यय मानते हैं। उनका सबल तर्क यह है कि कारकीय विभक्तियाँ (कारकीय परसर्ग) लिंग-वचन का प्रभाव नही मानती। जैसे : 'लड़के को पुस्तक पढनी चाहिए।' 'लड़कों को पुस्तके पढनी चाहिए।' 'लड़की को ग्रन्थ पढना चाहिए।' 'लड़कियों को ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।' इन वाक्यो मे 'को' कर्त्ता-कारक की विभक्ति है—एकरूप है। अँगरेजी-भाषाविज्ञान के आधार पर 'को' परसर्ग भी कहा जा सकता है। 'जल के समुद्र' वाक्याश के 'जल के' मे कारक नही, क्योकि इसका सम्बन्ध क्रिया से नही, अपितु 'समुद्र' से है। इसी कारण, आचार्य वाजपेयी के मतानुसार, 'जल के समुद्र पर' वाक्याश के 'जल के' मे कारक नही, अपितु यह पद विशेषण है। इसपर, लिंग का प्रभाव पड सकता है। जैसे · १. जल के समुद्र पर, २. जल की खाडी पर। इनमें 'के' और 'की' विशेषणीय तद्धित-प्रत्यय है।

'समुद्र' पुलिंग और 'खाड़ी' स्त्रीलिंग है। इसलिए, 'के' का परिवर्त्तन 'की' मे हो गया। निम्नाकित वाक्यो का 'के' एक रूप है, इसलिए विभक्ति या कारकीय विभक्ति है .

१ स्त्री के लड़का हुआ है। २ स्त्री के दो लडके हुए है। ३ स्त्री के लडकी हुई है। इन तीनो वाक्यो मे 'के' अपरिवर्त्तित है। हिन्दी-व्याकरण के क्षेत्र मे आचार्य वाजपेयी की यह नई पकड़ या नई सूझ है।

आचार्य वाजपेयी कारकों का निर्णय अर्थ की दृष्टि से करते हैं। उनका मत है कि 'से' विभक्ति (परसर्ग) कही करणकारक मे, कही अपादानकारक मे, कही कर्मकारक में और कही कर्त्ताकारक मे आती है :[2]

१. राम चाकू से कलम बनाता है। (करणकारक)
२ छत से कूड़ा गिरा। (अपादानकारक)
३. मोहन राम से कहता है। (कर्मकारक)
४. राम से उठा नही जाता। (कर्त्ताकारक)

'को' विभक्ति कर्म और सम्प्रदान मे तो आती ही है। अधिकरण मे भी आती है और कर्त्ता मे भी। जैसे : १. मैंने तुमको समझाया (कर्मकारक)। २ मैंने मोहन को पुस्तक दी (सम्प्रदानकारक)। ३. सोमवार को पढाई होगी। लड़के को ज्वर है[3] (अधिकरणकारक)। ४. राम को घर जाना है (कर्त्ताकारक)।

---

१. हिन्दी-शब्दानुशासन, सं० २०१४ वि०, पृ० २२८।
२. उपरिवत्, पृ० १२५-१२६।
३. राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण : आचार्य वाजपेयी, जनवाणी-प्रकाशन, कलकत्ता, सन् १९४९ ई०, कारक-प्रकरण।

'राम वन को गये' वाक्य के 'वन को' पद में पं० गुरु अधिकरणकारक मानते है। उनका तर्क है कि 'वन को' का अर्थ है 'वन में'।

आचार्य वाजपेयी का कथन है कि 'राम वन को गये।' और 'राम वन में गये' वाक्यो मे आये हुए 'वन को' और 'वन में' भिन्न-भिन्न अर्थ रखते है। 'वन को जाना' का अर्थ है कि जानेवाला व्यक्ति वन की ओर जा रहा है। 'वन में जाना' का अर्थ है कि वन के बीच में पहुँच गया है और चल रहा है। अत, 'राम वन को गये' वाक्य का 'वन को' पद कर्मकारक मे है, अधिकरणकारक मे नही। 'जाना' क्रिया सकर्मक है। आचार्य वाजपेयी का मत संस्कृत-व्याकरण के अनुसार है। संस्कृत मे √गम् धातु सकर्मक है। 'रामः वन गत.' मे 'वन' कर्म कारकीय पद है।[1] यथा : 'रामः वनं गत.=राम वन को गया। सीता वनं गता=सीता वन को गई।

पण्डित गुरु 'राम वन को गये' में 'वन को' प्रयोग को अधिकरणकारक इसलिए मानते है कि उनके मत से 'जाना' क्रिया अकर्मक है। इसका कर्म नही हो सकता। अँगरेजी की 'गो' क्रिया अकर्मक है। 'राम वेण्ट टु दि जंगल' में 'वेण्ट' अकर्मक क्रिया है।

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि आचार्य वाजपेयी, जैसा पहले कहा गया, संस्कृत-व्याकरण के अनुगामी है, किन्तु पं० गुरु अँगरेजी-ग्रामर के। कारकों की व्याख्या में भी दोनों का स्वरूप उसी प्रकार भिन्न दृष्टिगोचर होता है। 'राम का लड़का' में 'राम का' सम्बन्धकारक, अर्थात् 'पैसिव केस' है। यही पं० गुरु मानते है।

प० गुरु 'हिन्दी-व्याकरण' के अनुच्छेद ३४९ (क) मे लिखते है कि 'कर्त्तृवाच्य' क्रिया के उस रूपान्तर को कहते है, जिससे जाना जाता है कि वाक्य मे क्रिया का कर्त्ता है। जैसे : 'लड़का पुस्तक पढ़ता है।' 'लड़के ने पुस्तक पढ़ी।'

पं० गुरु 'लड़के ने पुस्तक पढ़ी' वाक्य मे 'पढी' क्रिया को कर्त्तृवाच्य में मानते हैं और अर्थ की दृष्टि से कर्त्ता की प्रधानता।

गुरुजी 'रानी ने सहेलियों को बुलाया' इस वाक्य मे क्रिया को रूप के अनुसार भाववाच्य और अर्थ के अनुसार कर्त्तृवाच्य मानते हैं। 'चिट्ठी भेजी गई' में रूप की दृष्टि से क्रियापद, पं० गुरु के अनुसार, कर्मवाच्य है।

अनुच्छेद ३६५ मे पं० गुरु लिखते है कि जिस प्रकार क्रिया के पुरुष, लिंग और वचन कर्म के पुरुष, लिंग और वचन के साथ होते है, उसे 'कर्मणि प्रयोग' कहते है। जैसे : 'मैंने पुस्तक पढ़ी।' 'पुस्तक पढ़ी गई।'

ध्यातव्य यह है कि हिन्दी-व्याकरण के अनुच्छेद ३४९ (क) मे पं० गुरु 'लड़के ने पुस्तक पढ़ी' के क्रियापद को कर्त्तृवाच्य बताते है। फिर, अनुच्छेद ३६५ में 'मैंने पुस्तक पढ़ी' के क्रियापद को 'कर्मणि प्रयोग' कहते हैं। दोनों वाक्यों के क्रियापदों की रचना

१. हिन्दी-शब्दानुशासन, संवत् २०१४ वि०, पृ० १४२।

समान है। अर्थात्, 'पढी' क्रिया लिंग, वचन और पुरुष मे कर्म 'पुस्तक' के अनुसार है। प्रथम वाक्य मे कर्त्ता 'लड़के ने' और द्वितीय वाक्य मे कर्त्ता 'मैने' है।

अनुच्छेद ३६५ (३) मे प० गुरु 'रानी ने सहेलियो को बुलाया' वाक्य की क्रिया को 'भावे प्रयोग' कहते है। इसी वाक्य को अनुच्छेद ३४९ मे भाववाच्य कहते है और अर्थ के अनुसार कर्तृवाच्य। अनुच्छेद ३६५ (२) मे प० गुरु 'मैने पुस्तक पढ़ी' और 'पुस्तक पढ़ी गई' इन दोनो वाक्यो के क्रियापदो को 'कर्मणि प्रयोग' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पं० गुरु की मान्यताएँ वाच्य और प्रयोग की सकल्पनाओ को स्पष्ट नही कर सकी। प० गुरु के मतानुसार, 'लड़के ने पुस्तक पढ़ी' वाक्य की क्रिया कर्तृवाच्य मे तो है, लेकिन 'कर्मणि प्रयोग' है। पं० गुरु की बात बहुत भ्रान्तिपूर्ण और अस्पष्ट है। पं० गुरु के मतानुसार, 'पुस्तक पढ़ी गई' भी कर्मणि प्रयोग है। आचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी-शब्दानुशासन' मे इस भ्रान्ति को दूर किया है।

आचार्य वाजपेयी ने अपने शब्दानुशासन के पृ० २२५ पर स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दी मे वाच्य और प्रयोग दो अलग-अलग बातें नही है। कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य को ही क्रमश. 'कर्त्तरि प्रयोग', 'कर्मणि प्रयोग' और 'भावे प्रयोग' कहते है। अर्थात्, जब क्रिया लिंग-वचन मे कर्त्ता के अनुसार बदलती है, तब कर्तृवाच्य; जब कर्म के अनुसार बदलती है, तब कर्मवाच्य और जब भाव के अनुसार बदलती है, तब भाववाच्य कहलाती है। भाववाच्य मे क्रिया सदा एकरूप रहती है, वह न कर्त्ता के अनुसार बदलती है, न कर्म के अनुसार।

'राम ने रोटी खाई' वाक्य मे क्रिया कर्मवाच्य मे है; क्योंकि 'खाई' क्रिया लिंग-वचन मे कर्म 'रोटी' के अनुसार है। जब कर्म 'फल' आयगा, तब क्रिया 'खाया' आयगी। 'खाया' क्रिया लिंग-वचन मे कर्म 'फल' के अनुसार आयगी।

१. राम ने रोटी खाई।	३. राम ने रोटियाँ खाई।
२. राम ने फल खाया।	४ राम ने फल खाये।

उपर्युक्त वाक्यों मे कर्म के लिंग-वचन के अनुसार ही क्रियापद आये है। इसलिए, ये क्रियापद कर्मवाच्य मे है। १ राम आया। २. सीता आई। इन वाक्यो मे क्रियापद कर्तृवाच्य मे हैं; क्योकि क्रियापद कर्त्ता के लिंग-वचन के अनुसार हैं। 'राम' पुं०, एकवचन, तो 'आया' भी पुं०, एकवचन।

१. लड़के से नही चला जाता। २. लड़की से नही चला जाता। ३. लड़के ने कुत्ते को मारा। ४ लड़के ने बिल्ली को मारा। ५. लड़की ने कुत्तो को मारा। ६ लड़कियों ने बिल्लियो को मारा।

उपर्युक्त वाक्यो के क्रियापद न कर्त्ता के लिंग-वचन के अनुसार बदले और न कर्म के लिंग-वचन के अनुसार। बल्कि सभी क्रियापद एकरूप, अर्थात् भाव के अनुसार रहे हैं। इसलिए, इन्हे भाववाच्य की क्रिया कहेंगे।

आचार्य वाजपेयी का मत है कि हिन्दी में सकर्मक क्रियाएँ भी भाववाच्य में होती है। उस समय, कर्म के साथ कारकीय विभक्ति (कारकीय परसर्ग) का योग रहता है। जब विभक्तिचिह्न (परसर्ग) हटा दिया जायगा, तब वह क्रियापद कर्मवाच्य मे हो जायगा। उदाहरण :

१. भाववाच्य मे : लड़के ने बिल्ली को **मारा**।

२. कर्मवाच्य मे : लड़के ने बिल्ली **मारी**।

अकर्मक क्रिया की स्थिति मे तो सस्कृत तथा हिन्दी, दोनों ही भाषाओं में भाववाच्य की क्रियाएँ पाई जाती है।

सं० १. 'बालकेन न **चलितम्**।' २. 'बालिकया न **चलितम्**।'

हि० १. 'लड़के से न **चला गया**।' २. 'लडकी से न **चला गया**।'

इस प्रकार, हिन्दी में कारकों तथा क्रियावाच्यों के रूपो को आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी ने पहले 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' मे, फिर 'हिन्दी-शब्दानुशासन' मे स्पष्ट किया था। इस दृष्टि से आचार्य वाजपेयी के विचार को पं० गुरु से कुछ आगे माना जायगा। प० गुरु हिन्दी-व्याकरण के यदि मान्य व्यवस्थापक है, तो आचार्य वाजपेयी समर्थ परिष्कारक।

△ ८।७, हरिनगर
अलीगढ़, : २०२००१ (उ० प्र०)

भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन की पीठिका

ले० : डॉ० विद्यानिवास मिश्र

यह ग्रन्थ परिषद् की भाषणमाला-योजना के अन्तर्गत दिये गये भाषण का पुस्तकाकार प्रकाशन है। डॉ० मिश्र हिन्दी के जाने-माने साहित्यकार तथा भाषाशास्त्रविद् है। उन्होंने आधुनिक भाषावैज्ञानिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में वैदिक काल से आचार्य पाणिनि तक के मान्य सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि भारत में भाषाशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा अति प्राचीन काल से ही अक्षुण्ण रही है। भाषाविज्ञान को पाश्चात्य देशों की देन माननेवाले के लिए मननशील लेखक का दिशा-निर्देश एक चुनौती है। भाषाशास्त्र के अनुसन्धित्सुओं को इस पुस्तक से पर्याप्त सहायता एवं प्रेरणा मिलेगी। पृ० सं० १५६। मूल्य : रु० २१.००।

प्र० : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४

भोजपुरी-लोकनाट्य-मण्डली की विशिष्ट शब्दावली

श्रीसुरेश तिवारी

भोजपुरी-लोकनाट्य-मण्डली के सदस्य अपने व्यावसायिक जीवन के साथ ही सामान्य जीवन में भी कुछ विशिष्ट शब्दावली का व्यवहार करते हैं। यह शब्दावली नाट्य-मण्डलियो के परम्परागत जीवन से उद्भूत और विकसित होती है। इसमे भोजपुरी-भाषा के सामर्थ्य के साथ नाट्य-मण्डलियों का अन्तरंग जीवन भी प्रतिभासित है। मण्डली द्वारा प्रयुक्त इन विशिष्ट शब्दो, मुहावरो और उक्तियो मे लोकनाट्यों की परिभाषा और उनके रचना-तन्त्र की प्रामाणिक व्याख्या मिलती है। इस शब्दावली का एक स्तर ऐसा भी होता है, जहाँ नाट्य-मण्डली के दक्ष अभिनेताओ और लोकनाट्य के सहृदय दर्शको का मानसिक सन्दर्भ मे तादात्म्य होता है। ऐसे शब्द-प्रयोगो मे नाट्य-मण्डली के सदस्य अपनी संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति के लिए कभी सामान्य शब्दो मे नया अर्थ भरते हैं और कभी शब्दों को विशिष्ट सन्दर्भ देने के लिए उन्हे अपनी रमणीय वचोभगी से सँवारते है। इस दृष्टि से मण्डली द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली सम्बद्ध दर्शको की विभिन्न सांस्कृतिक छवियो के साथ भाषा-विकास की उपेक्षित और अनदेखी प्रक्रिया और प्रकार को भी प्रस्तुत करती है। उपर्युक्त दृष्टि से मण्डली द्वारा व्यवहृत शब्दावली का विवेचन वर्णानुक्रम से नीचे प्रस्तुत है :

१. अपनी धमचा पर खेटाऊँ :

यदि नाट्य-मण्डली के किसी सदस्य को मनोनुकूल कोई सुन्दरी संगति प्रदान करती है और उसके साथ वह अपनी काम-पिपासा को शान्त करने के लिए किसी मित्र से जब उपयुक्त स्थान के बारे मे पूछता है, तब मित्र उत्तर देता है कि यह काम अपने घर मे सम्पन्न करना चाहिए। मित्र का उत्तर इन शब्दो मे होता है : 'अपनी धमचा पर खेटाऊँ।'

२. एगो जिला गाएब बा :

नाट्य-प्रदर्शन के अन्तर्गत काने पात्रो के लिए यह शब्दावली व्यवहृत होती है। चितकावर (भोजपुरी-लोकनाट्यो का विदूषक) एकाक्ष पात्रो का चरित्र-चित्रण करते हुए कहता है : 'आरे एगो जिला गाएब बा तऽ इनकर ऽ हानि बा, ऽ तऽ करम के दामाद बा हो।'

३. एकदम अनकाह बा, माल आच्छा ना खेटवलसि :

यदि कोई पानवाला मण्डली के सदस्यो को अच्छा पान नही खिलाता है, तो वे उसकी निन्दा इन शब्दो में करते है : 'एकदम अनकाह बा, माल आच्छा ना खेटवलसि।'

४. ओहारी खटल :

नाट्य-प्रदर्शन के अन्तर्गत जब किसी पात्र की अस्थायी अनुपस्थिति के समय दूसरा पात्र उसका अभिनय करने लगता है, तब उसे 'ओहारी खटल' कहा जाता है।

५. कठमँऊग :

जो नर्त्तक नारियो के हाव-भाव को अपनाने और दिखाने में सफल है, वे 'कठमँऊग' कहलाते है।

६. कुनाजी मधई हुऽ :

जो भोजन स्वादिष्ठ और रुचिकर नहीं रहता है; उसे मण्डली के सदस्य 'कुनाजी मधई हुऽ' की विशिष्ट शब्दावली से अभिहित करते है।

७. कुनाजी जऊद हुऽ :

मनोनुकूल भोजन को मण्डली के सदस्य 'कुनाजी जऊद हुऽ' की शब्दावली से व्यक्त करते है।

८. खरबिटिया :

ऐसे नर्त्तक जो नारी-वेश धारण करने के बाद मुग्धा नायिकाओं की तरह दिखाई पडने लगते हैं, उनके लिए 'खरबिटिया' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

९. खेवरानी :

इस शब्द का प्रयोग मण्डली का सदस्य अपने किसी समाजी को बुलाने के लिए करता है।

१०. गर फाटल :

उम्र बढने के साथ-साथ नर्त्तको का गला मोटा होता जाता है। ऐसी स्थिति को 'गर फाटल' की संज्ञा दी जाती है।

११. गगनी :

मण्डली के सदस्य इस शब्द का प्रयोग करके अपने साथियों को बताते है कि उन्हें प्यास लगी है।

१२. गँहकीसुर :

विवाह-योग्य लड़को को नाचवाले 'गँहकीसुर' की संज्ञा प्रदान करते है।

१३. गान्ही खूब रखले बा

मण्डली के रास्ते मे जब कोई मद्यप नशे मे धुत होकर बड़बड़ाता हुआ चला आता है, तब मण्डली के सदस्य परस्पर मन्द स्वर में कहते है : 'गान्ही खूब रखले बा।'

१४. गुमा जादे बा :

सट्टा लिखाने के लिए मण्डली के मालिक के पास जब कोई धनी व्यक्ति आता है, तब दूसरा सदस्य अधिक पैसे की माँग करने के लिए मालिक को इसी कूट-शब्दावली में अपना निर्देश देता है।

२७. जिराम खेटि जाई :

यदि किसी स्त्री के प्रति मन ललच जाय और मण्डली के किसी सदस्य की नीयत उसके साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करने की हो, तो वह अपने सहयोगियों से इस शब्दावली का प्रयोग करता है।

२८. जुग्राइल-पोढ़ाइल :

ये दोनों शब्द समानार्थी है। अधिक प्रौढ और बेसुरे नर्त्तकों को 'जुआइल-पोढाइल' की संज्ञा दी जाती है। चितकाबर (विदूषक) इनपर व्यंग्यात्मक वाग्वाण छोड़कर दर्शको का मनोरंजन करता है 'इ ढाट्ठा अब जुआ गइल बा, पोढा गइल बा। अब एकर मन दूगोडवा से ना भरी, ए के चरगोडवा चाँही।'

२९. टिहुरी कम बा

भोजन परोसनेवाला यदि मण्डली के सदस्यों को पूडी कम देता हो, तो सदस्य आपस मे यह कहते हुए सुने जाते है : 'टिहुरी कम बा।'

३०. टेंगहाँ :

कम उम्रवाले नर्त्तकों को मण्डली के सदस्य 'टेंगहाँ' कहकर बुलाते है।

३१. डाहिलऽ :

नर्त्तक जब अपनी अदाकारी से दर्शकों को विभोर कर देता है, तब विदूषक उसके हाव-भाव को 'डाहिलऽ' शब्द से अभिहित करता है।

३२. ढकचल पिल्ली :

अत्यन्त दुबले-पतले नर्त्तक विदूषक द्वारा 'ढकचल पिल्ली' की संज्ञा पाते हैं।

३३. ढूल :

अधिक उम्र के नर्त्तक मण्डली की विशिष्ट शब्दावली मे 'ढूल' कहे जाते है।

३४. ढूलवा ढंग से खेटावत नइखे :

खिलानेवाला गुड़ धीरे-धीरे परोस रहा हो, तो मण्डली के सदस्य एक दूसरे से इसी शब्दावली मे बात करते हैं।

३५. नाच बान्हल :

जब कोई व्यक्ति दूर-दूर से समाजियों और नर्त्तकों को बुलाकर 'नाच-पार्टी' का संघटन करता है, तब इसे 'नाच बान्हल' कहा जाता है।

३६. नाच टूटल :

इस शब्दावली से दो अर्थ ध्वनित होते है। पहला अर्थ नाच-पार्टी के तितर-बितर हो जाने से लिया जाता है और दूसरा अर्थ नाच के कार्यक्रमों की समाप्ति से होता है।

३७. नाच खड़ा भइल :

जब मण्डली के सदस्य अपने कार्यक्रम का प्रदर्शन करने के लिए शामियाने में दर्शकों के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं, तब उस स्थिति को मण्डली की विशिष्ट शब्दावली में 'नाच खड़ा भइल' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

३८. फिर बेंचल जाई :

मण्डली के सदस्य नाट्येतर पेशे मे काम न मिलने पर निराश होकर पुनः अपने पेशे मे लौट आते हैं। अपनी इस निराशा को दूर करने के लिए वे मण्डली मे नाचने के लिए आतुर हो जाते है। इसी स्थिति को उक्त कूट-शब्दावली मे व्यक्त किया जाता है।

३९. बाड़ा मधवारी बा :

मण्डलीवाले किसी मूर्ख पर अपनी व्यंग्योक्ति की अभिव्यक्ति इसी शब्दावली द्वारा करते हैं।

४० भड़का :

मिट्टी के पावो को मण्डलीवाले 'भड़का' कहते है।

४१. मँऊग :

'मँऊग' या 'मँऊगा' शब्द उन नर्त्तको के लिए प्रयुक्त होता है, जो कमर टेढ़ी करके स्त्रियों की तरह चला करते है। इनके सदृश महिलोचित हाव-भाव प्रदर्शित करनेवाले सामान्य जन को भी इसी शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

४२. मधवारी कऽ दे दऽ :

यदि मण्डली के सदस्य किसी दूकान पर सामान खरीदने के लिए जाते हैं और उनमे किसी को दुकानदार की माँग से कम पैसा देना होता है, तो वह अपने साथियो से कहता है, 'मधवारी कऽ दे दऽ।'

४३. मधवारी रहल हऽ :

जब मण्डली को अच्छा भोजन नही कराया जाता है, तब भोजन के बाद शामियाने की ओर लौटते हुए मण्डली के सदस्य प्राय इसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं।

४४. मदनीतऽ बुझाते नइखे :

भोजन करते समय पर्याप्त मात्रा में दही न पाने के कारण मण्डलीवाले आपस में कहते हैं : 'का खाईं जा, मदनी तऽ बुझाते नइखे।'

४५. राति काटल :

नाट्य-मण्डलियाँ वांछित प्रदर्शन की जगह जब इधर-उधर की बातो में समय बिताने लगती है, तब दर्शक रोष से उत्तेजित हो उठते है और मण्डली के मालिक को चेतावनी देते हुए मण्डली द्वारा व्यर्थ समय गँवाने की प्रवृत्ति को 'राति काटल' कहकर भर्त्सना करते है।

४६. लगन कमाइल :

नाच-पार्टी बरातों मे अपने प्रदर्शन से दर्शकों को मन्त्रमुग्ध करके पारिश्रमिक की राशि के साथ जब घर लौटती है, तब यह स्थिति मण्डली की विशिष्ट शब्दावली में 'लगन कमाइल' कहलाती है।

लगन थकल :

नाट्य-मण्डली के प्रदर्शन का सितारा लगन की अवधि के बाद डूब जाता है। इससे मण्डली की पूछ समाप्त होने लगती है। इस स्थिति को 'लगन थकल' की शब्दावली से अभिहित किया जाता है।

४८. लगन सरकस बा :

जिस वर्ष बहुत अधिक विवाह होते हैं, उस वर्ष नाट्य-मण्डलियों की बन आती है। इनके पीछे बडे-बडे लोग चक्कर लगाते है, पर ये 'नाही जी, फुरसत नइखे रउरी बराती में जाए खातिर, लगन सरकस बा' कहकर उनकी विनती को टाल देते है।

४९. सट्टा लिखल :

बरात के मालिक के साथ नाचवालो का एक लिखित इकरारनामा होता है। इसमें निर्धारित नाट्य-प्रदर्शन का समय, स्थान, तिथि और पारिश्रमिक की राशि का पूरा विवरण रहता है। इस इकरारनामे पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर करने को 'सट्टा लिखल' कहा जाता है।

५०. सट्टा तोड़ल :

उक्त लिखित इकरारनामे के अनुसार, जब दोनों पक्षों में कोई भी अपने वचन का निर्वाह नही करता, तब इसे 'सट्टा तोड़ल' कहा जाता है।

५१. सट्टा पूरा कइल :

लिखित इकरारनामे के अनुसार मण्डली और बरात के मालिक जब अपने-अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर देते है, तब इस कार्य को 'सट्टा पूरा कइल' कहा जाता है।

५२. सामान खेटवले जाता :

मण्डली का एक सदस्य यदि दूसरे सदस्य का कोई सामान चुरा रहा हो और तीसरा सदस्य यदि देख रहा हो, तो वह इस बात की जानकारी अपने सहयोगियों को देता हुआ कहता है : 'देखऽ हो, सामान खेटवले जाता।'

५३. सुआब बा :

सहृदय जनो या नागरिको द्वारा प्रदत्त स्वादिष्ठ भोजन की प्रशंसा करते हुए मण्डलीवाले आपस मे इस शब्दावली का व्यवहार करते हुए बात करते है : 'सुआब बा, सुआब बा।'

५४. सुआब गावऽ :

प्रदर्शन के अन्तर्गत मण्डली का मालिक दर्शकों की रुचि के अनुरूप सुन्दर गीत सुनाने के लिए इस शब्दावली द्वारा संकेत करता है।

५५. होस से इ लिलखर बा :

मण्डली का मालिक रास्ते में जब किसी असामाजिक व्यक्ति को देखता है, तब वह अपने साथियों को सावधान करता हुआ कहता है : 'चलऽ लोग, होस से इ लिलखर बा।'

△ उच्च विद्यालय, डालमियानगर (रोहतास : बिहार)

राहुल और रघुवीर : पारिभाषिक शब्दों के निर्माण-क्षेत्र में

श्रीबाबूराम वर्मा

पिछले कई दशको मे हिन्दी-संसार को जिस महाप्रश्न ने सबसे बढ़कर उत्तेजित एवं उद्वेलित किया था, वह पारिभाषिक शब्दो के निर्माण का ही था। डॉ० रघुवीर ने इस विषय मे काफी पहले प्रवेश किया और 'सबकी बोली' नाम से सभी भारतीय भाषाओ के समान शब्दो की सूची (दूसरा सस्करण, मई, १९४२ ई०) प्रकाशित की। यह कार्य भाषाविज्ञान पर आधृत था। इससे पूर्व नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा किया गया कार्य काफी पुराना पड़ चुका था, और नई आवश्यकताओ को देखते हुए अधूरा लगता था। डॉ० रघुवीर ने अपने समग्र कार्य को बाद में 'कम्प्रिहेन्सिव इंगलिश-हिन्दी-डिक्शनरी' (जून, १९५५ ई०) नाम से नागपुर से प्रकाशित किया। इस कोश मे वे सभी पारिभाषिक शब्द आ गये है, जिन्हे तबतक अन्तिम रूप दिया जा चुका था, और जो पहले के कोशो मे प्रकाशित हुए थे। बहुत-से शब्दो के पूर्वपर्याय अनुभव एवं आलोचनाओ को ध्यान मे रखकर इसमे बदल दिये गये है। पारिभाषिक शब्दो को बनाने मे डॉ० रघुवीर की क्या दृष्टि रही है, वह इस कोश की सामान्य तथा विषयो की विशिष्ट भूमिकाओ मे देखी जा सकती है। संक्षेप मे, उसे उनकी रचनाओ मे अन्यत्र भी देखा जा सकता है। डॉ० रघुवीर के विचारो के व्यावहारिक स्वरूप को ही 'रघुवीरी हिन्दी' कहा गया।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भी हिन्दी की बहुविध आवश्यकताओ से भली भाँति परिचित थे और समय-समय उनकी ओर ध्यान दिलाते रहने के अतिरिक्त उन्होने पारिभाषिक शब्दावली तैयार कराने के क्षेत्र मे भी महनीय योगदान किया है। उनके द्वारा सम्पादित 'शासन-शब्दकोश' ज्ञात ही है।

पारिभाषिक शब्द बनाने मे राहुलजी और डॉ० रघुवीर ने जिन मुख्य बातो को अपने-अपने ध्यान मे रखा है, उनका तुलनात्मक विवरण आगे की तालिका मे देखा जा सकता है।

पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के सिद्धान्त

तुलनात्मक तालिका

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

१. जनप्रचलित शब्द रखने की पूरी कोशिश की जायगी।.... कोई भी शब्द चाहे वह अहिन्दी-प्रान्तों का हो, अँगरेजी का हो या अन्य विदेशी भाषा का, यदि वह बहुप्रचलित है, और यथार्थ परिभाषा दे सकता है, तो उसे ले लेना चाहिए।

२. सभी प्रचलित नये शब्द संस्कृत से लिये जायँ, परन्तु इस बात में उच्चारण-सौकर्य का ध्यान रखा जाय।

३. नये शब्द बनाते समय मध्यम मार्ग अपनाया जाय।

(क) जो अन्तरराष्ट्रीय शब्द वस्तुओं के साथ जनता तक पहुँच गये हैं, उन्हें लेना है; जैसे टेलीफोन, इंजीनियर, डॉक्टर, फौजी पद आदि।

(ख) जो शब्द वस्तुओं के साथ जनता तक पहुँच गये हैं, उनके लिए संस्कृत-शब्द गढ़ना अनावश्यक है; जैसे रेल, टाइपराइटर आदि।

४. जहाँ केवल सैद्धान्तिक अथवा विज्ञान-विषयक शब्दावली हो, जैसे वनस्पतिविज्ञान, वहाँ संस्कृत से सहायता लेना आवश्यक है। इसमे यह ध्यान रखा जाय : (क) शब्दों की समान व्युत्पत्ति के ग्रहण में एकता का ध्यान रखा जाय, पर यह एकता यान्त्रिक न होकर भाषा के विकास की स्वतन्त्रता को ध्यान में रखकर हो।

(ख) शब्दों के निर्माण में समास

डॉ० रघुवीर

१. प्रत्येक शब्द का एक ही मूल अर्थ है।

२. शब्द अन्वर्थ सार्थक हैं।

३. सरल अँगरेजी-शब्दों का अनुवाद सरल शब्दों में किया गया है, समास-शब्दों अथवा वाक्यांशों द्वारा नही।

४. सरल शब्द बड़े न होकर छोटे रखे गये हैं—दो या तीन अथवा अधिक-से-अधिक चार अक्षर के।

५. उपसर्ग एवं प्रत्ययों का अनुवाद सामान्यतः उनके समान उपसर्गो या प्रत्ययों से किया गया है।

६. यदि अँगरेजी-शब्द सार्थक समास-शब्द है, जिसका सटीक परिचायक अर्थ है, तो भारतीय शब्द भी उसी के अनुसार बनाया गया है।

७. यदि किसी शब्द से दूसरे शब्द भी बनते है, तो उन सभी शब्दों पर विचार करके उनके पर्याय दिये गये है।

८. जहाँ आवश्यक समझा गया, वहाँ शब्दों के संक्षिप्त रूप भी दिये गये है।

९. शब्दों को अलग-अलग से नही, उनके समूह पर विचार करके अनूदित किया गया है, उनके पर्यायों और विलोम शब्दों का भी विचार किया गया है।

१०. प्राचीन विचारो और वस्तुओं के लिए शब्द निश्चित करते समय संस्कृत, पालि और प्राकृत-कोशो की गहरी छानबीन की गई है। आधुनिक भारतीय भाषाओं पर भी विचार किया गया है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन	डॉ० रघुवीर
मे संस्कृत-असस्कृत का ध्यान न रखा जाय ।	११ नये विचारो के लिए नये प्रत्यय बनाये गये है ।
(ग) बड़े, सामासिक, उच्चारण-क्लिष्ट शब्दों की अपेक्षा सरल शब्द अधिक उपयोगी होगे ।	१२ उच्चारण-दृष्टि से शब्द भारतीय मनीषा के अनुरूप बनाये गये है । कठोर और अटपटे व्यंजन छोड़ दिये गये हैं ।
(हिन्दी मे पारिभाषिक शब्दो का निर्माण, साहित्यिक-निबन्धावली . ले० राहुल साकृत्यायन, पृ० २१२–२१५ से अनुकूलित)	१३. ये शब्द पूरे भारत में उपयोग किये जा सकते है ।
	१४ प्राविधिक या पारिभाषिक शब्द सामान्य शब्दो के अनुपूरक हैं । अर्थात्, प्रचलित शब्दो को बदल डालने के लिए नही हैं । ('कम्प्रिहेन्सिव इंगलिश-हिन्दी-डिक्शनरी' मे प्रकाशित 'जेनरल प्रिंसिपुल्स ऑव इण्डियन टर्मिनोलॉजी' शीर्षक भूमिका, पृ० ४९–५१ से संक्षिप्त करके अनूदित एव उद्धृत)

इन सिद्धान्तों का विश्लेषण यही बताता है कि राहुलजी प्रचलित शब्दो को लेने के बारे मे बहुत अधिक और जोर देकर कह रहे हैं, जिसके समक्ष डॉ० रघुवीर का यह वाक्य रखा जा सकता है कि उनके शब्द सामान्य शब्दों के अनुपूरक है । बाकी बाते नये शब्द बनाने के विषय मे है । दोनो उन्हे सस्कृत से लेना बताते है, किन्तु डॉ० रघुवीर उनके विषय मे अधिक समझाते है, बल्कि उपयुक्त यह है कि उनका सम्पूर्ण सैद्धान्तिक कथन ही नये शब्दो के विषय मे है । तात्पर्य यही है कि जो शब्द प्रचलित है, उनको लेने या न लेने का प्रश्न ही नही है, वे तो लिये हुए है ही । हाँ, उनके प्रयोग को वैयक्तिक रुचि पर छोड़ा गया है । राहुलजी उनकी जगह नये संस्कृत-शब्द बनाने के विरुद्ध हैं । राहुलजी के निर्देशन मे तैयार की गई शब्दावली हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुई है ।

डॉ० रघुवीर को राहुलजी से अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ मिली और अपने कार्य के प्रति उनका लगाव भी अपेक्षया अधिक रहा और यह अपनी स्वाभाविक एवं तार्किक परिणति तक पहुँचा । 'कम्प्रिहेन्सिव इगलिश-हिन्दी-डिक्शनरी' इसका वर्त्तमान शीर्ष-बिन्दु है । इसके निर्माण मे भी बहुत सारे विशेषज्ञो का सहयोग रहा है, जिनके नाम 'कॉलेबॉरेटर्स' कहकर कोशारम्भ मे ही दे दिये गये है । वैसे, डॉ० रघुवीर के पुत्र डॉ० लोकेशचन्द्र का कहना है कि यह उनका 'पूरा' कार्य नही है । पूरे कार्य की शब्द-सख्या चार लाख है और 'विराट्' शब्दकोश नाम से वे उसे तैयार करने मे लगे हुए है, जो उनके

अनुसार, पिताजी (डॉ० रघुवीर) की सम्पूर्ण शब्दसृष्टि होगा। यों भी, हमारी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करने को 'कम्प्रिहेन्सिव' से भी बड़े कोश की वास्तविक आवश्यकता है।

विज्ञान के लिए लिखे गये लेख में राहुलजी ने परिभाषा के सम्बन्ध मे ये बातें बतलाई . "१. बहुजन के लिए सुगम और भविष्य के विद्यार्थियों की अँगरेजी-योग्यता की कमी के कारण हिन्दी के माध्यम से विज्ञान पढाना आवश्यक है। आज के अध्यापको को हटाने का सवाल नहीं है, संक्रान्तिकाल में परिभाषाएँ दोनों चल सकती है। विदेशी भाषाओ के बहिष्कार का सवाल नही है; क्योंकि विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कूपमण्डूक होना अहितकर है; २. पारिभाषिक शब्दो के निर्माण मे हमें न रघुवीर का रास्ता अपनाते हुए संस्कृत के अज्ञात और अप्रचलित शब्दो से उसका निर्माण करना होगा और न ही जवाहरलालजी के विचारानुसार आमफहम शब्दों से हम काम चला सकेंगे; क्योंकि परिभाषाएँ सारे भारत ही नही, बृहत्तर भारत को भी एक होने की दृष्टि से बनानी है। सभी भाषाओ के प्रतिनिधियों का इसके लिए समय-समय सम्मेलन या समिति बुलानी चाहिए। परिभाषाएँ संस्कृत में बनें, किन्तु सरल और सुपरिचित शब्दो की।" (राहुल-निबन्धावली, पृ० ४२५)

डॉ० रघुवीर की अधिकाश शब्दावली नये विज्ञानो मे प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओ, विचारो या भावों के लिए बनी है और इनके लिए शब्द हमारी भाषाओं में पहले से विद्यमान नही थे। प्रचलित शब्दों को सामान्य प्रयोग के लिए लिया जा सकता है, परन्तु विशिष्ट सन्दर्भ मे उन्हे पद्धतिबद्ध बने शब्दों के लिए अपनी जगह छोड़नी पड सकती है; क्योकि उतना भार उनसे सँभल नही पाता। डॉ० रघुवीर का तो यहाँतक प्रयास रहा है कि प्रचलित शब्दो के अलावा उन्होंने भारतीय शब्दो के लिए संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि के पुराने शब्दकोशो तक की बड़े पैमाने पर सूक्ष्मता से खोजबीन की है और उनसे उपयुक्त शब्द ग्रहण किये है। प्रचलित से उनका विरोध नही। किन्तु, राहुलजी द्वारा बनाई गई शब्दावली मे इतने अधिक अँगरेजी (या लातीनी) शब्द लिये गये हैं कि असली वैज्ञानिक लेखन को हिन्दी कहना असगत प्रतीत होता है। इसीलिए, राहुलजी के गजतित (गजेटेड) और अगजतित (नन-गजेटेड) नही चले, किन्तु रघुवीरजी के 'राजपत्रित' और 'अराजपत्रित' चल रहे है। 'अफसर' और 'अधिकारी' एक-दूसरे से द्वन्द्व में लगे है। प्रचलित टेलीफोन 'दूरभाष' के लिए स्थान छोडता जा रहा है। डॉ० रघुवीर भी तो कहते है कि परीक्षण करके देखना चाहिए कि हमारी भाषिक चेतना क्या स्वीकार करती है, क्या नही करती।

फलतः, मुझे ऐसा लगता है कि पारिभाषिक शब्दावली के बारे मे भी राहुलजी बहुत जल्दी में थे और उन्होने उतनी गहराई से विचार नही किया, जितनी गहराई तक डॉ० रघुवीर इस विषय मे उतरे। डॉ० रघुवीर आगे की सोच रहे थे, राहुलजी वर्त्तमान की ही। यह भेद दोनों की दृष्टियो में साफ झलकता है। •

△—'उत्तरगिरि', मकान-नं० ६६ के पास
डा० बल्लूपुर, देहरादून : २४८००१ (उ० प्र०)

पंजाब की पत्रकारिता का विकास[1]

△ श्रीकेशवानन्द ममगाईं

पंजाब की पत्रकारिता के विकास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि पंजाब मे उसका उद्भव आज से १०६ वर्ष पहले हुआ था। असल बात तो यह है कि आज का पंजाब आकार मे कम हो गया है। किन्तु, उसका पूर्वरूप देखे बिना पंजाब की पत्रकारिता का इतिहास सर्वथा अपूर्ण रहेगा। लाहौर पंजाब की राजधानी था। उर्दूभाषी प्रान्त होते हुए भी लाहौर हिन्दी का केन्द्रस्थल था। वास्तविकता यह है कि कलकत्ता की तरह लाहौर भी 'हिन्दी का उपनिवेश' था, जहाँ हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण था। आर्यसमाज एवं सनातनधर्म के प्रधान कार्यालय यहीं पर थे। हिन्दी को प्रोत्साहन देने मे आर्यसमाज का विशेष हाथ रहा। उसके नेता लाला लाजपतराय, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, महाशय कृष्ण, श्रीखुशहालचन्द, श्रीभीमसेन विद्यालंकार, लाला हंसराज आदि लाहौर मे ही रहते थे और आर्य-प्रतिनिधि-सभा, पंजाब की सभी गतिविधियाँ यहीं से चलती थी। आर्यसमाज मे हिन्दी का प्रचलन था। 'सत्यार्थप्रकाश' हिन्दी मे छपने लगा था। दयानन्द एँग्लो वैदिक संस्थाओं का माध्यम हिन्दी हो गया था। इधर राजर्षि टण्डन भी कुछ समय के लिए लाहौर आ गये थे। अनेक हिन्दी के विद्वान् एवं लेखक लाहौर मे जुट गये थे, जिन्होने हिन्दीसेवा को 'व्यवसाय' न समझकर मिशनरी भावना से अपनाया। उस समय हिन्दी-पत्र निकालना बड़े त्याग का काम था, जो आज के पत्रकारो के लिए प्रकाशस्तम्भ है और भावी पीढी को इससे प्रेरणा मिलती रहेगी।

सन् १८७५ ई० मे अमृतसर से सरदार सन्तोषसिंह के सम्पादकत्व मे 'सकल-सम्बोधिनी पत्रिका' छपने लगी, जो पाक्षिक थी। इसमे धर्म एव साहित्य से सम्बद्ध सामग्री रहती थी। सन् १८७७ ई० मे 'मित्रविलास' छपना शुरू हुआ, जो सन् १९०० ई० तक चलता रहा। सन् १८८२ ई० मे लाहौर से द्वैमासिक पत्र 'भारतेन्दु' निकला। यहीं से ही 'देशोपकारक' और रावलपिण्डी से 'सुखदायक सभा', 'भारत-दीपिका', 'भारतहितैषी', 'ब्रह्मवंश-समाचार', 'इन्दु' (सा०) आदि पत्र-पत्रिकाएँ सामने आई। 'इन्दु' के सम्पादक गोस्वामी ज्वालाप्रसाद थे। इसमे सामान्य समाचार तो होते ही थे, धार्मिक लेख भी स्थान पाते थे। गुडगाँव-फर्रुखनगर से 'जैनप्रकाश' सन् १८८४ ई० में निकला। यह एक उपयोगी पत्र था।

---

१. यह लेख डॉ० चन्द्रकान्ता सूद के शोध-प्रबन्ध 'पंजाब में हिन्दी-पत्रकारिता का उद्भव एवं विकास' (अप्रकाशित) की सहायता से लिखा गया है।—ले०

इन दिनो एक अच्छी पत्रिका लाहौर से निकली—'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका'। इसकी तीन सौ प्रतियाँ छपती थीं और इसके ग्राहको की संख्या १२५ थी।[१] श्रीनवीनचन्द्र राय इसका सम्पादन करते थे। शिक्षाप्रद रचनाएँ, ज्ञानवर्द्धक सामग्री और इतिहास, भूगोल, साहित्य एवं समाज-सुधार से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण लेख इसके अंग होते थे। इसमें चित्र भी दिये जाते थे।

सन् १८९० ई० मे 'पण्डितराज' एवं अगले वर्ष 'जैनप्रभाकर' मासिक पत्र निकले। सन् १८९३ ई० मे 'भारतसुधार' (प्र० श्रीसालिगराम अरोड़ा) निकला, जिसकी सम्पादिका थी हेमन्तकुमारी देवी। इसमे स्त्रीजाति-विषयक सामग्री रहती थी। स्त्री-जाति के समुत्थान की ओर इस पत्रिका ने अधिक बल दिया। 'नारीधर्म' के बारे में एक उदाहरण देना समीचीन रहेगा। लिखा है. "विद्या और धर्म में सुशिक्षिता होने से और जब उमर चौदह बरस से अधिक हो जाय, तब वे अपना वर आप ही पसन्द कर सकती हैं, परन्तु माता-पिता की सम्मति के विना ये विवाह नही कर सकती; क्योकि परिपक्व बुद्धि होने से माता-पिता इस विषय मे जैसी सुविवेचना कर सकते है, अपरिपक्व बुद्धिवाली कन्या वैसा नही कर सकती। तो इस विषय मे वह माता-पिता की आज्ञा की अवहेलना करके कुछ काल और कुमारी रह सकती है। १८ बरस से कन्या की उमर अधिक होने से वह अपनी इच्छा के अनुसार विवाह कर सकती हैं।"[२] (जून, १८९८ ई०, सं० ५)

लाहौर से ही 'भारतभगिनी' और 'सुगृहिणी' पत्र निकले। स्त्री-जाति से सम्बद्ध जो पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं, उनमे नारी-जाति का उत्थान एवं जागरण की भावना थी, जिससे स्पष्ट है कि समाज मे प्रगतिशीलता के अकुर निकलने लग गये थे। यही अंकुर बाद मे प्रगति एवं विकास के वटवृक्ष बने। इस दृष्टि से इन पत्रिकाओं का प्रशसनीय योगदान रहा है। इन पत्रिकाओ ने नारी-आन्दोलन मे नीव के पत्थर का काम किया। यह पत्र पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला हंसराज का समर्थक था। इसी वर्ष 'गुरमुखी अखबार' छपा। सम्पादक थे श्रीबूटा सिंह। दो वर्ष बाद अमृतसर से मासिक पत्र 'खद्योत' और सन् १८९६ ई० मे लाहौर से एक पाक्षिक पत्र 'ब्रह्मविद्या-प्रचारक' छपने लगा।

सन् १९०१ ई० के १५ अप्रैल से पंजाब की हिन्दी-पत्रकारिता में एक नया मोड़ आया, जब विशुद्ध हिन्दी मे 'पांचालपण्डिता' नाम की पत्रिका का उदय हुआ। यह कन्या-महाविद्यालय, जालन्धर की मुखपत्रिका थी। इसके २४ पृष्ठ होते थे। मासिक रूप में छपनेवाली इस पत्रिका का उद्देश्य नारी-समाज का कल्याण एवं उत्थान करना था। सम्पादक थे लाला देवराज। अपनी उपदेशात्मक कहानियो, पहेलियों और बालोपयोगी कविताओं के फलस्वरूप यह पत्रिका लोकप्रिय बन गई थी। नारी-जाति के जागरण के सम्बन्ध

१. रिपोर्ट ऑव नेटिव न्यूज् पेपर्स, पंजाब माइक्रोफिल्म्ड, रील-नं० ११, पृ० ७९५।
२. रिजिड ग्रोथ ऑव हिन्दी-जर्नलिज्म बाइ आर० आर० भटनागर, पृ० ७२०।

में ये विषय रहते थे : पहनावा, शिक्षा-दीक्षा, आचार-व्यवहार, पतिसेवा, स्त्री-व्याख्यान, माता के कर्त्तव्य, शिक्षित नारी, स्त्री-जगत् आदि। साहित्यिक सामग्री में विविधता होती थी। यात्राकथा, पौराणिक कथानायकों के जीवनचरित्र, निबन्ध, कविता, समालोचना, नीति-परक कहानियाँ, शोधपूर्ण रचनाएँ और जीवन-सम्बन्धी ज्ञानवर्द्धक लेख इस पत्रिका का महत्त्व बढ़ाते थे।

'पाचालपण्डिता' हिन्दी-भाषा तथा देवनागरी-लिपि का जोरदार समर्थन करती थी। विचारप्रधान इस पत्रिका मे सन् १९०६ ई० से विविध समाचार भी स्थान पाने लगे। इस पत्रिका को यह श्रेय प्राप्त है कि इससे अनेक नवयुवकों को लिखने की प्रेरणा मिली, जिनमें सर्वश्री **सन्तराम बी० ए०, पं० विष्णुदत्त लाला मुंशीलाल, म० आत्मानन्द, कु० गार्गीदेवी, सावित्रीदेवी, लज्जावती** और **सुवीरादेवी** प्रमुख है। **श्रीसन्तराम** तो हिन्दी के जाने-माने लेखक बने, जिन्होने पंजाब का नाम हिन्दी-साहित्य में ऊँचा किया। यह आर्यसमाज के राष्ट्रीय एवं सामाजिक आन्दोलन का समय था। इस पत्रिका ने समाज मे राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रशंसनीय भूमिका निबाही। भाषा-शैली की दृष्टि से भी 'पाचालपण्डिता' ने पर्याप्त यश अर्जित किया।

इसके साथ 'मन्थली सर्कुलर', 'स्वदेशबन्धु', 'सगीतामृतप्रवाह', 'भारतमित्र', 'क्षत्रियमित्र', 'रावी' और 'आयुर्वेद' लाहौर से निकले, जबकि सन् १९०८ ई० में **स्वामी मित्रसेन** ने वेदान्त-विषयक एक मासिक पत्रिका डस्का, जिला स्यालकोट से निकाली, जिसका नाम था 'प्रेमविलास'। लाहौर से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'आयुर्वेद' के सम्पादक थे **श्रीसरदारीलाल खत्री**।

सन् १९१४ ई० में 'ऊषा' नामक पत्रिका ने जन्म लिया जिसका वार्षिक शुल्क ढाई रुपये था। संचालन किया **श्रीधर्मपाल बी० ए०** ने। वह हिन्दू-धर्म मे दीक्षित हुए थे। उनका पूर्वनाम अब्दुल गफूर था। सम्पादन का कार्य किया **श्रीसन्तराम बी० ए०** ने, जो उन दिनो अपने नाम के साथ **'गोहिल'** भी लिखते थे। सन् १९१७ ई० में 'ऊषा' का पुनर्जन्म हुआ और सन् १९२२ ई० मे इसके सम्पादक **श्रीमाणिकलाल गुप्त** थे। इसका प्रकाशन जालन्धर से होता था। चालीस पृष्ठोंवाली इस पत्रिका का स्तर अच्छा था, इसी कारण देश के जाने-माने साहित्यकारों ने इसे भरपूर सहयोग दिया। इसके लेखको एवं कवियो मे प्रमुख थे : **पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रामावतार शर्मा, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय** आदि।

'चाँद' (**सं० चरणदास बी० ए०**) और 'देशोपकारक' (पा०) लाहौर की ही देन थे। 'अमृतधारा' औषध के निर्माता **पं० ठाकुरदत्त शर्मा** 'अमृतधारा' का सम्पादन करते थे। इसी तरह 'अमृत', 'आचार्य', 'आर्यप्रभा' आदि पत्र भी निकले। सन् १९१४ ई० मे फिरोजपुर से **'ऋग्वेदसंहिता'** छपने लगी, जो तीन वर्ष तक चली। कराची से 'विद्यार्थी-जीवन', लाहौर से **'वैद्यभूषण' (सं० धर्मदेव कविभूषण)** एवं **'वैद्यामृत' (सं० पं० बलदेव शर्मा)**,

मुलतान से 'हितकारी' और 'पटनामी समाचार' (मा०) तथा माण्टगोमरी से, 'वेदार्थदीपिका' (मा०) (सं० पं० आर्यमुनि) छपते थे। देवसमाजियों का पत्र था 'सेवक'(सं० श्रीदेवता सिंह), जो लाहौर से निकलता था।

सन् १९१८ ई० में 'आर्य' (सं० पण्डित भीमसेन विद्यालंकार) निकलता था। यह आर्य-प्रतिनिधि-सभा, पंजाब का मुखपत्र था। देश-विभाजन के बाद अम्बाला छावनी से यह फिर छपने लगा। सन् १९२० ई० मे गुजराँवाला से 'भावनामा', लाहौर से 'सेवकवन्धु' और 'सक्रान्तिफल' (मा०) फिरोजपुर से निकले।

कुछ दिनों के बाद, जालन्धर से 'भारती' छपने लगी। श्रीसन्तराम बी० ए० इसके सम्पादक थे। लाहौर से ही कु० विद्यावती सेठ ने 'ज्योति' का सम्पादन किया। यह युग ऐसा था, जब पंजाब मे पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई थी। सन् १९२२ ई० में लाहौर के कन्या-महाविद्यालय ने एक और पत्रिका 'जलविदसखा' निकाली। इसके दो वर्ष पूर्व पं० रुद्रदत्त दीक्षित ने वैजनाथ काँगड़ा से 'सम्राट्-विजय' पत्र का प्रकाशन किया। इसके अलावा, 'दर्पण', 'धर्मसखा', 'विधवा-सहायक', 'रिसाला निरंकारी', 'आकाशवाणी', 'युगान्तर' और 'वीरसन्देश' लाहौर से छपे। भिवानी से 'सावधान' एवं 'सन्देश' प्रकाशित हुए। इनके संचालक थे पं० नेकीराम शर्मा और सम्पादक थे पं० मदनशर्मा माधव। 'वीरसन्देश' के सम्पादक अजीतसिंह सत्यार्थी थे। सन् १९२४ ई० में लाहौर से श्रीखुशहाल-चन्द खुरसन्द ने 'आर्यगजट' का श्रीगणेश किया, जबकि श्रीसन्तराम बी० ए० ने 'जात-पाँत-तोड़क' का, जो 'जात-पाँत-तोड़क मण्डल' से सम्बद्ध था। सन् १९२५ ई० में पं० यज्ञदत्त विद्यालंकार ने लाहौर से साप्ताहिक पत्र 'प्रभात' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'आर्यगजट' का स्वामित्व आर्य प्रादेशिक सभा, पंजाब-सिन्ध-बिलोचिस्तान-लाहौर का था।

पुनः, रिवाड़ी से 'भक्ति' छपने लगी, जो सन् १९२६ से १९४१ ई० तक चली। इसकी सम्पादिका कु० सूरजदेवी प्रभाकर और गोदावरीदेवी विदुषी थीं। इसमें एकांकी, कविताएँ और साहित्य-समालोचनाएँ छपती थी। इसके 'गो-अंक', 'महात्मांक' और 'कुम्भांक' विशेष उपयोगी रहे। धर्म और नीति के अनेक लेख इसमें छपे थे। बत्तीस पृष्ठों की यह पत्रिका बन्द होकर फिर नहीं निकल पाई।

पंजाब का यह भाग पहले भी हरियाना के नाम से जाना जाता था। सन् १९०७ ई० मे हिसार से 'ज्ञानोदय' का प्रकाशन गुरु ब्रह्मानन्द अग्रोहा ने आरम्भ किया, जो आज भी नियमित रूप से निकल रहा है। सम्प्रति, इसके सम्पादक है पं० मनुदत्त शर्मा। पंजाब के पत्रों में इसका दूसरा स्थान रहा है।

पंजाब की पत्रकारिता में 'आकाशवाणी' पत्र का बड़ा महत्त्व है। अक्टूबर, १९२७ ई० में यह प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक थे श्रीधर्मवीर एम्० ए० और संरक्षक थे भाई परमानन्द। भाई परमानन्द हिन्दुत्व के पक्षधर और सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता-सेनानी थे।

'आकाशवाणी' मे १६ पृष्ठ होते थे। श्रीधर्मवीर अच्छे लेखक भी थे। उन्होने 'आकाशवाणी' को देशभक्ति एवं राष्ट्रवाद का सवाहक पत्र बनाया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस पत्र को अपना कृपा-सन्देश दिया था। इसके लेखको मे सर्वश्री सावरकर-बन्धु, कृष्णकान्त मालवीय, देवीप्रसाद गुप्त, सत्यदेव परिव्राजक, लाला हंसराज, प० बनारसीदास चतुर्वेदी, नोरा रिचार्ड और उदयशंकर भट्ट मुख्य थे। हिन्दीसेवा की दृष्टि से अतिशय लोकप्रिय पत्र 'आकाशवाणी' का योगदान भुलाया नही जा सकेगा।

राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता की भावना पंजाब के कण-कण मे व्याप्त थी। उस समय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन लाहौर मे ही थे। उन्होने सन् १९२९ ई० में लाला लाजपतराय की स्मृति मे 'पजाबकेसरी' साप्ताहिक पत्र आरम्भ किया। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी भगवतीचरण, सरदार भगतसिंह, सुखदेव आदि इस पत्र से सम्बद्ध थे। इस पत्र मे ही सर्वप्रथम बटुकेश्वर दत्त तथा भगतसिंह द्वारा एसेम्बली मे बम फेंकने की ऐतिहासिक घटना का रोमांचकारी समाचार छपा था। सन् १९२९ ई० मे लाहौर मे सम्पन्न कांगरेस के अधिवेशन के दिनो, इसमे प्रतिदिन का विवरण छपा करता था और यह कार्य पं० दीनदयालु शास्त्री करते थे। जवाहरलालजी के अपने हस्तलिखित लेख 'पजाबकेसरी' मे प्रकाशित हुए थे। इस पत्र का मुख्य उद्देश्य हिन्दी का प्रचार-प्रसार था। इसके सम्पादक थे पं० भीमसेन विद्यालंकार एवं श्रीअमरनाथ विद्यालंकार।

उसी अवधि मे लाहौर से 'हिन्दी-मिलाप' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके स्वामी थे म० खुशहालचन्द खुरसन्द। यह दैनिक पत्र था, जो आज भी विधिवत् निकल रहा है। उस समय श्रीसुदर्शन इसके सम्पादक थे। बाद मे श्रीरणवीर इसके मुख्य सम्पादक और श्रीयश सम्पादक बनाये गये। पहले इसके चार पृष्ठ होते थे और सन् १९४२ ई० के बाद छह पृष्ठ हो गये। 'हिन्दी-मिलाप' मे 'शिशु-संसार', 'महिला-ससार', 'चित्रलोक' (सिनेमा) और 'पुस्तक-परिचय' नामक स्तम्भ चलाये गये। यों, यह पत्र समाचारप्रधान था, किन्तु इसने महिलाओ मे जागरण का अच्छा काम किया। इसके पाठको मे स्त्रियो की संख्या अधिक थी; क्योकि उनमें हिन्दी का व्यावहारिक प्रचलन अधिक था। विख्यात कवि हरिकृष्ण प्रेमी, डॉ० जयनाथ 'नलिन' और श्रीसन्तराम बी० ए० 'हिन्दी-मिलाप' में उन दिनों काम करते थे। लाहौर मे श्रीनलिन का हिन्दी-पत्रकारिता से अत्यन्त निकट सम्पर्क रहा। देश-विभाजन के बाद वह प्राध्यापक बन गये।

'जन्मभूमि' नामक दैनिक पत्र का प्रारम्भ सन् १९३० ई० के मार्च मे हुआ। श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार इसका सम्पादन करते थे। इसकी तीन हजार प्रतियाँ छपती थी, जिनमे आधी ही बिक पाती थी। प्रभावशाली समाचार और अच्छी रोचक सामग्री इसकी विशेषता थी। इसी क्रम मे सन् १९३० ई० मे ही श्रीमती शन्नो देवी ने 'शक्ति' नामक दैनिक को प्रथम प्रकाश दिया। इसको सहयोगी रूप मे योग्य लेखक मिले, जिनमे श्रीमोहनसिंह सेंगर, श्रीजयनाथ 'नलिन', श्रीसुरेन्द्र शर्मा, श्रीइन्द्रनाथ आनन्द आदि के नाम विशेष

उल्लेख्य है। सन् १९३८ ई० में, **श्रीनलिन** ने इसके सम्पादन का कार्यभार सँभाला। इनके सम्पादन मे सहयोगी हुए **श्रीउपेन्द्रनाथ 'अश्क'**। इसके लेखकों मे **महादेवी वर्मा, रमाशंकर मिश्र, मदनगोपाल सिंहल, म० तेगराम, विश्वम्भरसहाय प्रेमी, रामनरेश मिश्र, रायकृष्णदास, भँवरलाल सिंघी, श्रीमती रामेश्वरी देवी चकोरी** आदि के नाम उल्लेख्य हैं। इसके विशेषाक विशेष सामग्री से पूर्ण होते थे और उनकी साज-सज्जा भी अच्छी होती थी। इस पत्र का उद्देश्य जहाँ नारी-जागरण था, वहाँ नवलेखन को भी प्रोत्साहन देना था। सामान्य वर्ग के लिए भी यह पत्र उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता था। राष्ट्रीयता के स्वर को मुखर करने के कारण इसपर सरकार की कोपदृष्टि स्वाभाविक थी। फलत, इसपर अनेक प्रहार किये गये, पर इसने हिन्दी-प्रचार और समाज-सुधार का उद्देश्य कभी नही त्यागा। इस पत्र को **महामना मदनमोहन मालवीयजी** का वरद हस्त प्राप्त था।

सन् १९३६ ई० मे प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता तथा दैनिक 'उर्दू-प्रताप' के सम्पादक **महाशय कृष्ण** ने 'प्रभात' नाम से दैनिक पत्र प्रारम्भ किया। **महाशयजी** के सुपुत्र **श्रीवीरेन्द्र** ने इसके लिए बड़ा श्रम किया और कानपुर के **श्रीछैलबिहारी कण्टक** को इस पत्र का सम्पादक बनाया। राष्ट्रीय आन्दोलन का पक्षधर होने के परिणामस्वरूप यह सरकार की आँखों मे चुभने लगा, जिससे तीन सप्ताह के भीतर ही बन्द हो गया। इस सम्बन्ध मे अपने लेख[1] मे **श्री वी० पी० माधव** ने लिखा है · "वीरेन्द्रजी स्वयं तरुण थे, कण्टकजी की युवा लेखनी आग बरसाती थी। 'प्रभात' के सम्पादकीय विभाग मे तेजस्वी क्रान्तिकारी **डॉ० रमाशंकर मिश्र** भी मौजूद थे। सब मिलाकर 'प्रभात' की नसो में रक्त उबलता नही, खौलता था। पंजाब-सरकार की आँखो में उसका चौथे दिनवाला अग्रलेख 'नौजवानों के नाम वारण्ट' ही चुभ गया। लेख मे नौजवानो को बिहार के भयंकर भूकम्प मे सेवा के लिए ललकारा गया था, परन्तु सरकार के लिए 'अन्धी' और 'बहरी की सज्ञा सामान्य हो चुकी थी। सत्ताइसवे दिन **कण्टकजी** पंजाब से निकाले गये और 'प्रभात' के लिए सन्ध्या हो गई।"

सन् १९३३ ई० में 'विश्वबन्धु' साप्ताहिक का प्रकाशन सनातनधर्म के नेता **गोस्वामी गणेशदत्त** ने लाहौर से किया। ऐसा उन्होंने **महामना मालवीयजी** के आदेश से किया था। पत्र का उद्देश्य सनातनधर्म के सार्वभौम स्वरूप को उजागर करना तथा हरिजनों को देव-दर्शन का अधिकार दिलाना था। सम्पादन का गुरु भार डाला गया सुयोग्य पत्रकार **श्रीभगवतीप्रसाद माधव (बी० पी० माधव)** के सबल कन्धों पर। पत्र पर उसका आदर्श-वाक्य 'सर्वभूतहिते रत' लिखा होता था। राष्ट्र एव समाज और हिन्दी की सेवा करने में इस पत्र ने कोई कसर नही छोड़ी। इसे सुप्रसिद्ध लेखकों का सहयोग मिला। सर्वश्री **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जयनाथ नलिन, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, रामकृष्ण भारती, अज्ञेय, चिरंजीत, हरिकृष्ण प्रेमी** और **राणा जंगबहादुर** जैसे अग्रणी साहित्यकारों की रचनाएँ 'विश्वबन्धु' मे बराबर छपती रहती थी।

---

१. **हिन्दी-पत्रकारिता : विविध आयाम : सं० वेदप्रताप वैदिक, पृ० २२३।**

सन् १९४२ ई० मे 'विश्वबन्धु' दैनिक हो गया। १३ अगस्त, १९४७ ई० (बन्द होने) तक यह इसी रूप मे निकलता रहा। श्रीमाधव के ही शब्दो मे, 'इस दैनिक ने साहित्यिक सामग्री के साथ ही साहित्यकारो को सामने लाने की दिशा मे विशेष काम किया।' इस भाग्यशाली पत्र मे लेखनी के धनी श्रीजयनाथ 'नलिन', श्रीजमनादास अख्तर, श्रीप्राणनाथ सेठ, श्रीजगन्नाथ प्रभाकर, श्रीमदनमोहन गोस्वामी, बटुक आदि ने काम किया। इसमे 'बाँकी-तिरछी' शीर्षक हास्य-व्यंग्य का दैनिक स्तम्भ श्रीनलिन लिखा करते थे।

मार्च, १९३२ से अगस्त, १९३५ ई० तक 'युगान्तर' ने अपनी अच्छी धाक जमाई। यह 'जात-पाँत-तोड़क मण्डल' का मुखपत्र था। श्रीसन्तराम बी० ए० का योग्य सम्पादकत्व इसे प्राप्त हुआ। सर्वश्री चतुरसेन शास्त्री, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, सोहनलाल द्विवेदी, गोपालसिंह नेपाली, धुरेन्द्र शास्त्री, उदयशंकर भट्ट, सत्यदेव परिव्राजक आदि अनेक शीर्षस्थ साहित्यकार अपनी रचनाओ से इसे उपादेय बनाते थे। श्रीसन्तराम की सम्पादकीय टिप्पणियो मे खूब खरी-खरी बातें होती थी। मद्य-निषेध के विरुद्ध भी 'युगान्तर' ने आन्दोलन चलाया।

हिन्दी-पत्रकारिता को दिशा देने मे आर्यसमाज मे दीक्षित गुरुकुल के स्नातको का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पं० भीमसेन विद्यालंकार गुरुकुल के स्नातक थे। उन्होने लाहौर से 'हिन्दी-सन्देश' का समारम्भ किया। इसका उद्देश्य हिन्दी-प्रचार था। इसलिए, इसपर अकित रहता था . 'हिन्दी भारतीय राष्ट्रीयता का मूल मन्त्र है।' इसके लगभग अस्सी पृष्ठ होते थे। डाक-विभाग मे हिन्दी का प्रचलन हो, इसी उद्देश्य से 'हिन्दी-सन्देश' ने निश्चय किया कि उसके ग्राहको और नगरो के नाम देवनागरी-अक्षरो में ही लिखे जायेंगे। इसके दूसरे अक मे हिन्दी की अनेक समस्याओ से सम्बद्ध लेख प्रकाशित हुए। 'ट्रिब्यून' ने १३ जनवरी, सन् १९३३ ई० के अक मे इसकी प्रशसा मे लिखा था: " 'हिन्दी-सन्देश' सुरुचिपूर्ण और उपयोगी पत्र है. ।" इसी प्रकार, पूना के 'केसरी' ने भी इसकी प्रशसा मे लम्बी टिप्पणी दी थी। मई, १९३४ ई० के बाद इसका नाम 'अलकार' हो गया। इसे आचार्य देवशर्मा 'अभय' ने चलाया था। इस पत्र के, आर्ट पेपर पर मुद्रित होनेवाले मुखपृष्ठ पर ज्ञान का प्रतीक सूर्य अंकित रहता था। वेदवाणी का प्रचार, भारतीय सस्कृति का उत्थान, राष्ट्रीयता की प्रेरणा, हिन्दीसेवा आदि इसके उद्देश्य थे। गान्धीजी के सत्याग्रह के बारे मे यह प्रचुर सामग्री देता था। विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से 'अलंकार' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। पजाब-सरकार ने एक लेख को आपत्तिजनक मानकर इससे जमानत माँगी। उसके बाद यह बन्द हो गया।

इस प्रकार, पत्र शुरू होते, और कुछ समय चलकर बन्द हो जाते, किन्तु पत्रकारो का जोश ठण्डा नही पड़ा। इसी क्रम मे सन् १९३४ ई० की फरवरी मे 'भारती' सामने आई। इसके सम्पादक थे श्रीजगन्नाथप्रसाद मिलिन्द और श्रीहरिकृष्ण प्रेमी। इसे हिन्दी के शीर्षस्थ साहित्यकारो की लेखनी का जितना सहयोग मिला, उतना किसी पत्र को कदाचित् कम मिला करता है। केवल सात मास की आयुवाली इस पत्रिका ने अच्छी लोकप्रियता

अर्जित कर ली थी। साहित्यिक महत्त्व के लेख इसका मूल्य बढ़ाते थे। राजनीतिक सामग्री भी इसमें दी जाती थी। हास्य-व्यंग्य का स्तम्भ 'दुबेजी की डायरी' के नाम से प्रकाशित होता था।

इसी क्रम में 'आर्य' (मासिक) लाहौर से ही निकला। श्रीप्रियव्रत वेदवाचस्पति इसके सम्पादक थे। आर्यसमाज के प्रचार के साथ-साथ समाज-सुधार एवं स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रसार भी इसका उद्देश्य था। इसने पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का घोर विरोध किया। इसी अवधि मे 'बलिदान' नामक पत्र का प्रकाशन होने लगा। पं० सत्यकाम विद्यालंकार और श्रीभीमसेन वर्मा इसका सम्पादन करते थे। सन् १९३५-३६ ई० में 'दीपक' प्रकाशित हुआ, जिसके सम्पादक थे श्रीतेगराम विशारद और संचालक स्वामी केशवानन्द थे। इस ग्रामोपयोगी पत्र में नागार्जुन ने सम्पादक का कर्त्तव्य निबाहा। सन् १९४० ई० में 'आर्यजगत्' का प्रकाशन आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने आरम्भ किया, जिसके सम्पादक थे श्रीदीवानचन्द शर्मा एम्० ए०। शर्माजी शिक्षाविद् थे और बाद मे आगरा-विश्वविद्यालय के उपकुलपति (वर्त्तमान पदनाम कुलपति) बने। इसमें शिक्षा-सम्बन्धी लेखों की अधिकता सम्पादक की रुचि का स्वाभाविक परिणाम था।

पंजाब मे. इस काल की पत्रकारिता ने अनेक दिशाओं मे मील के पत्थर का काम किया। देश-विभाजन के बाद और विशेषकर हिन्दी के राष्ट्रभाषा घोषित होने के बाद हजारो लोग हिन्दी पढ़ने लगे। पंजाब-विश्वविद्यालय की रत्न, भूषण और प्रभाकर की परीक्षाओ मे प्रतिवर्ष सहस्रो छात्र बैठने लगे, जिससे हिन्दी का एक अच्छा-खासा पाठकवर्ग तैयार हो गया। विभाजन के परिणामस्वरूप पूर्वी पंजाब-सरकार के कार्यालय शिमला आ गये। सरकार के प्रचार-विभाग की ओर से 'प्रदीप' पत्र निकाला गया, जिसके सम्पादक थे एल्० आर्० नायर और रजनी नायर। यह सचित्र पत्र आर्ट पेपर पर छपता था। पंजाब में लेखकों को पारिश्रमिक देने का काम सम्भवतः 'प्रदीप' ने ही आरम्भ किया। इस अवधि मे 'प्रकाश' (जालन्धर : सन् १९४८ ई०), 'आयुर्वेद-समाचार' (अमृत-सर : सन् १९४६ ई०) और 'खेल-खिलौना' (खरड़ : सन् १९४८ ई०) नामक पत्र निकले। इसी क्रम मे पंजाब के हिन्दी-क्षेत्र से 'हरियाणा-सन्देश', 'रँगीला मुसाफिर', 'मातृभूमि', 'सुनहरी भारत', 'आदर्श भारत', 'हरियाणा-समाचार', 'वक्त की आवाज', 'गौतमवाणी', 'आनन्दभूमि', 'नारी-कल्याण', 'नारनौल-पत्रिका', 'भृगुसंहिता', 'हरिजन-पुकार', 'इन्द्रनील', 'रंगनाथ', 'शिक्षा-समाचार', 'कान्तयुग' (द्वि० भा०), 'युवकवाणी', 'पैगाम-ए-वतन', 'इण्डियन डॉक्टर', 'गरीबी गदा' आदि छपने लगे। पं० भीमसेन विद्यालंकार ने 'हिन्दी-सन्देश' को अम्बाला छावनी से पुनर्जीवित किया। किन्तु; कदाचित् एक दशक तक बड़ी कठिनाई से चलकर यह फिर बन्द हो गया।

पंजाबी क्षेत्र से ही 'अधिवेत्ता', 'आर्यजगत्', 'आर्यसंस्कार', 'हाकर', 'मित्रलाभ', 'पायलट', 'विद्यार्थी-जगत्', 'फिल्मिस्तान', 'पंजाब-सन्देश', 'प्रेम', 'आर्यवीर', 'अनुशीलन',

'शोभा', 'कागज के फूल', 'विश्वज्ञान', 'नया साहित्य', 'खेती-बारी', 'जीवनपथ', 'ईश्वर-प्राप्ति' आदि पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुई ।

पंजाब की पत्रकारिता मे एक नया अध्याय उस समय जुड़ा, जिस समय सन् १९५२ ई० मे 'विश्वज्योति' मासिक पत्रिका साधु-आश्रम, होशियारपुर से निकलने लगी। सम्कृति, साहित्य एवं समाजप्रधान यह पत्रिका आज नियमित रूप से निकलनेवाली स्तरीय पत्रिका है। **श्रीसन्तराम बी० ए०** इसके सम्पादक-मण्डल के मुखिया हैं। शोधपूर्ण लेख इसकी विशेषता हैं। अलबत्ता, वैविध्यपूर्ण सामग्री का समावेश भी इसमे रहता है।

पंजाब-सरकार के लोकसम्पर्क-विभाग की ओर से 'जागृति' मासिक पत्रिका का प्रादुर्भाव हुआ। पहले मॉडल टाउन, अम्वाला से इसका प्रकाशन होता था और **श्रीमदन-मोहन गोस्वामी** इसके सम्पादक थे। इसमे पंजाब की लोक-संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि विभिन्न विषयो पर आधिकारिक लेखकों की रचनाएँ छपती थी। सर्वश्री **आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, शैलेश मटियानी, प्रो० ओमप्रकाश कहोल** आदि प्रसिद्ध साहित्यकारो को इस पत्रिका ने अपना लेखक वनाया। यह सचित्र सरकारी पत्रिका उपयोगी और स्तरीय थी। सरकारी दृष्टिकोण, कारगुजारी एव विविध सामग्री का समीचीन सन्तुलन सम्पादक की कुशलता एव योग्यता का प्रतीक था। पजाव से हरियाना के अलग हो जाने के बाद 'जागृति' पंजाव की सूचना एव पर्यटन-विभाग की पत्रिका वनी रही। आजकल इसके सम्पादक **ब्रह्मदेव** मल्ला है। यह पत्रिका वहुत दूर तक अपनी परम्परा बनाये हुई है। सन् १९५४ ई० मे पेप्सू के पजावी-विभाग ने 'सप्तसिन्धु' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया था। पहले इसके सम्पादक **सरदार लालसिंह** थे। फरवरी, १९५४ ई० मे इसका प्रथम अक छपा। यह एक प्रशंसनीय प्रयास था। इसने पंजाब एवं पेप्सू मे हिन्दी-प्रचार का काम किया। बाद मे, यह पजावी भाषा-विभाग की पत्रिका हो गई। निस्सन्देह, इससे हिन्दी-लेखको को प्रोत्साहन मिला। कुछ वर्षों तक **श्रीत्रिलोकीनाथ 'रजन'** इसके सम्पादक रहे। अनेक विषयो पर इसके विशेषाक भी निकाले गये। सन् १९६० ई० मे प्रकाशित 'जनसाहित्य' मे सर्जनात्मक एव 'सप्तसिन्धु' मे आलोचनात्मक लेख छपने लगे। आज पजाब-सरकार का भाषा-विभाग 'पजाव-सौरभ' नामक पत्रिका प्रकाशित करता है। 'जनसाहित्य' तथा 'सप्तसिन्धु' पत्रिकाएँ हरियाना मे १४ वर्ष जीवित रहने के वाद उस समय कालकवलित हो गई, जिस समय भाषा-विभाग का स्थान साहित्य-अकादमी ने ले लिया। 'सप्तसिन्धु' एवं 'जनसाहित्य' ने अपनी उपादेयता से पंजाव मे अपना लोकप्रिय स्थान वना लिया था।

सन् १९५७ ई० मे 'रेखा' त्रैमासिक पत्रिका निकली। **डॉ० सरनदास भनोत** इसके सम्पादक थे। यह पत्रिका पंजाव-हिन्दी-साहित्य-अकादमी, जालन्धर ने आरम्भ की थी। साठ पृष्ठोवाली 'रेखा' मे रेडियो-नाटक, रूपक, कविताएँ, शोधपरक लेख और अनूदित रचनाएँ छपती थी। बाद मे यह वन्द हो गई।

चण्डीगढ से 'निर्झर' एवं 'अभिव्यक्ति' पत्रिकाएँ निकली। साहित्यिक दृष्टि से इनका उल्लेखनीय योगदान रहा है। इन लघु पत्रिकाओ का प्रकाशन चण्डीगढ के कुछेक उत्साही नवयुवक साहित्यकारों ने प्रारम्भ किया था। इन दिनों, 'वीर प्रताप', 'हिन्दी-मिलाप' और 'पजाबकेसरी' ये तीन पत्र छप रहे है। 'हिन्दी-मिलाप' ने सन् १९४९ ई० के २३ सितम्बर को पुनर्जन्म लिया। इसका सम्पादन कभी **श्रीरणबीर** और कभी **श्रीयश** करते है। मूलतः, श्रीयश ही इसके सम्पादक है। 'हिन्दी-मिलाप' कॉंगरेस-पार्टी का समर्थक पत्र है। अविभाजित पंजाब मे और बाद मे भी इस पत्र ने हिन्दी-प्रचार-प्रसार मे अच्छी भूमिका निबाही है। **फिक्र तौंसवी** के 'प्याज के छिलके' इसका जनप्रिय स्तम्भ रहा है।

२६ जनवरी, १९५५ ई० से **महाशय कृष्ण** ने 'वीर अर्जुन' का प्रकाशन शुरू किया। कालान्तर मे यह पत्र 'वीर प्रताप' के नाम से छपने लगा। **श्रीवीरेन्द्र** इसके संस्थापक-सम्पादक है। उनके पिता **महाशय कृष्ण** पंजाब की पत्रकारिता के भीष्मपितामह कहे जाते थे। उनके सम्पादकीय पढ़ने के लिए पाठक उत्सुक रहते थे। पंजाब मे हिन्दी को लोकप्रिय बनाने और नवोदित लेखकों को प्रोत्साहित करने का श्रेय इस दैनिक को ही प्राप्त है। नवाकुरो को प्रकाश में लाने के रचनात्मक कार्य द्वारा 'वीर प्रताप' ने हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र मे श्लाघनीय और अविस्मरणीत योगदान किया है।

सन् १९६५ ई० मे **लाला जगतनारायण** ने 'पंजाबकेसरी' आरम्भ किया। **श्रीरमेशचन्द्र** इसके सम्पादक है। आज प्रसार-संख्या की दृष्टि से इस पत्र ने चमत्कार ही कर दिया है। दो लाख से अधिक छपनेवाला यह दैनिक उत्तराचल का प्रमुखतम पत्र है। दिल्ली से देहरादून तक पढा जानेवाला यह दैनिक पजाब की पत्रकारिता के लिए गौरव है। स्वच्छता, चित्रमयता और वैविध्यपूर्ण सामग्री 'पजाबकेसरी' की अपनी विशेषता है। अद्यतन तकनीकी सुविधाओ से सम्पन्न इस पत्र ने अनेक राष्ट्रीय पत्रों को भी पीछे छोड़ दिया है। सप्ताह मे इसके चार सस्करण विशेष पठनीय होते है। चुटीले समाचारो से इसको काफी लोकप्रियता मिली है। अपेक्षाकृत यह निष्पक्ष दैनिक है। पजाब के भूतपूर्व शिक्षामन्त्री **लाला जगतनारायण** के अग्रलेख इसमे पढने को मिलते है। कहानी, कला, धर्म, साहित्य एव सस्कृति-सम्बन्धी संस्करणो द्वारा यह उन विषयो की खूब सेवा कर रहा है।

वर्षो पहले जालन्धर से ही 'जनप्रदीप' नामक दैनिक निकला था, जो एक दल-विशेष का समर्थक पत्र था, किन्तु वह पजाब के हिन्दी-पाठको को आकृष्ट नही कर सका और सन् १९७० ई० मे बन्द हो गया। यों, आज भी पंजाब के विभिन्न नगरो से कई साप्ताहिक पत्र निकल रहे है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि पजाब की हिन्दी-पत्रकारिता को अनेक सकटो से जूझना पडा है, किन्तु इस बात की प्रशंसा की जानी चाहिए कि उसने पत्रकारिता के मानदण्ड को ऊँचा उठाया है। ••

१०६।१२, निकट मकबरा, कुरुक्षेत्र : १३२ ११८

पाठानुसन्धान की विधियाँ

डॉ० सियाराम तिवारी

पाठानुसन्धान की विधियाँ बीसवी शती मे आकर स्पष्ट हुई है। इसके पहले जो पाठानुसन्धान होता था, उसमे कोई सुस्पष्ट विधि नही अपनाई जाती थी। सम्पादक सबसे अच्छी हस्तलिखित प्रति की खोज मे रहता था और ऐसी प्रति के प्राप्त होने पर वह उसमें मनमाना सशोधन कर डालता था। न तो वह सम्बद्ध प्रति की शुद्धि-अशुद्धि की परीक्षा करता था और न अपने संशोधनों को किन्ही सिद्धान्तो पर आश्रित ही। इसीलिए, ऐसे सम्पादनो अथवा संशोधनो को 'विवेकाश्रित संशोधन' की संज्ञा दी गई है। वस्तुत, इस प्रकार के सम्पादित ग्रन्थ भी किसी प्रतिलिपिकार के हस्तलेख के ही समान होते है। प्रतिलिपिकार द्वारा तैयार की हुई प्रति से ऐसे सम्पादित ग्रन्थो का महत्त्व किसी प्रकार भी अधिक नही होता। सच पूछा जाय, तो इस प्रकार के सम्पादक मूलत. प्रतिलिपिकार ही होते हैं। ऐसी प्रति का वैज्ञानिक पाठानुसन्धान मे हस्तलिखित प्रतियो के समान ही उपयोग होता है। खड्गविलास प्रेस, पटना से संवत् १९५५ वि० मे 'रामचरितमानस' का ऐसा ही एक संस्करण 'रामायणपरिचर्यापरिशिष्ट-प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसका उपयोग पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने काशिराज-संस्करण के सम्पादन मे किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'रामचरितमानस' के सम्पादन मे कोदवराम की प्रति का उपयोग किया है, जो वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई से मुद्रित है। डॉ० गुप्त ने इस प्रति का जो विवरण दिया है,[1] उससे यह विवेकाश्रित संशोधन अथवा सम्पादन का आदर्श सिद्ध होती है।

पाठानुसन्धान के अबतक के सारे प्रयासो के पर्यवेक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि इसकी मुख्य पाँच विधियाँ, है: १. अनुदारवादी, २. उदारवादी, ३. मिश्रित अथवा वैज्ञानिक, ४. साहित्यिक और ५ संकलनवादी। यहाँ क्रमशः प्रत्येक विधि का विवेचन उपन्यस्त है।

१. अनुदारवादी : पाठानुसन्धान की अनुदारवादी विधि के निम्नाकित लक्षण बताये जाते हैं :

(क) प्रथम, पाठो से खीच-तानकर अर्थ निकालते है और वह अर्थ ऐसा भी होता है, जो न तो पाठ के शब्दो से निकलता है और न ही उस अर्थ का सन्दर्भ से कोई सम्बन्ध

---

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : तुलसी-ग्रन्थावली, भाग १, खण्ड १ (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, सन् १९४९ ई०), पृ० ४-५।

होता है।[१] (ख) द्वितीय, पाठ-सुधार की अपेक्षा पाठ की व्याख्या को अधिक महत्त्व दिया जाता है।[२] (ग) तृतीय, सन्दिग्ध पाठ को सुधारने की अपेक्षा उसे उसी रूप में रहने देना अधिक अच्छा है, क्योंकि यदि वह मूल नहीं भी है, तो मूल का अवशेष तो है ही। यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधृत है कि पाठानुसन्धाता की बुद्धि के अनुसार, संशोधित पाठ की अपेक्षा सन्दिग्ध पाठ ही मौलिक कहे जाने योग्य हो सकता है।[३]

अब इन लक्षणों के औचित्य-अनौचित्य पर विचार अपेक्षित है। जहाँतक प्रथम लक्षण का प्रश्न है, तदनुसार कभी-कभी हम ऐसा भी अर्थ निकाल ले सकते हैं, जो मूल लेखक को कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। यही नहीं, इसके आग्रह के कारण कभी-कभी हास्यास्पद अर्थ भी निकाल लिया जाता है। इसका एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण **डॉ० देवराज उपाध्याय** ने अपने 'पाठ-संशोधन की समस्या' शीर्षक निबन्ध[४] में दिया है। शेक्सपियर के नाटक 'किंग हेनरी दि फिफ्थ' (सन् १६२३ ई० का संस्करण) के अंक २, दृश्य ३ में एक स्थान पर यह शब्दावली आई है : 'ऐण्ड ए टेबुल ऑव ग्रीन फील्ड्स।' किन्तु, ये शब्द सन् १६०० ई० या सन् १६०८ ई० के संस्करण में नहीं पाये जाते, जब **शेक्सपियर** (सन् १५६४–१६१६ ई०) जीवित थे। पोप ने इसका रहस्योद्घाटन किया कि यह शब्दावली जहाँ आई है, वहाँ एक आपानक-गृह ('टैवर्न') का दृश्य है। अभिनय के लिए वहाँ एक टेबुल लाने की जरूरत थी। ग्रीनफील्ड शायद उस व्यक्ति या कम्पनी का नाम था, जो नाटक-गृहों के लिए टेबुल इत्यादि की व्यवस्था करता था। यही बात निर्देशक ने स्टेज सजाने के लिए 'स्क्रिप्ट' में नोट कर रखी थी, जिसे सम्पादक ने मूल में मिला दिया। इस विकृत पाठ को सुधारने की अपेक्षा इसके अर्थ निकालने के जो प्रयत्न हुए हैं, वे बड़े मनोरंजक हैं। यथासन्दर्भित लेख में वे देखे जा सकते हैं।

इससे स्पष्ट है कि पाठ-सुधार की अपेक्षा पाठ की व्याख्या करने का आग्रह कभी-कभी हास्यास्पद भी सिद्ध हो सकता है। यही कारण है कि **डॉ० एस्० एम्० कात्रे** ने इसे अनुदार विधि के पाठानुसन्धाताओं की सबसे बड़ी दुर्बलता मानते हुए दृढतापूर्वक कहा है कि यह प्रणाली अपूर्ण है; क्योंकि इसमें हम अपने और दूसरे पर सन्दिग्ध तथा भ्रामक पाठों को लादते है।[५]

---

१. डॉ० एस्० एम्० कात्रे, इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म (बम्बई, सन् १९४१ ई०), पृ० ६८।
२. उपरिवत्, पृ० ६९।
३. उपरिवत्, पृ० ७३।
४. डॉ० देवराज उपाध्याय : साहित्य एवं शोध : कुछ समस्याएँ (जयपुर, सन् १९७० ई०), पृ० १९४–२००।
५. डॉ० एस्० एम्० कात्रे : इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म (बम्बई, सन् १९४१ ई०), पृ० ६८-६९।

२. उदारवादी इस विधि की दो-एक विशेषताएँ है ' (क) प्रथम विशेषता मे, व्याख्या के आधार पर पाठ-निर्धारण करने की अपेक्षा उसमे संशोधन करना अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।[१] इस प्रणाली का मूल तथ्य होता है कि व्याख्या को संशोधन का अनुगामी होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सन्दिग्ध पाठ को ज्यों-का-त्यों छोड़, उसकी व्याख्या, अर्थात् खीचतान करके उससे कुछ अर्थ निकाल लेने के प्रयत्न की अपेक्षा सन्दिग्ध पाठ मे संशोधन कर उसकी व्याख्या करना अधिक उपयुक्त है।

(ख) द्वितीय विशेषता मे, पाठालोचक अनुमान के आधार पर पाठ-सुधार को प्राधान्य देते है।[२] इस विशेषता का मूल तथ्य यह होता है कि विकृत अथवा सन्दिग्ध पाठ की अपेक्षा आनुमानिक पाठ श्रेयस्कर होता है। कारण, जब यह निश्चित हो गया है कि कोई पाठ सन्दिग्ध है, तब युक्तियुक्त अनुमान के आधार पर वहाँ दूसरा पाठ रख देना ही उचित है। ऐसे पाठ की अपेक्षा, जो मूल लेखक द्वारा लिखा ही न गया होता, उस पाठ को रखना अधिक अच्छा है, जो मूल लेखक द्वारा लिखा जा सकता था।

अनुदारवादी और उदारवादी, दोनो विधियाँ अतिवादी है। जिस प्रकार अनुदारवादियो का सशोधन न करके का प्रण दुराग्रह है, उसी प्रकार उदारवादियों की सशोधन के लिए तत्परता भी उत्साहातिरेक मे ही परिगणनीय है। यही कारण है कि इन दोनो विधियो के मिश्रित रूप की बात कही गई है, जिसके लक्षणो को निर्धारित करने का प्रयास अपेक्षित है।

३. **मिश्रित अथवा वैज्ञानिक विधि :** हिन्दी-पाठानुसन्धान के क्षेत्र मे, दो विधियो के सम्बन्ध मे बड़ा विवाद हुआ है, जिनमे एक को साहित्यिक तथा दूसरे को वैज्ञानिक नाम दिया गया है। वैज्ञानिक विधि से उनका तात्पर्य इसी अनुदारवादी और उदारवादी विधियो के मिश्रित रूप से है।

मिश्रित अथवा वैज्ञानिक विधि में प्रतिलिपियो का आधार ग्रहण किया जाता है अवश्य, किन्तु प्रतिलिपियो के साक्ष्य से यदि ऐसा पाठ मिल रहा है, जो अर्थ की दृष्टि से सगत नही है, तो उसका सुधार भी किया जाता है। यह संशोधन भी मनमाना नही होता, अपितु लेख तथा विषय की अनुसंगति पर पर्याप्त ध्यान रखकर ही किया जाता है।

डॉ० कात्रे ने मिश्रित विधि को इस प्रकार उपस्थापित किया है : "पाठालोचन-शास्त्र की इन दो परा कोटिवाली (अनुदारवादी और उदारवादी) प्रणालियों के बीच के तत्त्वो के आधार पर हम एक ऐसे यथार्थ पाठ का निर्धारण कर सकेंगे, जो न तो प्राचीननावादी का पाठ होगा और न आधुनिक पाठालोचन का, वरन् दोनो प्रणालियो के तत्त्वो के

१ डॉ० एस्० एम्० कात्रे : इण्ट्रोडक्शन ट इण्डियन टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म (बम्बई, सन् १९४१ ई०), पृ० ६९।

२. उपरिवत्, पृ० ७३।

समन्वय के आधार पर निर्धारित पाठ होगा। इस प्रकार, जब पाठ का निर्धारण सोद्देश्य किया जाता है, तब वह पाठ अल्पाधिक रूप मे, आन्तरिक सम्भावनाओ की अपेक्षा प्रलेखात्मक सम्भावनाओ पर आधृत होगा, अथवा कम-से-कम ऐसी सम्भावनाओं पर अवलम्बित होगा, जो सम्पादक के विचारो के अनुकूल हों और ग्रन्थ मे स्थान पाने के लिए परमावश्यक भी। ये दोनों प्रणालियाँ (अनुदारवादी और उदारवादी) अपने सिद्धान्तों में अपूर्ण है और इनके पालन में हानि ही होने की सम्भावना है।"

"अत, सर्वोत्तम विधि तो यही है कि समस्त उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के विभिन्न पाठान्तरो के आधार पर सम्प्रेपित पाठ (ट्रान्समिटेड टेक्स्ट/दि टेक्स्ट ऑव दि आर्किटाइप) की वैज्ञानिक व्याख्या की जाय और यदि वह पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है, तो सावधानी से अन्तरंग एव बहिरंग सम्भावनाओ के आधार पर उस बिन्दु की खोज करनी चाहिए, जहाँ विरोधी पाठान्तर मिलते है और तब उसे आनुमानिक संशोधन के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। यदि संशोधित पाठ का प्राचीन समरूप उपलब्ध है, तो हमारा अनुमान निश्चित रूप से सही है, परन्तु जहाँ कोई प्राचीन समरूप उपलब्ध नही है, वहाँ भी हम अपने अनुमान के प्रति सामान्य रूप से ही आश्वस्त हो सकते है।"[1]

डॉ० कात्रे के इस कथन से मिश्रित पद्धति के यथानिर्दिष्ट लक्षण निकाले जा सकते है : (क) इसमे हस्तलिखित प्रतियो मे प्राप्त विभिन्न पाठान्तरो की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है। (ख) इसमे भ्रष्ट पाठ के स्थान पर अन्तरंग तथा बहिरंग सम्भावनाओ का पूर्ण परीक्षण करके सभी प्रतिलिपियों मे प्राप्त पाठो के आधार पर संगत पाठ दिया जाता है। (ग) इस पद्धति मे अनुमान के आधार पर ऐसा संशोधन भी विहित है, जिसका समरूप किसी प्रति में प्राप्त नहीं है।

अनुदारवादी और उदारवादी सिद्धान्तो का सारा अन्तर पाठ-सशोधन का है। प्रथम का आग्रह संशोधन न करने का है, तो द्वितीय इसके लिए अतिरिक्त उत्साह दिखलाता है। इस सम्बन्ध मे मध्यम मार्ग ही उचित है। इसलिए, मिश्रित अथवा वैज्ञानिक विधि अतिशय उपयोगी है।

४, **साहित्यिक विधि** : हिन्दी मे साहित्यिक विधि के पाठानुसन्धान का भी नाम लिया जाता है। सम्भवतः, **आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र** ने प्रथम-प्रथम इस शब्द का प्रयोग किया और इसके लक्षणों पर विचार करने का तो उन्होंने सर्वाधिक प्रयास किया। उन्होने इसे वैज्ञानिक विधि के विलोम के रूप में स्थापित करना चाहा है। शब्द और अर्थ के सापेक्ष महत्त्व के आधार पर वैज्ञानिक और साहित्यिक विधि का अन्तर स्पष्ट करने का उनका प्रयत्न वास्तविक नही कहा जा सकता। इस विधि का सच्चा परिचय उनके उस कथन से मिलता है, जिसमें उन्होने साहित्यिक विधि के दोष के प्रति

---

१. डॉ० एस्० एम्० कात्रे : इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म (बम्बई, सन् १९४१ ई०), पृ० ७१।

पाठानुसन्धाताओ को सावधान किया है। उन्होने लिखा है : "साहित्यिक सरणि मे सबसे बडा दोष यह है कि इसमे यदि कोई सूझ अपने ढग की हो गई, कवि या कर्त्ता की विधि पर न हो सकी, तो वह कुछ-की-कुछ हो जायगी। 'गणेश' के स्थान पर 'वानर' हो जायगा।"[१] इस चेतावनी से स्पष्ट है कि साहित्यिक विधि के पाठानुसन्धाता पाठ-निर्धारण के लिए प्रतिलिपियो का आश्रय न लेकर अपनी सूझ-बूझ का आश्रय लेते है। साहित्यिक पद्धति का सबसे बड़ा परिचय यही है। यह इससे भी सिद्ध है कि **आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र** ने साहित्यिक विधि का प्रवर्त्तक **लाला भगवानदीन, डॉ० श्यामसुन्दरदास** और **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** को माना है। यदि ये साहित्यिक विधि के पाठानुसन्धाता है, तो इस पद्धति का इसके अतिरिक्त कोई परिचय नही हो सकता कि प्रतिलिपियो के साक्ष्य पर नही, वरन् अनुमान अथवा सूझ के आधार पर पाठ-सुधार करना साहित्यिक विधि का पाठानुसन्धान है। इन तीनो सम्पादन-विधियो की समीक्षा करने से इनकी विधि स्वत. स्पष्ट हो जायगी।

लाला भगवानदीन मुख्यत टीकाकार थे। पाठानुसन्धान के लिए पाठानुसन्धान न कर उन्होने टीका-कार्य मे सुविधा के लिए यह कार्य किया है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि पाठ की प्रामाणिकता पर नही, वरन् अर्थ की दृष्टि से पाठ के सौन्दर्य पर रही होगी। अपनी प्रसिद्ध कृति 'बिहारी-बोधिनी' मे तो उन्होने पाठ-निर्णय के सम्बन्ध मे कुछ सकेत ही नही किया है, किन्तु 'केशव-कौमुदी' मे 'रामचन्द्रिका' के गृहीत पाठो के सम्बन्ध मे यह सूचना दी है : "तीन हस्तलिखित तथा दो छपी हुई प्रतियो के सहारे इनका पाठ शुद्ध किया गया है।"[२] इस कथन से यही अनुमान निकलता है कि उक्त पाँच प्रतियो से उन्होने अर्थ को दृष्टि से उपयुक्त पाठो का चयन किया होगा। इस प्रकार के चयन का आधार उनकी अपनी सूझ-बूझ के अतिरिक्त और क्या रहा होगा? प्रतियो का विवरण देकर उन्होने यह बताने की भी चेष्टा नहीं की है कि उपलब्ध प्रतियो मे किसको वह सर्वाधिक शुद्ध समझते थे। निष्कर्ष यही है कि पाठ-चयन के लिए उन्होने प्रामाणिक प्रतियों का आश्रय न लेकर अपने विवेक का ही अवलम्बन किया है।

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने आठ-नौ ग्रन्थो का सम्पादन किया है। अधिकांश मे तो उन्होने अपनी सम्पादन-विधि के सम्बन्ध मे कोई सकेत ही नही किया। 'कबीर-ग्रन्थावली' के प्रथम संस्करण की भूमिका मे उन्होने लिखा है . "इस सस्करण मे कबीरदासजी के जो दोहे और पद सम्मिलित किये गये है, उन्हे मैंने आजकल की प्रचलित परिपाटी के अनुसार खराद पर चढाकर सुडौल, सुन्दर और पिंगल के नियमो से शुद्ध बनाने का कोई उद्योग नही किया। वरन् मेरा उद्देश्य यही रहा है कि हस्तलिखित प्रतियो या 'ग्रन्थसाहब' मे

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र : केशव-ग्रन्थावली, खण्ड ३ (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५९ ई०), 'सम्पादकीय', पृ० १८-१९।

२. लाला भगवानदीन : केशव-कौमुदी, प्रथम भाग (इलाहाबाद, सं० २०१८ वि०), 'वक्तव्य', पृ० ४।

जो पाठ मिलता है, वही ज्यों-का-त्यो प्रकाशित कर दिया जाय।"[१] यदि ऐसी बात है, तब तो यह पाठानुसन्धान का प्रयत्न ही नही है। अतः, इस आधार पर उनकी पाठानुसन्धान-विधि का निर्धारण करना अनुचित है। **मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या और राधाकृष्णदास** के साथ उन्होंने 'पृथ्वीराजरासो' का सम्पादन किया। यह पाठानुसन्धान का प्रयत्न अवश्य है। इसमें पादटिप्पणी के रूप में पाठान्तर दिया गया है, स्वीकृत पाठ के औचित्य का विस्तृत विवेचन हुआ है, उपान्त के मिले हुए पाठ को पहचानने का प्रयत्न किया गया है और क्षेपकों को पकड़ा गया है। इस प्रकार, पाठानुसन्धान की वैज्ञानिक विधि जो कार्य करती है, बहुत दूर तक इसमे वह कार्य किया गया है। किन्तु, पाठ-निर्धारण की उनकी प्रक्रिया देखने योग्य है। आदिपर्व के आदिछन्द (मंगलाचरण) के पाठ पर टिप्पणी करते हुए लिखा गया है : 'अब इस छन्द के लक्षण का पता लगाकर हम इस रूपक के पाठ को शोधते हैं।'[२] स्पष्ट है कि यहाँ छन्द के लक्षण के आधार पर पाठ निर्धारित किया गया है। प्रतिलिपिकार द्वारा अनेक प्रकार से पाठ-विकृतियाँ की जाती थी, जिनमे एक प्रकार यह भी था कि छन्द की दृष्टि से पाठ मे कुछ दोष दिखाई पड़ने पर वह उसे छन्द के लक्षणानुसार शुद्ध कर देता था। यही कार्य 'पृथ्वीराजरासो' के प्रस्तुत सम्पादन मे हुआ। इस प्रकार, **श्यामसुन्दरदास** की पद्धति **लाला भगवानदीन** और **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** की अपेक्षा कही अधिक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक है, किन्तु पाठ-निर्धारण के लिए प्रतिलिपियो पर निर्भर न रहनेवाली बात उनमे भी है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की पाठानुसन्धान-विधि सर्वथा अव्यवस्थित थी। उनके द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' उदाहरणीय है। इसमें 'पद्मावत' के पाठानुसन्धान के विषय मे **शुक्लजी** ने जो सूचनाएँ दी हैं, वे विचारणीय है। शुक्लजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होने पाँच प्रतियो का उपयोग किया, जिनमे चार सम्पादित और मुद्रित है तथा एक कैथी-लिपि मे हस्तलिखित। मुद्रित प्रतियाँ है : "एक, नवल किशोर प्रेस का; दूसरा, **पं० रामजसन मिश्र**-सम्पादित काशी के चन्द्रप्रभा प्रेस का; तीसरा, कानपुर के किसी पुराने प्रेस का फारसी-अक्षरों मे और चौथा **म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी** और **डॉ० ग्रियर्सन** द्वारा सम्पादित एशियाटिक सोसाइटी का, जो पूरा नही, तृतीयांश-मात्र है।"[३] उन्होने आगे लिखा : "'पद्मावत' की चार छपी प्रतियो के अतिरिक्त मेरे पास कैथी-लिपि मे लिखी एक हस्तलिखित प्रति भी थी, जिससे पाठ के निश्चय करने मे कुछ सहायता मिली।"[४]

---

१. **श्यामसुन्दरदास : कबीर-ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, वाराणसी, सं० २०३४ वि०), प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ० ४।**

२. **मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, राधाकृष्णदास और श्यामसुन्दरदास बी० ए० : पृथ्वीराजरासो (मेडिकल हॉल प्रेस, वाराणसी, सन् १९०४ ई०), पृ० २।**

३. **रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी), प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ० १।**

४. **उपरिवत्, पृ० ५।**

स्पष्ट है कि पाठानुसन्धान के लिए जब सम्पादित प्रतियो का आश्रय लिया जायगा, तब पाठ-चयन अथवा पाठ-सशोधन का एकमात्र आधार होगा सम्पादक की सूझ-बूझ। अर्थात्, अपनी समझ के अनुसार ही वह उपर्युक्त पाठ को खोजेगा, और रचनाकार के अभीष्ट पाठ की खोज करने मे वह असफल ही रहेगा। यही कार्य शुक्लजी ने किया भी है। उन्होने आधार-प्रतियो की जो आलोचना की है, उससे भी यह प्रमाणित है। उन्होने चारो सम्पादित-मुद्रित प्रतियों के जिन पाठो को त्याज्य ठहराया है, उन्हे केवल अर्थ के आधार पर, न कि किन्ही प्रामाणिक प्रतियो के साक्ष्य पर।

शुक्लजी ने अपने उक्त 'वक्तव्य' मे आगे लिखा है· "पाठ के सम्बन्ध मे यह कह देना आवश्यक है कि वह अवधी-व्याकरण और उच्चारण तथा भाषा-विकास के अनुसार रखा गया है।"[१] यहाँ भी स्पष्ट है कि पाठ की प्रामाणिकता के लिए शुक्लजी ने सम्पाद्य कृति कि उपलब्ध प्रतियो का अवलम्बन न कर अपनी विद्या-बुद्धि का आश्रय लिया है। इसलिए, डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने स्वसम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका मे शुक्लजी की सम्पादन-विधि पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "इन सबसे अधिक विचारणीय यह है कि शुक्लजी ने पूर्ववर्त्ती सस्करणो के विषय मे इस प्रकार के आरोप किसी भी हस्तलिखित प्रति के प्रमाण पर नही किये है, वरन् या तो किसी मुद्रित संस्करण के आधार पर किये है और या तो अपने अनुमानो के प्रमाण पर।"[२] निष्कर्ष यह कि शुक्लजी ने सारे पाठ-चयन एवं पाठ-संशोधन अपनी विद्या-बुद्धि अथवा सूझ-बूझ के आधार पर ही किये हैं। इस प्रकार का पाठानुसन्धान मनमाना पाठानुसन्धान ही कहा जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से साहित्यिक विधि का यही लक्षण निकलता है कि इसमे पाठ-शोधकर्त्ता अपनी सूझ-बूझ अथवा अनुमान के आधार पर पाठ-सुधार करता है। पाठ-सुधार के लिए वह प्रतिलिपियो पर अवलम्बित नही होता। इस प्रकार, तथाकथित साहित्यिक विधि वस्तुत. पाठानुसन्धान है ही नही।

५. **सकलनवादी** · पाठानुसन्धान के क्षेत्र म एक ऐसी विधि का भी नाम लिया जा सकता है, जिसके अनुसार 'हस्तलिखित ग्रन्थों मे पाये जानेवाले सन्देहात्मक अंशो के परम्परागत पाठो के सम्बन्ध मे कोई निर्णय नही किया जाना चाहिए।'[3] सी० वी० वैद्य ने 'महाभारत' के पाठानुसन्धान के सम्बन्ध मे ऐसा ही परामर्श दिया था। उनका मत था कि उपलब्ध प्रतियों मे से सर्वोत्तम को चुनकर तथा उसके स्पष्ट एव प्रतिलिपिजन्य अनिवार्य भूलो को सुधारकर उसे मुद्रित करना चाहिए और मिलान की गई पाण्डुलिपियो

१. रामचन्द्र शुक्ल · जायसी-ग्रन्थावली (तथैव), पृ० ५।

२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : जायसी-ग्रन्थावली (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५२ ई०), भूमिका, पृ० ११३।

३. डॉ० एस्० एम्० कात्रे : इण्ट्रोडक्शन टु इण्डियन टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म (बम्बई, सन् १९४१ ई०), पृ० ६९।

के पाठान्तरो को दे देना चाहिए। प्रोफेसर पी० पी० एस्० शास्त्री ने इसके अनुसार 'महाभारत' के दाक्षिणात्य पाठों का सम्पादन किया था।[१]

तात्पर्य यह है कि एक आदर्श प्रति निर्वाचित कर उसके विभिन्न पाठान्तर एकत्र कर दिये जायँ और उनके औचित्य का निर्णय पाठको पर छोड़ दिया जाय, इस विधि का सिद्धान्त यही है। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा द्वारा सम्पादित और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित लालचदास-रचित 'हरिचरित' के सम्पादन मे इस विधि का आंशिक उपयोग हुआ है। आंशिक इसलिए कि इसमे 'स्वल्प शोधन' भी हुआ है।

इस विधि के मूल मे तर्क यह है कि पाठ-शोधकर्त्ता का कर्त्तव्य विभिन्न पाठों का संकलन कर पाठक को सौप देना है। विभिन्न पाठान्तरो मे किसी एक को ग्रहण करने के लिए पाठक को विवश करना उचित नही। पाठक को अपनी दृष्टि से उपर्युक्त पाठ ग्रहण करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। इस पद्धति के निम्नांकित दोष है :

(क) यह कार्य पाठानुसन्धान का न होकर पाठ-सकलन का होगा। इसमे अनुसन्धान अथवा शोध नाम की कोई वस्तु न होगी।

(ख) इस प्रकार का कार्य साधारण पाठक के लिए किसी काम का न होगा। साधारण पाठक आनन्द के लिए पढ़ता है। अत., जब उसे पग-पग पर रुककर पाठ-चयन करना पड़ेगा, तब उसका न केवल आनन्द ही तिरोहित हो जायगा, वरन् पढ़ने से उसका विकर्षण भी हो जायगा।

(ग) भ्रष्ट पाठ को संशोधित कर देने के बदले उसी रूप में छोड़ देने से वह (भ्रष्ट पाठ) पूरे सन्दर्भ के अर्थ को ही विकृत कर देगा।

निष्कर्ष : इस प्रकार, उक्त सभी विधियो के मूल मे निहित तर्को तथा उनकी दुर्बलताओ की समीक्षा करने के पश्चात् मिश्रित विधि ही सर्वोपयुक्त प्रतीत होती है।

●●

△ रीडर, हिन्दी-विभाग
हिन्दी-भवन, शान्तिनिकेतन (प० बं०) : ७३१२३५

---

१. डॉ० वी० एस्० सुकथंकर : 'प्रोलेगोमेना टु आदिपर्वन्', सुकथंकर मेमोरियल एडिशन, वॉ० १ (बम्बई, सन् १९४४ ई०), पृ० १०६–८।

हिन्दी-प्रकाशन और बिहार

●

△ पं० मदनमोहन पाण्डेय

बिहार-राज्य मे, सन् १९४७–६० ई० की अवधि मे हिन्दी-साहित्य की अच्छी प्रगति रही—लेखकों, कवियों और कथाकारो ने बाल-साहित्य, किशोर-साहित्य एव कथा-साहित्य की प्रचुर सृष्टि की और काव्य-जगत् मे तो कई महत्त्वपूर्ण खण्डकाव्य और महाकाव्य सामने आये। सर्वश्री दिनकर, प्रभात, जानकीवल्लभ शास्त्री, रामदयाल पाण्डेय आदि युगचेता कवियो ने कई युगबोधपरक काव्य दिये, तो बेनीपुरीजी ने गद्य-साहित्य को कथा की उत्कृष्टता प्रदान की, साथ ही, आचार्य शिवपूजन सहाय के शब्दों मे, हिन्दी को खंजन जैसी फुदकती शैली भी दी। इसी प्रकार, 'बिहार का प्रेमचन्द' कहलानेवाले अनूपलाल मण्डल ने तीन-चार श्रेष्ठ उपन्यास दिये। मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने दो-तीन नाटक दिये, तो कैरवजी ने 'साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि' नामक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ दिया।

इन सबके पीछे युग का प्राबल्य था और बिहार-राज्य मे, शैक्षिक विकास के स्वप्न-द्रष्टा जन-प्रतिनिधि साहित्यिको मे आठ-दस प्रमुख तो थे ही, सेवारत भारतीय प्रशासको में भी सात-आठ कर्मचेता और समयबोध से सम्पन्न साहित्यस्रष्टा थे। इन सबके सम्मिलित प्रयास के सातत्य का ही फल था कि यह अवधि बिहार की साहित्यिक प्रगति की दिशा मे क्रोशशिला स्थापित कर सकी। अभावग्रस्त जीवन-संघर्ष के अपराजेय योद्धा, कला और साहित्य के अनुरागी शिक्षक स्वनामधन्य आचार्य बदरीनाथ वर्मा, गान्धीवादी शिक्षा के क्रान्तिकारी विचारो के वाहक श्रीरामशरण उपाध्याय, हिन्दी-भाषा और साहित्य के परम हितैषी एव अधीती चिन्तक श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', कलम के मजदूर एवं संघर्षजयी हिन्दीसेवी युगपुरुष पं० छविनाथ पाण्डेय तथा भाषा और साहित्य के मौन साधक सम्पादकप्रवर आचार्य शिवपूजन सहाय के सतत सहयोग और उत्साहवर्द्धन की प्रवृत्ति ने साहित्यसेवियो को बढावा दिया और नवयुवको को साहित्य-निर्माण की प्रेरणा दी। उस समय, भारतीय प्रशासनिक सेवा के सदस्यो मे श्रीजगदीशचन्द्र माथुर (आइ० सी० एस्०) महान् स्वप्नद्रष्टा, कला एव साहित्य के अनन्य उपासक शिक्षासचिव थे, तो श्रीत्रिवेणीप्रसाद सिंह (आइ० सी० एस्०) प्रौढ विज्ञानवेत्ता और जागरूक साहित्यसेवी। इसी प्रकार, उस समय, बिहार की साहित्यिक अभ्युन्नति के पक्षधर, संस्कृत एवं संस्कृति के प्रेमी, पुरातत्त्ववेत्ता साहित्यकार डॉ० श्रीधर वासुदेव सोहोनी (आइ० सी० एस्०) का हिन्दी-साहित्य के विकास मे उल्लेखनीय योगदान रहा, तो प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एवं शिक्षा-साहित्य

के प्रेमी शिक्षा-निदेशक **श्रीगोरखनाथ सिंह** तथा जनसम्पर्क-विभाग के, नाटककार एवं साहित्यप्रेमी निदेशक **श्रीरासबिहारी लाल** की रचनात्मक सेवाएँ हिन्दी को प्राप्त हुईं। इन सबने उस काल मे अपनी मूल्यवान् कृतियो से राज्य के हिन्दी-भाण्डार को समृद्ध किया। इस प्रकार, इस अवधि में, ख्यातिप्राप्त रचनाकारो के साथ ही नवयुवक कवियों, कहानीकारो और आलोचकों ने नये उत्साह से साहित्य की सर्जना की।

सन् १९४८ ई० मे, **आचार्य बदरीनाथ वर्मा** से वार्त्तालाप का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था। सन् १९३६ ई० के लगभग, जब मैं 'देश'-कार्यालय या 'सर्चलाइट' के दफ्तर में बदरी बाबू से मिला था और उन्हे अपने प्रकाशन-संस्थान 'मुँगेर पब्लिशिंग हाउस' से प्रकाशित हिन्दी की पाठ्य-पुस्तको के एक सेट के साथ ही अँगरेजी, बॅंगला और संस्कृत के कतिपय स्व-प्रकाशित सग्रह अर्पित किये थे और उनपर उनकी राय जाननी चाही थी, तब उन्होने पन्द्रह-बीस दिनो का समय माँगा। यथासमय मिलने पर उन्होंने मुझसे कहा कि 'आपके द्वारा तैयार की गई और कराई गई पुस्तको को देखकर बहुत सन्तोष हुआ है। आपने व्यापक दृष्टिकोण से शिक्षा के स्तर को ठोस और ऊँचा करने का प्रयास किया है और बहुत हद तक आप सफल भी हुए है।' शिक्षामन्त्री के पद पर आसीन **आचार्य वर्मा** की बातों से मुझे ऐसा लगा कि वह सस्ती और अच्छी पाठ्य-पुस्तके चाहते है और उसके लिए सरकार की ओर से सभी तरह की सहूलियत दिला सकते है। मुझसे कहा गया कि दो-तीन दिनों के भीतर मै उन्हे यह बताऊँ कि सस्ती पाठ्य-पुस्तके किस प्रकार छात्रों को उपलब्ध कराई जा सकती है। मैंने उनसे कहा कि प्रचार-प्रसार की अनपेक्षित प्रतिद्वन्द्विता मे पुस्तकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ पडता है। यदि इसे किसी तरह बन्द किया जाय, तो अच्छी और सस्ती पाठ्य-पुस्तके उपलब्ध कराई जा सकती है।

मैंने **बदरी बाबू** को अपना सुझाव दिया, साथ ही पूरी योजना भी बनाकर दे दी। उन्होने उसे देखा और विभागीय समीक्षा के लिए रख लिया। नया पाठ्यक्रम स्वीकृत हो चुका था। राज्य-भर मे आयोजित प्रशिक्षण-सगोष्ठियों एवं सभाओ मे पाठ्यक्रम की व्याख्या और उसके कार्यान्वयन-सम्बन्धी विचार जोरो से हो रहे थे। मुझे भी ऐसी चार-संगोष्ठियो में उपस्थित होने का सुअवसर मिला था। शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं के विकास मे मेरी रुचि बहुत दिनों से थी। ऐसी सभी श्रेणी की सस्थाओं से मेरा सम्पर्क था। इनकी शिक्षण-विधि एवं कार्यों में भी मैं अभिरुचि रखता था। कुछ सीखने, कुछ जानने और सिद्धान्त-व्यवहार को परखने की लालसा भी थी। सन् १९४९ ई० में पाठ्यक्रम की नई योजना चालू हो गई। पाठ्य-पुस्तकों एवं पाठ्यक्रम में बड़ा परिवर्त्तन हुआ। कुछ नई प्रकाशन-संस्थाएँ उभरकर सामने आ गईं। कुछ लोगों ने प्रकाशन को जूआ समझकर इस क्षेत्र में आने की चेष्टा की। ऐसे विचार के लोगों में कुछ ही सफल हुए, शेष को मुँह की खानी पड़ी। हमारी योजना सरकार को पसन्द आई और तदनुसार, पुस्तकों की कीमत और वितरण-व्यवस्था मान्य हुई, और तब पूरा माहौल ही बदलने लगा।

स्वतन्त्रता के तुरत बाद ही असामाजिक भावनाओ का पनपना शुरू हो गया था और इस क्षेत्र मे कुछ लोग अनाम रूप से दूसरो की प्रचलित पुस्तको को छापकर बेचने लगे। इन असामाजिक अनाम प्रकाशकों ने सर्वप्रथम **श्रीमैथिलीशरण गुप्त** की दो-तीन पुस्तको को छापकर बेचा। इस प्रकार के व्यवहार से **आचार्य बदरीनाथ वर्माजी** चिन्तित और दु खी रहते थे, क्योंकि इन अनाम प्रकाशको का गिरोह बन रहा था। जिस किसी की भी चार-पाँच हजार की संख्या मे बिकनेवाली पुस्तकों को, ज्यों-का-त्यों छापकर बाजार को दूषित कर देना इनके लिए सहज था। यह रोग संक्रामक रूप में फैला और प्रकाशन-परम्परा के मेरुदण्ड पर प्रहार करने लगा। अज्ञात रूप से इसका प्रभाव विनाशकारी ही रहा और पाठ्य-पुस्तको के राष्ट्रीयीकरण के बाद तो इस दुष्कार्य ने भयंकर रूप धारण कर लिया, जिसे रोकने के लिए सरकार सचेष्ट होकर भी कोई कारगर उपाय नही निकाल सकी। इन गिरोहो ने स्थापित-प्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्थानो को नाकोदम कर रखा था। फलत., भ्रष्ट और अशुद्ध मुद्रित पाठ्य-पुस्तको की बाढ़-सी आ गई।

इन्ही सब कारणो से आचार्य वर्माजी प्राय. प्रकाशको से खीझ-से गये थे। उनकी आकाक्षा थी कि बिहार के प्रकाशक केवल पाठ्य-पुस्तको के प्रकाशन मे ही न लगे रहे, बल्कि साहित्यिक पुस्तको का भी प्रकाशन करके बिहार के साहित्यकारो को बढ़ावा दे। प्रतिष्ठित पाठ्य-पुस्तक-व्यवसायी संस्थाओ ने, जिनमे अजन्ता प्रेस (लि०), ज्ञानपीठ (लि०), युगान्तर साहित्य-प्रकाशन, अशोक प्रेस, राजराजेश्वरी पुस्तकालय आदि के अतिरिक्त और भी कई छोटे-छोटे प्रकाशनो के नाम उल्लेख्य हैं, बाल-साहित्य एवं किशोर-साहित्य का प्रकाशन तो आरम्भ किया ही, साथ ही वे उपन्यास, कहानी-संग्रह, नाटक, प्रबन्ध-काव्य, आलोचना-साहित्य, ग्राम-साहित्य आदि अनेक विधाओ की पुस्तकों के प्रकाशन मे भी पाठ्य-पुस्तको से प्राप्त आय का बड़ा भाग अर्पित करने लगे। सन् १९५०-५१ ई० की अवधि के आते-आते सरकार के विभिन्न विभागो से पुस्तको की खरीदारी होने लगी। शिक्षामन्त्री आचार्य वर्माजी ने विभागीय नीति बनाई कि जो लेखक स्वयं पुस्तको का प्रकाशन करते है, उनकी पुस्तको की खरीदारी को प्राथमिकता दी जाय, साथ ही ६५ प्रतिशत पुस्तके बिहार के प्रकाशको की ही ली जायँ। शिक्षा-विभाग ने अपनी इस नीति के पालन की चेष्टा की। फलत., बहुत-सी 'जेबी-सस्थाएँ' उभर आई, यहाँतक कि इतर राज्यो के प्रकाशक भी बिहारी प्रकाशक बनकर पुस्तको की आपूर्ति करने लगे और आपूर्ति के आदेश की प्राप्ति के लिए विहित-अविहित उपायो का भी सहारा लेने लगे। कहना न होगा कि बिहार मे उनका यह परिग्रहमूलक रवैया अब भी जारी है।

स्वतन्त्रता के पूर्व और बाद भी बिहार पुस्तको का अच्छा बाजार था। मेरा अनुमान है कि उस समय हिन्दी के साहित्यिक प्रकाशनो का क्रय बिहार मे लगभग दस से पन्द्रह लाख रुपयों का प्रतिवर्ष होने लगा था। प्रखण्ड-विकास-कार्यालयो की नई-नई स्थापना हुई थी। इनके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र के लिए पुस्तके खरीदी जाने लगी। इसके अतिरिक्त,

पुस्तकालय-विभाग की स्थापना हुई और उसने अनुदान के रूप मे राज्य के ग्रामीण तथा अन्य पुस्तकालयों को पुस्तकें देना आरम्भ कर दिया। जिला प्राथमिक शिक्षा-विभाग के द्वारा भी पाठशालाओं, निम्न-मध्य विद्यालयो और बुनियादी शिक्षा-संस्थानों के छात्र-पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों की खरीद शुरू हुई। साथ ही, उच्च विद्यालयों और महा-विद्यालयो के पुस्तकालयों के लिए भी पुस्तकों की माँग बढ़ी। इस प्रकार, बिहार-राज्य में, जैसा मेरा अनुमान है, इन सभी माध्यमों से लगभग पच्चीस-तीस लाख रुपयों की पुस्तकें खरीदी जाने लगी।

प्रथम दो-तीन वर्षो तक पुस्तकों की आपूर्त्ति का कार्य प्रायः ठीक-ठीक ही चलता रहा। इस सन्दर्भ मे अनाचार की चर्चा कहीं-कहीं और कभी-कभी ही सुनी जाती रही। पर, बाहर के लोगो की प्रतिद्वन्द्विता और कुछ नये व्यवसायियों की घुसपैठ ने इस व्यवसाय को दूषित करने की होड़ मचा दी। 'जेबी-आपूर्त्तिकार' और अनाम-बदनाम व्यवसायी इस क्षेत्र में अपना आधिपत्य जमाने में सफल हो गये। चार-पाँच वर्षों में ही, सरकारी सेवकों और प्रकाशकों की साठ-गाँठ से स्तरीय प्रकाशनों के लिए अवरोध, अड़चन और कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं। पुस्तको की माँग की आपूर्त्ति में धाँधली प्रवेश कर गई। किसी और की किताब छापकर कोई और ही आपूर्त्ति करने लगा। किताब के भीतर कुछ भी छपा हो, किन्तु उसके मुखपृष्ठ पर किसी भी ख्यात कृति का नाम दे दिया जाने लगा। पुस्तकें जिन संस्थाओं के लिए खरीदी जाती थी, वहाँतक वे पहुँच पाती थी या नहीं, इसपर भी प्रश्नचिह्न लग गया। इस स्थिति से अच्छे लेखकों और स्थायी साहित्यिक प्रकाशकों को गहरा धक्का लगा। सरकारी सेवारत कर्मचारियों की भी 'जेबी-संस्थाएँ' बनी, जो भ्रष्टाचार के बल पर आपूर्त्ति-बाजार पर हावी हो गईं।

राज्य-पुस्तकालय-विभाग से प्रायः प्रत्येक ग्रामीण पुस्तकालय के लिए 'कूपन-प्रथा द्वारा, जिला एजेण्टो के माध्यम से, पन्द्रह-बीस रुपये की पुस्तकों की आपूर्त्ति किये जाने की योजना बनी थी। पुस्तकालय-विभाग प्रतिवर्ष एक वृहद् ग्रन्थसूची तैयार करता था और उसी में से पुस्तके चुनने की स्वतन्त्रता पुस्तकालयों को थी। यह योजना-विधि बहुत ही पेचीदी, जटिल और अव्यावहारिक रही, जिससे मनोवांछित फल की प्राप्ति नही हो पाई। जिला-बोर्डों के माध्यम से प्राथमिक पाठशालाओं के छात्र-पुस्तकालयों के लिए पुस्तकों की आपूर्त्ति एवं वितरण की व्यवस्था भी पेचीदी और असन्तोषप्रद ही रही, साथ ही इससे कदाचार को भी बढ़ावा मिला। इस धाँधली और अनियमितता की सूचना सरकार तक पहुँचती रही। कुछ छानबीन भी हुई, पर उसका प्रभाव यथार्थ रूप से कारगर नहीं हो पाया, ऐसा कहा जा सकता है।

छठे दशक के समाप्त होते-होते बिहार-राज्य में, पाठ्य-पुस्तकों को छोड़कर, लगभग डेढ़-दो हजार नई साहित्यिक पुस्तकों के नाम प्रकाश में आये, जिनमें बाल-साहित्य, किशोर-साहित्य तथा अन्यान्य विभिन्न विधाओं और विषयों पर लिखी पुस्तके थीं। छात्रो-

पयोगी पाठ्य-पुस्तको के जगत् मे, माध्यमिक, उच्च माध्यमिक तथा महाविद्यालय-स्तरीय शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने के कारण, तकनीकी विषयो पर विभिन्न प्रकार की पुस्तकें विभिन्न स्तर के शिक्षको, प्राध्यापको, आचार्यो और प्राचार्यो ने लिखी, और वे प्रकाशित हुईं, जिनकी सही-सही संख्या को आँकना सम्भव नही रहा।

इस अवधि मे अजन्ता प्रेस (लि०) ने ही लगभग दो सौ नई साहित्यिक पुस्तकें प्रकाशित की होगी, जिनमे बिहार के प्राय. सभी गण्य-मान्य लेखको की कृतियो के अतिरिक्त कई होनहार नवयुवक लेखको की कृतियाँ भी सामने आईं। इस प्रकाशन-संस्था को सर्वश्री देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, दिनकर, प्रभात, वियोगी, द्विज, प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, पं० छविनाथ पाण्डेय, आचार्य शिवपूजन सहाय, इलाचन्द्र जोशी, गाडगिल, देवेन्द्रनाथ शर्मा आदि जैसे प्रसिद्ध कृतिकारो की कृतियो के प्रकाशन का सौभाग्य मिला था। सन् १९५४ ई० मे इसी प्रकाशन-सस्थान से श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के सम्पादकत्व मे, श्रीगोवर्द्धनप्रसाद 'सदय' के सहयोग से मासिक 'अवन्तिका' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्रिका तो केवल चार वर्ष तक ही निकल सकी, पर इस छोटी-सी अवधि मे ही इसने अपने सम्पादन-स्तर और विशेषांको के कारण हिन्दी-जगत् मे ऐतिहासिक ख्याति प्राप्त कर ली थी। इस पत्रिका ने कुछ नये लेखको को नवचेतना से सम्पन्न बनाया और कुछ अछूते प्रसगो को भी सामने लाया। इसके 'काव्यालोचन-विशेषांक' का मूल्य आज भी हिन्दी-विद्वानो के बीच सुरक्षित है। प्रौढ साहित्यकारो के साथ ही नये साहित्यकारो को भी साहित्य-रचना की ओर प्रेरित करने का इसका प्रयास स्तुत्य रहा।

अजन्ता प्रेस लि० से ही श्रीरामवृक्ष बेनीपुरीजी के सम्पादकत्व मे बाल-मासिक 'चुन्नू-मुन्नू' दो वर्षों तक प्रकाशित हुआ। उसके बाद इस पत्र के व्यवस्था-निर्देशक श्रीजयनाथ मिश्र ने उसे अपने सम्पादकत्व मे पाँच-छह वर्षों तक प्रकाशित किया। मनोरंजनपूर्ण सामग्री की दृष्टि से यह मासिक पत्र बच्चो के बीच अतिशय प्रिय रहा। इसी अवधि मे बेनीपुरीजी ने 'युवक' और 'नई धारा' को भी अपनी सम्पादन-मनीषा से ऐतिहासिक महत्त्व दिया और हिन्दी-पत्रकारिता का नया मानदण्ड उपस्थापित किया। इसी समय, स्व० मोहनलाल बिश्नोई ने अपने मोहन प्रेस से श्रीनलिनविलोचन शर्मा तथा पं० शिवचन्द्र शर्मा के सम्पादकत्व मे 'पाटल' नाम की मासिक पत्रिका निकाली और वही से श्रीमती कुमुद शर्मा के सम्पादकत्व मे 'मुन्ना-मुन्नी' शिशु-पत्रिका निकली। सामग्री, सज्जा और मुद्रण, इन सभी दृष्टियो से हिन्दी-जगत् मे 'पाटल' की बडी प्रशंसा हुई। अन्तिम दो वर्ष 'पाटल' के सम्पादन का भार पं० रामदयाल पाण्डेय ने सँभाला। श्रीपाण्डेयजी के सम्पादकत्व मे प्रकाशित 'पाटल' के 'सन्त-साहित्य-विशेपाक' की, शोध-जगत् मे आज भी आवृत्ति होती है।

इस अवधि मे, नवशक्ति पब्लिशिंग लि० से श्रीदेवव्रत शास्त्री के सम्पादकत्व मे प्रकाशित दैनिक 'राष्ट्रवाणी' और साप्ताहिक 'नवशक्ति' काँगरेसी नेताओं तथा राष्ट्रकर्मियो

में अतिशय प्रिय थे। इन दोनो पत्रों के संचालकों मे सर्वश्री डॉ० श्रीकृष्ण सिंह, कृष्णवल्लभ सहाय, नन्दकुमार सिंह, सरदार हरिहर सिंह, बनारसीप्रसाद सिंह, श्यामाप्रसाद सिंह, शार्ङ्गधर सिंह, मुकुटधारी सिंह आदि के नाम उल्लेख्य है। कुछ काल बाद, देवव्रतजी ने 'नवशक्ति' का 'नव' तथा 'राष्ट्रवाणी' का 'राष्ट्र' शब्द लेकर दैनिक 'नवराष्ट्र' स्वतन्त्र रूप से निकाला, जिसे पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। सम्प्रति, 'नवराष्ट्र' साप्ताहिक रूप मे श्रीहर्षवर्द्धन के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हो रहा है।

मैंने भी लगभग सन् १९५२ ई० में 'पुस्तक-जगत्' नामक मासिक पत्रिका ज्ञानपीठ लि० से निकाली थी। यह पत्रिका पाँचवें दशक मे आठ-दस अंक निकलने के बाद बन्द हो गई थी। उसी को मैंने पुनः अपने निर्देशन मे प्रकाशित कराना आरम्भ किया। इस मासिक पत्रिका मे हिन्दी-मुद्रण की समस्याएँ एवं उसकी एकरूपता, छात्रो मे हिन्दी के अध्ययन की अभिरुचि का पर्यवेक्षण और मूल्यांकन, शिक्षा एव प्रकाशन के राष्ट्रीयीकरण की लाभ-हानि एव सीमा-निर्धारण, लेखक प्रकाशक बने या न बने, युगानुकूल साहित्य की आवश्यकता, नवीन प्रकाशनों का पर्यवेक्षण, प्रकाशनो की खपत की समस्या, पाठकों की रुचि के उदात्तीकरण के उपाय आदि विषयो पर प्रकाश डालना इसका मुख्य उद्देश्य रहा। इसमे प्रकाशित कई लेखो को अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने भी उद्धृत किया था। अल्पावधि मे ही यह हिन्दी-जगत् में प्रकाशन-सम्बन्धी एक मुखपत्र माना जाने लगा था। पाँच वर्षों तक चलकर यह पुनः बन्द हो गया। इस मासिक पत्र के निकालने मे सर्वश्री सुधांशुजी, डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद, सुरेश्वर पाठक, श्रीप्रभाशंकर मिश्र (सम्प्रति, पटना उच्च न्यायालय के न्यायाधीश) तथा अन्य नवयुवक साहित्यप्रेमियो का पूर्ण सहयोग मिला था। मेरी देखरेख में, पं० अखिलेश्वर पाण्डेय के सम्पादकत्व मे, कविवर श्रीरामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ' के सहयोग से यह पत्रिका प्रकाशित होती थी। ज्ञानपीठ लि० ने भी सभी वर्ग के अध्येताओ के उपयुक्त साहित्यिक महत्त्व की लगभग १५० पुस्तकें प्रकाशित की थी, जिनमे कुछ तो उत्तरप्रदेश-सरकार और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से पुरस्कृत भी हुईं। इस क्रम मे गण्य-मान्य लेखको के अतिरिक्त नये उत्साही लेखको की भी कृतियाँ सामने आई। विविध विधाओ के प्रकाशन-मुद्रण का अपेक्षित यश भी ज्ञानपीठ लि० को मिला।

इस काल मे, मेरा अनुमान है, सावधिक और निरवधिक लगभग डेढ़-दो सौ नई लघु पत्रिकाएँ राज्य के विभिन्न स्थानो से निकली होंगी, जिनके कर्णधार युवक कवि, नये उत्साही लेखक-प्रकाशक या नवचेतना-सम्पन्न छोटी-बड़ी संस्थाएँ रही। सरकारी क्षेत्र के भी विभिन्न विभागों से विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगभग पच्चीस-तीस मासिक-त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ तो निकली हीं, शिक्षा-विभाग से सम्बद्ध उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयों से भी लगभग दो सौ पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं। परिणामस्वरूप, रचनाशक्ति-सम्पन्न नये लेखकों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

श्रीयमुना कार्यी द्वारा सम्पादित 'हुंकार', श्रीव्रजशंकर वर्मा के सम्पादन मे प्रकाशित 'योगी', श्रीरामदयाल पाण्डेय के सम्पादकत्व मे निकलनेवाला 'स्वदेश' अपने-अपने ढंग के साहित्यिक साप्ताहिक पत्र थे, जो आग्रहपूर्वक पढ़े जाते थे। कई दैनिक पत्र भी कुछ दिनों के लिए किसी विशिष्ट उद्देश्य से निकले और कुछ ही अंक निकलने के बाद कालकवलित हो गये।

सन् १९५८-५९ ई० मे प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी को विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने वयोवृद्ध साहित्यकार के रूप में सम्मानित करने का निश्चय किया। इसी अवसर पर, नियत तिथि के दो दिन पहले आचार्य बदरीनाथ वर्मा और पं० छविनाथ पाण्डेय ने मुझे बुलाकर कहा : 'स्वातन्त्र्योत्तर विहार के हिन्दी-प्रकाशनो की अगर एक प्रदर्शनी सम्मेलन-भवन मे आप आयोजित कर दें, तो उत्तम हो।' पटना-स्थित पुस्तक-विक्रेता-बन्धुओ के बल पर मैंने यह भार स्वीकार कर लिया और दो दिनो के अनवरत परिश्रम और प्रयास से लगभग १५०० प्रकाशनो की प्रतियाँ देशरत्न के अवलोकनार्थ उपस्थित कर दीं। प्रमुख निजी प्रकाशनों के अतिरिक्त, सरकारी प्रकाशन-संस्थाएँ, जैसे विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, प्रौढशिक्षा-प्रकाशन, पाठ्यपुस्तक-समिति आदि ने भी इस कार्य मे अपना पूरा सहयोग दिया।

उन दिनो, पटना मे विहार-मुद्रक-परिषद्, बिहार पब्लिशर्स एसोसियेशन, पुस्तक-व्यवसायी-संघ नामक तीन संस्थाएँ बन चुकी थी। मेरा सौभाग्य था कि हमारे सभी व्यवसायी बन्धु सभी तरह से हमें सहयोग देने को सदा उत्सुक रहते थे। प्रदर्शनी मे देशरत्न ने लगभग एक घण्टे का समय दिया। उनके साथ आचार्य बदरीनाथ वर्मा, सुधांशुजी, पं० छविनाथ पाण्डेय, श्रीजगदीशचन्द्र माथुर और मैं स्वयं भी था। देशरत्न ने कहा . "प्रकाशन की प्रगति अच्छी लगी, खुशी हुई। अगर सम्मेलन के अहाते मे ही एक स्थायी रूप से राज्य के हिन्दी-प्रकाशनो की स्थायी प्रदर्शनी स्थापित कर दी जाय, तो आगे चलकर यह सभी के लिए बड़े काम की चीज हो जायगी। यह हिन्दी और राज्य के लिए भी बडी सेवा होगी।" मैंने सभी प्रकाशक-बन्धुओ की ओर से सारी प्रदर्शित सामग्री आचार्य बदरीनाथ वर्मा को अर्पित कर दी और कहा कि देशरत्न की इच्छा के अनुसार, इसी से स्थायी प्रदर्शनी का शुभारम्भ कर दिया जाय। सारी पुस्तकें सम्मेलन मे रह गई . किन्तु उनका क्या हुआ, कौन जाने ? सभी ने स्थायी प्रदर्शनी के विचार को सुना, जाना और इसे स्तुत्य माना पर कार्यान्वयन की दिशा में 'शून्य' हाथ आया !

••

△ २ बी, राजेन्द्रनगर, पटना : ८०००१६

'भारत-दुर्दशा' का ऐतिहासिक महत्त्व

●

△ डॉ० बजरंग वर्मा

'भारतेन्दु-युग' समस्याओ का युग था। उस युग मे अकस्मात् इतनी समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं कि उन्हें देखकर इतिहासज्ञों को आज भी आश्चर्य होता है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में एक प्रकार से अराजकता छा गई थी। इस स्थिति से उत्पन्न समस्याओ के प्रभाव से तत्कालीन संवेदनशील साहित्यकार स्वभावतः अछूते न रह सके। फलस्वरूप, उनके साहित्य मे तत्कालीन उन सभी घटनाओं की स्पष्ट छाप मिलती है, जिनके कारण उस समय का जनजीवन आन्दोलित हो उठा था।

देश में व्याप्त इसी निराशापूर्ण वातावरण में, भारतेन्दु और उनके सहयोगी साहित्य-सृष्टि मे संलग्न थे। भारतेन्दु-मण्डल के प्रायः सभी साहित्यकारों की विशेषता थी, उनकी संवेदनशीलता और जिन्दादिली। सर्वश्री **प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, प्रेमघन** आदि उस मण्डल के जितने प्रमुख साहित्यकार थे, वे तत्कालीन समस्याओ पर कलम उठाने से बाज नहीं आये। हाँ, यह वास्तव में निर्विवाद है कि उस युग के सभी साहित्यकारों मे सबसे ऊँचा स्वर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का ही था। उनकी वाणी में उस युग का क्रान्तिकारी स्वर स्पष्ट सुनाई देता है।

उस युग मे, पाश्चात्य पूँजीपतियो का एकमात्र लक्ष्य भारत पर आर्थिक आधिपत्य स्थापित करना था, जिसके कारण वे इस देश के उत्पादन एवं वितरण-सम्बन्धी साधनो पर एकाधिकार जमाने के प्रयास मे संलग्न थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारतीय कृषि-उत्पादन पर आधिपत्य हो चुका था। नील, शोरा, पाट, चाय, कपास आदि कच्चे मालो को अपने देश मे ले जाने के लिए उन्होने भारत को कृषिप्रधान देश ही बना रहने देना श्रेयस्कर माना। यदि वे चाहते, तो उत्पादन-शक्ति के नवीनतम साधनो का सदुपयोग भारत मे करके यहाँ के जनजीवन मे आमूल परिवर्त्तन ला देते। किन्तु, उनकी नीति तो शोषण की थी, जिसके द्वारा कम्पनीवालों ने भारत को नये आविष्कारों से सदा वंचित रखा। प्राकृतिक दृष्टि से भी कृषि की स्थिति चिन्ताजनक रही। लाही, टिड्डी, पाला इत्यादि[1] के कारण देशभर में रुदन और हाहाकार को छोड़ और कुछ नही सुनाई

१. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (प्रथम खण्ड) : सं० ब्रजरत्नदास, पृ० ४७७।

पड़ता था।[1] स्थान-स्थान पर लोग दुर्भिक्ष एवं महामारी के असमय ही शिकार बन रहे थे। इस प्रकार के दुर्भिक्षों मे, सन् १८६६ ई० (उड़ीसा), सन् १८६९ ई० (उत्तर भारत), सन् १८७४ ई० (बंगाल) तथा सन् १८७७ ई० (दक्षिण भारत) के दुर्भिक्ष अधिक हृदयद्रावक थे। सच पूछिए, तो भारतेन्दु ने इसी समकालीन पृष्ठाधार पर रचित अपने प्रसिद्ध नाटक 'भारत-दुर्दशा' मे देश की पतनशील अवस्था पर भारतवासियो को आँसू बहाने का आमन्त्रण दिया है :

> रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
> हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।।
> ....
> अँग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पर धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।
> ताहू पै महँगी काल लोग विस्तारी।
> दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा हारी।।[2]

'भारत-दुर्दशा' की आरम्भिक पंक्तियों में ही भारतेन्दु की अन्तर्व्यथा एवं निराशा स्पष्ट हो गई है। अपनी निराशा का कारण बतलाते हुए वह स्वयं कहते हैं : "हाय, मैंने जाना था कि अँग्रेजो के हाथ मे आकर हम अपने दुखी मन को पुस्तको से बहलावेंगे और सुख मानकर जन्म बितावेंगे पर दैव से वह भी न सहा गया।".... "परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात-समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी !"[3]

कच्चे मालो को विदेश ले जाने के साथ-साथ भारतीय वस्त्र-व्यवसाय का मूलोच्छेद करने के निमित्त भारतीय उद्योगो के उन्मूलन की ओर भी अँगरेजों की लोलुप दृष्टि गई। वे जब पहले-पहल भारत आये, तब भारतीय वस्त्र ही उनके व्यवसाय का एक प्रमुख अंग था, जिससे उन्हे लगभग ३०० पौण्ड प्रतिशत का लाभ था। किन्तु, इँगलैण्ड मे अकस्मात् वस्त्रो के मूल्य गिर जाने के कारण भारतीय वस्त्रो का व्यापार करनेवाली अँगरेजी-कम्पनियो के प्रति विदेशी व्यापारियो का आक्रोश क्रमश बढ़ता गया, जिसके परिणाम-स्वरूप भारतीय वस्त्र-व्यवसाय को भी नष्ट करने की उनकी प्रवृत्ति प्रबलतर हो उठी। उनकी इसी घातक प्रवृत्ति ने अनेक प्रकार के कर एवं कानून भारतीयो के सिर मढ दिये। भारतीय वस्त्र-व्यवसाय को भूमिसात् कर देने की इस दुर्नीति के शिकार वे अँगरेज-व्यापारी भी हुए, जो इस व्यवसाय मे संलग्न थे। सन् १७०० ई० मे उस अँगरेज को पाँच पौण्ड जुरमाना देना पड़ता था, जो भारतीय रेशमी वस्त्र धारण करता था। सन् १७३५ ई० मे भारतीय रेशमी वस्त्र के अँगरेज-व्यापारियो पर अप्रत्याशित रूप से पच्चीस पौण्ड

---

१. सार-सुधानिधि, पृ० १–२२।
२. भारतेन्दु-ग्रन्थावली (तथैव), पृ० ४६९।
३. उपरिवत्, पृ० ४७१।

जुरमाना का कानून भी पास हुआ। यहाँतक कि कफन के लिए ऊनी वस्त्रों के उपयोग का कानून भी पास हुआ, जिसका एकमात्र लक्ष्य भारतीय वस्त्र-व्यवसाय को गिराने के अतिरिक्त और कुछ न था।[१]

भारतीय वस्त्रो के व्यवसायियो पर तो कई प्रकार के टैक्स थे ही, बेचारे किसान भी इससे अछूते न रह सके। लॉर्ड मेयो के काल में, एक तो विकेन्द्रीकरण की आयोजना (सन् १८७० ई०) का देश पर विपरीत प्रभाव पड़ ही रहा था दूसरे नये-नये प्रान्तीय कर भी लगाये जाने लगे थे। मेयो के पूर्व उपज का आधा हिस्सा ही कर के रूप में लिया जाता था। किन्तु, उसके शासनकाल में उससे भी अधिक कर लिया जाने लगा, जिससे भारतीय किसानो का बड़ा अहित हुआ। भारतेन्दु ने इन्ही विषमताओं को लक्ष्य करके लिखा :

सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।[२]

जन विद्रोह के पश्चात् सरकार किसानों की जमीन पर जिस निर्दयता से लगान बढ़ाती जा रही थी, उससे उसकी शोषण-नीति और भी स्पष्ट हो गई थी। जब यह नीति उग्रतर हो चली, तब कुछ अँगरेज भी इसका विरोध करने लगे। गवर्नर जेनरल की सभा में सर विलियम हण्टर ने तो स्पष्ट ही कहा कि 'सरकार ने लगान इतना अधिक बढ़ा दिया है कि किसानो के पास अपने लिए, मात्र ही उनके कुटुम्ब-पालन के निमित्त कुछ बचता ही नही। लगान की विपत्ति के साथ दैवी प्रकोप भी हो गया, तो किसान बेमौत मरे।'[३] और, हुआ भी वही। दुर्भिक्ष पड़ा, लोग बेमौत मरने लगे।

उस समय, भारतीय जन किस पतनशील अवस्था में थे और भारतेन्दु के हृदय में उनकी गुलामी के प्रति कितना आक्रोश था, इसका दिग्दर्शन उन्होने नाटक के मंगलाचरण में ही 'सतयुग थापन करन' कहकर कलि-वन्दना की है। यह भारतेन्दु की राजनीतिक जागरूकता का ज्वलन्त प्रमाण है। प्राचीन और नवीन के मिलन-विन्दु पर खड़े होकर भारतेन्दु की रचनात्मक दृष्टि अतीत पर ही अधिक रही है। भारत की प्राचीन गरिमा की ओर पाठकों को उन्मुख करते हुए उन्होंने हरिश्चन्द्र, नहुष, युधिष्ठिर, वासुदेव, अर्जुन आदि की भी चर्चा की है। भारत की प्राचीन गरिमा का चित्रण करते हुए उन्होने तत्कालीन 'जातीय भूलों' को भी अभिव्यक्त किया है, जिनको भारतेन्दुकालीन जनता कुछ-कुछ स्वीकार करने लगी थी :

लरि वैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवन सैन पुनि भारी॥ आदि।[४]

---

१. 'आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका' : शिवनाथ, पृ० १२।
२. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४७०।
३. 'भारतेन्दु-युग' : रामविलास शर्मा, पृ० ३।
४. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४६९।

अँगरेजो का भारत मे आना भारतवासियो के लिए जितना लाभदायक सिद्ध हुआ, उतना ही अहितकर भी । अँगरेजो के आगमन के कारण, भारत के आर्थिक एव सास्कृतिक जीवन को गहरा धक्का पहुँचा । देश मे चारो ओर अधःपतन और विनाश के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे । लोगो मे एक प्रकार के पतनोन्मुख सन्तोष एवं निरुद्यमता आदि ने घर बना लिया था। 'भारत-दुर्दशा' के आलस्य, सन्तोष आदि पात्र उन्ही प्रवृत्तियो के द्योतक है । 'भारत-दुर्दशा' के तृतीय अंक मे तत्कालीन भारतीय दशा का मार्मिक विवेचन 'भारत-दुर्दैव' के व्याज से हुआ है । उस अंक मे भारत-दुर्दशा की साज-सज्जा से ही भारतेन्दु ने तत्कालीन सामासिक संस्कृति[1] (कम्पोजिट कल्चर) का स्वरूप दिखाकर पर्याय से उसकी निन्दा की है। आधा क्रिस्तानी, आधा मुसलमानी क्रूर भारत-दुर्दैव हाथ मे नंगी तलवार लिये रंगमच पर आता है। भारतेन्दु-युग में वस्तुतः हास्य और व्यग्य के लक्ष्य विशेषतया वे लोग थे, जो अँगरेजी पढ-लिखकर आधे अँगरेज हो जाने के साथ-साथ, भारतीयता से दूर हटकर विदेशीपन की ओर अधिक आकृष्ट थे। उनका हर प्रयास अपने-आप पर विदेशी पॉलिश चढाने का ही होता था। ऐसे दयनीय लोगो पर हास्य-व्यंग्य की अधिकाधिक रचनाएँ भारतेन्दु-युग मे हुई । 'भारत-दुर्दशा' मे ऐसे ही लोगो के विषय मे भारतेन्दु ने टिप्पणी की है : 'अँग्रेजी अमलदारी मे भी हिन्दू न सुधरे ! लिया भी तो अँग्रेजो से औगुन !'[2]

लॉर्ड लिटन (सन् १८७६–१८८० ई०) के काल तक भारत मे रेल, तार आदि आवागमन एवं सम्प्रेषण की सुविधाओं के कारण यूरोप की बनी चीजे भारतीय बाजारो मे तेजी से खपने लगी थी। इसके साथ-साथ पाश्चात्त्य विचारधारा भी अदृश्य रूप से अपना रग जमाती जा रही थी। उसका प्रभाव यहाँ के पढे-लिखे लोगों पर विशेष रूप से पड़ने लगा था। इस प्रकार के 'बहुरुपिया' लोगो को सरकार 'मेडिल और खिताब'[3] देकर आश्रय दे रही थी। भारतेन्दु ने अपने नाटक मे 'सत्यानाश फौजदार' से भी कहलवाया है :

---

१. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि ने भी ऐसी सस्कृति के खिलाफ आवाज उठाई थी। किन्तु, दिनकर के शब्दो मे, आज सामासिक सस्कृति (कम्पोजिट कल्चर) काम्य वस्तु है। भारतेन्दु इसकी महिमा को नहीं समझ सके थे। इस्लामी राज्य की क्रूरता और यूरोपीय भोगवाद की जडता की ही निन्दा इस आहार्य से होती है।—ले०

२ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४७४ ।

३ 'एक ओर पत्ते चबाना, लड़के-लड़कियाँ बेचना, दूसरी ओर लोगों का राय-बहादुरी के खिताब पाना—यही तो वह संस्कृति थी, जो सन् सत्तावन के बाद उच्च वर्ग में बन रही थी, और जिसका युग-चेतना विरोध कर रही थी।'
—'भारतेन्दु-युग' (तथैव), पृ० १३-१४।

"एक तो खुद ही सब पड़िया के ताऊ, उसपर चुटकी वजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बरावरी का झगड़ा उठा, धाँय-धाँय गिनी गई (सलामी मिली), वर्णमाला कण्ठ कराई (सी० आइ० ई० आदि की उपाधियाँ मिली), वस हाथी के कैथ हो गये !"[१]

भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाटक मे सत्यानाश फौजदार के पश्चात् धर्म, सन्तोष, अपव्यय, अदालत, फैशन आदि पात्रो के माध्यम से अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये गये है, जिनके कारण तत्कालीन जनजीवन के जर्जर होने की सूचना मिलती है। धर्म की आड़ में वहुविध अनाचार और अत्याचार हो रहे थे। सर्वप्रथम धर्म ने ही जनता के जीवन पर 'प्रेत की छाया' डाल दी थी। अन्धविश्वासों और रूढिगत परम्पराओ के भीतर धर्म का कंकालमात्र शेष रह गया था। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, वहु-विवाह, तान्त्रिक अनुष्ठान आदि की भयकर प्रथाओ से सम्पूर्ण भारतीय जनजीवन उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ से ही आक्रान्त था। बहुदेववाद के प्रचलन से अनेकानेक अमानुषी एव कुत्सित क्रियाएँ समाज मे व्याप्त थी। धर्म की ओट में विधवा-विवाह का निषेध कर दिया गया था। समुद्रयात्रा-निषेध के कारण भी तत्कालीन कूपमण्डूक धार्मिक गुरु ही थे। उस समय के हिन्दू देवी-देवता, भूत-प्रेत आदि की पूजा जैसे विभिन्न अन्धविश्वासों के भी शिकार हो चुके थे। उन्नीसवी शती के पूर्वार्द्ध से चली आती इन्ही धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन भारतेन्दु ने सत्यानाश फौजदार के मुँह से कराया है :

जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अव।
बालकपन में ब्याहि प्रीति छलबल नास कियो सव॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा विवाह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‌यो॥

...　　.　　....

बहु देवी देवता भूतप्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सो सब विमुख किये हिन्दू घबराई॥[२]

भारतेन्दु-युग में विलायत जानेवालो के प्रति लोगो के हृदय में कैसी असन्तोष-भावना थी, इस तथ्य से सभी परिचित है। समाज के कट्टर पुराणपन्थियो ने इसपर रोक लगा रखी थी, और इस रोक के विरुद्ध पहले तो हरिश्चन्द्र और बाद में पं० सुधाकर द्विवेदी ने एक सबल आन्दोलन खड़ा किया। भारतेन्दु ने अपने उसी सत्प्रयास का संकेत करते हुए 'भारत-दुर्दशा' में सत्यानाश फौजदार से कहलवाया है :

रोकि विलायत गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाई प्रचार घटायो॥[३]

---

१. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४७६।
२. उपरिवत्, ४७५।
३. उपरिवत्।

उस युग मे, देशव्यापी अराजकता के फलस्वरूप स्नेह की भावना के अभाव मे, देशोद्धार की प्रवृत्ति भी लोगो मे नही के बराबर थी। सन् १८३० ई० के लगभग ब्रह्म-समाज के **राजा राममोहन राय** तथा **महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर** द्वारा बंगाल की जातीय संकीर्णता के मूलोच्छेद का आन्दोलन तथा सन् १८७५ ई० मे आर्यसमाज के आदिनेता **महर्षि दयानन्द** के सामूहिक शुद्धियो के प्रचार और प्रयत्न, कर्मकाण्डप्रधान सनातन-धर्म के खण्डन और बुद्धिवाद की स्थापना के कारण भारत के पारम्परिक धर्म को बहुत हानि पहुँची थी। इसी कारण भारतेन्दु आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज पर भी छीटाकशी करने से बाज न आये :

> **रचि के मत वेदान्त को सबको ब्रह्म बनाय।**
> **हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो तोरि हाथ अरु पाय ॥**[1]

भारतेन्दु ने, 'भारत-दुर्दशा' नाटक की जब रचना की थी, तब भारत मे मद्य का प्रचार भी पूर्ण रूप से था। 'मदिरा' नामक पात्र के शब्दो मे तो 'वही सरकार के राज्य का एकमात्र भूषण थी।'[2] मदिरा-पान की बुरी लत से समाज किस प्रकार ग्रस्त था, इसे व्यक्त करते हुए भारतेन्दु ने 'मदिरा' नामक पात्र से कहलवाया है :

> **ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अरु सैयद सेख पठान।**
> **दै बताइ मोहि कौन जो करत न मदिरा पान ॥**[3]

आगे इस कोटि के लोगो पर व्यग्य करते हुए भारतेन्दु लिखते हैं .

> **कोउ कहत मद नहिं पियैं, तौ कछु लिख्यो न जाय।**
> **कोउ कहत हम मद्यबल, करत वकीली आय ॥**
> **मद्यहि के परभाव सों, रचत अनेकन ग्रन्थ।**
> **मद्यहि के परकास सो, लखत धरम को पन्थ ॥**[4]

शिक्षा के क्षेत्र मे यद्यपि सन् १८१६ ई० से ही कलकत्ता मे **डेविड हेयर** और **राममोहन राय** प्रयत्न कर रहे थे, तथापि देश के सार्वजनिक जीवन पर अशिक्षा का घोर अन्धकार छा गया था। 'भारत-दुर्दशा' का 'अन्धकार' देशभर मे व्याप्त इसी सामूहिक अशिक्षा का अन्धकार है।

'भारत-दुर्दशा' नाटक के पाँचवे अक मे भारतेन्दु ने यथार्थ की भूमि पर आकर तत्कालीन समाज का मार्मिक व्यंग्यात्मक चित्र उपस्थित किया है। 'कमेटी' मे उपस्थित 'सभ्य' (जो सभापति है), बगाली, महाराष्ट्री आदि के अतिरिक्त कवि और सम्पादक भी है। साहित्य-जगत् मे जिस देशी आन्दोलन का सूत्रपात भारतेन्दु कर रहे थे, उसमे भारतेन्दु-मण्डल के बाहर के तत्कालीन साहित्यकार योग न दे सके। भारतेन्दु-मण्डल के बाहर के

१. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४७५।
२. उपरिवत्, पृ० ४८१।
३. उपरिवत्, पृ० ४८२।
४. उपरिवत्।

वे साहित्यसेवी किस पतनशील मनोवृत्ति के थे, इसे अभिव्यक्त करते हुए भारतेन्दु ने वास्तव में उनकी स्त्रैण प्रवृत्ति का वेधक चित्र उपस्थित किया है। तत्कालीन साहित्यिक कायरपन पर चुभता-सा व्यंग्य करते हुए उन्होंने बताया है कि उन साहित्यिकों में देशभक्ति का गुण नहीं रह गया था। वे देश की रक्षा उसी प्रकार करते, जिस प्रकार नादिरशाह के आने पर भाँड़ों ने कहा था कि "जमुना किनारे कनात खड़ी कर दी जायँ, कुछ लोग चूड़ी पहने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे, वे कनात के बाहर हाथ निकालकर उँगली चमकाकर कहें 'मुए इधर न आइयो, इधर जनाने है'।"[1] आगे, कविजी के इस प्रस्ताव पर कि वे अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून ही पहनकर रहें; क्योंकि हो सकता है कि 'दुर्दैव' इससे उन्हें अँगरेज जानकर छोड़ दें, भारतेन्दु ने गहरा व्यंग्य करते हुए एक देशी सभ्य आदमी से कहलाया है : 'पर रंग गोरा कहाँ से लावेंगे?' इस व्यग्य मे तत्कालीन गोरे और काले का भेद भी स्पष्ट ही अभिव्यक्त है। कुछ आगे चलकर देशोद्धार के लिए सम्पादक महोदय ने जो प्रस्ताव किया है, उससे भी तत्कालीन सम्पादको की केवल वाचालता ही प्रकट होती है : "हमने एक दूसरा उपाय सोचा है। एडुकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फौज। अखबारो के शस्त्र और स्पीचो के गोले मारे जायँ।"[2]

सभा में उपस्थित देशी महाशय को तो यह भी सन्देह होने लगता है कि कहीं नौकरशाही अनाचार का साथ न दे दे। उस समय के हाकिम भी सरकार के ऐसे पिट्ठू थे कि जिन लोगों ने देश की भलाई के लिए पैर उठाना चाहा, उन्हें भी भय था कि वे देश के विरुद्ध न उठ खड़े हों। इसीलिए, वे इसके विषय मे अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लेना चाहते थे : "परन्तु, इसके पूर्व यह होना अवश्य है कि गुप्त रीति से यह बात जाननी कि हाकिम लोग भारत के सैन्य से मिल तो नहीं जायँगे।"[3] इन सबके अतिरिक्त, तत्कालीन समाज ऐसे लोगों से एकदम खाली भी न था, जो देश के उद्धार के लिए सन् १९०५ ई० के स्वदेशी-आन्दोलन के पूर्व ही स्वदेशी वस्तुओं की महत्ता स्वीकार कर चुके थे। वस्तुतः, स्वदेशी-आन्दोलन का बीजारोपण तो भारतेन्दु के काल मे ही हो गया था। भारतेन्दु-वर्णित धार्मिक समाज इसका पुष्ट प्रमाण था, जिसके सदस्यों मे स्वयं उन्होने स्वदेशी वस्तुओं के यथासम्भव व्यवहार करने का अनुरोध किया था। 'भारत-दुर्दशा' की सभा मे उपस्थित एक देशी महाशय भारतेन्दु-युग के इसी कोटि के सभ्य है।[4]

---

१. 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४८७।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्, पृ० ४८८।

४. "तो सार्वजनिक सभा का स्थापन करना, कपड़ा बीनने की कल मँगानी, हिन्दुस्तानी कपड़ा पहिनना यह भी सब उपाय हैं।"—'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४८८।

इतना ही नही, बंगाली महोदय के कथन मे तो हमे तत्कालीन आतंकवाद के बीज भी दिखाई पड़ते है। देश मे प्रचलित 'भारत-उद्धार' नामक एक नाटक की चर्चा करते हुए बंगाली महोदय कहते हैं : "ओ लिखता पाँच जन बंगाली मिल के अँगरेजो को निकाल देगा। उसमे एक तो पिशान लेकर स्वेज का नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट-काट करके पिचरी नामक जलयन्त्र विशेष बना देगा। तीसरा उस जलयन्त्र से अँगरेजों की आँख मे धूर और पानी डालेगा।" ['भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (तथैव), पृ० ४८८]

भारतेन्दु-युग मे, समाज मे व्याप्त भय एवं कायरपन के कारण एकमत होकर लोगो में कार्य करने की क्षमता भी नही रह गई थी। भारतेन्दु-मण्डल के कुछ सजग एवं सवेदनशील साहित्यिक ही उस युग की कमजोरी को पहचान रहे थे। वह मण्डल उस समय समाज के उत्थान के लिए कितना व्यग्र था, इसे हम 'भारत-दुर्दशा' के पात्रों से सुन सकते है। भारतेन्दु ने स्वय एक देशी सभ्य के माध्यम से उसकी प्रभावक अभिव्यक्ति की है। वे व्यग्रतापूर्वक कहते है कि "यह कोई नही कहता कि सब लोग मिलकर एकत्रित हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक उन्नति हो।" (तत्रैव) तत्कालीन भय और आतक का चित्र उपस्थित करने के लिए भारतेन्दु ने उसी समय 'डिसलॉयलटी' का प्रवेश कराया है। 'डिसलॉयलटी' पुलिस की वर्दी पहने आती है। उसके आने-मात्र से एक आतक-सा छा जाता है और यहाँतक कि सभा के लोग छिपने लगते है। सभा के लोगो का छिपना वहाँ परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल है। उस समय तो समाज के आदरणीय एव प्रतिष्ठित लोग भी जनता का नेतृत्व करने से डरते थे। आगे 'डिसलॉयलटी' द्वारा भारतेन्दु ने तत्कालीन शासन की स्वेच्छाचारिता की ओर भी संकेत किया है। सभापति के यह पूछने पर कि उसे उन लोगो को पकड़ने का किस कानून से अधिकार है, 'डिसलॉयलटी' कहती है कि वह 'इगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से' उनलोगो को पकडने आई है। (तत्रैव, पृ० ४८९-९०) 'डिसलॉयलटी' के आने पर सभापति की उक्ति से तो यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि उस समय लोग किस प्रकार आतंकित होकर सभा या मीटिंग करते थे। इसी आतक से काँपते हुए सभापतिजी ने 'डिसलॉयलटी' के आने का कारण पूछा था और अपनी सफाई भी दी थी : "कुछ हमलोग सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नही एकत्र हुए हैं।" (तत्रैव)

इस प्रकार, उपर्युक्त परीक्षण से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाटक में तत्कालीन परिस्थिति की एक सुस्पष्ट एवं मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, अतएव उसका विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व है।

●●

△ अनुसन्धान-पदाधिकारी, साहित्यिक इतिहास-विभाग
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना : ८०००0४

प्रतिक्रिया : तत्त्व-गवेषणा :

[१]

प्राचीन काव्यों की अर्थभ्रान्तियाँ

●

श्रीरावत सारस्वत

'परिषद्-पत्रिका' के, अक्टूबर, १९८२ ई० के अंक मे श्रीमूलचन्द 'प्राणेश' ने 'राजस्थानी-काव्य और उनके हिन्दी-टीकाकार' शीर्षक लेख के १३ पृष्ठों में १५ अर्थों का चिन्तन प्रस्तुत किया है। विद्वान् लेखक ने, निश्चय ही, कुछ भ्रान्तियों का निराकरण किया है। राजस्थानी-साहित्य के अनुसन्धित्सुओं के लिए एकाध अर्थ को छोड़कर प्रायः सभी संकेतित अर्थ पर्याप्त समय से बहुपरिचित होने के कारण, उनके लिए वह चर्चा कोई महत्त्व नही रखती। लेकिन, अनेक शब्दों के जो नये अर्थ प्रस्तावित किये गये है, उनमे कई भ्रान्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साहित्य-जगत् में ये अर्थ इत्थम्भूत बनकर फैले, उससे पहले ही इनपर पुनर्विचार अपेक्षित है। यहाँ सक्षेप में, प्रसंगान्तर्गत शब्दों के वैसे अर्थों पर सप्रमाण चिन्तन प्रस्तुत किया जा रहा है, जो विद्वानो के लिए ध्यातव्य है।

१. जोग न जोग्या भोग न भोग्या 'अहला' गया 'जमारं'।

(नाथसिद्धों की बानियाँ, ३४।५४)

'जमारं' शब्द यद्यपि 'यमद्वार' से व्युत्पन्न होना तो सम्भव है, तथापि उसका 'जीवन' अर्थ, 'जन्मवार' > जम्मवारउ > जम्मारउ > जमारो के व्युत्पत्ति-क्रम से ही लगेगा। 'वार' राजस्थानी में 'अवधि' या 'काल' का संकेतक है। (तुल० : 'राजा जसवन्तसिंह रो **राजवार** लिख्यते।' —'तिवरी पुरोहित री ख्यात।'

'अहला' के 'व्यर्थ' अर्थ के पीछे भी एक मनोरंजक सांस्कृतिक परम्परा है। कात्यायन ने 'स्वस्ति भवते सहलाय' को आशीर्वादात्मक कथन माना है (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २०१ : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल)। जिस युग मे 'हलवान्' होना सौभाग्य-सूचक समझा जाता था, उस युग का यह आशीर्वचन बड़ा सार्थक है। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'सुहलि' और 'अहलि' (अष्टाध्यायी, ६।२।१८७) के दो विरोधी शब्दो का यह युग्म राजस्थानी मे एक लोकप्रचलित प्रयोग है। 'अलियो' (अहलि) तथा 'सलियो' (सहलि) शब्द क्रमशः, 'बुरे' और 'अच्छे' आदमी के लिए साधारणतः प्रयुक्त होते है। इसी के समानान्तर 'अहलो' (अहलः) और 'सहलो' (सहलः) शब्द 'व्यर्थ' तथा 'सफल' कार्यों के लिए प्रयुक्त होते है। इस प्रसंग में 'अहला' (व्यर्थ) इसी सास्कृतिक परम्परा की बात कहता है।

२. हड ब्रह्म'ड चढ़ोड़िया मानूं 'वेस्या' अन्न।
कोई कोई कोरड़ रह गया, यूं भाखै नाथ रतन्न ॥
(गोरखवानी, सं० २११)

श्री 'प्राणेश' ने 'वेस्या' का अर्थ 'वेश्या' (वारवधू) करके उसे मायारूपी वेश्या बताया है। पर, इस प्रसग मे वेश्या के वेश्यापन का कोई प्रतीक नही है। और फिर, वेश्या का हँड़िया चढाकर अन्न पकाने से क्या प्रयोजन ? वास्तव मे, यह शब्द प्रवेशार्थक 'विश्' धातु की प्रेरणार्थक क्रिया 'वेशयति' (प्रवेश करवाता है) से व्युत्पन्न होगा। (तुल० : 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर.।' (गीता, १५।१७)

इस प्रकार, इसका स्पष्ट अर्थ होगा : ब्रह्माण्ड-रूपी हांड़े (वृहदाकार हण्डी) मे मानो (जीव-रूपी) अन्न प्रवेश करवाया (डाला) गया। रतननाथ कहते है कि उस (अन्न) मे कोई-कोई 'कोरड़' (कड़ा) रह गया, अर्थात् पूरी तरह गला नही। (यहाँ योगयुक्त आत्माओ के माया-मोह या राग-द्वेष से अप्रभावित रहने की ओर सकेत है।)

३ नाद नाद सब कोई कहै नादहि लै को विरला रहै।
नाद बिंद है फीकी 'सिला' जिहि साध्या ते सिधं मिला ॥
(गोरखवानी, सं० १८१)

यहाँ 'सिला' को सेंधा नमक का खण्ड (शिलाखण्ड) बनाने की कष्टकल्पना की गई है। नमक के ऐसे खण्ड पशुओ के चाटने के लिए रखे अवश्य जाते है, पर न तो उन्हें 'सिला' (शिला) कहा जाता है और न ऐसे किसी प्रतीक की उद्‌भावना ही यहाँ की गई है। यहाँ 'सिला' साधको-सन्यासियो के लिए स्मृतियो मे वर्णित 'शिलोञ्छ वृत्ति' की 'सिला' है। 'सिला' खलिहान मे पड़ी हुई बाली है तथा 'उञ्छ' अन्न के वे दाने होते है, जो कृषक द्वारा सम्पूर्ण अन्नराशि उठा लेने पर भी खलिहान से बीने जा सकते है। ऐसे दानो को बीनकर खाने का विधान 'हरिवंशपुराण', 'मनुस्मृति' तथा अन्य अनेक ग्रन्थो में वर्णित है। यह कष्टप्राप्य और स्वादरहित 'सिला' का आहार ही 'फीकी सिला' कहा गया है। (तुल० : 'शिलोञ्छमप्याददीत विप्रो जीवन्यतस्ततः। प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छ: प्रशस्यते ॥'—मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक ११२ तथा 'ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयम्।'—मनु०, अ० ४, श्लोक ५) 'अलोनी सिला' का जो उदाहरण देकर 'लवणशिला' की कल्पना की गई है, वह युक्तिसंगत नही है।

४. अबुधा अलीह बाला कयउं उच्चरिय भिन्न रस एनम् ॥१॥
लहुआ लुहार पुत्ता, तू पुत्तीय राइसं धीय ॥२॥

यहाँ 'दूतिका' की परम्परा को नही समझने के कारण विद्वान् लेखक ने शब्दो से अर्थ की खीचतान की है। प्रेमकथानको की विविध दूतियों में 'धातृका' दूतियाँ प्रायः वृद्धाएँ वर्णित हुई हैं, जो पुत्रीवत् स्नेह का प्रदर्शन कर नायिका को फाँसने का प्रयत्न करती हैं। (द्रष्टव्य : बीसलदेवरास : 'असी वर्ष की हो वूढि वेसि। दांत कवाड़्या सिर पांडूरा केस ॥ आई अवासां संचरी। गलि लागइ नै रुदन कराई ॥' —नागरी-प्रचारिणी सभा-संस्करण, ३।२१)

इसलिए, 'दूतीवाक्य' को इसी पृष्ठभूमि में समझना चाहिए। यहाँ दूती, नायिका को 'सखी' नहीं कहकर 'बाला', 'अबुधा', 'पुत्तीय' आदि शब्दों से सम्बोधित करती है। अर्थ होगा : हे अबुधा (भोली) बाला (बालिका), तुम यह अलीह (अलीक = मिथ्या) विपरीत रस का कथन क्यों-कर रही हो ?. वह (पृथ्वीराज) लहुआ (लघुकः = मामूली) लुहार (आगे के छन्द में वर्णित 'लुहार' के रूपक के प्रसंग मे) का पुत्र है, और हे पुत्री (पुत्तीय), तू राजा की (राजस्य = रायस्स = राइसं) बेटी (धीय = सुता) है। श्री 'प्राणेश' ने 'बाला' को 'प्रिय', 'अलीह' को 'आली' (सखी) तथा 'संधीय' को 'सिन्धुप्रदेश का' समझा है, जो उपर्युक्त सांस्कृतिक सन्दर्भ और भाषावैज्ञानिक तथ्य को देखते हुए ठीक नही कहा जा सकता।

५. पंडित भंडित अर 'कतवारी', पलटी सभा विकलता नारी।
अपढ विपर जोगी घरबारी, नाथ कहै रे पूता इनका संग निवारी ।।
(गोरखबानी, सं० २६१)

यहाँ, बदनाम पण्डित, विपरीत सभा, विकल नारी, अनपढ विप्र तथा गृहस्थ योगी के साथ 'कातनेवाली स्त्री' का कोई मेल नही बैठता। कातनेवाली तो बुढ़िया भी हो सकती है। उसके संग में क्या दोष हो सकता है ? ऐसा कहीं उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता। बल्कि, कौटिल्य ने तो राज्य की ओर से स्त्रियो की सहायता के निमित्त कताई का काम देने के लिए सूत्राध्यक्ष-विभाग की बात कही है। यहाँ 'कतवारी' का अर्थ तिनको आदि की ढेरी होगा, जिसके पास रहना स्पष्टतः ही भयप्रद है। कभी आग लगने पर जलने का अन्देशा रहता है (द्र० : देशीनाममाला २।११ : कतवारो = घास आदि का ढेर)। इसी 'कतवारो' का स्त्रीलिंग रूप 'कतवारी', अर्थात् घास की ढेरी है। डॉ० बडथ्वाल के 'कूड़ा-कबाड़' अर्थ का जो उपहास किया गया है, वह ठीक नही है; क्योंकि वही अर्थ सही है।

६. काजल काल विराल आवीय आडिहिं ऊतरइ ए।
जिमणउ जम विकराल खुरखुरव ऊछलयीо ए ।।
(भरतेश्वर बाहुबलीरास, ५७)

यहाँ डॉ० ओझा एवं शर्मा के 'काजल के समान काली' बिल्ली के अर्थ को नकारना ठीक नहीं है। यह एक लौकिक प्रयोग है और इस प्रसंग मे बिलकुल ठीक है। यद्यपि शकुनशास्त्र के अनुसार, 'मार्जार' और 'भुजंग' दोनो का ही आगे से रास्ता काटकर निकलना अशुभ है (तुल० : शश-सरट-भुजग-जाहक-मार्जारैर्लङ्घिते पथि न यायात्।— शकुनप्रदीप, जांघिकप्रकरण, ५७)। पर, 'आडिहिं' (आडी) का स्त्रीवाचक क्रियाविशेषण 'मार्जार' (बिल्ली) के लिए ही सार्थक है, पुरुषवाचक 'काल' (सर्प) के लिए नहीं। दूसरे, केवल 'काजल' कहने से काले का स्पष्टार्थ व्यक्त नही होता। दूसरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए : 'दाहिनी ओर विकराल यम (महिष) खुरखुराता हुआ (तुल० : 'खुरखुरव'= खुरखुराय = खुरखुरायते : **मोनियर विलियम्स**, पृ० ३४०) उछल रहा है; अथवा खुरों से (पृथ्वी को) खोदता हुआ (खुरव) उछल रहा है। (द्रष्टव्य : शकुनप्रदीप, जांघिकप्रकरण, ४२) प्रवास के समय लड़ते हुए भैंसों का दाहिनी ओर आना अशुभ माना जाता है;

मार्जारमहिषयुद्धस्तनितगृहज्वलनबन्धुकलहाद्यात् ।
विद्युद्वात्या-दुर्दिनमयात्रिकं सूतके द्वे च ।।
(शकुनप्रदीप, जांघिकप्रकरण, ४२)

७ गूडा समउ धरणि मंझारि, गिउ वाहुवली मुष्टि प्रहारि ।
भरह सवल तइं तीणइ घाइ, कंठ समाणउ भूमिहिं जाइ ।।
(भ० बा० रा०, १८५)

विद्वान् लेखक ने भ्रमवश भरत को वाहुवली से श्रेष्ठ समझकर उलटा अर्थ कर दिया है। भरतेश्वर वाहुवली के सुप्रसिद्ध कथानक का तो मर्म यही है कि वाहुवली अपने सौतेले ज्येष्ठ भाई भरत से अधिक शक्तिशाली थे और उन्होंने युद्ध में भरत को पराजित किया था। इसी पश्चात्ताप से वाहुवली ने वैराग्य लिया। द्रष्टव्य : भरहेसर वाहुवली रास, ठवणि १४।१९०

तउ तिहिं च चिंतइ राउ, चडिउ सवेगइं वाहुवले ।
वूह तिउ एमइं वडु भाय, अविमांसिइ अविवेक वंति ।।१९०।।

इस दृष्टि से सही अर्थ इस प्रकार होगा : वाहुवली भरत के मुष्टिप्रहार से घुटनों तक भूमि में धँस गया। भरत उस (वाहुवली) के उस (मुष्टि)-प्रहार से आकण्ठ भूमि में चला गया। यहाँ 'तइ' का अर्थ 'उस' और 'तीणइ' का अर्थ 'उसके द्वारा' होगा। 'तइं' को अन्यपुरुष सर्वनाम (राजस्थान का भाषा-सर्वेक्षण : डॉ० ग्रियर्सन, पृ० २१) तथा 'तीणइ' (या तेणइं, तेणिइं, तिणइ, तिणि, तेणीयइं) को नित्य सम्बन्ध में करणविभक्ति-युक्त सर्वनाम समझा जाना चाहिए (द्रष्टव्य . 'पुरानी राजस्थानी' : टेसीटोरी के अध्ययन का डॉ० नामवर सिंह-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ११२)।

८. गिरावै जिकै 'आठुवां' पाणि गज्जं । (वचनिका, पृ० ४४)

यहाँ 'आंठुवां' का अर्थ 'अग्रभाग' किया गया है। प्राकृत में संस्कृत 'अस्थि' का 'अण्ठि' रूप होता है। (तुल० . 'अहिअमहुरस्स अंवस्स अजोग्गदाए अण्ठीनं मक्खीअहृदि।'—चारु० ६ पाइयसद्दमहण्णव, भाग १, पृ० ९)। इसी अण्ठियुक्त स्थल को 'आंठव' कहेंगे, जिसका वहुवचन में तृतीया विभक्ति का रूप 'आठवां' या 'आंठुवां' होगा। अत, केवल अग्रभाग कहने से सही अर्थ का वोध नहीं होता। घोड़े के पृष्ठप्रदेश का अस्थियुक्त भाग ही 'आंठव' या 'आठुओ'-'आंठवो' कहलायगा।

९ 'डाकणि' वात घोड़ा चढि-चढि दसों दिस चाली। (वचनिका, पृ० ५८)

यहाँ 'डाकणि (डाकिनी) वात' का 'भयंकर' अर्थ सामान्यत. तो ठीक है, पर डाकिनी केवल भयंकर न होकर 'भक्ष्य लेनेवाली' भी कही जाती है। कवि ने जिस प्रसंग में यह प्रयोग किया है, उसमें 'राठौड रतनसिंह' की मृत्यु का समाचार उसकी रानियों के पास पहुँचाने की वात कही गई है, जिसमें यह स्पष्ट संकेत है कि वह 'वात' (सन्देश) सतियों के प्राणहरण करके अपना 'डाकिनी' का स्वरूप प्रमाणित करेगी। उत्तराधिकार के प्रश्न

युद्ध मे बहुसंख्य राजपूत योद्धा मारे गये थे, जिसके पीछे हजारों सतियों का प्राणत्याग इस शब्द की सार्थकता प्रकट करता है।

१०. समत्था इसा 'ऊंडलां आभ साहै। (वचनिका, पृ० ४८)

यहाँ 'ऊंडला' का अर्थ 'बाहुपाश' किया गया है, जो ठीक नही है। आकाश को बाहुपाश में भरने का तो कोई तरीका ही नही है। आकाश को टिकाये रखने (गिरने से बचाने) के लिए हथेलियो को ऊपर करने की आंगिक क्रिया की आवश्यकता है। 'देशीनाममाला' (१।१२९) मे 'उडल' को देशी शब्द मानकर इसका अर्थ मंच, मकान और उच्चासन किया गया है। 'पाइयसद्दमहण्णवो' (भाग १, पृ० १७४) में भी यही अर्थ है। हथेलियों को ऊपर करके बनाया गया यह 'उच्चासन' ही 'उडल' (ऊर्ध्वमण्डल) होना चाहिए। इस अर्थ मे लकड़ी आदि के सहारे से किसी भारी वस्तु को टिकाये रखना भी 'उडल' की परिभाषा मे आ सकता है।

'परिषद्-पत्रिका' ने इस प्रकार के अर्थचिन्तन-सम्बन्धी लेख प्रकाशित करके बड़ा स्तुत्य कार्य किया है। प्राचीन काव्यो के अर्थों की भ्रान्तियो पर इस प्रकार की चर्चाओं से साहित्य-विषयक हमारा ज्ञान तो बढ़ेगा ही, साथ ही प्राचीन भारतीय काव्यों की रूढियों, परम्पराओ और सांस्कृतिक विशेषताओ पर भी समुचित प्रकाश पड़ सकेगा।

△ डी २८२, मीरां मार्ग
बनीपार्क, जयपुर : ३०२००६

[२]

सन्तकवि हरिराम व्यास का स्थितिकाल : पुनर्विचार

●

श्रीवेदप्रकाश गर्ग

'परिषद्-पत्रिका', वर्ष २२, अक ४ (जनवरी, १९८३ ई०) में श्रीहरिप्रसाद नायक का 'सन्त हरिराम व्यास का स्थितिकाल' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। अपने इस लेख मे श्रीनायकजी ने व्यासजी के स्थितिकाल को स्थिरता प्रदान करने मे पर्याप्त परिश्रम किया है, किन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध मे जो तर्क और विवेचन प्रस्तुत किये हैं, वे पुष्ट प्रमाणों के अभाव में सन्दिग्ध, अतएव पुनर्विचारणीय है।

वास्तविकता तो यह है कि पूरा लेख ही कुछ गलत अवधारणों पर आश्रित है और इसीलिए लेखक के सारे विचार निरर्थक सिद्ध हुए हैं। विद्वान् लेखक ने अपने अनुमानों को जिन तथ्यों पर अवलम्बित किया है, वे संगत एव प्रामाणिक नहीं हैं। लेख में अनेक विसंगतियाँ एवं अशुद्धियाँ है और इसमें भी कोई सन्देह नही कि लेख अपने में अनावश्यक विस्तार से युक्त है। यहाँ संक्षेप में कतिपय तथ्यों पर पुनर्विचार प्रस्तुत है;

१. पृष्ठ ६१ अष्टछापी कवि 'कृष्णदास' थे, जो 'कृष्णदास अधिकारी' के रूप मे प्रसिद्ध थे, 'श्रीकृष्णदास' नही, जैसा लिखा गया है।

२ पृ० ६२. मीराँबाई का स्थितिकाल सवत् १५६३ से १६३० वि० तक माना गया है, जो अशुद्ध है। मीराँ की जन्मतिथि श्रावण सुदी १, शुक्रवार, सवत् १५६१ वि० प्रामाणिक है। सवत् १६३० वि० तक उनको जीवित मानना ऐतिहासिक घटनाओ के साक्ष्य के आधार पर किसी प्रकार भी सम्भव नही है। उनका अन्तिम काल परिस्थितियों के साक्ष्य के आधार पर अधिक-से-अधिक सवत् १६१३ वि० के आसपास माना जा सकता है।[1]

पृ० ६१ पर उद्धृत व्यासजी के 'विहारहिं स्वामी बिनु को गावै।' टेकवाले पद्य के आधार पर विना किसी साक्ष्य के यह अनुमान कर लेना कि 'सभी दिवंगत सन्तकवि उम्र में व्यासजी से बडे थे' और इसीलिए 'जयमल के जन्म, सवत् १५६४ वि० के पश्चात् ही व्यासजी का जन्मकाल स्थिर होता है', अपने मे अभावात्मक है। अत, निरर्थक है।

३. पृ० ६३ : रुद्रप्रताप ने (प्रतापरुद्र ने नही) संवत् १५८८ वि०, वैशाख शुक्ल-पूर्णिमा, सोमवार को ओरछा नगरी की नीव डाली थी; सवत् १५८७ वि० वैशाख शुक्ल १३ को नही, जैसा कि लिखा गया है। 'करार' को छोड़कर नहीं, बल्कि 'गढकुण्डार' के स्थान पर 'ओरछा' को राजधानी बनाया था।

रुद्रप्रताप के केवल दो ही पुत्र नही थे, अपितु बारह पुत्र थे, जिनमे दो पुत्र भारतीचन्द्र तथा मधुकरशाह को राज्याधिकार प्राप्त हुआ था, शेष उदयाजीत आदि सात पुत्रो को जागीरे दी गई थी और तीन का बाल्यकाल मे ही देहान्त हो गया था।[2]

४ पृ० ६४ हितहरिवंशजी का वृन्दावन-आगमन सवत् १५९० वि० मे हुआ था; सवत् १५९१ वि० मे नही। व्यासजी सवत् १५९१ वि० मे वृन्दावन आये थे; संवत् १५९१ वि० के पश्चात् नही, जैसी कि सम्भावना की गई है।

हेमू, अकबर के शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे नही, बल्कि पहले वर्ष (सवत् १६१२ वि० सन् १५५६ ई०) मे बैरामखाँ द्वारा पराजित होकर मारा गया था।[3]

५ पृ० ६५ मधुकरशाह के सिंहासनारोहण-संवत् १६११ वि० के बाद ही व्यासजी ओरछा छोड़कर स्थायी रूप से वृन्दावन आये थे, यह अनुमान साक्ष्यहीन है। इससे पूर्व आने मे उन्हे कौन-सी बाधा थी? वास्तविकता यह है कि व्यासजी

१ द्र० मीराँबाई (शोधप्रबन्ध) डॉ० प्रभात, पृ० ११९ एवं २३० (प्र० सस्करण), प्र० हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई।

२. दे० बुन्देलखण्ड का सक्षिप्त इतिहास . श्रीगोरेलाल तिवारी, पृ० १२४-१२५।

३. वास्तव में हुमायूँ का मरना, अकबर का गद्दी पर बैठना और हेमूँ का शाही सेना के मुकाबले पानीपत के मैदान मे पराजित होना और मारा जाना आदि घटनाएँ एक ही साल, सन् १५५६ ई० की हैं।—ले०

संवत् १५९१ वि० में वृन्दावन आ गये थे और फिर कही नही गये। विना किसी प्रमाण के ही यह मान लेना कि मधुकरशाह ने राजा होने के बाद ही व्यासजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था, उचित नहीं है। युवराजत्व-काल में भी तो यह सम्भव है और यही प्रामाणिक एवं संगत है। अतः, मधुकरशाह को लेकर इस काल की प्रामाणिकता को सन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता।

६. पृ० ६६ : श्रीनायक ने 'रसिकअनन्यमाल' में 'श्रीव्यासजी की परचई' के अन्तर्गत वर्णित **रैदास, कबीर, पीपा, रामानन्द** आदि जिन सन्तों के निधनकाल के आधार पर दीक्षाकाल के रूप मे संवत् १६२२ वि० का अनुमान किया है, वह सही नहीं है, क्योंकि **रैदास** का निधन संवत् १६२० वि० मे किसी प्रकार भी सम्भव नही है। इसी प्रकार, **रामानन्द** तथा **कबीर** का निधन-सवत् क्रमश. १५४४ और १५७५ वि० मानना भी ऐतिहासिक प्रमाणों के विपरीत है। **रामानन्द, कबीर, पीपा, रैदास** आदि के ऐतिहासिक प्रमाणों की संगति में आनेवाले सही समय इस प्रकार है[१] .

१. रामानन्द : संवत् १३५६–१४६७ वि०।
२. पीपा . संवत् १३८०–१४४१ वि०।
३. कबीर : संवत् १४००–१५०५ के आसपास।
४. रैदास : संवत् १४१५–१५१५ के आसपास।

श्रीनायक के लेख का मूलाधार सं० १६२२ वि० की तिथि है। इसे उन्होंने व्यासजी के स्थायी रूप से वृन्दावन आकर ४२ वर्ष की अवस्था मे **हितहरिवंशजी** से दीक्षा लेने के रूप मे प्रामाणिक माना है, किन्तु उनका ऐसा सोचना सही नही है। कारण यह है कि **हितहरिवंशजी** का निकुंज-गमनकाल राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सम्पूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा पुराने कागजों में निर्विवाद रूप से सं० १६०९ वि० बतलाया गया है। अतः, सं० १६२२ वि० मे दीक्षा देने का प्रश्न ही नही उठता। जब **हितजी** जीवित ही नहीं थे, तब व्यासजी ने दीक्षा किससे ली थी? हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों के प्रमाणहीन और केवल आनुमानिक उल्लेख पर विश्वास कर प्रामाणिक तथ्य को नकारना या विवाद की स्थिति उत्पन्न करना उचित नही है।

यद्यपि व्यासजी का हितजी से दीक्षा लेना कुछ विवादास्पद है, तथापि श्रीनायक का 'रसिकअनन्यमाल' मे वर्णित इस प्रसंग को स्वीकारते हुए, उसके एक तथ्य को ग्रहण करना और दूसरे को नकारना भी उचित नही है, जिसे श्रीनायक ने ग्रहण किया है। 'रसिकअनन्यमाल' का यह उल्लेख तो सही है कि व्यासजी ने ४२ वर्ष की अवस्था होने पर दीक्षा ली थी, परन्तु उसी रचना के आधार पर दीक्षाकाल सं० १५९१ वि० बैठता है,

१. द्र० **'शोधपत्रिका', वर्ष ३२, अंक २ में प्रकाशित** मेरा लेख **'सन्त रैदास का समय', पृ० ४२–५२।**

न कि सं० १६२२ वि०। अत., सं० १६२२ वि० को दीक्षाकाल के रूप में स्वीकारना तथ्यो के विपरीत तथा भ्रमात्मक है।

इस प्रक्रिया के अनुसार, श्रीनायक का, स० १६२२ वि० को दीक्षाकाल मानकर और उसमे से ४२ घटाकर सं० १५८० वि० को व्यासजी का जन्म-संवत् सिद्ध करना भी अपने मे उपहासास्पद है। यहाँ लेखक महोदय की एक बात समझ मे नही आती। एक ओर तो वह 'रसिकअनन्यमाल' को सुनी-सुनाई बातो के आधार पर रचित मानकर उसमे वर्णित तथ्यो को विश्वसनीय नही मानते और दूसरी ओर व्यासजी के शिष्यत्ववाले प्रसंग को स्वीकारते है।[1] यह विरोधात्मक स्थिति नही, तो क्या है? यह ध्यान रहे कि व्यासजी के इतिवृत्त के लिए सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक आधार भगवतमुदित-कृत 'रसिकअनन्यमाल' नामक रचना ही है। इसमे वर्णित विशद चरित्र का उपयोग किये विना व्यासजी का 'वृत्त' लिखा ही नही जा सकता, किन्तु खेद है कि उसी का उपयोग बहुत कम और वह भी उचित रूप मे नही किया गया है।

७ पृ० ६८. श्रीनायक का 'शिवसिंहसरोज' के आधार पर यह लिखना कि सं० १६४० वि० व्यासजी का सम्भवत. मृत्युकाल है, अशुद्ध है। यहाँ व्यासजी का नाम गलत दे दिया गया है। यहाँ हरिदासजी का नाम देना चाहिए था।

८. पृ० ६९. श्रीनायक ने पृ० ६८ पर व्यासजी के विहार-विषयक एक पद की दो पंक्तियाँ उद्धृत कर उसके अन्तिम चरण—'सुख निरखत बीते तीनो पन' के आधार पर यह अनुमान किया है कि व्यासजी ने इस पद की रचना वृद्धावस्था मे की थी। इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही निवेदन है कि प्रथम तो इस विहार-विषयक पद के आधार पर कोई ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाला ही नही जा सकता, क्योकि इस पद मे उल्लिखित श्रीहरिवंश, श्रीहरिदास और स्वयं व्यासजी अपने ऐतिहासिक रूपो मे हमारे सामने नही आते, अपितु पद मे वर्णित घटना इन तीनो 'हरिवशी हरिदासी-व्यासदासी' के नित्य-सखी-रूप से सम्बद्ध है और यह पद भावनापरक है। किन्तु, यदि इससे कोई ऐतिहासिक भाव ग्रहण करना ही है, तो वह इस रूप मे हो सकता है :

पद के अन्तिम चरणो में 'हरिवशी-हरिदासी' का उल्लेख किया है और साथ ही अपने तीनो पन बीत जाना भी लिखा है। अत· 'रसिकअनन्यमाल' के अनुसार, व्यासजी की उम्र श्रीहितजी के निकुंज-गमन के समय (सं० १६०९ वि०) मे ६० वर्ष की थी और तब वे अपने सम्बन्ध मे उक्त कथन कर सकते थे। इसके अतिरिक्त और कोई सगति इस पद की नही बैठती।

---

१. जहाँ यह बात सही है कि भगवतमुदितजी का उद्देश्य 'रसिकअनन्यमाल' के रूप मे प्रामाणिक इतिहास लिखना नहीं था, अपितु राधावल्लभ-सम्प्रदाय के रसिक भक्तो की महिमा का कथन-मात्र था, वहीं यह तथ्य भी सही है कि व्यासजी का प्राचीनतम चरित्रोल्लेख भी इसी में प्राप्त होता है।—ले०

श्रीनायक ने बाल्य और यौवन के पश्चात् प्रौढावस्था की अन्तिम सीमा अधिक-से-अधिक ५५ वर्ष मानी है, जो गलत है। नायकजी ने प्रौढावस्था की अन्तिम सीमा अधिक-से-अधिक ५५ वर्ष किस आधार पर मानी है, यह समझ मे नही आया, जबकि 'पन' के रूप में किसी व्यक्ति की उम्र के चार भाग २५-२५ वर्षो के क्रम मे होने से प्रौढावस्था की अन्तिम सीमा ७५ वर्ष की है। इसी को ग्रहण करना चाहिए था। लेकिन, यह ध्यान रहे कि 'सुख निरखत बीते तीनों पन' के रूप में व्यासजी का यह उल्लेख सामान्य कथन-मात्र है और वृद्धावस्था को उसी प्रकार संकेतित करता है, जिस प्रकार 'सुदामाचरित' मे सुदामाजी **'जे बिधि बीत गये पन द्वै, अब तो पहुँचो बिरधापन आय कैं'** कहकर अपने बुढापे (वृद्धावस्था) की ओर संकेत करते है। इस प्रकार, ६० वर्ष की उम्र सामान्य दृष्टि से वृद्धावस्था की सूचक है। अत., इस पद के आधार पर जो अनुमान किये गये हैं, वे अनुपयुक्त है।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक द्वारा सं० १६५० और १६५५ वि० के मध्य निर्धारित व्यासजी का निधनकाल क्यो प्रमाणपुष्ट नही है, जब कि उसे सं० १६४० वि० के बाद होना चाहिए। वह सं० १६४० वि० के बाद ऐतिहासिक सगति मे आता है, अतः मान्य सम्भव है। नाभाकृत 'भक्तकाल' मे रचनाकाल तो दिया हुआ नही है, अतः अनुमान ही किया जा सकता है। किसी निश्चित समय का उल्लेख सम्भव भी नहीं है। 'भक्तमाल' का रचनाकाल पर्याप्त लम्बा समय है। फिर भी, भक्तमाल के व्यासजी-विषयक छप्पय मे वर्त्तमानकालिक वर्णन होने से उक्त छप्पय का स० १६५०-५१ वि० के आसपास रचा जाना माना जा सकता है, यद्यपि यह कोई पुष्ट तथ्य नही है।

श्रीनायक ने **ध्रुवदास**-कृत 'भक्तनामावली' का रचनाकाल सं० १६७१ वि० लिखा है, जो गलत है। 'भक्तनामावली' मे भी रचनाकाल का अभाव है। वहाँ भी अनुमान ही लगाया जा सकता है, कोई निश्चित समय नही बताया जा सकता। अत', इसके रचना-काल के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। सं० १६६० वि० के आसपास से सं० १७०० वि० के लगभग तक इसके रचनाकाल का अनुमान किया गया है। ऐसी स्थिति मे, नायकजी ने इसका निश्चित रचनाकाल सं० १६७१ वि० कहाँ से दे दिया है, कुछ समझ मे नही आता। 'भक्तनामावली' मे वर्णित भक्तो के उल्लेख को देखते हुए, स० १६६० वि० के आसपास उसकी रचना हो जाने का अनुमान किया जा सकता है; क्योकि उसमे जिन भक्तों का उल्लेख है, उनमे अनेक का सं० १६६० वि० के पूर्व निधन हो चुका था, यद्यपि कुछ भक्त उस समय जीवित भी थे। उसमे उन्ही भक्तो के नाम मिलते है, जो स० १६६० वि० के पूर्व ख्याति प्राप्त कर चुके थे। सत्तहवी शती के उत्तरार्द्ध मे प्रसिद्ध होनेवाले भक्तों का उल्लेख उसमे नही है। अत., 'भक्तनामावली' के रचनाकाल को देखते हुए व्यासजी का निधनकाल स० १६५५ वि० के लगभग माना जा सकता है। व्यासजी-विषयक दोहे से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उनके निकुंज-गमन के थोड़े दिन बाद ही वह रचा गया हो।

९. पृ० ७० नायकजी ने व्यासजी के 'अब साँचौ ही कलियुग आयौ' टेकवाले जिस पद को उद्धृत कर ऐतिहासिक सन्दर्भो के परिप्रेक्ष्य मे उसके कथ्य की विवेचना प्रस्तुत करते हुए व्यासजी का निधनकाल अनुमित करने की चेष्टा की है, वह सायास प्रयास है। कारण यह है कि इस पद मे 'मन्द वर्षा' होने की चर्चा है और 'अकबरनामा' के आधार पर ज्ञात होता है कि अनावृष्टि का भीषण प्रकोप अकबर के राजत्व-काल के ४१वें वर्ष मे हुआ था। यह विक्रम-संवत् १६५३ था और इस स्थिति के उल्लेख से सं० १६५५ वि० के लगभग व्यासजी का निधनकाल मानने मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। 'रसिकअनन्यमाल' से पता चलता है कि व्यासजी को दीर्घायु प्राप्त हुई थी। सौ वर्ष से अधिक अवस्था मानने पर और जन्म-स० १५४९ वि० को देखते हुए उनका निकुंज-गमनकाल स० १६५५ वि० के लगभग उपयुक्त है।

पद की ५वी पंक्ति मे वर्णित 'मथुरा खुदति, कटत बृंदावन' के आधार पर यह तो निश्चित है कि उक्त पद की रचना व्यासजी के वृन्दावन मे स्थायी रूप से बस जाने पर ही हुई थी, किन्तु वृन्दावन-वास का वह समय स० १६९१ वि० है, न कि सं० १६२२ वि०। साथ ही, उक्त उल्लेख के आधार पर उसको किसी तत्कालीन विशेष राजनीतिक घटना से सम्बद्ध करना भी उचित नही है। पद की पूरी पक्ति 'मथुरा खुदति, कटत बृंदावन मुनि जन सोच उपायो' का सीधा अर्थ यह है कि मथुरा के खुदने से और वृन्दावन के कटने से मुनिजनो (एकान्तवासी भक्तजनो) को बहुत कष्ट हुआ। वह अकबर का राजत्व-काल था और मथुरा-वृन्दावन की आबादी नित्य प्रति बढ रही थी। मथुरा मे पुराने ध्वसावशेषो को खोदकर नये मन्दिर और मकान बनवाये जा रहे थे और वृन्दावन के वृक्षो को काटकर वहाँ आदमियो को बसाने के लिए स्थान बनाया जा रहा था। वृन्दावन की लताओं को 'पारिजात' माननेवाले व्यासजी तथा उनके समान अन्य रसिक भक्तो को इससे कष्ट होना स्वाभाविक था और उसी का उल्लेख व्यासजी ने इस पक्ति में किया है। पद में उल्लिखित दोनो घटनाएँ अकबर-काल की होने के कारण इस पद की रचना का समय सं० १६५३-५४ वि० मे सम्भावित है और इसके कुछ ही दिन बाद सं० १६५५ वि० के लगभग व्यासजी का निधन हो गया था।

श्रीनायक ने स० १६०३ वि० मे अकबर का सिंहासनारूढ होना लिखा है, जो अशुद्ध है। अकबर सं० १६१२ वि० (सन् १५५६ ई०) मे सिंहासन पर बैठा था।

१०. पृ० ७२ : व्यासजी ने अपने एक पद मे 'सेत भई सिर की लट' का उल्लेख किया है, जो वृद्धावस्था का सूचक माना जा सकता है। इसी प्रकार, 'बरनत बैस खसी री' से यह अनुमान किया जा सकता है कि व्यासजी ने लम्बी उम्र का उपभोग किया था। 'रसिकअनन्यमाल' से भी ज्ञात होता है कि व्यासजी को दीर्घायु प्राप्त हुई थी। अत, इन पदो की रचना ८०-९० वर्ष की उम्र के समय होना अनुमित किया जा सकता है। अर्थात्, स०१६३०–१६४० वि० के आसपास इन पदो की रचना माना जाना सम्भव है।

यद्यपि, उपर्युक्त दोनों पद 'शृंगाररसविहार' के है और उनसे इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करना उचित नही है, तथापि यदि इस तरह का आशय लिया जाता है, तो इनकी रचना का समय ऊपर निर्दिष्ट संवत् ही है। किन्तु, यह भी ध्यान रहे कि यह सब अनुमान-मात्र ही है।

श्रीनायक ने 'गुरु-शिष्य-वंशावली' मे उल्लिखित व्यासजी के निधन-सम्बन्धी दोहे के बारे में लिखा है : 'विद्वानों की बड़ी संख्या ने सं० १६८९ वि० मे व्यासजी का दिवंगत होना माना है और उन लोगों की मान्यता का आधार-स्रोत सम्भवत: यही दोहा है।' किन्तु, नायकजी ने यह स्पष्टोल्लेख नहीं किया कि 'किन विद्वानों' की बड़ी संख्या ने इस संवत् को व्यासजी का निधनकाल माना है। उन विद्वानों का नाम देना चाहिए था। विद्वानों की संख्या की बात तो अलग रही, सम्भवत. एक-दो विद्वान् भी ऐसा नहीं मिलेगा, जो 'गुरु-शिष्य-वंशावली' मे उल्लिखित सं० १६८९ वि० को व्यासजी का निधनकाल स्वीकार करता हो। अस्तु !

'रसिकअनन्यमाल' में वर्णित व्यासजी के चरित्र से तथा अन्य संगत ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि व्यासजी का जन्म सं० १५४९ वि० मे हुआ था। सं० १५९१ वि० में वृन्दावन आकर उन्होने हिताचार्य का शिष्यत्व ग्रहण किया था और सौ वर्ष से अधिक की दीर्घायु प्राप्त कर सं० १६५५ वि० के लगभग उनका निकुंज-गमन हुआ था।

△ १४, खटीकान, मुजफ्फरनगर : २५१००२ (उ० प्र०)

●

भारतीय नीति का विकास

ले० : डॉ० राजबली पाण्डेय

विद्वान् लेखक डॉ० पाण्डेय ने अपनी इस पुस्तक में पूर्व-वैदिक काल से आधुनिक काल तक की नैतिक प्रवृत्तियों के विकास की विभिन्न विधाओं पर आधिकारिकता के साथ अपना पाण्डित्यपूर्ण विचार उपस्थित किया है। इसमें नीति की कल्पना और अन्य शास्त्रों से उसका सम्बन्ध, नैतिक आचारों का वर्गीकरण, भारतीय नीति के स्रोत और नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधारों का पर्यालोचन ऐतिहासिक विवेचन के साथ किया गया है। इसका अध्ययन करने से मनुष्य को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सत्यासत्य, उचितानुचित, शुभाशुभ आदि का ज्ञान होगा, साथ ही उसे अपनी जीवन-यात्रा में उपयुक्त मार्ग पर अग्रसर होने में सफलता भी प्राप्त होगी। पृ० सं० १६४। संशोधित मूल्य : रु० ७'५०।

प्र० : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-८०००४

●

नागालैण्ड-भाषा-परिषद् के महार्घ प्रकाशन

●

प्रस्तुति : डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

हिन्दी-साहित्य की भाषिक समृद्धि के निमित्त सतत प्रयत्नशील **प्रो० ब्रजबिहारी कुमार** के मन्त्रित्व में संचालित 'नागालैण्ड-भाषा-परिषद्', कोहिमा ने पूर्वोत्तर भारत की विभिन्न लोकभाषाओ और उनके साहित्य की विभूति से हिन्दी-जगत् को परिचित कराने का जो सारस्वत व्रत लिया है, उसकी पूर्ति मे वह निरन्तर, अबाध रूप से, गतिशील है। 'नागालैण्ड-भाषा-परिषद्' का यह अनुकरणीय कार्य निश्चय ही, हिन्दीभाषी प्रदेशों के भाषिक शोध-संस्थानो के लिए अतिशय प्रेरक है। सम्प्रति, आवश्यकता इस बात की है कि सम्पूर्ण भारत की विभिन्न लोकभाषाओ से भाषिक एवं साहित्यिक तत्त्वो का दोहन करके, उन्हे, सीमान्तपारगामिनी प्रतिष्ठा से संवलित राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए सुलभ किया जाय, ताकि वह ततोऽधिक पुष्ट और परिवर्द्धित भाषा हो सके। इस दृष्टि से, 'नागा-लैण्ड-भाषा-परिषद्' ने हिन्दी के उन्नायक भाषिक प्रतिष्ठानो मे अपनी पांक्तेयता आयत्त की है। यहाँ, इस परिषद् की, भारत-सरकार के शिक्षा एवं समाजकल्याण-मन्त्रालय की आंशिक आर्थिक सहायता से प्रकाशित तथा ऊर्जस्वी साहित्यमनीषी **प्रो० ब्रजबिहारी कुमार** द्वारा सम्पादित एवं नाधिक मूल्य में प्राप्य कतिपय पुस्तको का सक्षिप्त परिचय हिन्दी-पाठको के लिए उपन्यस्त है।

१. कुकी-लोककथाएँ . उक्त परिषद् द्वारा प्रकाशित पुस्तको मे इस पुस्तक की क्रम-संख्या १०१ है तथा लोकसाहित्य-पुस्तकमाला का यह पहला प्रकाशन है। इसमे कुकी-जनजाति की लोककथाएँ रोमन तथा देवनागरी-लिपि मे हिन्दी-अर्थ के साथ प्रस्तुत की गई हैं। इसके पूर्व इस परिषद् द्वारा कुकी-जनभाषा के कोश एव व्याकरण भी प्रकाशित किये जा चुके हैं। इस पुस्तक में संकलित कुकी-जनजीवन से सम्बद्ध सात मनोरजक लोककथाएँ इस प्रकार हैं : १. दापा (एक लडके का नाम), २ थोइतिङ ले डामवोम् . थोइतिङ (एक लड़की का नाम) एवं डाम्वोम् (एक लडके का नाम); ३ हुम्पी ले उकेङ : बाघ तथा मेढक, ४ चेम्तातूपा : दाव की सान धरानेवाला, ५ आम्सिजोल्नु . (एक लड़की का नाम), ६ खुतुचिबी : अंगूठी तथा ७ लहाङ'आ गोसेम मुत · पहाड का बाँसुरी बजानेवाला। कहना न होगा कि इन कहानियो से अन्य जनपदीय भाषाओं की लोक-

कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन रोचक शोधकार्य का विषय सिद्ध होगा। इस पुस्तक का सह-सम्पादन **श्रीचाङसान** ने किया है।

२. **पाइते-लोककथाएँ** : यह नागालैण्ड-भाषा-परिषद् की लोक-साहित्य-पुस्तकमाला का दूसरा (प्रकाशित पुस्तक-क्रमसंख्या १०५) प्रकाशन है। पाइते और कुकी दोनों एक ही वर्ग की जनजातियाँ है और उनकी भाषाओं मे पर्याप्त साम्य है। इस साम्य की झलक पाइते-जनजाति की लोक-साहित्य मे भी मिलती है। इस पुस्तक में भी रोमन तथा देवनागरी-लिपि में हिन्दी-अर्थसहित सात मनोरंजक लोककथाएँ संकलित हैं : १. साइ लेअ् डापी : हाथी एवं मछली; २ नँनौ ताङथु : नँनौ की कहानी, ३. पेङलम : (एक आदमी का नाम); ४. आक्नोउ फुलाक : चूजे का प्रतिकार; ५. खुप्चिङ लेअ् डाम्बोम् : खुपचिङ (राजवंश की एक सुन्दरी युवती का नाम) एवं डामबोम् (एक दरिद्र व्यक्ति का नाम); ६. थाङहोउ लेअ् लियान्दोउ : थाङहोउ एवं लियान्दोउ (दो भाइयों के नाम) तथा ७. डाल्डम (एक आदमी का नाम)। इन कहानियो मे प्राकृतिक जीवन से पाइते-जनजीवन की अन्तरंगता का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है और कथा-साहित्य के तुलनात्मक शोध के लिए उपजीव्य आसंग भी सुलभ हुआ है। **श्रीएच्० खात्खोजाम** इस पुस्तक के सह-सम्पादक है।

३. **केरेंग कथ्मा** : प्रस्तुत पुस्तक उक्त परिषद् की लोककथा-पुस्तकमाला का तीसरा (प्रकाशित पुस्तक-क्रमसंख्या १०९) प्रकाशन है। इसमें त्रिपुरी-भाषा की देवनागरी-लिपि में हिन्दी-अर्थसहित इक्कीस लोककथाएँ संगृहीत है : १. सि (छि) पिंतुइ माइरुतुइ (दो लड़कियों के नाम); २. पिया माछानि कथ्मा : एक मक्खी की कहानी; ३. नाथं छंग्नि केरें कथ्मा : बहरे लोगों की कहानी; ४. खेरेंगबार बुवार : आर्किड का फूल; ५. अचाइ : पुरोहित; ६. ककमानाइ यासितांम् : बातचीत करनेवाली अंगूठी, ७. तक्मा आउआन छुगमानि : मुरगी का पीठा; ८. ककता छादि : बोलो मत; ९. हुक्नि माइचामा पांचाइ : झूम (खेत) का धान खाने की पंचायत, १०. चेथुआंग : छातिम् वृक्ष; ११. मुखराछानि केरे कथ्मा : बन्दर की कहानी; १२. मिलक लेपछानि केरें कथ्मा : लौकी के एक टुकड़े की कहानी; १३. तायुंगनि कथ्मा : धनेश पक्षी की कहानी; १४. उरीखूं बछाइ : दीमकपति; १५. ताखुम राजागांनि कथ्मा : राजहस की कहानी; १६. कांचनमाला (एक स्त्री का नाम); १७. माछुंदुइ माइऊं : साही एव हाथी; १८. थुइ कूछुबनाइ मताइ : रक्तपिपासु देवता; १९. मुइछ्लेनि केरें कथ्मा : अजगर की कहानी; २०. छमाइ : प्रतिज्ञा तथा २१. गुलुम कइनया : गुलमकुमारी। ये कथाएँ तुलनात्मक शोध के अतिरिक्त, त्रिपुरी-जनमानस को समझने मे सहायक सिद्ध हो सकती है। **श्रीशान्तिमय चक्रवर्त्ती** ने इस पुस्तक का सह-सम्पादन किया है।

४. **कुड़ुख-कोश** : प्रस्तुत पुस्तक नागालैण्ड-भाषा-परिषद् का १२३वाँ तथा कोश-ग्रन्थमाला का ३९वाँ प्रकाशन है। प्रकाशकीय वक्तव्य से स्पष्ट है कि यह कृति उक्त

परिषद् की ओर से कुड़ुख-भाषा की पहली कोश-पुस्तक के रूप मे प्रकाशित की गई है। सन् १९७१ ई० की जनगणना के अनुसार, कुडुख-भाषियो की संख्या १,१४१,८०४ है, जिसमे अधिकतर बिहार, मध्यप्रदेश, पश्चिम बंगाल एव उड़ीसा के निवासी है। असम और त्रिपुरा मे भी इनकी आबादी पाई जाती है। कुडुख-भाषा के अन्य नाम धाँगड़ी, उराँव आदि भी हैं।

यह कोश दो खण्डो मे निबद्ध है : प्रथम खण्ड मे हिन्दी-शब्दो के कुड़ुख-अर्थ है और द्वितीय खण्ड मे कुडुख-शब्दो के हिन्दी-अर्थ। प्रारम्भ मे, **प्रो० ब्रजविहारी कुमार** की, कुडुख-शब्दो के उद्भव और विकास तथा कुडुख-कोश के प्रारम्भिक काल की स्थिति से सम्बद्ध शोध-सूचनात्मक मूल्यवान् भूमिका है, तदनन्तर **प्रो० कुमार** ने कुडुख-व्याकरण की संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की है, जिससे पुस्तक की शोधोपादेयता मे अपेक्षित वृद्धि हुई है। द्वैभाषिक हिन्दी-कोशो की विविधता और प्रचुरता के विवर्द्धन की दृष्टि से इस कोश का उल्लेख्य महत्त्व है।

५. **हिन्दी-नेपाली-स्वयंशिक्षक** · यह पुस्तक नागालैण्ड-भाषा-परिषद् का १२४वाँ एवं स्वयशिक्षक-पुस्तकमाला का १७वाँ प्रकाशन है। इसके पूर्व उक्त परिषद् की ओर से हिन्दी-नेपाली-कोश भी प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक के प्रारम्भ मे **प्रो० ब्रजविहारी कुमार** ने नेपाली-भाषा का संक्षिप्त व्याकरण उपन्यस्त किया है, जिससे नेपाली-भाषा के स्वरूप और उसकी भाषिक प्रवृत्ति को समझने मे ततोऽधिक साहाय्य सुलभ हो गया है। नेपाली-भाषा के शिशिक्षुओ के लिए यह पुस्तक यथानाम स्वयंशिक्षक की भूमिका का निर्वाहक बन गई है। **श्रीहरिप्रसाद गोरखाराय** इस पुस्तक के सह-सम्पादक हैं।

इन पुस्तको के अतिरिक्त, **प्रो० ब्रजविहारी कुमार** के मनीषादीप्त सम्पादन में नागालैण्ड-भाषा-परिषद् की ओर से निम्नांकित द्वैभाषिक 'समस्रोतीय शब्दावली' ('कॉमन वोकेब्युलरी') की चक्रलिपित ('साइक्लोस्टाइल्ड') प्रतियाँ भी तैयार हुई हैं · (क) हिन्दी-मुण्डा एव मुण्डा-हिन्दी, (ख) हिन्दी-मणिपुरी एवं मणिपुरी-हिन्दी, (ग) हिन्दी-दिमासा कछारी एवं दिमासा कछारी-हिन्दी, (घ) हिन्दी-कुडुख एव कुडुख-हिन्दी, (ङ) हिन्दी बोड़ो एवं बोड़ो-हिन्दी, (च) हिन्दी-सन्ताली एव सन्ताली-हिन्दी, (छ) हिन्दी-त्रिपुरी एवं त्रिपुरी-हिन्दी तथा (ज) हिन्दी-हो एव हो-हिन्दी।

इस प्रकार, नागालैण्ड-भाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित यथोक्त समस्त कृतियाँ, हिन्दी-भाषा और साहित्य की संवृद्धि की दिशा मे सम्पन्न अद्यावधिक भाषिक प्रयासो मे, अपनी अकृतपूर्वता के कारण, अद्वितीय हैं। इसके लिए उक्त परिषद् और उसके श्रमशील संचालक-सदस्य तथा प्रज्ञापूत सम्पादक-वर्ग हार्दिक वर्द्धापना के पात्र हैं।

●

स्वाध्याय-कक्ष

सन्त-साहित्य की परख[1] :

प्रस्तुत ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' के कीर्तिलब्ध विवेचक और सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य पं० परशुराम चतुर्वेदी के इक्कीस निवन्धो का विशिष्ट संकलन है। प्रत्येक निवन्ध मे लेखक ने सन्त-साहित्य के सम्बन्ध मे नवीन दृष्टि के साथ सही दिशा की ओर निर्देश किया है। उन्होंने सन्त-साहित्य की व्यापकता, अभिप्राय और प्रयोजन, काव्यरूप और काव्यप्रकार, रसचेतना, सौन्दर्यबोध, सामाजिक क्रान्तिभावना, चमत्कार-तत्त्व, भाषा, सास्कृतिक योगदान और लोकोन्मुखी प्रवृत्ति का प्रमाणपुरस्सर विवेचन करते हुए अपनी मौलिक व्याख्या से नये निष्कर्ष निकाले हैं। प्रायः, सभी निबन्धो मे परम्परागत मान्यताओं के प्रति प्रश्नचिह्न लगाया गया है और अपनी मान्यता की पुष्टि मे नवीन प्रमाण प्रस्तुत किये गये है। लेखक की सूक्ष्म प्रज्ञा का प्रकाश सर्वत्र देखने में आता है।

सन्त-साहित्य की व्यापकता का विश्लेषण करते हुए लेखक का निष्कर्ष द्रष्टव्य है : "सन्त-साहित्य की व्यापकता विश्वव्यापी एव विश्वजनीन है। वह किसी मत, धर्म, वर्ण, जाति, भाषा, शैली अथवा भौगोलिक परिवेश तक ही सीमाबद्ध नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम मे अन्तर सम्भव तथा स्वाभाविक है, किन्तु उसकी मूल प्रेरणा (विश्वव्यापी एकता की उत्कट अभिलाषा और सहज मानवता) मे कोई वैसा भेद करना सम्भव नही है।" इसीलिए, इन्होने ज्ञानाश्रयी (कबीर, नानक, दादू आदि) और प्रेमाश्रयी (सूफी कवि दाऊद, जायसी, मंझन आदि) के अतिरिक्त हिन्दीतर वाङमय में प्राप्त सन्त-साहित्य की मूल प्रवृत्तियो को दृष्टिगत कर अपना विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

सन्त-साहित्य के अध्ययन की सही दिशा क्या हो सकती है, उसका मूल्याकन काव्य के किन मानक आदर्शो को लेकर हो सकता है, इस सम्बन्ध में विद्वानों मे मतैक्य नही है। कुछ लोगो ने काव्यशास्त्रीय परम्परा मे स्वीकृत कवि की रचनाधर्मिता की दृष्टि से वस्तु एवं शिल्प के सौन्दर्यबोध को ध्यान मे रखकर इसकी आलोचना की, तो उन्हे सन्तों की अनगढ भाषा भावबोध मे असमर्थ प्रतीत हुई। पर, जिन लोगो ने इसका मूल्याकन उसमे निहित सांस्कृतिक और सामाजिक क्रान्तदर्शिता को लक्ष्य मानकर किया, उन्हे सन्त-साहित्य

---

१. लेखक : स्व० आचार्य परशुराम चतुर्वेदी; सम्पादक : पं० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, २३९, चक, इलाहाबाद-३; प्रकाशक : भारती भण्डार, लीडर रोड, इलाहाबाद; मुद्रक : लीडर प्रेस, इलाहाबाद; संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० २५६; मूल्य : पैंतालीस रुपये।

की वाणी मे अथर्ववेद के क्रान्तदर्शी कवि का स्वरूप दिखाई पड़ा। इस निकष पर सन्त-साहित्य लोकमगल का ऐसा समर्थ वाहन बना, जिसकी तुलना मे मध्यकाल का कोई भी साहित्य न आ सका। आचार्य चतुर्वेदी ने सन्तो के इस क्रान्तदर्शी स्वरूप को अनेक निवन्धो मे स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

समग्र दृष्टि से इस ग्रन्थ मे सन्त-साहित्य का काव्यशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन इस रूप मे किया गया है कि पाठक के मन मे उठनेवाले एतद्विषयक सभी प्रश्नो का समाधान वडी आसानी से हो जाता है। ग्रन्थ के अन्त मे सन्त-साहित्य-विषयक उपलब्ध शोध एव समीक्षा-साहित्य की एक लम्बी सूची दी गई है, जिससे शोधार्थियों एव अध्येताओ को इस विषय की महत्ता का बोध हो सके और शोध के लिए नवीन विषय-चयन मे सुविधा मिल सके।

डवल डिमाई साइज के इस पुस्तक का मुद्रण निर्दोष है और आवरण-पृष्ठ अतिशय विमोहक।

△ डॉ० पूर्णमासी राय

नामदेव श्रीकृष्णदास-ग्रन्थावली[१] :

राजस्थान के पश्चिमी अंचल मे अवस्थित जालौर जिले के रामसेण नामक पुण्य-भूमि मे संवत् १८७५ वि० (सन् १८१८ ई०) मे कृष्णभक्ति-धारा के भक्त कवि **कृष्णदास** का आविर्भाव हुआ। उन्होने मारू-गुर्जर एवं मारू-व्रजभाषा मे भक्तिकाव्य की रचना की। कृष्णदासजी सच्चे कर्मयोगी थे। आजीविका के लिए कपडे सीने और रँगने का काम करते हुए उन्होने संवत् १९५५ वि० (सन् १८९८ ई०) मे अपनी इहलीला का संवरण किया।

कृष्णदासजी को सहज कविहृदय मिला था। वह मानव-जीवन की कृतार्थता भगवद्भक्ति मे मानते थे। फलत , उनकी वाणी मे सासारिकता से पराङ्मुख होकर भक्ति की ओर उन्मुख कराने की अद्भुत क्षमता दिखाई पड़ती है। सन्तहृदय **श्रीलल्लूभाई शर्मा** ने गाँव-गाँव घूमकर इनके पदो का संग्रह किया और **प्रो० सोहनलाल पटनी** ने इसका सुसम्पादित सस्करण तैयार किया। इस ग्रन्थावली मे नरहरिलीला, नामदेवचरित, प्रेमपुकार (सन् १९२५ ई०), करुणाष्टक, गुरुमहिमा (सन् १९२५ ई०), मुक्तामणि (सन् १९१६ ई०), विवेकसार (सन् १९२४ ई०), जानकीमगल (सन् १९४५ ई०), लंकाकाण्ड (सन् १९४५ई०)

---

१. सम्पादक : प्रो० सोहनलाल पटनी, हिन्दी-विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सिरोही (राजस्थान); प्रकाशक · आशुतोष प्रकाशन, कालन्द्री (सिरोही : राजस्थान); मुद्रक : श्रीआनन्द एस० जोशी, कमल प्रिण्टिग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान); प्राप्तिस्थान : सारणेश्वर-मन्दिर, ब्रह्मचर्याश्रम, सियानार (जालौर), संस्करण : प्रथम, सन् १९७५ ई०; पृ० सं० ३६०; मूल्य : साधारण सस्करण : दस रुपये; पुस्तकालय-संस्करण : पन्द्रह रुपये।

फुटकर छन्द आदि रचनाएँ संगृहीत हैं। 'करुणाष्टक' के आठ छन्दों में करुणा-सागर से प्रार्थना की गई है, 'गुरुमहिमा' मे नामानुकूल प्रशस्ति-गान है, 'मुक्तामणि' मे नवधा भक्ति की सरस व्याख्या और 'विवेकसागर' मे विवेक की महत्ता प्रतिपादित है। उन्होने तीन काव्यनाटक ('नरहरिलीला', 'लंकाकाण्ड', 'नामदेवचरित') और दो नीतिकाव्य ('जानकीमंगल', 'श्रीकृष्णगोपी-प्रेमलीला') की रचना की। इनमे वीर, रौद्र, वीभत्स, शृंगार आदि रसों की योजना हुई है, पर मूलतः उनका स्वर भक्तिरसमय है, जिसका स्थायी भाव भगवद्भक्ति है। भगवद्भक्ति के कारण भक्त कवि को ईश्वर कभी शृंगारमय, कभी तारक-रूप मे वीरमय, कभी दु:खदलन-रूप मे भयानकमय एवं भक्त के उद्धार के समय करुणामय दिखाई पड़ता है। उनके 'लंकाकाण्ड' एवं 'नरहरिलीला' ग्रन्थो मे वीर, करुण, भयानक एवं वीभत्स रस के पर्याप्त वर्णन है। छन्दो एवं राग-रागिनियों की विविधता के साथ ही उनकी भाषा मे व्रज की मधुरिमा, गुजराती की लोच, राजस्थानी की सहजता तथा डिंगल की स्फूर्त्ति भी पा सकते हैं।

प्रारम्भ में सम्पादक महोदय ने संकलित कृतियों की सारग्राही समीक्षा भी दे दी है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से एक भक्त कवि की राजस्थानी-भाषा के पुट से समन्वित दुर्लभ रचना वैष्णव-साहित्य के पाठकों के लिए सुलभ हुई है।

पुस्तक का मुद्रण प्रायः निर्दोष और आवरण सामान्य है।

△ डॉ० पूर्णमासी राय

o

शृंगारविलासिनी[1] :

डॉ० शिवशंकर त्रिपाठी संस्कृत-वाङ्मय के अधीती मनीषियों में पांक्तेय हैं। इनके द्वारा सम्पादित प्रस्तुत कृति काव्यशास्त्र के नायिकाभेदों को समुपस्थापित करनेवाले प्राचीन ग्रन्थों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, जो इलाहाबाद के, भारतीय प्राच्य-साहित्य एव संस्कृति के संरक्षण और पोषण के उद्देश्य से संस्थापित प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान 'भारतीयमनीषासूत्रम्' द्वारा 'प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत प्रकाशित है।

महाकवि देवदत्त अथवा देवकवि (ई० की १४वी शती) द्वारा विरचित इस कृति का प्रस्तुत संस्करण तीन प्रतियो के आधार पर तुलनात्मक पाठभेदों के साथ तैयार किया गया है। प्रारम्भ में, सम्पादक की वैदुष्यपूर्ण हिन्दी-अँगरेजी मे लिखित नातिदीर्घ उपादेय भूमिका में ग्रन्थ के विषय-परिवेश के प्रामाणिक परिचय का विनियोग हुआ है, जिसमें देव-

---

१. सम्पादक : डॉ० शिवशंकर त्रिपाठी; प्रकाशक : भारतीयमनीषासूत्रम्, दारागंज, इलाहाबाद-६; मुद्रक : शुभचिन्तक प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद-६; संस्करण : प्रथम, सं० २०३९ वि०; पृ० सं० ४८; मूल्य : राजसंस्करण : पचास रुपये; साधारण संस्करण : चालीस रुपये।

पूर्ववर्त्ती काव्यशास्त्राचार्यो—**वात्स्यायन** ('कामसूत्र'), **भरत** ('नाट्यशास्त्र'), **शारदातनय** ('भावप्रकाशन'), **शिंगभूपाल** ('रसार्णवसुधाकर'), **भोजदेव** 'सरस्वतीकण्ठाभरण' एवं ('शृंगारप्रकाश'), **हेमचन्द्र** ('काव्यानुशासन'), **विश्वनाथ** ('साहित्यदर्पण'), **भानुदत्त** ('रसमजरी') एवं **हजरत सैयद अकबर शाह हुसैनी** ('शृगारमंजरी') द्वारा विनिश्चित नायिकास्वरूपो का तुलनात्मक आकलन प्रस्तुत किया गया है।

महाकवि **देवदत्त** अथवा **देवकवि** हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं के लिए अपरिचित नही हैं। किन्तु, वह सस्कृत-भाषा मे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के भी रचयिता थे, यह बहुत कम लोग जानते है। उनकी 'शृंगारविलासिनी' ग्रन्थ ह्रस्वाकार होते हुए भी नायक-नायिकाभेदपरक बृहदाकार ग्रन्थो को चुनौती देनेवाला है। इसका गौरव इस अर्थ में सिद्ध है कि इसकी चर्चा हिन्दी के काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने सम्मान के साथ की है, और यह 'भारतीयमनीषासूत्रम्' द्वारा पहली वार प्रकाशित है।

सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् महाकवि देव हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन या शृंगार-कालीन श्रेष्ठ कवि है। ज्ञातव्य है कि सस्कृत-साहित्य ही हिन्दी-साहित्य की रीति-रचनाओ का उपजीव्य रहा है। इसलिए, सस्कृत और हिन्दी, दोनों भाषाओं के दिग्गज पण्डित होने के कारण ही **देवकवि** की काव्य-रचनाएँ अधिकाधिक आवर्जक और शाश्वतिक बन सकी है। उनकी इस संस्कृत-निबद्ध 'शृंगारविलासिनी' में प्रारम्भ मे मगलाचरण है। उसके बाद क्रमश स्वीया, मुग्धा, मध्या और प्रौढा नायिकाओ के लक्षण-उदाहरण उपन्यस्त है, तदनन्तर इन नायिकाओ के सुरतस्वरूप और फिर भेदोपभेदों का विवरण है। पुनः परकीया नायिका के गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना (अनुशयाना), मुदिता आदि भेदो के लक्षणो और उदाहरणो के बाद सामान्या तथा स्वकीया और परकीया के सामान्य भेदो के लक्षण-उदाहरण है। तत्पश्चात्; प्रोष्यत्पतिका, उत्कण्ठिता आदि काव्यप्रसिद्ध आठ नायिकाभेदो को लक्षित और उदाहृत किया गया है और कही-कही इन भेदो का परस्पर-अन्तर्भाव भी दिखाया गया है। नायिकाभेद के बाद अनुकूल, धृष्ठ, शठ आदि विभिन्न नायको के भेदो एव नर्मसचिव, पीठमर्द, विट, विदूषक, सखी और दूती के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार, यह ग्रन्थ संक्षिप्त होते हुए भी भाष्यगर्भ है और उत्तम कोटि के नायक-नायिकाशास्त्र का प्रतिनिधित्व करता है।

ग्रन्थ के अन्त मे प्राप्त मूल प्रतियो का विशद विवरण अँगरेजी मे उपन्यस्त करके अधीती सम्पादक ने ग्रन्थ को सागोपागता प्रदान की है। हालाँकि, विदेशो मे भारतीय प्राचीन कृतियो की खपत के लिए भूमिका, अनुक्रमणिका आदि का अँगरेजी में उपस्थापन आधुनिक प्रकाशकीय प्रपंच का द्योतक फैशन हो गया है, जो शोधक्षेत्र मे अँगरेजी के परम्परागत संक्रान्त व्यामोह का ही अनपेक्षित उदाहरण है। प्रारम्भ में, भूमिका के बाद, सम्पादन के लिए स्वीकृत हस्तलिखित प्रति के प्रथम और अन्तिम दो पृष्ठों की अण्वादर्श-प्रतियो, साथही कतिपय नायिकाओ के, राजस्थानी-शैली के चित्रो की यथादर्श-प्रतियो को भी समाविष्ट किया गया है।

महाकवि देव ने प्रस्तुत कृति का यद्यपि संस्कृत में निबन्धन किया है, तथापि संस्कृत के छन्दों का प्रयोग न कर हिन्दी के छप्पय, सवैया, दोहा और सोरठा छन्दों में अपनी रचना की है और इस प्रकार उन्होंने संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में अपने अधिकारपूर्ण विस्मयकारी ग्रथन-कौशल का परिचय दिया है। चारों छन्दों का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

सुभगसिद्धिशुभवृद्धिसकलसन्ततसुखकारिणि।
दुर्गतिदुर्गदुरन्तदुःखदारुणदरदारिणि ॥

(छप्पय : मंगलाचरण)

वारवधूरियमद्भुतयौवनरूपकलाकुशला रतिधाम।
कस्य महाधनदस्य विलासिवरस्य सुधन्यतरस्य जगाम ॥
प्रातरुपैति निजं सदनं विहसद्वदनं विकसद्-मणिदाम।
दीप्तिमवेक्ष्य रुचा विजिता सखि ! का चलिता वनिता न तताम ॥

(सवैया : सामान्यवनिता : वारवधू-उदाहरण)

प्रियाऽपराधं वीक्ष्य या मानं मनसि दधाति।
प्राज्ञस्तामिह कामिनीं मानिनी च विख्याति ॥

(दोहा : मानिनी-लक्षण)

कथमद्य गृहे प्रिय आगत आलि ! न कुत्र च रात्रिरहो गमिता।
रमणे ननु काऽपि सुरूपमणी रमणी रमणीयतरा रमिता ॥

(सोरठा : उत्कण्ठिता का उदाहरण)

पुस्तक का मुद्रण प्रायः स्वच्छ और निर्दोष है, यद्यपि कहीं-कहीं मुद्रणावेश में मात्राएँ खण्डित हो गई है। भावपूर्ण मुद्रा में, उत्कर्ण मृग के साथ खड़ी वीणाधारिणी नायिका के चित्र से अंकित आवरण नेत्रावर्जक है।

△ डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

शोकसभा[1] :

कथाजगत् के समादृत कृतिकार श्रीहिमांशु श्रीवास्तव अपनी इस कथाकृति के माध्यम से तथाकथित सामाजिकों द्वारा कलाकारों के प्रति बरती जानेवाली शोषण-नीति को लक्ष्य बनाकर उसपर सारस्वत शैली में क्रूरतर प्रहार किया है। यद्यपि इस उपन्यास का कथ्यात्मक आयाम नातिदीर्घ है, तथापि इसमें कथानिपुण लेखक श्रीहिमांशुजी ने नृत्य के जादूगर कलाकार दिवाकर मलिक के समग्र जीवन की कदर्थना का जो मार्मिक चित्र उरेहा है, उसका भावात्मक आयाम, अपनी तीक्ष्णता के कारण, व्यापकता के साथ प्रभावित

१. लेखक : श्रीहिमांशु श्रीवास्तव, बेलवरगंज, पटना : ८०००००७; प्रकाशक : राजपाल ऐण्ड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; मुद्रक : सोहन प्रिण्टिंग सर्विस, शाहदरा, दिल्ली : ११००३२; संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० १३६; मूल्य : बीस रुपये।

करने की क्षमता से सम्पन्न है, इसीलिए यह कथाकृति अपनी अणुधर्मिता से बड़े उपन्यास की गरिमा को भी आयत्त करती है।

इस उपन्यास की भावभूमि प्रतिक्रियामूलक है। महान् कलाकार होते हुए भी दिवाकर मलिक घोर अभाव की स्थिति मे अपना दम तोड़ देते हैं। और, मरणोत्तर आयोजित शोकसभा (इसी प्रासगिक शब्द से यह उपन्यास आख्यापित है) मे उनके चित्र पर माल्यार्पण किया जाता है और उनकी दिव्यात्मा के प्रति बड़े-बड़े विशेषणो से मण्डित भाषणों के साथ श्रद्धाजलि अर्पित की जाती है! साथ ही, तड़प-तड़पकर मरनेवाले दिवाकर मलिक के तथाकथित कलाप्रशंसक उनके नाम पर अपने आर्थिक कल्याण के निमित्त अनेक मनोहर स्वप्न भी सँजोते है। किन्तु, उनकी पुत्री, वायोलिन की जादूगरनी, पूर्वी अपने पिता के शोषण की दारुणता देखकर घोर प्रतिक्रियावादी हो उठती है और दौलत से नफरत करनेवाली कलाकार बनने की अपेक्षा वह 'पैसो के मामले मे मुरदाघाट के डोम से भी गई-गुजरी' हो जाती है!

कहना न होगा कि समेकित दृष्टि से इस उपन्यास के पूरे कथ्य को प्रतिक्रिया की भित्ति पर खड़ा किया गया है और इस प्रकार यह कथाकृति यथार्थोन्मुख नव्यादर्श का प्रतिनिधि कथाग्रन्थ बन गया है। यह बात दूसरी है कि उपन्यास-लेखक **श्रीहिमांशुजी** जीवन के केवल प्रत्यक्षकटु को ही 'स्वस्थ यथार्थ' मानते है! प्रसिद्ध प्राचीन औचित्यवादी आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार, इस उपन्यास की मूल कथावस्तु मे तत्त्वौचित्य का अभाव माना जायगा, फिर भी इसके प्रबुद्ध लेखक **श्रीहिमांशुजी** की सृष्टिपरक मौलिक दृष्टि की वेधकता से इनकार नही किया जा सकता।

हृदयावर्जक नाटकीय शैली मे लिखे गये इस उपन्यास की भाषा सरल और प्राजल है। मुद्रण सदोष होते हुए भी उत्तमता का प्रतिमान प्रस्तुत करता है। आवरण मे आकल्पन की प्रतीक-नवीनता की अपनी विशिष्ट मोहकता है।

△ डॉ० श्रीरजन सूरिदेव

o

कामायनी : श्रद्धा :[1]

डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त रचनाधर्मी उपस्थितशास्त्र प्राध्यापको की परम्परा के गौरवमय हस्ताक्षर है। उनकी आधिकारिक लेखनी द्वारा प्रसूत इस कृति का वैलक्षण्य यह है कि इसमे मनीषी लेखक ने आधुनिक प्राध्यापकीय वक्तव्यो की भाँति अनपेक्षित वाग्जाल न फैलाकर केवल मूल के भावो को ही पुंखानुपुंख रूप मे विशदता से व्याख्यापित किया है और कहना न होगा कि आध्यात्मिक और भौतिक दोनो दृष्टियो से 'कामायनी'

१. लेखक : डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, १४७, त्रिवेणी रोड, बाई का बाग, इलाहाबाद-३; प्रकाशक : भाषा-साहित्य-संस्थान, पता : उपरिवत्; मुद्रक : आनन्द मुद्रणालय, १८५।२२, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद; संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० ८०; मूल्य : सजिल्द बीस रुपये, अजिल्द आठ रुपये।

के मूल अर्थ की पकड़ में शास्त्रदक्ष लेखक डॉ० गुप्त की मौलिकता पदे-पदे दृष्टिगत होती है, जिसमें उनके व्यापक अध्ययन और सयुक्तिक चिन्तन की गम्भीरिमा अनुस्यूत है।

'श्रद्धा' सर्ग 'कामायनी'-काव्य का हृदय है। महाकवि प्रसाद ने इस सर्ग की रचना बड़े मनोयोग से की है, फलतः जिजीविषा की प्रतिमूर्त्ति श्रद्धा में भारतीय नारी की पूज्यता और कमनीयता का बड़ा ही अभिराम विनियोग हुआ है। 'श्रद्धा' सर्ग की शब्दानुसारी मूलपरक व्याख्या डॉ० गुप्त ने इस निपुणता के साथ की है कि इससे उनकी शब्दशास्त्रज्ञता की विस्मयकारी क्षमता का संकेत मिलता है। इस कृति से, निश्चय ही, 'कामायनी' के सामान्य प्रबुद्ध पाठकों और अध्ययनशील सुबुद्ध छात्रों को, श्रद्धा को अनेक नये आयामों में समझने का अवसर प्राप्त होगा।

सुधी लेखक द्वारा इसके पूर्व लिखित 'प्रसाद-काव्य : प्रतिभा और सरचना' नामक ग्रन्थ के क्षेपक संस्करण-स्वरूप इस कृति की एक और श्लाघ्य विशेपता यह है कि इसमे 'श्रद्धा' के अध्ययन के माध्यम से विश्वमानवता एवं कल्याणी सृष्टि के स्वप्नद्रष्टा महाकवि प्रसाद की आदि से अन्त तक की काव्ययात्रा, उनके जीवन-दर्शनत था उनकी विराट् काव्यचेतना से संवलित रचना-प्रक्रिया के वैशिष्ट्य के साथ पूरी 'कामायनी' का ही समेकित सारगर्भ अध्ययन सातिशय हृद्य शैली मे उपन्यस्त किया गया है। निश्चय ही, 'कामायनी'-काव्य की इस प्रकार की ज्ञानोन्मेषिणी टीका हिन्दी में पहली बार सुलभ हुई है। फलत., कृतविद्य लेखक सहज ही सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् की वधाई स्वायत्त करने में समर्थ हो गया है।

पुस्तक का मुद्रण प्रायः निर्दोष और आवरण, रंग-गहनता के वावजूद, आकर्षक है।

△ डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

o

चित्रांगदा[1] :

'महाभारत', भारतीय ही नही, वरन् विश्व के काव्य-साहित्य मे कूटस्थ और उपजीव्य आकर-महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। इससे कितने काव्यरत्न प्रकट हुए और कितने प्रादुर्भूत होंगे, इसका अन्त नहीं है। महाभारत के प्रमुख विभूतिमान् चरित्रों में एक-एक पर अनेक महाकाव्य और खण्डकाव्य प्रकाशित हुए हैं और प्रकाशन का यह क्रम अब भी चल रहा है। कविवर श्रीतृप्तिनारायण शर्मा 'तृप्त' द्वारा लिखित प्रस्तुत 'चित्रांगदा' नामक खण्डकाव्य उक्त काव्यप्रकाशन-परम्परा की ही एक पूरक कड़ी के रूप में पंक्तिबद्ध करने योग्य है।

---

१. रचयिता : श्रीतृप्तिनारायण शर्मा 'तृप्त', प्रधानाध्यापक, मध्यविद्यालय, बख्तियारपुर (पटना); प्रकाशक : शर्मा बुक स्टोर, बख्तियारपुर (पटना); मुद्रक : श्रीनाथ प्रेस, बिहारशरीफ (नालन्दा): संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० ४७; मूल्य : चार रुपये पचास पैसे (अन्तरावरण पर) और छह रुपये पचास पैसे (बहिरावरण पर)।

महाभारतीय कथा के अनुसार, राजा चित्रवाहन की पुत्री चित्रांगदा मणिपुर की राजकुमारी थी। उसने पाण्डुपुत्र अर्जुन के शौर्य, वीर्य, गाम्भीर्य और सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर उनसे प्रेमविवाह किया था। राजा चित्रवाहन ने इस प्रेम-विवाह की स्वीकृति इस शर्त्त पर दी थी कि चित्रांगदा से उत्पन्न अर्जुन का प्रथम पुत्र मणिपुर-राज्य का राजकुमार होगा। तदनुसार, अर्जुन का वह प्रथम पुत्र बभ्रुवाहन मणिपुर का राजकुमार बना।

काव्यकुशल कवि ने इसी कथावस्तु को, अपनी इस काव्यकृति मे, नातिदीर्घ आठ सर्गों में काव्यात्मक परिवेश प्रदान करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है। कवि की भूमिका ('तथ्य-कथ्य') से स्पष्ट है कि उसने विश्ववन्द्य कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की, भारतीय सीमान्त की पारगामिनी प्रतिष्ठा से संवलित 'चित्रागदा' नामक बँगला-नाटक के कविवर श्रीभारतभूषण अग्रवाल द्वारा हिन्दी मे अनूदित सस्करण से प्रभावित होकर अपने इस खण्डकाव्य की रचना की है और मूलत महाभारतीय कथा को ही आधार बनाकर अपनी कल्पना को विस्तार दिया है।

इस काव्य की रचना-प्रक्रिया सरल, प्राजल और प्रवाहपूर्ण एवं सूक्तितरल काव्य-भाषा मे आवद्ध है और कवि अपनी विम्वविधायिनी काव्यशक्ति के प्रदर्शन मे अतिशय दक्ष है। इस सन्दर्भ में कवि द्वारा विम्वित चित्रागदा के हृदयहारी रूप-सौन्दर्य की एक आकर्षक झाँकी द्रष्टव्य है.

अंसो से विकसित उरोज तक
आँचल को सरकाया।
विह्वल होकर मुक्त केश तव
चरणो तक लहराया॥

कहना न होगा कि इस छोटे से ही एक चित्र मे कवि ने चित्रांगदा के विराट् सौन्दर्य-वैभव को समाहृत कर दिया है। साथ ही, युगचेता कवि ने प्राचीन कथा को परिवेषित करने के क्रम मे वर्त्तमान युग-सन्दर्भ को रचना-नैपुण्य के साथ प्रासंगिक बनाया है और यथास्थान दार्शनिक चिन्तन के द्वारा कथा को गम्भीरिमा प्रदान करने की कुशलता भी दिखलाई है। कुल मिलाकर, इस काव्यकृति में कवि की काव्यसिसृक्षा की क्षमता काव्यपाठको को सहज ही आवर्जित करनेवाली है और प्रत्येक सर्ग का अन्त नाटकीयता से अन्वित होने के कारण मार्मिक भी बन गया है।

इस काव्य के सम्बन्ध मे, 'पुरोवाक्'-लेखक कविर्मनीषी पं० रामदयाल पाण्डेयजी का यह मन्तव्य भी युक्तियुक्त है कि "काव्य का मानव-मूल्यो के प्रति सर्वाधिक दायित्व है। अपनी प्रतिभा और प्रज्ञा के अनुपात मे श्रीतृप्त ने इसका ध्यान रखने की चेष्टा की है।"

पुस्तक का मुद्रण सदोष होने के साथ ही भाषिक स्खलनों से भी मुक्त नही है। आवरण के आकल्पन की कलाचेतना भी रूढिग्रस्त है।

△ डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

०

कहें केदार खरी-खरी :[1]

युग की गंगा प्रवाहित करनेवाले हिन्दी के प्रगतिशील कवि **श्रीकेदारनाथ अग्रवाल** **शमशेर**, **त्रिलोचन** और **नागार्जुन** की परम्परा के एक समर्थ युगचेता और कुशल कलासाधक है। अबतक की प्रकाशित कविताओं के आधार पर उनका एक विशेष कवि-व्यक्तित्व बनता है, जो कलापूर्ण लघु बिम्बात्मक कविताओं का निपुण सर्जक है। लेकिन, केदार का काव्य-परिसर वास्तव मे उतना ही नहीं है, जितना प्रकाशित संग्रहों के आधार पर दृष्टिगत होता है। उनका लिखा बहुत कुछ अभी अप्रकाशित है, जिसके बारे मे उनके निकट के मित्र ही जानते है। इसीलिए, जब **डॉ० नामवर सिंह** ने अपने 'प्रगतिवाद' शीर्षक लेख मे लिखा था कि 'व्यंग्य दो ही कवियो ने लिखे है : एक तो **नागार्जुन** ने या फिर केदार ने', तो बहुतो को बात चौकानेवाली लगी थी। **नागार्जुन** का व्यंग्यकार तो हिन्दी मे इतना प्रत्यक्ष है कि उसके बारे मे कभी कोई विवाद नही रहा। लेकिन, **केदार** भी **नागार्जुन** की तरह व्यंग्य-कवि है, इसे मानने के लिए पाठक सहज ही तैयार नही होंगे। लेकिन, उनका नया संग्रह 'कहें केदार खरी-खरी' उनके व्यंग्य-को पूरी तरह प्रत्यक्ष और विवृत करता है। अब इस संग्रह के आलोक मे **डॉ० नामवर सिंह** का कथन किसी को अत्युक्तिपूर्ण और अस्वाभाविक नहीं लगेगा।

'कहें केदार खरी-खरी' की लम्बी भूमिका 'कैफियत' शीर्षक से **श्रीअशोक त्रिपाठी** ने लिखी है। उन्होंने बताया है कि कैसे केदार की ऐसी व्यंग्यपूर्ण और जनोन्मुखी कविताओं को प्रकाशित करने की योजना बनी। वे मानते है कि केदार की कविता का कालक्रमानुसार विकास हिन्दी की प्रगतिशील कविता का विकास है। इसलिए, कविताओं के द्वारा ऐतिहासिक विकास-क्रम की और ऐतिहासिक विकास-क्रम द्वारा कविताओं की जाँच-पड़ताल जरूरी है। यह काम यह संग्रह कुछ हद तक पूरा करता है।

संग्रह की अधिकाश रचनाओं के साथ रचनाकाल दे देने से संग्रह प्रामाणिक और दस्तावेजी बन गया है। इन कविताओं के आधार पर केदार की चेतनागत प्रखरता और वस्तुसत्य के प्रति तत्परता और पक्षधरता तो सूचित होती ही है, उनका दर्द और क्षोभ भी जगह-जगह अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करता है। केदार की ये कविताएँ आज की व्यंग्य-कविताओ से भिन्न इस मानी में है कि इनकी शैली और कथन-भंगिमा अधिकाशतः समूहपरक और जनोन्मुख है। ये छूटते हुए कवि की व्यंग्य-कविताएँ न होकर तत्पर और सन्नद्ध कवि की व्यंग्य-कविताएँ है। इस रूप में इनकी एक उत्कृष्ट सामाजिक भूमिका है।

---

१. **रचयिता : श्रीकेदारनाथ अग्रवाल; प्रकाशक : परिमल प्रकाशन, १७, एम्० आइ० जी०, बाघम्बरी आवास-योजना, अल्लापुर, इलाहाबाद : २११००६; मुद्रक : माधो प्रिण्टिंग वर्क्स, २४२, पुराना बैरहना, इलाहाबाद; संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० २००; मूल्य : चालीस रुपये।**

यद्यपि श्रीअशोक त्रिपाठी एक जगह केदार को मुक्तिबोध के क्रम मे रखकर लिखते है : "मुक्तिबोध की तरह केदारजी ने भी एक-एक शब्द और एक-एक पंक्ति को कई बार जाँचा-परखा है, तौला है, रचना-कर्म के दौरान कई-कई बार बदला है, काटा-छाँटा है, तब कही जाकर तराशे रूप मे प्रस्तुत किया है ।" फिर भी, वह मुक्तिबोध की कतार मे कही नहीं खपते । यह जरूरी भी नही है और न इससे केदार का महत्त्व कम होता है । केदार अनिवार्य रूप से प्रगतिवादी दौर की उपज और उपलब्धि हैं, जबकि मुक्तिबोध का रिश्ता नवलेखन से अधिक है । केदार मे सहजता और खुलापन अधिक है । इसीलिए, वे नागार्जुन और त्रिलोचन के अधिक निकट हैं ।

संग्रह मे लोकभाषा के कुछ जनगीत भी है जिनका अपना अलग रंग और स्वाद है । खड़ीबोली की कविता के साथ इनका तालमेल कवि ने इस खूबी से बैठाया है कि ये अनमेल नही दिखाई पड़ते । इनमे सामाजिक प्रकरणो के भीतर भारत की जनता का दु ख-दर्द, आक्रोश पीड़ा, छटपटाहट इस प्रकार व्यक्त है कि ये याद करने लायक हैं । जैसे : ये पंक्तियाँ :

वोट न माँगे पैहों भैया, जो तुम माँगे ऐहों
आहे पैहों, आँसू पैहों, रौंदी माटी पैहों

कवि का साधारण जन ऐसे शोषको को वोट न देने का संकल्प इसलिए करता है कि इन्होंने **'रत्ती-रत्ती तेल किरोसिन अमरित अस बँटवाइन है ।'** इसीलिए, कवि कहता है : **'नदिया नारे अउर कुआँ माँ डूबे का जल पैहो ।'** इसके साथ ही लन्दन में बिके हुए नेताओ, काँगरेस की वण्टाधारी नीति, थैलीशाहो के कुत्तों, ठाट-बाट के सुविधा-भागियो, पुराने गब्बरो, रामराज के वीरो, लोकतन्त्र के सन्तो, राजसभा के औलियो, व्यभिचार करनेवाले आदमखोर अफसरो आदि को भी खूब कोसा गया है । कवि को इस बात का फख्र है कि **'जब कलम ने चोट मारी । तब खुली वह खोट सारी ।'** कलम पर ऐसा विश्वास विरले ही रचनाकारो को होना है । इसके मूल मे कवि की पक्षधरता ही है । वह निर्भ्रान्त स्वीकार करता है : **'मुझे प्राप्त है जनता का बल । वह बल मेरी कविता का बल ।'** इसीलिए, वह रोजी-रोटी, छप्पर-बिस्तर, तकिया-मचिया, हिम्मत-किस्मत छिनने की कहानी इस अन्दाज मे कहता है कि वह जन-जन की कहानी मालूम होती है । कवि देश के अँधरो-सूरो को तो धिक्कारता ही है, वह अपने पडोसी देशो पर भी नजर रखता है । इससे कवि के व्यापक मानवीय सोच का पता चलता है । इस क्रम मे पाकिस्तान, बँगलादेश और वियतनाम-सम्बन्धी कविताएँ भी द्रष्टव्य है। विश्वास है, केदार का यह संग्रह पाठको को रुचेगा ।

पुस्तक का मुद्रण स्वच्छ और निर्दोष तथा आवरण आधुनिक कलाचेतना को प्रतिमित करता है ।

△ **डॉ० श्यामसुन्दर घोष**

मधु-संचय

हिन्दी में कुछ चिन्त्य प्रयोग

हिन्दी का एक युग ऐसा भी था, जब शब्दों के अशुद्ध प्रयोग अथवा व्याकरण-विषयक त्रुटि होने पर उस युग के आचार्य खड्गहस्त हो उठते थे और बड़ी निर्ममता से अशुद्ध हिन्दी लिखनेवालों की भर्त्सना किया करते थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' में प्रकाशित एक लेख मे प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द पर 'भारतमित्र'-स्कूल के लेखकों ने, जिनमें सर्वश्री बालमुकुन्द गुप्त, हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० सकलनारायण शर्मा आदि प्रमुख थे, आचार्य द्विवेदी की जैसी खरी आलोचना की थी, वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक अविस्मरणीय प्रसंग है।

इसी प्रकार, 'शेष' शब्द के प्रयोग पर भी उस युग के हिन्दी-महारथियों में पर्याप्त वाद-विवाद हुआ था और पक्ष-विपक्ष में लम्बी अवधि तक आलोचना-प्रत्यालोचना होती रही। एक-एक शब्द के शुद्ध रूप, उसकी प्रयोग-विधि, लिंग-निर्णय आदि से सम्बद्ध विषयों पर उस युग के साहित्यसेवियों ने सतत परिश्रम किया और भावी पीढ़ियों के लिए शब्द-प्रयोग के प्रशस्त पथ का निर्माण किया। 'झंझट' शब्द के लिंग-निर्धारण के लिए अकेले पं० जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदीजी ने वर्षों उस युग के साहित्यसेवियो के साथ पत्राचार किया, कोश उलटे, छानबीन की, अपने साहित्यिक मित्रो से विचार-विमर्श किया और तब कहीं उसका लिंग-निर्धारण हो सका। यहाँ ज्ञातव्य है कि पं० चतुर्वेदीजी 'झंझट' शब्द को पुल्लिंग मानते थे, जब कि कुछ लोग स्त्रीलिंग। आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा तथा अन्य विद्वानो का निर्णय चतुर्वेदीजी के पक्ष मे आया। शर्माजी ने लिखा था . 'झंझट' के झगड़े में आपकी सर्वतोमुखी विजय हुई। 'झंझट' सोलह आने मुजक्कर (पुल्लिग) है।'

निष्कर्ष यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्त्तित हिन्दी-गद्य की शैली को द्विवेदी-युग में निश्चयता प्राप्त हुई और उसके स्वरूप मे जो निखार आया, उसके पीछे उस युग के हिन्दीसेवियों की अनवरत साधना और तपश्चर्या थी। किन्तु, खेद है कि उन महारथियों द्वारा परिष्कृत हिन्दी के स्वरूप की रक्षा की दिशा में इधर पूर्वापेक्षा शिथिलता एवं असावधानी बरती जा रही है! फलस्वरूप, इधर आये दिन, हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं, सरकारी संचिकाओ और पत्रों, यहाँतक कि पाठ्य-पुस्तको में भी जो हिन्दी लिखी जा रही है, वह अँगरेजी-भाषा के साँचे में ढली एवं कृत्रिम होती है और उसमें स्वाभाविक प्रवाह भी नहीं होता।

एक अत्यन्त प्रचलित शब्द, जो इन दिनों बहुलता से प्रयुक्त हो रहा है, वह है: 'देन'। इसका अर्थ है : कर्ज, ऋण। इसी से बना 'देनदार' शब्द का अर्थ होता है: कर्जदार

अथवा ऋणी। व्यवसाय के क्षेत्र मे 'लेन-देन' शब्द चलता है। किन्तु, इस शब्द का प्रयोग इन दिनो अँगरेजी के 'कण्ट्रिब्यूशन' के अर्थ मे किया जाता है। जैसे 'उनकी साहित्यिक देन को हम नही भूल सकते।' इस अर्थ मे 'देन' शब्द का प्रयोग मुझे चिन्त्य प्रतीत होता है। इसके स्थान पर 'अवदान' शब्द से हम काम ले, तो अच्छा।

हिन्दी मे 'भेड़ियाधसान' शब्द भी बहुत प्रचलित है। इसका शुद्ध रूप है : 'भेड़-धसान'। भेड़ों का स्वभाव है कि एक भेड़ जिस ओर जाती है, गिरोह की सभी भेड़े उधर ही दौड पडती हैं। अन्धानुकरण की प्रवृत्ति के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसको संस्कृत मे 'गड्डलिकाप्रवाह' कहा जाता है। किन्तु, जाने क्यों, हिन्दी मे 'भेड़ियाधसान' चल रहा है। आजतक 'भेड' और 'भेड़िया' का भेद लोगो की समझ मे न आया। महान् आश्चर्य ! हिन्दी के सुलेखको एवं बँगला-साहित्य के मर्मज्ञो तक से यह भूल हुई है। बँगला के स्वनामधन्य हास्यलेखक परशुराम की एक पुस्तक का अनुवाद 'भेड़िया-धसान' के नाम से हुआ है और आज भी उसी नाम से वह पुस्तक पढी जा रही है। इसी प्रकार, एक शब्द है : 'मूसलाधार'। यह शब्द घोर वर्षा के अर्थ मे धडल्ले से व्यवहृत होता है, किन्तु है अशुद्ध। इसका शुद्ध रूप है 'मूसलधार', अर्थात् मूसल के समान मोटी धार। किन्तु, जाने कैसे 'मूसल' की जगह पर 'मूसला' अपना आसन जमाये बैठा है !

स्वराजोत्तर काल मे एक शब्द जो बहुलता से व्यवहृत हो रहा है, वह है 'विमोचन'। 'अमुक ने अमुक पुस्तक का विमोचन किया', ऐसा प्रयोग चल रहा है; जो मेरी दृष्टि में चिन्त्य है। विमोचन (वि-मुच्-ल्युट्) का अर्थ है बन्धन या गाँठ खोलना, बन्धन से मुक्त करना या छुटकारा देना। मानों, पुस्तक कैदखाने में थी, जिसे मुक्ति दी गई। भाषा के क्षेत्र में काम करनेवालों, खासकर शब्दचिन्तको को इसके लिए 'प्रकाशनोद्घाटन' आदि कोई दूसरा शब्द ढूँढ़ना चाहिए।

इसी प्रकार, कम्युनिस्टों के बीच बहुप्रचलित शब्द है 'सर्वहारा'। यह बँगला का शब्द है, जिसका अर्थ होता है, जुआरी, जो जूए मे सर्वस्व हार जाता है, वह है सर्वहारा। किन्तु, हिन्दी मे इसका प्रयोग श्रमिको के लिए किया जाता है, जिसके लिए अँगरेजी मे 'प्रोलेतारियत' शब्द चलता है। यह प्रयोग भी चिन्त्य ही कहा जा सकता है। हिन्दी मे इस अर्थ के बोधक अनेक शब्द है : जैसे 'अकिंचन', 'नास्ति किंचन यस्य'—जिसके पास कुछ न हो, निपट निर्धन, कंगाल, दरिद्र। किन्तु, 'सर्वहारा' ही हिन्दीवालों के सर पर सवार है !

प्रायः ऐसा वाक्य भी देखने मे आता है : 'चिता धू-धू कर जल उठी'; जो गलत है। चिता धायँ-धायँ जलती है और शंख धू-धू बजता है। किन्तु, कुछ लोगो को चिता से भी शंखध्वनि सुनाई देती है, तो कोई क्या करे।

कर्त्ता के 'ने' चिह्न का प्रयोग भी लोग मनमाने और ऊटपटांग ढग से करते है : खासकर दिल्ली के 'अहले जबाँ' लोग। दिल्ली से प्रकाशित दैनिक 'हिन्दुस्तान' मे 'ने' का ऊटपटांग प्रयोग देखकर रोना आता है। 'मैंने कहा हुआ है', 'उन्होंने बोला' जैसे वाक्य

धड़ल्ले से मिलते है, जो अशुद्ध हैं। इस दिशा में सतर्कता आवश्यक प्रतीत होती है। इसी प्रकार, 'सौन्दर्यता', 'मिलनसारिता', 'प्राधान्यता', 'साम्यता', 'सौम्यता', 'सौजन्यता' प्रभृति शब्द प्रायः प्रयुक्त होते रहते है। ये सभी शब्द संज्ञावाचक है, फिर इनमे 'ता' लगाने की क्या जरूरत ?

अँगरेजी-मुहावरो का भावार्थ न लिखकर अविकल अनुवाद करके हिन्दी को हास्यास्पद बनाने का भी उपक्रम होता है, जो अवांछित है। अँगरेजी का एक मुहावरा है : 'मच वाटर हैज ब्लोन अण्डर दि ब्रिज।' इसका हू-ब-हू अनूदित रूप 'पुल के नीचे से बहुत पानी निकल गया' जैसा निरर्थक वाक्य देखने में आता है। मुहावरों का भावार्थ हिन्दी की प्रकृति के अनुसार लिखना चाहिए, न कि 'मक्षिकास्थाने मक्षिका।' अँगरेजी की प्रकृति भिन्न है। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है, उसकी स्वतन्त्र संरचना-होती है। अँगरेजी की प्रकृति के अनुसार लिखा जानेवाला एक वाक्य है : 'दि राइटर इन हिम इज डेड।' इसका आशय यह है कि लेखक के रूप में वह चुक गया, अथवा उसकी लेखकीय क्षमता समाप्त हो चुकी। किन्तु, इसका 'उसके अन्दर का लेखक मर गया' जैसा निरर्थक अनुवाद कर दिया जाता है। इसी प्रकार, 'स्टॉर्म इन ए टी-पॉट' के लिए चाय के प्याले में बेसबब तूफान उठाया जाता है। यह स्थिति अच्छी नही। कभी-कभी अँगरेजी के ढर्रे पर हिन्दी का क्रिया-विन्यास भी कर दिया जाता है। जैसे : 'भाषण देना', 'निर्णय लेना' आदि। इनके स्थान पर 'भाषण करना', 'निर्णय करना' आदि हिन्दी के अनुरूप हैं। बेशक, यह प्रवृत्ति रुकनी चाहिए।

प्रायः ऐसे वाक्य भी धड़ल्ले से प्रयुक्त होते देखे जाते है : 'उन्होने एम्० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की', 'उसने उससे विरोध लिया था', 'उन्होंने बहुत बड़ा कार्य किया' आदि। ये सभी वाक्य हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल एवं अँगरेजी वाक्य-विन्यास के अनुरूप हैं। 'परीक्षा उत्तीर्ण की' के स्थान पर 'परीक्षा मे सफल हुए' लिखना ठीक होगा। इसी प्रकार, 'विरोध लिया था' के स्थान पर 'विरोध किया था' लिखा जाना चाहिए। 'बहुत बड़ा महान् कार्य किया' लिखना अनुचित है। 'महान्' विशेषण से ही काम का महत्त्व प्रदर्शित हो जाता है, फिर 'बड़ा' और उसपर भी 'बहुत बड़ा' लिखना मेरी दृष्टि में सर्वथा असंगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार, संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग कर भाषा को बोझिल बनाना भी उपयुक्त नही जँचता। तद्भव और देशज शब्दों से ही हमें अधिक काम लेना चाहिए, न कि अनपेक्षित तत्सम शब्दों से। **श्रीरामवृक्ष बेनीपुरीजी** कहा करते थे : "मुझे जहाँ 'जरूरत' की जरूरत होती है, वहाँ 'आवश्यकता' झाँकने की भी हिम्मत नहीं कर सकती।" इसलिए, जो शब्द स्वाभाविक रूप से जिह्वा पर उतर जाय, वही ग्राह्य होना चाहिए।

△ **सम्पादक : 'सचित्र आयुर्वेद'**
वैद्यनाथ आयुर्वेद-भवन, पटना-८०००१

△ **पं० श्रीकान्त शास्त्री**

विश्वविद्यालय-परिसर की पत्रिकाएँ

राष्ट्रीय स्तर पर भाषा और साहित्य-सवर्द्धन के अनेक आयाम है। भाषा तथा साहित्य-समृद्धि के विविध आयाम, विकास की विविध धाराओ के प्रतिरूप है, जो भाषा तथा साहित्य की बहुमुखी सृष्टि के रूप मे समानान्तर गति से अग्रसर हैं। विकास-यात्रा का एक उपेक्षित, परन्तु प्रमुख पड़ाव विश्वविद्यालय के विभिन्न महाविद्यालयों तथा स्नातकोत्तर विभागो से प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाएँ है। इस दिशा की ओर सम्भवतः किसी का ध्यान नही है, जहाँ से हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के विकास का एक सुनिश्चित कार्यक्रम चलाया जा रहा है। विश्वविद्यालयो से प्रकाशित होनेवाली इन पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी का निरन्तर विकास हो रहा है। इन पत्रिकाओ के समय-समय विशेषाक भी निकलते है। इनके सुसम्पादित अंको को देखकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय शिक्षण-सस्थाओ मे साहित्य-निर्माण का कार्य बृहत् स्तर पर समर्पित भाव से हो रहा है।

विभिन्न शिक्षण-संस्थाओ से प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओ के लेखक छात्र और शिक्षक दोनो होते है। यह अन्तर उनके लेखन मे लक्षित है। प्राध्यापक-लेखको की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ एव सशक्त होती हैं। पत्रिका के स्तर को बनाये रखने मे इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। जिस पत्रिका मे प्राध्यापक-लेखको की संख्या जितनी अधिक होगी, उसकी स्तरीयता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। पटना-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत बिहार नेशनल महाविद्यालय (बी० एन्० कॉलेज) के हिन्दी-विभाग के तत्त्वावधान मे प्रकाशित होनेवाली 'भारती' पत्रिका की उत्तमता का एकमात्र कारण यही है। फलत, 'भारती', महाविद्यालय की पत्रिका होकर भी उत्तम साहित्यिक पत्रिका के समकक्ष आ खडी होती है।

महाविद्यालयीय पत्रिकाओ ने हिन्दी-भाषा और साहित्य दोनो का चतुर्दिक् विकास किया है। पत्रिकाओ के अन्तर्गत साहित्य की समस्त विधाओं पर उत्साहजनक कार्य हुआ है। युवा लेखक अपने समाज और समसामयिक विश्वव्यापी समस्याओ को किस रूप मे देखता है, आज के साहित्य मे पूरा-का-पूरा उतर आया है। साहित्य मे युवा लेखक-वर्ग असीम ऊर्जा के साथ सक्रिय है। कविताओ मे यह चेतना अधिक तीक्ष्ण, स्पष्ट और सशक्त है। अत्याधुनिक कविता खरोचती अधिक है, सहलाती कम है। विभिन्न कविताओ मे निहित विधागत वैविध्य और तकनीक का वैशिष्ट्य उल्लेख्य है। मौलिक उद्भावनाओ को देखते हुए इस पात्रिक साहित्य का विशेष अध्ययन होगा, तो अनेक नई विशेषताएँ सामने आयेंगी।

विश्वविद्यालयीय परिसर से प्रकाशित होनेवाली ये पत्रिकाएँ सदैव साहित्यिक शोषण का शिकार होती रही है। हिन्दी-पत्रकारिता-विधा के विकास मे इन पत्रिकाओ ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाला है, परन्तु पत्रकारिता-विधा के ऐतिहासिक मूल्यांकन

के परिप्रेक्ष्य मे विश्वविद्यालय-परिसर से प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओं की सदैव उपेक्षा होती रही है। इन पत्रिकाओ के पूर्वाग्रह-रहित मूल्याकन की आवश्यकता है। यह सत्य है कि समस्त पत्रिकाएँ स्तरीय साहित्य नही प्रकाशित करती है। इनसे भिन्न विश्वभारती, शान्ति-निकेतन से प्रकाशित 'विश्वभारती', रांची-विश्वविद्यालय, रांची से प्रकाशित 'अनुवाक्', तथा पूर्वोक्त बी० एन्० कॉलेज, पटना-विश्वविद्यालय, पटना से प्रकाशित 'भारती' आदि पत्रिकाएँ विश्वविद्यालय-परिसर की सीमाओं से निकलकर किसी भी शोध-समीक्षा-प्रधान साहित्यिक पत्रिका के समकक्ष है। अन्य विश्वविद्यालयो से भी उच्च स्तर की पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। इन पत्रिकाओं के साहित्यिक अवदान की उपेक्षा करना हिन्दी-साहित्य को सीमित करना होगा। यदि इन पत्रिकाओं की कुछ सीमाओ को स्वीकार कर लिया जाय, तो इनका मूल्यांकन न्यायोचित कहलायगा। △ सुश्री रेखा सुधि

△ डॉ० विधानचन्द्र राय पथ
महावीर स्थान के समीप, पटना : ८००००४

●

सम्पादकीय : पृ० ८ का शेषांश]

की दृष्टि से खरोंचनेवाली और रसबोध की दृष्टि से गुदगुदानेवाली दोनों प्रकार की थी, फिर भी सहृदयों के लिए दोनों सुखस्पर्श और उल्लासक सिद्ध हुई। इस प्रकार, सम्मेलन के इस अधिवेशन ने कवि-सम्मेलन की सुषुप्तप्राय परम्परा को भी पुनर्जागरित कर दिया।

तृतीय दिन, ३ जुलाई को, सायंकालीन सत्र मे, डॉ० **हरवंशलाल शर्मा** की अध्यक्षता में प्रतिनिधि-सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमे हिन्दी के व्यापक और बहुमुख विकास-विस्तार से सम्बद्ध कुल तेरह प्रस्ताव उपस्थापित किये गये और वे सर्वमत से पारित हुए। और, इसी कार्यक्रम के साथ सम्मेलन का ४१वाँ अधिवेशन, अपनी ऐतिहासिक क्रोशशिला की स्थापना करके, सांगोपांग रूप से परिपूर्णता को प्राप्त हुआ। इस प्रकार, सम्मेलन ने प्रयाग से अन्यत्र, कुरुक्षेत्र मे, रचनाधर्मियों, राष्ट्रकर्मियों और सामान्य हिन्दीप्रेमियो के त्रिवेणी-संगम की अविस्मरणीय अभिरामता उपस्थित की।

कहना न होगा कि उक्त अधिवेशन से सम्मेलन की साहित्यिक जागरूकता का संकेत तो मिलता ही है, उसका, राष्ट्र के प्रति युगोचित इतिकर्त्तव्यता का बोध भी परिलक्षित होता है। अवश्य ही, सम्मेलन ने हिन्दीसेवी संस्थानों के इतिहास में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है और अपने को बृहत्तर भारत के हिन्दी-अनुरागियों के एकत्रित होने का मंच सिद्ध करने का श्लाघ्यतम अनुकरणीय प्रयास किया है। विश्वास है, सम्मेलन ने अपने शुभावह अनुष्ठानों से जो व्यापक गौरव आयत्त किया है, उसे वह सदा अक्षुण्ण रखेगा।

△ सूरिदेव

●

[अगस्त-सितम्बर, १९८३ ई०]

प्रेमचन्द-जयन्ती :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान मे दि० ४ अगस्त को, उपन्यासकार-सम्राट् प्रेमचन्दजी की जयन्ती हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० उमेशचन्द्र मधुकर के सभापतित्व में सम्पन्न हुई। सभारोह, प्रो० डॉ० शान्ति जैन के मगलाचरण से प्रारम्भ हुआ। जयन्ती-समारोह का उद्‌घाटन करते हुए पटना-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष आचार्य केसरीकुमार ने कहा कि प्रेमचन्द हिन्दी के महारथियों मे अन्यतम थे। उन्होने अपनी कृतियो द्वारा गान्धीवाद को गाँव-गाँव तक पहुँचाया। उनकी वाणी मे जीवन-सत्य और मनोरजन या कल्पना-सत्य का समीकरण समाहित है। अपने समय के, भाषा, समाज और साहित्य के अग्रणी प्रतिनिधि प्रेमचन्द ने यथार्थ की प्रेरणा का सन्देश दिया है।

इनके अतिरिक्त, डॉ० गोपाल राय, डॉ० सीताराम झा 'श्याम', डॉ० बजरंग वर्मा, प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीहिमांशु श्रीवास्तव, डॉ० रामनरेश तिवारी, प्रो० केदारनाथ कलाधर, 'परिषद्-पत्रिका' के सम्पादक डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, प० विक्रमादित्य मिश्र, डॉ० अजितनारायण सिंह 'तोमर', श्रीकैलासप्रसाद सिंह 'स्वच्छन्द' आदि ने प्रेमचन्द के जीवन और कर्त्तृत्व पर प्रकाश डालते हुए उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

सभापति-पद से भाषण करते हुए डॉ० मधुकर ने कहा कि प्रेमचन्द गरीबो की सही पहचान रखते थे। उन्होने भारतीयो की आवश्यकता और समझ के अनुसार अपने उपन्यासो की रचना की। अन्त मे, परिषद् के प्रकाशन-उपनिदेशक श्रीराधावल्लभ शर्मा ने आगन्तुक महानुभावो के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की।

शिवपूजन-जयन्ती :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में दि० ६ अगस्त को आयोजित शिव-पूजन-जयन्ती-समारोह डॉ० पूर्णेन्दुनारायण सिन्हा के सभापतित्व मे सम्पन्न हुआ। आचार्य शिवपूजन सहाय के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए डॉ० सिन्हा ने कहा कि शिव-पूजनजी मनीषी साहित्यकारों मे पाक्तेय थे। वह बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के निर्माता थे। उन्होंने न केवल साहित्य-रचना की, अपितु अनेक साहित्यकारो का भी निर्माण किया। उनके द्वारा संचालित बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् एक ऐसा आदर्श शोध-संस्थान है कि जिसके अनुकरण पर भारत मे अनेक शोध-संस्थाओ की स्थापना हुई। नि:सन्देह, वह त्यागी और तपस्वी साहित्यकार थे।

डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ने कहा कि निरन्तर साहित्य और साहित्यकारों की समृद्धि की चिन्ता में सजग रहना तथा उन्हें प्रोत्साहित करते रहना उनके जीवन का एकमात्र व्रत था। डॉ० बजरंग वर्मा ने कहा कि शिवपूजन बाबू भाषा और साहित्य के आचार्य तथा आदर्श संस्मरणकार थे। वह निरहंकार और सच्चरित्र व्यक्ति थे। उन्होंने साहित्यिक शोषण का सदा विरोध किया। डॉ० अजितनारायण सिंह 'तोमर' ने कहा कि आचार्य शिवजी सचमुच शिव के अवतार थे। उन्होंने स्वयं हलाहल का पान करके लोगों के लिए अमृत का वितरण किया था। डॉ० परमानन्द पाण्डेय ने कहा कि आचार्य शिवजी अपने जीवन के रस से साहित्य को सींचनेवाले महामनीषी थे। 'परिषद्-पत्रिका' के सम्पादक डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने कहा कि आचार्य शिवजी ने आजीविका के लिए नहीं, अपितु लोकजीवन के समुत्थान के लिए साहित्य की साधना की थी। वह सच्चे अर्थ में शब्दब्रह्म के साधक थे। श्रीकामेश्वर शर्मा नयन ने कहा कि शिवपूजन बाबू स्थितप्रज्ञ और आत्मसन्तुष्ट व्यक्ति थे। श्रीरामकिशोर ठाकुर ने कहा कि अद्वितीय साहित्यकार आचार्य शिवजी महामानव के सभी गुणों से अलकृत थे। श्रीदुर्योधन सिंह 'दिनेश' ने कहा कि शिवपूजन सहायजी उच्चकोटि के साहित्यकार थे। इनके अतिरिक्त, सर्वश्री सत्यदेवनारायण अष्ठाना, जयगोविन्द सहाय 'उन्मुक्त', दिनेशप्रसाद, कैलासप्रसाद सिंह 'स्वच्छन्द', समरेन्द्रनारायण आर्य आदि ने आचार्य शिवजी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्हें प्रेमचन्दोत्तर जीवन्त कहानीकार तथा आंचलिक उपन्यासों का बीजवपनकर्त्ता बतलाया।

अन्त में, परिषद् के उपनिदेशक (प्रकाशन) श्रीराधावल्लभ शर्मा ने धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए कहा कि आज के साहित्यकार अपने पूर्वजों को भूलते जा रहे हैं, जो साहित्य-जगत् के लिए चिन्तनीय है।

तुलसी-जयन्ती :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में तुलसी-जयन्ती दि० १५ अगस्त को स-समारोह आयोजित हुई। समारोह का सभापतित्व हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकार डॉ० उमेशचन्द्र मधुकर ने किया। समारोह, प्रसिद्ध मानसगायिका प्रो० डॉ० शान्ति जैन के द्वारा प्रस्तुत मानस के गान से आरम्भ हुआ।

महाकवि तुलसी के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए प्रो० महेन्द्रप्रसाद यादव ने कहा कि गोस्वामी तुलसीदास भारतीय साहित्य के एकमात्र ऐसे कवि थे, जो साधारणजन से प्रकाण्ड पण्डित तक के बीच अतिशय प्रिय थे। वह कालजयी कवि थे। उनका मानस लोकादृत मंगलकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है, जो जन-जन को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। डॉ० बजरंग वर्मा ने कहा कि तुलसी समन्वयवादी कवि थे। हिन्दी-साहित्य में उनका आविर्भाव एक चामत्कारिक घटना है। डॉ० अजितनारायण सिंह 'तोमर' ने कहा कि सन्तकवि तुलसी के मानस की काव्य-पंक्तियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करनेवाली हैं।

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने कहा कि तुलसीदास विचक्षण सम्पादक और विलक्षण रचनाकार थे। उन्होने मधुमक्षिका-वृत्ति द्वारा पूर्ववर्त्ती रामायणो के सार तत्त्वो को सकलित और सम्पादित कर मानस की रचना की, जो राम-रसायन के रूप में जनवर्ग मे सजीवनी का सचार करनेवाला आगमकल्प महाप्राण काव्य सिद्ध हुआ। डॉ० परमानन्द पाण्डेय ने कहा कि तुलसी का मानस कामधेनु के सदृश है और यह मानव-प्रज्ञा की सर्वोत्तम उपलब्धि के रूप मे प्रतिष्ठित हैं। पं० विक्रमादित्य मिश्र ने कहा कि तुलसी अलौकिक कवि थे और उनका मानस अद्भुत काव्यग्रन्थ है। श्रीरामकिशोर ठाकुर ने कहा कि सम्पूर्ण विश्व मे समादृत गोस्वामी तुलसीदास अवतारी पुरुष थे। श्रीदुर्योधन सिंह 'दिनेश' ने कहा कि लोकतन्त्र का प्रतिष्ठापक मानस-काव्य राजनीतिशास्त्र का अनूठा ग्रन्थ है। इसमे प्रजातन्त्र के बीज निहित है। इनके अतिरिक्त, सर्वश्री बलभद्र कल्याण, चिरंजीवी राव, लोकनाथ सिंह, कैलासप्रसाद सिंह 'स्वच्छन्द', दिनेशप्रसाद आदि ने भी तुलसी के मानस की महिमा का बखान करते हुए उसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला।

सभापति-पद से तुलसी के प्रति श्रद्धा निवेदित करते हुए डॉ० उमेशचन्द्र मधुकर ने कहा कि तुलसीदास समाज मे क्रान्ति का शखनाद करनेवाले युगचेता महाकवि थे। इसके अतिरिक्त, वह प्रसिद्ध रामभक्त, कलाकार और कलम के जादूगर भी थे। उन्होने मधुर काव्य-भाषा द्वारा ज्ञान की रूखी बातो को भी जनजीवन के हृदय तक पहुँचाया।

अन्त मे, आगत महानुभावो के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए श्रीराधावल्लभ शर्मा ने कहा कि तुलसी ने जनभाषा मे राम के उदात्त चरित के वर्णन के व्याज से जनभावना को रूपायित किया है।

साहित्यकार-सम्मान :

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार एव भूतपूर्व सासद श्रीशंकरदयाल सिंह की जापान-प्रवास से वापसी के उपलक्ष्य मे उनके सम्मान के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से दि० १९ अगस्त को साहित्य-गोष्ठी आयोजित की गई। गोष्ठी का सभापतित्व परिषद् के प्रकाशन-उपनिदेशक श्रीराधावल्लभ शर्मा ने किया।

जापान-प्रवास का अनुभव सुनाते हुए श्रीशंकरदयाल सिंह ने कहा कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिरोशिमा और नागासाकी मे अणुबम से हुई भीषण बरबादी के बाद जापान ने पहले की अपेक्षा और अधिक कर्मठ, विकासशील और गतिमान् देश के रूप मे अपने को प्रतिष्ठापित किया है। विध्वंस की यातना सहकर भी देश निर्माण के उच्चतर शिखर पर पहुँच गया है। पूर्णतया वैज्ञानिक, औद्योगिक और व्यापारिक देश होने के बावजूद जापान सूर्योदय का देश है और उसने अपनी साहित्यिक चेतना, सौन्दर्यबोध और बौद्धिक अनुराग को उत्तरोत्तर विकसित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है, इसीलिए छोटा देश होकर भी वह एशिया के देशो में गौरव का विषय माना जाता है।

श्रीसिंह ने कहा कि बौद्धदेश होने के कारण जापान की संस्कृति का, बुद्ध की जन्म-भूमि भारत की सस्कृति से पर्याप्त साम्य है। वहाँ के नागरिक विनम्रता और करुणा के

प्रदर्शन में सदा जागरूक रहते है। राष्ट्रीय भावना, नैतिक चरित्र, नागरिक चेतना आदि उनके सहज गुण किसी भी देश के लिए अनुकरणीय है। वहाँ की नब्बे प्रतिशत जनता जापानी-भाषा का व्यवहार करती है और दस प्रतिशत अँगरेजी-भाषा का। अन्य भाषाओ मे हिन्दी वहाँ अतिशय प्रिय है और भारत के प्रति जापानियो की सद्भावना निरन्तर बनी रहती है।

प्रारम्भ मे गोष्ठी के सभापति **श्रीराधावल्लभ शर्मा** ने आगत अतिथि का अभिनन्दन किया और अन्त में परिषद् के शोध-उपनिदेशक तथा 'परिषद्-पत्रिका' के सम्पादक **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव** ने प्रवासागत अतिथि के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए कहा कि आज की विश्व-एकता की स्थिति मे सद्भावना-यात्रा का बड़ा मूल्य है। अतएव, इसे अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

बेनीपुरी-जयन्ती :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान मे दि० ८ सितम्बर को हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार तथा समाजवादी नेता स्व० **श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी** का पुण्यस्मृति-समारोह **डॉ० पूर्णेन्दुनारायण सिन्हा** के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ।

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के उपाध्यक्ष **पं० रामदयाल पाण्डेय** ने अपने लिखित श्रद्धांजलि-भाषण मे कहा कि स्व० बेनीपुरीजी अजर-अमर साहित्यकारो, हिन्दीसेवियों तथा पत्रकारों की प्रथम पंक्ति को गौरवान्वित करते थे। वे प्रतिभा, मेधा और अध्यवसाय के धनी तथा सरल-तरल गद्यशैली के निर्माता थे।

इनके अतिरिक्त, सर्वश्री **पं० विक्रमादित्य मिश्र, डॉ० सीताराम झा 'श्याम' डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, डॉ० परमानन्द पाण्डेय, श्रीरामकिशोर ठाकुर, श्रीदुर्योधन सिंह 'दिनेश', श्रीकामेश्वर शर्मा 'नयन', पं० मदनमोहन पाण्डेय, लोकनाथ सिंह, चिरंजीवी राव** आदि ने बेनीपुरीजी की साहित्यिक उदारता पर प्रकाश डालते हुए अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

सभापति-पद से भाषण करते हुए **डॉ० पूर्णेन्दुनारायण सिन्हा** ने कहा कि मनीषी सम्पादक एवं उच्च कोटि के कथाकार और नाटककार बेनीपुरीजी नई-नई कल्पनाओं के उद्भावक थे। वह न केवल स्वप्नद्रष्टा साहित्यकार थे, अपितु स्वप्न को साकार करने की क्षमता से भी सम्पन्न थे। उन्होंने अपनी रचनाओ मे क्रान्ति के साथ रागात्मक तत्त्वो को भी उभारने का काम किया है। वह क्रान्तिकारी व्यक्ति और महान् साहित्यस्रष्टा थे।

अन्त में, धन्यवाद-भाषण करते हुए **श्रीराधावल्लभ शर्मा** ने कहा कि पुण्यश्लोक बेनीपुरीजी का पुण्यस्मृति-समारोह आयोजित कर परिषद् ने अपनी कर्त्तव्य-चेतना का परिचय तो दिया ही है, साथ ही अन्य हिन्दी-सस्थाओ का मार्गदर्शन भी किया है।

राजा राधिकारमण-जयन्ती :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में दि० १० सितम्बर को हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार **स्व० राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह** की जयन्ती परिषद्-प्रागण में परिषद् के प्रकाशन-उपनिदेशक **श्रीराधावल्लभ शर्मा** के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ।

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव ने राजा साहब की कथा-प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए कहा कि प्रख्यात शैलीकार राजा साहब की कथागत गद्यशैली काव्यभाषा के सौन्दर्य से मण्डित है, साथ ही उसकी आत्मा उर्दू के धरातल पर प्रतिष्ठित होने के कारण पाठकों को सहसा रसाभिभूत कर लेती है। इस दृष्टि से उनकी भावाशैली अद्वितीय है। डॉ० अजितनारायण सिंह तोमर ने कहा कि राजा साहब सरल स्वभाव के विनोदशील व्यक्ति थे और राजा होकर भी वह अपने को जनसाधारण के बीच का ही आदमी समझते थे।

डॉ० बजरंग वर्मा ने कहा कि लोकजीवन के चित्रकार राजा साहब हिन्दी के अपूर्व शैलीकार थे और भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार था। श्रीदुर्योधन सिंह 'दिनेश' ने कहा कि राजा साहब ने जनता के सुख-दु:ख को अपनी रचनाओं में रूपायित किया है। श्रीरामकिशोर ठाकुर ने कहा कि साहित्य-साधना राजा साहब को विरासत में मिली थी और परोपकार ही उनका जीवन-दर्शन था। पं० विक्रमादित्य मिश्र ने कहा कि रसपूर्ण गद्य के लेखक राजा साहब को जन्मगत साहित्य-सृष्टि का संस्कार प्राप्त था। श्रीकामेश्वर शर्मा 'नयन' ने कहा कि गद्य-साहित्य में राजा साहब का योगदान अभूतपूर्व है। आचार्य श्रुतिदेव शास्त्री ने कहा कि कविहृदय राजा साहब ने भारतीय समाज का सरस चित्रण किया है। प्रसिद्ध कथाकार श्रीहिमांशु श्रीवास्तव ने कहा कि सामन्त-परिवार का सदस्य होते हुए भी राजा साहब ने लोकजीवन के चित्रण का अद्भुत कार्य किया। श्रीलोकनाथ सिंह ने कहा कि राजा साहब गरीबों के हृदय की सच्ची पहचान रखते थे।

डॉ० पूर्णेन्दुनारायण सिन्हा ने कहा कि अपने समय के समर्पित हिन्दी-निर्माता राजा साहब के हृदय में स्वदेश-प्रेम की ज्योति प्रज्वलित थी। डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ने कहा कि राजा साहब अपनी साहित्य-साधना से स्वयं साहित्यिक इतिहास के प्रतिरूप बन गये थे। प्रो० हिमांशुशेखर झा ने कहा कि राजा साहब की कृतियों से सर्वधर्म-समन्वय की भावना उद्घाटित होती है।

सभापति-पद से राजा साहब के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करते हुए श्रीराधावल्लभ शर्मा ने कहा कि राजा साहब ने अपनी रचनाओं में युगधर्म का चित्रण किया है। वह गान्धीवादी विचारधारा से प्रभावित वरेण्य कथाकार थे। व्यक्तिगत स्तर पर वह सादगी और सुजनता के प्रतिरूप थे।

हिन्दी-दिवस :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में दि० १४ सितम्बर को हिन्दी-दिवस-समारोह पटना-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष आचार्य केसरी-कुमार के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। प्रारम्भ में परिषद् के प्रकाशन-उपनिदेशक श्रीराधावल्लभ शर्मा ने आगन्तुक महानुभावों का स्वागत किया।

समारोह का उद्घाटन करते हुए पटना उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधिपति पं० सतीशचन्द्र मिश्र ने कहा कि हिन्दी-दिवस सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए गौरव-दिवस है;

क्योंकि हिन्दी ने प्रेरक मन्त्र की तरह राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रसर किया था। आज एकमात्र हिन्दी ही अखिलभारतीय राजभाषा की भूमिका का निर्वाह करती है और स्वतन्त्र भारत के शासन को चलाने के लिए हिन्दी ही सर्वथा उपयुक्त भाषा है। इसलिए, हिन्दी की अपेक्षित प्रगति और विकास के निमित्त अपने संकल्प को अधिक-से-अधिक सुदृढ करने की आवश्यकता है। केन्द्र मे हिन्दी जबतक शासकीय व्यवहार की भाषा नही बनेगी, तबतक हिन्दी-दिवस की सार्थकता सन्दिग्ध ही रहेगी।

अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के उपाध्यक्ष तथा प्रसिद्ध साहित्यकार **पं० रामदयाल पाण्डेय** ने अपने लिखित सन्देश में कहा कि स्वदेशी भाषा के प्रयोग के बिना राष्ट्र गूँगा ही नहीं, वरन् बहरा ही रहता है, साथ ही समस्त प्रकार की अभिव्यक्तियों से वंचित भी। विदेशी भाषाएँ सीखना अच्छा है, परन्तु वे हमारी प्रयोग-भाषा का स्थान नही ले सकती। हम विश्व की समस्त भाषाओं और विशेषतः भारतीय भाषाओ के प्रति प्रेमभाव रखे, लेकिन हमारे हृदय की वाणी तो हमारी स्वदेशी भाषाएँ ही हो सकती है।

भूतपूर्व सासद तथा प्रसिद्ध साहित्यकार **श्रीशंकरदयाल सिंह** ने कहा कि आज सामान्य जनचेतना के अभाव मे हिन्दी पनप नही पा रही हैं। इसलिए, सम्प्रति हिन्दी के विकास-विस्तार के लिए जनचेतना को जागरित करने की आवश्यकता है। हिन्दी का प्रचार-प्रसार न केवल हिन्दीसेवियो के, अपितु आम जनता के प्रश्न से जुडा हुआ है।

डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ने कहा कि आज हिन्दी के सरलीकरण की आवश्यकता है, ताकि वह जनसाधारण की समझ के उपयुक्त हो। उत्तर-दक्षिण का भेद मिटाकर हमें यह मानसिकता अपनानी चाहिए कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी हिन्दीभाषी है। इनके अतिरिक्त, सर्वश्री **प्रो० हिमांशुशेखर झा, कविवर श्रीवाल्मीकिप्रसाद विकट, प्रो० केदारनाथ कलाधर, डॉ० रामनरेश तिवारी** आदि ने हिन्दी-दिवस की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी को आम जनता के व्यवहार की भाषा बनाने के लिए दृढ सकल्प के साथ आन्दोलन और क्रान्ति की आवश्यकता बतलाई।

सभापति-पद से हिन्दी की महत्ता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए **आचार्य केसरी-कुमार** ने कहा कि आज हिन्दी की रोटी खानेवाले ही अँगरेजी का अधिक समर्थन करते है और हिन्दीवालों पर जबरन अँगरेजी लादते है। स्मरणीय है कि आजादी की लड़ाई हिन्दी-भाषा मे ही लड़ी गई है, किन्तु आजादी के बाद हिन्दी का ही अवमूल्यन कर दिया गया है। आज जनता के हित के साथ भाषा के प्रश्न को जोड़ना आवश्यक है, साथ ही निर्बन्ध भाव से हिन्दी का व्यवहार अपेक्षित है।

अन्त में, धन्यवाद-भाषण करते हुए **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव** ने कहा कि हिन्दी के अबाध विकास के लिए आज प्रत्येक भारतीय में उसके प्रति सच्चे आत्मविश्वास का जागरण अपेक्षित है। एकनिष्ठता और ईमानदारी के साथ सेवा से ही हिन्दी अधिक-से-अधिक सबल जनभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो सकेगी।

दिनकर-जयन्ती :

विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान मे दि० २३ सितम्बर को दिनकर-जयन्ती आयोजित हुई, जिसका सभापतित्व परिषद् के शोध-उपनिदेशक तथा 'परिषद्-पत्रिका' के सम्पादक **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव** ने की। समारोह, प्रसिद्ध हिन्दी-साहित्यकार **पं० रामदयाल पाण्डेय** के लिखित काव्यमय श्रद्धा-सन्देश के पाठ से प्रारम्भ हुआ।

सभापति-पद से **डॉ० सूरिदेव** ने राष्ट्रकवि दिनकरजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि दिनकरजी की, अतीत की सास्कृतिक परम्परा से जुड़ी हुई कविता जीवन की प्रेरणा का अक्षय स्रोत है। उन्होने व्यष्टि की अनुभूति को उदात्तीकृत करके समष्टि की अनुभूति के रूप मे अभिव्यक्त किया है। इसलिए, जनजीवन से साधारणीकरण हो जाने के कारण उनकी कविता में जीवन के शाश्वत मूल्यो की प्रतिष्ठा हुई है।

डॉ० बजरंग वर्मा ने कहा कि दिनकरजी महान् कवि होते हुए भी व्यावहारिक जीवन मे बडे सहज थे। उन्होने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विहार और हिन्दी का नाम ऊँचा उठाया है। **डॉ० सीताराम झा 'श्याम'** ने कहा कि दिनकरजी भारतीय संस्कृति के सन्देशवाहक थे। दिनकरजी का मूल स्वर राष्ट्रीयता के उत्थान का था। **पं० विक्रमादित्य मिश्र** ने कहा कि द्विवेदी-युग से प्रवर्त्तित हिन्दी-कविता की अन्तिम परिणति राष्ट्रकवि दिनकर मे हुई है। **प्रो० हिमांशुशेखर झा** ने कहा कि आज के राष्ट्रीयता-विलोप के युग मे दिनकर की कविता राष्ट्रीय चेतना जगाने का कार्य करने मे समर्थ है। **श्रीदुर्योधन सिंह 'दिनेश'** ने कहा कि दिनकरजी भारतीय सस्कृति को उजागर करनेवाले कवि थे। **कविवर श्रीवाल्मीकिप्रसाद 'विकट'** ने कहा कि सम्पूर्ण भारत के गगनमण्डल पर चमकनेवाले कवि दिनकर विहार के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे।

श्रीरामकिशोर ठाकुर ने कहा कि दिनकरजी युगचेता कवि थे और वह विभिन्न रूपो मे जनजीवन से जुडे हुए थे। **श्रीकामेश्वर शर्मा 'नयन'** ने कहा कि दिनकरजी समर्थ गान्धीवादी राष्ट्रकवि थे। उनकी कविता मे देश को जगाने की अपूर्व शक्ति है। इनके अतिरिक्त, **सर्वश्री चिरंजीवी राव, डॉ० मिथिलेशकुमारी, कैलासप्रसाद सिंह 'स्वच्छन्द'** आदि ने भी दिनकर की काव्यचेतना पर प्रकाश डालते हुए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

अन्त मे, परिषद् के प्रकाशन-उपनिदेशक **श्रीराधावल्लभ शर्मा** ने आगत महानुभावों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए कहा कि दिनकरजी राष्ट्रकवि होते हुए भी दार्शनिक भावना के चिन्तक कवि थे। आज भी, वौद्धिक क्षेत्र में दिनकर-साहित्य को निष्पक्ष भाव से पढने की आवश्यकता वनी हुई है।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि एवं साहित्यकार और जनप्रिय बाल-मासिक 'पराग' के यशस्वी सम्पादक श्रीसर्वेश्वरदयाल सक्सेना के, हृद्‌गति के अवरोध के कारण, आकस्मिक एवं असामयिक निधन से परिषद्-परिवार को मार्मिक आघात पहुँचा है ! श्रीसक्सेनाजी के लोकान्तरण से युगचेता साहित्यकारों की परम्परा का एक उल्लेखनीय हस्ताक्षर सदा के लिए अदृश्य हो गया !

पुण्यश्लोक सक्सेनाजी ने अपनी नव्यवादी काव्य-रचनाओं में जनजीवन के अभावजन्य आक्रोश तथा उसकी व्यथा-कथा को बड़ी मार्मिकता के साथ कलात्मक स्तर पर मुखरता प्रदान की। उन्होने अपनी रचना-प्रक्रिया द्वारा शासकीय और सामाजिक विसंगतियो के विरुद्ध निरन्तर प्रहार किया। इसीलिए, उनकी रचनाएँ, विशेषतः काव्य-रचनाएँ पाठको की चेतना को उद्वेलित करती है। इस दृष्टि से वह सच्चे अर्थ में जनप्रतिनिधि कवि थे। उनकी विख्यात कृतियों मे 'काठ की घण्टियाँ', 'बाँस का फूल', 'एक सूनी नाव', 'गरम हवाएँ', 'पागल कुत्ता का मसीहा', 'बकरी' आदि उल्लेखनीय हैं।

स्वर्गीय सक्सेनाजी ने 'दिनमान', 'पराग' आदि लोकप्रतिष्ठ पत्रों के सम्पादन द्वारा हिन्दी-पत्रकारिता को कलावरेण्यता प्रदान की, साथ ही अपने विचारों से वर्त्तमान व्यवस्था मे जीनेवाली जनता के जीवन-मूल्यों, उसकी आकांक्षाओं और मनोभावों को व्यापक अभिव्यक्ति देकर अपनी सम्पादकीय इतिकर्त्तव्यता का प्रशंसनीय परिचय दिया। विशेषतया, 'पराग' के माध्यम से वह बाल-जगत् मे बराबर राष्ट्रीय चेतना, निर्भीकता, साहस और जीवनोत्साह का संचार करते रहे। निश्चय ही, उनके उठ जाने से स्वस्थ चेतना की अभिव्यक्ति देनेवाले साहित्यकारो के संसार मे अपूरणीय रिक्तता आ गई है !

परिषद्-परिवार की यह शोकसभा दिवंगत सक्सेनाजी की संवेदनशील आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा निवेदित करती है और भगवान् से सांजलि प्रार्थना करती है कि उस देहमुक्त आत्मा को अक्षय शान्ति प्राप्त हो !

मृत्युतिथि : २३ सितम्बर, १९८३ ई०
मृत्युस्थान : नईदिल्ली

(पं०) रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

परिषद् के अभिनव गौरव-ग्रन्थ

●

१. तान्त्रिक वाङमय में शाक्तदृष्टि (द्वि० सं०) : म०म० पं० गोपीनाथ कविराज १६.००
२. तन्त्र तथा आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन : ले० : म० म० पं० गोपीनाथ कविराज :
अनु० : पं० हंसकुमार तिवारी १३.५०
३. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त : लेखक-अनुवादक : उपरिवत् २३.००
४. स्वसवेदन : लेखक-अनुवादक : उपरिवत् ४०.००
५. रहीम-साहित्य की भूमिका : डॉ० बमबम सिंह 'नीलकमल' ३०.००
६. काव्य में अभिव्यंजनावाद : डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधाशु १२.००
७. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त : उपरिवत् १३.००
८. नाटक और रंगमंच : डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ३५.००
९. उर्दू-कविता पर एक दृष्टि (प्रथम खण्ड) : ले० : प्रो० कलीमुद्दीन अहमद :
अनु० : प्रो० रामप्रसाद लाल २०.००
१०. पहेली-कोश : स० : पं० विक्रमादित्य मिश्र २०.००
११. एलिफंण्टा . श्रीहरिनन्दन ठाकुर २१.५०
१२. लीलारसतरगिणी : सं० : डॉ० परमानन्द पाण्डेय ४५.००
१३ भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास : डॉ० रामजी पाण्डेय ५०.००
१४. साहित्य-सिद्धान्त (द्वि० सं०) : डॉ० रामअवध द्विवेदी २५.००

●

परिषद् के आगामी प्रकाशन (यन्त्रस्थ)

१. भोजपुरी-भाषा और साहित्य (द्वि० सं०) : डॉ० उदयनारायण तिवारी
२. चित्रकाव्य : सैद्धान्तिक विवेचन एवं ऐतिहासिक विकास : डॉ० रामदीन मिश्र
३. मैथिली-संस्कार-गीत ' सं० श्रीराधावल्लभ शर्मा
४. कीर्त्तिलता : स० : डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव
५. आधुनिक हिन्दी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका : डॉ० धीरेन्द्रनाथ सिंह
६ हिन्दी-साहित्य और बिहार (ख० ४) : सं० : डॉ० बजरग वर्मा : श्रीकामेश्वर शर्मा 'नयन'
७. उर्दू-कविता पर एक दृष्टि (द्वि० खण्ड) : ले० : प्रो० कलीमुद्दीन अहमद
अनु० : प्रो० रामप्रसाद लाल
८. उपन्यास की भाषा : डॉ० जगदीशनारायण चौबे
९. भारतीय प्रतीक-विद्या (द्वि० स०) : डॉ० जनार्दन मिश्र
१०. काव्यालंकार (से हिन्दी-भाष्य-सहित : द्वि० सं०) : भाष्यकार : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा
११. ज्योतिर्दर्शन : पं० मुरलीधर ठक्कुर

●

प्राप्तिस्थान :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८०००४

●

परिषद् के प्रगतिशील चरण : मनीषियों के आशंसन

●

- परिषद् राष्ट्रभाषा के स्तरीय प्रकाशन के क्षेत्र में, शासकीय सीमा में अग्रणी रही है। उसी की देखादेखी उत्तरप्रदेश मे 'हिन्दी-समिति' की स्थापना हुई और परिनिष्ठित ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ। मैं सर्वतोभावेन परिषद् की सफलता का अभिलाषी हूँ।

  ☐ **आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र**

- भारतीय भाषा, साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों से मैं पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ। सभी भारतीय साहित्यिक शोध-संस्थानो मे परिषद् अग्रगण्य है। ☐ **डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या**

- परिषद् ने विगत पच्चीस वर्षो मे हिन्दी-जगत् की और उसके माध्यम से समस्त भारतीय वाङ्मय तथा भारतीय संस्कृति, दर्शन आदि की जो सेवा की है, उसे शब्दों मे आँकना बहुत कठिन है। **भाई शिवपूजन सहायजी** ऐसा स्वप्न बराबर देखते थे। परिषद् ने इस स्वप्न को साकार किया और एक-से-एक अमूल्य ग्रन्थ विद्वत्समाज को भेंट किये। वह परम्परा उज्ज्वल हो रही है और परिषद् का भविष्य स्वर्णिम है। ☐ **श्रीरायकृष्णदास**

- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-साहित्य को अनेक मूल्यवान् ग्रन्थो से समृद्ध किया है। हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करनेवाली संस्थाओं मे इसका बहुत ऊँचा स्थान है। अनेक रूपों मे हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार इससे सम्बद्ध रहे है। **स्व० आचार्य शिवपूजन सहायजी** जैसे मनीषी ने बड़ी सावधानी से इस पौधे को लगाया था। उनका आशीर्वाद सदा इसके साथ रहा है।

  ☐ **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी**

- परिषद् ने जो अबतक राष्ट्रभाषा की उत्तरोत्तर प्रगति मे उल्लेखनीय योगदान किया है, वह किसी से छिपा नही है और इसकी सभी सराहना करते हैं।

  ☐ **आचार्य परशुराम चतुर्वेदी**

- मेरी तो धारणा है, समस्त भारत मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का महत्त्व सर्वोपरि है; क्योंकि इसके द्वारा जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन हुआ है, वैसा अन्य किसी परिषद् द्वारा सम्भव नही हो सका। मै इसे देश की सर्वोत्कृष्ट शोध-संस्था मानता हूँ। ☐ **डॉ० रामकुमार वर्मा**

- 'एक राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, एक हृदय हो भारतजननी'—इस उक्ति को सार्थक बनाये रखने का, भारत की सरकारी एव स्वायत्त संस्थाएँ प्रयत्न कर रही है। इस प्रयत्न मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्तुत्य सेवा सर्वाधिक है।

  ☐ **श्री टी० के० कृष्णस्वामी**

●

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-४
मुद्रक : रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, लंगरटोली, पटना-८००००४

आनन्दरूपममृतं यद्विभाति

परिषद-पत्रिका

वर्ष २३ : अंक ४; जनवरी, १९८४ ई०

●●●

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय
पं० रामदयाल पाण्डेय
डॉ० कुमार विमल

●

सम्पादक

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

●

अंक ४

'परिषद्-पत्रिका'-नियमावली

१. 'परिषद्-पत्रिका' मे केवल उच्च कोटि के गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक निवन्धों, परिषद्-प्रकाशनों के समीक्षात्मक निवन्धो, सम्पादकीय टिप्पणियो, अन्य प्रकाशनों की समीक्षाओं, परिषद् के शोधकार्यों की प्रगति, 'परिषद्-पत्रिका' अथवा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निवन्धों के सम्बन्ध मे विचार-विनिमय, साहित्यिक गतिविधियों आदि का प्रकाशन हुआ करेगा। 'परिषद्-पत्रिका' में कविता, कहानी नाटक आदि का प्रकाशन नही होगा। परिषद्-प्रकाशनो के विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य प्रकाशन-संस्थाओं के विज्ञापन भी पत्रिका मे प्रकाशित होगे।

२. गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबन्धो पर ही यथानिर्दिष्ट दर से अधिकतम ५०.०० रु० तक ही साम्मानिक दिया जा सकेगा : निवन्ध के मुद्रित प्रथम तीन पृष्ठों के लिए १०.०० रु० प्रतिपृष्ठ और शेष मुद्रित पृष्ठों के लिए ५.०० रु० प्रतिपृष्ठ की दर से साम्मानिक दिया जायगा। परन्तु, निदेशक को यह अधिकार होगा कि लेखक-विशेष की कृति और व्यक्तित्व को दृष्टि मे रखकर कम पृष्ठ रहने पर भी ५०.०० रु० तक साम्मानिक दे सकेंगे।

३. सभी तरह की रचनाएँ स्वतः पूर्ण एवं उत्तम कोटि की होने पर ही स्वीकृत हो सकेंगी।

४. निबन्धों के सम्पादन में काट-छाँट, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि का अधिकार सम्पादक के अधीन सुरक्षित रहेगा।

उपाध्यक्ष-सह-निदेशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८००००४

विषय-प्रस्तुति

परिषद्-पत्रिका

[शोध-त्रैमासिक]

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ॥—भारतेन्दु

वर्ष : २३
अंक : ४
पौष, विक्रमाब्द २०४०; शकाब्द १९०५, जनवरी, १९८४ ई०
वार्षिक : २५.००
एक प्रति : ७.००

अतीत-दर्शन

लेखकों की स्वच्छन्दता

''हिन्दी मे अनेक शब्दो के अशुद्ध रूप धड़ल्ले से चल रहे है। 'ब' और 'व' के भेद का विचार निरर्थक माना जाने लगा है। व्याकरण का अनुशासन मानने की प्रवृत्ति लुप्त होती जा रही है। प्रत्येक वर्ग के अक्षर अपने ही वर्ग के अन्तिम (पंचम) अनुनासिक वर्ग के साथ संयुक्त होते है; पर हिन्दी मे विशेषतः 'घन्टा', 'इन्डिया' आदि शब्द ही लिखे या छपे दीख पड़ते है। कहा जाता है कि लिपि और भाषा की क्लिष्टता वढ़ जाने से प्रचार मे बाधा पडेगी। प्रचार के नाम पर संस्कार का संहार असह्य अनाचार है। जान पड़ता है, यह भाषा-संस्कार के बदले भाषा-सहार का युग है। पत्रकारों का इधर न ध्यान है, न अनुराग ही। भाषाशास्त्री भी सगठित नही है। साहित्य-परिषदे असंख्य है, पर इस चर्चा मे किसी की दिलचस्पी नही। 'सभा' या 'सम्मेलन' की भी इस दिशा मे कोई खास तत्परता नही देखी जाती। ऐसी अनिश्चित स्थिति में लेखको की स्वच्छन्दता का अनियन्त्रित होना स्वाभाविक है। हमारी समझ मे लेखको से अधिक सम्पादक ही स्वच्छन्द हैं। सम्पादक यदि सहृदयता और सावधानता से भाषा-सस्कार के महत्कार्य में तत्पर रहे, तो निश्चय ही उन्हे लेखको का मधुर सहयोग प्राप्त होगा।''

△ मासिक 'हिमालय'-पत्रिका (पटना) वर्ष १, अंक ७, अगस्त, १९४६ ई०

△ आचार्य शिवपूजन सहाय (सम्पादकीय से उद्धृत)

तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन

नई दिल्ली में आयोजित तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन के ऐतिहासिक अधिवेशन में सम्मिलित होने से मैं वंचित रह गया; क्योंकि विकलांग होकर शय्याग्रस्त था, जिससे यात्रा सर्वथा सम्भव नहीं थी। मैं आह्लादित हूँ कि यह तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन अबतक के बृहत्तम विश्व-हिन्दी-सम्मेलन के रूप में परिगणनीय सिद्ध हुआ। सूचना मिली कि न केवल विदेशी प्रतिनिधियो की, अपितु स्वदेशी प्रतिनिधियो की संख्या भी पूर्वापेक्षा कई गुनी अधिक रही, जिसके कारण सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन मेले में परिणत हो गया। ऐसा नही कहा जा सकता कि इससे बड़ी उपस्थिति अब न होगी; क्योंकि यह तो हिन्दी की क्रमशः वर्द्धनशील शक्ति एवं लोकप्रियता की परिचायिका है, जिसकी अधिकाधिक वृद्धि उत्तरोत्तर होती ही जायगी। जिस प्रकार, गंगा की वृद्धि उत्तरोत्तर होती गई है, उसी प्रकार, हिन्दी की शक्ति एवं लोकप्रियता की भी आनुक्रमिक वृद्धि अवश्यम्भावी है।

सम्मेलन के विवरणों को पढ़कर मुझे घर बैठे गंगास्नान का लाभ मिला। यह सुखद लाभ मेरी तरह ही उन कोटि-कोटि हिन्दीप्रेमियो को भी मिला होगा, जो सम्मेलन में सम्मिलित होने से वंचित तो रह गये, परन्तु उसके मुद्रित एवं मौखिक विवरणों से वंचित न रहे। दूरदर्शन एवं आकाशवाणी से प्राप्त विवरण तो स्वभावतः अपर्याप्त होते है। अनेक प्रत्यक्षदर्शियो द्वारा लिखित विवरण 'वादे-वादे तत्त्वबोध' करा देते हैं और पाठक सारग्राही बोध के माध्यम से निष्कर्ष-प्राप्ति कर सकते है। यों, यह हिन्दी का बृहत्तम महायज्ञ था, जो अपने-आप में महत्तम उपलब्धि भी है।

विवरणगत विवादो के बावजूद हिन्दी का महत्त्व निर्विवाद है और यह भी निर्विवाद है कि विश्व-हिन्दी-सम्मेलन का अधिवेशन होना ही चाहिए था और आगे भी अधिवेशनों का क्रम अनवरुद्ध रहना चाहिए। द्वितीय अधिवेशन के बाद यह तृतीय अधिवेशन अतिशय विलम्ब से हुआ—सप्ताब्दोपरान्त। किन्तु, यह भी सन्तोषजनक माना जाना चाहिए कि अधिवेशन सम्पन्न हो सका और हिन्दीप्रेमी अतिथियो की उपस्थिति (प्रतिनिधि-गण-सहित) बहुत अधिक रही। उपस्थिति की ऐसी अप्रत्याशित वृद्धि होने पर व्यवस्था की अपर्याप्तता एवं विफलता होती ही है, जिसकी चर्चा विवरणों मे की गई है। यों, भविष्य में, प्राप्त अनुभव के आधार पर सुधार तथा विकास अवश्य करना चाहिए। यह भी ध्यान

रखना चाहिए कि किसी भी स्वदेशी व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं विदेशी अतिथि एवं प्रतिनिधि। परन्तु, दु:ख है कि उनका ऐसा ध्यान न रखा जा सका और उन्होंने अनुभव किया कि उनका भारत आना सार्थक न हो सका। सम्भवतः, प्रत्येक हिन्दीप्रेमी भारतीय उनके समक्ष क्षमाप्रार्थी है।

इसी प्रकार, हिन्दी-पुस्तक-प्रदर्शनी भी व्यापक रूप में हुई, जो सफल भी रही। ऐसी प्रदर्शनी विश्व-हिन्दी-सम्मेलन के प्रत्येक अधिवेशन के अवसर पर आयोजित की जानी चाहिए। हिन्दी-प्रकाशनो की उत्तरोत्तर वृद्धि के अनुसार पुस्तक-प्रदर्शनी मे भी ग्रन्थसंख्या-वृद्धि क्रमश होती जाय, ऐसा ध्यान रखना चाहिए। खेद का विषय है कि हिन्दी मे ग्रन्थ-प्रकाशन-कार्य भी समुचित गति से नही, प्रत्युत अतिशय मन्द गति से चल रहा है। प्रकाशन-कार्यक्रम के लिए सरकार की भी वित्तीय व्यवस्था न तो पर्याप्त रहती है और न समय पर हो पाती है। इस व्यवस्था का व्यापक विकास एवं सुधार आवश्यक है।

जहाँतक हिन्दी-प्रयोग का प्रश्न है, भारत-सरकार ने तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन से कुछ प्रेरणा तो ग्रहण की, जिसका सकेत इस बात से मिला कि उसने राष्ट्रमण्डल-सम्मेलन के अवसर पर अँगरेजी (विदेशी भाषा) के साथ-साथ हिन्दी का भी प्रयोग अपने लेखन, मुद्रण आदि मे किया। परन्तु, हिन्दी का प्रयोग तो भारत-सरकार को प्रधानतापूर्वक करना चाहिए; क्योकि हिन्दी भारत की एकमात्र राजभाषा है, सह-राजभाषा नही। सह-राजभाषा तो अँगरेजी ही है, जो भारत-सरकार के प्रयोग मे प्रधानता रख रही है। हमारे दूतावासो के प्रयोग मे भी राजभाषा हिन्दी की प्रधानता रहनी चाहिए। वस्तुत, हमारे दूतावासो के प्रयोग मे तो दो ही भाषाओ का स्थान होना चाहिए—प्रधान रूप मे हिन्दी का और जिस देश मे दूतावास अवस्थित हो, उसकी भाषा का। मैने ऐसा प्रस्ताव भी प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी और सम्मेलन के कार्यकारी स्वागताध्यक्ष के पास भेजा था। इसी प्रकार, भारत-सरकार को संयुक्त राष्ट्रसघ की मान्य भाषाओ मे भी हिन्दी को स्थान दिलवाना चाहिए, इसके लिए चाहे जितनी भी राशि अपेक्षित हो, क्योकि राजभाषा के लिए कोई भी राशि अदेय नही होती। हिन्दी को यह स्थान मिलने पर भारत की प्रचुर गौरव-वृद्धि होगी एवं उसकी स्वाभिमान-रक्षा भी असन्दिग्ध रहेगी।

भर्तृहरि का सूक्त 'वाण्येका समलङ्करोति' पुरुष से भी बढकर राष्ट्र के लिए उपयुक्त है। स्व-भाषा के अनवरत प्रयोग से ही राष्ट्र अपनी अस्मिता से अलंकृत होता है और होता है उसकी स्वतन्त्रता का बोध भी। विदेशी भाषा का प्रयोग मानसिक परतन्त्रता का बोधक होता है। विदेशी भाषा के प्रयोग की मानसिकता स्वाधीनता की नही, बल्कि दासता की ही परिचायिका होती है। वस्तुत., स्वतन्त्रता स्वदेशी भाषा के प्रयोग मे ही निवास करती है। इसी दृष्टि से, भारत ने अपने संविधान के द्वारा अपनी राजभाषा निर्धारित एवं घोषित की, जिसे अब शत-प्रतिशत हिन्दी-प्रयोग के द्वारा सार्थक करना चाहिए, क्योकि सार्थकता प्रयोग मे निवास करती है, निर्धारण अथवा घोषणा मे नही।

इस सन्दर्भ मे प्रायः शब्द-समस्या तथा वर्त्तनी की बाधा बताई जाती है, जबकि भाषा-प्रयोग में प्रथमता लिपि एवं व्याकरण की होती है। भाषा-प्रयोग के साथ-साथ शब्द-समस्या तथा वर्त्तनी-समस्या का भी समाधान उत्तरोत्तर होता ही जाता है।

भारत-सरकार में ही नही, अपितु नागरिक-समुदाय में भी हिन्दी-प्रयोग की मानसिकता अपेक्षित है। नागरिको द्वारा हिन्दी-प्रयोग ही भारत-सरकार को एतदर्थ प्रभावित कर सकता है। भाषा-प्रयोग के क्षेत्र मे हमें आयात की मानसिकता को कतई स्थान नही देना चाहिए। अवश्य ही, इस क्षेत्र मे हम निर्यात की मानसिकता भी नही रखते और किसी भी भारतेतर राष्ट्र पर हिन्दी को आरोपित नहीं करना चाहते। मॉरिशस, फीजी, सूरिनाम, त्रिनिदाद, गुआना, जमैका आदि देशो मे हिन्दी का प्रयोग स्वेच्छया होता है। वे और संसार के कितने ही अन्य देश उत्कण्ठित है कि भारत मे हिन्दी का शत-प्रतिशत प्रयोग राजभाषा के रूप मे हो।

तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन की एक स्थायी उपलब्धि है विश्व-हिन्दी-विद्यापीठ के संस्थापन और उसके सम्यक् संचालन का संकल्प। इस संकल्प को सुचारु रूप में कार्यान्वित करने के लिए भारत-सरकार के साथ-साथ समस्त हिन्दीभाषी राज्यो की सरकारों और हिन्दीप्रेमियो को भी पूर्ण रूप से प्रयास करना चाहिए। हमें यह मानकर पूर्ण गति से व्यापक रूप में प्रयास एवं प्रवन्ध करना चाहिए कि अव शिथिलता सर्वथा घातक और अक्षम्य होगी। इसके निमित्त भी अकल्पनीय राशि अपेक्षित है; क्योंकि एतदर्थ कोई भी राशि अल्प ही होगी। इसपर तथा अन्य अपेक्षित विन्दुओं पर पूर्णतः ध्यान रखकर उस विराट् प्रयास को पूर्ण रूप में सार्थक वनाया जा सकता है।

व्यवस्था सार्थक हो या नही, सम्मेलन तो सार्थक होते ही है। अतः, तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन की सार्थकता निर्विवाद है। उससे उत्प्रेरित होना हमारी क्षमता, प्रवृत्ति एवं पात्रता पर निर्भर है। विभिन्न देशों से समागत महानुभाव हिन्दी-प्रेम का जो तीर्थोदक लाये, उससे हमे घर वैठे सारस्वत महाभिषेक का लाभ मिला। एतदर्थ हम, उनके सर्वथा ऋणी है। उनके माध्यम से यह भी प्रत्यक्ष हुआ कि विदेशो में हिन्दी भारतवंशियों को ऐक्यसूत्र मे कितनी सवलता से आवद्ध करती है। यदि विदेशों में हिन्दी एकता का सवल माध्यम बन सकती है, तो भारत मे वनने मे सन्देह का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है?

हम राजभाषा के रूप मे हिन्दी के शत-प्रतिशत प्रयोग के लिए उत्प्रेरित एवं संकल्पित हों और उत्साहित हों चतुर्थ विश्व-हिन्दी-सम्मेलन तथा उसके अनुगामी सम्मेलनों के सम्यक् संयोजन के लिए भी। हिन्दी की विश्वव्यापक प्रगति के लिए ही नही; अपितु भारत की प्रगति के लिए भी विश्व-हिन्दी-सम्मेलन की आवश्यकता एवं सार्थकता है।

△ रामदयाल पाण्डेय

०

विश्व-हिन्दी-सम्मेलन : तृतीय अधिवेशन

विगत २८,२९ और ३० अक्टूबर (सन् १९८३ ई०) को, नई दिल्ली मे, राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति, वर्धा के तत्त्वावधान मे सम्पन्न विश्व-हिन्दी-सम्मेलन के त्रिदिवसीय अधिवेशन का विशिष्ट मूल्य है। इसके पूर्व सन् १९७५ ई० मे, नागपुर में प्रथम विश्व-हिन्दी-सम्मेलन, और फिर एक वर्ष के बाद ही सन् १९७६ ई० मे, अफ्रीका के एक द्वीप मॉरिशस मे द्वितीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन सम्पन्न हुआ था।

तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन के प्रमुख लक्ष्य थे १. सम्मेलन के विगत दोनो अधिवेशनो की उपलब्धियो को स्थायित्व प्रदान करने के निमित्त सुदृढ योजनाओं पर विचार करना, २ हिन्दी को राष्ट्रीय स्तर से अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर, विशेषकर संयुक्त राष्ट्रसघ मे विश्वभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया को बल प्रदान करना, ३ हिन्दी के माध्यम से अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विश्वविद्यालयो मे उच्चस्तरीय अध्ययन-अध्यापन को प्रोत्साहित करना, ४ सम्पूर्ण भारत मे एक ही लिपि—देवनागरी-लिपि का व्यवहार करना; ५. 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधार पर हिन्दी को लोकप्रतिष्ठ बनाना एव ६. **विश्वहिन्दी-विद्यापीठ** का सचालन करना।

विश्व के भव्यतम क्रीडागारो मे परिगणनीय 'इन्द्रप्रस्थ क्रीडागार' मे आयोजित तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन के इस रंगमय अधिवेशन की उद्घाटनकर्त्री प्रधान मन्त्री **श्रीमती इन्दिरा गान्धी** ने हिन्दी की सबलता और समर्थता के प्रति अपनी जो आस्था व्यक्त की, उसका उल्लेखनीय महत्त्व है और उससे यह भी स्पष्ट है कि हिन्दी सत्ता की ओर से उपेक्षित नही है। इसके अतिरिक्त, हिन्दी ने अपनी सीमान्तपारगामिनी व्यापकता से भारतीयेतर देशो मे भी अपने लिए समादरणीय स्थान आयत्त किया है, यह सन्दर्भ, विभिन्न भारतीयेतर देशो से समागत हिन्दीज्ञ प्रतिनिधियो के सहज उद्गारो से भी व्यक्त हुआ। इसी सन्दर्भ को राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के मन्त्री तथा प्रस्तावित **विश्व-हिन्दी-विद्यापीठ** की सचालन-समिति के विद्यावयोवृद्ध सचिव **श्रीशंकरराव लोढे** ने पल्लवित करते हुए कहा कि सम्प्रति, भारत की राष्ट्रभाषा का महत्त्व विदेशो मे बढ़ गया है और वहाँ हिन्दी को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है। विश्व के ११० विश्वविद्यालयो मे उच्चस्तरीय हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन-कार्य हो रहा है और रूस, अमेरिका, चेकोस्लोवाकिया आदि देशो मे तो हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओ पर शोधकार्य भी प्रारम्भ हो गया है।

तृतीय विश्व-हिन्दी-सम्मेलन की राष्ट्रीय समिति के कार्याध्यक्ष **श्रीमधुकर राव चौधरी** ने अपने स्वागत-भाषण मे हिन्दी के विश्वव्यापकत्व की क्षमता की चर्चा की। उनके कथन का निष्कर्ष था कि चूंकि हिन्दी विश्वभाषा की श्रेणी मे स्थान प्राप्त कर रही है, इसलिए हिन्दी-भाषा और साहित्य को वैज्ञानिक तथा प्राविधिक दृष्टि से समृद्ध करने की आवश्यकता है। इसके लिए उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण और वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं यथापेक्षित मानक-ग्रन्थो का हिन्दी-अनुवाद वांछित है। और, इन सभी योजनाओ का कार्यान्वयन ही विश्व-हिन्दी-विद्यापीठ का मुख्य लक्ष्य होगा।

इस तृतीय अधिवेशन के मनोनीत अध्यक्ष प्रो० आर्० एस्० मैग्रेगर (कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय, इँगलैण्ड के हिन्दी-विभागाध्यक्ष) ने हिन्दी के प्रति न केवल अपनी निष्ठा व्यक्त की, अपितु हिन्दी के भाषा-साहित्य के ज्ञान और हिन्दी मे अपनी अभिव्यक्ति-पटुता का भी श्लाघ्य और विस्मयकारी परिचय उपस्थापित किया। समापन-भाषण में हिन्दी की सिद्ध-शिलाधिष्ठित कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने हिन्दीप्रेमियों को हिन्दी की सर्वतोमुखी समृद्धि के लिए सदा तत्पर और सतत जागरूक रहने की प्राणवन्त प्रेरणा दी। साथ ही, हिन्दी की साधना में शिथिल साहित्यकारों की तीखी भर्त्सना भी की।

इस अधिवेशन के अवसर पर अनेक समानान्तर संगोष्ठियाँ भी आयोजित हुईं, जिनमे हिन्दी-साहित्य की विभिन्न विधाओं से सम्बद्ध अनेक समस्याओं पर तो विचार-विमर्श हुआ ही, अन्तरराष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी के प्रसार की भावनाओ और उसकी वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति पर भी भारतीय और भारतीयेतर आधिकारिक विद्वानों ने अपने सघन-व्यापक विचार प्रकट किये। कुल मिलाकर, इस अधिवेशन ने समग्र विश्व में हिन्दी-भारती की गरिमा को तीव्रतर रूप मे अनुनादित करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया, जो निश्चय ही सात्त्विक गर्व-गौरव का विषय है। अधिवेशन के अन्तिम दिन, उसकी समाप्ति को सारस्वत गरिमा प्रदान करने के उद्देश्य से आयोजित हिन्दी-कवि-सम्मेलन विश्व-हिन्दी-कवि-सम्मेलन के रूप मे मूल्य नही आयत्त कर सका। फिर भी, उसने जो थोड़ा-बहुत प्रभाव उत्पन्न किया, उसका सारा श्रेय मोहक वचोभंगी के लिए प्रसिद्ध हिन्दी के रससिद्ध कविर्मनीषी डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' को है।

इस अवसर पर प्रकाशित 'स्मारिका' का भी विशिष्ट मूल्य है। हिन्दी के मूर्द्धन्य लेखकों की मूल्यवान् रचनाओ से संवलित यह 'स्मारिका' एक ओर हिन्दी के विकासशील स्वरूप पर प्रकाश डालती है, तो दूसरी ओर भारत की सामासिक संस्कृति की संवाहिका और अन्तरराष्ट्रीय सन्दर्भो की प्रयोजनवती भाषा के रूप में उसकी सार्थक भूमिका का दर्शन कराती है। रूप और गुण. दोनो ही दृष्टियो से कलावरेण्य, अतएव अतिशय अभिराम इस शोध-सन्दर्भात्मक मूल्य की 'स्मारिका' के प्रकर्षपूर्ण प्रस्तवन के लिए मनोनीत सम्पादक-मण्डल और उसके सचिव सुप्रसिद्ध भाषाविद् प्रो० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने अवश्य ही समस्त हिन्दी-जगत् की ओर से सहज ही साधुवाद की पात्रता आयत्त की है।

निष्कर्ष रूप में, विश्व-हिन्दी-सम्मेलन का लक्ष्य एक ओर हिन्दी के सार्वभौम रूप को पुष्ट करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया को रचनात्मकता प्रदान करना है, तो दूसरी ओर समग्र विश्व में मैत्री और सद्भाव की दृढता एवं 'एक परिवार' की स्थापना के लिए अर्थवान् माध्यम के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करना। विश्व-हिन्दी-सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन इसी लक्ष्य की सिद्धि के सार्थक प्रयास के रूप मे मूल्यांकित होगा, इसमें सन्देह नहीं।

△ सूरिदेव

०

दो उल्लेख्य शोध-प्रकाशन

भाषा की शोध-गवेषणा के क्षेत्र मे अविश्रान्त लेखनी के धनी **डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया** नित्य नवीन भाषिक अध्ययन से हिन्दी को जो समृद्धि प्रदान कर रहे है, उसका, अवश्य ही, ऐतिहासिक महत्त्व है। भाषातत्त्व की दृष्टि से हिन्दी की प्रकृति और प्रवृत्ति बहुपथीन है, इसलिए वह, सहज ही, गहन-गभीर भाषाओ मे अपना उल्लेखनीय स्थान रखती है। **डॉ० भाटिया** के भाषिक अध्ययन की विशेषता इस अर्थ मे है कि वह एक ओर जहाँ हिन्दी के रूप-वैविध्य की व्यापकता का मर्म उरेहते है, वही दूसरी ओर उसके अर्थवैचित्र्य और भावनिगूढता के वैज्ञानिक रहस्य को सर्वजनग्राही भी बनाते है। इस विचार से सद्योविगत वर्षावधि मे प्रकाशित उनकी दो भाषाध्ययनपरक कृतियो—'राउलवेल' तथा 'राजभाषा का स्वरूप और विकास' का परिचय शोध-पाठको के लिए नितान्त अपेक्षित है।

१. **राउलवेल** : कविवर रोडा-कृत यह नातिदीर्घ कृति (प्र० . तक्षशिला प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली : ११०००२) ग्यारहवी शती का एक शिलाकित भाषाकाव्य है। धार से प्राप्त यह शिलालेख, जो अशत: खण्डित और अपाठ्य है, बम्बई के 'प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम' मे सुरक्षित है। इसके श्रुतज्ञ सम्पादक **डॉ० भाटिया** का पुस्तक के नाम के सम्बन्ध में तर्क है कि इस काव्य मे किसी सामन्त के राउल (राजकुल)= राजभवन की रमणियो का वर्णन है, इसीलिए इसका नाम 'राउलवेल' ('राजकुलविलास') रखा गया है। परन्तु, इन्दौर-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अधीती अध्यक्ष **डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन** का आक्षेप है कि 'राउलवेल' का 'राजकुलविलास' अर्थ करना उसके महत्त्व को कम करना है। इस सम्बन्ध मे इनका तर्क है कि "'राउल' नाम की दो व्युत्पत्तियाँ सम्भव है : प्रथम, 'राजकुल' से (राअउल > राउल) और द्वितीय 'रागवती' से (राइल्ल > राउल)। 'रागवती' का प्राकृत-शब्द 'राइल्ल है। 'वेलि' का विकसित रूप 'वेल' मध्ययुग में छोटी काव्यकृति का नाम था। अत, प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'राउलवेल' का अर्थ है : अनुरागवती के सौन्दर्य का वर्णन करनेवाली रचना या अनिन्द्य सुन्दरी से शोभित राजकुल का प्रसग।" डॉ० भाटिया और डॉ० जैन, दोनो के ही तर्क अपनी-अपनी जगह सार्थक है, फिर भी अनेकान्त दृष्टि से दोनो ही विद्वान् एक ही मूलार्थ के निकट पहुँचते है ; क्योकि अनुराग और विलास मे पूर्वापरसम्बन्ध है तथा अर्थ-व्यापकता की दृष्टि से दोनो समानान्तर शब्द है।

'राउलवेल' अपभ्रंशकालीन ग्रन्थ है, इसलिए हिन्दी के आदि स्वरूप को जानने की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक मूल्य है। इस ग्रन्थ की उपलब्धि से हिन्दी-भाषा का विकास-पथ ततोऽधिक स्पष्ट हो गया है। **डॉ० माताप्रसाद गुप्त** के मतानुसार, इस ग्रन्थ से यह प्रमाणित होता है कि हिन्दी और तत्सदृश अन्य आधुनिक आर्यभाषाएँ भी ग्यारहवी शती ईसवी मे इतनी प्रौढ हो चली थी कि उनमे सरस काव्यरचना हो सकती थी, वे केवल बोलचाल की भाषाएँ नही रह गई थी।

डॉ० भाटिया ने प्रस्तुत ग्रन्थ के सर्वप्रथम उद्भावन का श्रेय **डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी** को दिया है और स्वयं इसका वहिरन्त.परीक्षणपूर्वक अध्ययन दो खण्डों में बाँटकर किया है : प्रथम भाषिक अध्ययन एवं द्वितीय सांस्कृतिक अध्ययन। प्रथम अध्ययन में विद्वान् सम्पादक ने इस शिलालेखी काव्य की, लेख-सम्बन्धी प्रयोग-गत सामान्य भाषिक विशेषताओं का निरूपण किया है और द्वितीय अध्ययन मे, **डॉ० भायाणी** और डॉ० गुप्त की अवधारणाओं के आलोक में, नारियों के वस्त्राभूषणों और शृंगार-प्रसाधनों पर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से प्रकाश-निक्षेप किया है। यह बात दूसरी है कि सम्पादक ने स्वभावतः अपने भाषिक संस्कारवश सांस्कृतिक अध्ययन से अधिक भाषिक अध्ययन में अभिरुचि प्रदर्शित की है। अन्त मे, ग्रन्थ का सम्पादित मूलपाठ उपस्थापित किया गया है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ, मध्ययुगीन अपभ्रंश-काव्यों के शोध-अनुशीलन के सन्दर्भ मे निश्चय ही, एक नवीन विनियोग है।

२ राजभाषा का स्वरूप और विकास : प्रस्तुत कृति प्रसिद्ध सारस्वत प्रतिष्ठान 'भारतीय भाषा-परिषद्' (३६-ए, शेक्सपियर सरणी, कलकत्ता : ७०००१७) द्वारा '**डॉ० धीरेन्द्र वर्मा**-व्याख्यानमाला' के तृतीय पुष्प के रूप में प्रकाशित है। ज्ञातव्य है, उक्त परिषद् द्वारा प्रतिवर्ष तीन व्याख्यानमालाएँ आयोजित होती हैं : भाषाविज्ञान-विषयक १. **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा**-व्याख्यानमाला, २. साहित्य-विषयक **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी**-व्याख्यानमाला एव ३. लोकसाहित्य-विषयक **भागीरथ कानोड़िया**-व्याख्यानमाला। पुस्तक-रूप में प्रस्तुत इस व्याख्यान मे यथानाम, राजभाषा के स्वरूप और विकास पर प्रसिद्ध भाषाविद् **डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया** ने अपना सर्वतोभद्र विचार व्यक्त किया है।

प्रस्तुत कृति के प्रारम्भ में **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** और **डॉ० भाटिया** का संक्षिप्त परिचय है। पुन राजभाषा के स्वरूप और विकास के दिग्दर्शन के क्रम में अपभ्रंश-युग से फोर्ट विलियम कॉलेज-काल एवं तदितर काल तक की हिन्दी की विकास-यात्रा को विशद विवरण के साथ रेखाकित किया गया है। इस प्रसंग में हिन्दी के प्रचलन के लिए गैर-सरकारी प्रयत्नों पर भी प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर, संविधान मे राजभाषा की स्थिति के विभिन्न पक्षो की भी विवेचना की गई है। इसके अतिरिक्त, सरकारी कामकाज मे हिन्दी के प्रयोग के निमित्त मार्गदर्शन किया गया है, अथच सरकारी प्रशासन मे भाषासंघ की राजभाषा-नीति, राजभाषा-अधिनियम,तद्विषयक गृह-मन्त्रालय का सकल्प एवं राजभाषा-आयोग की सिफारिशो के आकलन के साथ ही प्रशासन में हिन्दी के प्रयोग से सम्बद्ध व्यावहारिक कठिनाइयों, समस्याओं आदि को विचार का लक्ष्य बनाया गया है। इस प्रकार, भाषा-वैज्ञानिक एव व्यावहारिक दृष्टि से सांगोपाग रूप में प्रस्तुत की गई यह भाषिक शोध-कृति राजभाषा हिन्दी के क्रमिक विकास और विस्तार के अध्ययन के निमित्त अतिशय उपादेय है।

△ **सूरिदेव**

[**शेष पृ० १८७ पर**

विधि-स्वरूप-विचार

डॉ० मदनमोहन अग्रवाल

मीमांसा-दर्शन के अनुसार, वेद अपौरुषेय वाक्य है।[1] वेदवाक्य दो प्रकार का होता है : प्रथम सिद्धार्थवाक्य, अर्थात् जिस वाक्य से किसी सिद्ध विषय के बारे मे ज्ञान होता है और द्वितीय विधायक वाक्य, अर्थात् जिस वाक्य से किसी क्रिया के लिए विधि या आज्ञा सूचित होती है। वेद के वाक्य—विशेषत कर्त्तव्य क्रिया के विधायक वाक्य, जो यज्ञ आदि के सम्पादनार्थ कर्त्तव्य का निर्देश करते है—मीमांसा की दृष्टि मे अपौरुषेय और स्वत. प्रमाण हैं। वेदो का विशेष महत्त्व उनके विधि-वाक्यो के लिए है। बल्कि, मीमासा का यहाँतक कहना है कि वेदवाक्य की उपयोगिता क्रिया (याग) पर ही आधृत है। यदि सिद्धार्थक वाक्य विधिवाक्य का सहायक नही होता, तो वह अनर्थक है।[2] अतएव, आत्मा, ब्रह्म आदि के विषय में जितने सिद्धार्थक वाक्य है, उनका किसी-न-किसी याग आदि कर्मो के विधायक वाक्य से अवश्य ही सम्बन्ध है। वे परोक्ष रूप से लोगो की विहित कर्म मे प्रवृत्ति और निषिद्ध कर्म से निवृत्ति मे सहायक होते हैं। मीमासा ऐसे वाक्यो का तात्पर्य निर्धारित कर उनका मूल्य आँकती है।[3]

मीमांसा या कर्मकाण्ड की दृष्टि से वेद के पाँच भाग किये गये हैं : विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद। वेद के उन अशो को 'विधि' कहते हैं, जो अलौकिक विषयो पर प्रकाश डालते हैं[4] और वेद के उन अशों को 'मन्त्र' कहा जाता है, जिनका पाठ यागानुष्ठान-काल मे याग मे प्रयोग किये जानेवाले पदार्थो का स्मरण कराने के लिए किया जाता है।[5] याग के नाम को 'नामधेय' कहते है। 'निषेध'-वाक्य ऐसे वाक्यो को कहते हैं, जो पुरुष को अनर्थकारी क्रियाओ को करने से रोकते है।[6] विधिवाक्यो के द्वारा विहित कर्मों के प्रशंसक एवं निषिद्ध वाक्यो के द्वारा निषिद्ध कर्मो के निन्दक वाक्यो को 'अर्थवाद' कहते हैं।[7]

वेद के पाँच भागो मे जो भाग अज्ञात पदार्थ (प्रधानक्रिया, अंगक्रिया, द्रव्य, क्रम, अधिकार आदि) का ज्ञान कराता है, वह 'विधि' कहलाता है।[8] उदाहरण के लिए, **'यजेत स्वर्गकाम.'** एक विधिवाक्य है, जो याग जैसे धर्म के अनुष्ठान का विधान करता है। यह विधान ऐसे पुरुष के प्रति किया जाता है, जिसे स्वर्गरूप प्रयोजन की कामना हो (**स्वर्गकाम. पुरुष**)। **'यजेत स्वर्गकामः'** विधि मे 'यजेत' पद मे दो अंश हैं : १. 'यज्' धातु और २. 'त' प्रत्यय (√यज्+त)। 'यज्' धातु है, जो अनुष्ठान, पुरुष, सख्या, काल आदि के सम्बन्ध से रहित है, अर्थात् केवल 'यज्' धातु के उच्चारण से याग सम्पन्न

वाक्य-में भावना रहती है। भावना के साध्य, साधन एवं इतिकर्त्तव्यता—ये तीन अंश होते हैं। साधन एवं इतिकर्त्तव्यता सामान्य एवं विशेष अथवा समस्त एवं व्यस्त भेद से भिन्न होने पर भी समान ही है। इस प्रकार, वस्तुतः भावना के दो मुख्य अंश 'साधन' एवं 'साध्य' हुए। तृतीया विभक्ति के द्वारा साधन एवं द्वितीया विभक्ति के द्वारा साध्य का बोध होता है। भावना का स्पष्ट बोध होने के लिए प्रत्येक विधिवाक्य के साधन एवं साध्य अंशो का स्पष्ट होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए, यहाँ **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** वाक्य का अर्थबोध **'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्'** रूप में हुआ। यहाँ 'अग्निहोत्रहोमेन' पद तृतीया और 'स्वर्ग' पद द्वितीया विभक्ति मे है। **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** यह विधि होमक्रिया का विधान करती है, अतएव 'उत्पत्ति-विधि' है।

२. **गुणविधि** : जिस विधि में होम आदि क्रियाओं का विधान न किया गया हो, अपितु केवल क्रिया के अंगभूत पदार्थो का विधान किया गया हो, उसे 'गुणविधि' कहते है।[१६] इस स्थल में क्रिया की प्राप्ति अन्य उत्पत्ति-विधियो से हुआ करती है। इसका उदाहरण 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य है। इसमे केवल 'दधि' का विधान किया गया है। 'जुहोति' अंश तो 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' इस विधि से पूर्व ही प्राप्त हो चुका है, अतः होम का यहाँ अनुवाद-मात्र है। 'जुहोति' का अर्थ—'होम' मुख्य है, उसी को लक्ष्य करके उसके अगभूत 'दधि' का विधान 'दध्ना जुहोति' इस विधि के द्वारा किया गया है। विधि होने के कारण इसमें भी भावना विद्यमान है। भावना तथा उसके साध्य एव साधन-संज्ञक अंशों को स्पष्ट करने के लिए 'दध्ना जुहोति' का मीमासा के अनुसार अर्थ 'दध्ना होमं भावयेत्' हुआ। 'दध्ना' तृतीया विभक्ति में होने के कारण होमक्रिया का साधन 'दधि' हुआ और साधन सदैव गुण या गौण रहता है, अतएव दधिरूप गुण का विधान होने के कारण 'दध्ना जुहोति' इस विधि को गुणविधि कहा गया। होम साध्य होने के कारण द्वितीया विभक्ति मे प्रयुक्त हुआ है।

३. **विशिष्ट विधि** : कुछ ऐसी भी विधियाँ होती है, जिनके द्वारा गुण या कर्म का एक साथ विधान होता है। ऐसी विधियो द्वारा गुण एवं कर्म का विधान अलग-अलग न होकर विशेषण एवं विशेष्य के रूप मे होता है। विधान कर्म का विशेषण बनता है। ऐसी विधि को 'गुणविशिष्ट विधि' अथवा 'गुणविशिष्ट कर्मविधि' कहते हैं।[१७]

'सोमेन यजेत' गुणविशिष्ट विधि है, जबकि **'दध्ना जुहोति'** केवल गुणविधि। गुणविधि मे केवल गुण का विधान होता है और होम आदि क्रिया की प्राप्ति किसी वैदिक वाक्य (विधि) द्वारा पहले से ही हुई रहती है। उदाहरण के लिए, **'दध्ना जुहोति'** मे केवल दधिरूप गुण का विधान होता है और होम की प्राप्ति **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** इस विधि से पूर्व से ही हुई रहती है। गुणविशिष्ट विधि इससे भिन्न है। गुणविशिष्ट विधि के पूर्व ऐसी कोई विधि नही मिलती, जिसमें होम (क्रिया) का या

गुण का विधान हुआ रहता हो, अतएव गुण के विधान के साथ-ही-साथ होम (क्रिया) के विधान का भार भी इसी विधि पर पड़ता है।

किन्तु मीमासक यह स्वीकार करने को तैयार नही कि एक ही विधि के द्वारा गुण एव क्रिया दोनो का अलग-अलग विधान होता है। एक ही काल मे एक वाक्य के द्वारा दो पदार्थों के विधान नहीं हो सकते। अतएव, मीमासक एक उपाय का आश्रय लेता है, जिसके द्वारा अभिप्रेत दोनो पदार्थों का विधान भी हो जाय और दो पदार्थों के विधान से होनेवाले दोष से भी बचा जा सके। उपाय यह है कि मीमांसक ऐसे स्थलो मे विधान तो केवल एक पदार्थ—होम आदि मुख्य याग का मानता है, किन्तु गुण को क्रिया का विशेषण मान लेता है। इस प्रकार, विशेष्यभूत क्रिया के विधान के अन्तर्गत विशेषणभूत गुण भी आ-जाता है। और, इस कार्य का सम्पादन करनेवाली शब्दशक्ति-विशेष है, जिसका नाम लक्षणा है। लक्षणाशक्ति शब्द में होती है। प्रकृत स्थल मे लक्षणा से प्राप्त अर्थ 'मतुब्' प्रत्यय का अभिप्राय 'वान्' अर्थात् 'वाला' है।

इस प्रकार, **'सोमेन यजेत'** का मीमांसाभिमत अर्थ होगा—**'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'**, अर्थात् सोमयुक्त याग से स्वर्ग का सम्पादन करे। स्पष्ट है कि यहाँ केवल याग का विधान है। ध्यान रहे, यहाँ द्वितीया होने पर 'इष्ट' का विधान नहीं है; क्योंकि इष्ट की प्राप्ति याग द्वारा होगी। अतएव, याग ही विहित है। 'यागेन' का विशेषण 'सोमवता' है। विशेषण विशेष्य से पृथक् नही होता। सोम गुण है, जो कि 'मतुब्' प्रत्यय के योग से याग के विशेषण के रूप मे आता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि याग सोमरूप गुण से विशिष्ट है। इसीलिए, इस विधि को गुणविशिष्ट विधि, अर्थात् गुणविशिष्ट कर्मविधि कहते है। प्रकृत स्थल मे इस विधि को हम 'सोमविशिष्ट यागविधि' या 'सोमगुणविशिष्ट यागविधि' कह सकते हैं।

इस प्रकार, 'सोमेन यजेत' का मत्वर्थलक्षणा से 'सोमवता यागेनेष्ट भावयेत्' अर्थ लेने पर 'याग' एवं 'सोम' गुण, दोनों का विधान भी हो गया, किन्तु दोनों का अलग-अलग विधान न होने के कारण कोई प्रतिपक्षी यह भी आपत्ति नही कर सकता है कि एक ही वाक्य मे दो पदार्थों का विधान है। जैसा कि पहले बताया गया है, लक्षणा द्वारा ही सोम का अर्थ 'सोमवत्', अर्थात् 'सोमवान्' लिया गया है। यह इसलिए कि सोम का अर्थ 'सोम' होकर अभिप्रेत अर्थ सिद्ध नही हो सकता। मुख्य क्रिया के विधान के विना गुण का विधान भी किस क्रिया को लक्ष्य करके होगा?

प्रकृत स्थल की लक्षणा को 'उपादानलक्षणा' कहते हैं। 'भाले प्रवेश कर रहे हैं' अथवा 'लाठियाँ प्रवेश कर रही है' यहाँ उपादानलक्षणा से 'वान्', अर्थात् 'वाले' अर्थ का योग करके 'भालेवाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं' तथा 'लाठीवाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं' यह अर्थ होगा।[१८] इसी प्रकार, 'सोम' का अर्थ भी 'सोमवान्' होगा।

द्वितीय विभाजन :

इस विभाजन के अन्तर्गत विधि के चार प्रभेद माने गये हैं : १. **उत्पत्ति-विधि :** जो विधि केवल कर्म के स्वरूप का बोध कराती है, वह 'उत्पत्ति-विधि' कही जाती है।[१९] **'अग्निहोत्रं जुहोति'** यह उत्पत्ति-विधि है। विधि होने के कारण इसमें भावना विद्यमान है। जैसा कहा गया, भावना के साध्य, साधन एवं इतिकर्त्तव्यता ये तीन अंश होते हैं। उत्पत्ति-वाक्य मे कर्मवाचक 'अग्निहोत्र' पद द्वितीयान्त है। द्वितीयान्त 'अग्निहोत्र' पद द्वारा ज्ञाप्य 'अग्निहोत्र' क्रियाप्रधान कर्म है। प्रधान कर्म के अनुष्ठान से ही स्वर्ग आदि मुख्य फल (इष्ट) की प्राप्ति मानी जाती है। आयाससाध्य अग्निहोत्र आदि क्रियाएँ अनुष्ठान-मात्र-प्रयोजक नहीं है। इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि 'अग्निहोत्र' क्रिया स्वर्ग आदि (इष्ट) फल का साधक है। अतएव, प्रकृत स्थल में क्रियावाचक 'अग्निहोत्र' पद द्वितीयान्त न होकर तृतीयान्त होना चाहिए, अर्थात् 'अग्निहोत्र' पद अन्य कारक के रूप में प्रयुक्त न समझकर करणकारक अर्थ में प्रयुक्त समझा जाना चाहिए। तब **'अग्निहोत्रं जुहोति'** का रूप होगा : **'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्।'** यहाँ 'भावयेत्' पद स्पष्टतः भावना की सत्ता का संकेत कर रहा है तथा 'अग्निहोत्रहोमेन' एवं 'इष्ट' क्रमशः साधन एवं साध्य का। यद्यपि **'अग्निहोत्रं जुहोति'** वाक्य में 'इष्ट' पद का प्रयोग नही हुआ है, तथापि, चूँकि प्रत्येक क्रिया का कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य होता है, इसलिए अग्निहोत्र याग का भी कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य होगा। इस प्रकार का प्रयोजन अधिकार-विधि द्वारा निर्दिष्ट हुआ करता है। प्रकृत स्थल की अधिकार-विधि **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** है। अतएव, अग्निहोत्र-रूप होम का फल स्वर्ग है। यही स्वर्ग कर्त्ता को इष्ट होता है। अतएव, **'अग्निहोत्रं जुहोति'** का अर्थ करते समय 'इष्ट' पद का अध्याहार किया गया है। तभी, प्रकृत उत्पत्ति-विधि का उक्त **'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्'** अर्थ सम्पन्न हुआ।[२०]

२. **विनियोग-विधि :** जिस विधि से अंग (गुण) एवं अंगी (प्रधान) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, उसे 'विनियोग-विधि' कहते है।[२१] अर्थात्, जिस विधि से यह ज्ञान होता है कि कौन किसका अंग है और कौन किसका अंगी, वह 'विनियोग-विधि' है। अंग का अर्थ होता है, 'जो दूसरे के लिए हो', अर्थात् साधन और अंगी का अर्थ होता है, 'जिसका कोई साधन हो', अर्थात् साध्य या मुख्य। साध्य (अंगी) मुख्य होता है एवं तत्साधनभूत अंग तदपेक्षया गौण होता है। उदाहरण के लिए, 'दध्ना जुहोति' इस विनियोग-विधि को लिया जा सकता है। यहाँ 'दधि' के द्वारा होम सम्पन्न होता है, अतएव, 'दधि' अंग है और ('जुहोति' बोध्य) होम प्रधान या अंगी। अतएव, **'दध्ना जुहोति'** का स्पष्ट अर्थबोधक वाक्य **'दध्ना होमं भावयेत्'** होता है। 'दध्ना' पद मे 'दधि' करण कारक है और 'होम' पद में 'होम' कर्मकारक। अतएव, **'दध्ना होमं भावयेत्'** अथवा **'दध्ना जुहोति'** वाक्यो के सुनने से ज्ञात हो जाता है कि 'दधि' होम का अंग है और

'होम' दधि का अंगी, अर्थात् प्रधान'। उक्त अंग एव अंगी के सम्बन्ध का ज्ञान कराने के कारणभूत 'दध्ना जुहोति' को 'विनियोग-विधि' माना जाता है।

विनियोग-विधि छह प्रमाणो की सहायता से अंगागिभाव का बोध कराती है। ये छह प्रमाण इस प्रकार हैं : १. श्रुति, २. लिंग, ३. वाक्य, ४. प्रकरण, ५. स्थान एव ६ समाख्या।[२२] कभी-कभी स्थलविशेष मे एक ही साथ उक्त छह प्रमाणों मे से एकाधिक प्रमाणो की प्रवृत्ति होने लगती है। ऐसी स्थिति मे किस प्रमाण द्वारा बोध्य विनियोग प्रामाणिक माना जाय, और किस प्रमाण द्वारा अप्रामाणिक, ऐसी समस्या उपस्थित होती है। इस विषय मे भी मीमासको का यह निर्णय है कि उक्त परिगणित छह प्रमाणो मे जब किन्ही दो प्रमाणो की प्रवृत्ति विनियोग-बोध मे एक साथ होने लगे, तब प्रत्येक पूर्ववर्त्ती प्रमाण अपने किसी भी परवर्त्ती प्रमाण से अधिक बलवान् माना जायगा। इसीलिए, पूर्ववर्त्ती प्रमाण के द्वारा बोध्य अंगांगिभाव ही प्रामाणिक होगा।

३. **प्रयोग-विधि** . जिस विधि से अनुष्ठान की शीघ्रता का बोध होता है, उसे 'प्रयोग-विधि' कहा जाता है।[२३] प्रयोग-विधि से इस विषय का निर्णय होता है कि किस अगक्रिया के पश्चात् अविलम्ब अव्यवहित भाव से किस अगक्रिया का अनुष्ठान करना चाहिए। इसलिए, अगक्रियाओ के क्रम का बोध करानेवाली विधि 'प्रयोग-विधि' कही जाती है।[२४] अगक्रियाओ के क्रम के निश्चित होने पर ही यज्ञ का अनुष्ठान अविच्छिन्नरूपेण हो सकता है। यदि यही सन्देह हो गया कि इस क्रिया के बाद यह क्रिया की जाय या उस क्रिया के बाद, तो जबतक निर्णय न हो जाय, यागानुष्ठान रुका रहेगा और एक क्रिया के अनुष्ठान के पश्चात् विराम हो जायगा। इस प्रकार, क्रियाएँ अविच्छिन्नरूपेण अनुष्ठित न हो सकेंगी। किन्तु, क्रियाओ को अविच्छिन्नरूपेण अनुष्ठित होना चाहिए। यदि क्रियाओ के अनुष्ठान मे विलम्ब होगा, तो हम यह नही कह सकते कि अमुक क्रिया अमुक क्रिया के साथ अनुष्ठित हुई है। क्रियाएँ साथ-साथ निरन्तर तभी अनुष्ठित हो सकती हैं, जब उनका क्रम--किस क्रिया के बाद किस क्रिया का अनुष्ठान होगा—निश्चित हो। क्रम विस्तारविशेष अथवा पूर्वापरभाव-रूप होता है।[२५] 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' यह विधि प्रयोग-विधि है, क्योकि इस विधि में प्रयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय से यह ज्ञात होता है कि वेद (कुशमुष्टि) के निर्माण करने के पश्चात् वेदी का निर्माण करना चाहिए, अर्थात् इस विधि से दो अंगक्रियाओं के पूर्वापरभाव का ज्ञान होता है। प्रयोग-विधि के द्वारा क्रम का बोध छह प्रमाणो द्वारा होता है। वे छह प्रमाण है : १ श्रुति, २. अर्थ, ३. पाठ, ४. स्थान, ५. मुख्य एव ६. प्रवृत्ति।[२६]

४. **अधिकार-विधि** : अधिकार-विधि अधिकार का विधान करती है। अर्थात्, जिस विधि के द्वारा यह ज्ञान होता है कि किस क्रिया के फल का भोक्ता कौन व्यक्ति हो सकता है, उस विधि को 'अधिकार-विधि' कहते है।[२७] सभी व्यक्ति सभी यागो के अधिकारी नही होते। विशेष गुणों से युक्त व्यक्ति ही यागविशेष का फल प्राप्त कर

सकता है। अतः, वही व्यक्ति उस यागविशेष का अधिकारी होता है। अधिकार-विधि के स्थल मे यागकर्त्ता के विशेषण भी सुने जाते हैं। इन्ही विशेपणो को हम अधिकार कहते है। कारण, इन्ही विशेपणों के वल पर अनुष्ठाता व्यक्ति अनुष्ठित क्रिया के फल का भोक्ता होता है।

उदाहरण के लिए, **'यजेत स्वर्गकाम.'** एक अधिकार-विधि है। जिस व्यक्ति में 'स्वर्ग की कामना'-रूप अधिकार होगा, वही याग-निष्पादन के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति कर सकेगा, अन्य नही। इसी प्रकार, **'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'** भी एक अधिकार-विधि है। इस विधि के द्वारा यह वोध होता है कि राजसूय याग के अनुष्ठान का फल उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है, जो १. राजा (क्षत्रिय) हो और साथ-ही-साथ, २. उस व्यक्ति को स्वाराज्य की इच्छा हो। इस प्रकार, 'राजत्व' एवं 'स्वाराज्य-कामना' इन दो अधिकारो का बोध कराने के कारण इस विधि को 'अधिकार-विधि' कहते है।

तृतीय विभाजन :

विधि का तृतीय विभाजन मन्त्र-प्रकरण मे अनुषंगतः प्राप्त होता है।[२८] इसके अन्तर्गत विधि के तीन प्रभेद माने गये है।

१. अपूर्वविधि : अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करनेवाली विधि को 'अपूर्व-विधि' कहते है।[२९] अर्थात्, अन्य प्रमाणों से जिस पदार्थ का विधान नहीं हुआ रहता है, उस पदार्थ का विधान करनेवाली विधि को 'अपूर्वविधि' कहते है।[३०] जैसे : **'यजेत स्वर्गकामः'** यह अपूर्वविधि है। कारण, जिस याग का विधान अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता है, ऐसे स्वर्गफलक याग का विधान यह विधि करती है। विधि के पूर्वविभाजन में इसी विधि को 'उत्पत्ति-विधि' या प्रधानविधि कहा गया है।

२. नियम-विधि : पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को 'नियम-विधि' कहते है।[३१] अर्थात्, अनेक साधनो से सिद्ध होने योग्य क्रिया की सिद्धि जब अनभिप्रेत साधन द्वारा होने लगती है, तब जिस अभिप्रेत साधन की प्राप्ति नही हो रही थी, उसकी प्राप्ति करानेवाली विधि को 'नियम-विधि' कहते है।[३२] **'व्रीहीनवहन्ति'** वाक्य को नियम-विधि माना जाता है। **'व्रीहीनवहन्ति'** का अर्थ है—**'धान कूटना चाहिए'**। धान से भूसी हटाने के अनेक साधन हो सकते है। जैसे : 'पत्थर से रगड़कर भूसी हटाना'; 'नाखूनो से धानो को छीलकर भूसी हटाना' आदि। इसी प्रकार, अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है। जब 'अवहनन' (कूटने) के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की प्राप्ति होने लगती है, तब अप्राप्त अवहनन का विधान **'व्रीहीनवहन्ति'** विधिवाक्य द्वारा किया जाता है।

३. परिसंख्या-विधि : यदि दोनों वैकल्पिक पदार्थों की युगपत् प्राप्ति हो रही हो, तो दोनों में एक विशेष पदार्थ की निवृत्ति की बोधक विधि को 'परिसंख्या-विधि' कहा

जाता है।[33] 'परि' उपसर्ग का अर्थ 'वर्जन' और 'संख्या' शब्द का अर्थ 'बुद्धि' होता है, अतएव 'परिसंख्या' शब्द का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' हुआ। 'वर्जनबुद्धि' को उत्पन्न करनेवाली विधि को 'परिसख्या-विधि' कहा जाता है। परिसंख्या-विधि का सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' है। इस वाक्य का सरल अर्थ यह है कि 'पंजेवाले पाँच जीव—१. खरगोश, २. साही, ३. गोह, ४. गैंडा और ५ कछुआ—ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए भक्ष्य हैं, अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय को चाहिए कि वे इन पाँच जीवो को खाये।' किन्तु, 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' का परिसंख्या-विधिबोध्य अर्थ है—'पंच-पंचनख के अतिरिक्त जीवो का भक्षण नही करना चाहिए।' इस प्रकार, यहाँ विधिश्रुत 'पच पंचनख-भक्षण' की निवृत्ति ही अर्थ है। बुभुक्षित व्यक्ति मे किसी भी जीव को भक्षण करके अपनी बुभुक्षा को शान्त करने की प्रवृत्ति स्वभावतः पाई जाती है, चाहे वे जीव उक्त 'पंच पचनख' के अन्तर्गत हो या तदतिरिक्त 'अपंच पचनख' के अन्तर्गत। परिसख्या-विधि प्रकृत स्थल मे श्रुत 'पंच पचनख' जीवो के भक्षण का विधान न करके 'पच पचनख' जीवो के अतिरिक्त जीव भक्ष्य नही है—इस विषय का बोध कराती है। परिसंख्या के दो प्रभेद होते हैं १. श्रौती परिसख्या और २. लाक्षणिकी परिसख्या।[34] लाक्षणिकी परिसंख्या के तीन दोष माने जाते है: १. श्रुतिहानि, २. अश्रुत कल्पना एव ३ प्राप्त बाध।[35]

विधि को सुनकर व्यक्ति मे याग आदि के अनुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न होती है एव यागानुष्ठान के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अतएव, विधि वेद का प्रमुख अंश है।

सन्दर्भ-संकेत :

१ 'अपौरुषेयं वाक्य वेद'।'—अर्थसंग्रह, पृ० २७, निर्णयसागर-मुद्रणालय, मुम्बई, सन् १९५० ई०।

२ जैमिनिसूत्र, १।२।१, १।२।७।

३. इण्ट्रोडक्शन ऑव इण्डियन फिलॉसफी : दत्त ऐण्ड चटर्जी, पृ० ३६९, युनिवर्सिटी ऑव कलकत्ता, सन् १९४८ ई०।

४ 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि ।'—अर्थसंग्रह, पृ० २८।

५. 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्रा ।'—उपरिवत्, पृ० ९२।

६ पुरुषस्य निवर्त्तक वाक्य निषेध.।'—उपरिवत् पृ० १०६।

७ 'प्राशस्त्यनिन्दातरपर वाक्यमर्थवादः।'—उपरिवत्, पृ० १२१।

८. तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि।'—उपरिवत्, पृ० २८।

९. लकार दस होते है : लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ् ('विधि' एव 'आशी.'), लुङ्, लृङ्।

१०. (क) 'भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः।'—मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० २; स० चिन्नस्वामी शास्त्री, बनारस, सन् १९०५ ई०।

(ख) 'भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः।'
—अर्थसंग्रह, पृ० १०–११।

११. 'तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना'।
—उपरिवत्, पृ० ११।

१२. 'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना।'
—उपरिवत्, पृ० १९।

१३. दि कर्ममीमांसा : ले० ए० बी० कीथ, पृ० ७५-७६, नई दिल्ली, सन् १९७८ ई०।

१४. 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः।' —अर्थसंग्रह, पृ० २८।

१५. उपरिवत्, पृ० २८।

१६. 'यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते।'
—उपरिवत्, पृ० २८।

१७. 'यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते।' —उपरिवत्, पृ० २८।

१८. 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेश-सिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तत्र उपादानेनेयं लक्षणा।
—काव्यप्रकाश, बालबोधिनी-सहित : वामनाचार्य झलकीकर, पृ० ४३, पूना, सन् १९६५ ई०।

१९. 'तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः।'—अर्थसंग्रह, पृ० ३२।

२०. अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति करणत्वेनान्वये तु किं तदिष्टमिति वीक्षायाम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धोपपत्तेः स्वसाधन निष्पादितस्य सिद्धस्वभावस्यैव करणत्वेनान्वयाच्च न कोऽपि दोष इति भावः।
—मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी, पृ० ३२, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, सन् १९५० ई०।

२१ 'अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः।'—अर्थसंग्रह, पृ० ३५।

२२. उपरिवत्, पृ० ३८।

२३. 'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः।'—उपरिवत्, पृ० ७०।

२४. 'अतएवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्।'
—उपरिवत्, पृ० ७२।

२५. 'तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।'—उपरिवत्, पृ० ७२।

२६. उपरिवत्, पृ० ७३।

२७. 'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः।'—उपरिवत्, पृ० ८६।

२८. अर्थसंग्रह : सं० डी० वी० गोखले, पृ० १०४–१०८, ओरियेण्टल बुक एजेन्सी, पूना, सन् १९३२ ई०।

२९. 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ ।' —तन्त्रवार्त्तिक, १।२।३४ ।

३०. 'प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः ।'— अर्थसंग्रह, पृ० ९३ ।

३१ 'नियमः पाक्षिके सति ।' —तन्त्रवार्त्तिक, १।२।३४ ।

३२ नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधि-नियमविधिः ।'—अर्थसंग्रह, पृ० ९२-९३ ।

३३ 'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसङ्ख्याविधिः ।

—उपरिवत्, पृ० ९४ ।

३४. अर्थसंग्रह . स० डॉ० जी० थीबो, पृ० १८, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७४ ई० ।

३५. अर्थसग्रह, 'अर्थालोक'-संस्कृतटीका-सहित : सं० डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, पृ० १६३, चौखम्बा ओरियण्टालिया, वाराणसी, सन् १९७७ ई० ।

△ संस्कृत-विभाग, वनस्थली-विद्यापीठ
वनस्थली (राजस्थान)

महाभाष्य : प्राचीनतम श्रेष्ठ गद्यग्रन्थ

"पातंजल महाभाष्य सस्कृत-व्याकरण का अत्यन्त प्रमाणभूत मूलग्रन्थ है । संस्कृत-साहित्य की विपुल ग्रन्थराशि मे, ब्राह्मणो और आरण्यको को छोड़कर, यही प्राचीनतम श्रेष्ठ गद्यग्रन्थ माना जाता है । सस्कृत मे प्रत्येक शास्त्र पर सामान्यतया पाँच प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं · सूत्र, वृत्ति, भाष्य, वार्त्तिक और टीका । इनमे सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त, असन्दिग्ध, सारवान् और प्रामाणिक होते है। वार्त्तिक-ग्रन्थो मे सूत्रो की उक्त, अनुक्त और दुरुक्त वातो का विवेचन किया जाता है तथा भाष्य मे सूत्रानुसारी शब्दो के द्वारा सूत्रार्थ-चिन्तन के साथ-साथ बहुत कुछ मौलिक विवेचन भी रहता है । व्याकरण-शास्त्र मे सूत्रकार **पाणिनि**, वार्त्तिककार **कात्यायन** और भाष्यकार **पतंजलि** को सयुक्त रूप से 'मुनित्रय' कहते है और इन्ही तीन पुष्ट स्तम्भो पर आधृत होने के कारण संस्कृत-व्याकरण 'त्रिमुनि व्याकरण' कहलाता है ।

△ डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री : 'पतंजलिकालीन भारत'

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' : नाम-निरूपण

डॉ० श्रीधर वासुदेव सोहोनी

कविकुलगुरु कालिदास के विश्वविख्यात नाटक के तीन नाम देखने में आते हैं : १. 'अभिज्ञानशकुन्तला' २. 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' और ३. 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'। इस अनुपम कृति के तीन भिन्न नाम रखना विश्वकवि के मन मे था ही नहीं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इनमे मूल नाम केवल एक ही था। अब प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा नाम था। कालिदास की कविता का परिचय पाश्चात्य जगत् के विद्वानों में दो शतियों से है। इस नाटक के जो अनुवाद वहाँ प्रसिद्ध हुए, अधिकांश 'अभिज्ञानशकुन्तला' नाम से हुए; क्योंकि तब पूर्व भारत में आंग्ल राज्यसत्ता शासन करती थी, जहाँ वह नाम प्रचलित था। 'अभिज्ञानशकुन्तला' का अर्थ इस प्रकार है : 'अभिज्ञानेन स्मृता परिगृहीता शकुन्तला।' कालिदास जैसे अत्यन्त प्रतिभाशाली सरस्वतीपुत्र ने शकुन्तला के द्वारा अखिल संसार के लिए नारी के सौन्दर्य की, और उससे सम्बद्ध सम्पूर्ण कोमल भावों की जो कल्पना रसिकों के सामने प्रस्तुत की, उसको ध्यान में रखते हुए इस नाट्यकृति मे दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का अभिज्ञान एक मुख्य बिन्दु माना जा सकता है। इस नाट्यकृति का नाम, 'अभिज्ञान' और 'शकुन्तला', इन दो शब्दों को जोड़कर रखना, पाश्चात्य जगत् में भी औचित्यपूर्ण माना गया है। उसके अनुकरण में, इस देश में भी, नाटक के इसी नाम को कुछ मात्रा में प्रसिद्धि मिली; और आश्चर्य नही कि जहाँ दाक्षिण्य भाव का दृष्टिकोण अधिकाधिक रूढ होने लगा, वहाँ नाटक के नाम मे, 'शकुन्तला' को ही प्राधान्य देना लोगों ने आवश्यक समझा। विशेषत., विश्वकवि कालिदास समस्त नारी-जगत् की ओर दाक्षिण्य भाव से प्रेरित होकर देखते थे तथा शृंगार रस के वे अद्वितीय प्रवर्त्तक थे, इत्यादि कल्पनाएँ प्रचलित होने लगी।

इधर कुछ विद्वानो ने, केवल संस्कृत-व्याकरण के आधार पर अपना यह अभिप्राय स्थापित करने की चेष्टा की है कि विश्वकवि के द्वारा प्रदत्त नाटक-नाम, 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' ही था। 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' की व्युत्पत्ति को तीन प्रकार से उपस्थापित किया जा सकता है : १. 'अभिज्ञानेन स्मृता परिगृहीता शकुन्तला अभेदोपचारात् तदाख्यं नाटकम्'; २. 'अभिज्ञानं च शकुन्तला च अभेदोपचारात् तदाख्यं नाटकम्' और ३. 'अभिज्ञानं शकुन्तलायाः यस्मिन् नाटके तद् अभिज्ञानशकुन्तलम्।' स्वर्गीय श्रीमोरेश्वर रामचन्द्र काले तथा प्राध्यापक सुशीलचन्द्र रे महोदय ने नाटक की अपनी आवृत्तियों में इसी नाम का समर्थन किया है। श्रीकाले 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' के सम्बन्ध मे इस प्रकार टिप्पणी

करते हैं : 'शकुन्तैः लाता शकुन्तला घञर्थे क.+टाप्; अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम् । 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट् (पा० ३।३।११७); 'अभिज्ञानेन स्मृता ज्ञाता शकुन्तला, अभिज्ञानशकुन्तला; तामधिकृत्य कृतं नाटकम् भेदोपचारात् अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।' इस सम्बन्ध मे पा० ४।८७ पर भट्टोजिदीक्षित की टीका द्रष्टव्य है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे श्रीकाले लिखते हैं : 'अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् ।' श्रीशारदारंजन रे के अनुसार, 'अभिज्ञानस्मृता शकुन्तला अभिज्ञानशकुन्तला । नाटकविशेषणत्वात् नपुंसकत्वम् ।' अन्तिम 'आ' के स्थान पर, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकया' नियम के अनुसार 'अ' हो गया है। विकल्प मे, 'अभिज्ञानं च शकुन्तला च ।' द्र० वार्त्तिक · 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषा एकवद् भवति इति वाच्यम्' इत्यादि ।

विधाता की निरवद्य सौन्दर्यमूर्त्ति शकुन्तला की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उसके प्रभाव मे आकर पाश्चात्य देशों मे 'शकुन्तला' नाम से ही नाट्यकृति का परिचय होने लगा। 'अभिज्ञानशकुन्तला' अथवा 'अभिज्ञानशकुन्तलम्', दोनो नामों के कारण रसिकों के सामने शकुन्तला ही पदार्पण करती है। यह दृष्टिकोण सर्वमान्य होने लगा।

इस नाम के तीनों विकल्पो मे, प्रथम शब्द 'अभिज्ञान' है। विश्वकवि किस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते थे, उसे जानना आवश्यक होगा। नाटक में इस शब्द का प्रयोग चार बार हुआ है :

१. 'अभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्त्तिष्यते ।' (अंक ४)
२. 'अभिज्ञानेनानेन तव शङ्कामपनेष्यामि ।' (अंक ५)
३. 'ईदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षत इति कथमिवैतत् ।' (अंक ६)
४. 'तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयक तस्य विसृजाव ।' (अंक ६)

इन उद्धरणो से स्पष्ट होता है कि 'अभिज्ञान' से अभिप्रेत अर्थ, किसी वस्तु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति है—जैसे, नाटक मे दुष्यन्त की विस्मृति अगुलीयक द्वारा दूर हो गई, उस अंगुलीयक को अभिज्ञान समझा जायगा। 'वाल्मीकिरामायण' मे भी, 'अभिज्ञान-अगुलीयक' तथा 'अभिज्ञानचूडामणि' प्रयोग पाये जाते है।

कलाकृतियो के ग्रन्थो के नामाभिधानो के बारे मे, प्राचीन परम्परा के अनुसार, प्रायः ऐसा नियम है कि कृति मे सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका, चाहे व्यक्ति अथवा प्रसंग, जिस किसी की होगी, उसको नाम से सूचित होना चाहिए। इसलिए, अब प्रश्न उठता है कि इस नाटक मे सबसे महत्त्वपूर्ण क्या माना जायगा—शकुन्तला का अगुलीयक या स्वयं शकुन्तला, या कोई अन्य वस्तु अथवा व्यक्तिविशेष ? स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त से परिचयात्मक प्रसंग ही महत्त्व पाते हैं। परन्तु, स्मरण रहे कि राजा दुष्यन्त की शकुन्तला-विषयक स्मृति, नाटक के छठे अंक मे ही जागरित हुई थी, और यदि 'अभिज्ञानेन स्मृता परिगृहीता शाकुन्तला', इस प्रकार से ही नाटक का परिचय रसिको को देना विश्वकवि के मन मे था, तो छठे तथा सातवें अक का क्या प्रयोजन था, जबकि इन दो अंकों का महत्त्व गौण रूप से मानना कदापि उचित नही होगा।

इन कारणो से मूल प्रश्न के प्रति अधिक गम्भीर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि नाटक के अधिकाश प्राचीन हस्तलिखितों मे, नाटक का नाम, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ही पाया जाता है। इस नाम के सम्बन्ध मे, प्रथम दृष्टिक्षेप मे कुछ कठिनाइयाँ मिलती है। व्याकरण का सूत्र है : 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे', जिसके अनुसार, यदि 'शाकुन्तल' 'शकुन्तला' से निष्पन्न तद्धित-शब्द माना जाय, तो 'अभिज्ञान' शब्द, जो उसके पहले आता है, उसे प्रथम होने पर भी, गौण समझना पड़ेगा, जिससे नियम का भग होगा। जिस शब्द से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग इत्यादि सूचित होते है, उस शब्द का तद्धित-स्वरूप सर्वप्रथम रखना ही नियमानुकूल होगा। यदि शकुन्तला-सम्बन्धी नाटक सूचित करना हो, तो 'शाकुन्तल' शब्द को, नाम मे दूसरा क्रम देना सही नही होगा। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का पृथक्करण 'अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम्' ऐसा करना भी समस्या से दूर नही है। इस विश्लेषण से शकुन्तला को नही, परन्तु जिससे पुनः अभिज्ञान या परिचय होता है, उस वस्तु को, यानी अगुलीयक को प्राधान्य मिलता है। परन्तु, स्वयं दुष्यन्त कहता है :

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत् मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥ (६।१३)

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि विश्वकवि ने दुष्यन्त को तर्कशुद्ध बुद्धिप्रधान नायक के रूप में दिखाने का सर्वथा प्रयत्न किया है। 'अभिज्ञानेन युक्तं शाकुन्तलम्' व्याख्या भी अत्यन्त रसहीन-सी लगती है। ऐसी परिस्थिति में, शकुन्तला का तद्धित रूप 'शाकुन्तल' मानना, और उसके पहले 'अभिज्ञान' शब्द को रखना, और इस प्रकार नाटक का नाम देखना, उचित नही होगा।

नाटक की कथावस्तु, विश्वकवि के समय से पूर्व प्राचीन काल के 'महाभारत' ग्रन्थ से ली गई है। 'महाभारत' के आदिपर्व मे 'शकुन्तलोपाख्यान' वैशम्पायन मुनि के मुख से राजा जनमेजय के लिए कहा गया है। 'शकुन्तलोपाख्यान' का सबसे शुद्ध स्वरूप, 'भाण्डारकर प्राच्यविद्या-शोध-प्रतिष्ठान' की प्रामाणिक आवृत्ति मे देखने को मिलता है। उस आख्यान मे कम-से-कम चार स्थानो मे 'शाकुन्तल' शब्द का प्रयोग, 'शकुन्तला का पुत्र', इस अर्थ में हुआ है, जबकि व्याकरण के नियमो के अनुसार, गंगा का पुत्र जिस प्रकार 'गांगेय' होता है, उसी प्रकार शकुन्तला का पुत्र 'शाकुन्तलेय' होना चाहिए था।

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'कालिदास-ग्रन्थावली' मे इस सम्बन्ध में तटस्थ भूमिका पाई जाती है। सम्पादक महोदय की टिप्पणी इस प्रकार की है : "अत्राधिकरणल्युटाऽभिज्ञानशब्दम् अधिकृत्य कृतं नाटकमिति शाकुन्तलशब्दं च व्युत्पाद्योभयो. कर्मधारयेण शक्यव्युत्पत्तिकः 'अभिज्ञानशाकुन्तल'—शब्द इत्येके। शाकुन्तलः शाकुन्तलेयोऽपि, शकुन्तलायां जातत्वात्, मिथिलायां जातत्वान्मैथिलवत् (अ० सू०, ४।३।२५।५३) एवं च शाकपार्थिवादित्वात् करणल्युण्णिष्पत्तिकाऽ'भिज्ञान'-पदग्राह्याङ्गुलीयकरक्षाकरण्डकविशिष्टं यत्, 'शकुन्तला, तस्यां जातं शाकुन्तलं' चाधिकृत्य कृतं च यत्, तन्नाटकम् 'अभिज्ञानशाकुन्तलमिति' साधीयान् पन्थाः।"

'शाकुन्तलोपाख्यान' को संशोधित प्रति से चार स्वतः स्पष्ट उद्धरण प्रस्तुत किये जाते है :

जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधाकृतम् ।
तस्माद् भरस्व दुःष्यन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप ।। (१, ६९।३१)
अभूतिरेषा कः त्यज्यात् जीवं जीवन्तमात्मजम् ।
शाकुन्तलं महात्मानं दौःष्यन्ति भर पौरव ।। (१, ६९।३२)
दुःष्यन्तश्च ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।। (१, ६९।४४)
दुःष्यन्ताद् भरतो जज्ञे विद्वान् शाकुन्तलो नृप ।
तस्माद् भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद्यशः ।। (तत्रैव)

ऊपर दिये हुए उद्धरणों से (जो शास्त्रीय पद्धति के आधार पर संशोधित की गई आवृत्ति मे पाये जाते है) 'शाकुन्तल' का अर्थ 'शकुन्तला का पुत्र' ऐसा किया गया है। अब हमे यह समझना होगा कि यह रूढार्थ है, जहाँ व्याकरण का अधिकार गौण हो जाता है।

मूल 'महाभारत' की कथा मे रूढार्थ के आधार पर स्वतः स्पष्ट रूप मे 'शाकुन्तल' शब्द कई बार आया है, और उसी अर्थ मे, विश्वकवि ने, नाटक के नाम मे अपना दूरगामी अभिप्राय दिखाने के लिए, उसे स्वीकार किया है। शकुन्तला का पुत्र, 'शाकुन्तल', इस प्रकार सर्वदमन भरत का नाम होता है; और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का विश्लेषण, '**अभिज्ञानेन परिगृहीतः शाकुन्तलः यस्मिन् नाटके तद्**', ऐसा ही करना सही होगा।

इस तथ्य के दो प्रबल आधार है, जिनकी समीक्षा यहाँ प्रासंगिक है : १. नाटक मे आया हुआ घटनाक्रम; और २. लोकचरित तथा भारतीय संस्कृति का मौलिक दृष्टिकोण। इन दोनो बातों को विश्वकवि ने नाटक के प्रारम्भ से उसकी अन्तिम पंक्ति तक विशेष रूप से ध्यान मे रखा है।

इस प्रतिपादन का पूर्वार्द्ध, नाटक मे आई हुई घटनाओ की शृंखला से सम्बद्ध है। अब हम उसपर विचार करें। नाटक के प्रथम अंक मे दुष्यन्त को आशीर्वचन मिलता है : '**पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्त्तिनमाप्नुहि।**' इस वाक्य को एक ध्रुव विन्दु के रूप मे मानना चाहिए। इसी ओर घटनाक्रम शनैः-शनैः आगे बढता है। नायक और नायिका मिलते है और उनका परस्पर प्रेम स्पष्ट होने लगता है। प्रियंवदा तथा अनसूया इन दोनो पर, आश्रम की बड़ी जिम्मेवारी है। उन्हें दुष्यन्त के सामने यह कहना आवश्यक होता है, कि "मित्र, राजाओ के बारे मे सुना जाता है कि उनकी अनेक स्त्रियाँ होती है, इसलिए ऐसा करें कि जिससे हमारी प्रियसखी 'बहुजनशोचनीया' न हो।" संकेत बहुत स्पष्ट है; विश्वकवि ने उसे प्रियंवदा/अनसूया के मुख से कहलवाया है। 'महाभारत' के 'शाकुन्तलोपाख्यान' में शकुन्तला दुष्यन्त से स्वयं कहती है :

प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो।
सत्यं मे प्रतिजानीहि यत् त्वां वक्ष्याम्यहं रहः॥
मम जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरम्।
युवराजो महाराज सत्यमेतत् ब्रवीहि मे॥

दुष्यन्त को आशय समझ में आया। उसने सखियों को आश्वासन दिया:

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥ (३।१७)

यहाँ दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं : 'कुलस्य' और 'प्रतिष्ठा'। सप्तम अंक में दुष्यन्त इसी उद्देश्य से कहता है कि 'अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा।' इस प्रकार, पहले ही तीसरे अंक मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न दुष्यन्त से पूछा गया और उसका उत्तर दुष्यन्त ने उतनी ही गम्भीरता से दिया था। पाँचवे अंक मे जब अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थिति मे स्वयं शकुन्तला को दुष्यन्त से कुछ कहना पड़ा, तब इसी वचन के बारे में उसने दुष्यन्त को स्मरण दिलाया। दुष्यन्त से उसने कहा : 'समयपूर्वम् इमं जनं प्रतार्य।' 'तुमने मेरे साथ समय किया था और उसे अब तुम भंग कर रहे हो, जिससे मेरे प्रति विश्वासघात हो रहा है।' हो सकता है, जब शकुन्तला ये शब्द कहती है, तब अपने सखियों का दुष्यन्त से पूछा गया प्रश्न और दुष्यन्त से दिया गया उत्तर उसके मन में था। नाटक के सर्वविख्यात चतुर्थ अंक मे भी कण्व मुनि शकुन्तला को आशीर्वाद देते हैं :

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि॥ (४।७)

कण्व मुनि के आशीर्वाद मे 'सम्राजं सुतम्' की बात अति स्पष्ट रूप से बतलाई गई है। उनका आशीर्वचन सुनकर लोग कहते हैं : 'वरः खलु एष न आशीः।' यह भी देखने योग्य है कि उन्होंने शकुन्तला से कहा : 'भर्तुर्बहुमता भव।' कण्व मुनि ने इसी अंक में एक और सूचक बात कही है, 'दौष्यन्तम्' : तेरा पुत्र 'दौष्यन्ति' होगा।

पंचम अंक मे दिखाई गई, दुर्वासा मुनि के शाप के कारण दुष्यन्त की दोलायमान मानसिक परिस्थिति, नाट्यसृष्टि में विश्वकवि की प्रतिभा का एक अतिसुन्दर आविष्कार माना जाता है। एक आपन्नसत्त्वा नारी, अपने को सम्राट् की धर्मपत्नी मानती हुई, सम्राट् के पास, राजकुल में, कण्वाश्रम के कुछ लोगों के साथ पहुँची हुई है। निम्नतम मानसिक और कलात्मक स्तर पर, सौन्दर्यासक्त दुष्यन्त उससे अवश्य ही आकृष्ट हुआ है : 'तत् कथमभिव्यक्तसत्त्वलक्षणामिमां प्रति आत्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये।' वह विचारों की दो सीमाओं में अपने मन को घुमाता है : 'न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्।' प्रतिहारी आश्चर्य में डूब जाता है, और सम्राट् की प्रबल वैयक्तिक नीति की प्रशंसा करता है : 'अहो, धर्मावेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम

सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति ?' जब शकुन्तला 'अभिज्ञान' दिखाने में असमर्थ रहती है और तत्पश्चात् आश्रमवासियो को मानना ही पड़ता है कि सम्राट् को मनवाने के लिए कोई उपाय रहा ही नही, तब सम्राट् अपने धर्मगुरु से पूछता है : 'भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि ।' उसके मन मे प्रबल संशय था। धर्मगुरु पुरोहित चिन्ता मे पड़कर बोले : 'यदि तावदेवं क्रियताम् ।' दुष्यन्त अब परप्रत्ययनेयबुद्धि हो चुका था, क्योकि अब उसकी बुद्धि स्वयं काम करने मे शक्तिहीन थी। पुरोहित से दुष्यन्त ने कहा : 'अनुशास्तु भवान् ।' निर्णय लेने का अधिकार उसने दूसरे के हाथ मे सौपा। धर्मगुरु ने भविष्यवाणी को, जो पहले से ही की गई थी और राजकुल मे सर्वश्रुत हो चुकी थी, ध्यान मे रखकर, मध्यम मार्ग पकड़कर, एक व्यावहारिक उपाय बतलाया; 'अत्रभवती तावदाप्रसवाद् अस्मद्गृहे तिष्ठतु ।' सम्राट् ने जब इस अभिप्राय का कारण पूछा, तब पुरोहितजी कहते है : 'त्वं साधुनिमित्तकैः रादिष्टः', 'प्रथममेव चक्रवर्त्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति ।' 'स चेन्मुनिदौहित्रः, तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति ।' तब, सम्राट् कहते है : 'यथा गुरुभ्यो रोचते ।' धर्मगुरु शकुन्तला को बुलाते हैं : 'वत्से, इत इतोऽनुगच्छ माम् ।'

छठे अंक मे, अंगुलीयक मिलने पर, शाप का परिणाम दुष्यन्त पर जब नही रहा, तब वह महारानी वसुमती की मनःस्थिति की समस्या के बारे में सोचने लगता है। चारो ओर शकुन्तला का वृत्तान्त सब लोगो को ज्ञात हो चुका है। सगर्भा शकुन्तला को कण्व मुनि के आश्रम से तपस्विजन लाये हुए थे, जो परिणीता धर्मपत्नी थी। महारानी वसुमती को गौण स्थान मिलने की आशंका हो चुकी थी। उसके प्रति दाक्षिण्य भाव से सम्राट् विचार करने लगे थे। ध्यान रहे कि उस अंक मे समुद्र-व्यापारी सार्थवाह के निष्पुत्रक रहते हुए जलयात्रा मे विपन्न हो जाने का प्रसग बुद्धिपूर्वक लाया गया है। दुष्यन्त अपने को ऐसी अवस्था के सभी निष्पुत्रक प्रजाजनो का बन्धु घोषित करता है। इस घोषणा का स्वागत भी महाजनो द्वारा किया गया।

चक्रवर्त्तिलक्षणोपेत मुनिदौहित्र पुत्र की प्राप्ति का शिखर, नाटक के सातवे अक में दिखाई पडता है। इस सम्बन्ध में दुष्यन्त को सात चरणो में जो अभिज्ञान प्राप्त होता है, वह शकुन्तला का नही, प्रत्युत शाकुन्तल सर्वदमन का। यह बात विशेष ध्यान देने की है, दुष्यन्त मारीच-आश्रम मे सबसे पहले सर्वदमन को और तत्पश्चात् ही शकुन्तला को देखता है और जब उसे सर्वप्रथम सर्वदमन का दर्शन होता है, तब वह बालक सम्पूर्णत: अपरिचित था। दुष्यन्त मारीच-आश्रम में प्रचलित चर्चा को पहले सुनता है, जो वहाँ की तापसियाँ सर्वदमन के सम्बन्ध मे कर रही थी।

अभिज्ञान के सात चरण इस क्रम मे हुए हैं : १. तापसियाँ कह रही हैं : 'स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि ।' दुष्यन्त मन में सोचता है : 'किं नु खलु बालेऽस्मिन् औरस इव पुत्रे स्निह्यति मे हृदयम् । नूनमनपत्यता मां वत्सलयति ।' भविष्यवाणी के अनुसार, दुष्यन्त के पुत्र का सम्बन्ध आश्रमवासियों से

अवश्यम्भावी था और उसे मुनिदौहित्र भी होना था। २. दुष्यन्त सामुद्रिकशास्त्र जानता था। उस काल में, राजाओं के लिए यह विद्या अत्यन्त उपयुक्त मानी जाती थी। दुष्यन्त ने बालक का हाथ देखा और वह अपने से पूछता है : **'कथं चक्रवर्त्तिलक्षणमपि अनेन धार्यते।'** एक आश्रमवासिनी उससे कहती है : **'भद्रमुख! न खलु अयम् ऋषिकुमारः।'** ३. और, यह भी कहती है : **'अस्य बालकस्य ते अपि च संवादिन्याकृतिरिति विस्मापिता अस्मि।'** तब उससे दुष्यन्त एक सूक्ष्म प्रश्न पूछता है : **'न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ कोऽस्य व्यपदेशः ?'** ४. तब तापसी कहती है : **'पुरुवंशः।'** दुष्यन्त को सर्वदमन के नाम और वंश, इस प्रकार ज्ञात हुए। अब उसकी जिज्ञासा बालक की माता के सम्बन्ध में मुखरित हो उठी। तापसी ने उससे कहा : **'अप्सरःसम्बन्धेन अस्य जननी अत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता।'** अब दुष्यन्त को धीरज हुआ और तापसी से बालक के पिता के सम्बन्ध में उसने पूछा : **'अथ सा तत्र भवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?'** तब तापसी कहती है : **'कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम सङ्कीर्त्तयितुं चिन्तयिष्यति।'** ५. अब मिट्टी का एक खिलौना बालक को देने पर, उसकी माता का नाम शकुन्तला है, यह जानकारी दुष्यन्त को मिली और उसी समय, सर्वदमन के हाथ से उसका रक्षाकरण्डक कहीं गिर पड़ा है, यह बात ध्यान में आई। रक्षाकरण्डक को खोजकर, दुष्यन्त ने उसे लाकर तापसी को देना चाहा, तब दोनों तापसियों को आश्चर्य हुआ। सही परिस्थिति, जो वहाँ थे, उन्हें स्पष्ट हुई। तापसी ने, पहली बार दुष्यन्त को 'महाराज' शब्द से सम्बोधित किया : **'शृणोतु महाराजः।'** ६. **'एषा अपराजिता नाम औषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरौ, आत्मानं च वर्जयित्वा अपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।'** दुष्यन्त पूछता है **'अथ गृह्णाति ?'** उसे उत्तर मिलता है : **'ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति।'** आश्चर्य की सीमा पर पहुँचा हुआ दुष्यन्त फिर पूछता है : **'भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ?'** और, उसकी तर्कशुद्ध जिज्ञासा को दोनों तापसियाँ एक शब्द में उत्तर देती हैं : **'अनेकशः।'** तापसियाँ नियमव्यापृत शकुन्तला को यह आनन्ददायक वृत्तान्त कहने के लिए चली जाती हैं; और दुष्यन्त सर्वदमन से कहता है : **'मया सहैव मातरमभिनन्दयिष्यसि।'** ७. उसके पश्चात्, सर्वदमन अपने पिता का नाम पिता से ही कहता है, **'न खलु त्वं, दुष्यन्तो मम तातः।'**

आश्रम, देवगुरु मारीच ऋषि का था। उपर्युक्त घटना के पश्चात् जब सब लोग उनके सामने जाते हैं, तब मारीच ऋषि कहते हैं :

(एकैकं निर्दिशन्)
दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ॥२९॥

अब नाटक की भौतिक, सांस्कृतिक तथा अध्यात्मिक नींव कैसी थी यह देखना है। प्राचीन भारत में, लोकचरित को दृष्टिपथ में रखते हुए वाङमयीन कलाकृतियों की रचना

करना अनिवार्य माना जाता था। 'व्यवहारविदे' उसका सर्जन होता था। एक आश्रम-कन्या से दुष्यन्त को अपत्य हुआ। विचारणीय विषय यह हुआ कि उस सन्तान की माता साध्वी धर्मपत्नी थी या नहीं, अपत्य को औरस होने का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ था या नहीं। उसके विश्लेषण में पवित्र, नितान्त शुद्ध लोकचरित का आदर्श सभी सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत करना था। घटना-क्रम और वस्तु-चातुर्य इसी में विहित था।

भारतीय संस्कृति मानती है कि, 'अयं मनुष्यलोक पुत्रेणव जय्यो नान्येन कर्मणा।' (बृहदारण्यकोपनिषद्, १६)। इस सिद्धान्त मे वर्त्तमान तथा आगामी पीढियो को शृंखला मे बाँधा गया है। पुत्रैषणा की निसर्गसिद्ध भावना है, और गुण-कर्म के आधार पर समाज का स्थायी भाव रहता है। इस परिस्थिति मे राज्य करनेवाले नरेश को न केवल अपने पितरो का ऋण चुकाने के लिए, अपितु, सार्वजनिक लोकहित के निमित्त भी आगामी राज्य-व्यवस्था की चिन्ता करनी पड़ती थी। उसी से, भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का प्रवाह सुयोग्य दिशा मे वह प्रवर्त्तित कर सकता था। यह विचारधारा, 'तस्मात् प्रमाणं न वयो न वंशः, कश्चित् क्वचित् श्रैष्ठ्यमुपैति लोके' सिद्धान्त के कुछ विरोध मे प्रवाहित होती थी। विश्वकवि, प्रत्येक पार्थिव को प्रजा के हित मे पूर्णत क्रियाशील रहना चाहिए, ऐसी नीति को मानते थे। गुणो का समूह व्यक्तिगत नही रहता है, उसपर कौटुम्बिक संस्कार भी होते है और इसलिए 'वंश्या गुणा.' अपना एक विशिष्ट स्थान रखते है, यह भी वे मानते थे।

विश्वकवि सस्कृत-व्याकरण को अच्छी तरह जानते थे। सातवें अंक मे उन्होने मारीच मुनि के मुख से यह कहलवाया है. 'विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मादिक्रिय. पुत्र एष शाकुन्तलेय।' परन्तु, 'शाकुन्तलेय' का 'शाकुन्तल' ऐसा रूढ नाम देखकर, नाटक को 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' यह नाम दिया गया। मुख्य संकेत पुत्र की ओर है, न कि पत्नी की ओर—भविष्य की ओर है, न कि भूतकाल की ओर, समस्त संसार के कल्याण की ओर है, न कि वैयक्तिक स्वार्थ या सुख की ओर।

स्मरण रहे, चतुर्थ अंक के प्रारम्भ मे ही छन्दोमयी सस्कृत-वाणी मे काश्यपजी को, शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ विवाह और उसका परिणाम, इन शब्दो मे सूचित किया गया था : "दुष्यन्तेनाहितं तेजो 'दधानां भूतये भुव.'।" (४.४) सप्तम अक मे, भगवान् मारीच ऋषि सर्वदमन के वैकल्पिक नाम पर टिप्पणी देते हैं. 'पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति 'लोकस्य भरणात्'।" (७ ३३)

••

△ १०० ए।४, मनाली कॉपरेटिव हाउसिंग सोसाइटी लि०
आफ्. स्ट्रीट-१५, प्रभात रोड
एरण्डवन, पूना . ४११००४

आधुनिक आर्यभाषाओं का व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन

●

△ डॉ० उदयनारायण तिवारी

आर्य तथा आर्यभाषाएँ :

१. आर्य भारत के मूल निवासी थे या कहीं बाहर से आये, यह विवादास्पद प्रश्न है। यह प्रश्न भी उस समय उठा, जब सन् १८८३ ई० मे 'एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना हुई और **सर विलियम जोन्स** ने संस्कृत का अध्ययन किया। **सर जोन्स** ने तुलनात्मक आधार पर यह सिद्ध किया कि यूरोप की ग्रीक और लैटिन-भाषाओं का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ये तीनो एक ही परिवार की भाषाएँ हैं। उसने यह भी सिद्ध किया कि ईरान की फारसी और सस्कृत मे अतिनिकट का सम्बन्ध है। हमारे देश मे संस्कृत और फारसी दोनों भाषाओ के गम्भीर अध्येता विद्यमान थे, किन्तु भारतीय मनीषा कितनी अवरुद्ध थी कि हम यह न जान सके कि सचमुच संस्कृत और फारसी दोनों सहोदरा है। इस तथ्य के उद्‌घाटन का श्रेय **सर विलियम जोन्स** को ही मिला और जब उन्होने इसकी तथ्यपरक व्याख्या की, तब हम सन्तुष्ट हुए।

अब प्रश्न यह है कि यह बात हुई कैसे ? भारत के एक छोर पर ग्रीक और लैटिन भाषाएँ तथा दूसरे छोर पर लिथुआनी-भाषा। भारतीयो ने इन दोनो मे सान्निध्य कैसे स्थापित किया ? इसके सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानो ने बड़े परिश्रम से अन्वेषण किया और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन द्वारा **मैक्समूलर** ने यहाँतक कह डाला कि किसी युग मे भारतीय-ईरानीय तथा यूरोपीय लोगो के पूर्वज एक छत के नीचे मध्य-एशिया मे रहते थे। यहाँ से ये अपने विभिन्न क्षेत्रो मे फैले।

२. भारत-यूरोपीय-भाषा-भाषी के पूर्वज कहीं-न-कही बाहर से आये; इस सम्बन्ध मे जब खोज आरम्भ हुई, तब कई स्थान इसके लिए निर्धारितप्राय होने लगे। हम यह नही कहते कि निश्चित रूप से वह कौन-सा स्थान था, जहाँ से भारत-यूरोपीय-भाषा-भाषी लोगो का बिखराव हुआ, किन्तु इस दिशा मे जो प्रयत्न हुए है, वे कम रोचक नही। इनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

३. आदि भारोपीय जन को 'वीरॉस' (वीरॉस् = सं० वीर:) कहते है। **मैक्समूलर** के अनुसार, इनका निवास-स्थान मध्य-एशिया था, जहाँ से इनकी एक शाखा यूरोप को गई तथा दूसरी शाखा ईरान एवं भारत की ओर फैली। **प्रो० ऑट्टो श्रेडर** ने विविध भारोपीय

भाषाओ का अध्ययन कर एशिया और यूरोप की सीमा—दक्षिण के, घास के मैदान के साथ इस भूमि का तादात्म्य स्थापित किया है। **प्रो० जाइल्स** इस स्थान की सीमा निर्धारित करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "यह यूरोप-स्थित वह विस्तृत भूमि थी, जिसके पूर्व मे कार्पेथियन-पर्वतमाला, दक्षिण मे आल्प्स पर्वत, पश्चिम मे आस्ट्रिया से सम्पृक्त आल्प्स पर्वत एव वोहमेल का अख्य-प्रदेश तथा उत्तर मे एल्जबर्ग पर्वत था, जिसकी श्रृंखला कार्पेथियन से मिलती है।"

४ इस विषय के अध्येता अन्य यूरोपीय विद्वानो का स्पष्ट मत है कि आदि भारोपीय लोगो की निवासभूमि कही-न-कही यूरोप मे ही थी। इस निष्कर्ष का यह परिणाम हुआ कि इन विद्वानों ने पूर्वी रूस, उत्तरी जर्मनी, पश्चिमी यूरोप (स्केण्डिनेविया), पोलैण्ड एव लिथुआनिया को भारोपीय की निवासभूमि सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

५. (क) 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' के पृष्ठ १३ से १६ पर डब्ल्यू० **बान्द्रेस्ताइन** का इस सम्बन्ध मे मत उद्धृत करते हुए **डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या** लिखते है "अभी-अभी वान्द्रेस्ताइन ने भारत-यूरोपीयो के आदिनिवास-स्थान पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होने दिखाया है कि भाषाश्रयी प्रमाणो के आधार पर आद्य भारतीय-यूरोपीयो (भारोपीयो) के इतिहास को दो स्पष्ट कालो मे विभक्त कर सकते है।

५ (ख) "**प्राथमिक काल** जबकि कुछ भिन्नता लिये हुए भारतीय-यूरोपीय जन की वोलियो का कई समूहो मे विभाजन नही हुआ था।

५ (ग) "**उत्तरकाल** . जबकि भारतीय-ईरानीय शाखा भारोपीय पितृकुल से पृथक् हो चुकी थी और भारोपीय की मुख्य शाखा पृथक् होकर नवीन जलवायुवाले किसी नये प्रदेश को चली गई थी। प्राथमिक काल के अन्तर्गत तो भारोपीय मे प्रचलित कुछ प्रमुख शब्दों और धातुओ के अर्थ जैसे मूल मे चलते थे, वैसे ही भारतीय-ईरानीय शाखा के पूर्वजो मे प्रचलित बोलियों मे भी ज्यो-के-त्यो रहे। परन्तु, उत्तरकाल मे इन शब्दो और धातुओ के अर्थ भारतीय-ईरानीय-बहिर्भूत अन्य शाखाओ मे कुछ नये और भिन्न हो गये, जो भारतीय-ईरानीय शाखा की बोलियो मे नही मिलते। उदाहरणार्थ · आद्य-भारोपीय, ग्वेर, ग्वेरौ (gwer, gwerau) का मूलार्थ 'पत्थर' होता था; सस्कृत मे उसके रूप 'ग्रावन्' (grawan) का अर्थ कुछ सकीर्ण होकर (सोमरस को) 'निचोडने का पत्थर' होता है। परन्तु, भारोपीय की अन्य शाखाओ मे इसका अर्थ 'चक्की का पत्थर' हो गया। ये अर्थ कालान्तर मे विकसित हुए। आद्यभारोपीय मे 'मेल्ग्' (melg) का अर्थ है 'रगड़ना', संस्कृत मे मृज्-मृष् मे भी यही अर्थ विद्यमान है। परन्तु, भारतीय-ईरानीय के अतिरिक्त अन्य भारोपीय बोलियो मे उसका अर्थ 'दूध दुहना' (To milk) हो गया। आद्य भारोपीय की धातुओ और शब्दो के अर्थो मे हुए विभिन्न परिवर्त्तनो का अत्यन्त सूक्ष्मता से अभ्यास करने के पश्चात् **बान्द्रेस्ताइन** एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वह यह कि आदिम भारोपीय जन अपनी आद्यावस्था मे किसी अपेक्षाकृत शुष्क प्रदेश मे निवास

करते थे, परन्तु थी कुछ छोटी-छोटी वृक्ष-वनस्पतियाँ, जिनमें यथानिर्दिष्ट वृक्ष थे : वंज या वंजराठ (oak), वेतस् (willow), भूर्ज (birch), गोंदयुक्त देवदारु-जातीय वृक्ष और एक प्रकार का लचीला वृक्ष। वहाँ फलदार वृक्ष न थे। प्रारम्भ में, वे इन जानवरों से परिचित थे : ऋष्य (एक हिरन), वन्य वराह, वृक, लोवा (लोमड़ी), ऋक्ष (रीछ), शशक, उदबिलाव, मूषक एवं वन्य पशुओं मे कुछ अन्य प्राणी। पालतू जानवरों मे गाय स्पष्टतः उन्हे सुमेरों से प्राप्त हुई थी, सुमेरी 'gud', उच्चारण 'गु'='गृ' के अन्तिम व्यंजन का लोप लगभग २७०० ई० पू० में हो गया था और आद्यभारोपीयमे उसका परिवर्त्तित रूप ग्वाउस् (gwous) बन गया था। उनके अन्य पालतू पशु भेड़, बकरी, घोड़ा, कुत्ता और सूअर थे।.... जब वे अपने आदिम वासस्थान को छोड़कर आगे बढ़े, तब उन्हें एक निम्नदल का प्रदेश मिला, जहाँ उनका परिचय कुछ विस्तृत और नूतन प्रकार की वृक्ष-वनस्पतियों से हुआ। आद्य भारोपीय के प्राचीनतर स्तर की जाँच से प्राप्त प्राकृतिक पदार्थ बहुत अंशों में यूराल पर्वत के दक्षिण एव पूर्व मे स्थित किरगीज के मैदान मे घटित होते हुए प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् के स्तर के शब्दार्थ की वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षा करने पर भारोपीयों के नूतन आवास के जो लक्षण उपलब्ध होते है, वे पूर्णतः कार्पेथियन-पर्वतमाला से बाल्टिक सागर तक विस्तृत समतल प्रदेश पर घटित होते है।"

५. (घ) बान्द्रेंस्टाइन का मत है कि "मध्य-एशिया ही भारतीय आर्यो का प्रारम्भिक निवास-स्थान था और यही मत कुछ परिष्कृत रूप मे सर्वाधिक अनुमान-सिद्ध होता है। इस प्रकार, यूराल-पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित सुविस्तृत प्रदेश ही आद्यभारतीय आर्यों की मातृभूमि सिद्ध हुई प्रतीत होती है। उनकी भारत-ईरानी-कुल की एक पूर्वज शाखा सम्भवतः वही रही, जब कि मुख्य शाखा पश्चिम में आधुनिक पोलैण्ड की ओर फैलती चली गई। सम्भवत., वही स्थान 'वीरॉस' के यूरोप में फैलने का केन्द्रबिन्दु हुआ।"

६. डॉ० बरो अपनी कृति 'द संस्कृत लैंग्वेज' के नवें पृष्ठ में इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते है : "यह बात प्रायः निश्चित है कि मध्य-एशिया, विशेषरूपेण ऑक्सस नदी के काँठे से भारतीय एव ईरानी आर्यजन अपने-अपने जनपदों मे गये। परन्तु, इस बात का न तो किंचित् साक्ष्य ही है और न सम्भावना ही कि जर्मन, केल्ट, ग्रीक एवं भारोपीय वर्ग के अन्य यूरोपीय सदस्य कभी इस क्षेत्र में विद्यमान थे। इसीलिए, यह मानना पड़ता है कि भारोपीय की मूल निवास-भूमि कहीं-न-कहीं यूरोप मे ही थी। इसके लिए सहज एवं सशक्त तर्क यह है कि यूरोप में ही इस वर्ग की सर्वाधिक भाषाएँ उपलब्ध है और इनमे अत्यन्त प्राचीन काल से ही भाषागत विभिन्नताएँ पर्याप्त मात्रा मे है।"

७. पौरस्त्य विद्वान् यूरोपवालों के इस अनुसन्धान से सहमत नहीं है कि आर्य कहीं बाहर से आये थे, अपितु उनका मत है कि आर्य भारत के ही मूल निवासी थे और यहाँ से ईरान तथा मध्यएशिया एव यूरोपीय देशो मे गये। इस सम्बन्ध मे वे यह प्रमाण उपस्थित करते है कि आर्य जाति की सबसे प्राचीन कृति वेद है, जिसकी भाषा सर्वाधिक प्राचीन है।

अत , आर्यो के कही बाहर से आने का प्रश्न ही नही उठता । इस सम्बन्ध में पर्याप्त तथ्य एकत्र करने की आवश्यकता है । जिस प्रकार, यूरोपीय विद्वानो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्य बाहर से ही आये और इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त तथ्य एकत्र किया है, उसी प्रकार भारतीय विद्वानो को भी इस सम्बन्ध मे तथ्य एकत्र करना चाहिए ।

८. आर्यो की निवास-भूमि के सम्बन्ध मे इतनी चर्चा पर्याप्त है और जबतक इस विषय मे अभिनव सामग्री प्राप्त न हो, तबतक इस विवाद को अग्रसारित करने मे कोई रस नही है । इधर जबसे नवीन रूप में भाषाविज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है, तबसे भाषा की उत्पत्ति तथा आर्यो की मूल निवास-भूमि की खोज की चर्चा बन्द है । इसका मुख्य कारण यह है कि ये दोनो खोजे तथ्यपरक होने की अपेक्षा अनुमानाश्रित अधिक हैं । सच बात तो यह है कि सम्प्रति भाषाविज्ञान-विषयक अनेक ऐसे जीवन्त प्रश्न भाषाविदो के सम्मुख हैं कि उनके समाधान से ही उन्हे अवकाश नही है ।

भारत-ईरानी अथवा आर्यवर्ग .

९. भारत-ईरानी-भाषा-भाषी अपने को आर्य कहकर सम्बोधित करते थे । इस शाखा की भाषा मे प्राचीन साहित्य उपलब्ध है । इसकी तीन उपशाखाएँ हैं : १. ईरानी, २. दरद और ३. भारतीय आर्यभाषा ।

९ (क) प्राचीन ईरानी भाषा के रूप 'अवेस्ता' एव पुरानी फारसी से मिलते हैं । 'अवेस्ता' जरथुस्त्र-धर्मावलम्बी पारसीक (पारसी) लोगो का पवित्र धर्मग्रन्थ है । इसी के नाम पर उसकी भाषा का नामकरण हुआ है । इसका आधार ईरान के पूर्वी क्षेत्र की बोली है । इसका प्राचीन रूप गाथा मे उपलब्ध है ।

९ (ख) अवेस्ता का रचनाकाल वेदो के बाद का है, किन्तु इसकी भी भाषा काफी पुरानी है । अवेस्ता तथा वेद की भाषा मे इतना अधिक साम्य है कि एक के बिना दूसरे का अध्ययन सर्वथा सम्भव नही है । इन दोनो के व्याकरण का ढाँचा समान है और दोनो मे स्वनिक (ध्वन्यात्मक) अन्तर भी अत्यल्प ही है । उदाहरणार्थ, दोनों के कतिपय धार्मिक एवं सांस्कृतिक शब्द द्रष्टव्य है :

संस्कृत	अवेस्ता	हिन्दी
सेना	हएना	सेना
हिरण्य	जरन्य	सोना
ऋष्टि	अरिस्ट	भाला
असुर	अहुर	देव
यज्ञ	यस्न	यज्ञ
सोम	हओम	सोम
मित्र	मिथ्र	सूर्य

पुनः नीचे संस्कृत में रूपान्तरित 'अवेस्ता' की एक गाथा प्रस्तुत है। इससे दोनों का सादृश्य स्पष्ट होगा।

अवेस्ता की गाथा

"हावनीम् आ रतूम् आ
हओमो उपाइत् जरथुस्त्रेम्;
आत्रेम् पाइरि-यओज्द थेन्तेम्
गथस्-च स्रावयन्तेम् ।
आ-दिम् पेरेसत (जरथुस्त्रो)
'को, नरे अही ?
यिम अज् ेम वीस्पहे अङहेउश्
अस्तवतो स्रएष्टेम् दादरेसे' ॥"

संस्कृत-रूप

"सावने आ ऋतौ आ
सोम उपैत (उपागात्) जरथोष्ट्रम्;
अथरं परियोस्-दधतम्
गाथाश्च श्रावयन्तम् ।
आ तं (अ) पृच्छत् जरथोष्ट्रः
'को नरो असि ?
यं अहं विश्वस्य असोः (असुमत.)
अस्थिवतः श्रेष्ठं ददर्श' ॥"

अर्थात्, सवनवेला मे होम (सोम) जरथुस्त्र के पास आया, जो अग्नि को उज्ज्वल कर रहा था और उसको गाथा सुना रहा था। उसने जरथुस्त्र से पूछा : 'आप कौन पुरुष है, जिन्हे मैं सभी अस्थिधारियो (जीवधारियों या प्राणियों) मे श्रेष्ठ देख रहा हूँ'।

९. (ग) 'अवेस्ता' एवं 'संस्कृत' की व्याकरणिक संरचना लगभग समान है। दोनो मे तीन लिंग, तीन वचन तथा छह कारक (आठ विभक्तियाँ) है। यदि ध्वनि-परिवर्त्तन के नियमो को समझ लिया जाय, तो दोनों ही सहज भाषाएँ प्रतीत होगी।

प्राचीन फारसी :

१०. यह ईरान के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश की भाषा थी। इस प्रदेश का पुरातन नाम 'पारस' था। इस प्रदेश के अधिवासी हखामनीशीय वंश के अभ्युदय के साथ-साथ उनकी मातृभाषा प्राचीन फारसी भी ईरान की राज्यभाषा हो गई। इस वंश के सम्राट् 'दारयवउश' ('धारयद्वसुः' : ई० पू० ५२१–४९५) तथा उसके पुत्र जरक्शीस अत्यन्त प्रतापी हुए हैं। दोनों के जो स्तम्भलेख प्राप्त हुए है, उन्हीं से प्राचीन फ़ारसी की अध्ययन-सामग्री उपलब्ध हुई है। प्राचीन काल में 'मेसोपोटामिया' तथा 'एशियामाइनर' में

जो कीलक्षिर प्रचलित थे, उसी के एक रूप मे प्राचीन फारसी के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। जैसे प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का विवर्त्तन, पालि, प्राकृत तथा आधुनिक आर्यभाषाओ के रूप में हुआ, वैसे प्राचीन फारसी मे भी मध्य-ईरानी (पहलवी) तथा अर्वाचीन फारसी का जन्म हुआ। 'पहलवी' ईसा की तीसरी शती से नवीं शती तक ईरान मे प्रचलित थी। इसमें ईरानी शब्दो के साथ-साथ 'सामी' (अरबी) के शब्दो का भी प्रयोग होने लगा था, और अनेक अरबी-शब्द ईरानी-प्रत्यय लगाकर ग्रहण किये जाने लगे थे। इस प्रकार, यह भाषा प्राचीन फारसी की अपेक्षा अर्वाचीन फारसी के अधिक निकट आने लगी थी।

११. फारसी के अस्वीकरण की प्रतिक्रिया ईरान के महाकवि **फिरदौसी** मे हुई है। जो **महमूद गजनवी** के समय सन् १००० ई० मे हुआ था। उसने 'शाहनामा' नामक महाकाव्य की रचना की और इसमे इस्लाम के पूर्व के ईरानी वीरो की गौरव-गाथा का बखान किया। फिरदौसी ने अपने काव्य मे शुद्ध फारसी-भाषा के शब्दों के प्रयोग का प्रयत्न किया था। इधर जबसे ईरान मे जागरण-युग का आरम्भ हुआ, तबसे फिरदौसी को 'राष्ट्रकवि' का सम्मान दिया गया। इसका प्रभाव स्पष्टत. भाषा पर भी पड़ा और फारसी जदीद (आधुनिक फारसी) मे तुर्की की भाँति ही अब विशुद्ध फारसी शब्दो, प्रत्ययो एवं मुहावरो का प्रयोग होने लगा है।

दरद :

१२. **ग्रियर्सन** आदि भाषाविज्ञान के कतिपय पण्डितों ने भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त-प्रदेश, पामीर की उपत्यका की भाषाओं तथा कश्मीरी को, भारतीय एवं ईरानी भाषा के मध्य मे स्थान दिया है। पुन. इन भाषाओ को 'दरदीय' नाम दिया है। इन भाषाओं मे ईरानी तथा भारतीय, दोनो भाषाओ की कुछ विशेषताएँ परिलक्षित होती है। इन भाषाओ के मुख्यतः तीन वर्ग है : १. पश्चिमी मे 'काफिरी', जिसमे साहित्य नही है, २ केन्द्र मे 'खोवारी', जिसका एक रूप 'चित्राली' अधिक व्यापक है और ३. उत्तर मे शीणा, कश्मीरी और कोहिस्तानी।

भारत में आर्यों का आगमन :

१३. अपने ईरानी बान्धवों से पृथक् होकर, आर्यजन भारत कब आये, इसे निश्चितरूपेण कहना कठिन है। सम्भवत, ईसा-पूर्व २००० से १००० के मध्य स्थानान्तरण का यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा। विद्वानो के अनुसार, आर्यो ने अफगानिस्तान से, काबुल के दर्रे से, होकर प्रवेश किया। यहाँ बस जाने पर ये भारतीय आर्य कहलाये तथा इनकी भाषा 'भारतीय आर्यभाषा' के नाम से अभिहित की गई। यहाँ बसने के पश्चात् भारोपीय तथा भारत-ईरानी से प्रसूत 'आर्यभाषा' ने स्वतन्त्र रूप धारण किया और ऋग्वेद आदि वेदो की रचना हुई। वैदिक आर्यों ने सर्वप्रथम 'पजाब' (पचनद) को अपनी आवासभूमि बनाया। ऋग्वैदिक मन्त्रो मे वितस्ता (=झेलम), असिक्नि (=चिनाब), परुष्णी (=रावी), विपाश (=व्यास) तथा शुतुद्रि (=सतलज)

की बारम्बार आवृत्ति इस तथ्य को प्रमाणित करता है। सरस्वती (सतलज और यमुना के मध्य की आधुनिक सुरसुती) के आसपास का प्रदेश आर्यो के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। आर्यों ने इसी प्रदेश में एक यज्ञपरायण संस्कृति को विकसित किया तथा यहीं अधिकांश वैदिक मन्त्रों की रचना हुई। जलवायु तथा वातावरण की दृष्टि से यह प्रदेश आर्यो के लिए मनोरम और मनोनुकूल था। इसे 'देवनिर्मित ब्रह्मावर्त्त' के नाम से अभिहित किया गया तथा परम्परा से आगत यहाँ के आचार को ही अन्य वर्णों के लिए आदर्श आचार या सदाचार माना गया :

> सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
> तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ।।
> तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
> वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ।। (मनुस्मृति, २।१७-१८)

कालान्तर में आर्यजन पश्चिम एवं दक्षिण (राजस्थान) की ओर बढे। इस यात्रा मे उन्हे निश्चितरूपेण प्राकृतिक बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा। दक्षिण में तो विन्ध्यपर्वत उनके मार्ग मे अवरोधक बनकर खड़ा था, परन्तु शक्तिसम्पन्न उच्च संस्कृति के वाहक के रूप में ये शनैः-शनैः कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल और शूरसेन की ओर फैले। उन्होंने इस विस्तृत प्रदेश का नाम 'ब्रह्मर्षिदेश' रखा :

> कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः ।
> एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ।। (तत्रैव, अ० २)

आर्यजन अपनी इस सांस्कृतिक यात्रा में आगे बढते हुए सरस्वती के लुप्त होनेवाले स्थान तीर्थपति प्रयाग तक जा पहुँचे। उत्तर में हिमालय से दक्षिण मे विन्ध्य-पर्वत तक तथा पूर्व में प्रयाग तक के प्रदेश का नाम उन्होंने 'मध्यदेश' रखा :

> हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि ।
> प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ।। (तत्रैव)

आर्यो का प्रसार-वृत्त क्रमशः बढता गया और इसके साथ ही आर्यावर्त्त के विस्तार-क्षेत्र की सीमा भी बढ़ती गई। मनु के अनुसार, अब यह सीमा पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक एवं हिमालय तथा विन्ध्य-पर्वत के मध्य स्थिर हुई :

> आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
> तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ।। (तत्रैव)

१४. आर्यजनों में कुछ उत्साही थे, जो पूर्व की ओर बढते गये तथा वे मगध (=आधुनिक बिहार) तक जा पहुँचे। वहाँ से दो उपशाखाओं में ये विभक्त हो गये। इसमें एक शाखा पूर्व की ओर बढ़कर 'वंगदेश' (आधुनिक बंगाल) में जा बसी तथा दूसरी उपशाखा दक्षिण की ओर मुड़कर उत्कल (=आधुनिक उड़ीसा)

चली गई और पुनः पश्चिम की ओर मुड़कर विन्ध्यपर्वत की दूसरी ओर के मार्ग से अरबसागर के आसपास जा पहुँची।

१५. यहाँ यह प्रश्न सहज ही पूछा जा सकता है कि पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी भाषा (मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका तथा वज्जिका) के उद्गम और विकास के लिए, भारोपीय, भारत-ईरानी तथा भारतीय आर्यों की पुरातन भाषा वैदिक सस्कृत, लौकिक सस्कृत एवं इसकी परवर्त्ती भाषाओ (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि) के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि आवर्त्तन-विवर्त्तन के परिणामस्वरूप ही, भारोपीय भाषा भारत-ईरानी, वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत एवं परवर्त्ती प्राकृतो से होती हुई आधुनिक आर्यभाषाओं—बिहारी, हिन्दी, बँगला, गुजराती, मराठी, उड़िया एवं असमिया—मे परिणत हुई है। संक्षेप मे, भारोपीय की अविच्छिन्न धारा ही अपने विभिन्न स्तरो में प्रवाहित होती हुई आधुनिक भाषाओ के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अतएव, पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी एव बिहारी-भाषा के इतिहास के अध्येताओ के लिए यह आवश्यक है कि वे इसके उद्गम और विकास के विभिन्न मोड़ों का अध्ययन करें।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि भारोपीय भाषाएँ पुनर्निमित भाषाएँ हैं। इसी प्रकार, भारत-ईरानी-शाखा की रूपरेखा निश्चित करने के लिए भी किंचित् पुनर्निर्माण की सहायता ली गई है, किन्तु 'ऋग्वेद' की भाषा के साथ हम भाषिक अध्ययन के ऐतिहासिक युग मे प्रवेश करते हैं; क्योकि यहाँ से आधुनिक युग तक भाषा की अटूट शृंखला परिलक्षित होती है।

१६. यहाँ एक बात और स्मरणीय है कि भाषा की अविच्छिन्न परम्परा कथ्य भाषा के रूप मे ही चलती रहती है और साहित्यिक रूप धारण कर लेने पर इसमे स्थिरता आ जाती है तथा इसकी सहज गति मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है। ऐसा होते हुए भी प्रत्येक साहित्यिक भाषा मे कथ्य भाषा का स्वाभाविक रूप मे समावेश रहता है। इसके अतिरिक्त, साहित्य एव कथ्य भाषा मे आदान-प्रदान की क्रिया निरन्तर चलती रहती है। चूँकि, क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील कथ्य भाषा की सामग्री का सर्वत्र अभाव है; इसलिए भाषा के अध्ययन के इतिहास को अग्रसर करने के लिए साहित्यिक भाषा मे उपलब्ध सामग्री पर निर्भर रहना आवश्यक एव अनिवार्य हो जाता है। इससे भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन मे न तो त्रुटि आती है और न वह दोषपूर्ण ही होता है।

भारतीय आर्यभाषाओं के विभिन्न काल :

१७. समस्त उत्तरापथ मे आर्यों की विजय केवल राजनीतिक विजय न थी। आर्यजन अपने साथ सुविकसित भाषा एवं यज्ञपरायण सस्कृति भी लाये थे। उनके प्रसार के साथ-साथ उनकी भाषा एवं संस्कृति भी प्रसार पाने लगी, किन्तु स्थानीय आर्येतर जातियों के प्रभाव से वह मुक्त न रह सकी और उसमे परिवर्त्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि किसी भाषा के परिवर्त्तन के दो मुख्य कारण होते है। इनमे एक है बाह्य और द्वितीय है आन्तरिक। बाह्य कारणों मे धर्म, समाज (जिसमे अन्य जातियों के सम्पर्क भी सम्मिलित हैं), शिष्ट वर्ग द्वारा स्थापित संस्थाओ, व्यापारिक तथा श्रमिक-संघो तथा निकायों का प्रमुख योगदान होता है, किन्तु परिवर्त्तन के आन्तरिक कारण भाषा के स्वयं बोलनेवाले होते हैं। सच बात तो यह है कि कोई भी पीढ़ी अपने पूर्व की पीढ़ी से अनुकरण-रूप में भाषा को ग्रहण करती है और यह अनुकरण कभी पूर्ण नहीं होता। इसके परिणामस्वरूप समय के साथ-साथ भाषा मे परिवर्त्तन आवश्यक हो जाता है। सौभाग्य से भारतीय आर्यभाषा के परिवर्त्तन तथा विकास का इतिहास ऋग्वेद से आजतक बहुत कुछ सुरक्षित है, अतएव इस भाषा के विकास की प्रत्येक कड़ी का अध्ययन भाषाविज्ञान के पण्डितों के लिए सरलतया सम्भव हो सका है।

१८. विकास-क्रम के विचार से भारतीय भाषा के तीन विभाग किये जाते हैं: १ प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (वैदिक एवं लौकिक संस्कृत), २. मध्यभारतीय आर्यभाषा (पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश), ३. आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी, बँगला, बिहारी (मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका, वज्जिका), उड़िया, मराठी, गुजराती, असमिया आदि। नीचे इन तीनो प्रकार की भाषाओ के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जायगा।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा :

१९. ऊपर यह कहा गया है कि भारत में आनेवाले आर्यो के दल अपने साथ यज्ञपरायण संस्कृति भी लाये थे। प्राचीन ईरानी संस्कृति के अध्ययन से विदित होता है कि भारत में प्रवेश करने के पूर्व ही आर्यों मे इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। भारत मे बस जाने पर यज्ञों के विधि-विधान में विकास होता गया। आर्य ऋषि देवों की प्रशंसा मे सूक्तों की रचना करते रहे। ये सूक्त परम्परारूपेण ऋषि-परिवारो मे सुरक्षित रखे जाने लगे। बाद मे विभिन्न ऋषि-परिवारों के सूक्तों का संग्रह किया गया। यही संग्रह ऋग्वेदसंहिता-रूप में प्रसिद्ध हुआ।

ऋग्वैदिक मन्त्रों को सुरक्षित रखने के लिए प्राचीन ऋषियो ने यथेष्ट उपाय किये और ये उपाय इतने कारगर है कि इतने दीर्घकाल के अनन्तर भी वेद का एक अक्षर भी स्खलित एवं च्युत नही हुआ, जबकि बाद में रचित महाकाव्यो, नाटको आदि में पर्याप्त पाठभेद उपलब्ध होते हैं। आज भी विद्वान् वेदपाठियों का सस्वर उच्चारण उसी रूप मे सुना जा सकता है, जैसा कि प्राचीन युग मे उच्चारण किया जाता था।

२०. महर्षियों ने पाठ की परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए आठ विकृतियो की व्यवस्था की है, जिनकी सहायता से वैदिक मन्त्रो का उच्चारण आजतक अविकलरूपेण सुरक्षित है। इन विकृतियो के नाम है: १. जटा, २. माला, ३. शिखा, ४. रेखा, ५. ध्वज, ६. दण्ड, ७. रथ तथा ८. घन। उस अविज्ञात प्राचीन काल से वेदाध्ययनपरायण

मनीषियो ने श्रुति-परम्परा से, ऋक्संहिता को अविकल रूप मे सुरक्षित रखकर भारोपीय परिवार के प्राचीन साहित्य को हमतक पहुँचाया है।

२१ (क) उस युग मे भाषिक तत्त्वों के उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थो मे उपलब्ध होते है। इन ब्राह्मणग्रन्थो का युग १००० ई० पू० से ६०० ई० पू० है। 'कौषीतकी-ब्राह्मण' मे उत्तर-पश्चिम के उदीच्याचल की भाषा को मानक बतलाया गया है तथा इस तथ्य का स्पष्टत अभिधान हुआ है कि यही भाषा ग्राह्य है।

२१. (ख) इस अंचल की भाषा की शुद्धता के सम्बन्ध मे 'शतपथब्राह्मण' मे भी उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ कुरु तथा पांचाल लोगो को उत्कृष्ट सस्कृतभाषी कहा गया है। 'ताण्ड्यब्राह्मण' या 'पचविंशब्राह्मण' मे व्रात्यो के उच्चारण के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है कि ये व्रात्य आर्यक्षेत्र से पूर्व के निवासी थे। इन व्रात्यो के न तो ब्राह्मण आचार्य थे और न ये वैदिक अग्निपूजा के अनुगामी थे। ब्राह्मण भी इनके प्रति सहिष्णु न थे। इस सम्बन्ध मे 'पचविंशब्राह्मण' का यह उद्धरण द्रष्टव्य है· "ये व्रात्य लोग सरल वाक्यो को भी कठिन बताते है और वैदिक धर्म मे दीक्षित न होने पर भी वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुकर्त्ता है।"

२१. (ग) ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रात्य उदीच्य भाषा से भिन्न भाषा बोलते थे। वास्तव मे, उदीच्य ही अग्निपूजक आर्यो का विशिष्ट स्थान था। यहाँ यह उल्लेख्य है कि पूर्व के व्रात्य वैदिक भाषा के कठिन शब्द-गुच्छो को सरल से सरलतर बनाकर उच्चारण करते थे। फलत, उनकी भाषा उदीच्य से भिन्न होती जा रही थी।

२१. (घ) 'शतपथब्राह्मण' मे एक उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमे म्लेच्छभाषा तथा वाक् (शुद्धभाषा) की तुलना की गई है। इस उद्धरण के अनुसार असुरो (या एक जाति, जो पूरब मे निवास करती थी) को इस कारण पराभूत होना पडा; क्योकि ये अशुद्ध भाषा का प्रयोग करते थे (तेऽसुरा हेलयो हेलयो कुर्वन्त. पराबभूवुः)। काण्वशाखा में इसका पाठ 'हेलवो हेलवो' प्राप्त होता है। यह 'हे अरय' का बोलीगत स्वरूप है। 'अय' का 'ए' मे परिणत होना मध्यकालीन आर्यभाषा के ध्वनि-परिवर्त्तन का लक्षण है।

२२. (क) ऊपर जो ब्राह्मणग्रन्थ का उद्धरण आया है, उससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे आर्यभाषा के यथानिर्दिष्ट तीन रूप वर्त्तमान थे; १. उदीच्य बोली या बोली-समूह, २. मध्यदेशीय बोली या बोली-समूह तथा ३. प्राच्य या पूर्वी बोली-समूह।

२२. (ख) उदीच्य बोली उस युग की मानक भाषा थी, जिसका क्षेत्र आधुनिक भौगोलिक स्थिति के अनुसार उत्तरी-पश्चिमी सीमान्तप्रदेश (जो अब पाकिस्तान मे है) या आधुनिक पजाब का उत्तरी भाग था। इसी बोली मे प्राय. 'र्' का प्रयोग अधिक होता था।

२२. (ग) मध्यदेशीय बोली आज के पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश में प्रचलित थी। यही पुराणों में 'अन्तर्वेद' या 'ब्रह्मर्षि' देश के नाम से प्रख्यात रहा है। इसमें 'र्' तथा 'ल्' दोनों ध्वनियों का प्रयोग विहित था।

२२. (घ) प्राच्य या पूर्वी बोली-समूह आज के पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार तथा बंगाल के एक भाग में प्रचलित थी। यह संस्कृत-वैयाकरणों के अनुसार अपभ्रष्ट भाषा थी। इसमे मात्र 'ल्' ध्वनि प्रचलित थी।

२२. (ङ) यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मध्यदेशीय भाषा के सम्बन्ध में कोई तथ्यपरक बात स्पष्टत. नही मिलती, किन्तु बाद मे जो भाषिक तत्त्व उपलब्ध होते है, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मध्यदेश की भाषा उदीच्य की श्रेष्ठ भाषा एवं प्राच्य की अपभ्रष्ट भाषा के बीच की थी।

२३. धार्मिक कृत्यों में ब्राह्मणो के अधिनायकत्व का विरोध सर्वप्रथम व्रात्यो ने ही किया, किन्तु ब्राह्मण-युग के अन्त मे प्राच्यांचल मे बुद्धिजीवियों ने भी धार्मिक क्रान्ति के रूप में उनका विरोध किया, जिसके फलस्वरूप दो सम्प्रदाय अस्तित्व मे आये, जिनमे एक जैनधर्म तथा दूसरा बौद्धधर्म था। इन दोनों धर्मों के प्रवर्त्तक दो क्षत्रिय राजकुमार— महावीर (वर्द्धमान) एवं बुद्ध (सिद्धार्थ) थे। इन्होने केवल ब्राह्मणों के अधिनायकत्व तथा कट्टर धर्मपथ का ही विरोध नही किया, अपितु वैदिक भाषा को भी विरोध किया। इन्होने तद्युगीन प्रचलित दो भाषाओं को ही प्राश्रय दिया। इन्ही दो भाषाओ का साहित्यिक रूप हमे 'अर्द्धमागधी' तथा 'पालि' मे प्राप्त हैं। इन दोनों धर्मों के ग्रन्थ इन दोनों साहित्यिक भाषाओं मे ही उपलब्ध है।

२४. उपर के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अपभ्रंश का प्रयोग ईसवी-पूर्व छठीं-पाँचवी शती से ही प्रारम्भ हो गया था। बुद्ध ने बोलचाल की भाषा पर ही बल दिया। जब उनके दो शिष्यों ने बुद्धवचन को अपभ्रंश से छन्दस् की भाषा में अनूदित करने का प्रस्ताव किया, तब उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया और कहा : "**अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणीतुं।**" (भिक्खुओ! मैं बुद्धवचन को अपनी-अपनी भाषा मे पढ़ने की अनुज्ञा देता हूँ।) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने तद्युगीन भाषाओं को ही वरीयता दी। इसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ। फलतः, स्थानीय बोलियाँ भी विकसित होकर साहित्यिक बन गईं और जनसामान्य से इनका सम्पर्क टूटता गया।

२५. (क) यहाँ, यह तथ्य उल्लेखनीय है, जहाँ एक ओर बोलचाल की भाषा विकसित हो रही थी, वहाँ ब्राह्मण भी निष्क्रिय होकर नही बैठे थे। वे वैदिक भाषा से भिन्न, शिष्टजनो की भाषा के आधार पर, मध्यदेश में एक भाषा को विकसित कर रहे थे। यह काल ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक का था। इस समय इस शिष्ट भाषा के आधार पर महावैयाकरण **पाणिनि** ने अपनी अपूर्व तथा अप्रतिम कृति 'अष्टा-

ध्यायी' की रचना कर भारतीय मनीषा की विश्वविजयिनी ध्वजा फहराई, साथ ही संस्कृत को मानक रूप प्रदान किया।

२५. (ख) आचार्य पाणिनि ने संस्कृत का प्रयोग 'वैदिक संस्कृत' तथा 'लौकिक संस्कृत' दोनों के लिए किया तथा लौकिक संस्कृत को तत्कालीन युग के शिष्ट वर्गों एवं पण्डितों में सामान्य रूप से बोले जाने का भी संकेत किया है, जिसका स्पष्टीकरण 'दूराद्धूते च' (अष्टा०, ८।२।८४), 'प्रत्यभिवादे शूद्रे' (८।२।८३) आदि सूत्रों में मिलता है।

२६. (क) एक ओर शिष्टभाषा के रूप में पण्डितों के बीच संस्कृत प्रचलित थी, तो दूसरी ओर साधारण जनता आंचलिक भाषाओं का प्रयोग करती थी। इस प्रकार के आवर्त्तन-विवर्त्तन के परिणामस्वरूप भाषा में चतुर्दिक् परिवर्त्तन की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हो रही थी। ऐसे परिवर्त्तनों से प्राचीन आर्यभाषा को नवीन रूप प्राप्त हुआ। यह परिवर्त्तन समान गति से उत्तरापथ में सम्पन्न न हुआ। उदीच्य भाषा (उत्तर-पश्चिम सीमान्त तथा पंजाब की भाषा) प्राचीन आर्यभाषा के बहुत समीप बनी रही। इसमें परिवर्त्तन की गति बहुत मन्द थी। मध्यदेश की भाषा इन परिवर्त्तनों से प्रभावित अवश्य हुई, किन्तु उच्चारण की शिथिलता उसमें अधिक नहीं आई। प्राच्यभाषा (वर्त्तमान अवध, उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग तथा बिहार की भाषा) में परिवर्त्तन की गति बहुत तीव्र थी।

२६. (ख) सबसे पहले यहीं आर्यभाषा के रूप में परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे मध्यदेश तथा उदीच्य की भाषा पर भी इन परिवर्त्तनों का प्रभाव परिलक्षित हुआ और सर्वत्र आर्यभाषा का मध्यकालीन रूप प्रस्फुटित हो गया।

२७. जनपदीय भाषा का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित-विवर्तित होता रहा। छह सौ ई० पूर्व से १००० ई० तक के सोलह सौ वर्षों तक भारतीय आर्यभाषा विभिन्न प्राकृतों तथा अपभ्रंश के रूप में विकसित होती हुई आधुनिक आर्यभाषाओं की जननी बनी। आर्यभाषा के मध्यकालीन विकास का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिए सोलह सौ वर्षों के इस काल को निम्नांकित पर्वों में बाँटा जाता है :

१. प्रथम पर्व, जिसमें लगभग २०० ई० पूर्व तक के प्रारम्भिक परिवर्त्तन आते हैं तथा २०० ई० पूर्व से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।
२. सन् २०० से ६०० ई० तक द्वितीय पर्व।
३. सन् ६०० से १००० ई० तक तृतीय पर्व तथा आधुनिक काल।

२८. प्रथम पर्व में भाषा के विकास के अध्ययन की सामग्री पालि-साहित्य तथा अशोक के अभिलेखों में प्राप्त होती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भाषा-परिवर्त्तन के साथ-साथ यह वैचारिक परिवर्त्तन का भी महान् युग है। वास्तव में, तथागत बुद्ध विश्व के इतिहास में प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपनी-अपनी मातृभाषाओं में अपने वचनों को सीखने का उपदेश दिया। इसी का अनुसरण करके महान् अशोक ने देश के विभिन्न स्थानों में आंचलिक भाषा का प्रयोग करते हुए अपने अभिलेख-स्तम्भों को प्रतिष्ठापित किया।

२९. सिंहल के बौद्ध पालि को 'मागधी' नाम से अभिहित करते हैं, किन्तु इसके व्याकरण का ढाँचा मध्यदेश की संस्कृत का है। ऐसा लगता है कि त्रिपिटक का एक संग्रह या रूप प्राच्या अथवा मागधी में भी था। इस बात की पुष्टि अशोक के भाब्रू-अभिलेख से भी होती है। यह पालि में नहीं, अपितु प्राच्या (मागधी) में है। इसकी एक पंक्ति हैं : 'उपतिस्थसिने लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्च विनय समुकसे।' इसका पालि-रूप होगा : 'उपतिस्सपञ्हो राहुलोवादो मुसावादं अधिकिच्च विनय-समुकसो'। इससे ज्ञात होता है कि अशोक ने जिस त्रिपिटक का अध्ययन किया था, वह मागधी में था।

३०. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पालि का ढाँचा मागधी से भिन्न है। किन्तु, पालि-त्रिपिटक मे मागधी के अनेक रूप विद्यमान हैं। यथा : भिक्खवे, सुवे, पुरिसकारे इत्यादि। इसी के आधार पर प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् लूडर्स का मत है कि मध्यदेश की भाषा से पालि में त्रिपिटक का अनुवाद मूल मागधी से किया गया होगा। मागधी से पालि मे अनुवाद का यह कार्य प्राय. वैसा ही था, जैसा व्रजभाषा से भोजपुरी मे अनुवाद।

३१. अशोक के अभिलेखों मे उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम तथा प्राच्यभाषाओं के आंचलिक रूप उपलब्ध होते है।

३२. मीरजापुर-सम्भाग के रामगढ पर्वत के जोगीमारा-गुफा में एक छोटा-सा अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसमें प्राच्यभाषा की अन्य विशेषताओं के साथ 'श्' 'ष्' 'स्' इन तीन व्यंजनों के स्थान पर 'श्' का प्रयोग हुआ है। इस अभिलेख की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं : 'शुतनुक नम देवदशिक्यि। तं कमयिथ वलनशेये देवदिने नम् लूपदखे।' अर्थात्, 'सुतनूका नामक देवदासी की—वाराणसी के देवदत्त नामक रूपदक्ष (सौन्दर्य-पारखी) ने कामना की।' इस अभिलेख के प्रथम शब्द 'शुतनुक' के नाम पर इस अभिलेख का नाम 'सुतनूका' पड़ गया है।

३३. प्रथम पर्व की भाषा के संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् अब यहाँ द्वितीय पर्व की भाषा के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है।

द्वितीय पर्व : साहित्यिक प्राकृतें :

३४. मध्य-आर्यभाषा के संक्रान्ति-काल में (ई० पूर्व २०० से २०० ई० तक) स्वरमध्यग अघोष स्पर्श व्यंजन सघोष होने लगे। ईसा की तीसरी-चौथी शती मे उच्चारण की इस प्रवृत्ति में अभिनव परिवर्त्तन प्रकट हुए, जिन्होंने मध्यभारतीय आर्यभाषा का रूप बदल दिया। स्वरमध्यग सघोष स्पर्श व्यंजनो के उच्चारण में शिथिलता आ गई, जिससे वे ऊष्म ध्वनि के समान बोले जाने लगे। यह स्थिति बहुत काल तक न बनी रही और कुछ समय पश्चात् शिथिलतापूर्वक उच्चरित ये सघोष व्यंजन-ध्वनियाँ लुप्त होने लगीं। इस परिवर्त्तन से भाषा का स्वरूप इतना परिवर्त्तित हो गया कि वह पिछले पर्व की भाषा

से भिन्न प्रतीत होने लगी। मध्यभारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व का यह सर्वप्रधान लक्षण है। यथाप्रस्तुत उदाहरणो से यह परिवर्त्तन-क्रम स्पष्ट हो जायगा : शुक > सुग > सुग > सुअ; मुख > मुघ > मुध् > मुह; कथा > कथा > कथा > कहा इत्यादि।

३५. जिस प्रकार, प्राचीन आर्यभाषा को साधारणतया 'संस्कृत' कह दिया जाता है, उसी प्रकार मध्यभारतीय आर्यभाषा के लिए 'प्राकृत' शब्द का व्यवहार किया जाता है। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृति' (जनसाधारण) से है। अतः, प्राकृत का अर्थ हुआ—जनसाधारण की भाषा। शिष्ट-समाज की भाषा संस्कृत से भेद प्रकट करने के लिए जनसामान्य की भाषा को 'प्राकृत' संज्ञा दी गई। उत्तरकालीन प्राकृत-वैयाकरण 'पालि' से परिचित न थे और अशोक के अभिलेखो तथा अन्य अभिलेखों की भाषा भी उनके सामने न थी। अतः, उन्होने इनपर विचार न किया। सस्कृत-नाटको मे प्रयुक्त तथा कुछ काव्यग्रन्थों एव जैनो के धार्मिक ग्रन्थो मे व्यवहृत प्राकृत पर ही इन वैयाकरणो ने विचार किया। अतः, 'प्राकृत' शब्द जैनागमों की 'आर्षी' अथवा 'अर्द्धमागधी' तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं की 'मागधी', 'शौरसेनी', 'महाराष्ट्री' तथा 'पैशाची' बोलियो के अर्थ मे रूढ हो गया। मध्यभारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व के अध्ययन की सामग्री हमे इन्ही साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है।

३६. प्राकृत-वैयाकरणो मे सबसे पहला नाम **वररुचि** का आता है। **वररुचि** ने प्राकृत के चार भेद किये : महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। जैनाचार्य हेमचन्द्र (१२वी शती) 'आर्षी' (अर्द्धमागधी) एवं चूलिका-पैशाची पर भी विचार किया है। प्राकृत-वैयाकरणो ने जिस भाषा का विवेचन किया है, वह लोकभाषा पर आधृत तो थी, किन्तु संस्कृत के आधार पर चलकर, कालान्तर मे केवल साहित्यिक रचनाओ की कृत्रिम भाषा बन गई थी। इस रूप मे प्राकृतो का प्रयोग सस्कृत के नाटककार तेरहवी शती तक करते रहे।

३७. **शौरसेनी-प्राकृत, मूलत शूरसेन-प्रदेश (मथुरा) की भाषा थी।** सस्कृत-नाटको मे स्त्रीपात्र तथा विदूषक इसका प्रयोग करते थे। मध्यदेश की भाषा होने के कारण यह सस्कृत के बहुत समीप रही और इसपर संस्कृत का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा।

३८ **मागधी मूलत. मगध की भाषा थी।** संस्कृत-नाटकों के निम्न श्रेणी के पात्र मागधी-प्राकृत का प्रयोग करते थे। प्राच्यदेश की भाषा होने के कारण यह वर्ण-विकार आदि मे, अन्य प्राकृतों से बहुत आगे बढ़ी थी।

३९. **अर्द्धमागधी कोशल-प्रदेश की भाषा थी। जैन आचार्यों ने इस भाषा मे शास्त्रों की रचना की है।** वह इसे आर्षी कहते थे और आदिभाषा मानते थे। सस्कृत-नाटको मे भी अर्द्धमागधी का प्रयोग होता था। मध्य-एशिया से प्राप्त अश्वघोष के सस्कृत-नाटक 'शारिपुत्रप्रकरण' मे अर्द्धमागधी का व्यवहार हुआ है।

४०. (क) **महाराष्ट्री :** साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री-प्राकृत सर्वाधिक विकसित है। प्राकृत-वैयाकरणों ने इसे आदर्श प्राकृत माना है तथा सबसे पहले इसका विवेचन किया है और तब अन्य प्राकृतों की विशेषताएँ बतलाई हैं। संस्कृत-नाटकों में प्राकृत-पद्यरचना प्रायः महाराष्ट्री में हुई है। महाराष्ट्री-प्राकृत में महाकाव्यों एवं खण्डकाव्यों की रचनाएँ उपलब्ध हैं।

४०. (ख) महाराष्ट्री-प्राकृत के सम्बन्ध में डॉ० **मनमोहन घोष** के निष्कर्ष द्रष्टव्य हैं। उनके अनुसार, **महाराष्ट्री-प्राकृत शौरसेनी का विकसित रूप है।** इन दोनों प्राकृतों में पहले स्थानगत भेद न होकर कालगत भेद था। इसके बाद महाराष्ट्री-प्राकृत दक्षिण में पहुँची और काव्यभाषा बन गई। वहाँ यह स्थानीय लोकभाषा से भी प्रभावित हुई जिसके कारण इसने अनेक मराठी-रूप अपना लिये। दक्षिण से यह भाषा उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में लौटी और इसे अन्य प्राकृतों के बीच सम्मान का स्थान प्राप्त हुआ। इस प्रकार, महाराष्ट्री-प्राकृत शौरसेनी-प्राकृत का ही विकसित रूप है तथा शौरसेनी-प्राकृत एवं शौरसेनी-अपभ्रंश के बीच की स्थिति की परिचायिका है।

४१. **पैशाची :** पैशाची-प्राकृत की कोई साहित्यिक रचना सुरक्षित नहीं रह सकी है। कहा जाता है कि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' ('बड्डकहा') मूलतः पैशाची में लिखी गई थी। परन्तु, उसका पैशाची-पाठ लुप्त हो गया है।

तृतीय पर्व : अपभ्रंश :

४२. मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को 'अपभ्रंश' नाम से अभिहित किया गया है। अपभ्रंश मध्य-आर्यभाषाओं तथा आधुनिक आर्यभाषाओं (हिन्दी, बँगला, बिहारी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, उड़िया, असमिया) के बीच की कड़ी है। प्रत्येक आधुनिक आर्यभाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है। 'अपभ्रंश' शब्द विभिन्न अर्थों में महाभाष्यकार **पतंजलि** (ईसा-पूर्व दूसरी शती) के समय में प्रयुक्त मिलता है। यहाँ इस शब्द के इतिहास पर संक्षिप्त विचार अपेक्षित है।

४३. (क) **अपभ्रंश-शब्द का प्रयोग :** महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है: **भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः।'** यहाँ 'शब्द' से महाभाष्य का तात्पर्य पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध शब्द से है। अपभ्रंश का प्रयोग उन्होंने अपशब्द के समानार्थक रूप में किया है।

४३. (ख) ईसा की छठीं शती में प्राकृत-वैयाकरण चण्ड ने अपने ग्रन्थ 'प्राकृत-लक्षणम्' (३।३७) में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया है। इसी शती में वलभी के राजा द्वितीय **धरसेन** को एक ताम्रपत्र में 'संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश, इन तीनों की प्रबन्ध-रचना में निपुण कहा गया है।' **आचार्य भामह** ने अपने 'काव्यालंकार'-ग्रन्थ में संस्कृत एवं प्राकृत के साथ अपभ्रंश को भी रखा है। **आचार्य दण्डी** ने 'काव्यादर्श' में अपभ्रंश को आभीर आदि की भाषा कहा है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईसा की

छठीं शती तक अपभ्रंश किसी भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा था। यह भाषा आभीर आदि जातियों मे बोली जाती थी।

४३. (ग) ईसा की नवी शती में आचार्य रुद्रट ने संस्कृत एवं प्राकृत के साथ अपभ्रंश का उल्लेख करते हुए देशभेद से इसके अनेक भेद किये है। इससे अपभ्रंश के विस्तार का पता चलता है। ईसा की ग्यारहवी शती मे प्राकृत-वैयाकरण पुरुषोत्तम ने अपभ्रंश को शिष्टवर्ग की भाषा कहा है। बारहवी शती मे आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा। इस प्रकार, ईसा-पूर्व द्वितीय शती से अपभ्रंश-शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न कालों मे अपशब्द, विभाषा, लोकभाषा, शिष्ट एवं साहित्यिक भाषा के अर्थों मे किया गया।

४४. **अपभ्रंश का विस्तार-क्षेत्र :** भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे उकारबहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धु, सौवीर और इनके आश्रित देशो के लोगो के लिए करने का आदेश दिया गया है। इससे विदित होता है कि भरत के समय तक भाषा मे अपभ्रंश की विशेषताएँ भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे प्रकट हुई थी। ईसा की १०वीं शती मे राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' मे अपभ्रंश का विस्तार-क्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है। मरुभूमि से राजशेखर का तात्पर्य राजस्थान से रहा होगा। टक्क-प्रदेश की स्थिति विद्वानो ने विपाशा और सिन्धु नदी के बीच मानी है। भादानक की स्थिति के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। टक्क के साथ इसका उल्लेख होने से विद्वानो ने अनुमान किया है कि यह भी उसके आसपास का कोई प्रदेश रहा होगा। इस प्रकार, राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का विस्तार राजपूताना और पंजाब तक हो चुका था। अपभ्रंश का जो साहित्य आज उपलब्ध है, उसका रचना-स्थान राजस्थान, गुजरात, पश्चिमोत्तर भारत, बुन्देलखण्ड, बगाल और दक्षिण मे धान्यखेत तक विस्तृत प्रतीत होता है। इससे विदित होता है कि ग्यारहवी शती तक अपभ्रंश का प्रसार समस्त उत्तर भारत और दक्षिण तक हो गया था। अपभ्रंश इस विस्तृत प्रदेश की जनभाषा थी, यह तो निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, परन्तु इन प्रदेशो की भाषाओ पर अपभ्रंश और अपभ्रंश पर इन प्रदेशो की भाषाओ का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, यह असन्दिग्ध है।

४५. (क) **अपभ्रंश और देशी :** अपभ्रंश के सम्बन्ध में 'देशी' शब्द की बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव मे, 'देशी' से देशी शब्द एव देशी-भाषा दोनो का बोध होता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि ये देशीय शब्द किस भाषा के थे? आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे उन शब्दो को 'देशी' कहा है, 'जो सस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपो से भिन्न हैं'। रुद्रट (सन् ९०० ई०) ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' मे उन शब्दो को देशी कहा है, जिनकी प्रकृति-प्रत्ययमूला व्युत्पत्ति सम्भव न हो। यही अभिप्राय प्राकृत-वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने भी व्यक्त किया है। 'देशीनाममाला' मे आचार्य हेमचन्द्र ने ऐसे शब्दो का सग्रह किया है, जिनकी व्युत्पत्ति किसी सस्कृत-धातु अथवा शब्द से, व्याकरण के नियमो के अनुसार,

नही होती। परन्तु, पिशेल, पी० एल्० वैद्य आदि भाषाविज्ञानियों ने आचार्य हेमचन्द्र के अनेक देशी शब्दो को संस्कृत से व्युत्पन्न दिखाया है। वास्तव मे, ये 'देशी शब्द' जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावतया अपभ्रंश मे भी चले आये थे। जनभाषा व्याकरण के नियमो का अनुसरण नही करती, परन्तु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियो का विश्लेषण करना पड़ता है। प्राकृत-वैयाकरणों ने संस्कृत के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत की आदि प्रकृति माना। अतः, जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको 'देशी' संज्ञा दी गई। पिशेल ने भी यही मत प्रकट किया है कि 'देशी' शब्द देशीय तत्त्वों (हेटेरेजेनस एलिमेण्ट्स) के सूचक है।

४५. (ख) प्राचीन काल से ही बोलचाल की भाषा को 'देशी भाषा' अथवा 'भाषा' कहा जाता रहा। पाणिनि के समय मे संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, अतः उन्होंने इसको 'भाषा' कहा है। पतंजलि के समय तक संस्कृत केवल शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा रह गई थी और प्राकृत बोलचाल की भाषा बनी, तब प्राकृत के लिए 'भाषा' शब्द प्रयुक्त हुआ। प्राकृत के पश्चात् जब अपभ्रंश लोकभाषा बनी, तब यही 'देशी भाषा' कही जाने लगी। महाकवि बाण ने अपने मित्रवर्ग मे प्राकृत-कवि वायुविकार के साथ-साथ भाषा-कवि ईशान का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि बाण के समय बोलचाल की भाषा प्राकृत से भिन्न रही होगी। अपभ्रंश-कवियो ने अपनी भाषा को 'देशी' बताया। 'पउमचरिउ' मे स्वयम्भू कवि ने भी अपनी भाषा को देशी बताया है। कवि पुष्पदन्त (सन् ९६५ ई०) तथा पद्मदेव (सन् १००० ई०) ने भी अपनी भाषा को देशी कहा है; इससे स्पष्ट है कि जबतक अपभ्रंश लोकभाषा रही, तबतक इसे 'देशी' कहा गया। आधुनिक आर्यभाषाओं के कवियो ने भी अपनी भाषा के लिए 'देशी' अथवा 'भाखा' शब्द का व्यवहार किया। गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' की भाषा को अवधी न कहकर 'भाखा' कहा है। प्रसिद्ध मराठी-सन्त ज्ञानेश्वर ने भी गीता की अपनी मराठी-टीका 'ज्ञानेश्वरी' की भाषा के लिए 'अम्हा प्राकृतादेशी कारे वन्धे गीता' लिखा है।

४५. (ग) अतः, 'देशी' भाषा जनभाषा का ही नाम है और जिस काल एव स्थान मे जो भाषा इस पद पर आसीन रही, वही इस नाम से अभिहित हुई। सन् ६०० से १२०० ई० तक अपभ्रंश 'देशी भाषा' के पद पर आरूढ रही और इसके बाद भी ईसा की १३वीं-१४वीं शती तक उसमे साहित्य-रचना होती रही। परन्तु, तब यह केवल साहित्यारूढ भाषा-मात्र रह गई थी। उस समय आधुनिक आर्यभाषाएँ बोलचाल की भाषाएँ बनकर 'देशी' नाम की अधिकारिणी बन गई थी।

४६. अपभ्रंश मे हमे उन प्रवृत्तियो का प्रारम्भ मिल जाता है, जो आगे चलकर हिन्दी तथा आधुनिक अन्य भाषाओ में विकसित हुईं। शब्दों एवं धातुरूपो मे नये-नये प्रयोग कर अपभ्रंश ने हिन्दी तथा अन्य आधुनिक आर्यभाषाओ के विकास की आधारभूमि तैयार कर दी। अपभ्रंश का साहित्यिक क्षेत्र भी प्रधानतया वही मध्यदेश है, जो हिन्दी का जन्मस्थान है। अतः, कुछ विद्वानो ने अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहना चाहा है।

हिन्दी के विकास की पीठिका होने के कारण अपभ्रंश के लिए 'पुरानी हिन्दी' शब्द का प्रयोग अनुचित भी क्या है ?

संक्रान्ति-काल तथा आधुनिक आर्यभाषाओं का उदय :

४७ (क) अपभ्रंश-काल की समाप्ति और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के स्वरूप-ग्रहण के बीच का काल भारतीय आर्यभाषा के विकास-क्रम मे बहुत अस्पष्ट काल है। निश्चित रूप से यह निर्धारण कर सकने का अभी तक कोई असन्दिग्ध साधन उपलब्ध नही है कि कथ्य भाषा के रूप मे अपभ्रंश कबतक बनी रही और कब आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ अपनी अलग-अलग विशेषताओ से पूर्ण होकर अस्तित्व मे आईं। साहित्य की भाषा का प्राचीनता-प्रेम प्रसिद्ध है। कथ्य भाषाओ को बहुत बाद मे साहित्यिक भाषा के रूप मे व्यवहृत होने का सौभाग्य प्राप्त होता है और ऐसा हो जाने पर भी भाषा के प्राचीन रूपो का सर्वथा परिहार उसमे नही होता। समस्त भारतीय वाङमय इस बात का प्रमाण है। अत., कथ्य भाषा के रूप मे अपभ्रंश की स्थिति न होने पर भी बहुत समय तक अपभ्रश मे साहित्य-रचना होती रही और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ की प्राचीन रचनाओ में भी अपभ्रंश-रूपो का व्यवहार होता रहा। परन्तु, बारहवी शती के आचार्य हेमचन्द्र का अपभ्रंश-व्याकरण लिखना यह सिद्ध कर देता है कि उनके समय तक अपभ्रंश साहित्यारुढ भाषा हो चुकी थी और कथ्यभाषा का स्वरूप इससे आगे के विकास की सीढ़ी की ओर अग्रसर हो चुका था। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' मे 'ग्राम्यापभ्रंश' का उल्लेख किया है। सम्भवत., इससे आचार्य का तात्पर्य तत्कालीन कथ्य भाषा से रहा हो। आधुनिक आर्यभाषाओ मे ईसा की १६वी शती से साहित्यिक रचनाएँ मिलने लगती है। भाषा का जो स्वरूप इन रचनाओ मे मिलता है, वह अपभ्रंश की विशेषताओ से मुक्त एव आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की विशेषताओ से युक्त है। परन्तु, भाषा के इस स्वरूप का साहित्य-रचना के लिए स्वीकृत होना प्रकट करता है कि भाषा का यह स्वरूप इन साहित्यिक रचनाओ के समय से बहुत पहले ही अस्तित्व मे आ चुका था और लोक मे प्रतिष्ठापित भी हो चुका था, नही तो जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, साहित्य मे इसको स्थान न मिला होता। इस दृष्टि से विचार करने पर आधुनिक आर्यभाषाओ के स्वरूप प्राप्त करने का समय इन रचनाओं से एक-दो शती पूर्व अनुमित किया जा सकता है। इस प्रकार, पन्द्रहवी शती तक भारतीय आर्यभाषा आधुनिक काल मे पदार्पण कर चुकी थी और आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् १३वी शती के प्रारम्भ से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के अभ्युदय के समय, १५वी शती के पूर्व तक का काल संक्रान्ति-काल था, जिसमे भारतीय आर्यभाषा धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओ से युक्त होती जा रही थी।

४७. (ख) संक्रान्तिकालीन भाषा के अध्ययन के लिए अभी तक बहुत कम सामग्री उपलब्ध हो सकी है और जिन थोड़ी-सी कृतियो मे इस काल की कथ्य भाषा के अध्ययन

की सामग्री मिलती भी है, उनपर साहित्यिक अपभ्रंश (शौरसेनी-अपभ्रंश) का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में अभिलक्षित होता है, जिससे उनको तत्कालीन अमिश्रित कथ्य भाषा की रचनाएँ नही कहा जा सकता, तब भी इन रचनाओ मे संक्रान्ति-काल की अस्थिरता की, प्राचीनता के साथ नवीनता की ओर उन्मुख होने के लक्षणों के दर्शन हो ही जाते हैं। भारतीय इतिहास के इस काल मे भी मध्यदेश के राजवंशों का प्रभुत्व समस्त उत्तरापथ में बना हुआ था। अतः, उनकी राजसभाओं मे आदृत मध्यदेशीय अपभ्रंश और शौरसेनी, अन्य प्रान्तों में भी संस्कृत-वर्ग की भाषा के रूप मे आदर पाती थीं और प्राच्यप्रदेशो एवं दक्षिण मे महाराष्ट्र की ओर भी इस काल मे, देशी भाषा में रचित साहित्य पर इस भाषा की पर्याप्त छाप पड़ती रही। इसलिए, इन रचनाओ मे भाषा के प्रान्तीय स्वरूप का पूरा विस्तार नही मिलता, केवल विशेष प्रवृत्तियों के ही दर्शन होते हैं।

४७. (ग) यथानिर्दिष्ट कृतियो में संक्रान्तिकालीन भाषा मिलती है: 'सन्देहयरासय' ('सन्देशरासक'), 'प्राकृतपैंगलम्'. 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह', 'उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्', 'वर्णरत्नाकर', 'कीर्त्तिलता', 'चर्यापद' तथा 'ज्ञानेश्वरी'। इनमें 'सन्देहयरासय' तथा 'प्राकृतपैंगलम्' एवं 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' के कुछ पद्यों मे उत्तर-पश्चिमी की, 'उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्' मे कोशल-प्रदेश (आधुनिक अवधी-क्षेत्र) की तथा 'प्राकृतपैंगलम्' के कुछ पद्यों, 'वर्णरत्नाकर', 'कीर्त्तिलता तथा 'चर्यापदो' में प्राच्यप्रदेश की और 'ज्ञानेश्वरी' में महाराष्ट्र-प्रदेश की संक्रान्तिकालीन भाषा की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा : सामान्य प्रवृत्तियाँ :

४८. ईसा की १५वीं शती तक भारतीय आर्यभाषा आधुनिक काल में पदार्पण कर चुकी थी। पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं मागधी-अपभ्रंश-भाषाओ ने क्रमशः आधुनिक सिन्धी, पंजाबी, हिन्दी (व्रजभाषा, खड़ीबोली इत्यादि), राजस्थानी, गुजराती, मराठी, पूर्वी हिन्दी (अवधी इत्यादि), बिहारी (मैथिली, मगही, भोजपुरी आदि), बँगला और उड़िया भाषाओं को जन्म दिया। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में परिवर्त्तन एवं ह्रास की जो क्रिया मध्यकाल के प्रारम्भ (लगभग ६०० ई० पूर्व) मे चल पड़ी थी, वह आधुनिक भाषाओ के रूप में पूर्ण हुई। प्रारम्भ से ही हम देखते आये हैं कि परिवर्त्तन की गति आर्यावर्त्त के पूर्वी भाग मे सर्वाधिक तीव्र रही है। इसके विपरीत, उत्तर-पश्चिमी प्रदेश मे परिवर्त्तन की गति बहुत शिथिल रही है और वहाँ भाषा का स्वरूप बहुत धीरे-धीरे बदला है। मध्यदेश में जहाँ नवीन परिवर्त्तनों को प्राश्रय मिला, वहाँ प्राचीन रूप भी भाषा में सुरक्षित रहे। यही तथ्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ में भी परिलक्षित होता है। सिन्धी-पंजाबी में आर्यभाषा का मध्यकालीन स्वरूप बहुत कुछ सुरक्षित है। परन्तु, प्राच्यभाषा बिहारी-बँगला में मध्यकालीन आर्यभाषा का स्वरूप बहुत परिवर्त्तित हो गया है, गुजराती प्राचीन व्याकरण को बहुत अपनाये हुए है और हिन्दी भी वर्णो के उच्चारण आदि मे संस्कृत से अधिक दूर नही है।

४९. (क) मध्यभारतीय आर्यभाषा के प्रारम्भकाल से ही प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान धुँधला होने लगा था, जिससे स्वरो के मात्राकाल मे अनेक परिवर्त्तन हुए। नवीन आर्य-भाषा की प्राचीन आर्यभाषा से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि व्युत्पत्ति के लोप हो जाने से नवीन आर्यभाषा मे स्वरो के मात्राकाल मे बहुत परिवर्त्तन हो गया है। बलात्मक स्वराघात के परिणामस्वरूप प्राय: नवीन भारतीय आर्यभाषाओ में स्वरो का लोप देखा जाता है। शब्द की उपधा मे बलात्मक स्वराघात होने पर अन्तिम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। यथा : कीरत् < कीर्त्ति; रास् > राशि। शब्द के आदि स्वर का लोप भी बलात्मक स्वराघात का परिणाम है। यथा . अभ्यन्तर > हि० 'भीतर': मराठी 'भीतरी'; अरघट्ट > हि० रहट (प्रा० अरहट्ट)।

४९. (ख) स्वरो एवं व्यंजनो के उच्चारण मे भी किन्ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे नवीनता लक्षित होती है। बँगला मे 'अ' लुण्ठित निम्न-मध्य-पश्च स्वर है। मराठी मे 'च्', 'ज्' का उच्चारण 'त्स्', 'द्ज्' हो गया है। पश्चिमी हिन्दी एव राजस्थानी मे 'ऐ', 'औ' अग्र एवं पश्च-निम्न-मध्य ध्वनियाँ है। आधुनिक आर्य-भाषाओं मे परिवर्त्तन की गति निम्नाकित रूप मे रही है .

४९ (ग) नासिक्य व्यंजन मे नासिक्य ध्वनि क्षीण होते-होते लुप्त हो गई और पूर्ववर्त्ती स्वर सानुनासिक हो गया। सिन्धी-पंजाबी इस परिवर्त्तन से भी प्राय मुक्त हैं; यथा : दन्त > दाँत (हिन्दी), पंजाबी 'दन्द', कण्टक > प्रा० कण्टअ > हि० काँटा (सिंधी 'कण्डो', पंजाबी 'कण्डा'), कम्प > हि० 'काँप' (सिन्धी-पंजाबी 'कम्ब')।

४९. (घ) प्राकृत के समीकृत संयुक्त व्यंजनो—'क्क', 'क्ख', 'ग्ग', 'ग्घ' इत्यादि में केवल एक व्यंजन-ध्वनि लेकर पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ करना पजाबी-सिन्धी के अतिरिक्त प्रायः सभी नवीन भारतीय आर्यभाषाओ मे दिखाई पडता है। यथा · कर्म > प्रा० 'कम्म' > हि० 'काम' (प० 'कम्म'); अद्य > प्रा० 'अज्ज' > हि० 'आज' (प० 'अज्ज'), अष्ट > प्रा० 'अट्ठ' > हि० 'आठ' (पं० अट्ठ)।

४९. (ङ) अग्रपश्चात् स्वर ध्वनियुक्त 'ड', 'ढ' अधिकांश नवीन भारतीय आर्य-भाषाओ मे लुण्ठित 'ड', 'ढ' अथवा कम्पित 'र्', 'र्ह्' मे परिणत हो गये है। यथा : दण्ड > प्रा० दंड > हि० 'दाँड़', 'डाँड' आदि।

४९. (च) पदान्त अथवा पदमध्यवर्त्ती 'इ' (ई) + अ एव 'उ' (ऊ) + 'अ' क्रमश: 'ई' तथा 'उ' (ऊ) मे परिणत हो गये हैं। यथा . घृत > प्रा० घिअ > आ० भा० 'घी', मृत्तिका > प्रा० मट्टिआ > आ० भा० माटी (हि० 'माटी'), वत्सरूप > प्रा० वच्छरूअ > भो० पु० बछरू, बँगला 'बाछुर', हि० 'बछडा'।

४९. (छ) ध्वनि-परिवर्त्तन के साथ-साथ आधुनिक आर्यभाषाओं मे लिग-परिवर्त्तन भी द्रष्टव्य है। संस्कृत, पालि तथा प्राकृत मे तीन लिग—पुंलिग, स्त्रीलिग तथा नपुंसक-लिग थे; किन्तु आधुनिक भाषाओं में पदान्त स्वरध्वनि मे विकार उत्पन्न हो जाने के

कारण केवल दो लिंग—पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रह गये। आधुनिक आर्यभाषाओं मे गुजराती एवं मराठी मे, आज भी नपुंसकलिंग का अस्तित्व कुछ-न-कुछ वर्त्तमान है। सिंहली में प्राणिवाची एवं अप्राणिवाची शब्दो को लेकर प्राणवान् एवं प्राणहीन दो ही लिंग है। अन्य आर्यभाषाओं में जहाँ दो ही लिंग--पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग मिलते हैं; वहाँ भी संस्कृत के पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग का अनुगमन नही किया गया है। ध्वनि-विपर्यय अथवा अज्ञान के फलस्वरूप सस्कृत के अनेक पुल्लिग एव नपुंसकलिंग शब्द आधुनिक भाषाओं मे स्त्रीलिंग मे परिवर्त्तित हो गये हैं। यथा :

सस्कृत	आधुनिक भाषा
पु० अग्नि	स्त्री०* अग्नि का, स्त्री० (आग, हि०), आगि (प्राचीन बँगला एवं भोजपुरी), अग्ग (पंजाबी)।
पु० इक्षु*, उक्षु	{ स्त्री० ईख, ऊख (हि०), ऊस (गुजराती)
	{ पु० ऊस (मराठी), इक्ख (पंजाबी)।
पु० देह	{ स्त्री० देह (हिन्दी, पंजाबी, गुजराती)
	{ पु० देह (मराठी)।
नपुं० दधि	{ स्त्री० दही (विहारी), ड्ही (सिन्धी),
	{ पु० दही (हिन्दी), दहीं (पंजाबी),
	{ नपुं० दहीं (मराठी, गुजराती)।

४९ (ज) पदान्त मे ध्वनि-परिवर्तन के परिणामस्वरूप शब्दरूपों के कतिपय चिह्न, जो अपभ्रंश मे शेष थे, उनका भी आधुनिक भाषाओ मे लोप हो गया। एक-दो छोड़कर संस्कृत की विभक्तियाँ भी लुप्त हो गईं। इसी प्रकार, कई कारकों का भी लोप हो गया और उनके अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए अनुसर्गो अथवा परसर्गो का प्रयोग होने लगा। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो आधुनिक भाषाओं मे केवल दो ही कारक रह गये है : १. कर्त्ता अथवा 'डाइरेक्ट' कारक, २. तिर्यक् अथवा 'ऑब्लिक' कारक। इनमें संस्कृत के, प्रथमा एव द्वितीया विभक्ति-युक्त पदप्रधान कारक (डाइरेक्ट) तथा षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति-युक्त पद-अप्रधान कारक तिर्यक् (ऑब्लिक) के अन्तर्गत आयेंगे। आधुनिक आर्यभाषाओ मे वस्तुतः अप्रधान (=तिर्यक् : ऑब्लिक) कारक में ही अनुसर्ग अथवा परसर्ग का प्रयोग होता है।

५०. (क) सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी को छोड़कर अन्य आधुनिक भाषाओं में कर्त्ताकारक के एकवचन तथा बहुवचन के रूप एक ही हो गये है, जिसका एक परिणाम यह हुआ कि इन भाषाओं मे बहुवचनवाचक शब्द अथवा षष्ठी विभक्ति से प्रसूत अनुसर्ग या परसर्ग के योग से बहुवचन के रूप बनाये जाते है। यथा : बँगला 'लोकेरा' < लोक-कार्य; उड़िया 'पुरुष-माने' < पुरुष-माणक; असमिया 'बीर' < बहुल; हँन्त < सन्त; मैथिली 'लोकनि', भोजपुरी 'लोगनि' < लोकानाम्; घोड़वन < घोटकानाम् इत्यादि।

५०. (ख) सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी मे कर्तृकारक बहुवचन के कई रूप आज भी उपलब्ध है। यथा :

	एकवचन	बहुवचन
सिन्धी :	'पिउ' (< पिता)	पिउर (< पितरः)
	'डेड' (< देशः)	डेह (< देशाः)
मराठी :	'माल' (< माला)	माला (< मालाः)
	'रात' (< रात्रिः)	राती (< रात्रयः)
	'सूत' (< सूत्रम्)	सूते (< सूत्राणि)
प० हिन्दी :	बात (< वार्त्ता)	बातई (< वार्त्ताः), बातें

५१. (क) पश्चिमी हिन्दी में अकारान्त सज्ञा के चार ऐसे रूप उपलब्ध हैं, जिनका प्राचीन कारक-रूपो से सम्बन्ध है। ये है . प्रथमा-एकवचन, तृतीया-बहुवचन, सप्तमी-एकवचन तथा षष्ठी-बहुवचन के रूप। इनमे तृतीया-बहुवचन का रूप तो कर्त्ता के बहुवचन मे प्रयुक्त होता है। आधुनिक हिन्दी के कर्त्ता के बहुवचन का रूप घोड़े' वस्तुतः संस्कृत के तृतीया-बहुवचन के रूप से निष्पन्न हुआ है। यथा : वै० स० घोटकेभि. = हिन्दी-कर्तृ बहुवचन : घोडहि' > घोड़े'।

५१. (ख) 'घोड़े' शब्द तिर्यक् अथवा अप्रधान कारको के एकवचन में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु इसकी निष्पत्ति सस्कृत के अधिकरण के एकवचन के रूप हुई है।

५१. (ग) इसी प्रकार, आधुनिक हिन्दी के तिर्यक् बहुवचन के रूप 'घोड़ों' की, उत्पत्ति संस्कृत के षष्ठी-बहुवचन के रूप ('घोटकानाम्') से हुई है। हिन्दी की ग्रामीण बोलियों मे 'घोड़न' अथवा 'घोड़ाँ' रूप भी मिलते है।

५१ (घ) व्यजनान्त शब्दो के रूप तो हिन्दी मे और भी सरल और अल्प मात्रा मे हो गये हैं। यथा : सं० प्रथमा एकव० 'पुत्रः' > हिन्दी 'पूत'; सं० प्र० वहुव० 'पुत्राः' > हिन्दी 'पूत'; सं० स० एकव० पुत्रे' > 'पूत'; सं० षष्ठी-एकव० 'पुत्राणाम्' > हिन्दी 'पूतो'।

भीतरी तथा बाहरी उपशाखा :

५२. सन् १८८० ई० मे, आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर डॉ० ए० एफ्० आर्० हॉर्नले ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि भारत मे आर्यो के कम-से-कम दो आक्रमण हुए। पूर्वागत आक्रमणकारी आर्य पंजाब में बस गये थे। इसके बाद आर्यों का दूसरा आक्रमण हुआ। मध्य-एशिया से चलकर आर्यों के इस दूसरे समूह ने काबुल नदी के मार्ग से गिलगित एवं चित्राल होते हुए मध्यदेश मे प्रवेश किया। मध्यदेश की सीमा उत्तर मे हिमालय, दक्षिण मे विन्ध्यपर्वत, पश्चिम मे सरहिन्द तथा पूरब मे गगा-यमुना के संगम तक थी। इस दूसरे आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि पूर्वागत आर्यों को तीन दिशाओं—पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम मे फैलने के लिए बाध्य होना

पड़ा। इन नवागत आर्यों ने ही वस्तुतः सरस्वती, यमुना तथा गंगा के तट पर यज्ञपरायण सस्कृति को पल्लवित किया। उन्हें मध्यदेश अथवा केन्द्र में होने के कारण 'केन्द्रीय' या 'भीतरी' (आभ्यन्तरीय) आर्य के नाम से अभिहित किया गया और चतुर्दिक् प्रथित पूर्वागत आर्यों को 'बाहरी' कहा गया।

डॉ० हॉर्नले के उपर्युक्त सिद्धान्त का डॉ० ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सम्बन्धी अन्वेषणों के आधार पर प्रथमतः 'लिंग्विस्टिक' सर्वे, भाग १, खण्ड १, पृ० ११६ में तथा बाद मे 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियेण्टल स्टडीज, लन्दन इंस्टिच्यूशन', भाग १, खण्ड ३, सन् १९३० ई० के पृ० ३२ मे समर्थन किया है। डॉ० ग्रियर्सन का दूसरा निबन्ध पहले की अपेक्षा विस्तृत और बडा है। इसमे उन्होने विविध आधुनिक भाषाओ से उदाहरण देकर अपने सिद्धान्त का समर्थन किया है। यद्यपि आर्यो के आक्रमण आदि के सम्बन्ध मे ग्रियर्सन का हॉर्नले से मौलिक मतभेद है, तथापि जहाँतक भीतरी और बाहरी भाषाओ से सम्बन्ध है, दोनो विद्वानों के मत एक है। डॉ० ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाग १, खण्ड १, पृ० १२० में आधुनिक आर्यभाषाओं का निम्नांकित रूप में वर्गीकरण किया है :

(क) बाहरी उपशाखा : प्रथम : उत्तरी-पश्चिमी समुदाय : १ लहँदा अथवा पश्चिमी पंजाबी, २. सिन्धी। द्वितीय : दक्षिणी समुदाय : ३. मराठी। तृतीय : पूर्वी समुदाय . ४. उड़िया, ५ बिहारी, ६. बँगला, ७. असमिया।

(ख) मध्य उपशाखा : चतुर्थ . बीच का समुदाय : ८. पूर्वी हिन्दी।

(ग) भीतरी उपशाखा : पंचम : केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय : ९. पश्चिमी हिन्दी, १०. पजाबी, ११. गुजराती, १२. भीली, १३. खानदेशी, १४. राजस्थानी। षष्ठ : पहाड़ी समुदाय : १५. पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली, १६. मध्य अथवा केन्द्रीय पहाड़ी, १७. पश्चिमी पहाड़ी।

५३. (क) वास्तव मे, मध्यदेश को ही दृष्टि मे रखकर ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्य-भाषाओ एवं बोलियो का विभाजन, दो मुख्य उपशाखाओ मे किया है। इनमे एक उपशाखा की भाषा उस वृत्त के चौथाई भाग मे प्रचलित है, जो पाकिस्तान से स्थित हजारा जिले से प्रारम्भ होकर पश्चिमी पजाब, सिन्ध, महाराष्ट्र, महाभारत, उड़ीसा, बिहार, बंगाल तथा असम-प्रदेश को स्पर्श किया है। गुजराती-भाषा को ग्रियर्सन ने केन्द्रीय अथवा भीतरी उपशाखा के अन्तर्गत ही रखा है; क्योंकि मध्यदेशस्थ माथुरों ने इस प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित किया था। इस प्रकार, भौगोलिक दृष्टि से बाहर होते हुए भी गुजरात भाषा की दृष्टि से भीतरी समूह के अन्तर्गत है।

५३. (ख) बाहरी तथा भीतरी उपशाखा-सम्बन्धी उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार डॉ० ग्रियर्सन की धारणा में प्रायः. इन दोनों वर्गों की भाषाओं में प्रचलित व्याकरण की भिन्नता है।

५४. (क) प्रख्यात भाषाविज्ञानी डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण की आलोचना अपनी पुस्तक 'दि ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बंगाली लैंग्वेज'

के परिशिष्ट 'ए' के पृ० १५० से १५९ तक मे की है। इस आलोचना के साथ डॉ० चाटुर्ज्या ने भाषाओ की विकास-परम्परा को ध्यान मे रखते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का वर्गीकरण निम्नांकित रूप मे किया है ·

(क) उदीच्य (उत्तरी) १ सिन्धी, २. लहँदा, ३. पूर्वी पंजावी। (ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) : ४. गुजराती, ५. राजस्थानी। (ग) मध्यदेशीय ६. पश्चिमी हिन्दी। (घ) प्राच्य पूर्वी . ७ (क) कोशली या पूर्वी हिन्दी (ख) मागधी-प्रसूत : ८. विहारी, ९ उड़िया, १०. वँगला. ११ असमिया। (ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) . १२. मराठी।

५४. डॉ० चाटुर्ज्या कश्मीर की कश्मीरी-भाषा की उत्पत्ति दरदीय भाषा से मानते है। इसी प्रकार, पहाड़ी भाषाओ—पूर्वी पहाड़ी (खसकुरा या नेपाली), मध्यपहाड़ी, (गढवाली और कुमाउँनी) तथा पश्चिमी पहाड़ी (चमयाली, मण्डयाली, कुल्लुई, किउँजली, सिरमौरी) आदि की उत्पत्ति वह खस अथवा दरदीय भाषा से मानते हैं। प्राकृत-युग मे राजस्थानी से ये पहाडी भाषाएँ अत्यधिक प्रभावित हुई है।

५५. डॉ० ग्रियर्सन का भारतीय भाषाओ के सम्वन्ध मे यह अन्तिम प्रलेख है, जिसमे उन्होंने वाहरी एव भीतरी उपशाखा की भाषाओ का वर्गीकरण एक नये प्रकार से किया है :

(क) मध्यदेश की भाषा : १. हिन्दी। (ख) मध्यवर्त्ती भाषाएँ : (अ) मध्यदेश की भाषा की निकटवर्त्ती तथा उससे सम्वद्ध : २. पजावी, ३. राजस्थानी, ४. गुजराती, ५. पूर्वी (खसकुरा या नेपाली), ६ मध्य पहाडी और ७. पश्चिमी पहाड़ी। (आ) अधिकाशत: वाहरी उपशाखा की भाषा से सम्वद्ध . ८. पूर्वी हिन्दी।

(ग) वाहरी उपशाखाएँ : (अ) उत्तरी-पश्चिमी समूह : ९ लहँदा, १० सिन्धी। (आ) दक्षिणी भाषाएँ . ११. मराठी, (इ) पूर्वी समूह · १२. विहारी, १३. उड़िया, १४. वँगला, १५. असमिया।

५६. इस प्रकार, इस वर्गीकरण में उन्होने सर्वप्रथम मध्यदेश की भाषा 'हिन्दी' को, तदनन्तर मध्यदेश की निकटवर्त्तिनी भाषाओ—पजावी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी तथा पश्चिमी पहाडी को रखा है। एतत्पश्चात्, 'पूर्वी हिन्दी' को वाहरी उपशाखा से सम्वद्ध वताया है। लहँदा, सिन्धी, मराठी तथा पूर्वी समूह की भाषाओ, विहारी, उडिया, वँगला, असमिया को भी इसके वाद मे रखा है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि डॉ० चाटुर्ज्या के वर्गीकरण के वाद भी ग्रियर्सन ने अनेक वर्गीकरण को स्वीकार नही किया, प्रत्युत वह अपने ही भीतरी एव वाहरी वर्गीकरण से ही सम्पृक्त रहे। एक अन्य तथ्य यह भी है कि डॉ० चाटुर्ज्या के वर्गीकरण मे भी प्राच्य अथवा पूर्वी भाषाएँ—कोशली, हिन्दी या अवधी तथा मागधी-प्रसूत विहारी, उड़िया, वँगला, असमिया आदि वाहरी वृत्त मे है। ग्रियर्सन ने अपने इस अन्यतम प्रलेख मे पूर्वी हिन्दी को विहार तथा पश्चिमी हिन्दी के वीच का माना है, किन्तु पूर्वी हिन्दी का झुकाव अधिकाशत. वाहरी उपशाखा की भाषा 'विहारी'

से माना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्राचीन प्राकृत-वैयाकरणों ने इसे 'अर्द्धमागधी' कहा, न कि 'अर्द्धशौरसेनी'। इस प्रकार, वे भी इससे सहमत रहे होंगे कि 'अर्द्धमागधी' का झुकाव अधिकांशतः 'मागधी' की ओर ही है, 'शौरसेनी' की ओर नहीं।

५७. **ग्रियर्सन** ने स्पष्टतः इस मत का प्रतिपादन किया है कि 'पूर्वी हिन्दी' 'हिन्दी' नही है; केवल 'पश्चिमी हिन्दी' को ही उन्होंने 'हिन्दी' स्वीकार किया है, जिसकी सीमा कानपुर तक है। ग्रियर्सन की धारणा मे इसका आधार वाक्यगत क्रियासाम्य है, न कि शब्दसमूह का साम्य, क्योंकि वाक्य मे क्रिया (आख्यात) ही साध्य होती है। अतएव, अबतक जो लोग 'पूर्वी हिन्दी' को भी 'पश्चिमी हिन्दी' के साथ 'हिन्दी' मानते रहे हैं, उन्हे **ग्रियर्सन** के इस वक्तव्य से थोड़ा धक्का लगेगा, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से **ग्रियर्सन** अपने-आपमें सही हैं और इस बात को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। ब्रिटेन की परिनिष्ठित अँगरेजी या ईटन, हैरो, ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज की भाषा भी जब संसार के लिए प्रमाणस्वरूप हो सकती है, तब सरहिन्द से कानपुर तक के विस्तृत क्षेत्र की भाषा को ही हिन्दी स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है? यहाँ एक बात और विचारणीय है कि आज हिन्दी के अन्तर्गत राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा बिहार की गणना की जाती है। प्राचीन काल मे इस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा 'ब्रजभाषा' थी, जो 'पश्चिमी हिन्दी' की एक प्रमुख भाषा रही है। आज भी इन क्षेत्रो के लोगों ने 'हिन्दी' को अपनी शिक्षा-दीक्षा की भाषा स्वीकार कर रखी है और यह स्वीकृति निरन्तर बनी रहेगी; क्योंकि 'हिन्दी' का इन क्षेत्रो की भाषाओं से कोई वैमनस्य नही है। आज बाहरी उपशाखा की बिहार-क्षेत्रीय भाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी, अंगिका और वज्जिका—मे साहित्य-रचना हो रही है। इसी प्रकार, छत्तीसगढ़ी को भी गद्यलेखन के लिए प्रयोग मे लाया जा रहा है। परन्तु, इन आंचलिक भाषाओ और 'हिन्दी' मे किसी प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता नही है, प्रत्युत अपने साहित्य द्वारा ये आंचलिक भाषाएँ भावप्रकाशन-हेतु हिन्दी को नये-नये शब्द दे रही है। वास्तव मे, 'हिन्दी' को विशाल भाषा बनाने के लिए इन आंचलिक भाषाओ के भावप्रवण शब्दो की आवश्यकता है ही।

५८. (क) इधर कुछ लोग हिन्दी का क्षेत्र बढाने की दृष्टि से बिहारी भाषाओं को हिन्दी-भाषा की उपभाषाएँ सिद्ध करने के प्रयत्न मे व्यस्त है। वास्तविक स्थिति यह है कि **ग्रियर्सन** ने अति परिश्रम और पूर्ण विचार के पश्चात् अपना वर्गीकरण किया था। प्रथमतः, **हॉर्नले** ने भोजपुरी को पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत रखा था। किन्तु, **ग्रियर्सन** के वर्गीकरण को उन्होने भी मान लिया और मैथिली, मगही एवं भोजपुरी को बिहारी के अन्तर्गत ही रखना उचित और समीचीन समझा। पुनः, अन्य किसी भाषाविज्ञानी ने इस वर्गीकरण में हस्तक्षेप करना उचित नही समझा।

५८. (ख) यहाँ ध्यातव्य है कि आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व बिहारी-भाषा के सम्बन्ध में **ग्रियर्सन** ने एक लेख लिखा था, जिसका उल्लेख **ग्रियर्सन** के जीवनचरित मे

भाषा-विग्गद के अन्तर्गत हो चुका है। उसे पाठको का ध्यानाकर्षण करने के लिए पुनः यहाँ दुहराया जा रहा है। ग्रियर्सन ने राजनीतिक दृष्टि से नही, अपितु शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित होकर सन् १८८० ई० के 'कलकत्ता रिव्यू' मे 'ए प्ली फॉर पीपुल टंग' शीर्षक लेख लिखा था। इस लेख मे ग्रियर्सन ने स्थानीय बोलियो का महत्त्व दिखलाया था। उनका कथन था कि हिन्दी न तो केवल बिहार-प्रान्त की भाषा है और न कभी भविष्य में हो सकती है। अतएव, सौविध्य की दृष्टि से यहाँ तीनो—मैथिली, मगही और भोजपुरी में किसी एक स्थानीय बोली को सरकारी न्यायालयो तथा स्कूली शिक्षा का माध्यम बना देना चाहिए। पुनश्च, इन तीनो बोलियों को 'पूर्वी हिन्दी या हिन्दुई' न कहकर 'बिहारी' नाम सेअ भिहित करना चाहिए।

५८. (ग) भारतीयों को एक विदेशी प्रशासक द्वारा भाषागत अनैक्य की बात उठाना रुचिकर न लगा। तत्कालीन विद्वत्समाज ने इसे शासको की राजनीतिक चाल समझी। अत., 'कलकत्ता रिव्यू' पत्रिका के भाषामंच से अनेक विद्वानो ने ग्रियर्सन के लेख पर विरोध प्रकट किया। बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी ने एक के बाद एक-दो लेख लिख डाले।... उन्होंने यह कहा कि शिक्षा और सभ्यता के विकास तथा प्रसार के साथ बिहार में प्रचलित विभिन्न बोलियो की निजी विशेषताएँ शनै-शनैः विलीन होकर हिन्दी के समीप आती जायेंगी।

डॉ० ग्रियर्सन ने बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी द्वारा प्रस्तुत तर्कों का बाँकीपुर से (२७ जुलाई को) 'कलकत्ता रिव्यू, १८८१ ई०' के माध्यम से 'हिन्दी तथा बिहारी भाषाओं' का तुलनात्मक रूप देकर खण्डन किया। उन्होंने कहा कि जैसे कैम्ब्रियन जमीन्दार किसी विदेशी से फ्रेंच मे वार्त्तालाप करेगा तथा अपने परिवार मे अँगरेजी-भाषा का उपयोग करेगा, वैसे ही बिहारी जमीन्दार परदेशीय से हिन्दी तथा अपने प्रान्तवासी से बिहारी बोली में बात करेगा। पुनश्च, जैसे हिन्दी की ठेठ अमिश्रित या गँवारी और खड़ी स्टैण्डर्ड अथवा परिनिष्ठित या नागरी-भाषा ज्ञानभेद के आधार पर दो रूपों मे मिलती है, वैसे ही बिहार का दुसाध-वर्ग ठेठ (स्थानीय) और उच्चतर वर्ग खड़ी बोली का उपयोग करता है। उनके अनुसार, विद्वद्वर्ग की यह सन्धारणा निराधार है कि शिक्षित वर्ग ने हिन्दी को साहित्यिक एवं राजनीतिक स्तर पर स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त डॉ० ग्रियर्सन ने यह भी स्पष्ट किया कि उर्दू और हिन्दी दोनो भाषाओ मे केवल शब्दकोश एवं लिपि का अन्तर है, परन्तु पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी (=भोजपुरी) मे उद्भव-स्थल, उच्चारण, व्याकरण, धातुरूप, क्रिया, कृदन्तरूप, वाक्यरचना आदि सभी दृष्टियो से पर्याप्त भेद है। ये दोनो कभी सामान्य भाषा के स्तर पर आ नही सकेंगी। इस सम्बन्ध मे हॉर्नले के व्याकरण का हवाला देते हुए उन्होने यहाँतक कह डाला कि जो कर्मचारी बिहार-प्रान्त के समस्त वर्ग के सामीप्य-सम्बन्ध का आकांक्षी है, उसे शासित तथा शासक के मध्य, हिन्दी साधक नही, बाधक प्रतीत होगी। फलतः, भारत का कोई भी हितैषी यह कभी नही चाहेगा।

५९ किन्तु, देश के प्रसिद्ध विद्वान् **बाबू श्यामाचरण गांगुली** ने सन् १८८२ ई० के 'कलकत्ता रिव्यू' में प्रकाशित 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी ऐण्ड दि बिहार डाइलेक्ट्स' शीर्षक लेख मे **बाबू राधिकाप्रसन्न मुखर्जी** के वक्तव्य की श्लाघा करते हुए डॉ० **ग्रियर्सन** की उर्दू-हिन्दी में अन्तर उत्पन्न करने तथा पूर्वी हिन्दी को बिहारी नाम देने पर भर्त्सना की। उन्होंने कहा कि भोजपुरी, मैथिली या मागधी (=मगही) तीनों मे कोई भी बोली न्यायालयो की भाषा स्वीकार नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि बिहारी बोलियो के अस्तित्व की घोषणा एवं स्थापना के अपराध मे **ग्रियर्सन** पर चारों ओर से प्रहार होने लगे। परिणामतः, उसी वर्ष के अगले अंक मे उन्होंने अपने कथन की पुष्टि मे एक लेख पुनः भेजा। इसी बार परिशिष्ट मे भी कतिपय बिहारियो के वक्तव्य संलग्न थे। उल्लिखित प्रहारो से अपनी रक्षा करने के निमित्त उन्होने जो तर्क प्रस्तुत किये, वे संक्षेप में इस प्रकार है :

१. 'बिहारी' नाम डॉ० **ग्रियर्सन** ने नही, अपितु 'इंगलिशमैन' पत्र के मनीषी सम्पादक ने सन् १८८१ ई० के वसन्त-अंक के सम्पादकीय मे सुझाया था। यही नाम **डॉ० हार्नले** ने पूर्वी-हिन्दी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त माना है। 'बिहारी' नाम किसी साहित्यिक बोली का नही, बल्कि उन बोलियों को दिया गया है, जो बिहार-प्रदेश में प्रचलित है तथा जिनमे स्थानभेद से जनसाधारण अपने भावों को शतियों से वाणी देता आ रहा है। उन्होने स्वीकार किया कि इनका सास्कृतिक पक्ष नगण्य है और कोई परिनिष्ठित रूप भी उपलब्ध नही है, फिर भी इनके स्थानीय अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

२. डॉ० हॉर्नले का हवाला देते हुए डॉ० **ग्रियर्सन** ने मैथिली को बँगला की उपभाषा मानने से भी इनकार किया। उक्त कथन के समर्थन में वह बेट के 'हिन्दी-कोश' का उल्लेख करना नही भूले है।

३. डॉ० **ग्रियर्सन** यह तो स्वीकार करते है कि बहुत-सी भाषाएँ देश के लिए घातक होती है, किन्तु इस कारण किसी देश मे प्रचलित बहुभाषाओं के अस्तित्व का निषेध भी तो नहीं किया जा सकता। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "कोई जाति या राष्ट्र संसद् के अधिनियम के सहारे भाषा नही बदल सकती। अतः, सर्वप्रथम बिहारी बोलियों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाय और जब पंजाबी, गुजराती, मराठी, सिन्धी आदि 'हिन्दुस्तानी' के अंग बन जायँ, तब यह देखा जाय कि अद्यावधि असफल हिन्दुस्तानी के पाँव बिहार मे जमे या नहीं। इस अवधि मे स्पष्ट हो जायगा कि न्यायालय, विद्यालय या सरकार की आत्मप्रवंचक नीति के बावजूद बिहारी बोलियाँ बनी हुई है और भविष्य में बनी रहेंगी।" उन्होने सीधे आक्षेप करते हुए **बाबू श्यामाचरण गांगुली** से जिज्ञासा प्रकट की, कि यदि वह हिन्दुस्तानी को 'इम्पीरियल लैंग्वेज ऑव इण्डिया' बनाकर भी प्रान्तीय भाषाओं को सर्वथा बहिष्कृत करने के पक्ष मे नही हैं, तो बेचारी 'बिहारी' भाषाओं ने ही क्या अपराध किया है?

६० (क) परिशिष्ट मे ग्रियर्सन ने सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों वर्गो से अपने वक्तव्य के पक्ष मे कतिपय अन्य नागरिको के मत भी उद्धृत किये है, जो संक्षेप मे इस प्रकार है :

(अ) २९ नवम्बर, १८८१ ई० के 'विहार हेरल्ड' मे किसी बिहार-निवासी ने 'उर्दू गाइड' मे **ग्रियर्सन** पर किये गये आक्षेपो का उत्तर देते हुए कहा कि सरकारी कामकाज की भाषा न तो उर्दू होनी चाहिए और न हिन्दी। क्योकि, दोनों भाषाएँ विहार की वर्त्तमान बोलियों की उपेक्षा करके चलेगी।

(आ) मुँगेर जिले के किसी शिक्षित जमीन्दार ने २१ फरवरी, १८८२ ई० के समाचार-पत्र मे लिखा कि प्रत्येक विहारवासी अपनी मातृभाषा मे बोलता है। वस्तुतः, तिरहुत, मगह, भोजपुर आदि समस्त प्रदेश भावाभिव्यक्ति के लिए स्थानीय बोली का व्यवहार करते हैं, जो उर्दू से नितान्त भिन्न है।

(इ) **ग्रियर्सन** द्वारा प्रस्तुत तीसरा उद्धरण शाहावाद के मैथिलीभाषी किसी सहायक मजिस्ट्रेट का था, जिसके अनुसार, चाहे वर्ग उच्च हो अथवा निम्न, वक्ता पुरुष हो अथवा स्त्री, प्रत्येक अपने प्रान्त की वोली, यानी भोजपुरी, तिरहुती या मगही मे वात करता है। बिहारी भाषाओ के समर्थको ने यह भी कहा कि वचपन से उर्दू-फारसी का निरन्तर अध्ययन करनेवाली कायस्थ जाति तक दैनिक व्यवहार में अपने परिवार, बन्धु-बान्धवो और भृत्यवर्ग के साथ मातृभाषा का उपयोग करती है। यही नही, विवाह आदि के निमन्त्रण भी अपवाद छोड़कर स्थानीय वोली मे छापे जाते है। अन्त मे, **ग्रियर्सन** ने तीन मागध पण्डितो से इस विपय मे जो प्रश्न किया, वह भी उल्लेखनीय है। इन पण्डितो से जव पूछा गया कि वे किस बोली मे पत्र-व्यवहार करते है, तव उत्तर मिला कि 'आगे हम सभनी मगही बोली मे आपुस मे चिट्ठी लिखहि और हिन्दी कबहीं केहू ना लिखि।' इस प्रकार, उन्होने सरकारी पदाधिकारी, जमीन्दार और अँगरेजी-भाषा न जाननेवाले अनेक बिहारियों के कथनाश द्वारा सिद्ध कर दिया कि व्यक्तिगत क्षेत्र में सदा बिहार की ही किसी-न-किसी बोली का उपयोग किया जाता है।

६१. **ग्रियर्सन** ने आज से सौ वर्ष पूर्व बिहारी-भाषाओ को विहार मे प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था तथा विहार की भाषाओ मे किसी एक भाषा को प्रशासन की भाषा बनाने की वकालत की थी। **ग्रियर्सन** के निधन के वयालीस से भी अधिक वर्ष व्यतीत हो गये। तब से बिहार की भाषाओं के सम्बन्ध मे जो घटनाएँ घटित हुईं, उनका लेखा-जोखा लेना आवश्यक है।

६२. (क) **ग्रियर्सन** का यह स्वप्न कि विहार की कोई एक वोली प्रशासन के लिए स्वीकृत हो जायगी, पूरा नहीं हुआ, किन्तु उनकी यह भविष्यवाणी कि विहार की भाषा न तो उर्दू है और न हिन्दी और बिहार मे हिन्दी की जड कभी नही जम पायगी, यह सर्वथा सत्य सिद्ध हुई। यों तो, शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के साथ अनेक माध्यमिक

विद्यालय बिहार मे खोले गये और लोगो ने उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप मे हिन्दी को ग्रहण किया, किन्तु अँगरेजी तथा हिन्दी मे उच्चशिक्षा-प्राप्त व्यक्ति भी अपने घरों मे केवल स्थानीय बोलियों—मैथिली, मगही, भोजपुरी आदि मे बाते करते है। बिहारी-भाषा बोलनेवाले प्रायः परस्पर वार्त्तालाप मे अपनी मातृभाषाओ के द्वारा ही अपने भावों का प्रकाशन करते है, किन्तु जब उनके सामने कोई अन्य बोली बोलनेवाला उपस्थित होता है, तब उससे हिन्दी में बातें करते हैं।

६२. (ख) इधर **महात्मा गान्धी** के असहयोग-आन्दोलन के कारण बिहारी बोलियों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिश-सरकार के विरुद्ध जो सभाएँ होती थीं, उनमें नेता बड़ी सबल लोकभाषा मे भाषण देते थे। जब भारत का नवीन सविधान स्वीकृत हुआ, तथा लोकसभा तथा विधानसभा का चुनाव होने लगा, तब से, बिहार में, चुनाव-अभियान के लिए प्रायः आंचलिक भाषाओ का उपयोग किया गया। इधर जब से बिहार-सरकार की ओर से मैथिली, भोजपुरी तथा मगही-भाषाओ की अकादमियाँ स्थापित हुईं, तब से दृश्य बिलकुल बदल गया। अब मैथिली, भोजपुरी तथा मगही के संवर्द्धन के लिए पुस्तकों का प्रकाशन होने लगा। पहले मैथिली का क्षेत्र बहुत विस्तृत था, किन्तु इधर दो नवीन भाषाएँ प्रादुर्भूत हो गईं। इनमें एक है 'अंगिका' तथा दूसरी है 'वज्जिका'। इन दोनों बोलियो ने अपना अलग क्षेत्र निर्धारित कर लिया है तथा इनमे साहित्य-रचना भी होने लगी है।

६२. (ग) यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बिहार मे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति लोगो का पर्याप्त प्रेम है, किन्तु अपनी **मातृभाषा के प्रति अतिशय प्रेम** है। इधर तीस वर्षों से भोजपुरी में अनेक मासिक तथा पाक्षिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही है। इसके साथ ही साहित्य की विविध विधाओ—कहानी, उपन्यास, निबन्ध, कविता, खण्डकाव्य तथा महाकाव्यो की रचना भी होने लगी है। लोग खुलकर साहित्य-रचना के लिए अपनी मातृभाषाओं का प्रयोग करने लगे है। उन्हे इस बात का पता नही है कि आज से सौ वर्ष पूर्व **ग्रियर्सन** ने इन बोलियों को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु आज की भाषिक स्थिति ऐसी है कि स्वयं इन बोलियों की प्रतिष्ठापना हो रही है।

६३. अब यहाँ पूर्वी उत्तरप्रदेश के विश्वविद्यालयो की भाषिक स्थिति पर विचार किया जाता है। इनमे वरीयता की दृष्टि से इलाहाबाद तथा लखनऊ-विश्वविद्यालय आते हैं। इसके बाद काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी-विद्यापीठ एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय तथा गोरखपुर-विश्वविद्यालय भोजपुरी-क्षेत्र में आते है। इनमे छात्र परस्पर वार्त्तालाप मे आंचलिक भाषा का प्रयोग करते है। इलाहाबाद मे अवधी-क्षेत्र के छात्र अवधी का तथा अन्य क्षेत्रों के छात्र अपनी-अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। यही हाल कुछ-कुछ लखनऊ तथा अवध-विश्वविद्यालय का भी है। पहले इलाहाबाद के छात्र अँगरेजी में या हिन्दी में अपने भाव प्रकट करते थे, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद वे अपनी मातृभाषाओं का प्रयोग करने लगे हैं।

बिहार की भाषिक स्थिति :

६४. उत्तरी-पूर्वी प्रदेश की भाषिक स्थिति पर विचार करने के पश्चात् अब यहाँ बिहार की भाषिक स्थिति पर पुनर्विचार किया जाता है। ग्रियर्सन ने यह आशा प्रकट की थी कि बिहार की कोई एक बोली यहाँ की प्रशासनिक भाषा हो जायगी, किन्तु यह आशा दुराशा मे परिणत हो चुकी है। मैथिली एवं मगही की व्याकरणिक जटिलताएँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ की तीसरी बोली भोजपुरी का व्याकरण सरल एव सुबोध है। इस प्रकार, सुझाव के रूप मे भोजपुरी को प्रशासनिक भाषा बनाना उपयुक्त होता, किन्तु कोई भाषा सरल होने से ही बहुसंख्य लोगो द्वारा स्वीकार्य नही हो सकती। मैथिली मे चौदहवी-पन्द्रहवी शती से गद्य-रचना हो रही है। आज भी मैथिल विद्वान् मैथिली मे, गद्य-पद्य की रचनाओ मे सलग्न है। ऐसी स्थिति में भोजपुरी बिहार की प्रशासनिक भाषा कैसे हो सकेगी ? इधर भोजपुरी में अत्यधिक मात्रा मे लिखा जा रहा है। यही नहीं, साहित्य की विविध विधाओं पर साहित्य-सर्जन का कार्य मनोयोगपूर्वक हो रहा है, किन्तु उसपर प्राचीनता की मुहर नही है। मगही में तो गद्यलेखन का कार्य और भी नया है। ऐसी स्थिति मे, बिहार मे किसी एक भाषा के प्रशासनिक भाषा बनने का प्रश्न ही नही उठता और बिहार मे प्रशासन की भाषा हिन्दी ही रखना उचित तथा समीचीन होगा।

६५. दूसरा विकल्प यह है, मैथिली, मगही और भोजपुरी तीनों को प्रशासन मे स्वीकार किया जाय, तथा अपने-अपने क्षेत्र में इनका प्रयोग किया जाय। तब मैथिली के अन्तर्गत अंगिका' और 'वज्जिका' का प्रश्न उठेगा। पुनश्च, इसके साथ ही यह भी कठिनाई सामने आयगी कि क्या इन दोनों क्षेत्रो के लोग **'श्रोत्रिय मानक मैथिली'** को अपनी भाषा स्वीकार कर लेंगे ? अथच, अपने क्षेत्र मे इसका प्रचार एवं प्रसार करेंगे ? इस सम्बन्ध मे भी निश्चितरूपेण कुछ नही कहा जा सकता; क्योंकि इसका सम्बन्ध वहाँ की जनता से है और भाषाविज्ञानी या कोई लोकसभा अथवा विधानसभा का सदस्य भाषा के सम्बन्ध में किसी को मजबूर नही कर सकता। तब यह स्थिति होगी कि 'अंगिका' और 'वज्जिका' के क्षेत्र मे भी क्षेत्रीय भाषाओ का प्रयोग करना पडेगा, जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है कि "किसी देश के लिए बहुत-सी भाषाओं का प्रचलन घातक है, किन्तु जहाँ बहुत-सी भाषाएँ प्रचलित हैं, उनकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? तब, इसका विकल्प क्या है ? मेरी सम्मति मे ऐसी स्थिति मे हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे यथास्थिति मे रखना ही श्रेयस्कर होगा। लेकिन, बिहार मे राष्ट्रभाषा को सही रूप मे लोगो को सिखाना होगा। यह कार्य एक ओर राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा दूसरी ओर इन बिहारी—मैथिली, मगही और भोजपुरी—भाषाओं के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा। पुनश्च, प्रशिक्षण-विद्यालयो मे विभिन्न क्षेत्रों मे अध्यापको को यह प्रशिक्षण देना होगा कि वह हिन्दी-भाषा को किस रूप मे पढायें। बिहारी-भाषाभाषियो को विशेष रूप से 'ने', कर्त्तरि', 'कर्मणि' तथा 'भावे' के रूप का बोध कराना होगा। इसके साथ ही विशेषतः लिंगानुशासन का विशेष रूप से अध्ययन कराना होगा; क्योकि बिहारी-भाषाओं मे

इसके प्रयोग के विषय में अत्यन्त शिथिलता है। इस प्रकार, ये प्रशिक्षित अध्यापक छात्रों को प्रशिक्षित करने में सहायता कर सकेंगे और तब शुद्ध हिन्दी का प्रयोग यहाँ भी होने लगेगा। यह कार्य अत्यन्त धैर्य के साथ करना होगा; क्योंकि अभी बिहार में हिन्दी-शिक्षण मातृभाषा के रूप में हो रहा है, जबकि उसे राष्ट्रभाषा के रूप में करने की आवश्यकता है।

बिहारी-भाषाओं की उत्पत्ति :

६६. (क) बिहारी-भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यद्यपि आज से सौ वर्ष पूर्व **डॉ० ग्रियर्सन** यह लिख चुके है कि इसकी उत्पत्ति 'मागधी' से हुई है। वस्तुतः, इन भाषाओं की उत्पत्ति पश्चिमी मागधी से हुई है। इसी बात को **डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या** ने भी स्वीकार किया है, किन्तु बीच-बीच में इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में, पूर्ण तथ्य ज्ञात न होने से, सन्देह व्यक्त किया जाता रहा है। 'भोजपुरी-पत्रिका' मे इधर कई लेख भी प्रकाशित हुए हैं, जिसमें पश्चिमी मागधी से भोजपुरी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्टतः सन्देह व्यक्त किया गया है। इसमें एक ओर तो कतिपय मैथिली विद्वान् है, जो भोजपुरी को पूर्वी हिन्दी से सम्बद्ध बताकर बिहारी के क्षेत्र से इसका बहिष्कार कर देना चाहते है; दूसरी ओर कतिपय स्वयं भोजपुरी विद्वान् हैं, जो भोजपुरी की उत्पत्ति 'अर्द्धमागधी' से सिद्ध करना चाहते है तथा स्वयं बिहारी-क्षेत्र से भोजपुरी को पृथक् करने के पक्षधर है। ये विद्वान् इस हीनभावना से ग्रस्त है कि 'मागधी-अपभ्रंश' से भोजपुरी का सम्बन्ध जोड़ना नितान्त लज्जाजनक है; क्योंकि 'मागधी-प्राकृत' का प्रयोग संस्कृत-नाटकों में निकृष्ट पात्रों द्वारा निरन्तर होता रहा है और शिष्ट रूप मे मागधी-क्षेत्र में भी शौरसेनी का ही प्रयोग होता रहा है। सच बात तो यह है कि शौरसेनी-प्राकृत तथा शौरसेनी-अपभ्रंश किसी युग मे पंजाब से बंगाल तक प्रचलित थीं। इसके अतिरिक्त, दक्षिण के राजपूत-दरबारो में भी शौरसेनी-कवियों की प्रतिष्ठा रही है। छठी शती का 'प्राकृतपैंगलम्' बंगाल मे ही लिखा गया, किन्तु इसके अधिकाश पद शौरसेनी में हैं। 'दोहाकोश' की भाषा अवश्यमेव मागधी है, किन्तु वह भी शौरसेनी के प्रभाव से अछूती नही है। अभी तक बगाल मे 'ध्रुपद' ब्रजभाषा में गाई जाती है। परन्तु, विद्वानो को यह भी सोचना चाहिए कि एक युग में मागधी का प्रभाव शौरसेनी से कम नहीं था। अशोक के सभी अभिलेख सम्भवतः पहले मागधी मे ही, पाटलिपुत्र मे लिखे गये थे और बाद मे इनका अनुवाद उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम की भाषा मे हुआ था। **हेनरिख् लूडर** तथा **सिल्वाँ लेवी** का स्पष्ट मत है कि मूल त्रिपिटक का एक रूप मागधी मे उपलब्ध था, जिसे मध्यदेश की भाषा में परिवर्त्तित किया गया। 'पालि' में मागधी के अनेक शब्द आज भी प्राप्त है।

६६. (ख) अशोक के 'भाब्रू'-अभिलेख से स्पष्टतः विदित है कि उसने त्रिपिटक का अध्ययन मागधीवाले रूप से ही किया था। इस प्रकार, यह एक ऐसा युग था, जब मागधी मौर्य-साम्राज्य की भाषा थी और उत्तर-पश्चिम तक इसका प्रचार-प्रसार था। कालान्तर

में, शौरसेनी द्वारा यह अपदस्थ हुई, परन्तु अब भी इसका प्रसार बिहार, बंगाल, असम, उडीसा तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश मे है। इसके अन्तर्गत ही प्रख्यात वाराणसी नगर है और उधर गोरखपुर-सम्भाग के अधिकांश जनपदो मे इसका प्रचार-प्रसार है। अतएव, इसमें लज्जा और हीनभावना का कोई प्रश्न ही नही है। परन्तु, जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है कि बिहारी-भाषाओं की उत्पत्ति मागधी से होने पर भी यहाँ लोग पश्चिमाभिमुखी है। ब्राह्मण, कायस्थ, वैश्य, विशेषत. अग्रवाल तथा खत्री जातियाँ पश्चिम से आई है, अतएव भाषा के लिए भी 'पछाँह की ओर देखना' स्वाभाविक हो गया है। किन्तु, तथ्य सर्वथा इसके विपरीत है और इसमे किंचिदपि सन्देह नहीं है कि मैथिली, मगही एवं भोजपुरी की उत्पत्ति मागधी-अपभ्रंश से ही हुई है।

६६. (ग) एक तथ्य और उल्लेख्य है कि वास्तव मे अर्द्धमागधी पर भी मागधी का ही प्रभाव अधिक है, शौरसेनी का नही। पुनश्च, प्राचीन संस्कृत एवं प्राकृत के वैयाकरणो की सत्यनिष्ठा को यह श्रेय है कि उन्होने इसे 'अर्द्धमागधी' कहा, 'अर्द्धशौरसेनी' नही। अतः, अन्तिम रूप से यह स्वीकार कर लेना समीचीन होगा कि बिहारी की उत्पत्ति मागधी से हुई है, अर्द्धमागधी या शौरसेनी-अपभ्रंश से नही। यहाँ डॉ० ग्रियर्सन तथा डॉ० चाटुर्ज्या का मत प्रमाणस्वरूप है और अभी तक इन दोनो भाषाविज्ञानियो के समान कोई ऐसा भाषाविज्ञानी नही हुआ, जो इस तथ्य का सतर्क खण्डन कर सके।

६७. यहाँ संक्षेप मे उन तथ्यो का उल्लेख होगा, जो उत्तरी भारत की भाषिक स्थिति पर पूर्णत: प्रकाश डालनेवाले हैं। वास्तव में, पश्चिमोत्तर से बिहार तक की भाषा के निम्नांकित वर्ग बनते हैं :

'क' वर्ग : १. पंजाबी, २. हिन्दुस्तानी, ३. बाँगरू।

'ख' वर्ग : १. ब्रजभाषा, २ कन्नौजी, ३. बुन्देली।

'ग' वर्ग : १. अवधी, २. बघेली, ३. छत्तीसगढ़ी।

'घ' वर्ग : १ मैथिली, २. मगही, ३. भोजपुरी।

ऊपर के वर्ग उच्चारण, व्याकरणिक संरचना (सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, परसर्ग और क्रियापद) एवं साम्य के आधार पर निर्धारित किये गये है, जो इस लेख के अन्त मे विवेचित हैं। यहाँ प्रत्येक वर्ग के सम्बन्ध में, अति सक्षेप मे विचार किया जाता है।

६८. सर्वप्रथम 'क' वर्ग की भाषाओ को लें। पंजाबी (यहाँ पूर्वी पजाबी से तात्पर्य है), हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के व्याकरण की संरचना बहुत कुछ समान है। यहाँ पंजाबी को पूर्वी पंजाबी कहकर इसलिए अभिहित किया गया है कि पश्चिमी पंजाबी लहँदा (लँहाडा दी बोली) है। यह बाहरी वृत्त की भाषा है और वास्तविक पजाबी यही है। पूर्वी पंजाबी भीतरी वृत्त की भाषा है और इसके व्याकरण का ढाँचा हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के समान है।

६९. (क) पंजाबी, हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के एकवचन कर्त्ता तथा तिर्यक् के रूप मुण्डा-मुण्डे, घोड़ा-घोड़े तथा छोरा-छोरे हैं। केवल पजाबी मे 'घोड़े का' के स्थान पर

'घोड़े दा' या 'मुण्डे दा', 'छारे दा' रूप हो जाते हैं। 'ने' तथा 'नै' परसर्ग का प्रयोग तीनों मे होता है। यह वास्तव में, पश्चिमी हिन्दी की एक विशेषता है। यहाँ पंजाबी तथा बाँगरू में 'ने' या 'नैं' परसर्ग का अतिरेक है। यथा : **मैं-ने जाना है: मैं-ने खाना या खाणा है।** पंजाबी, हिन्दोस्तानी तथा बाँगरू के अन्य परसर्ग भी प्रायः समान हैं।

६९. (ख) पंजाबी में वस्तुतः अनुतान या टोन है, जिसका हिन्दुस्तानी तथा बाँगरू मे अभाव है। यथा : घोड़ा > कोडा, भाई > पाई।

७०. (क) तीनों के सर्वनाम भी प्रायः समान हैं। वर्त्तमान, भूत तथा भविष्यत् कालों के रूप भी समान है। भविष्यत् के रूपों में '–गा' का प्रयोग अनुलक्षणीय है।

७०. (ख) व्युत्पत्ति की दृष्टि से **पूर्वी पंजाबी का सम्बन्ध टक्क-अपभ्रंश** से है, किन्तु इसपर शौरसेनी का भी प्रभाव है।

७१. शेष दो भाषाएँ—**हिन्दुस्तानी** तथा **बाँगरू** की उत्पत्ति **शौरसेनी-अपभ्रंश** से हुई है। हिन्दोस्तानी, जिसे ग्रियर्सन ने 'वर्नाक्युलर हिन्दोस्तानी' कहा है, पश्चिमी रुहेलखण्ड तथा दोआब की जनभाषा है। यह वर्त्तमान उच्च हिन्दी तथा उच्च उर्दू का मूल है।

७२. 'ख' वर्ग की भाषा के अन्तर्गत ब्रजभाखा, कन्नौजी तथा बुन्देली या बुन्देलखण्डी का समावेश है। इस वर्ग की भाषाओं में ब्रजभाखा प्रमुख है। यह शौरसेनी-अपभ्रंश की पुत्री है और कृष्ण की लीलाभूमि ब्रजमण्डल की भाषा है। इसका केन्द्र मथुरा है। किन्तु, ब्रजभाखा का विस्तार आगरा, धौलपुर, भरतपुर अलीगढ, ग्वालियर आदि तक है। साहित्य मे खड़ीबोली हिन्दोस्तानी के प्रवेश के पूर्व ब्रजभाखा का अत्यधिक महत्त्व था। सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियो के अतिरिक्त यह उत्तरी भारत की काव्यभाषा थी। बिहार के मैथिली, मगही, भोजपुरी-क्षेत्र के कवि भी कविता के लिए इसका प्रयोग करते थे। प्राचीन ग्रन्थों की टीका के लिए इसमे गद्य का प्रयोग हो चला था, किन्तु सम्प्रति, खड़ीबोली ने इसका स्थान ले लिया है।

ब्रजभाखा, कन्नौजी तथा बुन्देली के कर्त्ताकारक के एकवचन तथा तिर्यक् मे **घोड़ा, घोड़े** रूप मिलते हैं। इसमे कहीं-कही **घोड़ो** या **घोड़ौ** रूप भी प्रयुक्त हुए है। वास्तविक स्थिति यह है कि बुन्देली में **घोड़ो** रूप का ही प्रयोग होता है।

'ने' परसर्ग तीनों भाषाओं में वर्त्तमान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पश्चिमी हिन्दी की सभी बोलियों में इसका प्रयोग मिलता है। इन तीनों बोलियो में अन्य सर्वनाम भी किंचित् परिवर्त्तित रूप में मिलते हैं।

वर्त्तमान काल उत्तमपुरुष मे ब्रजभाखा, कन्नौजी तथा बुन्देली मे **हौं, हूँ, हो** रूप मिलते है। किन्तु, अन्यपुरुष भूतकाल मे **हतो, हती** का प्रयोग होता है। ब्रजभाखा मे '–ह–' भविष्यत् का ही प्रयोग होता है। यथा : चलिहौं, चलिहै। इसकी उत्पत्ति संस्कृत **'चलिष्यति'** से हुई है। कालान्तर मे, '–ष्य–', '–ह–' में परिवर्त्तित हो गया है। कन्नौजी में '–ह–' भविष्यत् का रूप प्रयुक्त होता है। किन्तु, कहीं-कहीं '–ग–' भविष्यत्

का रूप भी उपलब्ध हो जाता है। बुन्देली में '–ह–' भविष्यत् के रूप का अभाव है और सर्वत्र '–ग–' भविष्यत् ही मिलता है।

व्रजभाखा, कन्नौजी तथा बुन्देलखण्डी, तीनो शौरसेनी-अपभ्रंश से प्रसूत है। यहाँ की भूमि तथा भाषा वैदिक युग से पवित्र मानी गई है। यह आर्य-सभ्यता का केन्द्र-स्थल है।

७३ तीसरे 'ग' वर्ग की भाषाओ मे अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढी का नामोल्लेख है। इनमे अवधी का क्षेत्र फैजाबाद तथा लखनऊ-कमिश्नरियाँ है और इसके अन्तर्गत फैजाबाद, गोडा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ, लखनऊ, रायबरेली, सीतापुर तथा लखीमपुर-खीरी-सम्भाग आते है। हरदोई का सम्भाग कन्नौजी के क्षेत्र में है। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद, फतेहपुर और यमुना के इस पार तथा मीरजापुर के कुछ भाग मे भी अवधी-भाषी है।

अवधी की उत्पत्ति अर्द्धमागधी-अपभ्रंश से हुई है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे पश्चिमी हिन्दी के ने परसर्ग का प्रयोग नही होता। इसमे मैं का भी प्राय. अभाव है और कर्त्ताकारक एकवचन का रूप **हम** मिलता है।

क्रियारूप मे **बाटे**, स्त्रीलिंग **बाटी** तथा **हौ**, **ह्वौं** आदि का प्रयोग होता है, जो मागधी-अपभ्रंश से आया है। मध्यमपुरुष, एकवचन के रूप यहाँ **देखब**, **सुनब**, **खाब** आदि होते है, किन्तु अन्यपुरुष मे –ह– भविष्यत् के रूप, यथा मारिहै, जइहै आदि शौरसेनी-अपभ्रंश से आये है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बिहारी-भाषाओं – मैथिली, मगही, भोजपुरी—में –ब– भविष्यत् का रूप ही उत्तमपुरुष तथा मध्यमपुरुष मे व्यवहृत होता है। किन्तु, अन्यपुरुष मे '–ह–' भविष्यत् के रूप, जैसे **मारिहैं**, **देखिहैं** आदि शौरसेनी से आ गये हैं। ऐसा प्राय: होता है कि कभी-कभी पडोसी भाषाओ के रूप भी ग्रहण कर लिये जाते है।

व्रजभाखा की तरह अवधी भी साहित्य-सम्पन्न भाषा है। इसमें **मंझन**, **कुतुबन**, जायसी जैसे सूफी-कवियो ने कविता की है। **गोस्वामी तुलसीदास** ने अपना प्रसिद्ध 'रामचरितमानस' इसी मे प्रणयन किया है। अवधी-कवियो की लम्बी परम्परा है और इसमें आज भी काव्य-रचना हो रही है।

वास्तव मे, **अवधी**, **बघेली** तथा **छत्तीसगढ़ी** का क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी तथा बिहारी के बीच है। यही अर्द्धमागधी-अपभ्रंश का क्षेत्र है। बुद्ध के समय, यह 'कोशल' के नाम से प्रसिद्ध था। छत्तीसगढ-क्षेत्र को प्राचीन संस्कृत-साहित्य मे दक्षिण कोशल कहा गया है। अवधी का मुख्य नगर अयोध्या है, जिसे बाद मे 'अवध' कहा गया।

अवधी के भी दो रूप, पश्चिमी तथा पूर्वी, मिलते है। पश्चिमी अवधी पर पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव है, किन्तु पूर्वी अवधी, बिहारी से प्रभावित है। दोनो पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत है, जिसकी उत्पत्ति अर्द्धमागधी-अपभ्रंश से हुई है।

७४. अब यहाँ 'घ' वर्ग की भाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी- के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। यहाँ यह विचारणीय है कि विहार की भाषाओं—मैथिली, मगही तथा भोजपुरी—से हिन्दी का क्या साम्य तथा वैषम्य है और अर्द्धमागधी-अपभ्रंश से प्रसूत पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढी की बिहारी से किस रूप में समता तथा भिन्नता है। इस विषय पर मैं सन् १९५३ ई० मे 'विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'भोजपुरी-भाषा और साहित्य' मे पृ० १०२ से २२७ तक मे विचार कर चुका हूँ। उसे यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक होगा। विद्वानों को बिहारी-भाषा के सम्बन्ध मे कोई लेख लिखते समय उसका अवश्य अवलोकन करना चाहिए। प्रमाणस्वरूप, केवल हिन्दी-साहित्य के विशेषज्ञों का नही, अपितु हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के भाषा-पण्डितों के मत का उल्लेख करना चाहिए और पुष्कल मात्रा मे तथ्य देकर अपने मन्तव्य को सिद्ध करना चाहिए। केवल कतिपय रूढ धारणाओं के आधार पर भाषाविषयक लेख नहीं लिखा जा सकता।

यहाँ मैं, अति संक्षेप में अपना विचार प्रकट कर रहा हूँ। भोजपुरी, मैथिली और मगही की भाँति ही मागधी अपभ्रंश से प्रसूत है। मागधी-अपभ्रंश का मुख्य लक्ष्य यह है कि इसके अतीत काल में –इल्ल, –उल्ल प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। यथा : गइल, भइल। बनारसी : गयल, भयल। मैथिली : गेल, भेल (विद्यापति)। बँगला : गेलो, भेलो आदि।

एक ओर बिहारी—मैथिली, मगही, भोजपुरी—के उच्चारण, परसर्ग, कृदन्तीय रूपो और क्रियार्थक संज्ञाओ मे परस्पर समानता है, तो दूसरी ओर पूर्वी हिन्दी से इन्ही व्याकरणिक रूपो मे बहुत अन्तर है। भोजपुरी में केवल अन्यपुरुष, भविष्यत्काल में –'ह'– भविष्यत् के रूप का प्रयोग होता है, जो पूर्वी हिन्दी से होते हुए शौरसेनी से आया है। इसके अन्य रूप –'ब'– भविष्यत् के है। केवल एक उदाहरण के बल पर भोजपुरी और अर्द्धमागधी से प्रसूत पूर्वी हिन्दी से इसका सम्बन्ध नही जोड़ा जा सकता।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इलाहाबाद की पूर्वी अवधी मे 'अस्तिवाचक' क्रिया के लिए बाद् (बाटेउँ) का प्रयोग मिलता है, जो मागधी-अपभ्रंश से प्रसूत भोजपुरी से अवधी मे आया है। इसका मूल 'वर्त्तते' (सं०) है। 'ट'-वाले रूप पूर्वी अपभ्रंश (मागधी) से आये हैं। यथा :
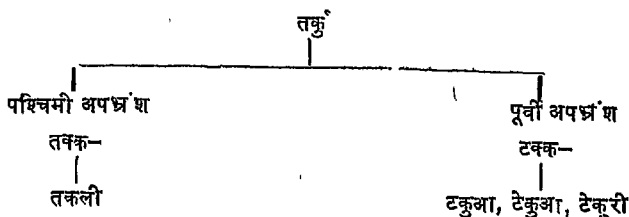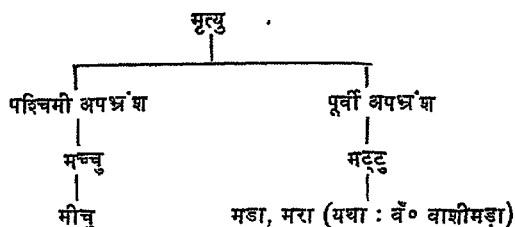
उपसंहार :

७५. बिहारी भाषाओं—मैथिली, अंगिका, वज्जिका, मगही तथा भोजपुरी की उत्पत्ति पश्चिमी मागधी से हुई है। ये पाँचों बिहारी-भाषाएँ परस्पर बोधगम्य हैं। उत्पत्ति की दृष्टि से भोजपुरी का सम्बन्ध पूर्वी हिन्दी से नहीं है, जो अर्द्धमागधी-अपभ्रंश से उत्पन्न है और इसका सम्बन्ध पश्चिमी मागधी से है। बिहारी-भाषाओं का अपना स्थान है और उत्पत्ति की दृष्टि से ये सर्वथा स्वतन्त्र हैं। बिहारी का राष्ट्रभाषा हिन्दी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस क्षेत्र के अनेक विद्वानों ने हिन्दी के विकास तथा प्रचार-प्रसार में योगदान किया है। अपनी मातृभाषा के प्रति अतिशय प्रेम होने के बावजूद बिहारी-भाषियों का राष्ट्रभाषा के प्रति अनुराग अक्षुण्ण रहेगा।

●●

△ ६, अलोपीबाग, इलाहाबाद-६

●

●

मध्यदेश की मध्यकालीन भाषा

डॉ० नर्मदाप्रसाद गुप्त

मध्यदेशीय आर्यभाषा को अनेक कवियो ने 'भाषा' नाम से सम्बोधित किया है। **बनारसीदास जैन** के ग्रन्थ 'अर्द्धकथानक' (सन् १६४३ ई०) में उसे 'मध्यदेश की बोली' और **भावभट्ट** के 'अनूपसंगीतरत्नाकर' (सन् १७०० ई०) मे 'मध्यदेशीय भाषा' कहा गया है। वस्तुतः 'मध्यदेशीय' से पूरे मध्यदेश का बोध होता है, किसी सीमित क्षेत्र की भाषा या बोली का नहीं। किन्तु, कुछ विद्वानो ने उसे 'व्रजभाषा' नाम से अभिहित किया है, जिसके फलस्वरूप एक विवाद की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

व्रजभाषा के पक्षधर मध्यकाल का सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य 'व्रजी' का मानते हैं और **जगनिक, केशव, बिहारी, लाल, पद्माकर** आदि सभी की कृतियों को उसी के अन्तर्गत समेट लेते है।[1] **डॉ० शिवप्रसाद सिंह** ने **सधारू** से छीहल तक के सभी कवियों को व्रजभाषा का सिद्ध कर दिया है।[2] यहाँतक कि कुछ भाषाविद् ग्वालियरी, बुन्देली और कन्नौजी को व्रजभाषा की उपबोलियाँ बताते हैं।[3] ग्वालियरी के पक्ष मे **हरिहरनिवास द्विवेदी** की मान्यता है कि ग्वालियरी-भाषा ही मध्यकाल की काव्यभाषा थी, जो साम्प्रदायिक क्षेत्र में व्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई और बाद मे काव्य के क्षेत्र में भी उसका यही नाम प्रचलित हो गया।[4] सभी ने अपने-अपने पक्ष मे कुछ तर्क दिये हैं, जिनमे उलझना यहाँ अभीष्ट नही है, लेकिन यह सत्य है कि इस भाषा का रूप बुन्देली का था। प्रदेशगत पक्षपात से मुक्त होकर और भाषा-रूप के ऐतिहासिक अध्ययन को आधार बनाकर यदि हम निर्णय लेते है, तो इसी मत की पुष्टि होती है।

पूरे मध्यदेश मे मध्यदेशीय भाषा लगभग एक ही समय पनपी, किन्तु उसका तेजी से विकास और उत्कर्ष जितना अधिक चन्देलो के राज्य मे हुआ, उतना अन्यत्र नहीं। एक तो चन्देलो का राज्य नवीं शती से तेरहवीं शती तक पाँच सौ वर्षों के दीर्घकाल में, उत्तर भारत मे शक्तिशाली रहा, दूसरे, उसके अन्तर्गत लगभग पूरा मध्यदेश एवं दक्षिणी भारत का कुछ भाग सम्मिलित था। गोपगिरि या गोपाद्रि या गोपाचल (ग्वालियर) और मथुरा तक का प्रदेश चन्देलों के अधीन था। तीसरे, चन्देलों ने मध्यदेश की संस्कृति को जहाँ एकता और उत्कृष्टता दी, वहाँ उसकी कला को उत्कर्ष पर पहुँचाया। इसीलिए, उनके शासनकाल मे देशीभाषा का विकास जल्दी हुआ और इतना ही नहीं, वह काव्य की भाषा के रूप मे भी शीघ्र प्रतिष्ठित हो गई। **महाराज गण्डदेव** की सन् १०२३ ई० में देशीभाषा मे रचित एक कविता[5] एवं **महाकवि जगनिक** का सन् ११८२–९३ ई० मे रचित बुन्देली

का लोक-महाकाव्य आल्हाखण्ड[6] इसके ऐतिहासिक प्रमाण हैं। चन्देल-काल के कुछ शिलालेखो से भी इसकी पुष्टि होती है।[7] स्पष्ट है कि उस समय चन्देलों की राजधानियो—महोबा, खजुराहो और कालिंजर के क्षेत्र की भाषा ही काव्यभाषा के पद की अधिकारिणी हुई और पूरे राज्य मे उसी का प्रचार-प्रसार हुआ। बाद मे, मध्यदेश की संस्कृति का केन्द्र ग्वालियर बना, जहाँ इस भाषा का द्वितीय उत्थान हुआ। भक्ति-आन्दोलन की चेतना से प्रभावित होने पर तीसरा केन्द्र मथुरा-वृन्दावन रहा, जहाँ इसे तृतीय उत्थान मे व्यापक प्रचार मिला। इससे सिद्ध है कि बुन्देलखण्ड में जो भाषा पल्लवित और परिष्कृत हुई तथा काव्यभाषा के रूप मे मान्य बनी, वही मध्यदेश की मध्यकालीन भाषा कही जा सकती है।

महाकवि केशव ने 'वीरसिंहदेवचरित' मे, सूक्ष्म वाणी मे दीर्घ अर्थ[8] भरने की घोषणा की थी, जो मध्ययुग की राजनीतिक परिस्थति और राजधर्म की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की है। वास्तव मे, तत्कालीन कूटनीति और छलछन्द-भरी राजनीति के कारण वाणी को सूक्ष्म और व्यंजनापूर्ण बनाना सुकवि के लिए अनिवार्य-सा था। इसीलिए, केशव, लाल और हरिकेश के भी चरितकाव्य 'दीरघ' अर्थ से भरे हुए हैं, जिसे तत्कालीन राजनीतिज्ञ भली भाँति समझ सकते है। ओरछानरेश वीरसिंहदेव, पन्नानरेश छत्रसाल, जैतपुरनरेश जगतराज आदि चरितनायक राजनीति के कुशल खिलाडी थे और तत्कालीन कवि कुलधर्म और राजधर्म की सीख देना[9] अपना कविकर्म मानता था। इसीलिए, उसे उस 'दीर्घ अर्थ' को 'सूक्ष्म वाणी' में व्यक्त करना पडता था, ताकि उसे कोई दूसरा (चतुर शत्रु भी) न जान सके। वाणी की यह सूक्ष्मता मध्यकाल के कुछ शब्द-मन्त्रों के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी। इन शब्द-मन्त्रों और छोटे-छोटे व्यापारों मे निहित 'दीर्घ अर्थ' तत्कालीन संघर्षपरक युग मे व्यूह-रचना के विशेष अंग थे तथा आचार्य केशव ने इसी का संकेत अपनी घोषणा मे किया था।

पत : 'पत' मध्ययुग का एक ऐसा शब्द है, जो कुल के स्वाभिमान, आनबान, दृढता, मर्यादा, बलिदान आदि का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य केशव ने 'रतनबावनी' में लगभग पच्चीस छन्दो के, प्रश्नोत्तर-शैली के सवाद मे 'पत' के महत्त्व की व्याख्या की है। नायक रतनसेन युद्ध के लिए कटिबद्ध है, परन्तु भगवान् विप्रवेश मे उसे समझाते है कि प्राण बहुत मूल्यवान् है और उसकी रक्षा के लिए 'पत' छोड़ देना चाहिए। किन्तु, रतनसेन 'पत' के लिए प्राणोत्सर्ग करना ही उचित मानकर युद्ध के लिए प्रयाण करता है।[10] इस तरह, मध्ययुग की वीरता का आदर्श 'पत' की रक्षा माना गया है। यह बुन्देली 'पत' शब्द बहुत अर्थवान् है; क्योंकि इसमें अप्रत्यक्ष रूप मे जातीय चेतना का जाग्रत् रूप ही अभिव्यंजित होता है। वस्तुतः, यह विजातीय तत्त्वो के विरोध मे राष्ट्रीयता का ही एक प्रतीक था। **आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र** जैसे मध्ययुगीन साहित्य के सूक्ष्म पारखी ने इस शब्द की सूक्ष्मता में न जाकर इसे 'पति' कर दिया है, जिससे उसका 'दीर्घ अर्थ' तो समाप्त ही हो गया है, शब्द भी अर्थहीन और असंगत हो गया है।

असुर : 'असुर' शब्द संस्कृत-भाषा का है, जो 'सुर' के पश्चात् उसके विलोम रूप में प्रचलित हुआ होगा। लेकिन, इसका अर्थ बराबर परिवर्तित होता रहा। मध्ययुग के प्रारम्भिक भक्तिकाव्य मे इसका प्रयोग, मेघनाद, कुम्भकर्ण, कंस, अघासुर, बकासुर आदि पौराणिक व्यक्तित्वों के लिए हुआ है, जो धर्मविरोधी थे या अधर्म करते थे, किन्तु उत्तर-मध्यकाल के काव्यग्रन्थों मे इसका अर्थ-विकास हो गया था। राष्ट्रनायक छत्रसाल ने अराष्ट्रीय तत्त्वो के लिए 'असुर' का चयन किया है। चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, चाहे जिस जाति या धर्म का हो, लेकिन राष्ट्रविरुद्ध प्रवृत्तियो के कारण वह असुर है। उनके लिए खर, दूषण, जरासन्ध, पूतना, त्रिशिरा आदि सभी तो असुर ही है, दूसरी तरफ गोरी सुलतान भी 'असुर' है : '**असुर बैर इक बार, पकर काढ़े द्रग दोऊ।**'[११] वास्तव में, मध्यकालीन काव्य मे 'असुर' के प्रतीक को इसी अर्थ मे ग्रहण किया गया है। कवियों ने भक्तिकालीन 'असुर' को धर्म के खेमे से निकालकर सामाजिक और राष्ट्रीय सन्दर्भों से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'उषा-अनिरुद्धकथा' जैसे पौराणिक प्रेमाख्यान में अनेक असुरो का संहार वर्णित करने का आशय यही था कि अराष्ट्रीय असुरों को नष्ट किया जाय और संघर्षरत राष्ट्रीय शक्तियो को जाग्रत् करने का मौन निमन्त्रण भेजा जाय।[१२] इस प्रकार, ये कथाकार अपनी कथाओ को सुनाकर लोकमानस को प्रेरित करते थे और राजनायकों को सीख दिया करते थे। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि मध्यकालीन काव्य मे प्रयुक्त 'असुर' शब्द पर ध्यान देना जरूरी है और काव्यग्रन्थों के अध्ययन में भी यही सतर्कता अभीष्ट है।

मन्त्र : संस्कृत का 'मन्त्र' शब्द यज्ञ आदि के विधान से चलकर एक लम्बी यात्रा के बाद मध्ययुग की मध्यदेशीय भाषा में 'कूटनीति' का वाचक बन गया। केशव-कृत 'वीरसिंहदेव-चरित'[१३] एवं छत्रसाल के मुक्तकों[१४] का 'मन्त्र' शब्द यही अर्थ देता है। **लाल कवि** के ऐतिहासिक काव्यग्रन्थ 'छत्रप्रकाश' में इसका प्रयोग अनेक बार हुआ है।[१५] हिन्दी के शब्दकोशो मे मन्त्र के अर्थ मन्त्रणा, गुप्तवार्त्ता, सलाह आदि भी दिये गये है। परन्तु, **लाल कवि** ने 'सलाह', 'मसलहत' और 'राय' शब्दों का प्रयोग उनके सही अर्थ में किया है।[१६] जब कि 'मन्त्र' शब्द का अर्थ 'दीरघ' (व्यापक) है और कूटनीति का पूरा अर्थ देता है। उदाहरण के लिए, पृ० ४३ में '**औरंगसाह मन्त्र तब कीनौ**' और पृ० १२४ में '**ऐसे मन्त्र सुनाई कै, रहे पाँच गहि मौन**' द्रष्टव्य है, जिनसे 'मन्त्र' तत्कालीन राजनीतिक शब्दावली का प्रमुख शब्द सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, उत्तर-मध्ययुग के रीतिकवियो तक ने इसे उसी अर्थ मे प्रयुक्त किया है। रूढिमुक्त रीतिकवि **ठाकुर** का एक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :

निज मन्त्र न औरन सों कहनै अपने चित चोज बिचारनै है।
पुन नेक कों नेक लटे कों लटो जेइ रीतिं सदा उर धारनै है।।
कहै 'ठाकुर' प्यारे सुजान सुनौ मन की उरझी निनवारनै है।
चहूँ ओर से चौचँद चार उठो सो विचार कें यार सँभारनै है।।

ऊपर कुछ शब्दों का विवेचन किया गया है, जिनसे एक ओर भाषा के विकास का पता चलता है और दूसरी ओर उसकी सूक्ष्म व्यंजना का। लेकिन, यहाँ केवल विशिष्ट शब्दो का ही नहीं, वरन् पूरे छन्द की साकेतिकता का एक उदाहरण प्रस्तुत करना भी आवश्यक है; क्योंकि उसके विना मध्ययुग की भाषा का सही मूल्याकन नही हो सकता। प्रसंग भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के प्रथम शहीद जैतपुरनरेश पारीछत की एक घटना (लगभग सन् १८४० ई०) से सम्बद्ध है। पारीछत ने अँगरेजो से लोहा लेने का बीड़ा उठाया था, इस कारण अँगरेज उन्हे किसी प्रकार बन्दी बनाना चाहते थे। बाँदा के हिम्मतबहादुर ने अँगरेजो से मिलकर एक षड्यन्त्र रचा तथा राजा पारीछत को बाँदा बुलाया। पारीछत सहज रूप मे विना सोचे बाँदा के लिए चल पड़े। प्रसिद्ध कवि ठाकुर उनके आश्रित थे। जब उन्हे ज्ञात हुआ, तब वे भी घोडे पर सवार होकर तीव्र गति से चले और श्रीनगर मे उनसे जा मिले।[१७] महाराज के सामने ठाकुर ने निम्नांकित छन्द पढ़ा :

> कैसे सुचित्त भये निकसौ बिलसौ जु हँसौ सब सौं गलबाहीं।
> जे छल छुद्रन की छलता छल ताकती है हित सो अवगाहीं॥
> ठाकुर ते जुर येक भई परपंच कछू रचिहैं ब्रज माँहीं।
> हाल चवाइन कौ बहचाल सु लाल तुमें यौं दिखात कै नाहीं॥[१८]

इस छन्द मे कवि ने बड़ी कुशलता से सब कुछ व्यक्त कर दिया था, जिसे कुशल राजनेता ने तुरन्त समझ लिया और वह वही से जैतपुर लौट पड़े। सम्प्रति, मध्ययुग की भाषा की यह साकेतिक और व्यंजनापूर्ण पद्धति को समझने की आवश्यकता है, क्योकि इसे न जानने से रीतिकवियो के कविकर्म पर कोई भी आरोप लगाना सरल हो जाता है।

इन कतिपय उदाहरणो से यह सिद्ध हो जाता है कि मध्यकालीन मध्यदेशीय भाषा के पुनर्मूल्याकन की समस्या अब भी बनी हुई है। यदि बुन्देलखण्ड (बुन्देलीभाषी क्षेत्र) के समस्त मध्यकालीन साहित्य का प्रकाशन किया जाय और तत्पश्चात् भाषा का तटस्थ दृष्टि से अनुशीलन किया जाय, तो सहजता के साथ इतना कहा जा सकता है कि इस शोध-अध्ययन से प्राप्त बहुत-से निष्कर्ष भाषा-जगत् को चौका देनेवाले होगे।[१९] वस्तुत., आज भी इस सन्दर्भ के इतने ग्रन्थ अज्ञात और अप्रकाशित हैं कि एतद्विषयक भाषिक मान्यताएँ बहुत कुछ अपरिपक्व-सी लगती है।

सन्दर्भ-संकेत :

१. ब्रजभाषा : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, सन् १९५४ ई०, पृ० २१,१९,२६,२८ और ३१।
२. सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य . डॉ० शिवप्रसाद सिंह, सन् १९६४ ई०, पृ० १४३–२३७।
३. हिन्दी . उद्भव, विकास और रूप : डॉ० हरदेव बाहरी, सन् १९७० ई०, पृ० ६२ और ७८।
४. मध्यदेशीय भाषा . श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० ५१।

५. अर्ली रूलर्स ऑव खजुराहो : एस्० के० मित्र, पृ० ८२; बुन्देलखण्ड का मध्ययुगीन काव्य : एक ऐतिहासिक अनुशीलन (अप्रका०) : डॉ० नर्मदाप्रसाद गुप्त, पृ० १०१-१०२।

६. बुन्देलखण्ड का मध्ययुगीन काव्य : एक ऐतिहासिक अनुशीलन : डॉ० नर्मदा-प्रसाद गुप्त, पृ० १२९।

७. जिननाथ का जैनमन्दिर का सं० १०११ का अभिलेख, अजयगढ़ के सं० १२४३, सं० १२६९ एवं सं० १३७२ के अभिलेख, आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग २१ : ए० कनिंघम, पृ० ६७,५० और ५४।

८ वीरसिंहदेवचरित : केशवदास, प्रकाश २२, छन्द ४३।

९. उपरिवत्, २७ से ३३वे प्रकाश तक।

१०. रतनबावनी : केशव, छन्द ८-३३।

११ छत्रसाल-ग्रन्थावली, सम्पा० वियोगी हरि, नीतिमंजरी, छन्द ७।

१२. उषा-अनिरुद्धकथा : रामदास नेमा (हस्तलिखित), प्रथम तीन एवं ९,१० और ११वाँ अध्याय।

१३. वीरसिंहदेवचरित : केशव, प्रकाश ११, छन्द ४२, प्रकाश का 'नामकरण मन्त्र-विभ्रमो नाम' द्रष्टव्य।

१४. छत्रसाल-ग्रन्थावली, सम्पा० वियोगी हरि, नीतिमंजरी, छन्द ६।

१५. छत्रप्रकाश, सम्पा० श्यामसुन्दरदास एवं कृष्णबलदेव वर्मा, सन् १९१६ ई०, पृ० ३५,४३ और १२८।

१६. उपरिवत्, पृ० ५४ और ८०।

१७. जैतपुर (जिला हमीरपुर) की एक जनश्रुति के आधार पर।

१८. ठाकुर कवि का संग्रह (हस्तलिखित), पृ० १३७, छन्द-सं० २।

१९. बुन्देलखण्ड का मध्ययुगीन काव्य : एक ऐतिहासिक अनुशीलन : डॉ० नर्मदा-प्रसाद गुप्त (अप्रका०) का ९वाँ अध्याय।

△ शुक्ला का मुहाल, छतरपुर (म० प्र०)

भ्रम-संशोधन

'परिषद्-पत्रिका' के अक्टूबर, १९८३ ई० के अंक (वर्ष २३ : अंक ३) में 'सम्पादकीय' स्तम्भ मे, पृ० २ पर त्वरावश अशुद्ध मुद्रित " 'परिषद्-पत्रिका' के पृष्ठ....वंचित हो गई !" के स्थान पर '....हो गये !' और इसी प्रकार, 'परिषद्-प्रगति' स्तम्भ मे पृ० १९० पर 'जयन्ती....सम्पन्न हुआ' के स्थान पर '....हुई' सुधारकर पढ़ने का कष्ट करें।—सं०

हेमचन्द्र के अपभ्रंश-मुक्तकों का लाक्षणिक वैभव

प्रो० विनीता जैन

वस्तुतः, काव्य मे ध्वनि का पर्याप्त महत्त्व है। प्रस्तुत लेख में, इसी परिप्रेक्ष्य मे ध्वनि-सम्प्रदाय की उपस्थिति का अंकन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश-मुक्तको के लाक्षणिक वैभव को देखना ही उद्दिष्ट है। इसमें यथाविवेचित मुक्तक या दूहे 'अपभ्रंश : भाषा और व्याकरण' (डॉ० शिवसहाय पाठक) से उद्धृत हैं।

वाग्यन्त्र की सहायता से जो स्फोट व्यक्त होता है, वही ध्वनि है। यही ध्वनि भाषा की लघुतम इकाई है। व्यक्त ध्वनियो का समवाय ही मोटे तौर पर 'शब्द' कहलाता है, जिसे सार्थक एवं निरर्थक, दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। 'सार्थक' शब्द से तात्पर्य उस शब्द की अर्थवत्ता से है, जो यादृच्छिक, किन्तु रूढ शक्ति से सम्पन्न है। वस्तुतः, शब्द बोधक है और अर्थ बोध्य। शब्द की सक्षमता (अर्थवत्ता) भाषाशास्त्रियो ने तीन स्तरो मे स्वीकार की है और वे तीन स्तर हैं—वाच्य, लक्ष्य एवं व्यग्य। इन तीनो अर्थों की शक्तियो को क्रमशः अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना से अभिहित किया जाता है, जो क्रमशः वाचक, लक्षक एवं व्यजक शब्दो मे अन्तर्निहित हैं। इस प्रकार, शब्द और अर्थ के इस शाश्वत सम्बन्ध को ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत तीन शक्तियों के रूप मे लक्षित किया गया है : १. अभिधाशक्ति, २. लक्षणाशक्ति और ३. व्यंजनाशक्ति।

लक्षणा के भेद और हेमचन्द्र के अपभ्रंश-मुक्तक :

शुद्धा निरूढा लक्षणा : ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्ण-रेह कस-वट्टइ दिण्णी॥

आचार्य हेमचन्द्र ने इस शृंगारिक मुक्तक मे नायक और नायिका की संयुक्तावस्था की बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है। साथ ही, शुद्धा निरूढा लक्षणा का संयोजन भी हुआ है। अपभ्रंश मे प्रयुक्त 'ढोल्ला' पति के अर्थ में निरूढ है, जो संस्कृत के 'दुर्लभ' से निष्पन्न है। दुर्लभ, अर्थात् 'दुःखेन लभ्यते'; किन्तु अपभ्रंश के 'ढोल्ला' में संस्कृत के 'दुर्लभ' का भाव नही है। फिर भी, यह बात नहीं है कि अब 'दुल्हा' 'सुल्हा' हो गया है, पर अपभ्रंश का 'ढोल्ला' तो 'सामला'=साँवरा भी है, जो 'साँवरिया' के अर्थ मे भी रूढ हो गया है।

इसी दूहे में नायिका के लिए 'धण' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'धण' का रूढार्थ है—स्त्री, पत्नी, गृहिणी; किन्तु संस्कृत 'धन' शब्द का अर्थ है धन-सम्पत्ति, जो अपना अर्थ-विकास करके 'स्त्री' के लिए रूढ हो गया और पत्नी को 'धन्या' कहा जाने लगा। अर्थात्, जो 'धन' से उपमित होती है। सामाजिक रूढि के अनुसार भी 'स्त्री' तो धन है, लक्ष्मी है। बेटी भी 'पराया धन' कहलाती है। कालिदास ने भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक में कन्या को 'परकीय अर्थ' कहा है। राजस्थानी में गृहिणी के लिए 'धण' शब्द का प्रयोग बहु-प्रचलित है तथा मालवी में प्रयुक्त 'धणी' पति का पर्याय है। विद्यापति ने भी नायिका के लिए 'धनि' शब्द का प्रयोग किया है : **'एहि पंथ, धनि मोरा हे रूसलि।'**

आचार्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश-मुक्तकों मे निरूढा का ही दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है।

अगलिउ नेह निवट्टाइं जोअणु-लक्खुं वि जाउं।
वरिस सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउं॥

इस मुक्तक में प्रेम की प्रगाढता का वर्णन किया गया है। ऐसा गाढ़ा प्रेम, जो कई व्यवधानों के आने के बाद भी नष्ट नहीं होता, वही आनन्द का निकेतन है। मुक्तक मे प्रयुक्त 'अगलिउ नेह' शब्द विचारणीय है। 'अगलिउ नेह', अर्थात् जिसकी 'चिकनाई गली न हो'। संस्कृत मे 'स्नेह' का अर्थ प्रेम (अमरकोश, १।७।२७) ही है, किन्तु 'स्निग्ध' शब्द का प्रयोग 'चिक्कण' (अमरकोश, २।९।४६) के सन्दर्भ मे होने के कारण स्नेह का रूढ श्लिष्टार्थ घृत वा तेल भी होने लगा। इसी रूढार्थ को प्रमाणित कर रहा है 'अगलिउ' (सं० 'अगलित') शब्द।

गौणी रूढा लक्षणा : आचार्य हेमचन्द्र के अनेक पद्यों मे शब्दो का रूढार्थ न रहकर उनका गौणार्थ ही रूढ हो गया है। हेमचन्द्र के मुक्तकों मे संख्यावाची अनेक शब्द है, जो अपने अभिधात्मक अर्थ को त्याग कर गुणात्मक अर्थ की प्रतीति कराते हे।

संगर सएहि जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कंतु।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गय कुम्भइं दारंतु॥

कवि ने नायिका के द्वारा नायक के शौर्य की प्रशंसा कराई है, जिसमे नायिका प्रिय के सैकड़ों युद्धो मे भाग लेने का उल्लेख कर रही है और साथ ही वह अतिमदमत्त गज के कुम्भों को विदीर्ण करनेवाले अपने प्रिय का परिचय दे रही है। इसमे 'संगर सएहि' (सैकड़ों युद्धो) से तात्पर्य है समर की अपरिमितता, उनकी निश्चित संख्या नहीं।

हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं।
देक्खउँ हय-विहि कहिं ठवइ पइँ विणु दुक्ख-सयाइं॥

हेमचन्द्र ने इस मुक्तक में नायिका की विरहजन्य व्यथा और दुःख के इसी ऊहापोह मे नायिका के अपने हृदय से ही वार्त्तालाप की स्थिति का चित्रण किया है। नायिका हृदय से कह रही है कि, 'तू इस विरह-व्यथा से दुखी होकर टूट जा। देखे, यह दुर्भाग्य तेरे विना सैकड़ो दुःखो को कहाँ रखेगा।' यहाँ भी 'दुक्ख सयाइ' (सैकड़ो दुःख) का आशय है विरहजनित अनगिनत कष्ट, व्यथाएँ आदि।

तुच्छ-मज्झहे तुच्छ-जम्पिरहे ।
तुच्छच्छ-रोमावलिहे तुच्छ-राय तुच्छयर-हासहे ।
पिय-वयणु अलहंति अहे तुच्छकाय-वम्मह-निवासहे ॥
अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे तं अक्खणह न जाइ ।
कटरि थणंतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चि ण माइ ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत पद्य मे नायिका की नजाकत और नफासत को व्यक्त करते हुए उसके नखशिख का वर्णन किया है। बाला का कटिप्रदेश सूक्ष्म है, वह मधुर-भाषिणी है, उसकी रोमावली सूक्ष्म है, कण्ठध्वनि तुच्छ है, वह तन्वंगी है, उसके शरीर मे कामदेव का निवास है और उस धन्या में जो कुछ तुच्छ है, उसका वर्णन नही किया जा सकता। उसके स्तनों के मध्य का भाग इतना तुच्छ है कि वहाँ मन भी गतिशील नही हो सकता। इसमे किशोरी की कमनीयता के वर्णन के लिए जिस 'तुच्छ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह उसके छरहरेपन को दिखाने के लिए है। यद्यपि, 'तुच्छ' शब्द का अर्थ होता है निकृष्ट या अनुपयोगी, किन्तु यहाँ 'तुच्छ' (=सूक्ष्म) शब्द के प्रयोग से नायिका के सुकुमारता-वर्णन मे प्रभावात्मकता आई है।

फोडेंति जे हियडउँ अप्पणउँ ताहँ पराइ कवण घिण ।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसम थण ॥

कवि ने प्रस्तुत मुक्तक मे बाला के यौवनागम का चित्र अंकित किया है। वह किशोरी की वयःसन्धि की अवस्था मे स्तनो की गुरुता का वर्णन कर रहे हैं, साथ ही युवती के यौवनोन्माद के भय तथा स्तनों की उन्नतावस्था के आकर्षण से घबराकर अपने सयम रखने की चर्चा भी की गई है। इसमे स्तनो की विषमता से कवि का आशय उनके अव्यवहित विकास या विकटता से है। विषम : वि + सम = जो सम नही हो; किन्तु ऊबड़-खाबड नही, अपितु विकट। यहाँ कवि का आशय स्तनों की विषमता, यानी विकटता और औन्नत्य से है।

प्रसंगतः, यहाँ उल्लेखनीय है कि किसी विशेष परिस्थिति मे मनुष्य जब लाचार हो जाता है, तब कहा जाता है 'भई, अपनी तो बुद्धि काम नही करती, बड़ी विषम परिस्थिति है !'

आचार्य हेमचन्द्र के ही सूत्र, क्रमाक ३९५ की दूहा-सं० ८० में भी विरही प्रवासी ने वर्षाकालीन रात्रि को विषम संकट ('विसमा सकडु') कहा है। इस 'विषम' शब्द के सन्दर्भ में अर्थ होगा : 'पओहर वज्जमा' = वज्रमय पयोधर, अर्थात् कठोर और उन्नत स्तन।

कुंजर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥

हे कुजर, तू उन श्रेष्ठ सल्लकीवृक्षों (हाथियो की प्रिय खाद्य वनस्पति) का स्मरण करके दीर्घ शीतल उच्छ्वास मत छोड़, जो कुछ भाग्यवश मिल गया है, उसे खा, लेकिन मान मत छोड़।

ये सान्त्वना और सहानुभूति के शब्द आचार्य हेमचन्द्र ने कुंजर से कहे हैं जो सल्लकीवन की स्मृति मे ठण्डी आहे भर रहा है। लेकिन, यहाँ उल्लिखित 'सरला सास' का अर्थ है 'सीधी-सीधी श्वास लेना।' पर, यह विचारणीय है कि श्वास में वक्रता या व्यतिरेक नही होता है, वरन् वह तो अन्तर की भावानुभूति का ही प्रकट रूप होती है। आन्तरिक सुख-दु.खात्मक भावानुभूति उच्छ्वासमय होकर व्यक्त हो जाती है। इसमें 'सरला सास' लम्बी-लम्बी साँसो के लिए रूढ है।

इस प्रकार, कवि ने अपने मुक्तको में गौणी रूढा लक्षणा के द्वारा भावातिरेकता और अभिव्यक्ति की मार्मिकता के साथ ही आर्थिक सौन्दर्य को परिदीप्त बनाये रखा है।

गौणी सारोपा लक्षणा : लक्षणा का यह भेद रूपक अलंकार मे समाहित रहता है। जहाँ रूपक अलंकार होता है, वहाँ गौणी सारोपा के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता।

अंगहिँ अंगु न मिलिउ हलि अहरें अहरु न पत्तु।
पिअ जोअंतिहे मुह-कमलु एंवइ सुरउ समत्तु॥

प्रस्तुत पद्य में कवि ने नायिका के मुख से उसकी अपनी संयोगरात्रि का वर्णन कराया है। इसी वर्णन के अन्तर्गत नायिका अपने समागम मे प्रिय के मुखकमल को जोहते-जोहते ही रात्रि के समाप्त होने की बात कह रही है। अतः, यहाँ मुख में कमल की सुन्दरता का गुण आरोपित है।

इसी प्रकार, आचार्य हेमचन्द्र ने एक अन्य मुक्तक में भी नायिका के अप्रतिम सुन्दर मुख को 'मुहा कमलि' कहकर रूपित किया है :

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं॥

कवि ने इस मुक्तक में स्वामी की उदात्तता और सागर की गम्भीरता की तुलना करते हुए एक रूपक की सृष्टि की है। इस मुक्तक का अर्थ है : जिस प्रकार सागर में बेशकीमती रत्न तल मे रहते है और तिनके के समान तुच्छ वस्तुएँ सागर के ऊपर तैरती रहती हैं, उसी प्रकार स्वामी सुभृत्यों की उपेक्षा करता है और अयोग्य भृत्यो को सम्मान देता है।

इस सम्पूर्ण मुक्तक में वर्णित गौणी सारोपा को निम्नांकित प्रकार से समीकृत किया जा सकता है :

सायरु	= सामि	स्वामी के गुण का आरोप।
रयणाइं	= सुभिच्चु	सुभृत्य का आरोप।
तणु	= खलाइं	दुष्ट या निकृष्टता का आरोप।
धरइ उप्परि	= संमाणेइ	सम्मानमतित्व या महत्त्व-प्रतिपादन का आरोप।
तलि घल्लइ	= परिहरइ	परित्यजति, अर्थात् छोड़ देता है : उपेक्षा का आरोप।

शुद्धा उपादानलक्षणा : आचार्य हेमचन्द्र के मुक्तक-पद्यो का सौन्दर्य उपादान-लक्षणा में भी अन्त शयित है। यथा :

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहँ विरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्मह निअय-सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने वयःसन्धि-प्राप्त एक षोडशी बाला का वर्णन प्रस्तुत मुक्तक मे किया है : 'जैसे-जैसे किशोरी श्यामा अपने लोचनो की अधिकाधिक भंगिमा सीखती है वैसे-वैसे कामदेव अपने शरों को नुकीले पत्थर पर तीखा करता है।'

यहाँ 'नुकीले पत्थर' (खर-पत्थरि) में उपादानलक्षणा है। जब कहा जाता है कि 'तीखे पत्थर पर', तो प्रश्न उठता है कि क्या पत्थर स्वयं तीखा है ? नही। खर-पत्थर वस्तुतः 'खरकारी पत्थर' है।

'खर' शब्द 'पत्थर' का विशेषण नही है, अपितु 'खर' (प्रखर) और 'पत्थर' (प्रस्तर) की सिद्धि के लिए 'कारी' शब्द का उपादान दोनों के बीच स्वीकारना ही होगा।

जइ पुच्छह घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ।
विहलिअ जण अब्भुद्धरणु कंतु कुडीरइ जोइ॥

नायिका विह्वल जनों के उद्धार करनेवाले प्रिय की प्रशंसा करते हुए और 'बड़े घर' के अन्तर को बताते हुए वह अपने प्रिय के निवासस्थान की ओर संकेत कर रही है : 'यदि तुम बड़े घर के बारे में पूछती हो, तो उस कुटी मे मेरे प्रिय को देखो।' 'वड्डाघर'='वृद्धानां समृद्धानां गृहाणि', अर्थात् समृद्धजनो के घर, 'वृद्धानि गृहाणि' अर्थ नही।

यहाँ 'वड्डाघर' मे लक्षणा अवश्य है, किन्तु इस लक्षणा की प्राप्ति उपादान के विना सम्भव नही होती। यहाँ 'वड्डाघर' कहने से तीन अर्थ प्राप्त होते हैं : बड़ा घर, अर्थात् १. आकार-प्रकार में बड़ा घर, २. बड़े लोगो का घर और ३. वृद्ध लोगों का घर। यहाँ बड़े लोगों का घर से तात्पर्य है समृद्ध और सम्पन्न लोगों का घर। सं० 'समृद्धानां गृहाणि'। इसमें 'समृद्ध लोगों का' यह उपादानलक्षणा है।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा : यह लक्षणा रूपकातिशयोक्ति अर्थालंकार मे स्थिर रहती है, जिसमे कि साध्य का अवसान हो जाता है। अन्योक्ति अर्थालंकार मे भी साध्य का अवसान-सा रहता है :

कमलइँ मेल्लवि अलि उलइँ करि गंडाइ महंति।
असुलह मेच्छण जाहँ भलि से ण वि दूर गणंति॥

आचार्य हेमचन्द्र ने मुक्तक मे अन्योक्ति के द्वारा एकनिष्ठ प्रेमी के अभिलाप-वैशिट्य का उद्घाटन किया है : 'भ्रमर कमलों को छोड़कर मदमत्त गजो के कुम्भस्थलो से स्रवित मद की कामना करता है। प्रिय की असुलभ इच्छा के लिए वह दूरी नही गिनता।'

यहाँ साध्य तो है रसिक प्रेमी, किन्तु उसे 'अलि उलइँ' कहा गया है। इसी तरह, 'कमलइँ' सुलभ प्रिय का साध्य है और 'करि गडाइ' असुलभ प्रिय का प्रतीक।

भमर मा रुणझुण रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ ।
सा मालइ देसंतरिअ जासु तुहुँ मरहि विओइ ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने इस मुक्तक में मालती के प्रति भ्रमर की एकनिष्ठा का उल्लेख किया है और भ्रमर की गुनगुनाहट को प्रिया के लिए विलाप करना माना है। अतः, भ्रमर को समझाया जा रहा है कि, 'हे भ्रमर, उस दिशा को देखकर क्यों रोते हो ? वह मालती तो देशान्तरित हो गई, जिसके वियोग मे तुम मर रहे हो ।'

भ्रमर प्रेमी साध्य है, किन्तु अन्योक्ति के कारण 'प्रेमी' लक्ष्य का अवसान हो गया है और केवल गुण से ही अर्थ की प्राप्ति हो रही है। इसी तरह, मालती लता भी हो सकती है, परकीया नायिका भी।

कुंजर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥

आचार्य हेमचन्द्र के इस मुक्तक मे कहा गया है कि कुंजर विरह-व्यथित है। वह अपनी प्रिया की स्मृति में लम्बी-लम्बी साँसे ले रहा है। उसे समझाते हुए कहा जा रहा है कि 'जो कुछ भाग्यवश मिल गया है, उसी का सेवन कर, किन्तु विशिष्ट के प्रति अपनी आसक्ति को मत छोड़ ।'

यह पूर्ण मुक्तक अन्योक्ति है। इसमें कुजर विरही प्रेमी का प्रतीक है और सल्लकी उसकी प्रिया है।

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ के वि दिअहडा विलंबु ।
घण पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयंबु ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने इस मुक्तक मे अन्योक्ति के द्वारा अपने भावों का रचना-संसार प्रस्तुत किया है : 'हे भ्रमर, कुछ दिन तुम इस नीम पर विश्राम करो, तवतक कदम्ब का वृक्ष घने पत्तों से छायादार होकर खिल जायगा।' यहाँ भ्रमर रसिक प्रेमी और 'कयंबु' सुन्दरी है।

यदि इस दूहे की अन्योक्ति के अर्थ को न लेकर सीधा अर्थ लिया जाय, तो अर्थ होगा : 'हे रसिक प्रेमी, कुछ दिन तुम सामान्य नायिका के साथ विश्राम करो, तवतक वह विशिष्ट वाला यौवन को प्राप्त होगी।' किन्तु, यहाँ अन्योक्ति के कारण यह अर्थ अवगुण्ठित है।

△ द्वारा : श्रीशान्तिलाल जैन, अधिवक्ता
पैलेस रोड, राजगढ़ (ब्यावरा : म० प्र०)

फखरुद्दीन निजामी-कृत 'मसनवी कदमराव पदमराव' की भाषा

△ डॉ० वा० प० मुहम्मद कुंज मेत्तर

'मसनवी कदमराव पदमराव' दक्खिनी हिन्दी का प्रथम आख्यानक-काव्य है। किन्तु, इस काव्य के अनुपलब्ध होने से इसका अध्ययन सम्भव नही हो पाया था। इस ग्रन्थ की एकमात्र हस्तलिखित प्रति बाबाए उर्दू मौलवी अब्दुल हक के पास थी। उसे भारत-विभाजन के समय वह पाकिस्तान ले गये। सौभाग्य की बात है कि प्रस्तुत मसनवी को डॉ० जमील जालिबी ने सम्पादित करके 'अंजुमन तरक्की ए-उर्दू', कराची की ओर से प्रकाशित कराया है।

दक्खिनी हिन्दी के उद्भव और विकास की कथा दक्खिन के इतिहास से जुड़ी हुई है। दक्खिन मे आये उत्तर भारत के लोग किसी एक प्रदेश से आये हुए नही थे। वे एक ही समय मे भी नही आये थे। विविध बोलियाँ बोलनेवाले लोगो ने दिल्ली और समीपवर्त्ती प्रदेशो की खड़ी बोली का दक्खिन में सम्पर्क-भाषा के रूप मे प्रयोग किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी दक्षिण के मराठी, गुजराती, तेलुगु और कन्नड-भाषी प्रदेश मे बसे उत्तर से आये लोगो को परस्पर मिलाने की कड़ी बन गई और धीरे-धीरे दक्खिनी, बोली के स्तर से उठकर साहित्य का माध्यम हो गई। दक्खिन के सुलतानो, सूफी सन्तो, दरवेशो, उलेमाओ तथा शायरो का सम्बन्ध पाकर दक्खिनी हिन्दी का साहित्य समृद्ध होता गया।

सम्प्रति, 'मसनवी कदमराव पदमराव' की भाषा और शैली का सम्यक् विवेचन अपेक्षित है। दक्खिनी का आरम्भकालीन ग्रन्थ होने के कारण खड़ीबोली का आदिरूप इसमे सुरक्षित है। 'कदमराव पदमराव' मे राजा कदमराव तथा उसके मन्त्री पदमराव की कथा कही गई है। कवि ने काव्य मे चमत्कार का खूब प्रयोग किया है। ऐसी कहानियाँ भी हैं, जिनमे किसी राजा का मन्त्री कोई पशु-पक्षी होता है। राजा कदमराव का मन्त्री पदमराव नागराज था। काव्य के प्रारम्भ मे राजा तथा मन्त्री के बीच का वार्त्तालाप, तत्पश्चात् राजा के कोप, उसके कारण रानी के साथ हुए संवाद आदि पर प्रकाश डाला गया है। फिर, अक्खरनाथ योगी से राजा की भेंट, योगी से धनुर्वेद-विद्या, परकाय-प्रवेश आदि सीखना इत्यादि प्रसंग स्पष्ट किये गये है। बाद मे योगी राजा के शरीर मे प्रवेश कर जाता है। अन्त मे, राजा, पदमराव की सहायता से अपना शरीर पुन. प्राप्त करता है।

नागराज पदमराव योगी राजा को डँसता है। राजा के शरीर से योगी की आत्मा उड़ जाती है। तोते के रूप में भटकनेवाला कदमराव इस समय अपने शरीर में अपनी आत्मा को प्रविष्ट कराता है।

कथा के विकास में कोई क्रम नही है। बीच-बीच में कवि अनेक तथ्यों पर अपना विचार प्रकट करता है। उदाहरण द्रष्टव्य है :

> जु कुज काल करना सू तूं आज कर।
> न छाल आज का काम तूं काल पर॥ (१२२)
> सुन्या था के नारी धरे वहुत छन्द।
> सू मै आज दीठा तिरी छन्द पन्द॥ (१५५)
> ....
> छरी अत कुन्दन सी के जे होय।
> असंगत न तिस छाल ले पेट कोय॥ (१७०)

काव्य का प्रारम्भ कवि ईश-स्तुति से करता है। प्रस्तुत वर्णन में सूफियों का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार, २९ पंक्तियाँ स्तुति-सम्बन्धी हैं। सूफी कवि जायसी की भाँति खम्भो के विना आकाश की सृष्टि करनेवाले ईश्वर की महत्ता को व्यक्त किया गया है : 'तुहीं ऊन्च अम्बर सर्या वाज आधार।' वैसे ही सात लोक तथा सात आकाश के सृष्टिकर्त्ता के रूप मे ईश्वर की प्रशंसा की गई है :

> धरत सात रू चन्द आकाश सात।
> रचे देरच में फलक तव संघात॥

हिन्दू-आस्था को प्रकट करते हुए प्रारम्भ में त्रिलोक के सृष्टिकर्त्ता का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

> गुसाईं तुहीं एक दू न जग आधार।
> वरू वर दू न जग तुहीं देनहार॥ (१)

'नात रसूल' के अन्तर्गत २२ पद्य है। तदनन्तर, वादशाह अलाउद्दीन बहमनी की प्रशंसा मे २२ पद्य लिखे गये है। फिर कथा का श्रीगणेश होता है। कथा के प्रारम्भ की कतिपय पंक्तियाँ नष्ट हो गई हैं। बीच-बीच मे भी कतिपय पक्तियाँ मिट गई है। इसलिए कथा के क्रम मे व्यवधान पड़ता है। कुल मिलाकर, इस मसनवी में १०३२ पद्य है।

प्रस्तुत मसनवी की कथा का संघटन, उसके काव्यतत्त्व आदि को स्वतन्त्र अध्ययन का विषय वनाना चाहिए। इस मसनवी की भाषा और शैली का विवेचन एक छोटे-से शोधपरक लेख के कलेवर मे सीमित रखना असम्भव नही, तो कम श्रमसाध्य भी नहीं है। इस लेख में हम भाषा की कतिपय प्रमुख विशिष्टताओ पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखेंगे।

सम्पादक डॉ० जमील जालिवी ने ऐतिहासिक तथ्यों तथा अन्तःसाक्ष्यों का विश्लेषण करते हुए 'कदमराव पदमराव' का रचनाकाल हिजरी-सन् ८२५ : सन् १४२१ ई० और

हि० सन् ८३९ · सन् १४३५ ई० के बीच मे सिद्ध किया है। मसनवी का असली नाम भी प्रारम्भिक पृष्ठों के विनष्ट होने से मालूम नही किया जा सकता। किन्तु, मसनवी के पात्रों के आधार पर मौलवी नसीरुद्दीन हाशमी ने इसे 'कदमराव पदमराव' नाम से पुकारा था, जो बाद मे प्रसिद्ध हो गया।

आज से पौने छह सौ वर्ष पहले सन् १४२१–१४३५ ई० के बीच यह काव्य लिखा गया। अब हिन्दी को उत्तर से दक्खिन पहुँचे, लगभग सवा सौ वर्ष हो चुके थे। स्मरण रखें कि दक्खिन मे बसे लोग उत्तर के किसी एक प्रदेश से किसी एक काल मे आये हुए नहीं थे। वे विभिन्न बोलियो के प्रदेश से विभिन्न समयो मे आये हुए थे। अलाउद्दीन खिलजी तथा उनके सैनिको एवं आश्रितो के अतिरिक्त अमीराँ सदा और मुहम्मद बिन तुगलक (राजधानी दिल्ली से देवगिरि या दौलताबाद लाई गई) के साथ आये हुए लोगो की भाषा तथा बोलियो का सम्मिलित प्रभाव दक्खिनी पर पड़ा है। इसलिए, 'कदमराव पदमराव' पर हिन्दी की बोलियो के प्रभाव के साथ-साथ मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी, राजस्थानी, हरियाणवी आदि बहुत-सी भाषाओं का गम्भीर प्रभाव भी देखा जा सकता है। डॉ० जमील जालिबी ने भूमिका मे बताया है: "पजाबी, खडी, सिन्धी, राजस्थानी, ब्रजी और गुजराती बोलनेवालो को अलग-अलग इस मसनवी के अशयार पढ़कर सुनाये, तो उन्होंने जहाँ और कई बातें कही, वहाँ यह बात मुश्तरिक थी कि यह जबान उनकी अपनी जबान से करीब है और आज भी इसके बहुत-से अलफाज उनके घरो मे बोले जाते हैं।"[1]

एक अन्य बात जो ध्यान देने योग्य है, वह यह कि इस मसनवी में प्रयुक्त मुहावरे और रोजमर्रे को देखकर हम ऐसा मानने को बाध्य हो जाते हैं कि यह मसनवी दक्खिनी की सर्वप्रथम कृति नहीं मानी जा सकती। इससे पूर्व भी काव्यरचना हुई होगी, जो या तो नष्ट हो गई है या हमारी आँखो से ओझल रही है।

'कदमराव पदमराव' मे अरबी-फारसी के शब्द बहुत कम है, डॉ० जमील जालिबी के शब्दो मे 'आटे मे नमक के बराबर।' इस मसनवी मे लगभग बारह सहस्र शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, जिनमें केवल सवा सौ के लगभग शब्द अरबी-फारसी के हैं। ये शब्द भी बिगड़े हुए रूप मे आये है। आज की खड़ीबोली की तरह 'मसनवी कदमराव पदमराव' के शब्द संस्कृतमूलक हैं। कतिपय, उदाहरण द्रष्टव्य हैं: जग, आदार, आकाश, पाताल, धरती, तल, बल, भाग, मोह, अंबर, आधार, मारग, आसन, रतन, अधिक, तन, मुख, पदारत, गगन, निरूप, सीस, पवन, बुद्धि, बिचार, पूरन, समंदर, करतार, आद, परसाद, धीर, हत्त, दान, अंगुल, खड्ग, रावत, जन, अंत, जगाजोत, अंदकार, दक्खन, आकास, परधान, राजा, अभंग, भुजंग, सरीर, गंभीर, महाबल, देह, जल, थल, पिरथमी (पृथ्वी) सब्द, सार, कपट, सुध, बिरास (विरस), लाव, हानि, दूर, सहस्र, नायक, भाव, मंदिर,

---

१. भूमिका : 'कदमराव पदमराव' : सं० डॉ० जमील जालिबी, पृ० ३५-३६।

सिंघासन, कोप, सुन्दरियाँ, रानियाँ, उपास (उपवास), रात, हात, धन, मन, चित्त, नागिन, परनार आदि-आदि।

चूंकि दक्खिनी का परिनिष्ठित रूप तैयार नहीं हुआ था, इसलिए एक ही शब्द के पृथक्-पृथक् रूप देखे जा सकते है। एक शब्द के तीन-चार रूप तक पाये जाते हैं। द्रष्टव्य है : भग्ग–भाग; जग–जग्ग; आदार–आधार; अकास–अक्कास, आकास, आकाश; हत्त–हात; पाताल–पताल इत्यादि।

अमीर खुसरो से शाहबाजन और निजामी तक और निजामी से मीरांजी शम्सुल उश्शाक, बुरहानुद्दीन जानम और इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय जगद्गुरु तक दक्खिनी पर फारसी का रंग नही चढा था। बाद में अरबी-फारसी का प्रभाव बढता गया और वली दकनी के समय तक दक्खिनी परिवर्त्तित हो गई।

जैसा कि बताया गया है, इस मसनवी की भाषा आज की खड़ीबोली से ज्यादा भिन्न नही है : कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य :

१. जू कुच काल करना सू तूं आज कर।
न छाल आज का काम तूं काल पर। (१२२)

२. भले कूं भलाई करे कुच न होय।
बुरे कूं भलाई करे होय तोय॥ (७४९)

३. नन्हे की नन्ही बुध मानें न कोय।
नन्हां सू नन्हां, जे नबी पूत होय॥

४. न अगला संभाले के पिछला कहां।
न पिछला संभाले के अगला कहां॥ (५१६)

५. के जे बोल मेरा सुने तिस कहूं।
के जे न सुने तिल घड़ी न रहूं॥ (५५४)

६. कह्या राव सुन दुष्ट परधान बोल।
उठ्या गरज यूं ज्यू उठे गरज ढोल॥

७. जे जैसे का जू होय सू कर सके।
न बढी केरा काम बांदर सके॥

८. घरें घर फिरे लोक कहता पुकार।
दिवाना हुआ राव आखीर मार॥ (६८९)

९. न रोवे कधीं चोर की माँ पुकार।
रोवे छाल कर मुख कोठी मंझार॥ (७१७)

१०. इकायक कहूं क्यूं अपस नानू हूं।
कदमराव हीरानगर का सू हूं॥ (८२२)

११. सभी खेल उसके करनहार वह।
करनहार योगी न करतार वह ।। (८७५)
१२. जू नियत करे काम जे कुछ कोय।
उसी का भला भी उसी सात होय ।।

. उपर्युक्त प्रकार के अनेक पद्य भी उद्धृत किये जा सकते हैं। 'मसनवी कदमराव पदमराव' में प्रयुक्त मुहावरेदार प्रयोग द्रष्टव्य है :

१. गाँठ बाँधना :

सितम एक ले गांठ बांधे ज कोय।
के उस बुध थी क्यूं......होय। (५०३)

२. कान में अंगुली धरना (देना) :

जू आखोर केरे कहूं खोल गुन।
तुहीं कान अंगुल धरे बात सुन ।। (५५२)

३. फूल फल होना :

भला देख संभल बुरा देख छोड़।
के फिर फूल फल होय थी कांट काट ।। (९०)

४. आँख भर देखना :

जू बूंट उस दिखावे..........।
जू भर आंख देखे कहूं आंख फोड ।। (८५४)

५. बोल उठना :

गया राज तुज जब उठ्या बोल यह।
जू सयूह उठ्या लोग यह बोल कह। (६९०)

६. सबको एक लकड़ी से हाँकना .

न सर पार दूद कू मीन ताक।
सभी इस्तिरियाँ एक लकडी न हांक ।। (२०६)

७. आसमान के तारे तोड़ लाना :

धर अभी बहुत झूंट न बोल जोड।
जंगल धरत आकास तारे न तोड ।। (८५८)

८. आँख फोड़ना :

जू भर आंख देखे कहूं आंख फोड। (८५४)

९. खोलकर कहना :

कदमराव तू क्यूं हुआ खोल कह। (८६४)

१०. सर चढ़ना :

तू भई आज मुंज सर चढ्या पाय धर। (८७४)

पूर्वोक्त प्रकार के मुहावरे बहुत है। कहावतों तथा लोकोक्तियों की संख्या भी नगण्य नही है। कतिपय द्रष्टव्य :

१. छुरी सोने की भी हो, तो कोई पेट में नही मार लेता।

छुरी अन्त कुन्दन सी के जो होय।
असंगत न तिस छाल ले पेट कोय। (१७०)

२. साँप का कांटा रस्सी से भी डरता है।

दधा सांप का होय जे कावडी,
डरे क्यों न वह देख फांदा पडी। (१७१)

३. दूध का जला छाछ को भी फूँक मार-मार पीता है।

बडे साच कहकर गये बोल अचूक,
दधा दूद का छाचहा पीवे फूक। (१७३)

४. कुत्ते की दुम कभी सीधी नही होती।

जनतर छाल छम्मास खींचे जू कोय,
न सीधी कधीं कूतरी पूंच होय। (१९८)

५. पाँचों अँगुलियाँ कभी एक-सी नहीं होती।

न्होसी कधीं पांच अंगुल समान। (२०२)

६. सांप भी अपने बिल में सीधा चलता है।

सभी ठानू जे सांप कूठा चले,
अपस ठानू वह भी सु सीधा चले। (५६२)

७. छोटा मुँह बड़ी बात और

८. चादर देखकर पैर पसारना।

नन्हीं मुँह बडा न नवाला उचाव,
पसार आपना ओडना देख पाव। (८३६)

९. तलवार का घाव भर जाता है जबान का घाव नहीं भरता।

खड्ग मार्‌या ऊपरी के मरे,
सबद मार्‌या जरम तप्या करे। (८६६)

१०. दूर के ढोल सुहाने।

भली जासने दूर थीं ढोल नाद,
बुरा वह जू नियडे करे ढोल साद। (८९९)

फारसी की कतिपय कहावते अनूदित करके मसनवी में प्रयुक्त की गई है।

मराठी का प्रभाव : अवधारणबोधक 'च' और नकारार्थक 'नको' का प्रयोग दक्खिनी को पहचानने का चिह्न-सा हो गया है। किन्तु, 'कदमराव पदमराव' मे 'च' केवल दो स्थानों पर पाया जाता है :

घुरे कोई उपचार न चार पाप,
न भावे मुझे वह जू मेराच बाप। (२२८)
एकायक कह्या तूंच मेराच सोख,
धनुरबिद्‌या में दिया तद्धा भीक। (५५४)

'न को' का कविवर निजामी ने एक स्थान पर प्रयोग किया है :

डिढाई न को कर .जीव दीट,
न जीव ते बहुन डर निपट जोय ईट। (८३५)

मराठी के बहुत-से शब्दो का प्रयोग भी कवि ने किया है। एक जगह निजामी ने मराठी का हवाला भी दिया है ·

सब्द मराठी जे कह्या एक चित,
के जे आप ले दास रावान गत।

पंजाबी का प्रभाव . 'मसनवी कदमराव पदमराव' मे पजाबी का अधिक प्रयोग देखा जाता है। यथा · आनै = आनना = लाना, दीसे = दिखाई दे, सुनोय = पंजाबी ढग का सम्बोधन, कीता = सामान्य भूतकाल का रूप, लोडे — लोडना = तलाश करना; न्होखी = न होगी, कधी, दूजा, आखे, आन, सू = तुम, बहर = बाहर, आवसी, बदल = बादल, अख्या = आँखे, वेल = वक्त इत्यादि।

गुजराती प्रभाव : जे, सहदेसना, परदेसना, अने, मान्ह, बापडा = निर्धन, बेचारा, बीझू = दूसरी वार, बाद, पोगडा = लडका आदि।

सिन्धी का प्रभाव . 'के' (सिन्धी 'खे') का प्रयोग 'को' के अर्थ मे। उदा०

गगन के किया ऊन्च तल पिरथमी। (२१०)

घुरे = माँगे, चाहे : घुरे कोई उपचार न चार पाप। (२२८)
धनी राज कूं पीवनां तद घुरे॥ (३२५)
के = से : अखरनाथ परमान ले राव के। (४७२)
मंझार = मे, बीच मे रोवे छालकर मुख कोठी मंझार। (७१७)
तलहार = नीचे . न मुज सुध ऊपर न तलहार सुध। (९२०)

इस प्रकार, इस मसनवी मे व्रज, हरियाणवी, राजस्थानी और अन्य अनेक भाषाओ का प्रभाव पाया जाता है। दक्खिनी के परिनिष्ठित रूप कैसे बने तथा दक्खिनी किस तरह परिवर्तित होकर विकास कर गई आदि की जानकारी प्राप्त करने के लिए 'कदमराव पदमराव' की भाषा का गहरा अध्ययन अपेक्षित है।

कतिपय महत्त्वपूर्ण व्याकरणिक विशिष्टताएँ : दक्खिनी मे धातुओ के साथ 'हार' या 'हारा' प्रत्यय लगाकर बनाये गये कतिपय शब्द इस प्रकार है . देनहार = देनेवाला : बुड़ बर दू न जग तुहीं देनहार, रचनहार = रचनेवाला, सृष्टिकर्त्ता · रचनहार अंछे

रचनहार तूं । (३); रहनहार=रहनेवाला : रहनहार पिछे रहनहार तूं । (३); करनहार=करनेवाला : करनहार तूं, बाज तुज किस कहूं। (७८३) कहनहार= कहनेवाला; सुननहार=सुननेवाला :

निजामी कहनहार जिस यार होय ।
सुननहार सुन नग्ज गुफ्तार होय ।। (२८)

प्रत्यय : दक्खिनी हिन्दी ने उपसर्ग और परसर्ग के प्रयोग में संस्कृत और फारसी के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी भाषाओं से लाभ उठाया है। इस मसनवी में 'पन', 'पना' और 'पनी' लगाकर बहुत-से शब्द प्रयुक्त किये गये है :

भावपन : कह्या नाग धर तन गुप्त भावपन । (१०७)
धनुरतपनी : करे घात का काम धनुरतपनी । (३११)
तरनपन : तरनपन भला कुच जग पत्त होय । (३९३)
थकथकपना : न थकथकपना छोडसी जगथग । (२००)
संगतपनी : मिलावे समालोक संगतपनी । (३१२);
मितरपना=मैत्री : सरव तूं मितरपना जद धरे ।
जानपन : जू अंजान कूं देह तूं जानपन । (१००३)
बालपन : सू कोई जान जाने न बुझ बालपन । (१००३)

उपसर्ग : दक्खिनी हिन्दी मे कई प्रकार के उपसर्ग लगाकर शब्द बनाये गये हैं, जो इस प्रकार है :

'पर' : परनार : दुनिया में बुरा काम परनार संग । (१००)
परमुख : न परमुख खाईं कोई तन अघाए । (५९४)
परचाल : जू चाल अपनी छोड परचाल जाए । (७४३)
परदेस : कहूं अब्ब कुच भेद परदेस ना । (३१८)
'क' : कढंग : के उस थीं बुरा कुच नहीं कढंग । (१००)
'नि' : निरूप : निरूप यूं दिया राय परधान कूं । (७४)
निरस : सिवा जित भला करे........निरस । (६१४)
निसंग : बनाती कई पंख तूते निसंग । (८२०)
निखड : परन देह चुक आज निखंड रात । (१३२)
'निर'.निरधार : जिसे ऐसा गुसाईं निरधार होय । (८९५)
निरासी : सू यह बाव आँधी निरासी कुजान । (८८४)
निरजीव : घडी खांड लग देख निरजीव कर । (९९३)
निरमला : सदा........था बोल तुज निरमला । (६३९)
'कु' : कुपंग : जब अपना हुआ दाम खोटा कुपंग। (९०६)
कुभेस : के देस आपना देक हिन्दू कुभेस । (८९६)

'अ' : अवघड : पर अवघड सब्द मुंज सुन क्यो रहूं। (६४७)
अचल : अचल जे. .....राय तुज राय पर। (६९९)
अभाग : थीं देह अभ्भाग तूं देह भाग। (७७१)
अखना = न खाना . अखनां रहूं त्यूं न तुज सुंवरकर।

इस प्रकार, अवचता, अचित, अपार, अचूक, अढल असंगत, अंजाव आदि शब्द भी इस मसनवी मे आये हैं।

अनुनासिक ध्वनि का आधिक्य : 'मसनवी कदमराव पदमराव' मे क्रिया, अव्यय तथा सज्ञा के अन्त मे अनुनासिक का प्रयोग काफी अधिक मिलता है :

सूं तूं साह गंभीर गडवा कहीर। (६८)
सू बोल्या तुझे जू न था बोलनां,
सताल एक संजरी रह्या खोलनां। (१२६)
घडी खांड का सुख मद पीवनां,
खुमारी केरा दुख ले जीवनां। (३२३)

इस प्रकार, अनुनासिक ध्वनियाँ शब्दो के अंग-सी बन गई हैं। खड़ीबोली, व्रज और अवधी मे जनसामान्य की भाषा पर यह आज भी चढी हुई है। निम्नांकित उदाहरण 'कदमराव पदमराव' मे देखे जा सकते है :

घांस = घास : रुइ घास थीं अग्ग झांपी न जाय। (१८३)
उडता = उडना : उडंता पखेरू धरे दिल अदोस। (२३१)
झूठ = झूठ : उडाए गए घर जरी झूंट कर। (५७२)
शंक = शक : न इस भाव शंका धरूं हूं न शंक। (१८४)
पछते = पूछते : बतूली दिया पूंछते काट नाक। (८७०)
ढाक = ढाक . न बरछियाक का चन्द कूं आव ढांक। (२०७)
मुंज = मुज = मुझ . के अब नहीं थीं मत्त मुज लेहू भाग। (२५६)
बूटी = बूटी . न झाडी न बूंटी डरे बाब कूं।

बहुवचन के रूप . 'आं' लगाकर बहुवचन बनाने की रीति दक्खिनी की ... कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

जू अपडे कछू दीस चेसां नराईं। (१२९)
टन्डूरा फिरावे गलिया कूचरियां,
के रावा गया राव दे गालिया। (५८७)
पडी तलवसी सुन्दरिया रानिया।
तल ऊपर होया दासरियां चेरिया॥ (९५)

अन्य उदाहरण : ... : असंगन दीठे तेलनं सांप झाप। (१५८)

'गवार' का बहुवचन 'गंवारे' भी प्रयुक्त किया गया है :

गंवारे करे किन में बुद्ध कूं । (२६५)

'न' लगाकर भी बहुवचन बनाये जाते थे । यथा : परदेसी = परदेसीन :

जू परदेसीन थी डरे वह निदान । (३०१)

इस प्रकार, 'अखर' के बहुवचन 'अखरन' मिलता है । आकार का एकार रूप भी मिलता है : कान्धा = कान्धे ।

सर्वनाम · सूं = सो = वह; तै, तूं = तू; तुम्हन = तुम; हूं, मै = मैं; हमें = हम; तिसका = उसका; तिसे = उसको; तिसी = उसी; तू च = तू ही; तिन्हन = उसको; तिन्हू = उनमे; जिसी ।

धातु के साथ 'न' लगाकर बनाये गये शब्द 'कदमराव पदमराव मे पाये जाते है । व्रज और पंजाबी मे ऐसे शब्द प्रचलित है । उदाहरण द्रष्टव्य है : पठावन, मरन, उडन, करन, धरन, गमन, बिचारन, तरन आदि ।

इस प्रकार, विधिरूप और भविष्यत्काल के यथानिर्दिष्ट रूप पाये जाते है : साख धरे, करें = कर अर्थ मे; पथावन = प्राप्त करे; पीवे, खाएँ; कर; देवे = दे; देह = दें; दिखलाव ।

'कदमराव पदमराव' मे 'सी' का अधिक प्रयोग मिलता है । उर्दू के प्रसिद्ध लेखक **श्रीमहमूद शेरानी** को 'सबरस' मे 'सी' के भविष्यत्कालीन रूप चार स्थानो पर प्राप्त हुए है । **डॉ० अबुल्लैस सिद्दीकी** के अनुसार, लाहौर की पजाबी में आज भी 'सी' भविष्यत् के अतिरिक्त सामान्य वर्त्तमानकाल की सहायक क्रिया 'था' के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है । यथा : छोडसी, रहसी, धिकसी; सचसी, करसूं = करूँगा; न्होसी = न होगा, नहीं होता, हकारसी = बुलाये, बुलायेगा, बुलाता है । हारसी = हारता है, हारे ।

भविष्यत् और विधि के अन्य रूप लिखन = लिखे; सुनन = अगर सुने, अगर सुनेगे; जलो = जले (जलना से) ।

क्रिया के वर्त्तमानकाल का भी रूप पाया जाता है । कहूँ = मैं कहता हूँ ।

क्रिया का एक अन्य रूप : कहन सके, रहन सके, बोलन सके ।

क्रिया के बहुवचन रूप : अथी = 'थी' अर्थ मे । अहैं = अहै का बहुवचन, 'है' अर्थ में ।

संयुक्त क्रियाएँ : 'कदमराव पदमराव' में प्रयुक्त संयुक्त क्रियाएँ देशज शब्दों—संज्ञा और धातु—के साथ सहायक क्रिया लगाकर बनाई गई है :

१. दिखावन सकूं : **दिखावन सकूं बोल दिन मन्ह बनूद । (४५९)**
२. करन लागा : **भवन्दा चल्या करन लागा असूझ । (७३६)**
३. बिनती करन : **बिन अंखें हुंकारे न बिनती करन । (६१०)**
४. बुलन्दा करन : **बुलन्दा करन घर कहन तिस कटानूं । (८४०)**
५. देखन पडे : **तिन्हन पाथ देखन पडे मुंज आज । (८७३)**

६ हकारन करूँ · बरस पांच (लग) ना हंकारन करूं । (५१३)
७ चमकन लगे : चमक्कन लगे जब कितक हत्त पर । (५६)
८ अरोगन करन · के हूं लूडने थे अरोगन करन । (१०७)
९. देख सकूं : असंगत के क्यों देख सकूं अन्याव । (१५९)

ऐसी सहायक क्रियाएँ भी पाई जाती है, जिनमे फारसी-अरबी के साथ हिन्दी की सहायक क्रियाएँ जोड़ी गई है। यह प्रवृत्ति मुल्ला वजही की कालजयी गद्यकृति 'सबरस' मे अधिक पाई जाती है। 'कदमराव पदमराव' मे उदाहरण द्रष्टव्य :

१. मुसख्खर हुआ : उतारिद मुसख्खर हुआ ले कलम । (५४)
२. मुसख्खर किया मुसख्खर किया सूर दे हृत अलम । (५४)

सामान्य भूतकाल बनाने के लिए धातु का 'ना' हटाकर 'या' लगाया गया है। यह दक्खिनी हिन्दी की सहज प्रवृत्ति रही है। यथा :

सर्‌या=पैदा किया तुहीं ऊन्च अबर सर्‌या बाज अधार । (७०)
सर्‌ज्या=पैदा किया . रतन सरज्या तं जला नकोर थीं । (११)
कह्या=कहा . कह्या नाग घरतन ्गुपत भावपन । (१०७)
मार्‌या=मारा : के बिन दोस मुंज कह के मार्‌या उचाए । (१०८)
रह्या=रहा : रह्या पांगोल होकर बिजार । (१०५)
उठ्या=उठा . गया राज तुज जब उठ्या बोल । (६९०)

'कर' का प्रयोग :

१. नस्सके कोई बुद्ध मे कर बिचार । (१८)
२. सप्त समन्द पानी जू मसि कर भरें । (२२)
३. सरे दोय तं जग तोड आद कर । (३०)
४. के ते वेल बिलगत करन राज कर । (३१)
५. तिन्हन दूर कर मुझे दे उत्तर ।
६ गई न्हास नागन परान आप ले (ले=लेकर)। (१६१)

कतिपय अन्य विशिष्टताएँ : एक स्थान पर 'के', 'या' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है :

कदमराव हो के पदमराव हो । (३४३)

इसी प्रकार, 'के' और 'के' साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं :

के के यूं हुआ तूं दोई भाव सूं । (६१८)
निकल वेग चल तूं के के राजकर । (६३७)
मेगन के रावन के के कुंभकरन । (६७०)

प्रायः दक्खिनी हिन्दी मे जब एक ही शब्द दो बार आवृत्त हो जाता है, तब बीच मे 'ए' लगाया जाता है। जैसे : घरे-घर, चमने-चमन, ठारे-ठार आदि। किन्तु, निजामी के प्रयोगों मे इस रूप का अभाव है। उन्होने जो रूप प्रयुक्त किये है, वे इस प्रकार हैं :

१. धक धक : न तैसा कछू बोलिए धक धक। (९३१)
२. फाट फूट : पवन की न कीता बदल फाट फूट। (५२१)
३. बरसा बरस : सुलावें किसी भाग बरसा बरस। (७७६)
४. ठार ठार : धरत मारग आसन घरे ठार ठार। (१०)
५. तिल तिल : सेवा सेव तिल तिल करे दिन्नमान। (३७)
६. झार झार : नबी यार थे यार ते झार झार। (४३)
७. कांट कांट : के फिर फूल फल होय थी कांट कांट। (९०)
८. घर घर : फिरे क्यूं न सब लोग घर घर बिखार। (५३६)

एक स्थान पर निम्नांकित रूप भी मिलता है :

घरें घर : धरें घर फिरे लोक कहता पुकार। (६८८)

अक्षर-विपर्यय : 'र' के स्थान पर 'ल' : घडा अत तावे जू लोहा लुहाल। (५६१)
(लुहाल=लुहार)

दिवाल = दीवार : के सर थीं हुआ पाए लग ज्यूं दिवाल। (६२२)

'ल' के स्थान पर 'र'; चेरा=चेला न यू नां त तामन न चेरा करूं। (४०२)

जर जर=जल जल . बिसावे अपस क्यूं (न) जर जर मरन। (७८६)

महाप्राण अघोष को महाप्राण सघोष बनाकर प्रयुक्त किया गया है :

गाढ=गाड : अलम गाढ घन सूर चल सर उचाव। (५५)
मन्धर=मन्दिर : के जे हूं न जानूं मन्धर रानिवास।
जम्हार=जमार=हमेशा . तहां क्यूं करे राज ..जम्हार। (८३३)
कझाल=कजाल (काई) : मुक उच्छा हिएं समन्द पकड्या कंझाल। (६२२)

सघोष महाप्राण के स्थान पर अघोष महाप्राण का प्रयोग भी किया गया है :

१. लाब=लाभ : के तिस बोल तें लाब बिन हान होय। (७९)
२. कबी=कभी : कबी दो पहर रात राम और राम। (१३७)
३. लिक=लिख : के जू होय परीतो तू मुंज लिक। (४०६)
४. मूरक=मूरख . सू मूरक न्हूं हूं जू लाभ आप देख। (६६५)
५. शब्द 'गांट' और 'गाढ' दोनों मिलते हैं :

रतन कोई न मोल ले गांट खोल। (२०५)
गगन गांढ देना मुवा कित बसन। (५०७)

विना संयोजक के दो भिन्न शब्दों का प्रयोग भी देखा जा सकता है। समास :

१. भग्ग जग=जगत् का भाग्य : कलम स्यान सूं लिख्या भग्ग जग। (५)
२. आप बल : बल ऊपर तुही कर सके आप बल। (४)
३ नूर धर : पथाया अमोलक रतन नूर धर। (३१)
४. गगन डाल थान : धरते पैर पकडे गगन डाल थान। (३६)

५. नबी यार : नबी यार थे यार ते झार झार। (४३)
६. पाव तल : धोय आन में सर धरे पाव तल। (४७)
७. हृत्त अलम : मुसख्खर किया सूर दे हृत अलम। (५४)
८. मुर्ख पानी : कधी मुख पानीं अपस न गंवाव। (८९८)

'लपेटना' शब्द 'पलेट' रूप में प्रयुक्त किया गया है :

के जिस भेंट थी राज सब ले पलेट। (२७४)

'ने' प्रत्यय का प्रयोग 'कदमराव पदमराव' मे कही भी नही किया गया है।

'कदमराव पदमराव' की भाषा का सम्यक् अध्ययन करने पर हिन्दी के शब्द-भाण्डार को समृद्ध करनेवाले शब्दो के विभिन्न स्रोतो का परिचय भी हमें प्राप्त होता है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का अध्ययन भी अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव मे, इस ग्रन्थ की भाषा राष्ट्रभारती के अनुरूप भारत की बहुत-सी भाषाओ का शब्द ग्रहण कर अपना राष्ट्रव्यापी स्वरूप प्रदर्शित कर रही है। कविवर निजामी दकनी ने भारतीय भाषाओ की मूल स्रोतस्विनी सस्कृत से तत्सम और तद्भव शब्दो को ग्रहण करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी के सस्कृतनिष्ठ स्वरूप की आधारशिला रखी थी।

●●

△ हिन्दी-प्रवक्ता, पत्राचार-पाठसस्थान
केरल-विश्वविद्यालय, कार्यवट्टम्,
त्रिवेन्द्रम् (केरल)

●

साधुवाद !

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसके साहित्य के क्षेत्र में 'परिषद्-पत्रिका' का अपना गौरवपूर्ण स्तर है। इसमे प्रकाशित सभी रचनाएँ गवेषणात्मक, आलोचनात्मक एवं उत्तम कोटि की रहती है। अवश्य ही, सतर्क सम्पादकत्व मे 'परिषद्-पत्रिका' का बहुमुख विकास हो रहा है। सामग्री का चयन, लेखो की क्रमबद्धता, शोध-वैदुष्यपूर्ण रचनाओ का समादर — यह सब सम्पादक की प्रखर बुद्धिमत्ता और सूझ-बूझ का प्रतीक है, साथ ही उसकी सुलझी हुई विचारधारा एव गहन-गम्भीर अध्ययन, मनन और चिन्तन का भी द्योतक है। मेरी ओर से साधुवाद !

△ मरुड़ों का चौक, बीकानेर (राजस्थान)　　△ श्रीमोहनलाल पुरोहित

●

व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की भाषिक विशेषता

△ श्रीविशनकुमार शर्मा

व्यक्तिव्यंजक निबन्ध (ललित निबन्ध) हिन्दी-साहित्य की विशिष्ट विधा है। अपनी सामान्य विशेषताओं[1] के अतिरिक्त इस कोटि के निबन्ध भाषिक विधान की विशेषता के कारण सर्वथा पृथक् अस्तित्व रखते हैं। वैसे भी साहित्य की प्रत्येक विधा अपनी भाषिक संरचना के आधार पर एक दूसरे से कुछ भिन्न प्रकृति अवश्य रखती है। हिन्दी की कई ललित विधाओ मे, जैसे कविता, कहानी, उपन्यास आदि मे आंशिक रूप से भाषिक संरचना की सैद्धान्तिक पीठिका मेल खा सकती है; लेकिन व्यक्तिव्यंजक निबन्धों में भाषा का लालित्य कुछ अधिक दृष्टिगोचर होता है। वास्तव मे, भाषा का यही लालित्य ऐसे निबन्धों को राग-रंजित दीप्ति देता है। जैसे : संन्यासी की विशेषता—वरन् बाह्य विशेषता उसके अरुणिम वस्त्रो मे निहित होता है, ठीक वैसे ही व्यक्तिव्यजक निबन्धों की बाह्य विशेषता उसके लालित्यपूर्ण भाषिक विधान मे परिलक्षित होती है।

विद्वानों ने विचारात्मक और भावात्मक निबन्धों की भाषिक विशेषता, अर्थात् शैली को पहले से ही महत्त्वपूर्ण माना है। सामान्य रूप से विचारप्रधान निबन्धों में १. धाराशैली २. तरंगशैली ३. प्रलापशैली और ४. विक्षेपशैली निर्धारित की गई थीं।[2] किन्तु, व्यक्तिव्यंजक निबन्ध शुद्ध भावात्मक और शुद्ध विचारात्मक दोनों ही कोटि के निबन्धों से अपना भिन्न स्वरूप प्रदर्शित करते है। इस दृष्टि से डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने व्यक्तिव्यंजक निबन्ध मे 'सुश्रृंखल भाव-विचार-सरणि का तारतम्य' स्वीकार किया है।[3] डॉ० विद्यानिवास मिश्र भी ऐसे निबन्धों मे 'पाण्डित्य के साथ भावुकता' को बराबर विशेष स्थान देते है[4] और श्रीअज्ञेय भी इस श्रेणी के निबन्धो को 'लीलाभाव के माध्यम से रुचि-वैचित्र्य या विशेष मनोदशा (विचारों) की अभिव्यक्ति' कहते है।[5] संक्षेप, मे इन तीनों ने व्यक्तिव्यंजक निबन्धों मे भावात्मकता और विचारात्मकता दोनों को ही स्थान दिया है। अत, व्यक्तिव्यंजक निबन्धो की विशेषताओं के निर्णायक उपयुक्त तीनो विद्वानों के मतानुसार इस श्रेणी के निबन्धों को उभयात्मक निबन्ध कह सकते है।

मूलतः, इन उभयात्मक निबन्धों ने भाषिक संरचना की दृष्टि से विचारात्मकता की व्यासशैली और भावात्मकता की विशेष रूप से धारा, तरंग और प्रलाप-शैलियों को अपने में आत्मसात् किया। साहित्य की प्रमुख ललित विधाओं की भाषिक विशेषता में,

वरन् सबसे अधिक व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की भाषिक विशेषता मे व्यास, धारा, तरंग और प्रलाप-तत्त्व से पूर्ण भाषा का एक विशिष्ट रूप होता है, जिसे एक शब्द मे भाषा का ललित रूप कहा जा सकता है।

वैसे भी, **डॉ० विद्यानिवास मिश्र** ने व्यक्तिव्यंजक निबन्ध मे निबन्धकार द्वारा भाषा के सभी धरातलो पर उसकी अनुरजनकारी सम्भावनाओ की खोज और अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा की सरचना को अनिवार्य माना है।[६] इसी आधार पर श्रीअज्ञेय ने ऐसे निबन्धो को ललित व्यक्तित्व और तदनुरूप भाषा की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया है।[७] और, एक स्थल पर श्रीअज्ञेय ने व्यक्तिव्यंजक निबन्ध-लेखक के व्यक्तित्व को लीलाभाव से भी जोडा है,[८] इसलिए, हम कह सकते है कि श्रीअज्ञेय भी मिश्रजी की तरह ऐसे निबन्धो की भाषा मे लीलाभाव को निहित मानते है।

एक प्रकार से व्यक्तिव्यजक निबन्धो की भाषा मे अनुरंजनकारी सम्भावनाओ की खोज, उसकी नई संरचना-पद्धति और व्यक्तित्व-रजित लीलाभाव की प्रधानता समन्वयात्मक अवधारणा के आधार पर भाषा मे लालित्य को जन्म अवश्य देती है और तभी भाषा मे व्यास, धारा, तरग आदि के रूप मुखरित होते है।

व्यक्तिव्यंजक निबन्धो की भाषा-विषयक उक्त अवधारणा मे भाषिक इकाइयो की संरचना क्या रूप ग्रहण करती है, इसका सैद्धान्तिक विश्लेषण-विवेचन ही उस विशेषता का निर्णायक हो सकता है, जो लालित्य को निरन्तर उजागर करती है। अतः, भाषिक विशेषता के निर्णायक वैज्ञानिक सिद्धान्तो मे प्रमुखतया भाषा-समानान्तरता (पैरललिज्म) का स्थान है।

वस्तुतः, लालित्यपूर्ण भाषा मे समानान्तरता पहली विशेषता है। समानान्तरता को भाषा मे क्रमश. सादृश्य,[९] साम्य, समानता, समता[१०] आदि समानार्थी नाम देकर समझाया गया है। **डॉ० भोलानाथ तिवारी** के अनुसार, 'समानान्तरता' से आशय है, 'किसी रचना मे समान या विरोधी भाषिक इकाइयो[११] का समानान्तर प्रयोग। इसमे समान अथवा विरोधी भाषिक इकाइयो की एक या एक से अधिक बार आवृत्ति होती है अथवा ये भाषिक इकाइयाँ किसी रचना मे एकाधिक बार समान क्रम से साथ-साथ आती है।'[१२] कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य :

समान भाषिक इकाइयों का समान क्रम से समानान्तर प्रयोग : "सम्राटो-सामन्तों ने जिस आचारनिष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई; धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसो के अनुकरण पर जो रसराशि उमडी थी, वह बाष्प की भाँति उड़ गई, तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल मे खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा?"[१३]

प्रस्तुत उदाहरण मे भाषिक इकाइयो का व्याकरणिक क्रम समान है। इस समानता का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है;

१. सम्राटों-सामन्तों/ने/जिस/आचारनिष्ठा/को/इतना/मोहक और मादक/रूप दिया था/वह/लुप्त/हो गई ।

२. धर्माचार्यो/ने/जिस/ज्ञान-वैराग्य/को/इतना/महार्घ/समझा था/वह/समाप्त/हो गया ।

विरोधी भाषिक इकाइयों का समान क्रम से समानान्तर प्रयोग : "शिरीष वायु-मण्डल से रस खींचकर इतना कोमल और इतना कठोर है। गान्धी भी वायुमण्डल से रस खीचकर इतना कोमल और इतना कठोर हो सका था।"[१४]

प्रस्तुत उदाहरण में, समान क्रम से और अर्थ की दृष्टि से विरोधी (कोमल और कठोर) दो भाषिक इकाइयो का प्रयोग हुआ है ।

इस प्रकार, हिन्दी के व्यक्तिव्यंजक निबन्धों मे भाषिक समानान्तरता वर्ण, अक्षर, शब्द, पद, पदवन्ध, वाक्य, प्रोक्ति, अर्थ आदि के सभी स्तरों पर संयोजित होती है ।

निबन्ध मे वर्ण और अक्षर के स्तर पर समानान्तरता का निर्वाह एक विशिष्ट रागरंजित और लीलाभाव से युक्त दीप्ति देता है। काव्यशास्त्र की शब्दावली में कहा जाय तो, इससे गद्य में लालित्यप्रदायिनी आनुप्रासिकता का प्रादुर्भाव होता है, जो निरन्तर वर्ण-संयोजना के द्वारा चमत्कार-पूर्ण बन जाती है ।[१५]

वर्ण-समानान्तरता :

वर्ण-समानान्तरता के, समता और विरोध के आधार पर दो भेद होते है :

१. **समतामूलक वर्ण-समानान्तरता :** जहाँ वाक्यान्तर्गत क्रमशः समानान्तर रूप में एक अथवा अनेक समान ध्वनियों (वर्णो) की आवृत्ति एक या अनेक वार होती है, वहाँ समतामूलक वर्ण-समानान्तरता पाई जाती है।[१६] जैसे : 'कमलो के कषाय अंकुर को कुतरनेवाले राजहस लापता है, कर्त्तकंकार से वर्षाकाल को कोलाहल-मुखर करनेवाले क्रौंच-युगलो का अभाव है।'[१७] इस उदाहरण में शब्दों के आदि और मध्य में क् वर्ण का समानान्तर प्रयोग हुआ है ।

शब्दों के आदि मे बारह वार 'क्' वर्ण का समानान्तर प्रयोग . कमलों = क् + अ + मलो; के = क् + ए; कषाय = क् + अ + षाय; को = क् + ओ; कुतरने = क् + उ + तरने; कर्त्तकंकार = क् + अ + र् + त्तकंकार; काल = क् + आ + ल् + अ; को = क् + ओ; कोलाहल = क् + ओ + लाहल, करने = क् + अ + रने; क्रौच = क् + र + औ + ञ् + च् + अ; का = क् + आ ।

शब्दों के मध्य तीन वार 'क्' वर्ण का समानान्तर प्रयोग : अंकुर = अं + क् + उ + र् + अ; कर्त्तकंकार = कर्त्त + क् + अं + क् + आर ।

पाश्चात्य शैलीविज्ञान के पण्डितों ने जिसे समानान्तरता नाम से व्यक्त किया है, उसे भारतीय काव्याचार्यों ने वर्णविन्यासवक्रता, अर्थात् अनुप्रास-चक्र में आत्मसात्

माना है।[१८] भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार, उक्त उदाहरण में छेकानुप्रास[१८] माना जा सकता है।

२ **विरोधमूलक वर्ण-समानान्तरता :** जहाँ वाक्यान्तर्गत दो या दो से अधिक विरोधी वर्णों का समान क्रम से प्रयोग होता है और उनके अर्थ भी विरोधी होते है, वहाँ विरोध-मूलक वर्ण-समानान्तरता होती है। जैसे 'महासमुद्र से ही अमृत का आविर्भाव होता है।'[१९] 'विचित्र है यह द्वैत मे अद्वैत का आकर्षण।'[२०] इन उदाहरणो में अ और आ दो विरोधी वर्ण हैं और इनके अर्थ भी विरोधी है।

अक्षर-समानान्तरता :

अक्षर-समानान्तरता के, समता और विरोध के आधार पर दो भेद होते है :

१. **समतामूलक अक्षर-समानान्तरता** (समान वर्णवाले अक्षरो का समानान्तर प्रयोग) **:** जहाँ वाक्यान्तर्गत क्रमशः प्रत्यक्ष रूप से समान अक्षरो की आवृत्ति पाई जाती है, वहाँ समतामूलक अक्षर-समानान्तरता पाई जाती है। इसमे शब्दो के आदि, मध्य और अन्त के किसी भी अक्षर की आवृत्ति मे समानता हो सकती है। जैसे :

(क) आदि-अक्षर-समता : "इसी तरह और भी इन्द्रियगृहीत बिम्बो का विविक्ती-करण और संकल्प-सयोजन से मानव-सृष्ट सहस्रो नई चीजे।"[२१]

(ख) मध्य-अक्षर-समता : "भारतवर्ष के धारावाहिक साहित्य मे हमारे इस भूभाग का क्या महत्त्व होगा भला।"[२२]

(ग) अन्त्य-अक्षर-समता : "बहरहाल, यह कूटज कुटज है, मनोहर कुसुम-स्तबको से झबराया, उल्लास-लोल चारुस्मित कुटज।"[२३]

विभिन्न व्यक्तिव्यंजक निबन्धो से उद्धृत उक्त उदाहरणो मे अक्षर-समानान्तरता भी भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से अनुप्रास अलंकार मे समाविष्ट है।

२. **विरोधमूलक अक्षर-समानान्तरता :** जहाँ वाक्यान्तर्गत दो विरोधी अक्षरो की आवृत्ति समान क्रम से पाई जाती है, पर उनके अर्थ विरोधी नही होते, वहाँ विरोध-मूलक अक्षर-समानान्तरता होती है। जैसे : 'नाहक, अर्थात् बेमतलब, निरर्थक।'[२४] इस उदाहरण मे **ना, बे** और **नि** विरोधी अक्षर हैं, पर इनके अर्थ प्रायः समान है, अर्थात् विरोधी नहीं हैं। अत., यहाँ विरोधमूलक अक्षर-समानान्तरता है।

शब्द-समानान्तरता :

शब्द-समानान्तरता के, समता और विरोध के आधार पर दो भेद होते हैं :

१. **समतामूलक शब्द-समानान्तरता :** जहाँ वाक्यान्तर्गत समान ध्वनिवाले एक अथवा अनेक शब्दो का प्रयोग दो या दो से अधिक बार समानान्तर रूप मे होता है, वहाँ समतामूलक शब्द-समानान्तरता होती है।

(क) समान ध्वनिवाले एक शब्द का दो से अधिक बार समानान्तर प्रयोग : "छोटे-छोटे, लाल-लाल पुष्पो के मनोहर स्तबको मे कैसा मोहन भाव है!"[२५]

(ख) समान ध्वनिवाले एक शब्द का दो से अधिक बार समानान्तर प्रयोग : "पीछे मुँड़कट्टा, घोड़े पर चढ़ा चला आ रहा था, टप्प-टप्प-टप्प।"[२६]

२ **विरोधमूलक शब्द-समानान्तरता :** जहाँ वाक्यान्तर्गत विरोधी ध्वनिवाले अनेक शब्दों का प्रयोग दो या दो से अधिक बार समानान्तर रूप में होता है और उनके अर्थ प्रायः समान होते है, वहाँ विरोधमूलक शब्द-समानान्तरता होती है। उदाहरण :

"क्योंकि पहले दलवाले भीरु है, डरपोक है, कायर है और क्यो दूसरे दलवाले हठी है, अभिमानी है, रूढिप्रिय हैं।"[२७]

"नाचनेवाले का कोई उद्देश्य नही, मतलब नही, अर्थ नही।"[२८]

पद-समानान्तरता[२९] :

पद-समानान्तरता के, समता और विरोध के आधार पर दो भेद होते हैं :

१. **समतामूलक पद-समानान्तरता :** जहाँ वाक्यान्तर्गत समान ध्वनिवाले एक अथवा अनेक पदों का प्रयोग दो या दो से अधिक बार समानान्तर रूप मे होता है, वहाँ समतामूलक पद-समानान्तरता होती है।

(क) समान ध्वनिवाले एक पद का दो बार समानान्तर प्रयोग : "काली-काली चट्टाने और बीच-बीच मे शुष्कता की अन्तर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करनेवाली रक्ताभ रेती!'[३०]

(ख) समान ध्वनिवाले एक पद का दो से अधिक बार समानान्तर प्रयोग : "नाग हारे, सुपर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे।"[३१] "वज्जी लोग इकट्ठे जुटते, इकट्ठे उद्यम करते, इकट्ठे होकर अपने राष्ट्रीय और समाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते है।"[३२]

पाश्चात्य शैलीविज्ञान की दृष्टि से जो शब्द-समतामूलक और पद-समतामूलक समानान्तरता है, वही भारतीय काव्यशास्त्र में 'पुनरुक्तिप्रकाश' अलंकार है।

२. **विरोधमूलक पद-समानान्तरता :** जहाँ वाक्यान्तर्गत विरोधी ध्वनिवाले पदों का दो या दो से अधिक बार समानान्तर प्रयोग होता है, वहाँ विरोधमूलक पद-समानान्तरता होती है। जैसे : घने, काले, घुँघराले बाल अस्तव्यस्त थे।"[३३] "यहाँ के श्रेष्ठियों, सार्थवाहों और कुलिकों के निगम की साख संसार में थी।"[३४] इन उदाहरणों मे विरोधी ध्वनिवाले विशेषणों और सज्ञापदो का समानान्तर प्रयोग हुआ है।

पदबन्ध-समानान्तरता :

पदबन्ध-समानान्तरता के, समता और विरोध के आधार पर दो भेद होते हैं :

१. **समतामूलक पदबन्ध-समानान्तरता :** समतामूलक पदबन्ध-समानान्तरता वहाँ होती है, जहाँ दो या दो से अधिक वाक्यों मे समान ध्वनिवाले, अर्थात् एक-से पदबन्धों का समानान्तर प्रयोग होता है।

(क) समान ध्वनिवाले संज्ञा और क्रिया-पदबन्धों का समानान्तर प्रयोग : "वह वाणी त्यागी बोल सकता है, वह वाणी प्रेमी बोल सकता है, वह वाणी केवल सन्त को शोभा देती है।"[३५]

(ख) "वह चला गया, गान्धी चला गया।"[३६] यहाँ 'चला गया, चला गया' क्रिया-पदबन्धों मे 'वीप्सा' अलंकार माना जा सकता है।

२. विरोधमूलक पदबन्ध-समानान्तरता : विरोधमूलक पदबन्ध-समानान्तरता वहाँ होती है, जहाँ दो या दो से अधिक वाक्यो मे विरोधी ध्वनिवाले पदबन्धों का समानान्तर प्रयोग होता है।

विरोधी ध्वनिवाले संज्ञा और क्रिया-पदबन्धों का समानान्तर प्रयोग : "एक ने वेदों को दिया, दूसरे ने रामायण को और तीसरे ने महाभारत को।"[३७] "वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया।"[३८]

वाक्य-समानान्तरता .

वाक्य-समानान्तरता के, समता और विरोध के आधार पर दो भेद होते है :

१. समतामूलक वाक्य-समानान्तरता . जहाँ एक या अनेक अनुच्छेदो मे समान ध्वनिवाला एक ही वाक्य समान क्रम से दो या दो से अधिक बार समानान्तर रूप मे प्रयुक्त होता है, वहाँ समतामूलक वाक्य-समानान्तरता होती है।

समान ध्वनिवाले वाक्य का समानान्तर प्रयोग : "शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर ये चुहिया क्यो निकाली जा रही है?" "शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतो को खोदकर ये चुहिया क्यों निकाली जा रही है?"[३९]

इस उदाहरण मे एक ही वाक्य अक्षुण्ण रूप मे दो बार अनुच्छेद-स्तर पर प्रयुक्त हुआ है; इसलिए यहाँ वाक्य-समतामूलक समानान्तरता है।

२. विरोधमूलक वाक्य-समानान्तरता : जहाँ विरोधी ध्वनिवाले समान व्याकरणिक संरचना से युक्त कई वाक्य समान क्रम से, अर्थात् समानान्तर रूप मे प्रयुक्त होते है, वहाँ विरोधमूलक वाक्य-समानान्तरता होती हैं।

विरोधी ध्वनिवाले वाक्यों के समानान्तर प्रयोग के उदाहरण :

"प्राण ही प्राण को पुलकित करता है,
जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है।"[४०]
"हिमालय से ही गगा की धारा निकल सकती है,
महासमुद्र से ही अमृत का आविर्भाव होता है।"[४१]

इन उदाहरणों मे समान व्याकरणिक क्रमवाले, किन्तु विरोधी ध्वनि के वाक्यों का समानान्तर प्रयोग हुआ है।

प्रोक्ति-समानान्तरता :

व्यक्तिव्यंजक निवन्धों की ललित भाषा में वाक्य-समानान्तरता की तरह प्रोक्ति-समानान्तरता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः प्रोक्ति-समानान्तरता मे दो या दो से अधिक समान अथवा विरोधी भाषिक इकाइयों से बने प्रोक्तियों का समानान्तर प्रयोग होता है। जैसे :

"भारतीय संस्कृति में सतीत्व की रक्षा का भाव है। यह आचरण को महत्त्व देती है। इसके अन्दर उपासना के वेग को बढाने की शक्ति है। यह सब ही तो भारतीय संस्कृति का सुवर्ण है।" "पाश्चात्य कल्चर में स्त्रैणता की उन्नति के विचार है। वह रमण का आदर करती है। उसके भीतर विलास के ज्वार को उठाने की प्रेरणा है। यह सम्पूर्ण ही तो पाश्चात्य कल्चर का कचरा है।"[४२]

प्रस्तुत उदाहरण की दोनों प्रोक्तियों में समान व्याकरणिक क्रम से युक्त समान वाक्यों का प्रयोग है। अतः, यहाँ प्रोक्ति-समानान्तरता है।

इस प्रकार, जब व्यक्तिव्यंजक निबन्ध मे भाषिक समानान्तरता का निर्वाह प्रत्येक भाषिक इकाई (वर्ण से प्रोक्ति तक) के स्तर पर होता है, तब उसमें स्वाभाविक रूप से लालित्य मुखरित हो उठता है। वैसे भी वर्ण, पदबन्ध, वाक्य और प्रोक्ति-समानान्तरता के निर्वाह से भाषा मे व्यासत्व आता है और व्यासत्व के योग से जब भाषा में समानान्तर भावो का लहाछेह क्रम अनवरत चलता है, तब उसमें तरंग और धारा का प्रवाह आ ही जाता है। मूलतः, भाषा की दृष्टि से विभिन्न प्रकार की समानान्तरता का जाल ही व्यक्तिव्यंजक निबन्ध का लालित्यपूर्ण आवरण है।

सन्दर्भ-संकेत :

१. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : 'कँटीले तारों के आर-पार'; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली—२; संस्क० सन् १९७६ ई०; पृ० १०६ से १२२ तक और श्रीअज्ञेय : 'जोग लिखी'; राजपाल ऐण्ड संज दिल्ली; संस्क० सन् १९७७ ई०, पृ० १०४ से १०९ तक।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'; नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; सस्क० स० २०२९ वि०, पृ० ३४५।

३. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : 'विचार के क्षण'; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली—६; संस्क० सन् १९७० ई०, पृ० १२५।

४. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : कँटीले तारो के आर-पार, पृ० ११०-१११।

५. श्रीअज्ञेय : जोग लिखी, पृ० १०८।

६. डॉ० विद्यानिवास मिश्र : कँटीले तारो के आर-पार, पृ० १०९-११०।

७. श्रीअज्ञेय : जोग लिखी, पृ० १०९-११०।

८. उपरिवत्, पृ० १०९।

९. डॉ० कृष्णकुमार शर्मा : 'गद्य-संरचना : शैलीवैज्ञानिक विवेचन', संघी प्रकाशन जयपुर, संस्करण : प्रथम, सन् १९७५ ई०, पृ० ११५।
१०. डॉ० नगेन्द्र : 'शैलीविज्ञान', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; संस्करण : प्रथम, सन् १९७६ ई०, पृ० ६६-६७।
११. भाषिक इकाइयों से तात्पर्य है—ध्वनि, अक्षर, शब्द, पदवन्ध, वाक्य और प्रोक्ति।
१२. डॉ० भोलानाथ तिवारी : शैलीविज्ञान, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : प्रथम, सन् १९७७ ई०, पृ० ८८।
१३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी · 'अशोक के फूल', लोकभारती प्रकाशन, इलाहावाद, संस्क० सन् १९७९ ई०, पृ० १५ ('अशोक के फूल' निबन्ध से)।
१४. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कल्पलता'; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; सस्क० सन् १९७६ ई०, पृ० २७-२८ ('शिरीष के फूल' निबन्ध से)।
१५. डॉ० नगेन्द्र : शैलीविज्ञान, पृ० ६६।
१६. डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इसे 'समध्वनि समानान्तरता' कहा है।
१७. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'आलोकपर्व'; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; संस्क० सन् १९७२ ई०, पृ० २३ ('हिमालय' [२] निवन्ध से)।
१८. का० १०५ : 'सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः; अनेकस्य अर्थात् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः।' —आचार्य मम्मट : काव्यप्रकाश, हिन्दी-व्याख्या, व्याख्याकार : आ० विश्वेश्वर, प्रका० ज्ञानमण्डल लिमि०, वाराणसी, संस्क० स० २०३१ वि०, पृ० ४०४।
१९. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कुटज', लोकभारती प्रकाशन, इलाहावाद, पृ० ७१ ('वैशाली' निबन्ध से)।
२०. उपरिवत्, पृ० १२७ ('आत्मदान का सन्देशवाहक वसन्त' निबन्ध से)।
२१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : आलोकपर्व, पृ० १० ('अन्धकार से जूझना है' निवन्ध से)।
२२. उपरिवत्, अशोक के फूल, पृ० ३४ ('मेरी जन्मभूमि' निवन्ध से)।
२३. उपरिवत्, कुटज, पृ० ३ ('कुटज' निवन्ध से)।
२४. उपरिवत्, पृ० ८२ ('देवदारु' निबन्ध से)।
२५. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'अशोक के फूल', पृ० ९ ('अशोक के फूल' निबन्ध से)।
२६. उपरिवत्, कुटज, पृ० ८३ ('देवदारु' निबन्ध से)।
२७. उपरिवत्, 'कल्पलता', पृ० ५५ ('ठाकुरजी की वटोर' निबन्ध से)।
२८. उपरिवत्, कुटज, पृ० ७८ ('देवदारु' निवन्ध से)।
२९. पद=वाक्य में प्रयुक्त शब्द का लिंगवचनीय एवं सपरसर्ग रूप।

३०. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कुटज, पृ० १ ('कुटज' निबन्ध से)।
३१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कल्पलता, पृ० ७ ('नाखून क्यों बढ़ते हैं?' निबन्ध से)।
३२. उपरिवत्, कुटज, पृ० ६९ ('वैशाली' निबन्ध से)।
३३. उपरिवत्, कल्पलता, पृ० ५६ ('ठाकुरजी की बटोर' निबन्ध से)।
३४. उपरिवत्, कुटज, पृ० ५ ('वैशाली' निबन्ध से)।
३५. उपरिवत्, कुटज, पृ० ७२ ('वैशाली' निबन्ध से)।
३६. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कल्पलता, पृ० १०४ ('वह चला गया' निबन्ध से)।
३७. उपरिवत्, पृ० २६ ('शिरीष के फूल' निबन्ध से)।
३८. उपरिवत्, पृ० १०४ ('वह चला गया' निबन्ध से)।
३९. उपरिवत्, विचार और वितर्क, साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद-३, संस्क० सन् १९६९ ई०, पृ० १२९-१३० ('पण्डितों की पंचायत' निबन्ध से)।
४०. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कुटज, पृ० ६ ('कुटज' निबन्ध से)।
४१. उपरिवत्, कुटज, पृ० २१ ('कुटज' में संकलित 'वैशाली' निबन्ध से)।
४२. सम्पा० सोमपाल शर्मा : 'ब्रह्मोदय' (पत्रिका), गो० पा० इ० का०, अलीगढ़ : २०२००१; संस्क० सन् १९८०-८१ ई०, पृ० १७ ('भारतीय संस्कृति' निबन्ध से)।

△ १३।१४, सराय बारह सैनी
अलीगढ़, २०२००१ (उ० प्र०)

श्रम एव जयते

'श्रम एव जयते' का अर्थ अब समझ में आया, जबकि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की 'परिषद्-पत्रिका' के कुछ अंक देखे और पढे। पत्रिका की एक-एक पंक्ति मुद्रक, लेखक और सम्पादक के श्रम एवं श्रम-ज्ञान के यशोगान कर रही है। 'परिषद्-पत्रिका' प्रारम्भ से ही अपनी सारस्वत साधना के बल उन्नति-शिखरोन्मुख रही है, इस बात का परिचय मुझे पत्रिका के जन्म-निर्माणकाल से ही है। और, यही कारण है कि आज मैं इसे कूट-शिखरस्थ देखकर गौरवान्वित हो रहा हूँ।

△ महात्मा गान्धी पथ, भागलपुर-१ △ डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश'

पूर्व-मध्यकालीन नगरों का आर्थिक स्वरूप

डॉ० अशोककुमार श्रीवास्तव

पूर्व-मध्ययुग मे, राजनीतिक एवं सामन्तीय व्यवस्था मे नगर एवं नगर-नियोजन के विकास और समृद्धि के लिए प्रतिद्वन्द्विता रहती थी। उत्तर भारत मे अनेक नगरो का सुनियोजित विकास हुआ, जो उद्योग-व्यवसाय एव शिल्प के प्रमुख केन्द्र थे। नगरो का विकास प्रारम्भकाल मे दो प्रकार से हुआ · प्रथम योजना-रहित, द्वितीय सुनियोजित। योजना-रहित नगर प्रारम्भ मे समृद्ध ग्राम थे। वाणिज्य के विकास के साथ-साथ उनका उत्थान हुआ। वे नदियो तथा समुद्र के तट पर एव सुप्रसिद्ध मार्गो पर अवस्थित थे। व्यापारिक केन्द्रो के अतिरिक्त, धार्मिक एवं शिक्षण-केन्द्र भी नगर के रूप मे बदल गये। जो नगर नदियो एव समुद्र के किनारे अवस्थित थे, उनमे कालरी, तुषरान (तुरान), सिन्दान, फन्दरीना आदि प्रमुख थे।[1] चन्दोमा-नगर (आधुनिक दूबकुण्ड) कुम्न नदी, त्रिपुरी-नगर नर्मदा नदी तथा उज्जयिनी-नगर शिप्रा नदी के तट पर अवस्थित थे। समुद्रतटीय नगरो मे खम्भात, सुवार, सोमनाथ, कर्णसुवर्ण एवं ताम्रलिप्ति-नगर सुप्रसिद्ध थे। समुद्र-तटीय नगर व्यापारिक दृष्टि से काफी समृद्ध थे। 'अमरकोश' मे ऐसे नगरो को 'पत्तन' कहा गया है।[2] इन नगरो मे चारो दिशाओ से सामान क्रय-विक्रय के निमित्त आते थे।

इस युग मे नगरो की प्रसिद्धि का कारण उनमे मन्दिरो का स्थित होना था। ऐसे नगरो को धार्मिक नगर कहा जाता था। इन नगरो मे मुलतान, सोमनाथ, वाराणसी और मथुरा प्रसिद्ध थे। वाटनगर एव जगदलपुर-नगर मन्दिरो के कारण ही प्रसिद्ध थे।[3] मन्दिरो की आय से नगर समृद्ध थे। इसी कारण, प्रमुख नगर धार्मिक केन्द्र होने के अतिरिक्त व्यापारिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण थे। वाराणसी-नगर[4] इस युग का धार्मिक केन्द्र होने के साथ-साथ प्रमुख व्यापारिक केन्द्र भी था, जहाँ के बजाज, जौहरी और गन्धी-बाजार बहुत ही प्रसिद्ध थे। मथुरा-नगर[5] प्रमुख तीर्थ होने के साथ ही उद्योग का भी मुख्य केन्द्र था। चीनी यात्री हुएनसांग के अनुसार, यह नगर धारीदार सूती कपड़े के उत्पादन का केन्द्र था।[6] ग्यारहवी शती के आरम्भ मे यहाँ अनेक मन्दिर थे। सुनियोजित नगरो मे राजधानी-नगर थे, जिनमे राजप्रासाद होते थे। अणहिलपाटन, धारा, कान्यकुब्ज, खजुरवाहक, त्रिपुरी, लखनावती, इन्द्रप्रस्थ, थानेश्वर आदि राजधानी-नगर सुन्दर एव सुनियोजित ढंग से बनाये गये थे।

भोज के 'समरांगणसूत्रधार' मे राजधानी-नगर के नियोजन का वर्णन है। इस ग्रन्थ के अनुसार, नगरो मे पानी, किला, मन्दिर एव व्यापारियो के भवनो की व्यवस्था का

होना आवश्यक माना गया है। नगर के चारों ओर प्राकार और ऊँचे द्वार होते थे। प्राकार के साथ, नगरों के समीप चारो ओर खाई होती थी। नगर के भीतर सड़कें, गलियाँ और रथ्याएँ नियोजित ढंग से बनती थी, जिनके किनारे दूकानें (विपणि), राजप्रासाद एवं भवन होते थे। नगरों में सरोवर होते थे, जो विकसित नीलकमलों के कारण सुन्दर लगते थे। अलइद्रिसी के अनुसार, मुलतान सुनियोजित नगर था, जिसमें प्राकार तथा चार द्वार थे और प्राकार खाई से घिरा था। अलउत्त्बी ने लिखा है कि कन्नौज में सात अलग-अलग दुर्ग थे। हसन निज़ामी के अनुसार, अजमेर-नगर चारदीवारियों से घिरा था। उसके अनुसार, दिल्ली भारत का प्रमुख नगर था, जिसमें एक दुर्ग था।[७] राजपुर-नगर चारो ओर परिखा से घिरा था।[८] अणहिलपाटन नगर में अनेक झीलों का निर्माण कराया गया था, जो सरस्वती नदी के द्वारा भरे जाते थे। परमार-शासक भोज ने चित्तौड़ मे भोजसागर तालाब बनवाया था। चाहमान-शासक अर्णोराज ने अजमेर में अनासागर का निर्माण कराया था। इस युग के कतिपय शासकों ने अपने नाम पर सुनियोजित नगरों की स्थापना की थी। अजयराज अजमेर-नगर का संस्थापक था। गंगदेव के पुत्र कर्ण ने कर्णावती-नगर, कश्मीर के शासक जयापीड ने नवी शती में जयपुर-नगर, प्रवरसेन द्वितीय ने प्रवरपुर-नगर, ग्यारहवीं शती में परमार-शासक भोज ने भोजपुर-नगर तथा इसी वंश के शासक उदयादित्य ने उदयपुर-नगर की स्थापना की थी।

इस प्रकार, सुनियोजित नगर राजकीय योजना के अंग थे। सुरक्षा के साधन, शासन की दृढता एवं सुव्यवस्था, सैनिक प्रबन्ध, राजप्रासादों एवं भवनो का निर्माण और वाणिज्य-व्यवसाय के लिए वीथियों के योजनानुसार व्यवस्थापन से नगर की भव्यता पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। नगरों में व्यापारियों, व्यवसायियो, वैश्यों और वणिकों के निवास के विषय मे तत्कालीन ग्रन्थो में वर्णन किया गया है।

व्यवसाय की देखरेख के लिए नगरों में पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। व्यापारी सामान लेकर एक नगर से दूसरे नगर को जाते थे। आहाड़-अभिलेख मे उल्लेख है कि उदयपुर-नगर में कर्नाट, मध्यदेश एवं टक्क-क्षेत्र के व्यापारी सामान वेचने आते थे।[९] व्यापारी सामान को खच्चर, बैलगाड़ी, घोड़े, ऊँट एवं पहियेदार गाड़ियों द्वारा एक नगर से दूसरे नगर के बाजारों में ले जाते थे। चाहमान-अभिलेख मे व्यापारियों द्वारा बैलगाड़ी प्रयुक्त करने का उल्लेख है। व्यापारी समूह बनाकर अन्य नगरों में व्यापार-हेतु जाते थे। इन्हें 'सार्थ' कहा जाता था। सार्थ यात्रा करनेवाले पान्थों का समूह था। इन पान्थो का एक प्रमुख होता था, जिसे 'सार्थवाह' कहा जाता था। व्यापारियो के लिए रास्ते में अनेक प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था थी। नगर के बाहर तालाब थे, जहाँ वे विश्राम करते थे। उनकी सुविधा के लिए सराय हुआ करती थी। मार्ग मे जल के साधन एवं भवन बनाये गये थे।

आन्तरिक व्यापार-मार्ग सम्पूर्ण उत्तर भारत के नगरों को मिलाता था, और व्यापारी इन्हीं मार्गों से होकर व्यापार करते थे। अलबेरूनी ने बारहवीं शती की पथ-

पद्धति का उल्लेख किया है। उसके अनुसार, एक मार्ग कन्नौज, मथुरा, अणहिलवाड़, धारा, बाड़ी एव बयाना से चलता था तथा कन्नौज से प्रयाग होते हुए उत्तर का मार्ग ताम्रलिप्ति पहुँचता था और यहाँ से समुद्र के किनारे होते हुए कांची से सुदूर दक्षिण पहुँचता था।[१०] इन्हीं मार्गों द्वारा पूरे देश मे आन्तरिक व्यापार की वृद्धि हुई। सड़कों के अतिरिक्त, नदियों द्वारा भी व्यापार होता था। व्यापारियों द्वारा अनेक प्रकार के नावों का प्रयोग किया जाता था। अभिलेखो मे भी नावों द्वारा एक नगर से दूसरे नगर में व्यापारियो के आने-जाने का उल्लेख है। नदियों पर पुल होते थे, जिनसे होकर व्यापारी यात्रा करते थे।

नगर के मध्य सुन्दर सुव्यवस्थित दूकानें हुआ करती थी। सोमनाथ-मन्दिर-अभिलेख मे शेरगढ नगर को व्यापारिक केन्द्र बतलाया गया है,[११] जहाँ अनेक दूकाने थी। दूबकुण्ड-प्रस्तर-अभिलेख मे नगर के अच्छे बाजारो का वर्णन है, जिसमे लिखा है कि नगर के बाजार लोगो द्वारा प्रशंसित थे।[१२] पुण्ड्रवर्द्धन-नगर मे सड़को के किनारे अनेक दूकानें थी। नगरो मे प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग दूकाने हुआ करती थी। अणहिलवाड-नगर मे चौरासी प्रकार की दूकानें थी, जहाँ प्रत्येक में पृथक्-पृथक् वस्तुओ का विक्रय होता था।[१३] 'कुवलयमालाकहा' मे नगर के बाजारो का विस्तृत वर्णन है, जिनमे प्रत्येक गली मे अलग-अलग वस्तुओ की बिक्री होती थी।

अभिलेखो मे बाजार को 'आवारी' कहा गया है, जो नगर के मध्य मे होते थे। स्थानीय व्यापार के लिए प्रमुख विपणि-मार्ग और व्यापारिक मण्डियाँ थी। विपणि-मार्ग मे फुटकर दैनिक उपयोग की वस्तुएँ बिकती थी, जबकि व्यापारिक मण्डियो मे अनेक स्थान के व्यापारी एकत्र होकर माल का थोक क्रय-विक्रय करते थे। नगर मे विपणिमार्ग के व्यापारियों को फुटकर व्यापारी तथा व्यापारिक मण्डियो के व्यापारियो को थोक-विक्रेता कहते थे। व्यापारिक मण्डियो में दूर-दूर के व्यापारी क्रय-विक्रय-हेतु आते थे। नगर मे एक अन्य वर्ग का व्यापारी होता था, जिसे फेरीवाला कहा जाता था। फुटकर एवं थोक व्यापारी की तुलना में ये बहुत छोटे होते थे। इनके पास बहुत कम सामान होता था, जिसको बेचने के लिए वे नगर के विभिन्न भागो में घूमते थे। स्थानीय बाजारों में आवश्यकता की प्राय सभी वस्तुओ की दूकानें होती थी। बाजारो मे प्रसाधन-सामग्री, फलो की दूकानें, सराफा-बाजार, बजाजी, शस्त्र-भाण्डार, ओषधि-गृह, जलपान-गृह, मदिरालय, खटीक-खाना आदि प्रमुख थे। बाजारो में लेनदेन की बातचीत से सदा कोलाहल व्याप्त रहता था। व्यापारी अपने माल को गोदाम मे रखते थे। स्थानीय बाजारो मे शुल्क-मण्डपिका होती थी, जहाँ व्यापारियो से विक्रय-शुल्क एकत्रित किया जाता था। कभी-कभी वस्तु खरीदने एवं बेचनेवाले दोनो से कर लिया जाता था। पाल-अभिलेख मे शुल्क वसूल करनेवाले अधिकारी को 'शौल्किक' कहा गया है। अणहिलपुर-नगर व्यापार का अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र था, जहाँ प्रतिदिन एक लाख टक शुल्क एकत्र किया जाता था।[१४]

व्यापारी आन्तरिक व्यापार के साथ-साथ विदेश-व्यापार में भी महत्त्वपूर्ण योगदान करते थे। अनेक भारतीय वस्तुएँ नगरो के बाजारों से निकटवर्ती बन्दरगाहों पर लाकर अन्य देशो को निर्यात की जाती थीं। व्यापारी समुद्रों द्वारा दूसरे देशों में जाकर व्यापार करते थे। इस प्रकार के व्यापार में बड़े जहाज का प्रयोग किया जाता था, जो पानी की सतह से इतने ऊपर निकले होते थे कि उनपर चढने के लिए ऊँची सीढियो का सहारा लेना पड़ता था। बन्दरगाहो के समीप के नगर व्यापारिक केन्द्र थे। ऐसे नगरों मे सोमनाथ, ताम्रलिप्ति और कर्णसुवर्ण प्रसिद्ध थे, जो समुद्र के निकट स्थित थे। देवलनगर मेहरान नदी के पश्चिम मे समुद्र की ओर स्थित था, जहाँ एक बड़ा बाजार एवं बन्दरगाह था, और वहाँ चीनी जहाज चीन से अनेक वस्तुएँ लाते थे। लोहार बन्दरगाह, जिसे अलबेरूनी ने लोहरानी और इब्नबतूता ने लाहरी नाम से उल्लेख किया है, अतिशय प्रसिद्ध था। वेरावल और सोमनाथपट्टन बन्दरगाह इस समय के प्रमुख बन्दरगाह थे। सुफाला एवं चीन के बीच आवागमन के लिए सोमनाथ सुविधाजनक बन्दरगाह था।

गुजरात के प्रमुख बन्दरगाहो मे खम्भात, सिन्दान (सिन्दावर) और सुवार (सूरत) थे। इनके अतिरिक्त, भड़ौच (भृगुकच्छ) एवं ताम्रलिप्ति भी प्रमुख बन्दरगाह थे। इन बन्दरगाहों से माल का आयात एवं निर्यात होता था। कपीता से शराब भारतीय शासको के लिए उनके राजधानियों मे मँगाई जाती थी। चीन से रेशम के वस्त्र (चीनांशुक) आते थे। मेसोपोटामिया के नगर असीरिया से भारत मे कालीने मँगाई जाती थी, जो राजवंशों एवं नगर के धनिक वर्गों मे प्रयुक्त होती थी। मूल्यवान् मणियाँ दक्षिणपूर्व एशिया से मँगाई जाती थी। अलइद्रिसी ने लिखा है कि चीन से सामान-लदे जहाज भारत मे आते एवं देवल बन्दरगाह में उतरते थे। वहाँ से सामान भारतीय नगरो के बाजारों मे विक्रय-हेतु लाये जाते थे।[१५] भारत से विदेशों मे सुगन्धित द्रव्य, हीरा, अगर, लौंग, दालचीनी, नारियल, हर्रे, तूतिया, चन्दन, सागौन की लकड़ी एवं कालीमिर्च का निर्यात होता था। गुजरात मे शीशे का उद्योग था, जहाँ से यह बाहर भेजा जाता था। दसवी शती मे सोना एवं अगर, उड़ीसा के शंख और हाथीदाँत, खम्भात के जूते, कन्नौज के जवाहरात, मलमल, जड़ी-बूटी और बंगाल के प्रसिद्ध मलमल कपड़े मिस्र को भेजे जाते थे तथा खाने की सुपारी भी भारत से विदेशों मे भेजी जाती थी।[१६]

रेशम के कीड़े पालकर, इनके द्वारा निर्मित ककूनों से रेशम के धागे तैयार किये जाते थे। पहाड़ी भेड़ों के बाल से ऊन तैयार करने का काम होता था। बारीक कपड़ों का निर्माण किया जाता था। बंगाल में निर्मित प्रसिद्ध मलमल (बारीक कपड़े) का थान एक अँगूठी मे से पार हो सकता था। अणहिलपाटण मे बुनाई एवं सूती वस्त्र का उद्योग स्थापित था। इसी प्रकार का उद्योग मुलतान, कलिंग एवं बंगाल में भी था।[१७] खम्भात एवं मालवा में बकरम, अर्थात् घोड़े के बाल से बना कपड़ा, साथ ही उच्च कोटि का सूती कपड़ा भी तैयार होता था। प्रत्येक ऋतु के लिए अलग-अलग वस्त्रों का प्रयोग किया

जाता था। पुण्ड्रवर्द्धन-नगर रेशम के कपड़े के लिए प्रसिद्ध था। तक्षशिला के विषय मे चीनी यात्री हुएनसाग ने लिखा है कि यह नगर ताँबे और लोहे के उत्पादन का केन्द्र था।

मालवा चीनी-उद्योग के लिए प्रसिद्ध था। चमड़ा सिझाने का काम खम्भात मे होता था।[१८] सोने एव चाँदी के तारो का निर्माण गुजरात मे होता था। इस युग मे लोहे का उद्योग विकसित था। लोहे का ताला एव लोहे की कढाई का भी उल्लेख हुआ है। पुरी मे १७ फुट से भी अधिक लम्बी लोहे की दो सौ उनचालीस धरनें लगी है। धारानगरी मे लोहे का पचास फुट ऊँचा स्तम्भ तत्कालीन विकसित धातु-उद्योग का प्रमाण है। 'वैजयन्ती' मे अनेक धातुओ के निर्माण का विवरण है। नगर में कुरसी का प्रयोग होता था। राजाओ के लिए सुन्दर एवं कारीगरी-युक्त सिंहासन का निर्माण होता था। चमड़े द्वारा निर्मित जूते (जिसपर लोहे का नाल लगा होता था) का प्रयोग होता था। कल्हण ने शीशे के जार का विवरण दिया है। बेंत और बाँस से डोलची तथा चमडे से थैलो का निर्माण किया जाता था।[१९] पत्थर के चिकना करने का काम उत्तर भारत के अनेक नगरो मे होता था।

इस युग मे नगर के परकोटे के अन्दर शिल्पियो के निवास की व्यवस्था थी। नगर के आर्थिक जीवन मे इनका बड़ा ही महत्त्व था। पिता के शिल्प को पुत्र जारी रखता था। शिल्पियो की अनेक जातियाँ बन चुकी थी। नगर की सडको तथा मुख्य वीथियो मे एक ही वर्ग के शिल्पियो को बसाया जाता था।[२०] इन शिल्पियो मे वस्त्र, हाथीदाँत तथा चमड़े का काम करनेवाले, रगसाज, गन्धी एव पत्थर पर काम करनेवाले प्रमुख थे। कपड़ों के किनारे पर शिल्पियो द्वारा बेलबूटे काढे जाते थे।[२१] गद्दो तथा वस्त्रो पर सुनहरे तारो से पक्षियो एव जानवरो के चित्र बनाये जाते थे।[२२] सोमनाथ-नगर मे शिल्प का काम अतिशय समुन्नत था।

व्यवसायियो, कारीगरो और शिल्पियो का अपना पृथक् संगठन होता था, जिसे श्रेणी कहते थे। श्रेणी का एक अध्यक्ष होता था, जिसे श्रेष्ठी या जेट्ठक कहा जाता था। कमन-प्रस्तर-अभिलेख (सन् ७८६-९०५ ई०) मे एक नगर का उल्लेख है, जिसके बारे मे लिखा है कि नगर का व्यापारी, माली, शिल्पी एव कुम्भकार अपनी श्रेणी मे सघटित थे।[२३] शेरगढ़ के व्यापारी एव तेल का व्यवसाय करनेवाले एक श्रेणी से सम्बद्ध थे।[२४] बाद में, संघ के प्रमुख व्यक्ति की उपाधि 'सेठ' हो गई। संघ के अध्यक्ष की राजदरबार मे अच्छी पहुँच थी। उसकी गणना राजदरबारियो के प्रमुख व्यक्तियो मे की जाती थी। सघ अपनी उन्नति के लिए योजनाएँ बनाते एवं आन्तरिक झगडो एवं विवादो को दूर करते थे। संघ के अध्यक्ष को अधिकार था कि वह सघविरोधी कार्य करनेवाले सदस्य को संघ से निष्कासित कर सकता था। ग्वालियर के वेलभट्टस्वामी-मन्दिर मे उत्कीर्ण लेख के अनुसार इस नगर के शासन का उत्तरदायित्व श्रेष्ठियो एवं सार्थवाहो की प्रतिनिधि संस्था पर था। स्पष्ट है कि श्रेणी के अध्यक्ष नगर-प्रशासन मे योगदान करते थे। दसवी शती के कश्मीर के हर्ष-शिलालेख मे

उत्तर भारत के घोड़ों के व्यापारियो के संघ का उल्लेख है।[२५] इसी शती के सियादोनी-अभिलेख मे कन्दूक (मिष्टान्न-विक्रेता), ताम्बूलक (पान-विक्रेता), कलपक (शराब-विक्रेता), शिलाकूट (पत्थर काटनेवाले) कुम्भकार, कांस्यकार, स्वर्णकार आदि के संघो का विवरण है।[२६] लक्ष्मणराज के रितलई-शिलालेख में दसवी शती में वागुरिकों (शिकारियो) के संघ का तथा विजयसेन के देवपाड़ा-अभिलेख में शिल्पियों के संघ का विवरण है।

अलबेरूनी ने जूता एवं डोलची बनानेवालों, नाविकों एवं बुनकरों की श्रेणियों का उल्लेख किया है।[२७] श्रेणी के सदस्य मन्दिर को दान, नगरों मे उद्यान की व्यवस्था, गरीबी के निराकरण जैसे जनकल्याण का कार्य भी करते थे। प्रतापगढ-अभिलेख मे उल्लेख है कि महेन्द्रपाल द्वितीय के समय, दशपुर-नगर के व्यापारियों के संघ ने चैत्र मास में सामूहिक रूप से दान किया था।[२८] सोमनाथ के मन्दिर-अभिलेख में विवरण है कि तेलियों (तेल-विक्रेता) की श्रेणी द्वारा एक पालिका तेल मन्दिर मे दीपक जलाने के लिए प्रतिदिन दिया जाता था।[२९] इसी प्रकार, पचास मालाएँ मालियो की श्रेणी द्वारा मन्दिर मे पूजा के हेतु दी जाती थीं। ये श्रेणियाँ दान देते समय संघटित निगम के रूप मे काम करती थी।

नगर में सार्वजनिक सभाओ एवं मन्दिरो के निर्माण के लिए भूमिदान किया जाता था। व्यापारी मन्दिर के उद्यानहेतु भूमि, निवासहेतु भवन एवं दूकानें भी दान-स्वरूप देते थे। श्रेणी बैंकों के रूप मे भी कार्य करती थी। वह धन इकट्ठा करती एवं उनपर ब्याज देती थी। कमन-अभिलेख मे वर्णन है कि कारीगरो की श्रेणी ने अग्रिम धन प्राप्त किया था और उसके बदले एक स्वार्थी अनुदान की व्यवस्था करनी पड़ी थी।[30] सार्थवाह एवं समुद्री व्यापार की रक्षा श्रेणी द्वारा होती थी। श्रेणियाँ आधुनिक व्यापार-मण्डल का कार्य करती थी।

सन्दर्भ-संकेत :

१. इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग १, पृ० ७६—८६।
२. अमरकोश (हरदत्त वर्मा द्वारा सम्पादित), पृ० ७४।
३. एपि० इण्डि०, भाग ९, पृ० १०, १६०।
४. काशी का इतिहास (मोतीचन्द), पृ० १६९; इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग २, पृ० १२३-२४।
५. वाटर्स, भाग १, पृ० ३१०।
६. उपरिवत्।
७. इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २२६।
८. यशस्तिलकचम्पू, १४, ४८।
९. इण्डि० एण्टि०, भाग ५८, पृ० १६१।
१०. अलबेरूनीज इण्डिया (सचाऊ), भाग १, पृ० २००।

११. एपि० इण्डि०, भाग २३, पृ० १३९ ।
१२. उपरिवत्, भाग २, पृ० २३४ ।
१३. कथासरित्सागर, २।२६ ।
१४. रासमाला, १५९ ।
१५. इलियट ऐण्ड डाउसन, भाग ७, पृ० ७७ ।
१६. अरब-भारत का सम्बन्ध (नदवी), पृ० ६६-६७ ।
१७. मानसोल्लास, भाग ३, १०१७-२० ।
१८. मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण, पृ० ३९५-९८ ।
१९. सचाऊ, भाग २, पृ० १४४ ।
२०. प्राचीन भारत मे सघटित जीवन (आर० पी० मजूमदार), पृ० २३ ।
२१. उपरिवत् ।
२२. उपरिवत् ।
२३. एपि० इण्डि०, भाग २६, पृ० ३३१-३३ ।
२४ उपरिवत्, भाग २३, पृ० १३३-३४ ।
२५. उपरिवत्, भाग २, पृ० ११६ ।
२६. उपरिवत्, भाग १, पृ० १६७ ।
२७ सचाऊ, भाग १, पृ० १०१ ।
२८ एपि० इण्डि०, भाग २४, पृ० ३२९ ।
२९ उपरिवत्, भाग ७, पृ० १६० ।
३०. उपरिवत्, भाग २४, पृ० ३२९ ।

△ पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, इतिहास-विभाग
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी

नाटक और रंगमंच

डॉ० सीताराम झा 'श्याम'

प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान् लेखक ने नाट्य के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक, दोनो पक्षो का सम्यक् विवेचन अपनी इस कृति मे किया है। यह इस ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशेषता है। प्रथम सस्करण, सन् १९८२ ई०; पृ० स० ३१४; चित्र स० ४। मूल्य : रु० ३५.०० ।

प्र० : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-८०००४

हिन्दी-उराँव-समता : आर्य-द्रविड-संगम

△ डॉ० लक्ष्मणप्रसाद सिन्हा

भारतीय संविधान मे यद्यपि चौदह भाषाओं को भारत की क्षेत्रीय भाषा के रूप में मान्यता मिली है, तथापि इन भाषाओं के अतिरिक्त भारत में कई अन्य भाषाएँ भी प्रचलित है, जिनका विधिवत् अध्ययन-अनुशीलन अवतक नही हो सका है। भारत में प्रचलित भाषाओ को मुख्यतः चार भाषा-परिवारों मे वर्गीकृत किया गया है : (क) ऑस्ट्रो-एशियाटिक (आग्नेय) परिवार, (ख) तिब्बती-चीनी अथवा किरात-परिवार, (ग) भारतीय आर्यभाषा-परिवार तथा (घ) द्रविडभाषा-परिवार। आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की प्रमुख भाषाएँ मुण्डारी, हो तथा सन्ताली हैं। लद्दाखी, गारो, खासी, अंगामी, सेवा, लाथो आदि भाषाएँ तिब्बती-चीनी भाषा-परिवार के अन्तर्गत हैं। भारतीय आर्यभाषा-परिवार के अन्तर्गत हिन्दी, उड़िया, असमिया, बँगला, पंजाबी, गुजराती और मराठी-भाषाएँ वर्गीकृत हैं तथा द्रविडभाषा-परिवार के अन्तर्गत तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयलम। आर्यभाषा और द्रविडभाषा-परिवार के अन्तर्गत वर्गीकृत इन भाषाओं को संविधान की अष्टम अनुसूची मे मान्यता प्राप्त है। द्रविडभाषा-परिवार की 'उत्तरी द्रविड-शाखा' में उराँव एक महत्त्वपूर्ण भाषा है, जिसे कुरुख आदिवासी बोलते है। सन् १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार उराँवभाषा-भाषियों की संख्या १२०४३९५ है।

भाषाविज्ञानियो के अनुसार कुरुख आदिवासी दक्षिण भारत से ही उत्तर की ओर आये। कुरुख आदिवासियों की निजी मान्यता है कि वे मूलतः कर्नाटक के निवासी थे, जहाँ से जीविका की खोज में उत्तर की ओर बढ़े।[१] नर्मदा नदी होते हुए वे आदिवासी बिहार के रोहतास में पहुँचे और वही बस गये। वही उनपर मुस्लिम-शासकों का आक्रमण हुआ। परिणामस्वरूप, वे रोहतास से भगा दिये गये। तब वे दो टोलियो मे आगे बढ़े। एक टोली गंगा के किनारे होती हुई राजमहल की पहाड़ियों मे जाकर बस गई और दूसरी टोली सोन और कोयल नदियों के कगार पर चलती हुई पलामू और छोटानागपुर जा पहुँची। इसी दूसरी टोली के आदिवासी ही वर्त्तमान कुरुख आदिवासियो के पूर्वज है।[२] उस समय छोटानागपुर के पठार में मुण्डा-परिवार के आदिवासी भरे थे। इन मुण्डा-आदिवासियों ने कुरुख आदिवासियों का स्वागत किया तथा साथ रहने की अनुमति दे दी।

---

१. सर जॉर्ज ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, वॉल्युम ८, संस्करण : सन् १९६७ ई०, पृ० ४०६।

२. राँची डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, संस्करण : सन् १९७० ई०, पृ० १६८।

यहाँ इतिहास के कालक्रम मे असंगति दिखाई पड़ती है। भारत के इतिहास से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन् ११९३ ई० के पूर्व विहार मुस्लिम-आक्रमणकारियो द्वारा विजित नही हुआ था, लेकिन कुरुख आदिवासी उसके पहले ही छोटानागपुर के पठार में आ चुके थे। वास्तविकता चाहे जो भी हो, किन्तु छोटानागपुर के अतिरिक्त मध्यप्रदेश, असम और बंगाल मे फैले कुरुख आदिवासियो की भाषा द्रविडभाषा-परिवार के अन्तर्गत निर्विवाद रूप से वर्गीकृत है। उराँव मे प्रचलित मूल शब्दो के उदाहरणों से यह बात पुष्ट हो जाती है। 'दाँत', 'कीडा', 'वैठना' और 'शीघ्रता' के विकल्प मे उराँव मे प्रचलित शब्दों पर विचार करे, तो यह बात स्वत. सिद्ध हो जाती है कि ये शब्द अपेक्षाकृत तमिल के सन्निकट है। यथा :

उराँव	तमिल	हिन्दी
पल्ल	पल	दाँत
पचगो	पूच्चि	कीड़ा
उक्का	उक्का	वैठना
चाडे	चटक्कु	शीघ्रता

तमिल के सन्निकट होने पर भी, जो भाषा शतियों तक आर्यभाषा-क्षेत्र मे व्यवहृत रही हो, उसपर आर्यभाषा का प्रभाव न पड़े, यह आश्चर्यजनक वात होगी। उराँवभाषा-भाषी आबादी का लगभग ६० प्रतिशत भाग राँची जिले मे ही बसा है।[1] छोटानागपुर-पठार की बात लें, तो यह आबादी और भी अधिक वढ जायगी। वैसे जीविका की खोज मे मिहनती उराँव उडीसा, बंगाल और असम-राज्य तक फैल गये हैं। इन क्षेत्रो मे मुख्य भाषा के रूप मे आर्यभाषा का प्रचलन है। इसलिए, परस्पर सम्पर्क के कारण स्वाभाविक रूप से आर्यभाषा के शब्द उराँव-भाषा मे आ गये है। 'खाद' का विकल्प उड़िया मे 'खातू' है। इसी प्रकार, हिन्दी 'कोवि' का वाचिक रूप वँगला मे 'कुवि' है। उराँव-भाषा में 'खातू' और 'कुवि' यथातथ रूप मे प्रचलित हैं। इतना ही नही, स्वल्प भिन्नता के साथ महाराष्ट्री-प्राकृत से उद्भूत मराठी-भाषा की शब्दावली से भी उराँव-भाषा की समता है। यथा :

हिन्दी	उराँव	मराठी
माँ	आयो	आयी
सफेद	पँडरू	पाँढरा
खटमल	ढेकण	ढेकुण

सैकडो वर्षों तक एक ही स्थल पर साथ-साथ प्रचलित रहने के कारण आर्यभाषा और द्रविड-परिवार की उराँव-भाषा मे सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया है। चूँकि,

१. सर जॉर्ज ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, वॉल्युम ४, संस्करण : सन् १९६७ ई०, पृ० ४०७।

बहुसंख्य कुरुख आदिवासी बिहार में बसे है, इसलिए इस राज्य में प्रचलित आर्यभाषा हिन्दी से इनकी विशेष समता दिखाई पड़ती है। कतिपय उदाहरणों से यह बात पुष्ट हो जाती है। वृक्ष एवं लताओ मे देखे, तो 'ताड़', 'बाँस', 'गुलाब', 'कमल' आदि शब्द दोनों ही भाषाओं मे समान रूप से प्रचलित हैं। यही स्थिति फल एवं घर-गृहस्थी के सामानों की है। 'अंगूर', 'अखरोट', 'पलंग', 'तकिया', 'गगरा', 'साबुन', 'तवा' आदि के प्रचलन में कही कोई भेद नही है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि उराँव-भाषा और आर्य-भाषाओ की शब्दावली में कहीं कोई भिन्नता है ही नहीं। जिन समान शब्दावली का उल्लेख हुआ है, उन्ही विषयों में दोनों भाषाओ में ऐसे शब्द भी भरे पड़े है, जिनकी न तो ध्वन्यात्मक समता है और न रूपगत। ऐसे कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :

विषय		हिन्दी	उराँव
१. वृक्ष एवं लता	:	पेड़	मन्न
		लकड़ी	कंक
		कली	खोर
		पत्ता	अतखा
२. फल	:	खीरा	पलखंजा
		इमली	तेतालि
		महुआ	सरजुम
३. घर-गृहस्थी	:	घड़ा	अड़ि
		टोकरी	पथिया
		बत्ती	बिल्लि
		कटोरा	संडखि
४. खाद्य-सामग्री	:	चावल	तिखिल
		रोटी	अस्मा
		पानी	अम्म
		नमक	बेक
५. जानवर	:	हिरण	माक
		लोमड़ी	सिकटा
		बकरी	एड़ा
		कुत्ता	अल्ला

हिन्दी और उराँव-भाषाओ में पूर्ण समता और पूर्ण भिन्नता ही नहीं, दोनों के बीच की स्थिति भी है। वस्तुतः, ऐसी ही शब्दावली आर्यद्रविड-भाषाओं के संगम का प्रतिफलन है। परस्पर सम्पर्क के कारण आर्य और द्रविड-संस्कृतियों का जो मिलन हुआ है, इसका भाषावैज्ञानिक तुला पर सहज निर्देश सम्भव है। इससे ज्ञात होता है कि हिन्दी-भाषा की ओर कुरुख आदिवासियों का सहज ही झुकाव रहा है और अपनी भाषा की

विकास-परम्परा की मान्यता के आलोक मे उन्होंने इसे ग्रहण किया है। उराँव-भाषा मे ऐसे शब्दों का जो प्रचलन मिलता है, जिनसे हिन्दी-भाषा के शब्दों की ध्वन्यात्मक समता हैं, वे वस्तुत: स्वर और व्यंजनो के आभ्यन्तर प्रयत्न के प्रतिफलन हैं। इन स्वरो और व्यजनों के परिवर्त्तन का विश्लेषण इस प्रकार है :

स्वर :

		हिन्दी	उराँव
(क) विवृत का संवृत में	:	बछड़ा	बछरू
		मामा	ममू
(ख) अर्द्ध-विवृत का संवृत में	:	मौसा	मुसी
		कोठरी	कुठरी
(ग) विवृत का अर्द्ध-विवृत में	:	घोड़ा	घोड़ो
		केकड़ा	केकड़ो

व्यंजन :

(क) पार्श्विक से स्पर्श-ध्वनि मे	:	केला	केड़ा
		थाली	थड़ा
(ख) स्पर्शसंघर्षी से स्पर्श ध्वनि में	:	फौज	फौद
		कागज	कागद
(ग) अनुनासिक से पार्श्विक ध्वनि मे	:	नील	लील
		नींबू	लिम्बु
(घ) पार्श्विक से लुण्ठित ध्वनि में	:	पीपल	पीपर
		मूली	मुरइ
(ङ) स्पर्श से लुण्ठित ध्वनि मे	:	मकड़ा	मकरा
		बछड़ा	बछरू
(च) अर्द्धस्वर से संघर्षी ध्वनि मे	:	चाय	चाह

मानव-मात्र की सहज प्रवृत्ति है कि वह न्यूनतम प्रयास द्वारा अधिकतम भावो का विनिमय कर लेना चाहता है। भाषाविज्ञानियो ने ऐसी प्रवृत्ति को प्रयत्न-लाघव की संज्ञा दी है। उराँव-भाषा की शब्दावली मे हिन्दी से स्वल्प भिन्न जो रूप मिलते हैं, वे प्रयत्न-लाघव के परिणाम हैं। ऐसे परिवर्त्तित रूप मे प्रयत्न-लाघव के आगम, लोप तथा विपर्यय ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निवाही है। इस प्रयत्न-लाघव मे स्वर और व्यंजन—दोनो का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आगम : उराँव-भाषा मे प्रचलित शब्दावली से यह बात स्पष्ट होती है कि आदि, मध्य और अन्त इन सभी स्थितियो मे हिन्दी-भाषा की शब्दावली मे स्वर और व्यंजन का आगम हुआ है। यथा :

स्वर का आगम :

		हिन्दी	उराँव
आदि	:	धड़	धाड़
		दस	दोय
मध्य	:	बन्धक	बन्धिक
		बोतल	बोतोल
अन्त	:	पण्डुक	पण्डुकि
		बेंत	बेंता
आदि और अन्त	:	रस	रासि
		घास	घाँसि

व्यंजन का आगम :

आदि	:	जुगनू	भजुगनि
मध्य	:	जेल	जेहल
		सईस	सहिस
		खान	खदान
अन्त	:	चौकीदार	चौकीदारस
		लोहार	लोहारस

उराँव-भाषा मे ऐसे बहुत अधिक शब्द मिलते है, जिनकी रूपरचना से यह ज्ञात होता है कि हिन्दी के अकारान्त शब्दो के अन्त मे 'स' अथवा 'हि' का आगम हो गया है। यथा :

		हिन्दी	उराँव
स	:	कोचवान	कोचवानस
		वैद्य	वैदहस
हि	:	दूध	दूधहि
		गीध	गिदहि

हिन्दी के शब्द यदि दीर्घान्त हों, तो उराँव-भाषा में दीर्घ ह्रस्व हो जाता है और तत्पश्चात् उसमें 'स' का आगम दिखाई पड़ता है :

		हिन्दी	उराँव
आ	:	दूल्हा	दूल्हस
		बनिया	बनियस
ई	:	किरानी	किरानिस
		अंगुली	अंगलिस
ऊ	:	साढ़ू	साढ़ुस
		डाकू	डाकुस

स्वर का लोप :

		हिन्दी	उराँव
आदि	:	दाना	दना
		दाढी	दढी
मध्य	:	अंजीर	अजिर
		नरेटी	नरटि
अन्त	:	दही	दहि
		मौसी	मौसि
आदि और अन्त	:	काकी	ककि
		नारंगी	नरंगि

व्यंजन का लोप :

मध्य	:	अदरख	अदखि
		तम्बाकू	तमकु
अन्त	:	छुछुन्दर	छुछु

विपर्यय :

हुँडार	हुँड़रा
लाकड़	लकड़ा

स्वरतन्त्री और काकल के अनुसार ध्वनियाँ क्रमशः घोष-अघोष तथा महाप्राण-अल्पप्राण के रूप मे निर्देशित होती हैं। उराँव-भाषा मे भी ऐसे निर्देशन के प्रतिफलन दृष्टिगत होते है :

अघोष का घोष :

हिन्दी	उराँव
पपीता	पविता
पिता	बवा

महाप्राण का अल्पप्राण :

साँढ	साँड़
गीध	गिदहि

उराँव-भाषा मे शब्दो की ऐसी समता परिनिष्ठित हिन्दी से तो है ही, हिन्दी की विभाषाओ से भी समानता दिखाई पड़ती है। कर्नाटक से चलकर कुरुख आदिवासी मुख्य रूप से छोटानागपुर के पठार मे बसे हैं, जहाँ आर्यभाषा हिन्दी की विहारी विभाषा प्रचलित है। इसलिए, उराँवभाषा-भाषियो ने विभाषाओ के शब्दो को बहुत बड़ी संख्या मे अपना लिया है। ऐसे कुछ शब्द तो यथातथ रूप मे प्रचलित हैं, किन्तु कुछ के रूप स्वल्प परिवर्त्तित भी है। उदाहरणार्थ, सप्ताह के दिनों के नाम उराँव-भाषा में

एतवार, सोमार, मंगर, बुध, बिफे, सुकर और सनिचर है। ये परिनिष्ठित हिन्दी के क्रमशः रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनैश्चर के वैकल्पिक रूप हैं। विचारणीय बात यह है कि उराँव-भाषा ने सप्ताह के ये नाम हिन्दी की बिहारी विभाषा से अपनाये है; क्योंकि ये नाम बिहारी विभाषा में यथातथ रूप मे प्रचलित है। इस प्रकार, उराँव-भाषा की ऐसी शब्दावली वस्तुतः आर्य और द्रविड-भाषाओ में संगम का काम करती हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-परिवार के अन्तर्गत हिन्दी के अतिरिक्त उड़िया, असमिया आदि जो भाषाएँ प्रचलित है, परस्पर उनमें भी रूपभेद हैं। इस भेद के कारण ही इन भाषाओ के अलग-अलग नाम दिये गये है, जबकि इन सबकी उत्पत्ति के स्रोत समान है। इस प्रकार, आर्यभाषाओं में जो भिन्नता मिलती हैं, उसका अर्थ यह नही कि इनके बीच समता का दिशा-निर्देश सम्भव न हो। यही स्थिति उरांव-भाषा की है। आज आर्य और द्रविड-भाषाओं मे परस्पर भगिनी-सम्बन्ध है और इन दोनो परिवारों की उल्लिखित भाषाएँ भारत की सम्पर्क-भाषा मानी जाती है। रूपरचनात्मक दृष्टि से आर्य और द्रविड-भाषा में जो दूरी दिखाई पड़ती है, उसे उराँव-भाषा की रूपरचनात्मक प्रक्रिया दूर कर देती है। हिन्दी से तो उराँव-भाषा की शब्दावली की समता है ही, असमिया, बँगला, उड़िया और मराठी के शब्दों से ध्वनि, रूप और अर्थ की दृष्टि से पर्याप्त समान शब्द उराँव-भाषा में वर्त्तमान है। यह समता इस बात का निर्देश करती है कि उराँव-भाषा के शब्दों मे आर्य-द्रविड-भाषापरिवारों का विलक्षण संगम वर्त्तमान है।

△ रूपनारायण-निवास बोरिंग रोड
गान्धीनगर, पटना : ८०๐००१

'कवित्तरत्नाकर' में प्रयुक्त अरबी-फारसी के शब्द

△ डॉ० मीरा दीक्षित

'कवित्तरत्नाकर' की रचना ऐसे समय में हुई, जबकि भक्ति-भावना और साहित्यिक चेतना दोनो एक साथ चल रही थी। उन दोनो मे अन्तर यह था कि भक्ति-भावना का ह्रास हो रहा था तथा साहित्यिक चेतना भक्ति से हटकर शृंगार की ओर उन्मुख हो रही थी। दूसरे शब्दो मे, भक्तिकालीन काव्यधारा इस युग मे कुछ अंशो मे बची तो रही, किन्तु भक्तिकाव्य मे रीतिप्रवाह की प्रवृत्तियाँ आ चली थी। ऐसे ही युग मे जन्म लेनेवाले कविवर सेनापति मे दोनों प्रवाहो की प्रवृत्तियों का पाया जाना स्वाभाविक ही है। अत', उनके ग्रन्थ 'कवित्तरत्नाकर' मे भक्तिकाल की भक्ति-भावना तथा रीतिकाल की शृंगारिकता के एक साथ दर्शन होते है।

रीतिकालीन काव्यभाषा के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस काल की भाषा मिश्रित ब्रजभाषा है। उसमें सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवधी, बुन्देली तथा विदेशी भाषाओ, जैसे अरबी, फारसी, तुर्की आदि के शब्दो का सम्मिश्रण है। यही कारण है कि सूर की ब्रजभाषा तथा रीतिकाव्य की ब्रजभाषा मे अत्यधिक विभेद दृष्टिगोचर होता है। सूर की ब्रजभाषा केन्द्रीय मथुरा की ब्रजभाषा है, उसमे व्याकरणिक त्रुटियो की अधिकता के अतिरिक्त अधिक मिठास तथा श्रुतिमधुरता है, जबकि मथुरा, आगरा आदि निकटवर्ती प्रदेश की जनभाषा की सहज मिठास रीतिकाव्य की भाषा मे दुर्लभ है। सूर की भाषा शैशवावस्था की ब्रजभाषा है, किन्तु रीतिकाव्य की भाषा ब्रजभाषा के विकसित एवं समृद्ध स्वरूप को प्रस्तुत करती है। सम्पूर्ण रीतिकालीन परम्परा मे लगभग एक ही प्रकार का भाषिक, साहित्यिक एव व्याकरणिक स्वरूप दृष्टिगत होता है।

सेनापति की काव्यभाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। साधारण-से-साधारण छन्दो मे भी सेनापति ने यमक और श्लेष का विधान करके भाषा को आकर्षक और चमत्कारी बना दिया है। 'कवित्तरत्नाकर' की भाषा व्याकरणानुमोदित नियम-नियन्त्रित, लौकिक प्रयोगानुकूल, संयत एव सुव्यवस्थित है। वह कही भी भावो का दामन नही छोड़ती, यही उसकी प्रमुख विशेषता है। 'कवित्तरत्नाकर' की भाषा को यथानिर्दिष्ट रूप मे वर्गीकृत किया जा सकता है : १. संस्कृतगर्भ भाषा और २. चलती हुई ब्रजभाषा।

सस्कृतगर्भ भाषा अधिकांशतः छप्पयो मे दृष्टिगत होता है। कवि ने चतुर्थ-पंचम तरंग मे, जिसमें रामरसायन-वर्णन तथा रामायण-वर्णन हुआ है, संस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग अधिकांशतः किया है। अन्यत्र चलती हुई ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है।

कवित्तों की भाषा भी चलती हुई व्रजभाषा है। इसी कारण तद्भव तथा देशज शब्दों की बहुलता है। तत्सम शब्दों द्वारा भाषा में गम्भीरता आई है, किन्तु तद्भव शब्दों द्वारा भाषा सरल एवं सहज बन पड़ी है। लोकजीवन के सहज व्यापारो का जहाँ कहीं चित्रण हुआ है और लोकतान्त्रिक दृष्टि से जहाँ कवि ने अधिक गहराई में उतरने का प्रयास किया है, वहाँ अधिकतर तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रथम तीन तरंगों में तद्भव शब्दों का प्रयोग यथास्थान हुआ है। इन शब्दों के द्वारा कवि ने अपने अनुभूत लोकजीवन, विशेषकर मध्यवर्गीय परिवार की रीतियों, परम्पराओं आदि का अकृत्रिम और अतिशय भावपूर्ण वर्णन करने की चेष्टा की है। देशज शब्द काव्यभाषा मे तो ग्रहण नहीं किये जाते है, किन्तु लोक-परम्परा में वे बराबर चलते रहते हैं। ऐसे ही लोकपरम्परा-प्राप्त शब्दों का प्रयोग सेनापति ने अपनी काव्यभाषा मे किया है। इन शब्दों के द्वारा कवि की वचनभंगिमा की विलक्षणता का परिचय मिलता है।

प्रस्तुत कृति मे कवि ने विदेशी शब्दावली के अन्तर्गत आनेवाले अरबी-फारसी शब्दों का ही प्रयोग किया है। अरबी-फारसी-शब्दों का प्रयोग कवि ने भाव-व्यंजना, चपल वृत्ति का निरूपण, तथा गत्यात्मक चित्रों को उपस्थित करने के लिए किया है। रीतिकाल में फारसी के राजभाषा होने तथा रीतिकाव्य के अधिकतर राजाश्रित होने के कारण व्रजभाषा पर फारसी का प्रभाव विशेष मात्रा में पड़ा। नरहरि, गंग तथा रहीम अकबर के ऐसे दरबारी कवि थे, जिन्होने फारसी-भाषा का व्रजभाषा के साथ विशेष मिश्रण किया है। बहुत-से फ़ारसी-शब्द व्रजभाषा-कवियों द्वारा विकृत रूप में प्रयुक्त किये गये। प्रस्तुत कृति के अवलोकन से यह दृष्टिगत होता है कि अरबी-शब्दों की अपेक्षा फारसी-शब्दों का प्रयोग कवि ने अधिक किया है। इनके भी तद्भव रूप अधिक प्राप्त हुए है। सम्पूर्ण 'कवित्त-रत्नाकर' मे कुल मिलाकर ४६ शब्द अरबी-फारसी-भाषा के है। उनमें १६ शब्द अरबी के, २८ शब्द फारसी के तथा २ शब्द अरबी तथा फारसी-मिश्रित है। ये विदेशी शब्द सबसे अधिक प्रथम तरंग में प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें कवि ने श्लेष-वर्णन किया है। ये विदेशी शब्द क्रमानुसार व्युत्पत्ति के साथ यहाँ विवृत किये जा रहे है।

अरबी के तत्सम शब्द :

कसाई : पुल्लिग संज्ञा-शब्द, 'कस्साब' मूल शब्द से 'कसाई' बना है। अर्थ : पशु की हत्या करके उसे बेचने का जो व्यवसाय करता हो। **प्रयोग : 'घूँघट की ओट कोट, करि कै कसाई काम।'**[1]

जहाज : पुल्लिग संज्ञा-शब्द, मूल शब्द है 'जहाज्'। अर्थ : समुद्र मे चलनेवाली बड़ी नाव। **प्रयोग : 'साजि के जहाज को निबाहु पार करिहै।'**[2]

---

१. कवित्त-रत्नाकर, पृ० ३२, छन्द-सं ४।
२. उपरिवत्, १०५।३४।

गरीब : पुंल्लिग विशेषण-शब्द, मूल शब्द है 'गरीब'। अर्थ : दरिद्र, कंगाल, दीन। प्रयोग : 'रहे ताजि लाज, काज मो गरीब जन के।'[1]

मुसलमान : पुंल्लिग संज्ञा-शब्द, मूल शब्द है 'मुसलमान'। अर्थ : इस्लाम-धर्म को माननेवाला। प्रयोग : 'राख्यो है मुसलमान धार तै बचाई के।'[2]

लिबास : पुंल्लिग संज्ञा-शब्द। अर्थ : पोशाक। प्रयोग : 'देखि कै लिबास नीची सबन की नारि होति।'[3]

अरबी : पुंल्लिग विशेषण-शब्द, अर्थ : अरब-निवासी। प्रयोग : 'कौनै अरबीन परबीन कोई सुनिहै।'[4]

नबी : पुंल्लिग संज्ञा-शब्द। अर्थ : पैगम्बर, अवतार। प्रयोग : 'जाह्नवी न्हाइ जाइ नबी पास बाउरे।'[5]

अरबी के तद्भव शब्द :

अतर : पुंल्लिग संज्ञा-शब्द, अरबी के 'इत्र' शब्द से बना है। अर्थ : पुष्पसार। प्रयोग : 'सेनापति अतर, गुलाब, अरगजा साजि।'[6]

अरस : पुंल्लिग संज्ञा-शब्द, अरबी के 'अर्श' शब्द से बना है। अर्थ : आकाश। प्रयोग : 'जहाँ को ढरत तहाँ टूटत अरस ते।'[7]

इतबार : पुंल्लिग संज्ञा-शब्द, अरबी के 'एतबार' शब्द से बना है। अर्थ : विश्वास। प्रयोग : 'राखैं मुख ऊपर हू जे न इतबार हैं।'[8]

कमाई : विशेषण-शब्द, अरबी के 'कमाही' शब्द से बना है। अर्थ : यथेष्ट, पूरी-पूरी। प्रयोग : 'बैसनव भेष भगतन की कमाई खाहि।'[9]

मगह : पुंल्लिग संज्ञा-शब्द, अरबी के 'मगार' शब्द से बना है। अर्थ : गुफा, कन्दरा। प्रयोग : 'कोई महा पातकी मर्यौ हो जाई मगह में।'[10]

खलक : पुंल्लिग-संज्ञा शब्द, अरबी के 'खल्क' शब्द से बना है। अर्थ : विश्व, संसार। प्रयोग : 'जो न भई पीछे, आगे होनी न खलक में।'[11]

---

१. कवित्तरत्नाकर, १०३।२७।
२. उपरिवत्, १८।५६।
३. उपरिवत्, १५।३६।
४. उपरिवत्, ३।७।
५. उपरिवत्, ११५।६६।
६. उपरिवत्, ५६।१०।
७. उपरिवत्, २५।७७।
८. उपरिवत्, १३।४५।
९. उपरिवत्, १५।४६।
१०. उपरिवत्, ११०।५३।
११. उपरिवत्, ८३।३९।

कतल : पुल्लिग क्रिया-शब्द, अरबी के 'कत्ल' शब्द से बना है। अर्थ : वध, हत्या। प्रयोग : 'पाप पतवारि के कतल करिबे कौं गंगा।'[१]

हुकुम : पुल्लिग संज्ञा-शब्द, अरबी के 'हुक्म' शब्द से बना है। अर्थ : आज्ञा। प्रयोग . 'राम के हुकुम, सेनापति सेतु-काज कपि।'[२]

जौब : पुल्लिग संज्ञा-शब्द, अरबी के 'जौबअ:' शब्द से बना है। अर्थ : व्वण्डर, वातचक्र। प्रयोग : 'जुगति विचारी जौब रावरे मन टिकै।'[3]

फारसी के तत्सम शब्द :

जहान : पुल्लिग संज्ञा-शब्द। अर्थ : विश्व, संसार। प्रयोग : 'जा बिना न सूझै होत ब्याकुल जहान है।'[४]

कमीन : पुल्लिग विशेषण-शब्द। अर्थ : नीच, छोटी जाति का आदमी। प्रयोग : 'जनम कमीन भौन बीर जुद्ध मीत रहैं।'[५]

बाजी : स्त्रीलिंग संज्ञा-शब्द। अर्थ : शर्त्त। प्रयोग : 'रीझि देत हाथी कौं सहज बाजी देत हैं।'[६]

दादनी : अव्यय-शब्द। अर्थ : दातव्य, वह जो दिया जाने को हो। प्रयोग : 'दादनी की बेर जब देनी होत सौ की ठौर।'[७]

रुख : पुल्लिग संज्ञा-शब्द। अर्थ : चेहरा, जो मनोभावों का सूचक हो। प्रयोग : 'मेरे प्रानप्यारे केसौ रुखे से रहत हैं।'[८]

बरदार : पुल्लिग विशेषण-शब्द। अर्थ : वहन करनेवाला, उठानेवाला। प्रयोग : 'पूरी गज गति बरदार है सरस अति।'[९]

छापेदार : विशेषण-शब्द। अर्थ : छपा हुआ। प्रयोग : 'छापेदार पाग मानों पुरुष विराट की।'[१०]

कमान : स्त्रीलिंग संज्ञा-शब्द। अर्थ : तीर चलाने का यन्त्र। प्रयोग : 'कान्ह फिरि गए ज्यौं कमान फिरि जाति है।'[११]

१. कवित्तरत्नाकर, १६।४८।
२. उपरिवत्, ८६।५१।
३. उपरिवत्, १०७।४०।
४. उपरिवत्, ६।१९।
५. उपरिवत्, १४।४५।
६. उपरिवत्, १४।४३।
७. उपरिवत्, १५।४५।
८. उपरिवत्, २३।७१।
९. उपरिवत्, १०२।२३।
१०. उपरिवत्, ११२।५६।
११. उपरिवत्, १०।२९।

दर : पुल्लिग संज्ञा-शब्द। अर्थ : दरवाजा, द्वार। प्रयोग : 'गरब सौं दौरे दर-दर सब धाइ कै।'[1]

सिपारसी : स्त्रीलिंग विशेषण-शब्द, मूल शब्द है, 'सिपारस'। अर्थ . प्रशसक। प्रयोग : 'कहत अधीनता को होत है सिपारसी।'[2]

गुमानी : पुल्लिग विशेषण-शब्द, मूल शब्द है 'गुमान'। अर्थ · कुधारणा। प्रयोग : 'मार गुमानी कोप करि, छांड्यो तीछन तीर।'[3]

रुखाई : संज्ञा-शब्द। अर्थ : मुखाकृति। प्रयोग : सेनापति नाथ न रुखाई मन आनिय।'[4]

फारसी के तद्भव शब्द :

बकसीस : संज्ञा-शब्द, फारसी के 'बख्शिश' शब्द से बना है। अर्थ . दान। प्रयोग : 'रह्यौ आधो अंग सो सिवा की बकसीस मैं।'[5]

रोसन : सज्ञा-शब्द, फारसी के 'रौशन' शब्द से बना है। अर्थ · रोशनी। प्रयोग : 'तम कौं न राखे सेनापति अति रोसन है।'[6]

दुसमन : पुल्लिग सज्ञा-शब्द, फारसी के 'दुश्मन' शब्द से बना है। अर्थ : शत्रु। प्रयोग : 'करै दुसमन सो समन, सो न दूजियै।'[7]

आसना . स्त्रीलिंग संज्ञा-शब्द, फारसी के 'आशना' शब्द से बना है। अर्थ : प्रेमिका, जिससे जान-पहचान हो। प्रयोग : 'तेरी आस नाउगुन गही तीर आइहै।'[8]

गोसे · पुल्लिग संज्ञा-शब्द : फारसी के 'गोशे' शब्द से बना है। अर्थ : कान, श्रवणेन्द्रिय। प्रयोग : 'गोसे न मिलत कैसे तीर को संजोग होत।'[9]

पाइपोस : पुल्लिग सज्ञा-शब्द, फ़ारसी के 'पापोश' शब्द से बना है। अर्थ : जूता। प्रयोग : 'सेनापति निरधार, पाइपोस बरदार।'[10]

मिहमान : पुल्लिग सज्ञा-शब्द, फारसी के 'मेहमान' शब्द से बना है। अर्थ : अतिथि। प्रयोग : 'गीध हू कौं बन्धु सबरी कौं मिहमान है।'[11]

जरद : विशेषण-शब्द, फारसी के 'ज़र्द' शब्द से बना है। अर्थ : पीला। प्रयोग : 'छाया सोन जरद जुही की अति प्यारी है।'[12]

---

१. कवितरत्नाकर, ९०।६३।
२. उपरिवत्, ३८।२४।
३. उपरिवत्, ११७।८२।
४. उपरिवत्, ३७।२०।
५. उपरिवत्, ११३।६०।
६. उपरिवत्, ६।९।
७ कवित्तरत्नाकर, ११२।५७।
८. उपरिवत्, ९।२६।
९. उपरिवत्, ९।२९।
१०. उपरिवत्, १०२।२३।
११. उपरिवत्, १००।१९।
१२. उपरिवत्, ४।१३।

ज्यारी : विशेषण-शब्द, फारसी के 'ज़्यारी' शब्द से बना है। अर्थ : हृदय की दृढता, साहस। प्रयोग : 'दूरी कौं चलत जे हैं धीर जिय ज्यारी कै।'[१]

रोजनामे : संज्ञा-शब्द, फारसी के 'रोज़नाम' शब्द से बना है। अर्थ : दैनिक पत्र। प्रयोग : 'जाके रोजनामे सेस सहस बदन पढ़ै।'[२]

निसान : संज्ञा-शब्द, फारसी के 'निशान' शब्द से बना है। अर्थ : लक्ष्य। प्रयोग : 'देखिये निसान जाके आए अति चाइ कै।'[३]

रेसमैं : विशेषण-शब्द, फारसी के 'रेशम' शब्द से बना है। अर्थ : रेशमी। प्रयोग : 'आज लाल रेसमै सफल करु आइ कै।'[४]

निसानी : संज्ञा-शब्द, फारसी के 'निशानी' शब्द से बना है। अर्थ : चिह्न। प्रयोग : 'दुरे नव नेह की निसानी प्रानप्रिय की।'[५]

दुसाल : संज्ञा-शब्द, फारसी के 'दुशाल' शब्द से बना है। अर्थ : ओढ़ने का एक गरम वस्त्र। प्रयोग : 'उर सौं उरोज लागि होतं हैं दुसाल वेई।'[६]

जिरह : संज्ञा-शब्द, फारसी के 'जिरिह' शब्द से बना है। अर्थ : लोहे की कड़ियों से बना कवच। प्रयोग : 'होती जौं न ज्यारी यह जिरह जनेऊ की।'[७]

कहरन : संज्ञा-शब्द, फारसी के 'कहर' शब्द से बना है। अर्थ : आपत्ति। प्रयोग : 'नरक-हरन तै राखियै, नर कहरन तै वास।'[८]

अरबी-फारसी-मिश्रित शब्द :

सिरताज : पुल्लिंग संज्ञा-शब्द, 'सर' अरबी, 'ताज' फारसी। अर्थ : अग्रगण्य, मुकुट। प्रयोग : 'देव-सिरताज, तुम, आज महाराज बैठि।'[९]

बिहाल : विशेषण-शब्द। 'बि' फारसी 'बे'; 'हाल' अरबी-शब्द। अर्थ : व्याकुल, बेहाल। प्रयोग : 'ग्राह के गहे तैं अति ब्याकुल बिहाल भयौ।'[१०]

उपर्युक्त शब्दों के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि 'कवित्तरत्नाकर' मे अधिकांशतः अरबी-फारसी के संज्ञा-शब्द ही प्रयुक्त हुए है। विशेषण तथा क्रियाशब्द अत्यल्प हैं।

△ ११, एलनगंज, इलाहाबाद (उ० प्र०)

---

१. कवित्तरत्नाकर, ३।९।
२. उपरिवत्, ३०।९६।
३. उपरिवत्, १८।५८।
४. उपरिवत्, २६।४१।
५. उपरिवत्, ३१।३।
६. कवित्तरत्नाकर, ७०।५८।
७. उपरिवत्, ८०।२७।
८. उपरिवत्, ११८।८५।
९. उपरिवत्, पृ० १०३।२७।
१०. उपरिवत्, १०६।३९।

महामति प्राणनाथ : साधना और सिद्धान्त

●

△ डॉ० रणजीतकुमार साहा

महामति प्राणनाथ (सन् १६१८–१६९४ ई०) भारतीय भक्ति-आन्दोलन, वैष्णव साधना की धारा और धर्म-दर्शन एवं चिन्तन की समग्र स्थितियो के सम्मुखीन थे। उनके समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती यह थी कि वैष्णव भक्ति-परम्परा के सारे विरोधाभासों एवं विसंगतियो को कैसे दूर किया जाय। वैष्णवी परम्परा में जनमे, पले और ढले महामति को सर्वप्रथम अपने ही अनुयायियो से टकराना पड़ा था। वृहत्तर हिन्दू-धर्म के अनेकशः अधिकार्यों और निकायो के साथ-साथ उन्हे बहिरंग धर्म-दर्शन और चिन्तन से जूझना पड़ा।

महामति प्राणनाथ की विशिष्टाद्वैतवादी विचारधारा को परिरेखित करनेवालों मे स्व० डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होने अपने शोधग्रन्थ में प्राणनाथ को नये पन्थ का आविष्कारक माना[1] और उन्हें विशिष्टाद्वैतवादियों की श्रेणी मे ही रखा। डॉ० बड़थ्वाल अपने निर्णय मे पर्याप्त लचीले हैं। उनके अनुसार, तुलसीदासजी भी निश्चित रूप से विशिष्टाद्वैतवादी थे।[2] महामति प्राणनाथ, दोनो दरियासाहब, दीनदरवेश, बुल्लेशाह, शिवदयाल (आगरावाले) तथा उनके सभी अनुयायी (राधास्वामी-सत्संग) को इसी श्रेणी मे रखते हुए उन्होने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया था कि 'वस्तुत- ये (सब) सिर्फ तत्त्ववाद मे ही विशिष्टाद्वैतवादी हैं।'[3]

यह सही है कि महामति अपने ब्रह्म को अद्वैतधर्मा शब्द से अभिव्यक्त ही नहीं करते, उन्हें विशिष्टाद्वैतवादी गुणो से श्रीसम्पन्न भी कर देते है। उनके आराध्य श्रीकृष्ण सर्वगुणसम्पन्न शुद्ध साकार स्वरूप हैं और शुद्ध गुण रूप मे प्रेमसमर्पित भक्तिसुलभ भी।[4] उनके सम्पूर्ण वाङमय 'कुलजम स्वरूप' मे वैष्णवो के उपास्य ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' एवं वल्लभाचार्यजी को पर्याप्त स्थान एवं सम्मान मिला है। महामति ने उनकी 'श्रीसुबोधिनी' टीका को 'श्रीरास', 'किरन्तन' तथा 'प्रकाश हिन्दुस्तानी' आदि ग्रन्थो के प्रणयन में साक्ष्याधार माना एवं कतिपय स्थलो पर उनके अवदानो की विशेष संवर्द्धना की है। महामति ने उन वैष्णवो की पर्याप्त भर्त्सना की है, जो भागवतविरुद्ध आचरण में निमग्न थे और जिसके फलस्वरूप वल्लभजी की वाणी का उपहास हो रहा था।[5] महामति इस तर्क के भी परम आग्रही हैं कि शुकदेवजी-प्रणीत परम भागवत

ग्रन्थ का, जिसकी व्याख्या स्वयं वल्लभाचार्यजी ने भी की है, एक-एक अक्षर सार्थक एवं ग्राह्य है। उसका अक्षरशः सम्मान और पालन किया जाना चाहिए :

आए मिलो रे वैस्नव पारखी, तुम देखियो विचारी सब अंग।
टीका वल्लभी वानी सुकदेव की, ताकी एक अक्षर को न कीजे भंग ।।

(प्र० १४।५ : किरन्तन)

वल्लभाचार्य की वाणी का साक्ष्याधार ग्रहण करते हुए भी, महामति ने जीव और सृष्टि के विभाजन-क्रम में तनिक स्वतन्त्रता से काम लिया है। परम भगवदीय या वैष्णव-परम्परानुसार, जीवों के प्रकार-भेद का उल्लेख करते हुए महामति ने मान्य एवं परम्पराश्रित प्रकारो की आध्यात्मिक व्याख्या ही नही की है, उन्हे ऐतिहासिक सन्दर्भो में वर्गीकृत एवं प्रतीकित भी किया है। वहाँ शुद्ध, साकार और मुक्त (वल्लभाचार्य के अनुसार) के समानान्तर ब्रह्म, ईश्वर और जीवसृष्टि ही नही, जाहिरी और बातिनी, नारी और नाजी, साकुमार और सकुण्डल; बसरी, मलकी और हकी जैसी सूरतो; नजरी और [illegible]सली जैसे ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक एव साम्प्रदायिक कोटियों का भी निर्धारण किया।[६] [illegible]सका एक बड़ा कारण यह भी था कि महामति व्यास, शुकदेव-परीक्षित या वल्लभाचार्य अथवा उनकी परिपाटी के ऐसे अनुयायियो मे नही, जो रासरसिकेश्वर श्रीकृष्ण की लीलाओ का अनुगान करके ही अपने वैष्णव-दायित्व की इतिश्री मान ले। महामति की युगानुकूल दृष्टि ने क्रमशः उनके संकल्प और दायित्व-बोध को तीव्रतर किया था। वह जानते थे कि राजनीतिक अन्तर्विरोधो या दबावों का सामना केवल आध्यात्मिक वृत्ति से नही किया जा सकता। वह अपने पूर्ववर्त्ती सन्त-मनीषियो का पूरी सदाशयता से उल्लेख करते रहे, लेकिन उनकी सीमाओ से परिचित है। वह एक ऐसे युगान्दोलन को नेतृत्व देना चाहते थे, जिसमे किसी धर्म-विशेष की आस्था और आचार-संहिता को प्राश्रय या प्रामुख्य देना ही काम्य न था। वह उस समय भारत एवं पश्चिम एशिया की सारी धर्म-साधनाओ में समान रूप से अन्तर्व्याप्त एक ऐसा समन्वय-सूत्र ढूँढ़ रहे थे, जो सत्यकेन्द्रित और सत्याधृत हो। यह एक ऐसा आग्रह और आधार था, जिससे सभी धर्म-दर्शन न्यूनाधिक प्रेरित-परिचालित रहे है। वस्तुतः, यही तो आदिस्रोत था, जिसकी सबको खोज थी। सत्य का सन्धान और सत्य की प्रतिष्ठा ही महामति का संकल्प और मन्त्र रहा :

सांचा री साहेब सॉच सो पाइये, सॉच को साँच है प्यारा।
या वैस्नव की गति देखो रे वैस्नवो, महामत इनसे भी न्यारा ।।

(प्र० ९।७ : किरन्तन)

सत्य ही अज्ञान का आवरण दूर करता है और यही हिन्दू-मुसलमान के परस्पर विरोध को नष्ट कर सकता है।[७] सत्य के संस्कार से लोक को समृद्ध करने के लिए ही किसी मनीषी, 'महामति', मसीहा, हादी या 'इमाम' का अवतरण होता है। महामति

लोक-सौमनस्य का दायित्व निबाहने के लिए ही नेतृत्व करते हैं।[८] इसके लिए उन्हें मुसलमानो[९] वैष्णवो या पण्डितों-महन्थो[१०] को फटकारने की आवश्यकता भी पड़ी, तो वह चूके नही, हालाँकि महामति राजनीतिक दृष्टि से भी पूरी तरह चुस्त और चौकस थे। उन्हें अपने समकालीन कट्टर मुस्लिम मुगल-बादशाह औरंगजेब के बर्बर और अमानवीय कृत्यों का भी पता था। हिन्दुओ पर ढाये गये अत्याचार, गुरु तेगबहादुर का शिरश्छेद, दाराशिकोह का कत्ल[११] और सतनामियो का बर्बरतापूर्ण दमन[१२] आदि के साथ इस्लाम के राजनीतिक हस्तान्तरण और धार्मिक वलान्नयन की प्रक्रिया भी तेज होती चली गई थी। इसकी कीमत उन उदारपन्थियो, धर्मनिरपेक्ष संघटनो एवं सम्प्रदायो तथा निरपराध व्यक्तियो को चुकानी पडी, जो प्रकारान्तर से अद्वैतवाद, औपनिषदिक ब्रह्मवाद या निर्गुणवाद का प्रचार कर रहे थे या उसे समर्थन दे रहे थे।

राजनीतिक दृष्टि से कट्टर इस्लामी राजसत्ता का विरोध या हिन्दू-धर्म एवं साम्राज्यवाद का अभिषेक करते हुए भी महामति ने इस्लाम की ऐकान्तिक महत्ता या 'हक' को भी उतना ही महत्त्व दिया, जितना उन्होने हिन्दू-धर्म के 'परम सत्य' को। इन दोनो की मूलभूत एकता और महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उन्होने अपने वक्तव्य को मर्यादित रखा है। कबीर की भाँति आलोचनात्मक, नानक की तरह प्रत्ययवादी, निर्गुण सन्तो की भाँति निषेधात्मक तथा अकबर की तरह समाहारवादी न होकर महामति अपनी प्रचेष्टा मे समन्वयवादी रहे। उनका दृष्टिकोण विधायक एव सरचनात्मक रहा। वह अन्यथा उग्रभाव से किसी की भी आलोचना-प्रत्यालोचना या खण्डन-मण्डन नहीं करते। विभिन्न धर्मो एवं धर्मग्रन्थो के आधारभूत सत्य का मर्म उद्घाटित करना ही उन्हें अभिप्रेत है।[१३] उनकी निरन्तर चेष्टा का एकमात्र लक्ष्य है—'तारतम सूरज' का प्रकाश,[१४] 'जागनी' का उद्घोष[१५] 'मारफत सूर का अवतरण',[१६] और मर्यादित प्रेम की प्रतिष्ठा।

अपनी लम्बी अरब-यात्रा[१७] (सन् १६४६–१६५० ई०) के क्रम मे महामति ने धर्म-संस्कृति एव विचारधारा को बहुत निकट से देखा था और सूफी मतवाद से भी वह पूरी तरह परिचित थे।[१८] उन्हें पता था कि सूफी साधक इस्लाम के एकेश्वरवाद से सन्तुष्ट नही और वह ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता को विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियो की तरह मानते रहे हैं। सूफीवाद के स्रोत यद्यपि बहुत जटिल थे, तथापि यह चिन्तन हिन्दू और मुसलमानो के धार्मिक, वैचारिक और सांस्कृतिक रीतियो एवं रूढियो के अधिक निकट था। इतना ही नही, जब यह धर्मनिरपेक्ष चिन्तन ईसाई-धर्म के नास्तिक-सम्प्रदाय, नवप्लेटोवाद तथा हिन्दू-भागवत-धर्म के संस्कार-सम्पर्क मे आया, तब इसने स्वभावतः ही एक दूसरे या तीसरे को प्रभावित किया। कई सूफी साधक, यथा **मोनुइद्दीन** (सन् ११४२ ई०), **कुतुबुद्दीन** या **फरीदशकरगंज** (सन् १२०० ई०), **शेख चिश्ती** (सन् १२९१ ई०) तथा **निजामुद्दीन औलिया** (सन् १२३५ ई०) आदि समान भाव से हिन्दू और मुसलमानों का विश्वास अर्जित कर सम्मान प्राप्त कर चुके थे। फारस के

सूफी-आन्दोलन में **शेखसादी, मौलाना रूमी** और **हाफिज** जैसे विख्यात सूफी-चिन्तक और कवि भी सम्मिलित थे। भारत में **मलिक मुहम्मद जायसी**, **कुतुबन**, **मंझन** या **नूर मुहम्मद** जैसे सूफी-कवियो ने पौराणिक आख्यानों के बदले लोकप्रचलित और लोक-रंजक आख्यानों का आश्रय लेकर जन-जन तक धर्म का मूल मर्म पहुँचाने का प्रयास किया। ये सब-के-सब न्यूनाधिक रूप मे भारतीय अद्वैत-चिन्तन के सर्वदेवतावाद से प्रभावित थे, तथा मानवीय एवं ईश्वरीय प्रेमाभिव्यक्ति के लिए इन्होने कलात्मक धार्मिक प्रतीको और बिम्बों का आविष्कार भी किया तथा लोक-आख्यानों द्वारा प्रेममूलक मानवतावाद को नया स्वर भी दिया। इन सबके मूल मे प्रेम ही अपनी अन्तरग भूमिका निबाह रहा था।[१९]

मध्ययुग की सम्मिलित मानसिकता और ऐतिहासिक आवश्यकता ने परस्पर विरोधी जान पड़नेवाली वृत्तियो का भी समाहार करने पर आवश्यक बल दिया था। सूफियो के तत्त्व-चिन्तन का परम आशय 'इश्कहकीकी' और ईसाइयो का 'लव इज् गॉड' अपने पूर्ण वैभव के साथ महामति-वाङ्मय मे पर्यवसित एवं अभिनन्दित हुआ। परब्रह्म श्रीकृष्ण के प्रेम का पूरा परिचय प्राप्त कर ही उन्होने अपनी स्वानुभूति को मुखरित किया था। इसलिए प्रेम, मानवता, भ्रातृत्व और सद्भाव का सन्देश देनेवाले लगभग सभी युगपुरुष, मनीषी, चिन्तक और मसीहा उनकी 'तारतम बानी' या 'कुलजम स्वरूप' मे सादर उपस्थित है। महामति की स्थापना है कि पूरे विश्व में ऐसी जितनी भी शक्तियों का अवतरण हुआ, वे सब-की-सब एक ही स्रोत की प्रेरणा या आदेश से। इसलिए, उन ज्ञात या अज्ञात शक्तियो, सन्देशों, संकेतो या दृष्टान्तों को सारी मानवता के उन्नयन या जागरण का उपलक्ष्य माना जाना चाहिए।

इसीलिए, महामति ने मुस्लिम **एकेश्वरवाद—तौहीद** या **'वाहेदत्त'** की श्लाघा करते हुए भी तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित बहुदेवतावाद, ब्रह्मेतर सत्ता और शक्ति के विरुद्ध अद्वैत की पुन. प्रतिष्ठा के उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रदान की। उन्होने मुस्लिम एकेश्वरवाद के सन्दर्भ मे विभिन्न विभेदों एवं मूर्त्ति या अर्चा-पूजा से ऊपर उठकर विशिष्ट, अद्वितीय, शुद्ध साकार स्वरूप परब्रह्म तथा अद्वैत की प्रतिष्ठा का प्रस्ताव रखा, जिसे इस्लाम का भी नैतिक समर्थन प्राप्त हुआ। यह एक ऐसा व्यापक आयोजन या सम्भव प्रयोग था, जिससे ब्राह्मण-वर्ग या अभिजात-वर्ग द्वारा प्रतिपादित हिन्दू-धर्म की आधारभूत संकीर्णता दूर की जा सके। यह सही है कि वैष्णवो के आराध्य एवं उपास्य ग्रन्थ भागवत मे वर्णित कृष्ण के लीलारूप को उनके वाङ्मय मे पर्याप्त स्थान एवं सम्मान मिला। लेकिन, अवतार की कल्पना वहाँ एकदम गौण है। उनके कृष्ण अक्षरातीत परमात्मा-स्वरूप हैं, विष्णु के अवतारों में एक नहीं।

महामति की 'जागनी' का यही उत्कर्ष है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति में उन समस्त अन्तरंग और बहिरंग सत्ताओ को आमन्त्रित किया गया है, जो परम सत्य 'हक' के नूर जमाल में अपने को निमग्न होते देखना चाहती है। महामति ने ऐसी आत्माओं को आमन्त्रित, आश्वस्त और अभिप्रेरित किया था।[२०] 'जागनी' के उपक्रम द्वारा ही दुःख

स्वप्नवत् प्रतीत होता है, जब कि आम धारणा यह है कि सुख ही सपना होता है, स्वप्नवत् भासता है। किन्तु 'जागनी' से समर्जित अखण्ड सुख के अक्षय प्रभात में दुःख के समस्त दुःस्वप्न विनष्ट हो जाते है। अखण्ड सुख, उष.काल की सूर्य-लालिमा-सा क्षितिज पर उदित होता है और अक्षरातीत प्रियतम के साथ योग्य आत्मागनाओं का पूर्णराग अनुरंजित, पल्लवित-पुष्पित और सार्थक होता है।[२१]

महामति ने व्यक्ति के व्यक्तित्व या पुरुषार्थ के महत्त्व को रेखांकित करते हुए उसे सत्य का साधक, संशोधक या 'मोमन' होने का सन्देश दिया है। जैविक दृष्टि व्यक्ति को वस्तु बना देती है और उसके आत्मिक संस्कार क्रमश मर जाते हैं। ऐसा व्यक्ति अपनी चतुराई से सांसारिक और आध्यात्मिक उपादानो या दिव्योपहारों का एक साथ उपभोग करना चाहता है, जो असम्भव है।[२२] अपनी वृत्तियो को सात्त्विक या वैष्णवी बनाकर या मोमन बनकर समस्त जागतिक सुखोपभोगों एवं सत्य प्रतीत होनेवाले मायाजन्य स्वप्न या दुःखपूर्ण 'कसनी'[२३] को भी आध्यात्मिक साध्य का साधन बनाया जा सकता है। महामति व्यक्ति की उस आध्यात्मिकता को सम्प्रेरित नहीं करना चाहते, जिससे कि वह अपनी ही सत्ता को प्रमुख मानने लगे।

इस तरह, महामति ऐसे पहले पुरोधा है, जो माया जैसी उपेक्षणीय, तिरस्कृत्य (बाह्य) सत्ता को भी आध्यात्मिक उत्कर्ष या 'जागनी' की 'कसनी' या कसौटी पर वांछित, अनुपक्षेणीय, अनिवार्य और आनुषंगिक उपलक्ष्य बना देते है।[२४] ताकि, इन कसौटियो पर बार-बार कसे जाकर और हार खाकर भी वह टूटे या झुके नही। और, इसी आत्म-शक्ति और 'जागनी' के सकल्प ने उन्हें 'मेहराज ठाकुर' से **महामति** बनाया।[२५]

सन्दर्भ-संकेत :

१, हिन्दी-काव्य मे निर्गुण-सम्प्रदाय डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० ७६।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्, पृ० ११५।

४. सुंन निरगुण निरंजन, देख वैकुंठ निराकार।
अक्षर पार अक्षरातीत, प्रेम प्रकास्यो पार के पार ॥—प्र० ५३।९ किरन्तन।

५. वैस्नव होए सो वचन मानसी और जो वल्लभ वानी से टलिया।
महामत कहे सो काहे को जनम्या, गर्भ माहें क्यों न गलिया ॥
—प्र० १३।२१ : किरन्तन।

६. द्र० किरन्तन, सम्पादक : डॉ० रणजीतकुमार साहा, पारिभाषिक शब्द-सन्दर्भ, पृ० ३९१-४४३, प्राणनाथ मिशन, सन् १९८१ ई०।

७. करना सारा एक रस, हिन्दु-मुसलमान।
धोखा सबका भान के, सबको कहूंगी ज्ञान ॥—प्र० ३।३ . सनन्ध।

८. मुसलिम को मुसलिम की, हिन्दुओं हिन्दुओ की तर।
ए समझे सब अपनी मिने, जब आए इमाम आखर ॥
—प्र० ३२।२० : सनन्ध।

९. पढे मुल्ला आगूं हुए, सो तो खाय गुमान।
लोकों को बतावही, कहें हम पढे कुरान ॥
कुफर न काढे आपको, और देखें सब कुफहान।
अपना अवगुण न देखही, कहे हम मुसलमान ॥
बदी न छोड़ें एक पल, डर न रखें सुभान।
फैल करें चित चाहते, कहें हम मुसलमान ॥—प्र० ४०।४३,४५।

१०. उदार कारण वेचें हरि को, मूढ़ों एही पाया रोजगार।
मारते मुख उपर को, ले जासी जम द्वार ॥

११. दाराशिकोह ने विभिन्न स्रोतों एवं क्षेत्रों से प्राप्त तत्त्वों का यथार्थ विश्लेषण कर यह सप्रमाण सिद्ध किया था कि, कुरान का भाव ही प्रकारान्तर से वेदों, उपनिषदों और अन्यान्य धर्मग्रन्थों में पाया जाता है। अन्तर केवल 'एख्तलाफ-इ-लफजी', भाषा और शब्दों का है। उसने **बाबा लालदास** का सत्संग किया था, **कवीन्द्राचार्य** जैसे विद्वान् संन्यासी एवं **पण्डितराज जगन्नाथ** जैसे संस्कृत-आचार्यों से मैत्री की थी और **सन्त सरमद** (इस्लाम स्वीकारने के पहले यहूदी) जैसे निर्भीक विचारकों से तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था। इस्लाम, हिन्दू, यहूदी और ईसाई धर्म-दर्शन की अवधारणाओं को पूरी तरह आत्मसात् करने के बाद ही, उसने सर्वधर्मसमन्वय की सम्भावना के साथ इस क्षेत्र में पदार्पण किया था। लेकिन, अपनी सदाशयता और विद्वत्ता की कीमत उसे अपनी जान देकर चुकानी पड़ी।

१२. सतनामियो की नारनौल-शाखा के अनुयायियों ने औरंगजेब के विरुद्ध सन् १६६८ ई० में जबरदस्त आन्दोलन छेड़ा था, लेकिन औरंगजेब ने उनका विद्रोह बुरी तरह कुचल दिया।

१३. वेदान्त गीता भागवत, दैया इसारतां सब खोल।
मगज मायने जाहेर किए, माहे गुझ हते जो बोल ॥
अंजीर जंबर तोरेत, चौथी जो फुरकान।
ए मायने मगज गुझ थे, सो जाहेर किए बयान ॥
—प्र० १३।९६, ९७ : खुलासा।

१४. तारतम सूरज प्रगट्यो, संकल थयो प्रकास।
लागी सिखरो पाताल झलक्यो, फोडियो आकास ॥
—प्र० ७।४५ : कलस गुजराती।

१५. अग दिए बिना आवेस, नाही प्रेम उपाए।
आवेस दे करूं जागनी, लेऊं अग मे मिलाए ॥
—प्र० २३।३७ : कलस हिन्दुस्तानी।

१६. दुर किए तारीकी रात के, सितारा करता थामैं मैं।
डुबाया मारफत सूरजें, नाबूद डूब्या मैं मैं से ॥
—प्र० १४।६६ : मारफत सागर; द्र० २२, २५, ६६, प्र० १४।

१७. चार बरस पर बीतें, रहे बर्स अरब जब।
खेता पोहोंचा अपने ठौर को, मौत हुआ तब ॥
—स्वामी लालदास की बीतक, प्र० १३।११।

१८ सूफी एक तहाँ चलि आयो। प्रभु दरश देखी सिर नायो ॥
बैठायो वह निकट बुलाई। तारतम्य चरचा सुनवाई ॥
सुन चरचा सूफी सुख पायो। श्रवननि बीच सुधा सो पायो ॥
—६२-६३, प्रकरण २७; श्रीमिहराज-चरित्र ' बक्सी हंसराज-कृत, प्रकाशक : श्री ५ नौतनपुरी धाम, जामनगर, गुजरात, स० २०२१ वि०।

१९. "मध्ययुग की भारतीय साधना मे (अचानक) एक विशेष प्रकार के कवियों और चित्रकारो को उस अभिनव सृष्टि मे तल्लीन देखा जा सकता है, जो मानते है कि शक्ति मे ऐश्वर्य है, अत. वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही, वे यह स्वीकारते है कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, काल मे भी और स्थान मे भी, अर्थात् वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है। पर, ये दोनो उसके एकांगी परिचय हैं। ऐश्वर्य ही उसका एक अग है, ब्रह्मतत्त्व भी उसका एक अंश है, इन दोनो को अतिक्रान्त करके स्थित है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम मे। जहाँ वह साधारण-से-साधारण आदमी का समान धर्म है।"—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'विचार और वितर्क', सुषमा साहित्य-मन्दिर, जबलपुर, पृ० १५।

२०. पाक न होइये इन पानी एं, चहिए अरस का जल।
नहाइये हक के जमाल मे, तब होइए निरमल ॥—प्र० २५।४४ : सिनगार।

२१. दुख सब सुपनो होय गयो, अखंड सुख भोर भयो।
महामत खेलें अपने लाल सो, जो अक्षरातीत कह्यो ॥—प्र० १७।१२ : किरन्तन।

२२. दुनिया अपनी दानाई से, लेना चाहे दोए।

२३. लाहा लीजे दोनो ठौर का, सुनो मोमनो कहे महामत।
क्यो सुपने ए चरन छोडिए, अपनी असल निसबत ॥
—प्र० ९।२१ : सिनगार।

२४. दुख बिना न होवे जागनी, जो करे कोट उपाए।
धनी जगाए जागही, ना तो दुख बिना क्योए न जगाए ॥
—प्र० १८।१४ : किरन्तन।

२५. दुख से पीउ जो मिलसी, सुखे न मिलिया कोय।
अपने धनी का मिलना, सो दुखे से होय ॥—प्र० १७।१० : किरन्तन।

●●

△ साहित्य-अकादमी, रवीन्द्र-भवन
नई दिल्ली : ११०००१

सन्त नेकीराम : जीवन और साहित्य

△ श्रीइन्द्र सेंगर

'घीसापन्थ' के प्रवर्त्तक सन्तकवि घीसादास के शिष्यों की परम्परा में सन्त जीतादास, सन्त नेकीराम, सन्त हजारीदास, सन्त ढींढेदास, नानू सन्त, हरदयालदास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु, 'घीसापन्थ' को सर्वोच्च शिखर पर ले जाने मे जिन शिष्यो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, उनमे सन्त जीतादास और सन्त नेकीराम पांक्तेय स्थान के अधिकारी है। सन्त नेकीराम ने अपने प्रवचनों द्वारा यमुनातट के पश्चिमवर्त्ती क्षेत्र में 'घीसापन्थ' का प्रचार-प्रसार किया और सन्त जीतादास ने अपनी कवित्व-प्रतिभा का अनन्य योग देकर वाणियो और पदों के द्वारा पन्थ को व्यापकता प्रदान की।

जीवन-परिचय :

सन्त नेकीराम[1] का जन्म सन् १८४८ ई० में, फाल्गुन पूर्णिमा को, सोनीपत-जनपद के नाहरी[2] ग्राम के जाट-परिवार मे हुआ था। उनके पिता चौधरी शादीराम और माता श्रीमती लक्ष्मीजी, दोनो ही धार्मिक प्रवृत्ति से ओतप्रोत थे और ईश्वर-भक्ति एव सन्त-सेवा में निष्काम भाव से लगे रहते थे। साधु-सन्तो का पदार्पण होने पर वे दोनों ही उनकी ज्ञानमयी वाणी असीम श्रद्धा एवं विपुल प्रेम के साथ सुना करते थे और विदा होते समय उनकी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण करके स्वयं को कृतार्थ समझते थे।

१. (क) 'सन्त नेकीराम की स्वान-ए उमरी' : चौ० स्वरूपसिंहजी।

(ख) नाहरी माजरे में दईया भईया, दहीया का जग सारा।
दहीया में कोई लहीया आवे, सोई मित्र हमारा॥
नेकीराम लख्या नहीं जावे, मै मैं करता हारिया।
दिल्ली मांहि दलाली कीनी, नफा नाम का सारा॥

—श्रीग्रन्थ साहेब : सन्त जीतादास, २६९। २००।

२. नाहरी ग्राम दिल्ली से ठीक २० मील दूर उत्तर-पश्चिम दिशा में अवस्थित है। यह ग्राम उस समय दिल्ली-जनपद में पड़ता था। प्रशासन की सुविधा के लिए जब दिल्ली-प्रान्त बनाया गया, तब यह गाँव जिला रोहतक में आ गया था। हरियाना और पंजाब के विभाजन के बाद सम्प्रति यह गांव सोनीपत-जनपद में आ गया है। यह ग्राम नरेला (दिल्ली–४०) से तीन मील की दूरी पर, दिल्ली से रोहतक और सोनीपत जानेवाली सड़क पर, दाईं ओर बसा हुआ है।—ले०

सन्त नेकीराम ने भी अपने प्रवचनों में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि गुरु-भक्ति एवं सन्त-सेवा उन्हें अपने पूर्वजों से विरासत में मिली।[1] उनका जीवन चमत्कार-पूर्ण संयोग से ही प्रारम्भ और अन्त हुआ। उनके जन्म के समय उनकी माता के पलंग के निकट एक विद्युत्-सदृश आलोक पुंजीभूत होकर कुछ देर बाद समाप्त हो गया। अपनी बहू की देखरेख में खड़ी उनकी दादी ने अद्भुत प्रकाश देखा, तो भूत-प्रेत में विश्वास रखने के कारण, उन्होंने उनके पितामह चौ० मोहकम सिंह को एक पुरोहित के पास शंका-निवारणार्थ भेजा। पुरोहित ने प्रसन्न होकर उनके जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए कहा था : "चौधरी साहब, आप बुरा न मानेंगे। यह आपके किसी पूर्व पुण्यकर्म का फल है, जो इस बच्चे ने आपके घर जन्म लिया। अन्यथा, आपका घर इस बालक के जन्मग्रहण के योग्य नहीं था। भगवान् इस बच्चे को दीर्घायु करे। यह कोई बड़ा ही भाग्यशाली आदमी बनेगा, जो आपका और आपके वंश का नाम संसार में सब प्रकार से उज्ज्वल करेगा।"[2]

नेकीरामजी बाल्यकाल से ही मल्लयुद्ध[3] में रुचि रखने के साथ-साथ प्रातः-सायं विधिपूर्वक ईश्वर-साधना और योगाभ्यास में लीन रहने लगे थे। योग-साधना करते-करते उनकी बुद्धि और आत्मा इतनी निर्मल हो गई कि समाधिस्थ होकर वह अध्यात्म की गहराई में अनवरत उतरते ही चले गये, साथ ही ईश्वर और संसार-विषयक अपनी जिज्ञासा की पूर्त्ति के लिए सद्गुरु की खोज में भी लगे रहे। उसी समय नाहरी ग्राम के ही निकट हलालपुर नामक ग्राम में धनीराम नाम के एक तपस्वी और कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहते थे। एक दिन नेकीरामजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने उनसे ईश्वर के द्वार तक पहुँचने का मार्ग पूछा। इसपर उनका उत्तर इस प्रकार था :

"यदि तुम ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग ढूँढना ही चाहते हो, तो सुनो। तुम सत्य-नारायण, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि की कथाएँ सुना करो। प्रतिदिन ब्राह्मणों को जिमाया करो। कुछ दान-दक्षिणा भी दिया करो। इसी से तुम्हें ईश्वर-प्राप्ति होगी।"[4] इस उत्तर से नेकीराम को, लेशमात्र भी तृप्ति नहीं हुई और उन्होंने धनीराम पण्डित से कहा : "पण्डितजी, जब ऐसी बात है, तब तो अमीर लोग ही मोक्षपद के अधिकारी हो

१. जीवनगाथा : श्रीधर्मवीर सिंह कौशिक, पृ० १।
२. उपरिवत्।
३. बचपन में ही नेकीरामजी के ग्राम के जाट जमींदार छैलूराम ने वैमनस्य की भावना से उनकी कुश्ती अधिक उम्र के शक्तिशाली लड़के से कराई, परन्तु उन्होंने उसे परास्त कर दिया। छैलूराम के मन में विद्वेष की आग धधक उठी और उसने उनपर लाठी से प्रहार किया। उसी समय उनके शरीर से स्वर्ण-स्तम्भ-सदृश प्रकाश प्रकट हुआ था, जिससे सभी चमत्कृत रह गये।—ले०
४. जीवनगाथा : श्रीधर्मवीर कौशिक, पृ० १८।

सकते हैं; क्योंकि वही नित्यप्रति कथा-कीर्त्तन भी करा सकते है और ब्राह्मणों को सुस्वादु भोजन भी खिला सकते हैं।"[1] इस प्रकार कहकर नेकीरामजी अपने घर लौट आये और पूर्ववत् योग-साधना में लीन रहने लगे।

एक दिन की घटना है। कृष्ण-जन्माष्टमी का पर्व था। नेकीरामजी कई दिनो से पेचिश से पीडित थे। बार-बार शौच के निमित्त जगल जाने-आने की असुविधा से बचने के लिए वह ग्राम की पश्चिम दिशा में पोखर[2] के किनारे एक वृक्ष के नीचे आसन लगाकर बैठ गये। जब वह पूर्णरूपेण समाधिस्थ हो नामजप का आनन्द ले रहे थे, तभी उन्हे ऐसी अनुभूति हुई कि कोई बार-बार प्रेरित करके कह रहा हो कि अपने नेत्र खोलो और देखो, तुम्हारा मार्गदर्शक सामने आ रहा है। इस प्रेरणा को प्रभु-आज्ञा समझ जब उन्होने अपनी आँखे खोलीं, तब देखा कि एक दिव्यस्वरूप महात्मा उनकी ओर बढ़े चले आ रहे है। निकट आने पर सन्त नेकीराम ने उन्हे सादर प्रणाम किया। उस महान् विभूति के दर्शन एवं चरणस्पर्श-मात्र से ही सन्त नेकीराम के शरीर मे विद्युत्-प्रवाह के समान एक अपूर्व चैतन्य की लहर-सी दौड़ गई और उनका हृदय-मन्दिर आलोक से जगमगा उठा। उस समय वह महात्मा भी अपने शिष्य की ओर निहार-निहारकर आत्मविभोर हो रहे थे। वह अपने नेत्रों द्वारा उस शिष्य के हृदय मे तीव्रतम प्रकाश-पुज की स्थापना कर रहे थे, जिससे उनका शिष्य भी इस संसार मे अपने भक्तो को आलोकित कर सके। उस महान् विभूति ने प्रेम-प्रसाद देकर सन्त नेकीराम को गुरुमन्त्र से दीक्षित किया और हृदय से लगाकर शिष्य-रूप में ग्रहण करके कहा : "वायु-भक्षण, एकान्तवास, भस्म-लेपन, जल मे बैठकर अथवा खड़े होकर भजन करना आदि ईश्वर-प्राप्ति के साधन नही हैं। यदि ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग की खोज करनी है, तो सद्गुरु की शरण लो, तत्त्वदर्शी विज्ञानियो से मिलो आदि।"[3]

जब वह महात्मा इस प्रकार का उपदेश दे रहे थे, तभी सन्त नेकीराम को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो हृदय-गुहा से ज्ञान के आनन्द का स्रोत उमड़ आया हो। अपने मानस की अपूर्व दशा देखकर उन्होने महान् सन्त का आभार व्यक्त किया और कहा कि "आपकी मधुर स्नेहिल वाणी से मेरा हृदय गद्गद हो गया है और शरीर का रोम-रोम पुलकित हो रहा है। भगवन्! आज मैं अपने सद्गुरु के साक्षात् दर्शन कर कृतार्थ हुआ। मैं वचनबद्ध हो प्रतिज्ञा करता हूँ कि भविष्य मे सदैव आपके बताये मार्ग पर चलूँगा। आपका पन्थगामी बनूँगा। मैं आज से आपका शिष्य हूँ। मेरी शंका के निवारण-हेतु आप अपना परिचय देने की कृपा करें।" तब महान् सन्त ने सरल भाव से छोटा-सा उत्तर दिया था : 'मैं सन्त घीसादास हूँ।' तदनन्तर, आशीर्वाद देकर वह अन्तर्हित हो गये। सन्त नेकीराम गुरु

१. जीवनगाथा : श्रीधर्मवीर सिंह कौशिक, पृ० १८।

२. यह पोखर 'छोटी झाल' के नाम से पुकारा जाता था, जो सम्प्रति एक तीर्थ-स्थान बन गया है।—ले०

३. जीवनगाथा : श्रीधर्मवीर सिंह कौशिक, पृ० २३।

द्वारा उपदिष्ट ज्ञान की रसीली बूटी का पान कर मूच्छित अवस्था में पड़े रहे। कुछ समय बाद जब चेतना लौटी, तब वहाँ झाड़-झंखाड के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था।

गुरु-दर्शन के बाद, **सन्त नेकीराम** के हृदय-कपाट खुल गये और ज्ञान-प्रदीप प्रज्वलित हो उठा। वह अपने को सांसारिक माया के बन्धन से मुक्त अनुभव करने लगे। यद्यपि, उनके पिता **चौ० शादीराम** ने उनका विवाह भी विशिष्ट रूप से इसी बन्धन की सार्थकता के लिए जल्दी ही कर दिया था। किन्तु, उन्होने अपनी धर्मपत्नी को भी अपने ज्ञानोपदेश से निहाल कर दिया, जिससे वह आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतपूर्वक, पति के प्रवचनो का अनुशीलन करती रही और उनकी योग-साधना मे अपना अनन्य योगदान देती रही। परन्तु, दैवयोग से नेकीरामजी की पत्नी यौवन मे ही परलोक सिधार गई! इस प्रकार उस महीयसी महिला ने सन्त नेकीराम को सांसारिक मायावन्ध से सदा के लिए मुक्त कर दिया। एक दिन सन्त नेकीराम अर्द्धरात्रि मे घर का परित्याग कर अज्ञात शक्ति की खोज मे चुपचाप निकल गये।

सन्त नेकीराम ने किसी विद्यालय मे अध्ययन नही किया था, फिर भी उन्होने विद्वानो के सत्सग से बहुत कुछ सीखा। उनका स्वाध्याय अनवरत चलता रहता था। स्वाध्याय, साधना और सत्संग उनके दैनिक कार्य थे और यही उनकी आत्मा का पावन भोज्य था। गुड़गाँव शहर के निकट पर्वतीय अचल में स्थित एक रमणीक ग्राम कासन-भोडा मे आकर प्रथम वार उन्होने अपने प्रवचनो द्वारा अनेक भक्तो का उचित मार्गदर्शन किया। कुछ समय वाद, जनमानस को अपने प्रवचनो का मधुर पान कराने के लिए वह पटियाला, अम्बाला, जीद आदि रियासनो मे भ्रमण करते रहे। इस यात्रा मे उनका शिष्य **हीरादास ब्रह्मचारी** बराबर साथ रहा था, जिसे उन्होंने, अनेकशः अग्निपरीक्षाओं के बाद, जीद मे आकर, गुरुपूर्णिमा को, काषाय-परिधान धारण कराकर संन्यास-आश्रम की दीक्षा दी थी।

सन्त नेकीराम अपने भक्तो के अनुरोध पर एक दिन जब निर्जन गाँव मे पहुँचे, तब उन्होंने वहाँ के लोगो की मनःस्थिति का अध्ययन किया और उसे गहराई से समझा। वहाँ के लोग गूगापीर के अन्धभक्त थे। गूगापीर की छड़ी प्रत्येक घर मे विराजमान थी। उधर कूथरा ग्राम के सयाने जाट हरचन्द ने भूत, प्रेत आदि का अपना अलग ही भय जमा रखा था। सन्त नेकीराम ने यहाँ की भोली जनता को इन पाखण्डो से मुक्ति दिलाई। अपनी शक्ति से आश्वस्त करने के लिए उन्होने अनेक प्रकार के यौगिक प्रदर्शनो से निर्जन ग्राम के निवासियो को चमत्कृत भी किया था। ग्रामीणो की असीम भक्ति देखकर उन्होंने अपनी योग-साधना का प्रथम कीर्त्तिमान भी वहीं स्थापित किया था, जिसका प्रतीक था निर्जन ग्राम का 'श्रीसन्त-आश्रम'। यह लगभग सन् १८७७ ई० की वात है। जो नारी अबतक भक्ति-साधना के लिए उपेक्षिता थी, उसे उन्होंने भक्ति-साधना के पथ पर अग्रसर कर पुरुषो के समान ही सम्मानित किया और कई विधवाओ को साध्वी वनाकर उनका उद्धार किया। कुछ दिनों वाद वह अपने जन्मस्थान नाहरी लौट आये। यहाँ भी उन्होने अपने कर-कमलों

द्वारा सन् १८८८ ई०. में साधकों की साधना एवं सत्संग-हेतु ग्राम से थोड़ी दूर पश्चिम दिशा में 'श्रीसन्त-आश्रम' की स्थापना की थी। इस प्रकार निर्जन, खेड़ीदमकन और नाहरी में आश्रमो की स्थापना करके वह सत्संग-यात्रा पर उत्तरप्रदेश गये और मेरठ, बुलन्दशहर, मुजफ्फरनगर आदि जनपदों में 'घीसापन्थ' का प्रचार-प्रसार किया। आपकी अविराम सत्संग-यात्रा से राजस्थान, मध्यप्रदेश और अन्य प्रान्तों में भी 'घीसापन्थ' की पताका फहराने लगी।

सन्त नेकीराम को अपने निर्वाण का पूर्वाभास हो गया था। एक दिन फकीरा नाम का हरिजन जब सुनहरे कलाबत्तू की चित्रकारी से युक्त मनोमोहक नवीन जूतों का जोड़ा सन्त नेकीराम के लिए लाया, तब उस सन्त प्रेमी की शिल्पकला की प्रशंसा करते हुए भक्तो ने नेकीराम से कहा कि 'महाराजजी, जूतो का जोड़ा वास्तव मे ही सुन्दर बना है।' उन्होने मुस्कराकर उत्तर दिया : 'कोई बात नही, जूतों का यह जोड़ा तुम्हारे पूजने तथा दर्शन करने को हो जायगा।' और, दो-एक दिन बाद ही ज्येष्ठ सुदी सप्तमी, (सन् १९१२ ई०) की मध्यरात्रि मे वह अपने नश्वर शरीर का परित्याग कर अनश्वर सत्यलोक के वासी हो गये।

नाहरी के सन्त-आश्रम में आज भी नेकीरामजी की छड़ी, जूते, आसन, पंखा और अनेक वस्तुएँ सुरक्षित है। आज भी हिन्दुस्तान के कोने-कोने से अनेक भक्त उनके उस आश्रम मे आकर असीम श्रद्धा के साथ अपने सीस झुकाते है। असंख्य भक्तो की भक्ति का यह ज्वार क्रमशः फाल्गुन, आषाढ और कार्त्तिक की पूर्णिमा को देखा जा सकता है। इस आश्रम के साम्प्रतिक महन्त **श्रीसमन्दरदासजी** अपने सौजन्य से 'घीसापन्थ' की साहित्यिक चेतना के विस्तार में अन्यतम सहयोग दे रहे है। यह बड़े हर्ष की बात है कि वह स्वयं भी एक सफल नाटककार है। उनके नाटकों मे भक्तिरस की प्रधानता है।

साहित्य और विचारधारा :

सन्त नेकीराम आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चतम विचारधारा के साधक थे। उनके उपदेशो और वाणियो में जो विशाल ज्ञान-भागीरथी प्रवाहित हो रही है, वह है योगाभ्यास, गुरु की दयादृष्टि और ईश्वर-पद की प्राप्ति। यही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था। इसी अनुभव को सार्थक बनाने का उन्होने आजीवन प्रयास भी किया था। उन्होंने अपने भक्तो को भी सांसारिक उलझनो से विमुक्ति और ईश्वर-भक्ति के निमित्त प्रवचन दिये थे। यद्यपि वह सन्त घीसादास के अनन्य शिष्य थे, तथापि उन्होंने सन्त घीसादास की तरह फक्कड़पन को नही अपनाया था, वरन् उसमें थोड़ा-सा विवर्त्तन उपस्थित कर योग-साधना के गाम्भीर्य मे अवगाहन किया तथा मानस-चेतना को ईश्वर के प्रेम की ओर अग्रसारित किया था।

सन्त नेकीराम मुख्य रूप से महान् योगेश्वर थे। अतः, उन्होने अपने भक्तो के लिए योग-साधना द्वारा ईश्वर-प्राप्ति तथा जागतिक बन्धन से निर्लिप्त रहने के मार्ग का निर्देश किया, जिसका माध्यम उनका ज्ञानोपदेश था। उनके ज्ञानोपदेश का सारांश

उनके भतीजे श्रीस्वरूपसिंहजी द्वारा लिखित 'सन्त नेकीरामजी की स्वान-ए उमरी' नामक पुस्तक मे उपलब्ध है। उनकी वाणियो की सख्या अधिक नही है। प्रवचनो के माध्यम से उनकी कतिपय वाणियाँ ही प्राप्त हुई है, जो क्रमश. 'जीवनगाथा', 'सन्त-वाणी' और 'सन्त-शब्दतरंग' आदि कृतियो मे संगृहीत हैं, जिनके आधार पर सन्त नेकीराम की विचारधारा की मान्यताएँ निर्धारित की जा सकती है।

सन्त नेकीराम के गुरु सन्त घीसादास थे, जिनकी प्राप्ति उन्हें योग-साधना की तल्लीनता की स्थिति मे हुई थी और उन्ही से ज्ञान प्राप्त कर उन्होने अपने गुरु द्वारा सस्थापित 'घीसापन्थ' के प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया था। उन्होने जिस सद्गुरु की कृपा से 'अवगत ब्रह्म' के दर्शन किये थे, उस गुरु-महिमा का गान वह भला किस मूल्य पर विसर्जित कर सकते थे। उनकी मान्यता के अनुसार, गुरु बड़े परमार्थी होते है। जो शिष्य सद्गुरु की शरण मे आ जाता है, उस शिष्य के सभी अवगुणो को वह समाप्त कर देते है और उसकी जीवन-नौका को भवसागर से पार लगा देते हैं।[1]

सन्त नेकीराम से पहले सन्त गरीबदास ने बाह्याडम्बरो का विरोध कर उन्हे समूल नष्ट करने का जो अदम्य कार्य किया था, वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे सांस्कृतिक क्रान्ति का एक स्वर्णिम अध्याय है। गरीबदास द्वारा संस्थापित 'गरीबपन्थ' हरियाना, पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि राज्यो की परिसीमाओ का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण भारत मे अपना वर्चस्व स्थापित कर चुका था, फिर भी कैसी विडम्बना है कि हरियाना मे सन्त नेकीराम के समय मे भी लोगो ने बाह्याडम्बर-रूप मरे बच्चे को बन्दरिया की भाँति अपनी छाती से लगा रखा था।

अपने गुरु सन्त घीसादास के आदेशानुसार, नेकीरामजी ने पाखण्डो अनाचारो और बाह्याडम्बरो के प्रतिकूल अपनी योग-सरिता को सवेग प्रदान किया और जनजीवन में व्याप्त पीपल सींचने, जाँडी[2] की धोक लगाने और तुलसीवृक्ष का पूजन करने जैसी प्राचीन प्रथाओ का विरोध किया।[3]

---

१. (क) गुरु बड़े परमार्थी, शीतल जिनके अग।
तपत बुझावें दास की, दे दें अपना रंग॥
गुरु से कुछ ना दुराइये, गुरु से झूठ ना बोल।
बुरी भली, खोटी खरी, सब गुरु आगे खोल॥
—जीवनगाथा : सं० सौभाग्यवती गुप्ता, पृ० १२१।

(ख) कुछ सोच समझ ले रे सद्गुरु की शरण में आ।
जीवन की अगर नैया, तुझे जो पार लगानी है॥—उपरिवत्, पृ० १०३।

२. यह एक प्रकार का काँटेदार वृक्ष होता है, जिसकी पूजा की जाती है। इसमे लम्बी-लम्बी फलियाँ लगती हैं, जिन्हें सेंहड़ी कहते हैं।—ले०

३. पीपल सींचे, जांडी धोके, तुलसा के सिर धोय।
दूध पूत में कुशल राखिये मैं धोकूँगी तोय।
—जीवनगाथा : सं० सौभाग्यवती गुप्ता, पृ० १२९।

जन्म-जन्मान्तरों के दुष्कर्मों के दुष्परिणामों को समाप्त करने के लिए 'राम का जरना' अत्यावश्यक है;[१] क्योंकि व्यक्ति के कर्मों की मिसिल उसके साथ रहती है। उसी के अनुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। इसी उत्थान के लिए सन्त नेकीराम ने धर्म की कमाई जैसी उत्तम साधना की महत्ता पर विशेष बल दिया है।[२] ईश्वर की उपासना मे मानस-विकार प्रतिरोध उत्पन्न करते है। इसी कारण, मानव की बुद्धि उलझी रहती है। इन विकारों के मूल कारण होते है—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार। ईश्वरोपासना के लिए इन सबका निराकरण अनिवार्य है। ये सभी सुरति को पथभ्रष्ट करके भक्त को ईश्वर-मार्ग से विचलित करते रहते है। व्यक्ति इन्हीं विकारो के आघातस्वरूप अपने पूर्वजन्म के सत्कर्मो के सुपरिणाम से भी वंचित रह जाता है।[३] इतना ही नही, यह पंचविकार मानव के जन्म-जन्मान्तर का शत्रु है।[४]

व्यक्ति विकारो से युक्त शरीर-महल को देखकर अहंकार में डूबा रहता है, वह सब कुछ भूल बैठता है कि अन्त में उसके हाथ कुछ भी नही पड़ेगा।[५] स्यन्दन, गज और अश्व तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ भी यहीं रह जाती है।[६] सांसारिक सम्बन्धों के मोह में येन केन प्रकारेण अर्थोपार्जन मे निरत व्यक्ति पाप और पुण्य के अन्तर का विस्मरण कर बैठता है। बेटा, बेटी, भाई और स्त्री के मोहपाश मे बँधा व्यक्ति भूल जाता है कि

---

१. तैंने जरना करा ना राम का, बाकी रहजा तेरे नाम का।
अरे भजन करना श्याम का, जावे तेरी मिसल दिखाई रे॥
—जीवनगाथा : सं० सौभाग्यवती गुप्ता, ३।४८।

२. कहें 'नेकीराम' सुनो भाई साधो, राम नाम की पूँजी बाँधो।
कर चलो उत्तम काम, धर्म की करो कमाई रे॥
—उपरिवत्, ५।४८।

३. पाँचों के संग लागी डोले विषय दस रही भोग।
कभी बाहर कभी भीतर जावे चैन पड़े ना तोय॥
बार-बार समझाई मेरी सुरतां एक न मानी तोय।
'नेकीराम' कहें समझ लाड़ली, मूल ब्याज चली खोय॥
—सन्तवाणी : सं० सौभाग्यवती गुप्ता, पृ० १२९।

४. काम क्रोध मद लोभ लुटेरे, जन्म-जन्म के बैरी तेरे।
एक दिन हों जंगल में डेरे खड़ी-खड़ी रोवे तेरी ब्याही रे॥
—जीवनगाथा : श्रीधर्मवीर सिंह कौशिक, पृ० ४७।

५. पांच पच्चीसों नगर बसाया, जिन्हें देख-देख गरभाया।
तेरे हाथ कुछ ना आया, तू करके चला सफाई रे॥—उपरिवत्, ४८।

६. रथ घोड़े अरु हाथी कछु दिन के हैं साथी।
आखिर को तेरी डोली अरे लोगों को उठानी है॥—उपरिवत्, पृ० १०३।

वृद्धावस्था में सभी रिश्तो के तार जीर्ण-शीर्ण हो जायेंगे। सभी सम्बन्धी उसके मरने की ही बाट देखने लगेंगे। तब उसे ईश्वर का स्मरण आयगा, जिसका भजन उस व्यक्ति ने काम, क्रोध अहंकार, मोह और लोभ के कारण नही किया था। उस समय व्यक्ति भूल गया था कि जन्म-जन्मान्तर में पाप और पुण्य उसकी आत्मा के साथ रहेगे।[1]

व्यक्ति मकड़ी की भाँति सासारिक मोह का जाला अविरत रूप से बुनता रहता है। अनेकशः सम्बन्धो के ताने-बाने मे इतना विमुग्ध हो जाता है कि वह ईश्वर-स्मरण का विस्मरण कर बैठता है। उस समय वह भूल जाता है कि यह ससार का झमेला यही रह जायगा। कोई भी सम्बन्धी साथ नही जायगा। यह हंस अकेला ही विना किसी की प्रतीक्षा किये निर्बन्ध उड़ जायगा। किसी के रोकने से नही रुकेगा।[2]

सन्त नेकीराम ने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से मुक्ति के लिए ईश्वर की उपासना को चार सोपानो मे सुलभ बताया है। प्रथम सोपान है अन्त करण की शुद्धि। इस अवस्था मे उपासक के मन का राग और द्वेष से मुक्त होना अनिवार्य है। इस स्थिति मे पहुँचते ही व्यक्ति उपासना के द्वितीय सोपान वैराग्य मे पहुँच जायगा। इस अवस्था मे उपासक को पाँच विकारो से विरक्ति हो जाती है। तृतीय सोपान मे उपासक के मन की एकाग्रता के वाधक ये पाँचो विकार सर्वथा नष्ट हो जाते है। अन्त मे, भक्त अन्तिम सोपान उपासना की परिधि पर पहुँच जाता है। जहाँ से उपासक उस ईश्वर के दर्शन कर सकता है, जिसका स्वरूप इस प्रकार का है :

अष्ट कमल दल मेल साहेब हरदम खेल अनूप है।
रहता रमता आप साहेब ना छाया ना धूप है।।
नाभि कमल स्थान जाका तुरिय तत्व निज धाम है।
चल हंसा उस धाम पर सो ओहड़ना ऐसा दाव है।।
गगन मडल गलतान गैबी सोहं रूप अपार है।
'नेकीराम' उस धाम परसे अवगत का दीदार है।।

(सन्त-शब्दतरंग : सं० सौभाग्यवती गुप्ता, पृ० १५)

सारांशतः, सन्त नेकीराम परम योगेश्वर थे, जिन्होने अपनी योग-साधना द्वारा पाखण्ड-पक मे लिप्त जनमानस मे अष्टदल कमल की सुगन्ध फैलाई और थोथे कर्मकाण्डो की कपालक्रिया करके मानव-जाति को सकीर्ण विचार-परिधि से विमुक्त किया एवं ज्ञान के अजस्र अनन्त प्रकाशपुंज द्वारा तिमिरग्रस्त मानवो का पथ-निर्देशन किया। ●●

△ ३०।१०६, पंचशील स्ट्रीट
विश्वासनगर, दिल्ली—३२

---

१. जीवनगाथा : श्रीधर्मवीर सिंह कौशिक, पृ० १६३।

२. सन्तवाणी . सं० सौभाग्यवती गुप्ता, पृ० १२९, जीवनगाथा : श्रीधर्मवीर सिंह कौशिक, पृ० ४७ एवं १७३।

मध्यकालीन सन्त कवि : मँगनीराम

△ श्रीदेवेन्द्रनाथ ठाकुर

मध्यकालीन सन्तों के जीवन से जिस प्रकार अनेक अनुश्रुतियाँ जुड़ी हुई है, उसी प्रकार एक रहस्यमय अनुश्रुति बज्जिकाचल के मध्यकालीन सन्त कवि **मँगनीराम** के जीवन से भी अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। किंवदन्ती यह है कि एक बार सन्ध्या समय उनके घर कुछ सन्त अतिथि पधारे। उनको जिमाने के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के कुछ जेवर निकट के किसी बनिया के घर बन्धक रख दिये। नारी का शृंगार जब अतिथि का आहार बन गया, तब मँगनीरामजी की पत्नी की नाराजगी भी स्वाभाविक ही थी। कहते है, उसी रात एक अस्वाभाविक घटना घटी। मँगनीराम की आकृति के एक व्यक्ति ने बनिया के रुपये चुकाकर गहने उनकी पत्नी को वापस कर दिये। प्रातः-काल जब इसकी जानकारी मँगनीराम को हुई, जब उनके मुख से अनायास जो कड़ियाँ फूटीं, वे आज भी उस क्षेत्र के लोगों का कण्ठहार बनी हुई हैं :

कनियाँ तर गये, बनियाँ तर गये।
मँगनीराम मँगनिये रह गये॥

'विश्लेषण' पत्रिका के माध्यम से इस महान् सन्त के व्यक्तित्व को सर्वप्रथम उजागर करनेवाले **डॉ० अवधेश्वर 'अरुण'** से यह ज्ञात हुआ कि 'विदेहभूमि के बज्जिकांचल मे जनमे मँगनीराम मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के एक ऐसे पुष्प है, जिसकी गन्ध से वह भूमिखण्ड आज भी परिव्याप्त है। जो उन्हें जानते है, उनका नाम सुनते ही अपनी संकुचित सीमाओ को त्याग कर उनके रंग में रम जाते है और क्षणभर के लिए ही सही, विदेह बन जाते है।' **डॉ० अरुण** के इस उत्प्रेरक सन्देश एवं सुव्यवस्थित निर्देश के साथ जब मैं इस महान् सन्त की खोज में निकला, तब उनके जीवन से सम्बद्ध जितनी अतिरंजित सूचनाएँ मिली, उनसे केवल इतना ही सुनिश्चित हो पाया कि उनका जन्म उत्तर बिहार के नवनिर्मित वैशाली जिले के गोरौल-अंचल-स्थित सतपुरा ग्राम के एक सम्पन्न कायस्थ-परिवार में हुआ था और उनका नाम **मँगनीलाल** था। उनके माता-पिता का नाम किसी भी स्रोत से अभी तक प्राप्त नही हो सका है।

मँगनीराम के गाँव मे पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि उनका कोई मन्दिर था, जो अब ढूह बन गया है और उसपर सरकण्डे के सघन गुल्म उग आये है। उसी के पार्श्व में ईंट की बनी, चूने से पुती एक खपड़ैल कोठरी है, जिसे लोग मँगनीराम का मन्दिर कहते है। उसमे काठ के पुराने, किन्तु भव्य सिंहासन पर वैष्णव देवी-देवताओं की पीतल की कतिपय

मूर्त्तियो के साथ मँगनीराम की पीतल की एक जोड़ी बिना खूँटी की खडाऊँ सुरक्षित है और काठ की एक छोटी-सी पटरी पर निम्नांकित दोहा उत्कीर्ण है :

राधा वल्लभ मंत्र जप हरिवल्लभ फल पाय ।
मुकुतरूप हरिवल्लभा केशो मँगनीराम लखाय ॥[१]

मन्दिर से लगभग दस-पन्द्रह गज की दूरी पर रहनेवाले एक परिवार के पास एक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि है, जिसे मँगनीराम का हस्तलिखित ग्रन्थ कहा जाता है और उसका नाम 'रामसागर पोथी' बताया जाता है। उसको देखने से यह तो सुनिश्चित होता है कि उसके रचनाकार मँगनीराम ही हैं, किन्तु उसी से यह भी ज्ञात होता है कि उस ग्रन्थ का नाम 'रामसिन्धु' है और उसके लिपिकार मँगनीराम के प्रपौत्र के पौत्र जगन्नाथ हैं। ग्रन्थ के अन्त मे ग्रन्थकार का नाम, उसकी वशावली, लिपिकार का नाम एवं रचना के लिपिबद्ध होने की तिथि अकित है।[२] इन विवरणो के अनुसार, मँगनीराम के एकमात्र आत्मज रामसेवक के दो पुत्र हुए—कृष्णसेवक और विष्णुसेवक। विष्णुसेवक के पुत्र हरसेवक और हरसेवक के पुत्र पंजनैलाल हुए। पजनैलाल के कनिष्ठ पुत्र जगन्नाथ ने अपने हाथो 'मँगनीराम की भनित' को लिपिबद्ध करने का काम शुभ सवत् १८७५, चैत्रकृष्ण पक्ष, तृतीया बुधवार को सम्पन्न किया, जिसका नाम 'रामसिन्धु' है।

जगन्नाथ ने जो वंशावली दी है, उसके अनुसार मँगनीराम उसके प्रपितामह के पितामह, अर्थात् छठी पीढी के पूर्वज ठहरते हैं। इतिहास-परम्परा मे सामान्यत. पच्चीस वर्षों की एक पीढी मानी जाती है। इस आधार पर मँगनीराम जगन्नाथ के जन्म से १२५ वर्ष पूर्व के है। जगन्नाथ ने जिस समय इस रचना को लिपिबद्ध किया, उस समय वह अपनी ही उक्तियो से अत्यधिक प्रौढ एवं विवेकशील व्यक्ति ज्ञात होते है।[३]

---

१. रामसिन्धु, पृ० ७८३।

२. (क) वशावली नाम ठेकान। लिखो सकल बुधन प्रनाम।
मँगनीराम गृह जनमे रामसेवक उदार।
तिनके पुत्र दो प्रगटी नाम बरनौ प्रचार॥
प्रथम पुत्र है कृष्णसेवक दूजा विष्णुसेवक।
विष्णुसेवक के पुत्र हरसेवक तिनके पुत्र पजनैलाल॥
नैलाल के सुत छूटा है जगन्नाथ वंसाल।
अपने हाथ पुस्तक लिखे भनित है मँगनीरामजी की॥
—रामसिन्धु, पृ० ८७१।

(ख) पांडुतनय मुनि नाग ससि सुभ संवत बुधवार।
चैत्र क्रिष्ण पछ्र तितीया पूरन लिखा विचार॥—उपरिवत्।

३. (क) साषी दोहा बिस्नपद कड़षा कवित अनेक।
नाम नगर की वारता नामी करहि विवेक॥—उपरिवत्।

(ख) सतसगत बल पाये के पोथी लिषा तमाम॥—उपरिवत्।

इस आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उस समय उनकी आयु लगभग पचास वर्ष रही होगी। तात्पर्य यह कि मँगनीराम का अवस्थिति-काल उनकी रचना के लिपिबद्ध होने की तिथि से लगभग १७५ वर्ष पूर्व, संवत् १७०० वि० के आसपास निश्चित होती है। किन्तु, 'रामसिन्धु' के कथ्य, उसकी संरचना-शैली और मुख्यतः उसमें प्रयुक्त-'करखा', 'साखी' आदि छन्दों से वह भक्तिकाल की रचना ज्ञात होती है। इस प्रकार, मँगनीराम का काल भक्ति-काल के अन्तिम चरण, अर्थात् विक्रम-संवत् की सत्रहवी शती में निर्धारित करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

सन्त कवि मँगनीराम 'केशो' नामक किसी सद्गुरु के शिष्य थे, जिनसे उन्होंने राधावल्लभ-मन्त्र की दीक्षा ली थी।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् उन्होंने गृहस्थ-जीवन को तो तिलांजलि दे दी, किन्तु गृहत्याग नहीं किया। विदेह की तरह वे घर पर ही वैराग्यभावापन्न रहकर हरि के दास बने रहे।[2] अपनी निष्ठा, सेवा-भावना एवं तपस्या से उन्हें अपने गाँव मे ही ज्ञान की प्राप्ति हुई और ऐसा ज्ञात होता है कि अन्ततः उन्होने परम चैतन्यावस्था में ही इस संसार का परित्याग किया।[3] उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि वे मध्यकाल के एक पहुँचे हुए सन्त एवं भक्त कवि थे।

मँगनीराम के व्यक्तित्व की विशिष्टता उनकी भक्तिभावना मे सन्निहित है, जिसके कारण वे अन्य मध्यकालीन भक्त कवियो से भिन्न एवं विचित्र प्रतीत होते है। इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने अपने गुरु केशवदास से राधावल्लभ-मन्त्र की दीक्षा ली थी, जिसकी पुष्टि पटरी पर उत्कीर्ण दोहे से भी होती है, किन्तु इस नाम की चर्चा उनकी रचना मे कदाचित् ही उपलब्ध है। उन्होने अपने ग्रन्थ मे सर्वत्र राम-नाम की प्रशंसा करते हुए लोगो को वही नाम जपने का परामर्श दिया है।[4] उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ का नाम 'रामसिन्धु' का आरम्भ राम के महिमा-वर्णन से तो हुआ ही है, साथ ही यह प्रवृत्ति सम्पूर्ण कृति में विद्यमान है। उनके नाम के पूर्व बार-बार 'गोस्वामी' शब्द का प्रयोग हुआ है और उसके अन्त में भी 'राम' है। इससे तो सहज रूप मे यही अनुमान किया जा सकता है कि मँगनीराम की भक्तिभावना का सम्बन्ध रामभक्ति-शाखा से है। किन्तु, वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। उनके काव्य मे रूपायित राम दशरथ के पुत्र

---

१. राधावल्लभ इष्ट नाम है केशो सतगुरु पाया।—रामसिन्धु, पृ० ७९४।

२. घर ही पर जो रहे उदासा। सो जन जानहु हरि के दासा।

—उपरिवत्, पृ० २।

३. पढ़त नासिका हँस हरिदम श्रोता सुनू श्रोण।
मँगनीराम समाधि में सूर भये गहि मौन॥—उपरिवत्, पृ० ८५।

४. राम नाम भजो भाई संत जन राम नाम भजो भाई।
अधमहू राम कहे गति पाई नाम प्रताप सहाई॥ —उपरिवत्, पृ० ७९४।

नहीं, निर्गुण, निराकार, परब्रह्म परमेश्वर हैं। उनका सम्पूर्ण ग्रन्थ राम-नाम की महिमा से परिव्याप्त है, किन्तु सीता के नाम की चर्चा कही नहीं हुई है। राधावल्लभ की तरह जानकीवल्लभ का भी प्रयोग कही नहीं उपलब्ध होता। इससे स्पष्ट होता है कि मँगनीराम के 'राम' का स्वरूप सगुणात्मक एवं द्वैत नही, प्रत्युत निर्गुणात्मक एव अद्वैत है। तात्पर्य यह कि वह 'कबीर के राम' के सेवक थे, 'तुलसी के राम' के दास नही।

'रामसिन्धु' का शुभारम्भ 'जै जै श्रीसाहब गुरु गोविन्द ...' से हुआ है और इसमे साहब, गुरु, शब्द, अनहद शब्द, साखी, एकाक्षर ब्रह्म आदि बहुचर्चित विषय है, जिनसे इसके रचनाकार मँगनीराम निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।[1] उनके काव्य का स्वरूप कबीर की तरह रहस्यवादी है।[2] उनकी भक्तिभावना की परिणति वस्तुतः वहाँ दिखाई पडती है, जहाँ वह कहते है 'सूर होय हरिदर्शन पावै मौन शब्द हरि गाय।'[3] इस प्रकार, मँगनीराम का विरल व्यक्तित्व, निश्चय ही, एक सच्चे सन्त कवि के रूप मे उजागर होता है।

मँगनीराम की एकमात्र रचना 'रामसिन्धु' ही अबतक उपलब्ध हो पाई है, किन्तु वह अपने-आपमे इतना विशाल एव महत्त्वपूर्ण है कि अकेले उसी के आधार पर वह एक उच्च कोटि के रससिद्ध कवि प्रमाणित होते हैं। वैसे उसी ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के साथ 'श्रीमद्‌भागवत' पर आधृत 'अनिरुद्ध' नामक एक लघु कथाकाव्य भी सकलित है, किन्तु यह कहना कठिन है कि वह वस्तुत मँगनीराम की कृति है; क्योकि पूर्ण औपचारिकता के साथ ग्रन्थ की समाप्ति के पश्चात् यह उसके अन्त के बारह पृष्ठों मे लिपिबद्ध है। मध्ययुगीन प्रवृत्ति के अनुरूप 'रामसिन्धु' के लगभग प्रत्येक पद्य मे कृतिकार का नाम अंकित है, जबकि 'अनिरुद्ध' मे कही भी उनका नामोल्लेख नही है। इसकी रचना-शैली भी 'रामसिन्धु' से भिन्न है। लिपिकार की रचनात्मक प्रवृत्ति को देखते हुए इस सम्भावना को भी उपेक्षित नही किया जा सकता कि यह उसी की कृति हो। कवि की एक अन्य कृति 'मँगनीराम की साखी' की उपस्थिति की भी सूचना मिली है, जिसकी उपलब्धि के लिए मेरे एक अनन्य मित्र श्रीविद्यानन्द सिंह, जो इस खोजबीन में सतत मेरे साथ संलग्न रहे है, प्रयत्नशील हैं।

रामसिन्धु की सजिल्द पाण्डुलिपि की लम्बाई २७ सें० मी०, चौड़ाई २१ से० मी० एव मोटाई ६ सें० मी० है। कागज मजबूत तथा हल्के बादामी रग का है। ग्रन्थ के आरम्भ और अन्त के कुछ पृष्ठ बार-बार उलटने-पलटने से विकृत हो गये हैं, फिर भी वे क्षतिग्रस्त नही हुए हैं, भले ही प्रयोग की पुनरावृत्ति से उसके कुछ

---

१. साखी मँगनीराम की अक्षर एक अनूप।
समुझि बुझि के पढ़ै जो होय रंक ते भूप ॥—रामसिन्धु, पृ० ७७।

२. भौंर गुफा त्रिकुटी नवनारी ररंकार हरि मानी।—उपरिवत्, पृ० ७९५।

३. उपरिवत्, पृ० २८९।

शब्द घिसकर उड़ अवश्य गये हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर लाल रंग की दुहरी डोरियों की सामान्यत. १८½ सें० मी० लम्बी एवं १३½ सें० मी० चौड़ी आयताकार बाह्य रेखाओं के अन्तर्गत आध सेण्टीमीटर चौड़ी लगभग इक्कीस पंक्तियाँ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ कागज के दोनों पृष्ठों पर गहरी काली स्याही से मोटे सुडौल अक्षरों मे लिपिबद्ध है और विरामचिह्न दुहरे पूर्णविराम के अगल-बगल विसर्ग-चिह्नों के साथ लाल रग से अंकित है।

ग्रन्थ में पृष्ठों की संख्या ८८३ है। पृष्ठ-संख्या बाह्य रेखा के ऊपरी भाग के मध्य मे अंकित है, किन्तु वह जिस स्याही से अंकित है, उसका रग बहुत फीका है और रचना जिस स्याही से लिपिबद्ध है, उससे उसका मेल नही बैठता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संख्या बाद में जिल्द बँधवाने के समय अंकित की गई है। थोड़ा ध्यान देने पर पुरानी पृष्ठ-सख्या का पता भी चल जाता है, जो बायें कोने पर पृष्ठ के एक ही ओर अंकित है और जिल्द बँधवाने के समय कही पूरी-की-पूरी और कही आंशिक रूप से कट गई है। इसकी स्याही पाण्डुलिपि की स्याही से बिलकुल मिलती है और इसकी आकृति नई पृष्ठ-सख्या की आकृति से कुछ भिन्न है। ग्रन्थ की समाप्ति पुरानी पृष्ठ-संख्या ४३९ पर होती है, जबकि गणनानुसार ४४२ पर होनी चाहिए। इस अन्तर की छानबीन नही की गई है। ग्रन्थ मे यत्र-तत्र कुल ४६ पृष्ठ बिलकुल सादा है। पृष्ठ-संख्या ७८० एवं ७८१ पर 'शब्द गो० मँगनीराम' शीर्षक डालकर कैथी-लिपि मे कुछ पद्य अंकित है। इस प्रकार, मूल रचना ८३५ पृष्ठो में लिपिबद्ध है।

ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने में देवनागरी-वर्णमाला का उपयोग हुआ है, किन्तु इसमें, स्वर-वर्णों में 'ऊ', 'ए', 'ऐ', 'ऋ'एवं 'लृ'; स्पर्श-वर्णों में 'ख'; आनुनासिक वर्णो में 'ङ', 'ञ' एव 'ण'; अन्तःस्थ-वर्णों मे 'व' और ऊष्म-वर्णों मे 'श' का प्रयोग नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त 'ख' के लिए 'प' एव 'श' के लिए 'स' और 'ज्ञ' के लिए 'ग्य' का व्यवहार हुआ है। इसकी कुछ वर्णलिपियो की आकृतियाँ भी वर्त्तमान देवनारी से सर्वथा भिन्न हैं। स्वरवर्णों में 'ई' और व्यंजन-वर्णो में 'झ', 'ध', 'य', 'क्ष' एवं 'त्र' का स्वरूप निश्चय ही उत्तरमध्यकालीन हैं, जो पाण्डुलिपि की प्राचीनता को सुनिश्चित करता है।

राम-नाम की चर्चा से परिपूर्ण 'रामसिन्धु' विभिन्न रागो पर आधृत एवं विभिन्न छन्दों में विरचित मुक्तकों का एक विशाल संग्रह है। इसके एक दोहे से ऐसा प्रतीत होता है कि रचनाकार को सम्भवतः इसका 'रामसागर' नाम ही इष्ट रहा हो;[1] क्योंकि इसका धारक, लोगों को वही नाम बतलाता है। किन्तु, लिपिकार ने पूर्ण औपचारिकता के साथ इसे 'रामसिन्धु' नाम से अभिहित किया है। अतः, रचनाकार की स्पष्टोक्ति के अभाव में इसे 'रामसिन्धु' कहना ही उचित प्रतीत होता है।

---

१. **रामसागर दाखिल किया पद बसंत जो होय।**
जानि लीजिये फिरिस्त सों मँगनीराम सोय ॥

सरचनात्मक स्वरूप की दृष्टि से 'रामसिन्धु' पैंतालीस उपखण्डो मे विभक्त है। उपखण्डों के शीर्षक का आधार मिश्रित प्रतीत होता है, किन्तु मुख्यतः उनके नाम रागाश्रित है। इसमें भैरव, गान्धार, रामकली, वसन्त, दीपक, विहाग, केदारा, मल्हार आदि शास्त्रीय रागो के साथ बँगला, पूर्वी, मोरंगिया आदि जैसी क्षेत्रीय धुनो का भी समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त, कुछ उपखण्डो का नामकरण दोहा, सोरठा, कवित्त आदि छन्दो के आधार पर हुआ है, तो कुछ के शीर्षक शब्द, साखी, सन्ध्या, आरती, मंगल, चेतावनी आदि हैं।

'रामसिन्धु' का प्रतिपाद्य विषय राम का लीलागान नही, प्रत्युत सच्चिदानन्द, पूर्णब्रह्म, निर्गुण, ज्योतिःस्वरूप एवं सर्वेश्वर राम के अद्वैत स्वरूप की उपासना है। इसका रचनाशिल्प सरस और भाषा छन्दोबद्ध एवं अनलंकृत है। रचना मे सादृश्य की योजना जान-बूझकर नही हुई है, वे सहज स्वाभाविक रूप से उदभूत हैं। इस प्रकार, राग, छन्द, भाषा, लिपि, क्षेत्रीय विशिष्टता, भक्तिभावना, काल आदि की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। अत., हिन्दी-साहित्य मे स्थापना के विचार से इस मूल्यवान् ग्रन्थ और इसके महान् रचनाकार का सम्यक् अध्ययन अपेक्षित है।

●●

△ द्वारा : श्रीसुरेश झा (कनीय अभियन्ता)
गोरौल-पो०, जिला : वैशाली (बिहार)

●

पहेली-कोश

सं० : श्रीविक्रमादित्य मिश्र

जैसा कि नाम से ही प्रकट है, यह कृति बिहार के विभिन्न भागो में प्रचलित पहेलियो का सुसम्पादित संकलन-ग्रन्थ है। परिषद् के लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग के प्रभारी विद्वान् सम्पादक ने इस संकलन-ग्रन्थ की शोधपूर्ण एवं विस्तृत भूमिका मे भारतीय एवं पाश्चात्य देशों की पहेली-विकास-परम्परा पर विशद प्रकाश डाला है, जिससे ग्रन्थ की गरिमा एवं उपादेयता निस्सन्देह बढ़ गई है।

प्रथम संस्करण, सन् १९८१ ई०। पृष्ठ-सख्या ३३०। मूल्य . रु० २०.००।

प्र० : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना : ८००००४

●

कविवर ईश : जीवन और साहित्य-साधना

डॉ० त्रिपुरारिशरण श्रीवास्तव

स्व० नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह 'ईश' भारतेन्दु-युग के नातिपरिचित, किन्तु शास्त्रदीक्षित साहित्यकार थे, जिनकी कादाचित्क चर्चा ही साहित्य-जगत् में मिलती है। सन् १९२७ ई० में आचार्य शिवपूजन सहाय ने 'माधुरी' (वर्ष ५, खण्ड २) में प्रकाशित अपने लेख मे 'ईश' जी पर प्रकाश डाला है। इसके पूर्व भी **बाबू शिवनन्दन सहाय** ने, सन् १९२७ ई० में ही बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से पठित अभिभाषण में 'ईश' जी की चर्चा की है। **आचार्य शिवपूजन सहाय** द्वारा सन् १९४२ ई० मे सम्पादित 'जयन्ती-स्मारक' ग्रन्थ मे प्रकाशित चार-पाँच लेखों में 'ईश' जी के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है। सन् १९५२ ई० मे **श्रीरामप्रीत शर्मा 'प्रियतम'** ने 'साहित्य', वर्ष ३, अक १ मे प्रकाशित लेख 'हिन्दी के चार विस्मृत कवि' के माध्यम से 'ईश' जी पर विशेष विवेचन प्रस्तुत किया है। सन् १९५५ ई० में 'ईश' जी के पौत्र **स्व० दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह** ने अपनी प्रकाशित पुस्तक[१] में इनपर विशेष प्रकाश-निक्षेप किया है।

वंश-सन्दर्भ : मिश्रबन्धुओ ने 'कविकीर्त्तिकलानिधि' को '**शिवसिंहसरोज**' के आधार पर लिखित बताया है, जिसमें **महाराजकुमार बाबू नर्मदेश्वर प्रसाद सिंह 'ईश'** का नाम उल्लिखित है।[२] 'ईश'जी दलीपपुर के निवासी है। यह भोजपुर जिले में बिहिया स्टेशन से दस किलोमीटर दक्षिण मे अवस्थित बाबू कुँवरसिंह के जगदीशपुर से भी दक्षिण पाँच किलोमीटर पर एक बडी बस्ती है, जो डुमराँव-राजवंश से सम्बद्ध है। डुमराँव-राजवंश उज्जैन (मालवा) के परमारवशी राजपूतों का है।[३] **महाराज शान्तनुशाह** ने बिहार-आगमन पर अपने पुत्र **भोजसिंह** को राजा बनाया। कालक्रम से भोजपुर-राज्य तीन शाखाओ मे विभक्त हुआ—डुमराँव, बक्सर और जगदीशपुर। **बाबू कुँवरसिंह** जगदीशपुर-रियासत के अधिपति थे। अग्निवंशीय क्षत्रियो की चार मुख्य शाखाओं—चौहान, परमार, सोलंकी और राठौर मे कुँवरसिंह परमारवंशीय क्षत्रिय थे।[४] 'ईश'जी कुँवरसिंह की परमारवंशीय परम्परा मे **बाबू तुलसीप्रसाद सिंह** के पुत्र थे।

---

१. **'बाबू कुँवरसिंह : एक अध्ययन' : स्व० दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह, सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध।**
२. **कविकीर्त्तिकलानिधि, पृ० २, कवि-संख्या १५।**
३. **जयन्ती-स्मारक ग्रन्थ, 'बिहार की रियासतें', पृ० १२३-१२४।**
४. **'बाबू कुँवरसिंह : एक अध्ययन' : स्व० दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह, पृ० ८८।**

जीवनवृत्त : परमार-वंश के, मालवा के अन्तिम राजा **संग्रामशाह** के पुत्र शान्तनुशाह से १४वीं पीढ़ी में **महाराजकुमार बाबू तुलसीप्रसाद सिंह** हुए थे।[१] इनके पिता का नाम **बाबू तेगबहादुर सिंह** था। **तुलसीप्रसाद सिंह**[२] का विवाह शाहाबाद (सम्प्रति, रोहतास) जिले के सासाराम-अनुमण्डल मे हथिनी-बराँव नामक ग्राम के एक प्रसिद्ध जमीन्दार की कन्या **पनवासकुँअरी** के साथ हुआ था। इनके दो पुत्ररत्न हुए। बड़े का नाम **बाबू भुवनेश्वरप्रसाद सिंह** और छोटे का नाम **बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह** था। ईशजी का जन्म जगदीशपुर मे ही वि० स० १८९६, आश्विन मास की पूर्णिमा को अश्विनी नक्षत्र के प्रथम चरण मे धनुलग्नोदय मे हुआ था।[३] वह मध्यम कद के गौरवर्ण स्वस्थ पुरुष थे। बचपन से ही वह साहसी थे। तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के अनुसार 'अमरकोश' और 'सिद्धान्तकौमुदी' जैसे संस्कृत-ग्रन्थों को उन्होने कम उम्र में ही कण्ठस्थ कर लिया था। उन्होने कालक्रम से वेदो, पुराणों, महाभारत आदि ग्रन्थो का भी अध्ययन पूरा कर लिया था। हिन्दी-अनुशीलन के साथ ही अरबी-फारसी से भी उनका विशेष सम्पर्क था। पिंगल, अलंकार आदि के ग्रन्थो का भी उन्होने अध्ययन किया था।[४] उनकी रचनाओ के प्रकाशन मे विलम्ब हुआ, क्योकि अपने पिता के साथ बाबू कुँवरसिंह के अंगरक्षक के रूप मे उन्होंने सन् १८५७ ई० के विद्रोह मे स्वय को समर्पित किया था। सन् १८५७ ई० के ३ अगस्त को बीबीगंज की लड़ाई मे अँगरेजो से घिरे वृद्ध युवक बाबू कुँवरसिह की रक्षा के क्रम मे उनके पिता **बाबू तुलसीप्रसाद सिह 'केशव'** ने वीरगति की प्राप्ति की थी।[५] सन् १९०६ ई० मे 'ईश' जी पक्षाघात से आक्रान्त हुए। तत्पश्चात् एक पाँव में घाव भी हो गया और सन् १९१५ ई० (विक्रम-संवत् १९०२) मे वह परलोक सिधार गये !

व्यक्तित्व से संलग्न अन्य प्रसंग : ईशजी ने कई हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज की थी। यथा : **मुबारक** कवि के 'अलकशतक' और 'तिलशतक। **पं० नकछेदी तिवारी** ने उनसे ही 'रसिकमनरजनी' की प्रति लेकर उसे भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित करवाया।

ईशजी आचार-विचार मे मर्यादावादी पुरुष थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र **श्रीविश्वनाथ-प्रसाद सिंह** ने जिस दिन खेती शुरू की थी, उस दिन उन्होने प्रतिक्रिया मे भोजन नही किया था। वह नित्य 'दुर्गासप्तशती' का पाठ किया करते थे। साहित्य-चर्चा, देशवार्त्ता,

---

१. 'बाबू कुँवरसिंह : एक अध्ययन' : बाबू दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह, परिशिष्ट, वंशावली।

२. धर्मप्रदर्शनी : बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह, आत्मदर्शन, पृ० १५८ पर लेखक ने अपने पिता का नाम संकेतित किया है।

३. 'बाबू कुँवरसिंह : एक अध्ययन' : बाबू दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह।

४. उपरिवत्।

५. तोलाराय-कृत 'कुँवरपचासा', 'भोजपुरी', बरिस ३, अंक ७।

'रामायण', 'महाभारत' पर चर्चा तथा 'विनयपत्रिका' के अर्थ और व्याख्या; अन्त्याक्षरी, कबड्डी, चानमारी आदि कार्य उनकी नगर एवं ग्राम्य रुचियों के साक्ष्य है। वह रात्रि नौ बजे तक बच्चों से 'प्रेमसागर' पढ़वाते और सुनते थे।

शैक्षणिक प्रसंग : पं० नकछेदी तिवारी के अनुसार, ईशजी हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओ के अच्छे जानकार थे।[१] उनकी चारों रचनाओं— शिवाशिवशतक', 'शृगारदर्पण', 'पंचरत्न' और 'धर्मप्रदर्शनी' से यह तथ्य सम्पुष्ट एवं अभिप्रमाणित होता है। 'शिवाशिवशतक' में शिव-पार्वती की प्रशस्ति अथवा 'धर्मप्रदर्शनी' में संकलित श्लोक और अँगरेजी के नीति-संकलन उनके विविध-विषयक ज्ञान एवं भाषा-सम्पर्क-सामर्थ्य को अभिज्ञापित करते है।[२] नीति, राजधर्म, युगधर्म आदि प्रसंगों के वह विशेष जानकार थे। वेदों और उपनिषदो के प्रति उनमें गहरी रुचि थी।

काल-विवेचन : ईशजी की सर्वप्रथम रचना 'शिवाशिवशतक' है, किन्तु यह पुस्तक-रूप मे उनकी द्वितीय रचना 'शृंगारदर्पण' के पश्चात् सन् १८९२ ई० में भारत-जीवन प्रेस, काशी से प्रकाश मे आई। वह काशी की 'कविवचनसुधा' मे भी समय-समय क्रमशः प्रकाशित हुई थी।[४]

'शिवाशिवशतक' में 'ईश'जी ने रचनाकाल भी सकेतित किया है :

> संवत् उनीस सत बत्तीस अधिक काल
> मास शुक्ल पंचमी पुनीत सोमवार माहि
> ....
> अपने कियो है शिवाशिव पदमंजुल मैं
> सरुचि समोद नर्मदेश्वर प्रसाद याहि।[५]

अर्थात्, इसकी रचना वि० सं० १९३२ की माघ शुक्ल पंचमी, सोमवार को हुई। 'शृंगारदर्पण', उन्ही के शब्दों में 'शिवाशिवशतक' के बाद, यानी संवत् १९३३ वि० की रचना प्रमाणित होती है :

> शुभ संवत् उनईस सत तेतिस अधिक बखान।
> निज रुचि निज मति सरिस यह रच्यो सुगम सुखदान॥[६]

ईशजी की तीसरी रचना 'पंचरत्न' अप्रकाशित रह गई। इसमें पाँच तरंग है : देवस्तुति, रासविलास-वर्णन, समस्यापूर्त्तियाँ, ऋतु-वर्णन और वैराग्यपूर्ण भजन। 'ईश'जी

१. 'शिवाशिवशतक' बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह 'ईश', भूमिका, पृ० २।
२. 'धर्मप्रदर्शनी', उपरिवत्।
३. 'शिवाशिवशतक', प्रकाशन-काल : सन् १८९२ ई०; 'शृंगारदर्पण' सन् १८८९ ई०।
४. 'शिवाशिवशतक' की भूमिका, पं० नकछेदी तिवारी।
५. 'शिवाशिवशतक', पृ० २७।
६. 'शृगारदर्पण', पृ० ३२, दोहा-सख्या २७०।

की यह कृति रीतिकालीन प्रवृत्तियों से प्रभावित है। ईशजी की चौथी रचना 'धर्मप्रदर्शनी' सन् १९०६ ई०, तदनुसार सं० १९६३ वि० मे प्रकाशित हुई। उस समय कवि वार्द्धक्य को प्राप्त कर चुका था।[१]

इस प्रकार, 'ईश'जी का सम्पूर्ण रचनाकाल सं० १९३२ से १९६३ वि० के मध्य का निर्धारित होता है। काशी की 'कविवचनसुधा' मे उनकी कृति 'शिवाशिवशतक' के अंश 'शैवशाक्तमनरंजनी' के नाम से प्रकाशित होते रहे थे। अत, उनका प्रकाशन-काल वि० सं० १९३२ से भी प्राय दस वर्ष पूर्व रेखांकित होता है। उनका साहित्यिक काल प्रत्यक्षत इकतीस वर्षों का और अप्रत्यक्षत लगभग इकतालीस वर्षों का अनुमित होता है। इस प्रकार के अन्तःसाक्ष्यो से यह स्वत. स्पष्ट हो जाता है कि 'कविकीर्त्ति-कलानिधि'[२] मे लिखित उनका रचनाकाल सं० १९४२ वि० अविचारित और निराधार प्रतीत होता है।

जिस समय विहार मे सूर्यपुराधीश राजा राजराजेश्वरीप्रसाद सिंह 'प्यारे', मार्कण्डेयकवि, इन्दुकवि आदि कविता लिख रहे थे, उसी समय ईशजी भी दलीपपुर में 'शृंगारदर्पण' (नखशिख-वर्णन) की रचना कर रहे थे। उनके काव्यगुरु जगदीशपुर-निवासी मुंशी ठाकुरप्रसाद कविता-शिक्षा और स्फुट कविता-रचना मे मग्न थे। यही संकेत बाबू शिवनन्दन सहाय ने अपने शोधपूर्ण निवन्ध मे दिया है; किन्तु उन्होंने उनकी तिथियों का संकेत नहीं किया है। स्वयं ईशजी ने अपनी रचनाओ मे अपना रचना-काल स्पष्टतः सकेतित कर दिया है, अतः न तो विवाद का प्रश्न है और न ही प्रामाणिकता की किसी अन्तर्वीक्षा की आवश्यकता ही।

ईशजी की कृतियाँ : बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह ने कई कृतियाँ लिखी, जिनमे 'शिवाशिवशतक', 'शृंगारदर्पण', 'धर्मप्रदर्शनी' और 'पचरत्नम्' की प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें प्रथम तीन पुस्तके प्रकाशित है और चौथी पुस्तक अप्रकाशित इनका सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है :

(क) शिवाशिवशतक :

भारतजीवन प्रेस, काशी से सन् १८९२ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक मे अट्ठाईस पृष्ठ हैं। दो पृष्ठों में डुमराँव-निवासी पं० नकछेदी तिवारी ने भूमिका लिखी है। मुखपृष्ठों को मिलाकर कुल चौंतीस पृष्ठ है। मुखपृष्ठ पर 'शिवाशिवशतक' शीर्षक है, फिर 'अर्थात्' लिखकर एक टिप्पणी प्रस्तुत की गई है : 'पार्वती और परमेश्वर की अनेक भाव से स्तुति।' यहाँ ईशजी ने परमेश्वर शब्द 'शिव' के लिए प्रयुक्त किया है। इसके नीचे ही रचयिता का नाम और स्थान 'दलीपपुर' अंकित है। इस कृति को पं० नकछेदी तिवारी ने 'सन्तजनो' के चित्त-विनोदार्थ प्रकाशित कराया। आकाशवाणी की तरह मुख-पृष्ठ पर ही एक सकेत अंकित है : 'अधूरा देखने से न देखना अच्छा।'

---

१. द्र० 'धर्मप्रदर्शनी' का अँगरेजी में स्वयं कवि द्वारा लिखित 'प्रीफेस'।

२. 'कविकीर्त्तिकलानिधि' : पं० नकछेदी तिवारी, भारतजीवन प्रेस, काशी, पृ० २।

भूमिका-लेखक ने 'सरस काव्य द्वारा सनातन धर्म का प्रचार तथा निजमता-वलम्बियों का उपकार करना असामान्य कर्त्तव्य है', लिखकर कृति के प्रयोजन को उद्घाटित किया है। दूसरे अनुच्छेद में यह भी संकेतित है कि "यह 'शैवशाक्तमनरंजनी' नामक पुस्तक सं० १९३२ वि० में श्रीमान् सकल गुणलंकृत प्रमर वैशावतंस **महाराजकुमार श्रीबाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह** साहब, दलीपपुर (जो बिहिया स्टेशन के दक्षिण आठ मील की दूरी पर अवस्थित है) द्वारा निर्मित हो जग विख्यात काशी से प्रकाशित **'कविवचनसुधा'** मे प्रकाशित हुई थी।" इस प्रकार, भूमिका से अनेक तथ्य उद्घाटित होते हैं।

इसमे प्रथम पच्चीस पद कपिल छन्द मे हैं, फिर पच्चीस सवैया छन्द में। इसी क्रम को दुहराते हुए शिव-पार्वती की स्तुति की गई है। अन्तिम कवित्त-छन्द, सं० १०१ मे स्वयं कवि की ओर से रचनाकाल निर्दिष्ट हुआ है। अन्तिम पृष्ठ-संख्या अट्ठाईस पर दो दोहा-छन्दों में पुस्तक का नाम और विषय प्रस्तावित हुआ है। तदनन्तर, सोरठा (छन्द-सं० १०४) से सूचना मिलती है कि इस पुस्तक के प्रीतिपूर्वक पढ़ने से आकांक्षित फल की प्राप्ति होती है :

जो जन पढ़िहैं याहि, सहित प्रीति गिरिजारमन।
यामैं संशय नाहिं, मनबांछित सो पाइहैं॥

प्रथम कवित्त में शिव की शोभा के साथ उनकी वन्दना निवेदित है। द्वितीय में पार्वती का सौन्दर्य-वर्णन है, तृतीय मे रुद्र-रूप का स्मरण करते हुए उन्हें **'बंधनहरैया'** माना गया है। चतुर्थ कवित्त से पच्चीसवें तक गौरी और दुर्गा की महिमा तथा उनकी शोभा का आख्यान है। संख्या २६ से सवैया-प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस छन्द से ५०वें छन्द तक उमा और शिव से सम्बद्ध अनेक तथ्य आकलित है। कवि ने दुर्गा को शक्ति, उमा को दुर्गा का अवतार तथा शिव की शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है।

तीसरा प्रकरण कवित्त का है। संख्या ५१ से शिव की शोभा-स्तुति प्रारम्भ होती है। कैलाशपति की सस्तुति में **'सरब सखी'** की शोभा का वर्णन है और कवित्त-सख्या ७५ तक शिव की नख-शिख-शोभा का विविध रूप में गान प्रस्तुत किया गया है, जिसमें उनके रौद्र और परब्रह्म रूपो की विशेषताएँ वर्णित हैं।

चौथा प्रकरण मुख्यत: सवैया का है, जिसमे शिव को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सर्वस्व माना गया है। इसमे शिव के दिगम्बर-रूप और गिरिजापति-रूप का माहात्म्य तथा शोभा वर्णित है। शिल्प-विधान से रीतिकालीन प्रभाव की सूचना मिलती है। इसकी भाषा में अलकार-विधान और शब्द-सौष्ठव की योजना के सागर प्रयास सुस्पष्ट है।

(ख) श्रृंगारदर्पण :

यह पुस्तक सं० १९३३ वि०, अर्थात् सन् १८७६ ई० में लिखी गई, किन्तु छपी सं० १९४६, वि० अर्थात् सन् १८८९ ई० मे। तात्पर्य यह कि पुस्तक-रचना के तेरह

वर्षों बाद इसका प्रकाशन हुआ। इसके मुखपृष्ठ पर 'शृंगारदर्पण', अर्थात् जिनमे 'शृंगार-रस पूरित शिख-नख वर्णित है', लिखा है। शिख-नख की शास्त्रीय परम्परा पर कवि ने ध्यान दिया है। मुखपृष्ठ पर ही 'काव्यरसिकों के आनंदार्थ रचना किया'— उल्लिखित है। तत्कालीन समय मे 'डाकव्यय'-सहित मूल्य इसका अढ़ाई आने रखा गया है। इसमे ३२ पृष्ठ और २८२ दोहे है।

मगलाचरण गणेश-वन्दना से हुआ है। यह छह पदो में है। फिर, दोहो मे शिव, सरस्वती और राधा-पद की वन्दना है। ऐसा चार छन्दो मे किया गया है। बरवै छन्द मे संख्या ६ से २७५ तक नख-शिख-सौन्दर्य-वर्णन है। पुस्तक के अन्तर्वर्त्ती आवरण-पृष्ठ पर गणेश का छोटा-सा चित्र भी मुद्रित है। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर अंकित पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि कवि ने अपने निवासस्थान दलीपपुर के ही मित्र श्रीधनंजय पाठक को इसका प्रकाशन तथा विक्रय-भार सौंप दिया था। यह पुस्तक दानापुर के सेण्ट्रल प्रेस मे छपी थी। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उस समय तक उनका सम्बन्ध भारतजीवन प्रेस से स्थापित नही हो सका था।

नायिकाभेद और शृंगार-वर्णन के लिए विख्यात तथा समृद्ध रीतिकालीन परम्परा के अन्तिम छोर पर, जहाँ भारतेन्दु-युग का प्रभाव-साक्ष्य सुस्पष्ट होता है, ईशजी की यह रचना प्रकाशित हुई। साहित्यिक काल के समापन के बावजूद सन्दर्भत उस काल के साहित्यिक वैशिष्ट्यो का लोप नही होता, 'शृंगारदर्पण' इसे सार्थक करता है। जायसी की भाँति ईश ने भी 'केश-वर्णन' से शुभारम्भ किया है। केश भौंरो की भाँति काले, सुगन्धित, मृगमद-संकुल तथा स्निग्ध है। केश-वर्णन अत्यन्त व्यापक एव विशद है। 'वेंदी-वर्णन', 'मन्त-वर्णन' (?), कपोल-वर्णन, अधर-वर्णन, ग्रीवा-वर्णन, उरोज-वर्णन, नाभि-वर्णन, जंघा-वर्णन आदि अतिशय हृदयाह्लादक हैं। 'ईश' की रीतिविशिष्ट नायिका, ग्रामीण होते हुए भी रतिनागर है, तो अलंकार-विधान विशेषतया उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष और यमक पर केन्द्रित हैं। वह परम्परा के समीप होते हुए भी अपनी मूल चेतना के प्रति निष्ठावान् है।

(ग) धर्मप्रदर्शनी[१] :

प्रस्तुत पुस्तक की अँगरेजी-भूमिका मे लिखित लेखकीय शब्द पुस्तक की साहित्यिक अर्थवत्ता के आग्रही हैं। सम्पूर्ण पुस्तक मे विभिन्न दार्शनिक तथ्यों का आकलन प्राप्त होता है।

इस पुस्तक मे, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, विभिन्न धर्मो का सार-संकलन है। लेखक ने संस्कृत, फारसी, अँगरेजी आदि भाषाओ के कवियों-मनीषियो द्वारा व्यक्त विचारो को सरल भाषा मे प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ, धर्म की प्रदर्शनी मे प्रदर्शन-लिप्सा की अर्थ-

१. यह ग्रन्थ श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई से सन् १९०६ ई० मे प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक श्रीखेमराज कृष्णदास थे तथा सर्वाधिकार लेखकाधीन था।

रूढि उपस्थापित नहीं करता, अपितु उनकी अहम्मन्यहीन चेतनाओं की संस्कृति प्रस्तुत करता है। प्रथम पृष्ठ पर अँगरेजी मे पुस्तक-प्रकाशन-परिचय तथा तृतीय पृष्ठ पर हिन्दी मे उन्ही बातो का पुनःप्रस्तवन है। सातवे, आठवे और नवे पृष्ठ पर मंगलाचरण के साथ भूमिका अंकित है। इसे स्वय लेखक ने 'राजदासानुदास' कहकर लिखा है। पृष्ठ-संख्या ११-१२ पर विषयानुक्रमणिका है।

प्रस्तुत पुस्तक मे पाँच दृश्य है : **प्रथम दृश्य** पृष्ठ १ से ९२ तक है, जिसमें क्रमशः वाणी, बुद्धि, विद्या, विचार, विनय, सत्संग, मैत्री, उद्योग, शील, पुरुषार्थ, वीरता, सावधानता, दान, उपकार, नम्रता, क्षमा, सत्यता, सन्तोष, स्वधर्म, न्याय और प्रीतिदर्शन का तथ्य-निरूपण हुआ है। **द्वितीय दृश्य** में राजनीतिक, पारिवारिक तथा सामाजिक कर्म-निष्ठा का, यथा : गृही, राजा, युवराज, सेवक, अमात्य, सरदार, सेनापति, दण्ड, पूजा और अन्य धर्म-दर्शन का अध्ययन हुआ है। इसमें धर्म कर्त्तव्य का पर्याय है। यह दृश्य पृष्ठ-संख्या ९३ से १६६ तक चलता है। **तृतीय दृश्य** पृष्ठ-संख्या १६८ से २२८ तक है। इसमे जीव, षड्धर्म, त्रिधर्म, शौच, पूजा, विराग तथा परमात्मा पर दार्शनिक मान्यताओं का आकलन उपस्थापित है। **चतुर्थ दृश्य** पृष्ठ-संख्या २२९ से २६४ है, जिसमें विभिन्न धर्मों के विद्वानों तथा महापुरुषों की मान्यताओ का विवरण है। इसमे मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्राचार्य, युधिष्ठिर, विदुर, भर्तृहरि, तुलसीदास, लुकमान हकीम, शेक्सपियर, कनफ्यूसियस, बुद्ध, शेखसादी आदि के नाम उल्लेखनीय है। अन्तिम, **पंचम दृश्य** में ग्रन्थकर्त्ता के विचार सकलित है, यह दृश्य पृष्ठ-संख्या २६५ से ३०० तक है। यह दो खण्डों में मिलता है। प्रथम खण्ड गद्य में है और द्वितीय खण्ड पद्य में। 'धर्मप्रदर्शनी' लगभग तीन सौ पृष्ठों की गद्यप्रधान पुस्तक है, जिसमे 'सर्वधर्मसमन्वय' आकांक्षित है। यह पुस्तक गद्य में रचित है, जबकि उस समय गद्य-पुस्तकों का अभाव था। ईशजी ने सभी धर्मो की एकता को स्वीकारा और श्रद्धेय माना है। वह मुसलमानो की मस्जिदों, ईसाइयो के गिरजाघरो, हिन्दुओं के मन्दिरों और बौद्धों के मठो मे समान रूप से जाने को तैयार रहते थे।

तत्कालीन हिन्दी-गद्यसाहित्य में कथा, उपन्यास और नाटक पर अधिक ध्यान दिया गया है। किन्तु, ईशजी ने **भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त** आदि से पृथक्, धर्म और दर्शन का सामयिक चिन्तन-मन्थन प्रस्तुत किया। तत्कालीन प्रयोग और प्रवाह की दृष्टि से उनकी भाषा उत्कृष्ट और सबल है। **आचार्य शिवपूजन सहाय** भी इस ग्रन्थ की प्रशंसा करते थे।[1]

(घ) पंचरत्न :[2]

प्रस्तुत पुस्तक ईशजी की हस्तलिखित अप्रकाशित रचना है। इसका आकार डिमाई सोलहपेजी है। बीच मे एकाध छोटे-छोटे पृष्ठ भी है। लिखावट के अक्षर कागज

---

१. इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं सन् १९६१ ई० में आचार्य शिवजी से मौखिक वार्त्तालाप किया था।

२. उक्त ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के आधार पर वर्णित।

पर धँसते हुए उड़-से गये है। यद्यपि, पढने मे कठिनाई होती है, तथापि सर्वथा अपाठ्य नही है। पृष्ठ-सख्या १६२ है। प्रथम जिल्द के बाद बारह पृष्ठ ऐसे है, जिनमे कुछ सादे तथा कुछ 'श्रृंगारदर्पण' के हस्तलिखित अवशिष्ट अंश है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'श्रृंगारदर्पण', का हस्तलिखित रूप भी इन्ही पहले के पृष्ठो पर, जो अब नही है, लिखित था। अन्त मे सोलह पृष्ठ उर्दू मे लिखे हुए है तथा कुछ-कुछ सादे भी है। कुल मिलाकर, इस पुस्तक मे १९० पृष्ठ है।

पुस्तक का आवरण-पृष्ठ नीला है, जिसपर चमड़े की जिल्द लगी है। मुखपर पुस्तक की सख्या '२५/१–६' अंकित है, जो सम्भवत. उनके निजी संग्रहालय की पुस्तक-सख्या है। कागज पुराना और जीर्ण है। बीच मे पन्ने भी जीर्ण तथा दुष्पाठ्य हैं। विषय क्रमबद्ध है, पर श्रृंखला का अभाव है। शुरू मे एक जगह हरिहरप्रसाद सिंह की रचना भी मिलती है, जो उनके साहित्यिक भतीजे हैं। एक अंश मे स्वय उनका भी नाम मिलता है, फिर भी 'पंचरत्न' के कवि की प्रामाणिकता उससे बाधित नहीं होती; क्योकि यह अश स्वयं क्षेपकवत् है तथा 'पंचरत्न' के विषय-प्रतिपादन से उसका सम्बन्ध नहीं है।

पुस्तक मे पाँच तरंग हैं शेषस्तुति, रासविलासवर्णन, समस्यापूर्त्तियाँ, ऋतुवर्णन और वैराग्यपूर्ण भजन। प्रथम तरग मे, 'श्रीबिहारी नवरत्न' शीर्षक के अन्तर्गत जो कवित्त हैं, वे बाबू रामशरण सिंह (सुखसागर कवि) की 'चित्तविनोदनी' नामक पुस्तक मे, जो स० १९५७ वि० मे भारतजीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी, सगृहीत होकर छपे है।[1] प्रथम तरंग मे कुल ७५ कवित्त है और ७६ से १०० छन्द-संख्या तक सवैया है, पुन 'असारथी' शीर्षक देकर भक्तिपरक सवैया और कवित्त है। इनकी संख्या १ से १८ है। फिर, 'षट्पदावली' १ से ६ सख्या तक है। 'अस्फुटावली' १ से १४ तक सोरठा-छन्दो मे लिखित है। इधर की पृष्ठ-सख्या स्पष्ट नही होती तथा तरंगो के अनुसार स्पष्ट वर्णन नही मिलता। संख्या १३ और १४ कुण्डलिया छन्द हैं, संख्या १५-१६ कवित्त है, ७-१८ सवैया है और १९ से २४ संख्या तक पुनः कवित्त छन्द हैं। बीच-बीच मे सोरठा भी है।

इसके बाद, फिर से प्रारम्भ की गई पृष्ठ-संख्या मिलने लगती है। एकाध पृष्ठो पर समस्यापूर्त्तियाँ है, पर शीघ्र ही 'देवस्तुतियाँ' प्रारम्भ हो जाती हैं। श्रीसूर्यपचक बरवै और सोरठा छन्दो मे, श्रीवागीश्वरी-अष्टक चचला छन्द मे (पृष्ठ दस से), श्रीशिवपचक सवैया तथा सोरठा मे, श्रीजगदीश्वरी-पचक सवैया तथा दोहा मे, श्रीरामाष्टक भुजग-प्रयात छन्द मे तथा महावीरपंचक सवैया तथा सोरठा छन्द मे वर्णित है। इन शीर्षको मे सम्बद्ध देवताओ के प्रति श्रद्धाभाव निवेदित है।

पृष्ठ-संख्या २२ से ३० तक ऋतुवर्णन है। क्रमशः शरद-चाँदनी-शोभा, गोपिन की छवि, अन्तरध्यान-लीला, गोपिन की विरह-दशा, प्रलाप-दशा, स्याम-मिलन और महा-रास शीर्षको मे ऋतुवर्णन के सम्पुट सुलभ होते हैं।

१. 'हिन्दी-साहित्य और बिहार', द्वितीय खण्ड (बारहवीं शती) : सं० आचार्य शिवपूजन सहाय, पृ० ५१–५६ तक।

आगामी पृष्ठों में विभिन्न समस्यापूर्त्तियाँ है, जिनमें—'रहु रे वसन्त तोहि पावस करतिहौं', 'एडवर्ड सदा सुख जीजियोजू', 'महारानी भोजपुर की', 'सुचोटै करे' आदि उल्लेख्य है। यह क्रम पृष्ठ-संख्या ५८ तक चलता है।

पृष्ठ-सख्या ५८ से ही 'वसन्त-वर्णन' : बरवै, सवैया, दोहा और कवित्त छन्दो में तथा 'पावस-वर्णन' कवित्त, लघुमात्रिक एवं सवैया छन्दों में वर्णित हुआ है। पृष्ठ-संख्या ६५ और ६७ पर क्रमशः शरद् तथा शिशिर-वर्णन प्रायः कवित्त, दोहा और सवैया छन्दों में अंकित है। पृष्ठ-संख्या ६८ से ७५ तक पुनः देवस्तुतियाँ है, जिनमे राम, कृष्ण, भगवती और शिव मुख्यरूप से वर्णित है। अन्त में विनय के पद है।

इस प्रकार, 'पंचरत्न' मे पाँच तरंगो की प्रधानता के बावजूद क्रमबद्धता प्रायः नहीं है। उनकी शृंखला बाधित है। उपर्युक्त पाँच तरंगों का क्रम इस प्रकार हो सकता है : (क) रासविलासवर्णन, (ख) देवस्तुति, (ग) समस्यापूर्त्तियाँ, (घ) ऋतुवर्णन और (ङ) भक्ति-वैराग्यपूर्ण भजन। समस्यापूर्त्तियों के आगे-पीछे भी ऋतुवर्णन मिलता है, जिस कारण उसे अलग-अलग अध्यायो में बाँटना कठिन लगता है। सम्भवतः, यह ग्रन्थ की प्रथम मूल पाण्डुलिपि है और इसे ईशजी सम्पादित नहीं कर पाये।

स्पष्टत., इस ग्रन्थ पर रीतिकालीन और समकालीन प्रभाव देखे जा सकते हैं। वैसे 'पंचरत्न' की मूल पाण्डुलिपि का जबतक सशोधन और पाठानुशीलन नहीं हो जाता, तबतक उसके सम्पुटों अथवा साक्ष्यों को प्रस्तुत करना बौद्धिक नही होगा; क्योंकि इसकी लिपि किंचित् अपाठ्य और दशा जीर्ण है। संक्षेपतः, **स्व० बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह 'ईश'** का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यथोचित मूल्यांकन और स्थान-निरूपण अपेक्षित है।

△ **हिन्दी-विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय**
राँची (बिहार)

वंश : एक परम्परा

पतंजलि के अनुसार, वंश एक परम्परा थी। वंश एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मे बढता हुआ स्थायी सामाजिक अंग था। व्यक्ति की अगली पीढियाँ उसकी 'वंश्य' कहलाती थीं। रक्तवंश पिता द्वारा प्रचलित माना जाता था। सामान्यतया स्त्री के नाम पर वंश नही चलता था। कुछ लोग पितृवंश और मातृवश दोनो मानते थे और देश मे कुछ भागो में मातृवंश भी प्रचलित था। वंश और सम्बन्ध प्रायः पर्याय थे। योनि-सम्बन्ध या वंश के अतिरिक्त विद्या-वंश या विद्या-सम्बन्ध भी प्रचलित था। आचार्य की शिष्य-परम्परा उसका वंश मानी जाती थी।

स्मृति-अर्चन :

हिन्दी के शब्दपुरुष : स्व० किशोरीदास वाजपेयी

△ डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

सन् १९१९ ई० के मार्शल लॉ के दिनों, जब पंजाब की सर्वोच्च संस्कृत-उपाधि दिलानेवाली 'शास्त्री-परीक्षा' का फल निकला, तब उसने स्व० राहुल सांकृत्यायन को दुहरे आश्चर्य मे डाल दिया। एक तो, यह कि सफल छात्रों की सूची में उनका नाम नही था, दूसरे यह कि उसमें सर्वोच्च स्थान पानेवाला एक स्वाध्यायी छात्र था, जो वृन्दावन का वैष्णव साधु था। राहुलजी सफल न होनेवालो मे पहले थे, और किशोरीदास वाजपेयी सफल होनेवालो मे पहले। इस प्रकार, दोनों का परिचय परीक्षाफल से हुआ। परिचय सम्बन्ध मे बदल गया, जो बढ़ता गया। राहुलजी साम्यवादी विचारक थे, जबकि वाजपेयी ठेठ भारतीयता के भक्त। उन दोनों का मिलन, दो ध्रुवो का मिलन था। फिर भी, राहुलजी ने वाजपेयी को स्थापित करने मे बहुत मदद की।

वाजपेयी की जन्मकथा (या व्यथा) शुरू होती है सन् १८९४-९५ ई० के आस-पास रामनगर से, जो विठूर (कानपुर) से दो मील दूर है। पितामह के सन् सत्तावन के विद्रोह मे भाग लेने से गरीबी उनके कुनबे के साथ हो गई। घर मे दो भाई, माता और पिताजी। एक कोठरी, जिसके आगे-पीछे छप्पर। धन्धा बँटाई पर खेती करना। जैसे-तैसे गाडी चल रही थी कि प्लेग मे माता-पिता शान्त हो गये ! कुछ दिन जीजी के पास रहे। फिर, वहाँ से चल दिये और मेहनत-मजदूरी करते हुए, पढ़ने की गरज से कानपुर मे चाचा के पास पहुँचे। चाचा ने मिल मे लगा दिया। वहाँ बचपन के सहपाठी श्यामसुन्दर शुक्ल से परिचय हो गया और उनकी सहायता से पटाई मुहाल की संस्कृत-पाठशाला मे भरती हो गये। वहाँ की पढ़ाई रास न आने पर, वृन्दावन चले गये। दामोदरप्रसाद वाजपेयी का समय अब सत्संग और पूजापाठ मे बीतने लगा। रसिक-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने पर दामोदरप्रसाद किशोरीदास हो गये। फिर, पढने की रुचि जागरित हुई, और सन् १९१९ ई० मे, शास्त्री-परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त किया। पुन. राहुलजी के सम्पर्क मे आये। सोलन (शिमला) मे नौकरी की। उन्होने साधु-जीवन से ऊबकर विवाह कर लिया। तीन बराती, और खुद, कुल जमा चार व्यक्ति। उन्होने मौर नही बाँधा। साधारण ढग से विवाह हुआ। उस जमाने मे ५० रुपये

प्रतिमाह की नौकरी बहुत थी। उग्र स्वभाव और स्वाभिमान ने एक जगह नही टिकने दिया। एक हाथ में त्यागपत्र और दूसरे मे नियुक्तिपत्र लेकर वह नौकरी करते थे। सन् १९२० ई० के आसपास उन्होंने हिन्दी की खोज-खबर शुरू की। तबतक स्व० कामता-प्रसाद गुरु अपना व्याकरण लिख चुके थे। हिन्दी में वैकल्पिक प्रयोगों की भरमार देखकर डॉ० चाटुर्ज्या ने कहा था कि यह व्याकरणविहीन है। सन् १९४३ ई० मे वाजपेयीजी ने 'ब्रजभाषा का व्याकरण' लिखा। सन् १९४९ ई० में उनकी दो पुस्तके प्रकाशित हुई . 'राष्ट्रभाषा का व्याकरण' और 'भारतीय भाषाविज्ञान'। परन्तु, उन्हें यश और श्रेय दिलानेवाली कृति है—'हिन्दी-शब्दानुशासन', जो विशुद्ध व्याकरण-ग्रन्थ न होकर, सूत्रशैली, भाष्य और निरुक्त का मिला-जुला रूप है। उसमें जानकारी के साथ भाषा की गहरी जिज्ञासा और सीमाहीन खोज है।

भारत की प्राचीन और समकालीन भाषाओं और बोलियो के तुलनात्मक अध्ययन से भरपूर यह ग्रन्थ, कई महत्त्वपूर्ण और मौलिक तथ्यों को रेखाकित करता है। वाजपेयीजी की पहली स्थापना है कि 'हिन्दी और उसकी बोलियाँ' यह एक गलत शीर्षक है, जो हिन्दी में रूढ हो चुका है। इसकी जगह 'हिन्दी-भाषासघ' शीर्षक अधिक तर्कसंगत है। इसमे बिहारी और राजस्थानी-भाषासमूह भी आ जाते है, कॉमनवेल्थ की तरह। दूसरी स्थापना है कि सस्कृत और हिन्दी—एक ही मूल भाषा की दो शाखाएँ है। ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक भाषा, मूल भारतीय आर्यभाषा (सम्भवतः प्राकृत) का शिष्ट या साहित्यिक रूप है। यही भाषा, बुद्ध और महावीर के समय दूसरी प्राकृत के नाम से जानी जाती थी। अशोक के समय इसे राजभाषा का दरजा मिला। उत्तरप्रदेश में—मुरादाबाद से पंजाब के अम्बाला जिले तक, ऊपरी दोआब में एक लम्बी पट्टी है। उसमे जो प्राकृत-बोली बोली जाती थी उसके नाम का निर्देश नही है। इसी प्रदेश के मध्य भाग की तीसरी प्राकृत (अपभ्रंश) से हिन्दी का विकास हुआ, यानी शौरसेनी-प्राकृत से नहीं, जैसी कि परम्परागत धारणा है। कौरवी-अपभ्रंश से हिन्दी (खड़ीबोली) का विकास हुआ। उसका खड़ीबोली नाम 'खड़ी' पाई के कारण पड़ा। यह खड़ी पाई (यानी आकारान्त प्रकृति) पंजाब तक चली गई है। यह प्रवृत्ति पंजाबी मे भी है—खड़ीबोली के वाक्य 'मीठा पानी लाता है' का पंजाबी रूप है—'मिट्ठा पानी लावन्दा है'।

उनकी तीसरी स्थापना हिन्दी-उर्दू के बारे मे है। वह लिखते है : जब मुसलमान दिल्ली पहुँचकर जम गये, तब उनका जनभाषा (खड़ीबोली) से काम पड़ा। रहते-रहते मुसलमानी शासन खड़ीबोली से परिचित हो गया। वह उसमे अपनी भाषाओं (अरबी-फारसी) के शब्दो को मिलाकर, उसे फारसी-लिपि मे लिखने लगा। खड़ीबोली इस नये रूप मे शाही जुबान के तौर पर उर्दू कहलाई। इस प्रकार, उर्दू के रूप मे हिन्दी को राष्ट्र की सम्पर्क-भाषा बनाने का श्रेय मुसलमान-शासकों को है। जब अँगरेजी-शासन जमा, तब समस्या ने पलटा खाया। उर्दू का दरजा घट गया। जब उसे हिन्दी-शब्दो के साथ नागरी-लिपि मे लिखा गया, तब उर्दू हिन्दी बन गई। लोगों ने

लिख दिया कि उर्दू से हिन्दी बनी। यदि भारतीय लड़की ईरानी वेशभूषा पहनकर बुरका डाल ले और 'सरोज' की जगह अपना नाम 'गुलशन' रख ले, तो वह विदेशी ही दिखाई पड़ेगी। लेकिन, यदि वह अपने पूर्व रूप मे वापस आ जाय, तो क्या यह कहना ठीक है कि ईरानी लड़की हिन्दुस्तानी बन गई। यही स्थिति खड़ीबोली के सन्दर्भ में उर्दू-हिन्दी की समझनी चाहिए।

हिन्दी की संरचना के बारे मे वाजपेयीजी ने कई नई उद्भावनाएँ की हैं, जो अन्तिम रूप से स्वीकार करने के पूर्व विचारणीय हैं। जैसे उनका कहना है कि का-के-की (हिन्दी), रा-रे-री (राजस्थानी) और ना-ने-नी (गुजराती) सम्बन्ध के प्रत्यय हैं, विभक्तियाँ नहीं। 'राम ने रोटी खाई' कर्त्तृवाच्य नही, कर्मवाच्य है। हिन्दी की क्रियाओं को सिद्ध और साध्य इन दो भागो मे बाँटना उपयुक्त है। चाहे परम्परागत देशी शब्द हो या या विदेशी, हिन्दी उन्हे अपनी प्रकृति में ढालकर लेगी। व्याकरण का मुख्य काम भाषा को व्यवस्थित रूप देना है। वह बताता है कि 'जायेगा, जावेगा, जायगा और जाएगा' मे सही रूप कौन है और क्यो है ? इनमे किसका प्रयोग परिनिष्ठित हिन्दी मे होना चाहिए ? 'अन्त ' और 'अन्तर', संस्कृत के दो स्वतन्त्र अव्यय है, अत 'अन्तर-विश्वविद्यालय' के स्थान पर 'अन्तर्विश्वविद्यालय' लिखना ठीक नही। एक का अर्थ दो विश्वविद्यालयो के बीच है, जबकि दूसरे का अर्थ है, विश्वविद्यालय के अपने क्षेत्र से सम्बद्ध। इसी प्रकार, हिन्दी की प्रकृति के अनुसार, दोगुना, दोपहरी, दोहरी, तीनगुना जैसे समस्त शब्दो के सही रूप होगे—दुगुना, दुपहरी, दुहरी और तिगुना। 'हिन्दी-शब्दानुशासन' मे कुछ शब्दों की मनोरंजक व्युत्पत्तियाँ भी दी गई है। 'बाबूतन्त्र' भारतीय प्रजातन्त्र का मजबूत पाया है। 'बाबू' 'क्लर्क का पर्याय है, और आदरणीय जन के अर्थ मे भी प्रयुक्त है। दूसरे अर्थवाले बाबू का विकास संस्कृत 'वप्ता' से हुआ। लिपिक के वाचक 'बाबू' शब्द की व्युत्पत्ति वाजपेयीजी ने 'बा + बू' से मानी है, 'बा' यानी सहित और 'बू' यानी ठसक, जिसमे कुरसी पर होने की ठसक हो। 'बाबू' को 'बाइल्म', 'बाकायदा' आदि शब्दो की तरह समझना चाहिए।

कारक और विभक्ति का भेद बताते हुए वाजपेयीजी लिखते हैं कि संस्कृत से अपभ्रंश तक कुल छह कारक हैं, परन्तु हिन्दी के वैयाकरण आठ कारक मान रहे है। दुनिया की भाषाओ मे कारक का नही, विभक्ति का लोप होता है, परन्तु हिन्दी के व्याकरणो और भाषाविज्ञान की पोथियो मे लिखा है कि आगे चलकर कर्त्ता, कर्म और सम्बन्ध के कारको का लोप हो गया। यानी, कही आठ, कही पाँच, कही तीन और कही एक ही कारक रह गया।

भाषाविज्ञान की एक पोथी मे लिखा हुआ था कि मैथिली मे केवल करणकारक मिलता है। इसपर वाजपेयीजी का व्यग्य देखिए . ओ मिथिला (विदेहभूमि) के भाइयो ! आपकी बोली मे कर्त्ता, कर्म, अपादान और अधिकरण (कारक) होते ही नही ? क्या

कारण है ? आप न खाते, पीते है, न घर-द्वार से निकलते है, न कोई किसी को देता ही है और न धरती-आकाश मे कही रहता है।" कहने का अर्थ यह है कि हिन्दी ही नही, भारतीय भाषाओ के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में वाजपेयीजी का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उनका अध्ययन साफ-सुथरा है और विश्लेषण तात्त्विक।

हिन्दी के भाषा-विश्लेषण की उनकी पकड़ बड़ी गहरी थी। हिन्दी-भाषा का विज्ञान के अखाड़े के वह एक अप्रतिहत मल्ल थे। उनके अक्खड़पन और जुझारू वृत्ति के कई किस्से प्रचलित हैं। वह देशी शैली के पण्डित थे। दृढ स्वाभिमान और द्रवित मनस्विता के मेलवाला उन जैसा व्यक्तित्व मिलना विरल है। 'हिन्दी-शब्दानुशासन' केवल भाषाशास्त्र का ग्रन्थ नही है। वैसे शब्दशास्त्र में व्यक्तित्व के प्रक्षेप की गुंजाइश बिलकुल नहीं होती, परन्तु वाजपेयीजी के शब्दानुशासन पर उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है। इस कारण, वह सरस और सहजप्रेषणीय है। वह उनके व्यक्तित्व और भाषिक चिन्तन का मिला-जुला स्मारक है। राहुलजी ने उन्हे व्याकरण, निरुक्त और रस का पहलवान निरूपित करते हुए लिखा है : "त्याग-तपस्या की पूजा करनेवाले इस देश की संस्कृति यह है कि उसमें ज्ञान का स्वतन्त्र और सच्चा साधक अभाव, विडम्बना और उपेक्षा का शिकार रहता आया है। भवभूति, पुष्पदन्त, निराला और वाजपेयी जैसे औघड़ मनीषियों की अपनी जिन्दगी अपमान के कड़वे घूँट पी-पीकर काटनी पड़ी।"

एक जगह वाजपेयीजी ने लिखा है कि वह जरूरी पुस्तक इसलिए नही खरीद सके; क्योकि उनके पास पैसे नही थे। इस देश मे ज्ञान और चापलूसी का कभी सम्बन्ध नहीं रहा। चापलूस व्यक्ति पद, क्षणिक गरिमा और धन बटोर सकता है। ज्ञान का मोती साधना के सीप में ही जमता है। वाजपेयीजी जब ताल ठोककर विद्या की रंगभूमि में खड़े हो जाते थे, तब विश्वविद्यालयो के हिन्दी-प्रोफेसर अपनी टाई टटोलने या सँभालने लगते थे। उनकी उपेक्षा का कारण, उनका अक्खडपन नहीं, बल्कि मेकाले के साँचे में ढले हिन्दी-प्रोफेसरों की ईर्ष्या थी। इस स्थिति से खीजकर राहुलजी ने लिखा है : "प्रतिभाएँ सभी क्षेत्रो में एवरेस्ट शिखर नही होती। परन्तु, जब किसी क्षेत्र मे किसी व्यक्ति का उत्कर्ष साबित हो गया, तो उसकी कदर करना, उससे काम लेना समाज का कर्त्तव्य है। वाजपेयीजी की उपेक्षा का परिणाम यह है कि हिन्दी उनकी सर्वोच्च देनों द्वारा परिपूर्ण होने से वंचित हो रही है।" स्वय वाजपेयीजी लिखते है . 'मै क्या गर्व करूँ ? गर्व प्रकट करने योग्य चीजे तो अभी तक दे ही नहीं पाया।' इसमे शक नही कि वह पाँच बड़ी-बड़ी जिल्दो मे हिन्दी को एक व्युत्पत्तिमूलक शब्दकोश दे सकते थे। पर उसके स्थान पर, भूमिका-मात्र दे सके। वाजपेयीजी की तुलना अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त से करते हुए राहुलजी ने लिखा है कि पुष्पदन्त भी इन दुर्गुणो के शिकार थे, लेकिन एक तो वह परिवार से मुक्त थे, दूसरे उन्हें मन्त्री भारत जैसा नाजबरदारी करनेवाला मिल गया था, इसलिए वह 'महापुराण' की रचना कर सके। लेकिन, वाजपेयीजी का समकालीन हिन्दी-जगत् उन्हे इतना भी सुयोग नही दे सका। राहुलजी को मालूम था कि वाजपेयीजी ने साहित्यिक जीवन के अपने तीस साल नून, तेल

और लकडी की परेशानी मे किस प्रकार गुजारे ? वह लिखते है : "क्या यह दुनिया एक क्षण के लिए भी बरदाश्त करने लायक है, जिसमे अनमोल प्रतिभाओ को नाम करने का अवसर न मिले और ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे गुलछर्रे उड़ाते, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मंच पर अपना नाच दिखायें ?"

वाजपेयीजी व्यक्तियो के नही, उनके उन विचारो के आलोचक थे, जिन्हें वे गलत समझते थे। लेकिन अपनी गलतियो को विना किसी हिचक स्वीकारने का साहस भी उनमे था। उनके जिस 'हिन्दी-शब्दानुशासन' को हिन्दी का प्रथम मौलिक व्याकरण मानकर उनकी विलक्षण प्रतिभा का कीर्तिस्तम्भ घोषित किया जा रहा है, उसके बारे मे स्वय उनका कहना है कि यह केवल भूमिका है, लेकिन हिन्दीवालो ने अपनी अकर्मण्यता छिपाने के लिए यदि इसे अन्तिम मान लिया, तो इसमे आश्चर्य की बात नही; क्योकि श्राद्ध-संस्कृति-वाले इस देश की सनातन रीति यही है कि पहले प्रतिभा को ठुकराना, फिर उसकी प्रतिभा का जयजयकार करना।

वाजपेयीजी का कहना है कि पाणिनि का व्याकरण इसलिए बना रहा; क्योकि उनकी दृष्टि शब्दप्रयोग पर है। यह कथन 'हिन्दी-शब्दानुशासन' पर भी लागू होता है, क्योकि वह हिन्दी-शब्दप्रयोग के वास्तविक विश्लेषण का प्रारम्भ है। उसमे सही दिशा और दृष्टि है, कही-कही विप्रतिपत्तियाँ है, जो अलग से विचारणीय है। प्राचीन कवियो ने जीवन की तुलना उस बिजली से की है, जो मेघ मे पलभर चमककर बुझ जाती है। कौन जानता है कि यह सयोग-मात्र है, या मृत्यु की घटा से लुकाछिपी करनेवाली चेतना की एक सतत लहर! वह जो भी हो, जो लोग अपनी साधना से जीवन के इस आलोक-क्षण को नक्षत्र की तरह स्थिर बना लेते हैं, वाजपेयीजी उनमे एक थे। यह नक्षत्र शतियों के भाषिक कुहरे को चीरकर हिन्दी के क्षितिज पर उगा था, जिसमे सम्पूर्ण सूर्य बनने की सम्भावना निहित थी। परन्तु, हमने उसे ईर्ष्या के कुहासे मे छिपा दिया, उसे पूरी तरह प्रकट नही होने दिया; क्योकि हमे अन्धकार से प्रेम था। इसलिए, जब १२ अगस्त, १९८१ ई० की रात को वह नक्षत्र विलीन हुआ, तब कोई खास प्रतिक्रिया नही हुई!

प्रश्न है, वाजपेयीजी के अधूरे काम को, उनकी बताई लीक पर चलकर हिन्दी के विकास का समग्र इतिहास और व्युत्पत्तिमूलक शब्दकोश की रचना को कैसे पूरा किया जाय? क्या हिन्दी-प्रदेशो की सरकारें मिलकर इस कार्य को सम्पन्न नही करा सकती? ●●

△ ११४, उषानगर, इन्दौर : ४५२००९

❁

"अशुद्ध शब्दो का प्रयोग विद्वानो के कान मे तप्त तैलबिन्दु के समान असह्य होता है। केवल लेखको की इच्छा पर यदि भाषा अवलम्बित हो जाय, तो एक दिन सबकी आँखो से उसकी मर्यादा गिर जायगी। इसलिए, व्याकरण का अनुशासन अवश्य अगीकृत करना चाहिए।"

△ 'शिवपूजन-रचनावली' (भाग ४) से साभार

'श्रीमद्भागवत के टीकाग्रन्थ और ग्रन्थकार' : पुनर्विवेचन

△ श्रीवेदप्रकाश गर्ग

'परिषद्-पत्रिका', वर्ष २३, अंक ३ (अक्टूबर, १९८३ ई०) में पं० **रामनारायण मिश्र** का 'श्रीमद्भागवत के टीकाग्रन्थ और ग्रन्थकार' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है, जो शोधात्मक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। मिश्रजी ने लेख मे १३६ संस्कृत-टीकाग्रन्थों की नामावली का वर्गीकरण, विवेचन की सुविधा की दृष्टि से, नौ श्रेणियों में किया है। टीकाग्रन्थो एवं एतद्विषयक विवेचनापरक ग्रन्थों की यह नामावली विशेष रूप से **श्री एम्० एन्० चटर्जी** के श्रीमद्भागवत के अँगरेजी-अनुवाद की भूमिका में उल्लिखित सूची पर आधृत है। यह अँगरेजी-अनुवाद सन् १८९५ ई० मे कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। विद्वान् लेखक के विचारानुसार, सन् १८९५ ई० के पश्चात् नूतन संस्कृत-टीकाग्रन्थो की रचना की सम्भावना अत्यल्प है; क्योकि उस समय तक संस्कृत-भाषा का अध्ययन-अध्यापन ह्रासोन्मुख हो चुका था। इसके साथ ही लेखक की दृष्टि में यह तथ्य भी है कि उक्त सूची में कतिपय ऐसे अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रौढ टीकाग्रन्थों के नाम समाविष्ट नही है, जो यथानिर्धारित काल से प्राचीनतर हैं। श्रीमिश्रजी ने ऐसी अचर्चित उत्कृष्ट सात टीकाग्रन्थों का विवरण लेख के अन्त में दिया भी है, किन्तु फिर भी इस बात की विशेष आवश्यकता थी कि खोजबीन कर उक्त सूची को अधिकाधिक अद्यतन रूप मे प्रस्तुत करते हुए उसे सर्वांगता की ओर ले जाया जाता। ऐसा करने पर लेख और भी उपादेय हो जाता।

साथ ही, यह भी आवश्यक है कि मूल ग्रन्थो के आधार पर ज्ञात समस्त टीकाग्रन्थों की सूची की छानबीन करके अधिकतम शुद्ध रूप मे उसको वर्गीकृत किया जाय। आशा है, मिश्रजी अथवा अन्य कोई समर्थ शोधविद्वान् इस कार्य को पूर्णता की ओर ले जाने में योग देगा। श्रीमिश्रजी तथा अन्य विद्वानो से विनम्र निवेदन है कि वे इस कार्य की महत्ता एवं उपयोगिता को ध्यान मे रखकर अवधानतापूर्वक इसे अद्यतन रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा करें। वैसे मुझे ज्ञात हुआ है कि श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान, मथुरा से 'भागवतपरिचय' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी अन्य ज्ञातव्यों के साथ-साथ उसके टीकाकारों तथा टीकाओं की विशद जानकारी भी दी गई है। उसका

उपयोग किया जा सकता था।* इसके अतिरिक्त, यह भी ज्ञातव्य है कि श्रीमद्भागवत के दो बृहत् टीका-संकलन-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। इनमे जो टीकाएँ संकलित हैं, उनका विवरण यहाँ उपन्यस्त है। ध्यातव्य है, आठ टीकाओ के एक संकलन-ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी ने वृन्दावन से सं० १९५८ वि० में कराया था। भागवत-टीकाओ का यह सुन्दर सस्करण अब नितान्त दुर्लभ है। इस टीका-सकलन-ग्रन्थ मे निम्नांकित टीकाएँ उल्लिखित है :

१. श्रीधरस्वामी-कृत 'भावार्थदीपिका' . श्रीशंकराचार्य के 'अद्वैत'-मतानुसार।
२. सुदर्शनसूरि-कृत 'शुकपक्षीया' . श्रीरामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत'-मतानुसार।
३. वीरराघवाचार्य-कृत 'वीरराघवी' : 'भागवतचन्द्रिका' . श्रीरामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत'-मतानुसार।
४. विजयध्वज-कृत 'पदरत्नावली' . श्रीमध्वाचार्य के 'द्वैत'-मतानुसार।
५. शुकदेवाचार्य-कृत 'सिद्धान्तप्रदीप' · श्रीनिम्बार्काचार्य के 'द्वैताद्वैत'-मतानुसार।
६. वल्लभाचार्य-कृत 'सुबोधिनी' · श्रीविष्णुस्वामी के 'शुद्धाद्वैत'-मतानुसार।
७ जीवगोस्वामी-कृत 'क्रमसन्दर्भ' : श्रीचैतन्यदेव के 'अचिन्त्यभेदाभेद'-मतानुसार।
८. श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती-कृत 'सारार्थदर्शिनी' 'अचिन्त्यभेदाभेद'-मतानुसार।

इसी प्रकार, कतिपय टीकाओ का एक अन्य सकलन-ग्रन्थ श्रीकृष्णशंकर शास्त्री ने सं० २०२२ वि० मे गुजरात से प्रकाशित कराया है। इसमे यथानिर्दिष्ट टीकाएँ संकलित है . १ श्रीधरस्वामी : 'भावार्थदीपिका'; २ वंशीधर . 'भावार्थदीपिकाप्रकाश', ३ श्रीराधारमणदास गोस्वामी : 'दीपिनी' : ४. श्रीवीरराघवाचार्य . 'भागवत-चन्द्रिका', ५ श्रीविजयध्वजतीर्थ . 'पदरत्नावली', ६ श्रीजीवगोस्वामी . 'क्रमसन्दर्भ'; ७. श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती 'सारार्थदर्शिनी'; ८. श्रीशुकदेवाचार्य : 'सिद्धान्तप्रदीप'; ९ श्रीवल्लभाचार्य · 'सुबोधिनी'; १०. श्रीपुरुषोत्तमचरण गोस्वामी : 'सुबोधिनीप्रकाश' तथा ११ श्रीगोस्वामी गिरिधरलाल : 'बालप्रबोधिनी'।

श्रीमिश्रजी के शोधश्रम का आदर करते हुए यहाँ मैं लेखान्तर्गत कतिपय भ्रामक तथ्यो एवं उल्लेखो पर अपने अन्वेषणपरक विचार व्यक्त कर रहा हूँ :

१. विजयध्वज ने अपनी टीका 'पदरत्नावली' के आरम्भ मे आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) तथा विजयतीर्थ के ग्रन्थ के आधार पर टीका-निर्माण की बात लिखी है। आनन्दतीर्थ का तो 'भागवततात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध ही है। विजयतीर्थ तथा उनके भागवतविषयक ग्रन्थ का उल्लेख भी किया जाता, तो अच्छा होता।

२. गिरिधर द्वारा रचित 'बालप्रबोधिनी' टीका अब सहज सुलभ है। इसका प्रकाशन श्रीकृष्णशंकर शास्त्री द्वारा सम्पादित टीका-संकलन-ग्रन्थ मे हुआ है।

* श्रीमद्भागवत के टीकाग्रन्थों और ग्रन्थकारो के सम्बन्ध मे, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज की महार्घ कृति 'भारतीय साधना की धारा' (बँगला से हिन्दी-अनुवाद) भी द्रष्टव्य है।—सं०

३. 'शुकपक्षीया' टीकाग्रन्थ की रचना 'विशिष्टाद्वैतानुयायी' **सुदर्शन सूरि** ने की है। अतः, इस सन्दर्भ में 'सम्भवतः' शब्द के उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है। ४. द्वितीय श्रेणी में उल्लिखित टीकाग्रन्थो में 'एकनाथी' सम्भवतः संस्कृत-टीका न होकर 'मराठी-टीका' प्रतीत होती है। ५. **श्रीनिवासाचार्य** की रामानुज-मतानुसारी 'जयमंगला' नाम की एक अन्य टीका भी मिलती है।

६. **श्रीवल्लभाचार्यजी** के परिचय मे प्राप्त अशुद्धियों का परिमार्जन इस प्रकार है: **श्रीवल्लभाचार्य** का दिया गया जीवनकाल (सन् १४८१–१५३३ ई०) अशुद्ध है। उनका सही जीवनकाल सन् १४७८ ई० से १५३० ई० (सं० १५३०–१५८७ वि०) है। वल्लभ भारद्वाजगोत्रीय तैलग ब्राह्मण थे। उनका वंश 'वेलनाट' अथवा 'वेल्लनाडु' कहलाता था। वह दक्षिण मे गोदावरी के तटवर्त्ती 'काँकरवाड़' (मिश्रजीने इसका नाम 'केकरखम्ह्ल' लिखा है) नामक ग्राम के निवासी थे और उनकी माता का नाम . **'इल्लम्मागारू'** था, 'जल्लमगरू' नहीं, जैसा कि लिखा गया है। वाराणसी के सन्निकट किसी 'परम्पारण्य' को इनका जन्मस्थल लिखना भ्रमात्मक है। मध्यप्रदेशान्तर्गत रायपुर जिले का 'चम्पाझर' नामक स्थान ही वल्लभ का जन्मस्थल 'चम्पारण्य' है। राजिम नामक कस्बे से सात मील दूर जंगल में यह स्थान है, जहाँ उनकी बैठक भी बनी हुई है। उनका विवाह काशी के **मधुमंगल** (**रेकनभट्ट** नही) की पुत्री **महालक्ष्मी** (**अक्काजी**) से हुआ था। विजयनगर-नरेश **कृष्णदेव राय** का शासनकाल सन् १५००–१५२५ ई० भ्रामक है। उनका शासन-काल सं० १५६५ वि० (सन् १५०८ ई०) से आरम्भ होकर सं० १५८७ वि० (सन् १५३० ई०) तक है। उन्होने ही शास्त्रार्थ में विजयी होने के कारण **वल्लभाचार्यजी** का सं० १५६५-६६ वि० मे कनकाभिषेक किया था।

वल्लभाचार्यजी द्वारा चौरासी ग्रन्थों का रचा जाना अनुश्रुति-मात्र है। उनके तीस-इकतीस ग्रन्थ ही सम्प्रति उपलब्ध है। उनकी रचनाओं में श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध की टीका का कोई उल्लेख देखने में नहीं आता। उनकी श्रीमद्भागवत की सुप्रसिद्ध एवं विद्वत्तापूर्ण विशद टीका 'सुबोधिनी' भी भागवत के सभी स्कन्धो पर नही मिलती। इसमे केवल प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम एवं एकादश स्कन्धो की ही टीका मिलती है। 'भागवत-सारसमुच्चय' का अन्य नाम 'पुरुषोत्तमसहस्रनाम' है। आचार्यजी ने भागवत से शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक एक हजार नामों का संकलन कर इसकी रचना की थी। यह भागवत के प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं दशम स्कन्धों की टीका नही है। अतः, ऐसा लिखना भ्रम-मात्र है। वल्लभ-कृत 'सुबोधिनी' पर उनके पुत्र **गो० विट्ठलनाथजी** की 'टिप्पणी' उपलब्ध है और **व्रजराय**-कृत 'सुबोधिनीविवरण' नामक रचना भी मिलती है। सुबोधिनी के अन्तःसाक्ष्य और 'सुबोधिनीविवरण' से पता चलता है कि अपनी विशद टीका से पहले आचार्यजी ने भागवत की एक सूक्ष्म टीका भी की थी, जो इस समय अप्राप्य है।

७. **सनातन गोस्वामी** के परिचय में उन्हें तथा उनके भाई **रूपगोस्वामी** को इसलाम-सम्प्रदायानुयायी लिखा गया है, जो नितान्त भ्रमात्मक है। वस्तुतः, दोनों भाई

हुसैन साह् के उच्च राजकर्मचारी थे। हुसैनशाह ने उनकी विद्वत्ता, प्रतिभा एवं कार्य-कुशलता से प्रभावित होकर सनातन को अपना प्रधानमन्त्री और रूप को राजस्व-मन्त्री बनाया था तथा उन्हे क्रमश साकिर मलिक' और 'दवीर खास' की उपाधियो से सम्मानित किया गया था। उस काल मे, वे अपने मूल नामो की अपेक्षा अपनी उपाधियों से ही अधिक प्रसिद्ध थे। इसीलिए, कुछ विद्वान् उन्हे भ्रमवश मुसलमान समझने की भूल कर जाते हैं। रूपगोस्वामी की चैतन्यदेव से भेट 'काशी' मे नही, 'प्रयाग' मे हुई थी। काशी मे उनके भाई सनातन से भेट हुई थी, मथुरा मे नही, जैसा लिखा गया है।

८. श्रीवंशीधरशर्मा-कृत 'भावार्थदीपिकाप्रकाश' अब दुर्लभ नही है। वह सहज सुलभ है। उसका प्रकाशन श्रीकृष्णशकर शास्त्री द्वारा सम्पादित टीकासग्रह-ग्रन्थ मे हुआ है। ९. 'परमहंसप्रिया' का उल्लेख 'ग्रन्थकार-नामरहित टीकाग्रन्थो' (द्वितीय श्रेणी) मे किया गया है, जब कि यह वोपदेव की रचना है। इसका उल्लेख भी षष्ठ श्रेणी के अन्तर्गत ही होना चाहिए था। १०. 'भागवतनिवन्ध योजना' एव 'भागवतस्वरूपविषयशकानिरास' नामक ग्रन्थो के रचयिता पुरुषोत्तम तथा 'सुबोधिनीप्रकाश' टीका के कर्त्ता पुरुषोत्तम—दोनों वल्लभ-वंश के एक ही व्यक्ति प्रतीत होते है। भागवतनिवन्धयोजनाकार पुरुषोत्तम का जो जन्मकाल (सन् १६७० ई०) लेख मे दिया गया है, उसे देखते हुए तो ऐसा ही लगता है, क्योंकि वल्लभ-वश मे उत्पन्न 'सुबोधिनीप्रकाश' के कर्त्ता का जन्म भी सन् १६६७ ई० मे हुआ था, जो प्रामाणिक है। उक्त समय मे, वल्लभ-सम्प्रदाय मे एक ही 'पुरुषोत्तम' प्रसिद्ध विद्वान् हुए है, दो नही। अत, मेरे विचार से ये सभी रचनाएँ एक ही व्यक्ति की है।

११ रसाचार्य-कृत टीका का उल्लेख मिलता तो है, जिसका नाम मिश्रजी ने डॉ० दासगुप्त के आधार पर 'अमृततरगिणी' दिया है, किन्तु टीका का यह नाम सही है या नही, निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। हाँ, ज्ञानपूर्णयति-कृत 'अमृततरगिणी' तथा लक्ष्मीधर-कृत 'अमृततरंगिणी' नामक टीकाओ का उल्लेख अवश्य मिलता है।

१२ सुबोधिनीकार का बालकृष्णयति नाम अशुद्ध है। शुद्ध नाम 'बालकृष्ण दीक्षित' है, जो वल्लभमतानुयायी थे। इनका उल्लेख पृ० ३२-३३ पर किया भी गया है। पृ० ३३ पर मिश्रजी ने डॉ० दासगुप्त के भारतीय दर्शन के इतिहास-ग्रन्थ से जो सन्दर्भ-निर्देश किया है, वह अशुद्ध प्रतीत होता है। १३. भागवतप्रसाद-रचित टीका का नाम सम्भवत. 'भक्तरंजनी' है। 'भक्तमनोरजनी' कदाचित् हिन्दी-टीका का नाम है। १४. 'हरिभक्तिरसायन' का भी प्रकाशन कभी काशी मे हुआ था, जो अब अति दुर्लभ है। १५. निम्बार्कीय केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य-कृत भागवत-टीका का उल्लेख मिलता है। सम्प्रति, केवल वेदस्तुति (दशम स्कन्ध का ८७वाँ अध्याय) का भाष्य ही उपलब्ध और प्रकाशित है।

●●

△ १४, खटीकान
मुजफ्फरनगर : २५१००२ (उ० प्र०)

स्वाध्याय-कक्ष

उठे हुए हाथ[1] :

डॉ० मधुकर गंगाधर हिन्दी के ग्रामीण मूल के कथाकार हैं। जैसा कि ऐसे कथाकारो के साथ अक्सर होता है, ये शुरू तो गाँव से होते है, पर परवान चढ़ते है शहर जाकर। और फिर, शहर के होकर ही रह जाते है। ऐसा कम ही होता है कि शहरो में रहने पर भी रेणु की तरह गाँवो से उनके गहरे सरोकार कायम रहे। न केवल कायम रहें, बल्कि बीच-बीच मे उस सरोकार के रग-रेशे को उघाड़कर देखा-सुना भी जाय। अधिकतर कथाकार तो अपने जीवन के शुरू की संचित पूँजी ही जुगाये रखते है और बाद में उसी से अपना लेखन-व्यापार चलाते है। बाद में, शहर में जमकर रहने के कारण एक ओर तो वह ग्रामीण संस्कार, मानसिकता आदि की टकराहट मे आये शहरी अनुभवों, प्रतिक्रियाओ और प्रणालियों को वाणी देते है, या फिर विशुद्ध शहरी या नगर-बोध की कहानियाँ लिखने लगते है। डॉ० मधुकर गगाधर भी कमोबेश इसी परिधि में आते है, पर अन्य कथाकारों से उनमें भिन्नता यह है कि उनका बोध जरा ज्यादा तत्पर, खुला और समावेशी है और उनके पास भाषा और शिल्प ऐसा है कि सीधी-सादी बातो में भी आकर्षण, असर और चमत्कार पैदा कर देते है। 'ढिबरी' से अपने लेखन की शुरुआत करनेवाले डॉ० मधुकर गंगाधर एक सफल और सतर्क लेखक तो है ही, मुखर और महत्त्वाकांक्षी भी है। नही तो वह भूमिका में वैसी बाते नही करते, जैसी उन्होने की है।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि उसे अपना बड़बोलापन भले ही पसन्द हो; दूसरों का बडबोलापन नहीं जँचता। यदि उसमे सचाई हो, तो भी नहीं। आखिर क्यों ? सीधा-सा तर्क है कि यदि रचना मे यह सब कुछ है, तो आपको बताने की क्या जरूरत है ? क्या आप दूसरो को बुद्धू समझते है ? इसलिए रचनाकार को अपनी विशेषताएँ बताते वक्त संयम से काम लेना चाहिए। डॉ० मधुकर गंगाधर ऐसा नहीं करते, तो उन्हें इसके दुष्परिणाम भोगने पड़ सकते है। बहरहाल, इस विषय पर अभी इतना ही।

अब हम कहानियों की बात करें। जैसा कि मैंने पहले कहा, मधुकर अब भी जमते वही है, जहाँ वह कही-न-कही, किसी-न-किसी प्रकार, गाँवो को छूते, देखते या टटोलते है या चाहे वे गाँव पुराने हों या नये, टूटे-फूटे हों या साबित, करवटे बदलते हुए हों

---

१. लेखक : डॉ० मधुकर गंगाधर, केन्द्र-निदेशक, आकाशवाणी, इलाहाबाद; प्रकाशक : किताब महल, १५ थॉर्नहिल रोड, इलाहाबाद; मुद्रक : अनुपम प्रेस, ६ चक, इलाहाबाद; संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० १७६; मूल्य : तीस रुपये।

या कराहते, घिसटते। इससे दूर होते ही वह चूकने लगते है, अक्सर चूकते है, ऐसा तो नही कहा जायगा, नही तो वह 'एक बेडौल ईट', 'झरोखे टँगा चेहरा' और 'अन्तराल' जैसी कहानियाँ कैसे लिखते ? लेकिन, चूकते है, इसका प्रमाण 'इन्तजार', 'प्रार्थना' और 'चरित्र' जैसी साधारण कहानियाँ है। यह उनके ग्रामीण अनुभव की पूँजी ही है, जिसके बल पर वह 'गूँज', 'फाँसी' और 'उठे हुए हाथ' जैसी कहानियाँ लिख सकते है और दावा कर सकेते है कि "इन तीन कहानियो के माध्यम से भारतीय ग्रामीण नारी की पाँच हजार-वर्षीय यात्रा को रेखाकित किया गया है।" कस्बे या शहर से सम्बद्ध किन्ही तीन, चार या पाँच कहानियो को लेकर भी ऐसा दावा शायद ही किया जा सके। चाहे 'पत्थर की जुबानी, मोम की कहानी' हो या 'अजन्मी गूँगी चीखे' या 'स्मृतिजीवी', सभी औसत कहानियाँ हैं। इन औसत कहानियो मे भी प्रभाव और प्रकाश तभी आता है, जब वे ग्रामीण सन्दर्भ से जुड़ती है।

ग्रामीण अनुभव की पूँजी और संस्पर्श न केवल मधुकर के कथ्य को प्रखर और प्रभावशाली बनाते है, वरन् उसकी भाषा और शिल्प को भी नवीनता, निखार और पकड देते है। उदाहरण के लिए, 'फाँसी' कहानी मे गीता की स्थिति का वर्णन देखिए. "वह बोलना चाहती थी, बहुत जोर से कुछ बोलना चाहती थी, किन्तु गाँव के पूरब जो बाँस का बगीचा है, और जिसमें दिन-रात अँधेरा छाया रहता है, वह सारा अँधेरा गीता की आँखो मे आ घँसा और गाँव के प्रत्येक दरवाजे पर बँधी गायो की सारी डोरियाँ इकट्ठी होकर उसके होठो को सी गई"। (पृ० ८६) या फिर, 'संकट ग्रस्त' मे नायक के बारे मे यह कथन "चमकलाल महतो ! हरे, हरे, शिव, शिव !! ठुट्टा बेईमान ! वह तो पवनसुत हनुमान से भी घूस वसूल ले।" (पृ० १४७)

यह अकारण नही है कि चुनावी राजनीति, शोषणचक्र, करवटे लेता क्षोभ, पीढ़ियो के अन्तराल और पनपते विद्रोह को लेकर जो कहानियाँ लिखी गई है, वे प्राय: ग्रामीण पृष्ठभूमि का सहारा पाकर ही सफल हुई हैं और पाठको के मनपर प्रभाव भी वही छोड़ती है।

मधुकर की भाषा काफी साफ और ताकतवर है। बहुधा वह वर्णन और कथन के एक छोटे टुकड़े से ही भावो, स्थितियों, चरित्रो और प्रसगो की सुन्दर अभिव्यजना करते है। जैसे 'भाभी जुबान से माली और मन से माता होती है', 'भोर का अस्पताल पपड़ी-पड़े घाव की तरह होता है', 'भारत के प्रधान मन्त्री अथवा राष्ट्रपति भी अपने परिवार को घी खिलाने मे किसी बी० डी० ओ० का मुकाबला नही कर पायेगे', 'दोनाली बन्दूक जुडवा करैत साँप की तरह चमकती है', 'जिन्दगी की शुरुआत मुस्कान से की और अब जब सयाना हुआ है, तो फूटकर ठहाका बन गया है। इसी तरह एक दिन हँसते-हँसते धरती से उठ जायगा', 'पद्मिनी धीरे-धीरे मुस्कान से शुरू होकर खिलखिली हँसी बन जाती' जैसी उक्तियाँ अपने-आप मे कितनी असरदार, अभिव्यंजक और कलात्मक है, इसे सहज ही समझा जा सकता है।

लेखक ने जो यह कहा है कि 'उसकी कहानियाँ आरामकुरसी पर लेटे हुए चिन्तकों की खुराक या ट्रेन मे समय काटनेवालो का सत्संगी या कथाशोधक डिग्री-अभ्यर्थी का साधन-मात्र नही है—(पृ० ६), वह प्रायः ठीक ही है। ये कहानियाँ पाठको के मन को कुरेदती है और उन्हे चैतन्य करती है। वे किसी भी मानी मे 'गूँगी कहानियाँ' नही हैं और न केवल स्थितियों का 'ठण्डा बयान' है। ये कहानियाँ मन में एक झुरझुरी-सी पैदा करती है और हमें कोचती है। यही इन कहानियो की सफलता और सार्थकता है।

पुस्तक का मुद्रण निर्दोष और आवरण हृदयावर्जक है।

△ **डॉ० श्यामसुन्दर घोष**

o

भारतीय भाषाएँ[1] :

भारत की भावात्मक एकता को ध्यान मे रखते हुए उसकी सभी भाषाओं का सम्यक् अध्ययन एक अनिवार्यता है, पर है यह एक सुदुष्कर कार्य। सुविख्यात भाषा-वैज्ञानिक **डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया** ने इस दिशा मे 'भारतीय भाषाएँ' के प्रस्तवन के रूप में जो प्रयत्न किया है, वह स्वागत-योग्य है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने भारत की भाषाओ का संक्षिप्त वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जिसमें **सर जॉर्ज ग्रियर्सन** और **बीम्स** की अवधारणाओं से उसकी सहमति, और यथावसर असहमति भी लक्षित होती है। यह सर्वेक्षण वस्तुतः ग्रन्थ का सिंहद्वार-सा है, जहाँ पहुँचकर पाठक यह जान लेता है कि भारत मे प्रधान भाषाओं के अतिरिक्त कितनी अन्य भाषाएँ और बोलियाँ है तथा वे किन-किन क्षेत्रो मे, कितने लोगों द्वारा प्रयुक्त होती हैं। इसके साथ यह तथ्य भी उसके सामने आता है कि प्रत्येक राज्य की राजभाषा अपने क्षेत्र की अनेक बोलियों से जीवनी-शक्ति प्राप्त कर रही है।

तदनन्तर, लेखक महोदय ने भारत की प्रधान भाषाओं—असमी, उड़िया, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, पंजाबी, बँगला, मलयलम और अन्त मे हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने उर्दू, सस्कृत और सिन्धी, इन तीनो भाषाओ को भी, जिनका कोई विशिष्ट निश्चित क्षेत्र नहीं है, यद्यपि बोलनेवालों की संख्या नगण्य नहीं है, अपने अध्ययन-वृत्त मे समाहृत किया है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ भारत के संविधान मे स्वीकृत पन्द्रह भाषाओं का संक्षिप्त, किन्तु महत्त्वपूर्ण विश्लेषणात्मक अध्ययन है, जिसमे उनके क्षेत्रीय विस्तार, व्युत्पत्ति, भाषाभाषी-संख्या, विकास-रेखा, लिपि,

१. **लेखक** : डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, प्रोफेसर, हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएँ, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन-अकादमी, मसूरी (उ० प्र०); **प्रकाशक** : प्रभात प्रकाशन, २०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली-६, **मुद्रक** : रूपक प्रिण्टर्स, दिल्ली-३२; **संस्करण** : प्रथम, सन् १९८१ ई०; **पृ० सं०** १६७; **मूल्य** : चालीस रुपये।

लेखन-पद्धति, ध्वनि, व्याकरण की विशेषता, साहित्यिक अवदान, राजभाषा के रूप में उनकी भूमिका आदि विचार-बिन्दुओं को विशेषतया उद्घाटित किया गया है। इस ग्रन्थ का पाठक यह अनुभव करता है कि प्रत्येक भाषा का अध्ययन उसके लिए आवश्यक है; क्योंकि सबकी बनावट सामान्यतः एक ही है।

कन्नड की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ मे बताया जाता है कि यह करिदु + नाडु (काली मिट्टी का देश), कम्पितु + नाडु (सुगन्धित देश) या कर्नाटक (कर्णयो अटति इति कर्णाटक.–जो कान मे गूँजता है, वह कर्णाटक है) से निकला है। डॉ० भाटिया के मतानुसार, इसकी व्युत्पत्ति कर्णाटक = कर्नाटक + कन्नाड–कन्नड है। असमी की व्युत्पत्ति, डॉ० **सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या** के अनुसार आहोम–अहम-असम है। ग्रन्थकार ने, विस्तार मे न जाकर केवल इतना ही बताया है कि 'असम' शब्द मंगोल-भाषा का है, जिसका अर्थ है 'अपराजित' (पृ० ११)। उड़िया, कई विद्वानो के अनुसार, ओडिसा से व्युत्पन्न है, जो ओड्र विषय से उद्भूत माना जाता है। डॉ० भाटिया उनका व्युत्पत्ति-स्रोत 'उड्' बताते है। तात्पर्य यह कि ग्रन्थकार के नूतन मत भी यत्र-तत्र व्यक्त हुए हैं। इस ग्रन्थ मे भाषाभाषियो की संख्या निर्दिष्ट करने के हेतु सन् १९७१ ई० की जनगणना का आधार लिया गया है। तदनुसार, खाम्ति-भाषा (या बोली) बोलनेवालो की सख्या केवल २९६ है। अत:, इसके सन्दर्भ मे यह अनुभव होना स्वाभाविक है कि इसे जीवित रखने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए। भाषाओ के उद्भव और विकास की रूपरेखा से यह ज्ञात होता है कि किस भाषावृक्ष की जड़ कितनी अतीत की गहराई मे फैली है।

इस ग्रन्थ मे उन साहित्यकारो के भी नाम दे दिये गये है, जिन्हें साहित्य-अकादमी और ज्ञानपीठ-पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। यथास्थान पुरस्कार-वर्ष भी संकेतित है। जो भाषाएँ अब राजभाषा के गौरव-पद पर प्रतिष्ठित हैं, उनकी प्रगति और भूमिका का प्रामाणिक विवरण भी दिया गया है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ केवल भाषापरक विशेषताओं को ही उजागर नही करता, अपितु अनेक उपादेय साहित्यिक जानकारी की सूचनाएँ भी देता है। पाठक की हैसियत से यह कहना उचित है कि आज जब भारत की जनता भाषिक समस्या के समाधान के लिए प्रयत्नशील है, तब यह ग्रन्थ उसके लिए इस दिशा मे पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा। भारत की पन्द्रह भाषाओ का यह अनुशीलन लेखक की भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि, व्यापक अध्ययनशीलता और तटस्थ नीति का परिचायक है। निष्कर्ष यह कि भारतीय भाषाओ को समझने-समझाने के क्षेत्र मे यह एक उल्लेखनीय और सार्थक प्रयत्न है।

पुस्तक का मुद्रण उत्तम कोटि का है और आवरण नई आकल्पन-चेतना का प्रतीक।

△ डॉ० राजनारायण राय

o

इशारा[1] :

उपन्यास-जगत् में रचना-सातत्य या अविराम लेखन की दृष्टि से धुरिकीर्त्तनीय **श्रीहिमांशु श्रीवास्तव** के प्रस्तुत उपन्यास का 'इशारा' नाम इसलिए सार्थक है कि इसमें प्रायः प्रत्येक पहलू से वर्त्तमान व्यवस्था की विसंगतियो को बड़ी स्पष्टता के साथ उभारा गया है और अन्त में उन विसंगतियों के निराकरण मे समर्थ 'लोकोदय' नामक दल की स्थापना की ओर इशारा किया गया है। लेखक ने अपनी तर्कबुद्धि और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति से यह सिद्ध कर दिया है कि साम्प्रतिक राजनीतिक विषमता ही सामाजिक भ्रष्टता का मूल कारण है और इस प्रकार की विषमता की स्थिति आधुनिक नेताओं द्वारा गान्धीवाद, यानी अपरिग्रह-वृत्ति की जगह भोगवाद, यानी परिग्रह-वृत्ति को अपना लेने के कारण उत्पन्न हुई है।

इसी क्रम मे प्रज्ञापटु लेखक ने अपनी इस कथाकृति में आज के, राजनीति बनाम दुर्नीति के विषदंश से विमूर्च्छित समाज की संकीर्ण मनोवृत्तियों के उद्भावन के साथ ही अवर्णों द्वारा सवर्णो को नीचा दिखाने की प्रतिक्रियामूलक मानसिकता, नकली स्वतन्त्ता-सेनानियों द्वारा पेंशन का उपभोग, सत्ताधिकारियो की चमचागिरी करनेवाले साहित्य-सेवियों द्वारा उच्च पद की उपलब्धि, सत्ता-प्राप्ति के लिए बेचैन नेताओं द्वारा गुण्डे पालने की गन्दी राजनीति, अपने सीमित स्वार्थ की पूर्त्ति के निमित्त समाज के युवा-युवतियो को गुमराह करनेवाले युवा-मंच की स्थापना का षड्यन्त्र, तात्कालिक सुविधाओं के लिए क्रान्तिकारी एवं राष्ट्रवादी व्यक्तियो की; वर्गवाद के आधार पर वोट बटोरनेवाली सत्ता में सम्मिलित हो जाने की नैतिक दुर्बलता, योग्य देशसेवियों की उपेक्षा और तथाकथित अयोग्य देशद्रोहियों का परिपोषण, नेताओ के निहित स्वार्थवाले चमचों द्वारा निरंकुश यौनमेध, निर्मम हत्याएँ, मद्यपान आदि तमाम दुष्प्रवृत्तियो का व्यजनागर्भ और वेधक रेखाकन किया है। इस प्रकार, इस उपन्यास से देश की वर्त्तमान ज्वलन्त समस्याओ के प्रति सतत जागरूक लेखक के युगबोध के अनुकूल आधुनिक समाजनीति और राजनीति के, पैनी परख के साथ, व्यापक और गहन अध्ययन का संकेत मिलता है। कुल मिलाकर, यह उपन्यास आधुनिक समाज के एक ऐसे कच्चे चिट्ठे का दूरदर्शन है, जिसमे राष्ट्र की मर्मन्तुद जर्जरता का आँखों देखा हाल प्रतिबिम्बित है।

चिन्तनमूलकता, कथाकार **हिमांशुजी** के उपन्यासों की निजी विशेषता है। किन्तु, इस उपन्यास में वह कुछ अधिक चिन्तनशील हो गये है। फलतः, इसमें घटनाओं का प्रवाह अवरुद्ध-सा लगता है या फिर घटनाओं का क्रमिक विकास चिन्तन का अनुगामी बन

१. लेखक : श्रीहिमांशु श्रीवास्तव, बेलवरगंज, पटना : ८०००००७; प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन, २०५ बी, चावड़ी बाजार, दिल्ली : ११०००६; मुद्रक : रूपाभ प्रिण्टर्स, दिल्ली : ११००३२; संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० २३२; मूल्य : चालीस रुपये।

गया है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्गामी दृष्टि से वर्णन की विशदता, एवं सत्ता के रक्षक सुकुलजी, गगानाथ, लाहिड़ी बाबू आदि के साथ ही सत्ता का दुरुपयोग करनेवाले उनके विलोम पात्रों—फागू, दिलीप आदि का तीखी, सटीक और वस्तुव्यंजक भाषा मे चुस्त कथोपकथन इस कथाकृति की प्राणवाहिनी शिराएँ है। सच पूछिए, तो यह उपन्यास वर्तमान भारतीय समाज के नग्न रूप को दिखानेवाला दर्पण है और कालान्तर मे यह अतीत भारत का दारुण दस्तावेज भी सिद्ध होगा। अवश्य ही, यह उपन्यास विशुद्ध रसवादियो को भले ही निराश करनेवाला हो सकता है, किन्तु वर्तमान राजनीति और समाजतन्त्र मे दिलचस्पी रखनेवाले यथार्थवादी विचारशील पाठको के लिए एक नये आयाम का परिवेषक रोचक उपन्यास प्रमाणित होगा।

पुस्तक का कलात्मक मुद्रण-आकल्पन ततोऽधिक श्लाघ्य है।

△ डॉ० सूरिदेव

o

हिन्दी-हो-कोश[1] :

प्रसिद्ध बहुभाषाविद् प्रो० व्रजविहारी कुमार द्वारा सम्पादित प्रस्तुत कोश का प्रकाशन-कार्य कोहिमा-स्थित नागालैण्ड-भाषा-परिषद् के तत्त्वावधान मे, भारत-सरकार के शिक्षा एवं सस्कृति-मन्त्रालय के आंशिक आर्थिक साहाय्य से, सम्पन्न हुआ है। यह कोश-ग्रन्थ उक्त परिषद् का ११५वाँ तथा द्विभाषिक कोशमाला का ४०वाँ पुष्प है। ज्ञातव्य है, आग्नेय परिवार की हो-भाषा विहार के सिंहभूमि जिले की हो-जनजाति द्वारा बोली जाती है। सन्ताली और मुण्डा-भाषाओ से इस भाषा का बहुश साम्य है, विभेद केवल बोलीगत है।

इस कोश के प्रारम्भ मे हो-जन-जाति एव उसकी भाषा के परिचायक तत्त्वो को उपन्यस्त किया गया है, जिनसे कोश-पाठको को हो-भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति से सहज ही अवगत होने का अवसर सुलभ हुआ है। तदनन्तर, पहले हिन्दी-हो, फिर हो-हिन्दी के क्रम से, व्याकरणिक वैशिष्ट्य-सकेतो के साथ, शब्दो का कोशबद्ध विवरण रखा गया है, जिससे दोनो भाषाओं के शब्दो और उनके अर्थों के तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा हुई है। इस प्रकार, क्षेत्रीय भाषाओ के सहयोग से हिन्दी के भाषिक विकास के अनुशीलन के क्षेत्र मे इस कोश का प्रासगिक और पार्यन्तिक मूल्य है, इसमे सन्देह नही।

पुस्तक का मुद्रण-आकल्पन अदोष और अनवद्य है। △ डॉ० सूरिदेव

o

---

१. सम्पादक एवं प्रकाशक : प्रो० व्रजविहारी कुमार, मन्त्री, नागालैण्ड-भाषा-परिषद्, कोहिमा (नागालैण्ड), मुद्रक . भोजपुरी प्रेस, जगतगंज, वाराणसी (उ० प्र०); संस्करण प्रथम, मार्च, १९८२ ई०; पृ० सं० ३९५; मूल्य : सजिल्द दस रुपये, कपड़े की जिल्द पच्चीस रुपये।

मेघदूत : धाराधरधावन[1] :

कूटस्थ कवि कालिदास की कालजयी काव्यकृति 'मेघदूत' के अनूदित संस्करणों की भूयसी संख्या मे हिन्दी के प्रसिद्ध प्राचीन मनीषी **राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'** का संस्करण (प्रकाशन-काल : सन् १९०२ ई०) ततोऽधिक प्रतिष्ठाप्राप्त है। यह पुरातन संस्करण दुर्लभ हो गया था, जिसे कानपुर के यशोधन-प्रकाशन सस्थान 'साहित्य-निकेतन' के साहित्यानुरागी संचालक **श्रीश्यामनारायण कपूर** तथा **श्रीमनोजकुमार कपूर** ने पुनर्मुद्रित करके सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् के लिए सुलभ कर किया है। कपूर-बन्धु की सारस्वत अभिरुचि से संवलित यह साहित्यिक प्रचेष्टा, निश्चय ही, भूरिशः प्रशसार्ह है।

प्रस्तुत पुनर्मुद्रित संस्करण का सम्पादन हिन्दी के अधीती विद्वान् **श्रीनरेशचन्द्र चतुर्वेदी ने किया है।** प्रारम्भ मे श्रीचतुर्वेदी द्वारा उपन्यस्त कुल इकतीस पृष्ठों की विशद शोध-महार्घ भूमिका में मेघदूत-काव्य के परिचय के साथ ही भारतीय एवं भारतीयेतर विद्वानों द्वारा विभिन्न भाषाओं में किये गये, उसके अनुवादों की सोदाहरण विवृति प्रस्तुत की गई है, जिसका शोध-अध्ययन की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व है।

कहना न होगा कि प्रत्येक अनुवाद मे अनुवादक की मेघदूत को देखने की विलक्षण दृष्टि का परिचय मिलता है। इसके बाद पूर्णजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय और तदनन्तर उनके द्वारा व्रजभाषा में, विविध छन्दों मे किये गये मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद है और अन्त में उनके द्वारा यथासमय लिखित विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी आकलित कर दी गई। स्वकृत अनुवाद के औचित्य के सन्दर्भ मे लिखी गई पूर्णजी की यह भूमिका निस्सन्देह, ज्ञानोन्मेषक तो है ही, भाषा-शैली की दृष्टि से सातिशय रोचक गद्य की निर्देशिका भी है। कुल मिलाकर, नये तेवर और नये कलेवर मे उपस्थापित पूर्णजी की यह विश्रुत कृति, अवश्य ही, एक बार फिर से मेघदूतप्रेमी हिन्दी-पाठको की स्वाध्याय-वृत्ति को अभिप्रेरित करेगी।

पुस्तक का, विशेषतः चतुर्वेदीजी के भूमिका-भाग का मुद्रण अदोष नही हो पाया है, संस्कृत के श्लोक अधिक क्षतिग्रस्त हुए है। आशा है, इस पुस्तक का आगामी संस्करण और अधिक सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया जा सकेगा।

△ डॉ० सूरिदेव

o

---

१. **हिन्दी-पद्यानुवादक : राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'; सम्पादक : श्रीनरेशचन्द्र चतुर्वेदी, १११।७८, अशोकनगर, कानपुर : २०८००२; प्रकाशक : साहित्य-निकेतन, शिवाला रोड, गिलिस बाजार, कानपुर : २०८००१; मुद्रक : प्रिण्टाल, आर्यनगर, कानपुर : २०८००२; संस्करण : २५ दिसम्बर, १९८२ ई०; पृ० सं० १००; मूल्य पैंतीस रुपये।**

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन[1] :

हिन्दी के परिचित हस्ताक्षर डॉ० दिवाकर द्वारा सम्पादित प्रस्तुत कृति पुण्यश्लोक महापण्डित राहुल सांकृत्यायनजी की ९०वी वर्षगाँठ की पावन स्मृति मे प्रकाशित हुई है। मूलतः, यह कृति डॉ० दिवाकर द्वारा सम्पादित त्रैमासिक पत्रिका 'दृष्टि' के १४वें अंक—'राहुल-विशेषांक' का पुस्तक-रूप है। इसमे, राहुलजी के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व से सम्बन्ध गद्य और पद्यबद्ध संस्मरण तथा श्रद्धांजलि-विषयक डेढ दर्जन से अधिक नातिदीर्घ, किन्तु आधिकारिक लेखनियो द्वारा प्रसूत प्रामाणिक रचनाएँ आकलित की गई है, जिनमें स्वय राहुलजी द्वारा लिखित 'तुम्हारे समाज की क्षय' शीर्षक निबन्ध और 'सतमी के बच्चे' नामक कहानी भी समाविष्ट है। निश्चय ही, ये दोनो महार्घ रचनाएँ राहुलजी के निबन्धकार और कथाकार व्यक्तित्व का ब-खूबी प्रतिनिधित्व करती है।

कहना न होगा कि बहुभाषाविज्ञ राहुलजी ने शोध-साधना-समर्पित घुमक्कड़ आचार्य एवं बौद्ध पण्डित के रूप में सीमान्तपारगामिनी प्रतिष्ठा आयत्त की थी और अपनी अखण्ड सारस्वत साधना द्वारा वह स्वयं सम्मान के प्रतिरूप बन गये थे, इसलिए कोई भी सम्मान उन्हे पाकर स्वयं सम्मानित और अलकृत हो उठता था। निश्चय ही, वह साहित्य-जगत् के शलाकापुरुष थे और उनके द्वारा रचित विपुल साहित्य-सम्भार किसी भी अध्येता को बहुविद्याविचक्षण बनाकर सनाथ करने के लिए पर्याप्त है। उनका साहित्य जबतक वर्त्तमान रहेगा, वह सामन्तवादी, पूँजीवादी और पुरोहितवादी व्यवस्था का पुनर्मूल्याकन कर नवीन समाजवादी व्यवस्था का प्रवर्त्तन करनेवाले क्रान्तिकारी युग-पुरोधा के रूप मे शश्वत्प्रतिष्ठ बने रहेंगे।

प्रस्तुत कृति आकारिक दृष्टि से महापण्डित राहुलजी के विराट् व्यक्तित्व के अनुकूल तो नही कही जा सकती, किन्तु वैचारिक दृष्टि से उनके जीवन-दर्शन का मूल्याकन करनेवाले आकर-ग्रन्थो मे यह अवश्य ही पाक्तेय मानी जायगी। इसमे, अवश्य ही, राहुलजी के पाठकों को उनके जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध मे अनेक ऐसे आयाम प्राप्त होंगे, जो अद्यावधि अनास्वादित थे।

सदोष मुद्रण के साथ सामान्य आवरण में प्रस्तुत इस कृशकाय कृति का औचित्यातिशायी मूल्य, खरीदकर पढनेवाले हिन्दी-पाठको को, निस्सन्देह, अखरेगा।

△ डॉ० सूरिदेव

o

१. सम्पादक : डॉ० दिवाकर, हिन्दी-विभाग, के० एल्० एस्० कॉलेज, नवादा (बिहार); प्रकाशक : दीपम प्रकाशन, शशि-निवास, लाइनपार, मिरजापुर, नवादा : ८०५११०; मुद्रक : लोकवाणी प्रिण्टिंग प्रेस, नया टोला, पटना : ८००००४; संस्करण : प्रथम, सन १९८३ ई०; पृ० सं० ८६; मूल्य . पन्द्रह रुपये।

ऐंगना उतरलै चाँद[1] :

अंगिका, वर्त्तमान भागलपुर तथा कोशी, इन दोनो प्रमण्डलो में बोली जानेवाली लोकभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित है। भाषाशास्त्र के अधीती विद्वान् एवं अंगिका के वाग्गेयकार कवि **डॉ० परमानन्द पाण्डेय** ने अंगिका का भाषावैज्ञानिक एवं ध्वनिशास्त्रीय शोध-अध्ययन करके इस जनभाषा की भाषिक महत्ता को उजागर किया है। प्रस्तुत काव्यकृति इसी जनभाषा मे रचित भाव-व्यंजक कविताओं का उल्लेखनीय संकलन है। इसमे क्रमश. सर्वश्री **आमोदकुमार मिश्र, खुशीलाल मंजर, गुरेशमोहन घोष 'सरल', नन्द नन्दन, मधुकर, डॉ०देशभक्त, अनिरुद्धप्रसाद विमल, अमरेन्द्र** एवं **अनिलशंकर झा,** इन नौ अगिका-कवियों के क्रमशः चार, सात, पाँच, छह, सात, सात, सात, सात और आठ, इस प्रकार कुल अट्ठावन कविताएँ संगुम्फित है। प्रारम्भ में, **अनिलशंकर झा** द्वारा लिखित भूमिका ('ई सकलन लेली' : 'इस संकलन के लिए') में अंगिका-भाषा की विशिष्टता के साथ ही इस संकलन के प्रकाशन की उपयोगिता प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार, यह काव्य-सकलन अगिका-कविताओ की विविध चारियो की विमोहक भाव-भंगिमाओ के समेकित अध्ययन की दृष्टि से नितान्त उपादेय है।

प्रस्तुत कृति मे संकलित कविताओं का वैशिष्ट्य इस अर्थ में है कि इनमे राष्ट्रीय भावना से जुडी लोकचेतना का वेधक स्वर मुखर हुआ है, साथ ही लोकजीवन की व्यवस्था और विसंगतियों के विभिन्न पक्षो की मार्मिक अभिव्यंजना भी हुई है, जिससे अंग-जनपद की लोक-साहित्यिक उर्वरता से उल्लसित लोक-संस्कृति के अनेक आवर्जक चित्र उभरकर सामने आये है। कतिपय कविताओ मे काव्यगत अलकारों के माध्यम से भावविन्यास एवं शब्द-चमत्कार देखते ही बनता है। अर्थगर्भ शब्द-प्रयोग, विशेषकर लोकप्रचलित मुहावरों, कहावतो, पहेलियो, फैकड़ों आदि के काव्यगत प्रयोग-वैलक्षण्य के कारण हिन्दी-काव्य की समृद्धि की दृष्टि से यह काव्य-सकलन अवश्यम्पठनीय है। यथास्वीकृत प्रत्येक कवि के चित्र और संक्षिप्त परिचय से यह कृति न केवल साहित्यिक, अपितु ऐतिहासिक महत्त्व से भी संवलित हो गई है।

इस कृति के कलेवर का मुद्रण-प्रस्तवन अप्रशंसनीय भले ही है, किन्तु विषय-सामग्री की प्रस्तुति प्रशंसनीय है। अगिका के पाठको को इस प्रकार के और भी सम्पादित संकलनो की प्रतीक्षा बनी रहेगी।

△ **डॉ० सूर्यदेव**

o

---

१. **सम्पादक : श्रीअनिलशंकर झा एवं श्रीखुशीलाल मंजर; प्रकाशक : सहयोगी प्रकाशन, इसाकचक, भागलपुर (बिहार); मुद्रक : नीलम प्रिण्टिंग वर्क्स, भागलपुर (बिहार); संस्करण : प्रथम, सन् १९८३ ई०; पृ० सं० ७२; मूल्य : दस रुपये।**

नारी-जागरन के गीत[1] :

भोजपुरी, भारतीय जनभाषाओ मे अपनी प्राणवत्ता के लिए प्रसिद्ध है। पूर्ववर्त्ती जनभाषा के साहित्य में मुख्यत. शृंगार, करुण और वीर रस के चित्रण प्राप्त होते है। किन्तु, आधुनिक भाषिक प्रगति और जागरण के युग मे, जनभाषाओं मे भी समसामयिक प्रसंगों की प्रचुर उद्‌भावनाएँ हो रही हैं। प्राचीन भोजपुरी-साहित्य मे जनजीवन की भूमिका मार्मिक होते हुए भी वह राष्ट्रीय भावना से सम्पृक्त नहीं होने पाई है, किन्तु आधुनिक भोजपुरी-साहित्य के लेखकों ने अपने वर्ण्य को युगबोध के विभिन्न आसंगो से जोड़ने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

इसी सन्दर्भ मे हिन्दी, संस्कृत और भोजपुरी के विद्यावयोवृद्ध कवि **पं० रामवचन द्विवेदी** 'अरविन्द' द्वारा भोजपुरी मे रचित काव्य-पुस्तिका 'नारी-जागरन के गीत' समाज मे स्त्रियो के युगोचित जागरण के चित्रण की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य रखती है।

प्रस्तुत कृति मे नारी-जागरणपरक अट्ठारह भोजपुरी-गीत सगृहीत है। इस काव्य-संकलन का पल्लवन निम्नांकित 'प्रतिज्ञा' ('थीसिस') पर आधृत है :

दानव-दहेज के जाँतन में बाड़ी पिसात कतना बेटी,
जबतक नाहीं जागबि हमनी तबतक ना ई कबहीं मेटी।

इस पुस्तक की सरचना-प्रक्रिया लोकभाषा भोजपुरी के छन्दो और धुनो मे आबद्ध हैं, जिसमे **कविवर अरविन्दजी** ने परिष्कृत शैली मे वर्त्तमान अर्थगृद्ध भारतीय समाज का वेधक चित्र उपस्थापित किया है।

कवि का स्वर व्यंग्यगर्भ तथा सूक्तिसिक्त होने के कारण अतिशय तीखा होकर उभरा है। झुकी कमर और पिचके गालवाले अर्द्धशिक्षित दूल्हे की ओर से घड़ी, ट्राजिस्टर और स्कूटर की माँग, खेत-पथार बेचकर कन्या के लिए गहने जुटाना, तिलक के नाम पर लडके बेचना, एक जगह लडके की शादी पक्की हो जाने के बाद भी दूसरी जगह से अधिक पैसे का प्रलोभन मिलने पर लड़के के पिता द्वारा पूर्वनिर्णय को बदल देना आदि मानव-विरुद्ध आचरणो पर कवि ने बड़ी करारी चोट की है और निष्कर्ष रूप मे कहा है कि बिना नारी-जागरण के मानव का यह दानवोचित व्यवहार कभी समाप्त नही होगा। इस भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए नारियो को एकजुट होना पड़ेगा, तभी सारा संसार खुशी की जिन्दगी बिता सकेगा।

---

१. रचयिता : पं० रामवचन द्विवेदी 'अरविन्द', अरविन्द-कुटी, ए। २३०, पोपुलस कॉ० कॉलोनी, पटना-८०००२०; प्रकाशक : सुलभ साहित्य-सदन, पटना. ८०००२०; मुद्रक : जयदुर्गा प्रेस, नयाटोला, पटना : ८००००४; संस्करण : प्रथम, अप्रैल, १९८२ ई०; पृ० सं० ६४, मूल्य : पुस्तकालय-संस्करण : छह रुपये, साधारण संस्करण : चार रुपये।

इस प्रकार, समष्टि-हित की व्यापक दृष्टि से सम्पन्न कविवर **अरविन्दजी** ने देखने में छोटी, किन्तु गम्भीर प्रभाव डालनेवाली अपनी इस काव्यकृति द्वारा नारी-शक्ति बनाम जनशक्ति के जागरण में कविजनोचित युगप्रहरी की भूमिका का सफल निर्वाह किया है। फलतः, यह पुस्तिका अनायास ही अधिकाधिक लोक-समादृत होगी, ऐसा विश्वास है।

गुटका-संस्करण मे पुस्तक का मुद्रण निर्दोष और आवरण सामान्य होते हुए भी आवर्जक है।

△ **डॉ० सूरिदेव**

o

प्राकृत-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण[१] :

एक समय था, जब प्राकृत व्यापक रूप मे जनभाषा के समादरणीय पद पर तिष्ठित थी, इसलिए कि वह तत्कालीन जनजीवन के सुख-दुःख की संवाहिका थी। कन्तु, आज तो प्राकृत-भाषा का स्वरूप ही लोग भूल बैठे है, यहाँतक कि वह एक प्रकार ो मिथकीय भाषा जैसी हो गई है और इसलिए केवल शोध-अध्ययन का विषय बनकर ह गई है। फिर भी, आज भाषिक अध्ययन मे रुचि रखनेवाले लोगो की कमी नही है ौर वे स्वभावतः प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं के स्वरूप की जानकारी के प्रति उद्ग्रीव हते है। विभिन्न भाषाओं के स्वरूप का निरूपण और उनके पारस्पारिक पार्थक्य के लनात्मक ज्ञान के लिए उनका व्याकरण ही सहायक होता है।

यों, प्राकृत के अध्येताओ के लिए, इसके कई प्रकार के छोटे-बड़े व्याकरण-ग्रन्थों ी रचना हुई हैं, किन्तु प्राकृत के अधीती मनीषी तथा अनुभवी प्राध्यापक डॉ० के० आर्० न्द्र द्वारा लिखित यह प्राकृत-व्याकरण स्वल्पाक्षर होते हुए भी बहुधा विसर्पणशील है। सरे शब्दों मे, प्राकृत-भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति को संक्षेप मे पूरी तरह समझने के लए यह पुस्तक स्वयंशिक्षक की भूमिका का निर्वाह करती है। इसमे भाषाशास्त्रज्ञ खक ने यथानाम प्राकृत-भाषाओं का संस्कृत (वैदिक एवं लौकिक), पालि, अपभ्रंश आदि ाषाओं के साथ तुलनात्मक या समानान्तर अध्ययन तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उप-स्थापित किया ही है, उनमे निहित संस्कृत के प्राक्-तत्त्वो पर भी प्रकाश-निक्षेप किया है।

इस पुस्तक के यथाप्रतिपादित विषय नौ प्रकरणो मे विभक्त है : १. ध्वनि-परिवर्त्तन; २. विविध प्राकृत-भाषाएँ, ३. पद-रचना : नाम-प्रकरण; ४. पद-रचना :

१. लेखक : डॉ० के० आर्० चन्द्र, अध्यक्ष, प्राकृत-पालि-विभाग, भाषा-साहित्य-भवन, गुजरात-युनिवर्सिटी, अहमदाबाद : ३८०००९; प्रकाशक : श्री र० म० शाह, मन्त्री, प्राकृत-विद्यामण्डल, ला० द० भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर, अहमदाबाद : ३६०००९; मुद्रक : श्री के० भीखालाल भावसार, श्रीस्वामी नारायण मुद्रण-मन्दिर, ६१२।२१ पुरुषोत्तमनगर, नया वाडज, अहमदाबाद-१३; संस्करण : प्रथम, सन् १९८२ ई०; पृ० सं० १३६; मूल्य : तीन रुपये।

सर्वनाम-प्रकरण; ५. पद-रचना : क्रिया-प्रकरण; ६ कृदन्त एवं प्रयोग, ७. शब्द-रचना, ८. अव्यय, परसर्ग एवं देश्य शब्द तथा ९. प्राकृत-भाषाओं मे प्राक्-संस्कृत-तत्त्व। इनमें आठवाँ और नवाँ प्रकरण प्राकृत के स्वरूप-ज्ञान के विषय मे जिज्ञासा रखनेवाले सामान्य पाठको के लिए विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि इनमे प्राकृत के शब्दों का, भारोपीय मूल की कतिपय प्रमुख भाषाओ के तत्सम और तद्भव शब्दो के परिप्रेक्ष्य मे, समेकित रूप में विशद भाषावैज्ञानिक विवेचन और प्राकृत मे परिलक्षणीय प्राक्-सस्कृत के तत्त्वो का सोदाहरण विश्लेषण कदाचित् पहली बार हुआ है। इसलिए, ऐसा सहज विश्वास है कि यह प्राकृत का परवर्त्ती व्याकरण होते हुए भी अपने पूर्ववर्त्ती व्याकरणो से अधिक उपादेय और लोकप्रिय सिद्ध होगा तथा प्राकृत-भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यथाप्रचलित प्राचीन दृष्टि को नवीन आयाम मिलेगा।

पुस्तक के सदोष मुद्रण को शुद्धिपत्र द्वारा निर्दोष करने की चेष्टा की गई है। आवरण सामान्य है।

△ डॉ० सूरिदेव

o

हमारा देश : हमारा स्वप्न[1] :

नेपाल के कीर्त्तिलब्ध कवि **श्रीकेदारमान व्यथित** ने अपनी इस काव्यकृति मे अपने देश नेपाल का उत्कर्ष-गान उपन्यस्त किया है और देशोत्थान के सन्दर्भ में अपने अनेक सपनो को भी रेखांकित करने की प्रशंसनीय चेष्टा की है। इसलिए, उन्होने राष्ट्रीय भावना से जुड़े अपने इस काव्यसंग्रह का अन्वर्थ नाम दिया है : **'हमारा देश : हमारा स्वप्न'**। व्यथितजी ने मुख्यतया नेपाल के प्राकृतिक और सांस्कृतिक वैभव के अनुकीर्त्तन को ही इस कृति की रचना-प्रक्रिया का प्रधान लक्ष्य बनाया है और इस प्रकार उन्होने 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' उक्ति को चरितार्थ किया है।

क्रान्तद्रष्टा कवि व्यथितजी ओजोमयी शैली, प्रवाहपूर्ण भाषा और उदात्त अभिव्यक्तियो के लिए प्रख्यात रहे है। वैचारिक उष्णता, भावगहनता और मोहक-मार्मिक अभिव्यंजना की दृष्टि से उनकी कविताओ की एक अलग ही पहचान बन गई है। प्रस्तुत कृति मे नैसर्गिक रमणीयता की रसोज्ज्वलता, सैद्धान्तिक चिन्तन की उन्मेषमयी गरिमा और विश्वमैत्री के सन्दर्भ मे राष्ट्रगौरव की गीतिमयता की त्रिवेणी की अजस्र धारा गतिशील है।

१. रचयिता : श्रीकेदारमान व्यथित, कवि-कुटीर, कान्तिपथ, ज्याठाटोल, काठमाण्डू, नेपाल; प्रकाशक : भारत-नेपाल-मैत्री-प्रकाशन, रेण्टल फ्लैट ४२०, फेज ३, कंकड़बाग हाउसिंग कॉलोनी, पटना . ८०००२०; मुद्रक : श्रीशिवशंकरप्रसाद, दीपक प्रेस, नदेसर, वाराणसी कैण्ट; संस्करण : प्रथम, सं० २०४० वि० (सन् १९८३ ई०); पृ० सं० ८४; मूल्य : पच्चीस रुपये।

प्रकृति के भावप्रवण उदात्त चित्रण के साथ ही राष्ट्रोद्‌बोधन और तत्त्वचिन्तन के समेकित उद्‌भावन में व्यथितजी ने अपने को सच्चे अर्थ में नेपाल के गर्वोद्दीप्त राष्ट्रकवि के रूप में उपस्थापित किया है, जिनकी एकमात्र कामना है—व्यष्टि का समष्टि में विलय। वह लिखते हैं :

व्यष्टि से समष्टि में प्रविष्ट हम
हमारे स्पन्दनशील
हृदय के स्पर्श से
विश्व-मानस में बारम्बार
उठ रही तरंगें ही तो
एकमात्र
हमारी सम्पत्ति हैं ! ('विश्व के लिए', पृ० ८२)

इसके अतिरिक्त, कविर्मनीषी व्यथितजी जाति-धर्म-वर्ग की सीमाओं से परे शुद्ध-बुद्ध मानव की प्रतिष्ठा के शुभ संकल्प के साथ आकाश और धरती के सम्मिलन के निमित्त रागात्मक सेतु के निर्माण के आकांक्षी भी हैं :

आकाश के ऐश्वर्य को
भूमि ने जिस रूप में
ग्रहण किया है,
उसी रूप में
भूमि के सामर्थ्य को
आकाश भी धारण करे
हमारी कामना है !

('रागात्मक सेतु : आकाश और भूमि', पृ० ३६)

कहना न होगा कि वरेण्य कवि व्यथितजी की यह पूरी कृति आद्यन्त मानवीय संवेदना के महत्त्व-प्रतिपादन एवं नर की नारायणत्व-प्राप्ति की सन्देशमयी वाणी से अनुनादित है। विश्वात्मा का आह्वान करनेवाले व्यथितजी ने अपनी इस मंजुल काव्यकृति में, नेपाल देश के गुण-वर्णन के व्याज से विश्व की अन्तर्व्यथा को अर्थमहत्ता प्रदान करने की प्रचेष्टा की है और इस प्रकार उन्होंने अपने को न केवल नेपाल, अपितु समग्र विश्व के कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया है। फलतः, उनकी यह कमनीय काव्यकृति सार्वभौम मूल्य की वस्तु बन गई है।

प्रकाशन-त्वराजन्य स्खलन के बावजूद पुस्तक का मुद्रण प्रशस्य है और श्रीजीवन आचार्य के भावाभिव्यंजक आकलन से संवलित आवरण सार्थक।

△ डॉ० सूरिदेव

९

ध्रुवस्वामिनी-परिशीलन[१]

महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' की प्रथितयशा नाट्यकृति 'ध्रुवस्वामिनी' समस्याप्रधान हिन्दी-नाटकों में अपना उल्लेखनीय स्थान रखती है। क्योंकि, इस नाटक की मूल समस्या है इसकी चरित्रनायिका ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह। ध्रुवस्वामिनी विवाहिता नारी है, जिसे, उसके क्लीव और कुत्सितकर्मा पति रामगुप्त के चंगुल से मुक्त कर चन्द्रगुप्त अपनी पुनर्विवाहिता बना लेता है। महर्षि मनु ने ऐसी व्यवस्था दी है कि यदि किसी स्त्री का पति क्लीव या पतित हो, तो वह उसका परित्याग कर अपने अनुकूल दूसरा पति चुन सकती है। प्राचीनकालीन मनु की इस व्यवस्था के बावजूद आधुनिक समाज में ऐसा करना दुस्साहस ही माना जाता है, इसलिए यह भारतीय सामाजिक चिन्तन का विषम समस्यामूलक विषय बन गया है।

हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में, नारियों की प्रगतिशीलता और पूजनीयता को प्रतिष्ठा देनेवाली नाट्यकृति ध्रुवस्वामिनी' की विवेचना के प्रति विशेष आग्रह रहा है, फलत., इस कृति की व्याख्या की एक सुदृढ परिपाटी बन गई है। साहित्यमनीषी डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त द्वारा उपस्थापित इस 'ध्रुवस्वामिनी-परिशीलन' का, पूर्वसूरियों द्वारा प्रवर्त्तित व्याख्या-परम्परा में, अवश्य ही स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है।

डॉ० गुप्त की विश्लेषण-शैली की महत्ता इस अर्थ मे है कि यह शोध-गरिमा की महार्घता से संवलित है, साथ ही उनकी समीक्षा-पद्धति एक साथ सैद्धान्तिक, व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक धरातल पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने इतिहास और कल्पनामिश्रित इस दृश्यकाव्य की कथावस्तु, पात्र-चरित्र, संवाद, नाट्यतत्त्व, नाट्यकला-शैली, भावानुभूति की अभिव्यजना, रस-सिद्धान्त, भावाभिनय-मुद्रा, मंचन-योग्यता, राजनीतिक परिवेश, ऐतिहासिक साक्ष्य, मनोद्वन्द्व, सूक्तिसिक्त भाषाशैली आदि रचना-प्रक्रियापरक विभिन्न दृष्टियों से पुंखानुपुंख विवेचन उपन्यस्त किया है, जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' लघुकाय नाट्यकृति होते हुए भी अपने में विपुल जीवन-तत्त्वों और साहित्यिक सिद्धान्तो को समाहृत किये हुए है और इस प्रकार इस कृति के विवेचक डॉ० गुप्त के शब्दो मे, सही मानी में यह 'नाट्यकाव्य की साधिष्ठ कृति' सिद्ध होती है।

डॉ० गुप्त की विवेचना मे अमूल और अनपेक्षित कुछ भी नही है। उनकी विवेचना मूलग्रन्थ के आस्वाद से परिजुष्ट होने के कारण औपन्यासिक स्वारस्य का परिवेशन करती है। इस प्रकार, यह 'परिशीलन' विश्वविद्यालयीय छात्रों के साथ ही

१. लेखक एवं प्रकाशक : डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, संचालक, भाषा-साहित्य-संस्थान, १४७, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद-३; मुद्रक : आनन्द मुद्रणालय, १८५।२२ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद; संस्करण : प्रथम, अक्तूबर, १९८३ ई०; पृ० सं० १६०; मूल्य : सजिल्द चालीस रुपये; सामान्य पन्द्रह रुपये।

शोध-अधीतियों के लिए भी एक समान उपादेय बन पड़ा है। निस्सन्देह, 'ध्रुवस्वामिनी' की इस प्रकार की शोधधर्मी और मर्मोद्घाटिनी विवेचना हिन्दी-जगत् में पहली बार सुलभ हुई है।

पुस्तक का मुद्रण प्रायः निर्दोष और आवरण आवर्जक है।

△ डॉ० सूरिदेव

o

अमर सुभाष[1] :

हिन्दी-काव्यजगत् के मान्य हस्ताक्षर **श्रीविनोदचन्द्र पाण्डेय 'विनोद'** की यह काव्यकृति वीरकाव्य-परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हिन्दी का काव्य ही वीरकाव्य से प्रारम्भ हुआ है। महाकवि चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराजरासो' इस पथ का पहला चरण है। उसके बाद से अब तो वीसलदेवरास, रतनबावनी, रामरावणयुद्ध और वीरसतसई से 'हुंकार' तक की सुदीर्घ परम्परा प्राप्त है। इसी शृंखला में प्रस्तुत काव्य-कृति एक नवीन कड़ी है।

यह काव्य लोकविश्रुत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधृत है। इसमें कवि ने अमर सेनानी सुभाष के समस्त जीवन का ओजःपूर्ण वर्णन ग्यारह सर्गों मे किया है। इसे भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम का काव्यचित्र भी कहा जा सकता है। राष्ट्रभक्ति तो छन्दों से टपकी पड़ती है। इसकी भूमिका में सुभाष के चरित्र के आकर्षक और विस्मयजनक गुणों का लेखाजोखा दे दिया गया है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि महाकाव्य के नायक के लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे सभी सुभाष के अद्भुत व्यक्तित्व मे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

विचारों की मार्मिक अभिव्यक्ति लगभग प्रत्येक सर्ग में मिलती है। भाषा-शैली पारम्परिक होते हुए भी प्रभावोत्पादक है। कुल मिलाकर, काव्यभाषा तथा वर्णन-विच्छित्ति की दृष्टि से यह काव्य हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखता है। राष्ट्रभक्ति के सन्दर्भ में इसकी प्रासंगिकता असन्दिग्ध है। इसका शिल्प भी महाकाव्योचित ही है।

मुद्रण एवं आवरण भी आकर्षक बन पड़े है।

△ डॉ० मिथिलेशकुमारी मिश्र

o

---

१. रचयिता : श्रीविनोदचन्द्र पाण्डेय 'विनोद', निदेशक, हिन्दी-संस्थान, सी-१२, राजकीय आवास, निरालानगर, लखनऊ; प्रकाशक : रामा प्रकाशन, नजीराबाद, लखनऊ; मुद्रक : रामा प्रेस, नजीराबाद, लखनऊ; संस्करण : प्रथम, सन् १९८१ ई०; पृ० सं० २३२; मूल्य : पचास रुपये।

वर्चस्वी भगत सिंह[1] :

प्रस्तुत कृति कविवर श्रीगंगाधर ठाकुर 'मनीषी' का, आठ सर्गों का प्रबन्ध-काव्य है। इसमे अमर शहीद भगत सिंह के ऊर्जस्वी व्यक्तित्व और वर्चस्वी कर्त्तृत्व पर व्यापक प्रकाश डालते हुए कवि ने उनके प्रति असीम श्रद्धाभक्ति निवेदित की है। अमर शहीद भगत सिंह भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के एक ऐसे तेजस्वी, आत्मसम्मानी और प्रज्ञावान् राष्ट्रनायक थे, जिनमे शैशव से मृत्युपर्यन्त अपूर्व शौर्य, साहस, सघटन-शक्ति तथा आत्मोत्सर्ग की प्रबल भावना तरगित थी। ऐसे वीरपुगव क्रान्तिकारी के प्रति कवि-की अर्चना-वन्दना और अभ्यर्थना के स्वर उसकी राष्ट्रीयता के ही पुष्कल प्रमाण है।

आठ सर्गों के इस काव्य मे कवि मनीषीजी वर्चस्वी भगत सिंह के जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओ को आयत्त करने मे सफल रहे है। कवि ने क्रान्तिकारी भगत सिंह के उदात्त चरित्र के परम्परित आदर्शो एवं शौर्य, साहसिकता, राष्ट्रीयता, न्यायप्रियता, सघर्षशीलता, मानवीयता आदि दुर्लभ गुणो को बड़ी निष्ठा के साथ व्यक्त किया है। भगत सिंह के जीवन का सबसे गौरवशाली पक्ष यही है कि उन्होने स्वयं अपने को ही राष्ट्रहित मे अर्पित नही किया, वरन् जन-जन के मन मे क्रान्तिभाव जागरित कर स्वतन्त्रता का अलख जगाया।

उनके आदर्श जीवन की मान्यता थी :

> होनहार है देश वही जो क्रान्ति-यज्ञ का पोषण करता।
> होनहार है वही मनुष्य जो नहीं किसी का शोषण करता॥
> विप्लव का नेता जनता हो युवक वृद्ध नर-नारि सभी।
> एक लक्ष्य हो नई व्यवस्था मुक्ति सदा सबकी हो यातों॥

यद्यपि कथा-प्रवाह मे पर्याप्त गति और ओजस्विता है, तथापि उसकी वर्णनात्मक पद्धति अत्यन्त स्थूल होने के कारण, कई स्थलो पर काव्यात्मक व्यजना शिथिल पड गई है। किन्तु, ऐसे स्थलो पर भी कवि-प्रतिभा ने घटनाओ की रजक नाटकीयता उपस्थित कर उसे अरोचकता से बचा लिया है।

समग्रतः, प्रस्तुत काव्य की भाव-सम्पदा और वर्णन-सौष्ठव स्तुत्य है। किन्तु, इसका मुद्रण और साज-सज्जा गौरव-गाथाकाव्य के अनुकूल नही।

△ डॉ० रामप्यारे तिवारी

o

---

१. रचयिता . श्रीगंगाधर ठाकुर 'मनीषी'; प्रकाशक : सहयोगी मण्डल, कटिहार (बिहार), मुद्रक . भारती प्रिंटिंग प्रेस, कटिहार (बिहार); संस्करण : प्रथम, सन् १९७९ ई०, पृ० स० १३६; मूल्य पाँच रुपये।

मशाल[१] :

प्रस्तुत कृति श्रीरामश्लोक शर्मा 'अशान्त' की बत्तीस कविताओं का संकलन है। कवि का स्वर प्रगतिशील है। इन कविताओं मे कलह, विद्वेष, घृणा, शोषण और पीडन से मुक्ति पाने के लिए आह्वान है। भावुक कवि की कामना उस क्रान्तियज्ञ के लिए है, जिसकी अग्निज्वाला में दरिद्रता, शोषण, शासकीय दमनचक्र, धार्मिक पाखण्ड, सामाजिक कोढ़, जातिगत दुर्गन्ध आदि भस्म हो जायँ। इसलिए, वह दलितो और पीडितों के सन्तप्त जीवनचित्रों को उभारकर उन्हें संघटित होने की प्रेरणा देता है तथा प्रतिकार के लिए ललकारता है। वह उन प्रगतिशील कवियों से भिन्न है, जो मानव के उदात्त गुणों को अस्वीकार कर मानवता के नाम पर कदाचार फैलानेवालों का घोर विरोध करते है।

इसी भावबोध के साथ कवि की 'नूतन सवेरा ला रहा हूँ, 'मत रोको तूफान को', 'अंगार', 'नूतन धर्म', 'इन्कलाब तो आयेगा ही' आदि कविताएँ भी अनुस्यूत है। कुछेक कविताओ मे साम्यवाद के प्रति प्रचारवादी दृष्टि भी लक्षित है। 'जय-जय हिन्दुस्तान' शीर्षक कविता में उसने हिन्दुस्तान की अपेक्षा रूस, लेनिन और लाल निशान का ही अधिक जयकार किया है। कहीं-कही कवि के विचारों मे अन्तर्विरोध भी है। अन्य साम्यवादियो की भाँति वह धर्म और ईश्वर का खुलकर विरोध नही करता, वरन् उनके नाम पर वह दुष्कर्मों में प्रवृत्त लोगो की उपेक्षा करता है। धर्म और ईश्वर के नाम पर वह पेट पालनेवाले ठीकेदारो से कहता है :

> तुझे तो धर्म से मतलब नहीं, बस पेट भरना है
> बनाकर मन्दिरों को घर सदा दुष्कर्म करना है
> मगर जो भक्त सच्चा, वह अचल विश्वास खोता है !
> तुम्हारे कर्म से भगवान भी बदनाम होता है। (पृ० ५४)

इसी प्रकार का विचारबोध 'जीने के अधिकार', 'यहाँ भगवान् बिकता है' आदि कविताओ मे भी व्यक्त है। कवि की भाषा-शैली भावानुरूप सहज, सरल और सुबोध है। निष्कर्षतः, यदि अशान्तजी का नवोदित कवि जडवादी दर्शन को त्याग कर अपनी धरती और संस्कृति के अनुरूप, पाखण्ड तथा अनाचार पर प्रहार कर सका, तो निश्चय ही, उसकी कविताएँ सामान्य जीवन-चेतना की सच्ची सवाहिका बन सकेगी।

△ (डॉ०) रामप्यारे तिवारी

०

१. रचयिता : श्रीरामश्लोक शर्मा 'अशान्त'; प्रकाशक : कविताकुंज, पीरमुहानी, दूसरी गली, पटना-३; मुद्रक : आदर्श प्रेस, आर्यकुमार रोड, पटना-४; प्रथम संस्करण; पृ० सं० ६४; मूल्य दस रुपये।

महेन्द्र भटनागर की कविताएँ (प्रथम भाग)[1] :

प्रस्तुत कृति डॉ० महेन्द्र भटनागर की आरम्भिक कविताओ के पाँच संग्रहो का एकत्र समाहार है। ये कविताएँ सन् १९४१ से १९५२ ई० तक की लिखी हुई है। इसी अवधि मे सत्य और अहिंसा के बल पर आजादी की लडाई भी लड़ी गई थी। अत., तत्कालीन कविताओं की विषयवस्तु मुख्यत उसी से सम्बद्ध है। पूरी रचना मे डॉ० भटनागर के काव्यात्मक व्यक्तित्व का क्रमिक विकास लक्षित होता है। कवि अटूट साहस और अडिग विश्वास के साथ सर्जन के मार्ग पर अकेला ही नही बढता, अपितु समस्त जगत् को अपने साथ समगति बनाने के लिए उद्बोधन प्रदान करता चलता है।

कवि को विश्वास है कि यदि मनुष्य दृढ सकल्प करके, मन को चट्टान बना ले, तो उसके लिए कुछ भी असम्भव नही है। कवि जीवन मे सदैव संघर्ष करते रहने का पक्षपाती है। वह सघर्ष केवल अपने लिए ही नही, जनहित के लिए भी करना चाहता है।

साम्प्रदायिक दंगो के दु.खद दृश्यो को देखकर कवि का अन्तर्मन बहुत क्षुब्ध हो उठता है :

> आज हो गुमराह पागल झुण्ड मदमाते,
> शस्त्र ले फरसे छुरे हिंसक चले आते,
> दृश्य भीषण नाश का बर्बर मचाते जो,
> गीत, पर अल्लाह या हनुमान का गाते।

इस प्रकार, कवि तद्युगीन विविध राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ को दृष्टि मे रखते हुए अपनी रचना-प्रकिया के प्रति सतत जागरूक और उद्यमशील नजर आता है। देश और समाज को सुन्दर साँचे मे ढालने के हेतु उसके अन्तर्मन मे अतिशय अकुलाहट और छटपटाहट है, जिसका परिचय हमे उसकी प्रस्तुत कृति की कविताओ मे मिलता है। भाषा, भाव और शैली, सभी दृष्टियो से प्रस्तुत कृति की रचना सुन्दर बन पड़ी है, यद्यपि वह काव्यशिल्प-विधान की कसौटी पर पूर्णतः प्राजल नही उतरती।

छपाई-सफाई सामान्यत. सुन्दर और आवरण सुरुचिपूर्ण है।

△ श्रीविक्रमादित्य मिश्र

●

---

१. लेखक : डॉ० महेन्द्र भटनागर, प्रकाशक : अभिनय साहित्य-सदन, ग्वालियर (म० प्र०); मुद्रक : ओमीश्वर प्रिण्टिग प्रेस; कम्पोजिंग : श्रीजी कम्पोजिंग हाउस, ग्वालियर-१, प्रमुख वितरक : गुप्ता साहित्य-सदन, पाटनकर बाजार, ग्वालियर-९ (म० प्र०), संस्करण : प्रथम, सन् १९८१ ई०, पृ० सं० २३८; मूल्य : पच्चीस रुपये।

वेदव्यास और तुलसीदास-कृत वर्षा-वर्णन

महर्षि वेदव्यास भगवान् विष्णु के सत्रहवें अवतार माने जाते है। वास्तव में, संस्कृत-साहित्य का 'सत्य-शिव-सुन्दर' एवं अनुपम आश्चर्यजनक सारस्वत प्रासाद का निर्माण भगवद्-विभूति वेदव्यास के ही प्रसाद का फल है। ऐसा अमूल्य अवदान किसी अवतारी सत्यद्रष्टा, क्रान्तदर्शी और प्रत्यक्षकृतधर्मा मनीषी का ही हो सकता है। साधारण जन से ऐसी आशा नही की जा सकती कि वह राष्ट्र को इतना विस्तृत साहित्य-रत्नाकर उपहार, वरदान और आशीर्वाद के रूप में दे सके। वेदव्यास के विशाल वाङ्मय का उपयोग परवर्त्ती सस्कृत-हिन्दी के महाकवियो, कथाकारों और नाटककारों का उपजीव्य, किंवा मूलस्रोत के रूप मे होता रहा और आगे भी होता रहेगा। अतः, **'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'** यह सूक्ति सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है।

निम्नांकित विवरणों से स्पष्ट होगा कि उच्चतर बिम्ब-विधान और भाव-विन्यास मे **वेदव्यास और तुलसीदास** की काव्य-प्रतिभा समानान्तर भाव से अभिव्यक्त हुई है।

व्यास की रचना व्यास-पद्धति में है और तुलसी की समास-पद्धति में। एक की प्रतिभा विस्तृत और पारदर्शी है, दूसरे की सारदर्शी। यह परजन-हितसाधक पर्जन्य की विशेषता है कि वह समुद्र के खारे जल को मधुर-मनोज्ञ बनाकर संसार के समक्ष प्रस्तुत करता है और रामभक्त **तुलसीदास** की विशेषता है कि वह वेद-पुराणों की क्लिष्ट-आलंकारिक उद्‌भावनाओं को हमारे समक्ष सरल-सरस-संक्षिप्त एवं **'मधुर-मनोहर-मंगलकारी'** रूप में उपस्थापित करते है। सरघा की भाँति विभिन्न शास्त्र-सुमनो से रस ग्रहण करने की कला मे महाकवि तुलसी सर्वाग्रणी है। माया का जैसा सरल-सुगम-संक्षिप्त लक्षण गोस्वामीजी ने अपने 'मानस' मे प्रस्तुत किया है, वैसा संस्कृत के दर्शन-ग्रन्थो मे, प्रस्थानत्रयी एवं उनके भाष्यों में भी कही नही मिलता। दूसरी बात यह कि गागर में सागर भरने की कला में भी वह परम प्रवीण थे, अतः थोड़े शब्दो मे ही बहुत कुछ कह जाते थे। **'मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता'** इस कसौटी पर कसने से तुलसी की काव्यकला खरी उतरती है।

सरलता के साथ सूक्ष्मता ही तुलसी-साहित्य की विशेषता है। माया के लक्षण में उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध होती है: **'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'** कहीं-कहीं तो सस्कृत के पूरे श्लोक का भाव सुन्दरता, सरलता और सूक्ष्मता के साथ चौपाई के एक चरण मे भर दिया गया है। **'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी'** यह एक चरण संस्कृत के दो चरणों का सूत्ररूप है: **'या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति।'** 'देवीभागवत' के इस श्लोकार्द्ध का भाव-मकरन्द लेकर मधुव्रत तुलसी ने जो मधुचक्र तैयार किया है,

वह सर्वथा मौलिक प्रतीत होता है। पुराण-रत्नाकर का खारापन यहाँ नही है। तुलसी-घन के माध्यम से प्राप्त यह मानस-वर-वारि वस्तुत 'मधुर-मनोहर-मंगलकारी' है।

उदाहरणो के आधार पर व्यास और समास-पद्धति के इन प्रतिनिधि कवियो के काव्य-कौशल का तुलनात्मक परीक्षण करने के बाद भावुक पाठक अनुभव करेंगे कि नकल अच्छी है या असल और फिर नकल करने की कला कैसी होती है।

वर्षा ऋतु का सरस वर्णन करते हुए भगवान् वेदव्यास 'भागवत' के दशम स्कन्ध में कहते है :

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः।
यथा पापेन पाखण्डा नहि वेदाः कलौ युगे।।

अर्थात्, सायंकाल मे वृक्षो पर खद्योत (जुगनू) दीपावली मना रहे है। मेघाच्छन्न आकाश मे चन्द्रमा और तारे नही दिखाई पडते। जैसे कलियुग मे वेदविरोधी मतो के पोषक नास्तिक विविध रूपो मे उदरपोषण की धुन मे भटकते दिखाई पडते है।

तुलसी की काव्य-प्रतिभा ने उपर्युक्त व्यास-वाक्यो को समास-पद्धति मे इस प्रकार चित्रित किया है :

निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन कर मिला समाजा।।

जिस भाव को भगवान् वेदव्यास ने व्यास-पद्धति मे चार चरणो मे कहा, उसी भाव को महाकवि तुलसी ने दो चरणो मे अंकित किया है।

वर्षा-वर्णन का दूसरा श्लोक द्रष्टव्य है। भगवान् वेदव्यास कहते है :

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयाना प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये।।

अर्थात्, मेघ-गर्जन सुनते ही मेढक जोरो से टरटराने लगे। जैसे यज्ञ मे दीक्षित मौनव्रत जापक जप-समाप्ति के बाद वेदध्वनि करने लगते है। अथवा, प्रात शय्यात्याग के बाद नित्यकर्म—सन्ध्योपासना आदि के बाद ब्राह्मण स्वाध्याय मे लग जाते है, सस्वर वेद-पाठ करने लगते है।

इस सन्दर्भ मे महाकवि तुलसी की सरघा-सुलभ प्रतिभा की झलक यहाँ द्रष्टव्य है :

दादुर धुनि चहुँ ओर सुनाई। बेद पढहिं जिमि बटु समुदाई।।

यहाँ भी वही गागर मे सागर भरने का सफल एवं प्रीतिकर प्रयास! व्यास के चार चरण और तुलसी के दो चरण।

दूसरी विशेषता तुलसी की यह प्रतीत होती है कि वह व्यास के अन्धभक्त या लकीर के फ़क़ीर नही है, या फिर 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' करनेवाले गतानुगतिक भी नहीं हैं। हंस की तरह वे सार पदार्थ को अपनी बिम्बग्राहिणी प्रतिभा से खीचते हैं और जिस अंश को महत्त्वपूर्ण नही समझते, उसकी जगह दूसरा सुन्दर नग (भाव) जड देते है, जो मूल मे भी अधिक मधुर लगता है। इस उदाहरण मे तुलसी ने उपमान बदल दिया है, जिससे इस बात का पता चलता है कि गोस्वामीजी की अनुकरणशीलता मे भी मौलिकता है।

व्यास-कृत वर्षा-वर्णन का तीसरा श्लोक द्रष्टव्य है :

आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथाऽस्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ।।

अर्थात्, छोटी-छोटी नदियाँ, जो ग्रीष्म ऋतु मे सूख गई थी, अब वर्षा के जल को अपने पेट मे समेट नही पा रही है। वे अब फूली नही समाती। आपे से बाहर हो, वे मर्यादा का लंघन कर चारों ओर उसी प्रकार बह चली है, जिस प्रकार इन्द्रिय-परवश व्यक्ति की धन-सम्पत्ति और देह-गेह आदि ऐश्वर्यो का दुरुपयोग होने लगता है।

इसी भाव का चित्रण 'विष्णुपुराण' मे कुछ अधिक स्पष्ट है। यथा :

ऊहुरुन्मार्गवाहीनि निम्नगाम्भांसि सर्वतः ।
मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव ।।

महाकवि तुलसी ने इसी वर्णन को इतना सरल कर दिया है कि अल्पशिक्षित-अशिक्षित भी इसे आपसी बातचीत में मुहावरे की तरह व्यवहार करते हैं :

छुद्र नदी भरि चली इतराई । जस थोरे धन खल बौराई ।।

वेदव्यास-कृत पावस-वर्णन का चौथा श्लोक 'भागवत' में इस प्रकार अंकित है :

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः ।।

अर्थात्, पर्वत मूसलधार वृष्टि से प्रताड़ित होकर भी व्यथित नही होते। जैसे विपत्तियों से पीडित होने पर भी, विष्णुभक्तों मे अधीरता नही आती, उनकी स्थितप्रज्ञता या समता बनी रहती है।

महाकवि तुलसी ने इस श्लोक के सार-ग्रहण में भी अपनी सरघा-वृत्ति का परिचय देते हुए स्वतन्त्र बुद्धि से काम लिया है और व्यास-पद्धति को समास-पद्धति में समझाने की अपनी अपूर्व क्षमता का प्रदर्शन करते हुए उपमान की नई सृष्टि की है। कवि की कल्पना की परख उपमान की उद्भावना मे ही देखी जाती है :

बूँद अघात सहै गिरि कैसे । खल के बचन संत सह जैसे ।।

भगवान् श्रीकृष्ण ने चेदिनरेश शिशुपाल के समक्ष अपनी तितिक्षा या सहिष्णुता का परिचय राजसूय यज्ञ की भरी सभा में अग्रपूजित-परमप्रतिष्ठित होकर भी हँसकर दिया था। उसके सैकड़ों अपशब्दो को **'क्षमया पृथिवीसमः'** भगवान् अच्युत ने सह लिया था। मानों, उस सभा में प्रवर्षण-पर्वत के रूप मे **'धैर्येण हिमवानिव'** अच्युत विराजित थे। वेदव्यास के वर्षा-वर्णन का पाँचवाँ श्लोक द्रष्टव्य है :

मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ।।

वर्षा ऋतु में पगडण्डियाँ घासों से वैसे ही आच्छन्न हो गई है, जैसे वेदमन्त्रों का पठन-पाठन या दैनिक अभ्यास समाप्त हो जाने के कारण कालक्रम से वे लुप्त हो गये।

अब तो यज्ञो में वेदमन्त्रो का शुद्ध पाठकर्त्ता भी नही मिलता । आठ विकृतियो का सस्वर पाठकर्त्ता तो चिरकाल से दुर्लभ हो चले है। इसी भाव का वर्णन 'विष्णुपुराण' मे भी उपलब्ध है । पर, उपमान-भेद यहाँ भी स्पष्ट है । इस प्रसग मे विष्णुपुराण' का कहना है कि जैसे मूर्खों का अभिप्राय उनके वाक्यो मे परिलक्षित नही होता, वैसे ही वर्षा ऋतु में मार्ग स्पष्ट रूप से नही दिखाई पडते । यथा

मार्गा बभूवुरस्पष्टास्तृणशष्पचयावृता ।
अर्थान्तरमनुप्राप्ता. प्रजडानामिवोक्तय: ।।

इस प्रसंग को भी गोस्वामीजी ने अतिसरल कर दिया है और उपमान को बदलकर नये अर्थ की, नई कल्पना की उद्भावना की है । उनका कहना है कि कलियुग मे बहुत-से वेद-विरोधी नास्तिक मत-मतान्तर भी प्रचलित हो गये हैं, जिनके कारण असली भगवान् तो कलियुग मे मूल्यहीन हो गये है और अपने-आपको भगवान् घोषित करनेवाले बहुत सारे दम्भी-पाखण्डियो की भरमार हो गई है । यथा .

हरित भूमि तृण संकुल समुझि परै नहिं पन्थ ।
जिमि पाखंड विवाद ते लुप्त भये सद्ग्रन्थ ।।

कहना न होगा कि इस कलिकाल मे अनेक मत-मतान्तर वर्षा ऋतु के तृण की तरह छा गये हैं, जिनका संकेत व्यास और तुलसी ने उपर्युक्त काव्यपंक्तियो मे किया है ।

△ ग्राम-पो० पताही (पूर्वी चम्पारन)　　△ पं० महेश शर्मा पंचतीर्थ

o

कामकाजी हिन्दी

कामकाजी हिन्दी से तात्पर्य है सरकारी और गैर-सरकारी कार्यालयो मे प्रयुक्त हो रही तथा प्रयुक्त होनेवाली हिन्दी-भाषा । यो तो, साहित्यिक भाषा, शिक्षा की भाषा, सम्पर्क-भाषा आदि रूपो मे हिन्दी का प्रयोग हो रहा है, पर आवश्यकता इस बात की है कि इसका व्यापक व्यवहार नियमित रूप से कार्यालयो मे हो ।

विभिन्न कार्यालयो के लिए पृथक् पारिभाषिक शब्दावली एव टिप्पण तथा प्रारूपण का प्रयोजन होता है । अतएव, कामकाजी हिन्दी के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षो को स्पष्ट एवं सुगम बनाने की आवश्यकता है, जिससे भाषा-प्रयोग मे किसी प्रकार की अराजकता न उत्पन्न हो, न ही सम्बद्ध सहायक एवं अधिकारी टिप्पण अथवा प्रारूपण मे किसी तरह की कठिनाई का अनुभव करें ।

जहाँतक कामकाजी हिन्दी का प्रश्न है, रेल, बैंक आदि की शब्दावली के निर्माण मे समस्त भारतीय भाषाओं से उपयुक्त एव प्रचलित शब्दो को ग्रहण करना होगा, जिससे सुगम और लोकप्रिय शब्दावली निर्मित हो सके । न केवल भारतीय भाषाओ के शब्दो को, अपितु विदेशी भाषाओ के उन शब्दों को भी बे-हिचक अपना लेना चाहिए, जो प्रयोग की दृष्टि से सामान्य और सुगम बन चुके है । 'चेक देना', 'ड्राफ्ट भेजना', 'बिल जमा करना' जैसे प्रयोग चल ही सकते हैं। तात्पर्य यह कि कामकाजी हिन्दी का क्षेत्र व्यापक है ।

अतएव, उसके विपुल शब्द-भाण्डार के लिए आवश्यकतानुसार विभिन्न स्रोतों से सामग्री ग्रहण करनी होगी।

भारत-सरकार ने कामकाजी हिन्दी के लिए कई कदम उठाये। परन्तु, तटस्थ नीति के अभाव मे हिन्दी के व्यावहारिक पक्ष पर बड़ा आघात पहुँचा। सन् १९६५ ई० मे भारत-सरकार ने द्विभाषिक स्थिति उत्पन्न कर कामकाजी हिन्दी की प्रगति को अवरोधात्मक स्थिति मे डाल दिया। ऐसा विधान किया गया कि २६ जनवरी, १९६५ ई० से, राष्ट्रपति की अनुमति से राज्यपाल अँगरेजी के साथ हिन्दी अथवा राज्य की किसी अन्य भाषा को राजभाषा के रूप में मान्यता प्रदान कर सकते हैं। ज्ञातव्य है कि भारतीय संविधान के अनुसार, सन् १९६५ ई० से ही सम्पूर्ण देश में कामकाजी हिन्दी को लागू करना था। पर, इस प्रकार की घोषणा से अँगरेजी के जारी रहने एवं क्षेत्रीय संकीर्णता के उभरने का अवसर उपस्थित हो गया।

सन् १९६७ ई० के १७ नवम्बर को, लोकसभा में **राजभाषा-संशोधन-अधिनियम** उपस्थित किया गया, जिसे सन् १९६८ ई० की ८ जनवरी को, राष्ट्रपति की अनुमति भी मिल गई। इसका प्रयोजन यह था कि अँगरेजी सहभाषा के रूप में तबतक रहेगी, जबतक अहिन्दी-प्रदेश हिन्दी को मानने के लिए सहमत न हो जायँ। सन् १९६९ ई० के मार्च में भारत-सरकार ने कामकाजी हिन्दी के विकास के लिए न्यूनाधिक प्रयास मे थोडी वृद्धि की। अब ऐसी व्यवस्था की गई कि **टिप्पण** और **प्रारूपण** हिन्दी और अँगरेजी दोनों में हों। फिर, तिमाही प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया गया। इससे हिन्दी में कामकाज करनेवाले अधिकारियों और सहायकों की सख्या में वृद्धि हुई। यह इस बात का भी सूचक है कि सामान्यतया सभी लोग हिन्दी मे ही काम करना चाहते है। इसी वर्ष हिन्दी मे कामकाज करनेवालों की संख्या १९००० से बढकर २९००० हो गई। इस प्रसंग मे यह भी ज्ञातव्य है कि सन् १९७५ ई० तक ३,२०,३८५ अधिकारी एवं सहायक हिन्दी में प्रशिक्षित हो चुके थे। लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन-अकादमी, मसूरी ने कामकाजी हिन्दी के विकास में उल्लेखनीय कार्य आरम्भ किया। अब विभागीय प्रशिक्षण एव हिन्दी-प्रशिक्षण एक साथ दिया जाने लगा। यह निश्चय ही सरकार का एक उपयुक्त निर्णय था।

ज्ञातव्य है कि विभिन्न मन्त्रालयों और विभागो के कारण कामकाजी हिन्दी मे पारिभाषिक शब्दो की अधिकता हो गई है। पर, ऐसा अँगरेजी-भाषा मे नही है, यह नही कहा जा सकता। हिन्दी के साथ एक बड़ी समस्या यह भी उत्पन्न कर दी गई है कि इसकी पारिभाषिक शब्दावली मे भी पर्यायवाची शब्दों का प्रचलन हो गया है। इससे, शब्दों की संख्या तो बढी ही है, भाषा-प्रयोग मे भी द्विविधा की स्थिति उत्पन्न हो गई है। उदाहरणार्थ, 'संचिका' और 'मिसिल'; 'अनुस्मारक' और 'स्मारपत्र'; 'लेखा' और 'खाता'; 'प्रशाखा' और 'प्रभाग'; 'सेवानिवृत्त' और 'अवकाशप्राप्त' आदि। चूँकि, शब्दकोश में एक शब्द के अनेक पर्याय दिये गये हैं और प्रयोक्ता स्वेच्छया उनमें से कोई शब्द उतार लेते है, इसी से एकरूपता नहीं आ पा रही है।

कामकाजी हिन्दी मे शुद्धता-अशुद्धता का ध्यान वहाँ विशेष रूप से रखा ही जायगा, जहाँ पारिभाषिक अथवा संकल्पवाची शब्दो का प्रयोग किया जाता हैं। बैंक मे सभी प्रकार की लिखी हुई सामग्री (इंस्ट्रूमेण्ट) को लिखत कहते है। पर, उसके लिए लिखितक शब्द शुद्ध और समीचीन होगा। इसी प्रकार, हर विभाग मे प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली की शुद्धता का परीक्षण अपेक्षित है। टिप्पण और प्रारूपण मे, शब्दकोश देखकर, कभी-कभी ऐसे प्रयोग किये जाते हैं, जिन्हे अन्य सम्बद्ध व्यक्ति समझ ही नही पाते। भाषा तो विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान और समझ की वस्तु है। जब बात ही समझ मे न आये, तब फिर भाषा-प्रयोग की सार्थकता ही क्या रह जायगी ?

सम्प्रति, आवश्यकता इस बात की है कि पारिभाषिक शब्दो के निश्चित क्षेत्र और सुनिश्चित अर्थ हो। या तो 'यह' शब्द अथवा 'वह' शब्द जैसा विकल्प न रहे। जैसे : बैंक मे लेखा का क्षेत्र और अर्थ खाता से पृथक् होगा। इसी प्रकार, चेक और ड्राफ्ट दोनों के लिए 'धनादेश' और 'हुण्डी,' का प्रयोग किया जाता है। पर, इन्हें भी निश्चित करना होगा। संक्षेप में, कामकाजी हिन्दी के सम्बन्ध मे निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान देना है.

(क) एक वस्तु के लिए एक ही नियत पारिभाषिक शब्द हो। टिप्पण और प्रारूपण मे पारिभाषिक शब्दो के अतिरिक्त अधिकारी एव सहायक को भाषा-प्रयोग की छूट मिलनी चाहिए। यदि टिप्पण अथवा प्रारूपण तैयार करते समय कोई सटीक हिन्दी-शब्द स्मरण न हो, तो अँगरेजी शब्द को ही देवनागरी-लिपि मे लिख देने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए।

(ख) कामकाजी हिन्दी के लिए हिन्दी-भाषामण्डल से शब्दों का चयन हो। यदि सही शब्द का चुनाव न हो रहा हो, तो संस्कृत का आधार ग्रहण कर नये शब्दो का निर्माण कर लिया जाय और वह सबके लिए आवश्यक रूप से मान्य हो जाय। प्रयोग की दृष्टि से शब्द के रूप, लिंग और वाक्य-संघटन बिलकुल शुद्ध हो।

(ग) अँगरेजी के उन शब्दो को तत्काल हटाने की चिन्ता नही होनी चाहिए, जो सामान्य लोगो के लिए भी बोधगम्य है।

(घ) हिन्दी के अपने पदबन्ध और वाक्य-संरचनाएँ हैं, साथ ही उसकी अपनी अभिव्यंजनाएँ एवं भंगिमाएँ भी। भाषा-प्रयोग के समय इसका ध्यान रखना होगा।

(ङ) पदनाम और प्रारूप मे क्रमश- परिवर्त्तन हो।

(च) वस्तुवाचक शब्द और व्यापार (क्रिया), सकल्पना आदि के सकेतक शब्द पृथक्-पृथक् और सुनिश्चित हों। ऐसा होने से हिन्दी के प्रयोग मे सम्बद्ध व्यक्तियो को सुविधा होगी और सामान्य लोग भी उसे आसानी से समझ जायेंगे।

△ एम्० ७।१२, पथ-सं०१२
राजेन्द्रनगर, पटना : ८०००१६

△ डॉ० सीताराम झा 'श्याम'

0

संस्कृत-वर्षाकाव्य : 'राक्षसकाव्य'

इलाहाबाद-स्थित 'भारतीयमनीषासूत्रम्' नामक शोध-संस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थ-सग्रह मे 'राक्षसकाव्य उपलब्ध है। यह सस्कृत के वर्षाकाव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रति मे कुल १७ छन्द है। इसमे लिपिकार, लिपिकाल, विषय आदि का कोई उल्लेख नही है। प्रति स्वच्छ और सुवाच्य है। बम्बई-विश्वविद्यालय से प्रकाशित सस्कृत-प्राकृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में जो विवरण उपलब्ध है, उसमें स्पष्ट अकित है : 'इति राक्षसकृतं वर्षावर्णनं विचित्रकाव्यं समाप्तम्।' संस्कृत-साहित्य के इतिहास मे 'राक्षस' नामक किसी कवि का उल्लेख नही देखा गया। हमारी धारणा है कि काव्य मे नये-नये शब्दों के प्रयोग और अर्थ के चमत्कार को देखकर सूचीकार ने इसे 'राक्षसकाव्य' की संज्ञा दी है। कतिपय विद्वान् इसे कालिदास की रचना मानते है, जो सर्वथा असंगत है। कुछ के मत में यह प्राकृत-भाषा के प्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि की रचना है।

इस लघु काव्य का विषय है—एक नायिका को सम्बोधित कर एक युवक द्वारा वर्षाकाल का मनोहारी वर्णन। जंगल मे छुट्टा चरनेवाला साँड़ कितना हृष्ट-पुष्ट हो जाता है, उसका रूप कवि की कल्पना मे बड़ा ही सही उतरा है। उस साँड़ को वह मेघ के समान विशालदेह मान बैठा है। कवि कह रहा है : 'देखो, यह वृषराज अपने सींगों से धरती को खोद रहा है। जब ऊपर आकाश मे बादल गरजते है, तब वह सावधान होकर देखता है तथा उनका उत्तर देने के लिए अपनी विशाल देह को फुलाकर हुँकार मारता है।' वर्षाकाल में बादल प्रायः घोर गर्जन करते-करते मन्द-स्वर मे झिमिर-झिमिर बरसते है, कवि कहता है कि बादल उस वृषराज का अभिषेक कर रहे है (छन्द-सं० ७)। काव्य के प्रथम छन्द मे ही कविकृत वर्षा-वर्णन की रसमयी भावभूमि पर शृंगारिक कल्पना स्पष्ट दिखाई पड़ती है :

> **कश्चिद्वनं बहुवनं विचरन्वयस्थो**
> **वश्यां वनात्मवदनां वनितां वनाद्रिम्।**
> **तर्वर्यरिप्रदमुदीक्ष्य समुत्थितं खे**
> **नागामिमां मदकलः सकलां बभाषे॥**

अर्थ है, कोई युवक सरोवरों से युक्त किसी सुन्दर वन में विचर रहा है। उसने देखा, आकाश बादलों से पूर्ण हो गया, जल बरसने लगा और वही एक सुन्दर नवयुवती दिखाई पड़ी, जो पानी से भीगी हुई थी। बस, युवक चातुर्य-भरी बातो से उसे सम्बोधित करने लगा। इतना ही इस काव्य का विषय है।

काव्य का सोलहवाँ छन्द पढ़कर किसका हृदय इस रचना को शृंगार रस की संगिनी नहीं मान बैठेगा। उनका अर्थ है : 'यह छोटा-सा पक्षी मतवाला होकर अपनी स्त्री के साथ कदम्ब के वृक्ष पर बैठकर किस प्रकार किलोल कर रहा है और वह पुरुष घास पर बैठा अपनी पत्नी के साथ रम रहा है।'

कवि की कल्पनाशक्ति और शब्द-भाण्डार अपूर्व है। सच तो यह है कि उसने नये-नये शब्द गढ़कर उनके प्रयोग द्वारा ही इस काव्य को 'राक्षसकाव्य' बना दिया है। कही भी कवि को शब्द-विशेष के किसी भी पर्यायवाची शब्द का प्रयोग जैसे अपमानजनक लगा हो। उसने अर्थ को दृष्टि मे रखकर उसके भावो को व्यक्त करनेवाले अर्थवाची शब्दो के संयोग से शब्द-विशेष की रचना कर डाली है। यह वर्षाकाल का चित्रण करनेवाला काव्य है। वर्षा का आधार है मेघ। फिर भी 'मेघ' शब्द का प्रयोग कवि ने कही भी नही किया है। यही नही, उसने मेघ के समानार्थी 'जलद', 'तोयद' आदि शब्दो को भी नही लिया। उसने तो पहले गुण का वर्णन किया, फिर उस गुण को बतानेवाले शब्दो को खोजा और उनके ताने-बाने से मेघ शब्द का स्वरूप खडा कर दिया।

ऊपर उद्धृत छन्द मे एक पद आया है—'तर्वर्यरिप्रदम्'। यह प्रयोग मेघ के लिए है: वृक्षो का शत्रु है अग्नि, उस अग्नि का शत्रु होता है जल, और जो जल देता है, वह है 'मेघ' (तरु+अरि+अरि+प्रदम्)। इसी प्रकार, छन्द-सख्या ९ मे 'स्वयोनिभक्षध्वज-सम्भवानाम्' पद मेघ के लिए कवि ने प्रयुक्त किया है। कवि ने किस प्रकार बुद्धि का व्यायाम किया है, देखिए. स्वयोनि=काष्ठ, उसका भक्षण करनेवाला अग्नि, उसका ध्वज, यानी धुआँ, उससे उत्पन्न होनेवाला, यानी मेघ। कवि के शब्द-चमत्कार का और एक उदाहरण द्रष्टव्य है.

एषोऽङ्घ्रिप्रपाशनरिपुघ्न सुतारिसाह्व-
माश्रुह्य तिष्ठति सुगात्रि भुजङ्गभारिः।
यस्य स्वनैः प्रमुदितस्य ममाद्य बाले
तालध्वजावरजसूनुशराः पतन्ति॥

इस छन्द मे कवि ने अर्जुनवृक्ष के लिए 'एषोऽङ्घ्रिप्रपाशनरिपुघ्नसुतारि' पद का प्रयोग किया है। अर्थात् . अङ्घ्रिपों यानी पादपो को खानेवाला अग्नि, अग्नि का शत्रु जल, उसको सुखानेवाला सूर्य, सूर्य का पुत्र कर्ण और कर्ण का पुत्र अर्जुन। छन्द में वर्णित अर्थ है कि 'अरी सुन्दर देहवाली बाले, देखो, यह मोर अर्जुन के पेड पर बैठा है और उसके शब्दो से प्रसन्न होकर कामदेव मुझको बार-बार बाणो की बरसा करके पीडा पहुँचा रहा है।

काव्य व्याख्या-सहित है। टीकाकार के रूप मे किसी का नामोल्लेख न होने से अनुमान होता है कि स्वय रचनाकार ने अपने शाब्दिक प्रयोगो की दुरूहता का ध्यान करके समुचित व्याख्या भी कर दी है। कोई भी छन्द ऐसा नही है, जिसमे नया शब्द गढकर प्रयोग न किया गया हो। 'भारतीयमनीषासूत्रम्' की इस प्रति मे कुल सत्रह छन्द ही है, जबकि अन्य सूचियो मे प्राप्त विवरण इक्कीस छन्द की सूचना देते हैं। कुछ भी हो, 'राक्षसकाव्यम्' भले ही चमत्कार दिखाने के लिए क्यो न लिखा गया हो, किन्तु संस्कृत-साहित्य मे वर्षा-विषयक यह अकेला काव्य है।

△ बसकी खुर्द, दारागंज, इलाहाबाद-६ △ श्रीनीलकण्ठ शास्त्री

हिन्दी के प्रथम गद्यकार सदलमिश्र

हिन्दी-साहित्य में गद्यविधा के प्रवर्त्तक के रूप मे जिन अनेक मनीषियों का नामोल्लेख किया जाता है, उनमे प० सदलमिश्र एक प्रमुख हस्ताक्षर है। सदलमिश्र के कलकत्ता से आरा लौटने के बाद, वहाँ बसने की एवं अवकाशप्राप्त-अवधि में डुमराँव के राजा शिवप्रकाशसिंह के साथ लेखन-कार्य में उनके सम्पर्क की सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की यत्र-तत्र चर्चा की गई है और पाठकों को 'चन्द्रावती', 'अध्यात्मरामायण' तथा 'प्रेमसागर' की कथा एव विशेषताओ से परिचित कराने का भी प्रयास किया गया है। मिश्रजी के धार्मिक व्यक्तित्व एवं कथावाचक के रूप में उनके अनुभव के प्रसंग मे ही उनकी कृतियो का अध्ययन उचित होगा।

सदलमिश्र से पूर्व हिन्दी मे पट्टे-परवानों के रूप मे राजस्थानी, भोजपुरी आदि क्षेत्रीय बोलियों में हिन्दी-गद्य का अस्पष्ट रूप मिलता है। बाद मे धार्मिक ग्रन्थो की टीका आदि के रूप मे व्रजभाषा-गद्य मिलता है। व्रजभाषा की अपेक्षा राजस्थानी की गद्य-परम्परा अधिक समृद्ध और विविध विषय-सम्पन्न रूप मे मिलती है। व्रजभाषा की गद्य-परम्परा मे टीका प्रस्तुत करनेवाले ऐसे लेखको मे हरिराय, नन्ददास, सूरतिमिश्र, रामप्रसाद निरंजनी, गंगाप्रसाद आदि के नाम आते है। सदासुखलाल, नियाज एवं इंशा अल्ला खाँ भी सदलमिश्र से पूर्व के गद्यलेखक माने जायेंगे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में जनशिक्षा एवं सिविल सर्वेण्टों के प्रशिक्षण के प्रति शासकीय दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य मे 'कलकत्ता-मदरसा', 'हिन्दू-कॉलेज' तथा 'फोर्ट विलियम-कॉलेज' की स्थापना से एक नई दिशा का उद्भावन हुआ। ईसाई मिशनरियों एवं कॉलेज के प्रयास से हिन्दी-गद्य मे रचनाओं का प्रारम्भिक प्रयत्न तथा उनके मुद्रण के लिए नागराक्षरों को ढालने की घटना से क्रान्तिकारी परिवर्त्तन दिखाई पड़े। 'खड़ीबोली' के नाम से हिन्दीभाषी क्षेत्रों की वोलियों के बीच 'मानक तत्त्व' की स्थापना हुई।

खड़ी बोली के मानक गद्य के प्रारम्भिक लेखक के रूप मे सदलमिश्र को श्रेय देने की सार्थकता भी विचारणीय है। जहाँ ईसाई मिशनरियो द्वारा ग्रामीण भाषा को तथा फोर्ट विलियम कॉलेज में उर्दू-फारसी-बहुल हिन्दुस्तानी को महत्त्व देने की स्थिति मे, व्रज-भाषा-गद्य मे लिखित ग्रन्थो को पाठ्य-पुस्तको के रूप मे स्वीकृत करने से भ्रान्ति बढ़ी और इसका परिणाम हुआ कि फारसी-बहुल भाषा का अधिकार बना रहा, वहाँ 'रामचरितमानस' की परम्परा में रचित 'चन्द्रावती' एवं 'रामचरित' की गद्यभाषा प्रकाश में नही आ सकी, लेकिन अन्तस्तोया के रूप में उसका अस्तित्व बना रहा। इसलिए, लल्लूलाल, जान-गिलक्रिस्त एवं सदलमिश्र के संयुक्त प्रयास से नामित 'खड़ीबोली' शब्द के अन्वेषण का श्रेय केवल सदलमिश्र को ही है।

△ ब्लॉक नं० १२, क्वार्टर नं० १०
यूनिवर्सिटी कॉलोनी, बरियातू, राँची (बिहार)

△ श्रीनरेशप्रसाद सिंह

(नवम्बर-दिसम्बर, १९८३ ई० एवं जनवरी, १९८४ ई०)

परिषद् के तीन नवीन और उल्लेख्य प्रकाशन

गत तीन महीनो (नवम्बर-दिसम्बर, १९८३ ई० तथा जनवरी, १९८४ ई०) की अवधि मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ :

प्रथम ग्रन्थ है **महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज** (अब स्वर्गीय) द्वारा लिखित **'भारतीय साधना की धारा'**। मूल बँगला मे रचित इस ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद प्रसिद्ध कविमनीषी एवं कीर्त्तिलब्ध बँगला-हिन्दी-अनुवादक **पं० हंसकुमार तिवारी** (अब-स्वर्गीय) ने किया है। कुल पच्चीस रुपये मे प्राप्य २४६ पृष्ठो के इस ग्रन्थ मे वैष्णव और शाक्त आगम के अद्वितीय विशेषज्ञ **कविराजजी** ने भारतीय साधना की तीनो धाराओ — १. वैष्णव-धारा, २ सहज और सिद्ध-धारा तथा ३. वेदान्त-धारा पर विशद रूप से प्रकाश-निक्षेप किया है। विभिन्न बौद्ध और वैष्णवाचार्यो, विशेषत **शंकराचार्य** के जीवन और साधना पर प्रामाणिक और विशद विवेचना की दृष्टि से यह ग्रन्थ अतिशय महार्घ है।

द्वितीय ग्रन्थ है कविकोकिल **विद्यापति-कृत 'कीर्त्तिलता'** का, प्रसिद्ध मनीषी **डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव** (अब स्वर्गीय) द्वारा सम्पादित सस्करण। विद्यापति की अवहट्ठ-कृतियो मे 'कीर्त्तिलता' का विशिष्ट मूल्य है। कुल १७२ पृष्ठो का यह ग्रन्थ सत्रह रुपये मे प्राप्य है। हिन्दी-अनुवाद-सहित इस ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण मे विद्वान् सम्पादक ने अद्यावधि उपलब्ध सम्पूर्ण शोध-सामग्री का उपयोग तो किया ही है, पाठालोचन-सहित पाठ-सम्पादन भी उपन्यस्त किया है। निस्सन्देह, पुनर्मूल्यांकित रूप मे प्रस्तुत 'कीर्त्तिलता' के इस सस्करण का पूर्वापेक्षा ततोऽधिक वैशिष्ट्य है।

तृतीय ग्रन्थ है पटना-विश्वविद्यालय के अधीती हिन्दी-प्रध्यापक **डॉ० जगदीश-नारायण चौबे** द्वारा लिखित **'उपन्यास की भाषा'**। कुल पच्चीस रुपये मे प्राप्य २९६ पृष्ठो के इस ग्रन्थ मे विभिन्न हिन्दी-उपन्यासो के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के साथ ही मनो-भाषाविज्ञान तथा समाज-भाषाविज्ञान के आधार पर उपन्यास के प्रमुख तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है। विद्वान् लेखक का दावा है कि यह ग्रन्थ अपने प्रतिपादित विषय की दृष्टि से सर्वथा मौलिक और अद्वितीय है।

सुधांशु-जयन्ती :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वावधान में, १५ दिसम्बर को, सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा राजनेता डॉ० **लक्ष्मीनारायण सुधांशु** की जयन्ती परिषद्-प्रांगण मे हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार पं० **रामदयाल पाण्डेय** की अध्यक्षता में मनाई गई।

जयन्ती-समारोह के उद्‌घाटक, पटना उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति पं० **सतीशचन्द्र मिश्र** ने अपने सहपाठी डॉ० सुधांशु के छात्र-जीवन का संस्मरण सुनाते हुए कहा कि हिन्दी-साहित्य के विकास मे उनके योगदान का विशिष्ट मूल्य है। हिन्दी की अभ्युन्नति के लिए अथक प्रयत्न करनेवाले डॉ० सुधांशु ने राजनीति में उच्च स्थान पर पहुँचकर भी हिन्दी की ही ध्वजा को ऊँचा उठाया। स्वतन्त्रता-सग्राम के अग्रणी सेनानी डॉ० सुधांशु की कीर्त्ति हिन्दी-सेवा के क्षेत्र में अमर बनी रहेगी।

अध्यक्ष-पद से श्रद्धा निवेदित करते हुए पं० **रामदयाल पाण्डेय** ने कहा कि डॉ० सुधांशु का उच्चतर व्यक्तित्व स्मरणीय है। राष्ट्रसेनानी और राष्ट्रभाषा-सेनानी के रूप में उनका स्थान अग्रिम पंक्ति मे आता है। वे राष्ट्रभाषा के नेता और स्तम्भ थे। बिहार की विधायिका मे हिन्दी के प्रवेश का सारा श्रेय सुधांशुजी को ही है। **राजर्षि टण्डनजी, सेठ गोविन्ददास,** डॉ० सुधांशु और पं० **बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'** ये सभी हिन्दी के बृहत् चतुष्टय के रूप मे प्रसिद्ध है। प्रकृत्या सौन्दर्यप्रेमी सुधांशुजी सुजनता, सुन्दरता और शालीनता के त्रिवेणी-संगम थे। प्रत्येक कार्य में शत-प्रतिशत हिन्दी का प्रयोग ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। सरकार को चाहिए कि वह 'सुधांशु हिन्दी-भवन' का निर्माण कराये।

कविवर रुद्र ने कहा कि सुधाशुजी, महान् विचारक एवं नीर-क्षीर-विवेकी उदात्त पुरुष थे। राजनीति और साहित्य में उनका समान प्रवेश था। प्रो० **हिमांशुशेखर झा** ने कहा कि स्वस्थ राजनीति के जीवन्त नेता डॉ० सुधांशु ने अपनी समीक्षा द्वारा स्वस्थ जनरुचि का विकास किया था। प्रो० **केदारनाथ कलाधर** ने कहा कि सुधांशुजी आजीवन स्वाभिमान और सिद्धान्त की लड़ाई लड़ते रहे। पत्रिका-सम्पादक **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव** ने कहा कि डॉ० सुधांशु कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित जीवन्मुक्त कोटि के अक्षयजन्मा साहित्य-पुरुष थे। डॉ० **बजरंग वर्मा** ने कहा कि काव्य-समीक्षा को जीवन के तत्त्वों से जोड़नेवाले सुधांशुजी का जन्मदिवस 'राजभाषा-दिवस' के रूप में मनाया जाना चाहिए। **श्रीराधा-वल्लभ शर्मा** ने कहा कि सुधाशुजी तटस्थ निर्णय की प्रज्ञा से सम्पन्न साहित्यकार थे।

इनके अतिरिक्त, सर्वश्री पं० **मदनमोहन पाण्डेय, डॉ० दिवाकर झा, श्रीकैलास-प्रसाद सिंह 'स्वच्छन्द', हीराप्रसाद चतुर्वेदी** आदि ने भी सुधांशुजी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि निवेदित की। इस अवसर पर **कविवर रुद्र** और **श्रीवाल्मीकिप्रसाद 'विकट'** ने अपनी काव्यांजलि अर्पित की।

●

परिषद्-परिवार की ओर से शोकसभाएँ आयोजित कर निम्नांकित दिवगत हिन्दीसेवियो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की गई और शोक-प्रस्ताव पारित किये गये :

[१]

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत आदि प्राच्यभाषाओं के अधीती विद्वान् एवं विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के भूतपूर्व निदेशक आचार्य श्रुतिदेव शास्त्री के आकस्मिक तथा असामयिक देहावसान (२९ नवम्बर, १९८३ ई०) से परिषद्-परिवार हार्दिक क्लेश का अनुभव करता है। श्रीशास्त्रीजी के निधन से उपस्थितशास्त्र पण्डितो की महनीय परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया ! पुण्यश्लोक शास्त्रीजी संस्कृत-साहित्य और व्याकरण के मर्मज्ञ थे। शब्दशास्त्र मे उनका विलक्षण पाण्डित्य अतिशय प्रशसनीय था। वह ज्यौतिषशास्त्र के विशेषज्ञ थे और वैदिक वाङ्मय में भी उनकी गहरी पैठ थी। उन्होने प्राच्यभारती से सम्बद्ध अनेक श्रेष्ठ कृतियो की रचना की है, जो प्रकाशन की प्रतीक्षा मे है। उनके निधन से सचमुच एक ऐसे साहित्याराधक का लोप हो गया, जिससे हिन्दी-संस्कृत के क्षेत्र मे भाषा और साहित्य की प्रभूत समृद्धि अपेक्षित थी। स्व० शास्त्रीजी सरल और मृदुल व्यवहार के सज्जन पुरुष थे। अपने पाण्डित्य के गर्व का प्रदर्शन वह कभी नही करते थे। सच्चे अर्थ मे वह वाणी के मूक उपासक थे। विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अपने निदेशन-काल मे उन्होने अपनी ऋजुप्राज्ञता का उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत किया।

[२]

विख्यात उर्दू-साहित्यकार तथा पटना कॉलेज के भूतपूर्व प्रधानाचार्य एवं भूतपूर्व लोकशिक्षा-निदेशक तथा कुशल प्रशासक पद्मश्री प्रो० कलीमुद्दीन अहमद के आकस्मिक देहावसान (२१ दिसम्बर, १९८३ ई०) से परिषद्-परिवार को मार्मिक क्लेश हुआ है। प्रो० अहमद के निधन से उर्दू-साहित्य एवं शिक्षा-जगत् का एक ज्योतिर्मय स्तम्भ टूट गया !

पुण्यश्लोक प्रो० अहमद अँगरेजी के प्रकाण्ड विद्वान्, प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं प्रख्यात समालोचक थे। उन्होने विहार-विद्यालय-परीक्षा-समिति के अध्यक्ष-पद के अतिरिक्त उर्दू-अकादमी के भी अध्यक्ष-पद को अलकृत किया था। उन्होने अँगरजी-उर्दू और उर्दू-अँगरेजी-शब्दकोश की रचना की है। वह खुदाबख्श खाँ लाइब्रेरी के भी निदेशक थे और जीवन की अन्तिम वेला तक शब्दकोश के निर्माण में सलग्न थे। उन्होने कतिपय पाश्चात्य देशों की यात्रा करके वहाँ अपनी विद्वत्ता की प्रतिष्ठापना की थी।

विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा हिन्दी मे अनूदित एवं प्रकाशित 'उर्दू-समालोचना पर एक दृष्टि' तथा 'उर्दू-कविता पर एक दृष्टि' (दो भागों मे) नामक प्रो० अहमद के ग्रन्थ आलोचना-जगत् मे अपना नवीन अभिज्ञान उपस्थापित करते है। इनके अतिरिक्त,

शिक्षाशास्त्र और साहित्य से सम्बद्ध उर्दू और अँगरेजी में लिखित उनकी अनेक मूल्यवान् पुस्तकें सारस्वत जगत् के लिए गौरववर्द्धक सिद्ध हुई हैं।

[३]

हिन्दी, संस्कृत और मैथिली के अधीती विद्वान् तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के विद्यापति-विभाग के भूतपूर्व प्रभारी **पं० शशिनाथ झा** के असामयिक देहावसान (१६ जनवरी, १९८४ ई०) से परिषद्-परिवार को हार्दिक क्लेश हुआ है। उनके निधन से संस्कृत के उपस्थितशास्त्र पण्डितों की उज्ज्वल परम्परा की एक बहुमूल्य कड़ी टूट गई !

पुण्यश्लोक **पं० शशिनाथ झा** भाषाशास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी थे और व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र मे भी उनकी गहरी पैठ थी। साथ ही, वे विद्यापति-साहित्य के विशेषज्ञ थे। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से तीन खण्डों में प्रकाशित विद्यापति-पदावली के पाठ-सम्पादन एवं हिन्दी-भाष्य का कार्य सम्पादित करके उन्होंने अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता का परिचय दिया था। पाण्डित्य के गर्व से दीप्त पं० झा के लोकान्तरित हो जाने से प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन-अनुशीलन के क्षेत्र में जो रिक्तता आई है, वह अपूरणीय है।

[४]

हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार एवं दक्षिण भारत में हिन्दी के समर्पित प्रचारक **श्रीअवधनन्दनजी** के आकस्मिक एवं असामयिक देहावसान (२१ जनवरी, १९८४ ई०) से परिषद्-परिवार मर्माहत है।

स्व० अवधनन्दनजी ने राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के आह्वान पर सन् १९२० ई० मे ही दक्षिण भारत मे हिन्दी के प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया था और सन् १९५८ ई० तक एकनिष्ठ भाव से उसमें लगे रहे। तमिलनाडु हिन्दी-प्रचार-सभा, दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा एव हिन्दी-प्रचारक विद्यालय के क्रमश मन्त्री, संयुक्त मन्त्री और प्राचार्य के रूप में उन्होंने उल्लेखनीय सेवाएँ की थी। 'तमिल-साहित्य एवं संस्कृति' नामक उनकी पुस्तक उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई थी। उन्होंने परिषद् द्वारा प्रकाशित 'कम्ब-रामायण' तथा 'रंगनाथरामायण' की पाण्डुलिपि का सम्पादन किया था। परिषद् ने सन् १९८२ ई० में अपने इकतीसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर उनको वयोवृद्ध साहित्यिक-सम्मान-पुरस्कार प्रदान कर अपने को गौरवान्वित किया था। वह परिषद् के सचालक-मण्डल के सम्मानित सदस्य के रूप मे जीवन के अन्तिम क्षण तक अपना योगदान करते रहे।

परिषद्-परिवार उक्त चारों दिवंगत महानुभावों की निर्मल आत्माओं के प्रति अपनी आन्तरिक श्रद्धा निवेदित करता है, साथ ही उनके शोकतप्त परिवार के धैर्य के लिए परमपिता से सविनय प्रार्थना करता है।

(पं०) रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

●

पृ० ८ का शेषांश]

'लोक-साहित्य : स्वरूप एवं सर्वेक्षण' : स्तुत्य अभिनन्दन-ग्रन्थ

भारत के जनपद हिन्दी की वृद्धि-समृद्धि की खान हैं। भारतीय जनपदो मे लोक-साहित्य की बहुमूल्य सामग्री भरी-पड़ी है, जिसका शोध और अध्ययन आवश्यक है। स्वातन्त्र्योत्तर काल मे लोक-साहित्य के शोध और अध्ययन की दिशा में जनचेतना जगी है और उसके मूल्य-महत्त्व को आँकने का सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर अबतक जो शोध-प्रयत्न हुआ है, उससे उसकी विशालता और व्यापकता का सहज ही अनुमान होता है। यह निश्चित है कि हिन्दी केवल प्राच्यभाषाओ के आदोहन से पूर्ण नहीं हो सकती, वरन् उसकी सांगता की सिद्धि एवं उसमे सप्राणता का समावेश मातृस्वरूपा लोकभाषा के स्तन्यपान से ही सम्भव है। इसीलिए, वरेण्य पत्रकार पं० **बनारसीदास चतुर्वेदी** जनपदीय भाषाओ को खड़ीबोली हिन्दी की माँ के रूप मे स्वीकार करते है। इसी विशिष्टता के कारण आधुनिक शोध-जगत् लोक-साहित्य के अध्ययन-अनुसन्धान के प्रति अधिक आग्रहशील है।

किन्तु, ध्यातव्य यह है कि सम्प्रति, लोक-साहित्य के भाषिक और आर्थिक सौन्दर्य के उद्‌भावन के लिए हिन्दी का माध्यम अनिवार्य है। हिन्दी के माध्यम से ही लोकभाषा के तात्त्विक विश्लेषण का कार्य व्यापक रूप से प्रभावकारी हो सकता है। हिन्दी अब सीमान्त-पारगामिनी भाषा बन गई है, इसलिए लोकभाषा का वैभव भी हिन्दी के माध्यम से ही विश्वव्यापी हो सकेगा। आज जिस प्रकार देश-देशान्तर का भ्रमण करने मे समर्थ आधुनिक पुत्री अपनी ग्रामीण माँ को देश-देशान्तर की सैर करा सकती है, उसी प्रकार, हिन्दी अपनी माँ लोकभाषा को विश्व के कोने-कोने मे प्रतिष्ठित करा सकती है। दूसरे शब्दो मे, हिन्दी ही लोकभाषा के लिए बहुजन-सम्प्रेषण का माध्यम बन सकती है। स्पष्ट है कि बहुव्यापकता के लिए लोकभाषा को हिन्दी का सहारा अनिवार्यतः अपेक्षित है। विभिन्न लोकभाषाओ की महिमा को हिन्दी के माध्यम से उजागर करनेवाला प्रस्तुत 'डॉ० सत्येन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ' इसी भूमिका का निर्वाहक सिद्ध हुआ है।

यह मानी हुई बात है कि लोक-साहित्य की उपेक्षा से हिन्दी का हित-साधन कदापि सम्भव नही। मानव-जीवन की जितनी विधाएँ है, अनादिकालीन लोक-साहित्य मे वे सभी प्राप्य हैं। इसलिए, उसकी प्रत्येक विधा पर रुचिपूर्वक अन्वेषण-अनुशीलन अपेक्षित है। **म० म० पं० गोपीनाथ कविराज** ने कहा भी है : 'प्रत्नतत्त्व की गवेपणा मे कुछ भी उपेक्षणीय नही।' लोक-साहित्य की इसी अनुपेक्षणीय महत्ता को मूल्य देने के लिए मैसूर-स्थित राजकीय भाषिक प्रतिष्ठान 'भारतीय भाषा-संस्थान' ने 'लोक-साहित्य : स्वरूप एवं सर्वेक्षण' नाम से 'डॉ० सत्येन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ' प्रकाशित किया है। डॉ० सत्येन्द्र लोक-साहित्य के बहुप्रतिष्ठ उन्नायक है। उनका सम्पूर्ण जीवन ही लोक-सस्कृति की एकनिष्ठ समाराधना में अर्पित है। इसीलिए, समयबोध से सम्पन्न उक्त भाषिक संस्थान द्वारा उनकी

सम्मान में समर्पित यह ग्रन्थ, किसी विशिष्ट साहित्यिक विधा के लिए आत्मविसर्जित साहित्यकार के अभिनन्दन के निमित्त, निश्चय ही, अनुकरणीय एवं स्तुत्य सारस्वत प्रयास के रूप में कीर्त्तनीय है।

प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ की विषय-सामग्री कुल चार खण्डों में परिवेषित है। 'लोक-साहित्य के चक्रवर्त्ती डॉ० सत्येन्द्र' शीर्षक प्रथम खण्ड में आधिकारिक लेखनियों द्वारा डॉ० सत्येन्द्र के विलक्षण व्यक्तित्व और वैदुष्यविचक्षण कर्त्तृत्व पर प्रभावक प्रकाश-निक्षेप किया गया है। 'लोक-साहित्य : स्वरूप, विधा एवं परम्परा' शीर्षक द्वितीय खण्ड में लोक-साहित्य के मनीषी चिन्तकों द्वारा उसकी साहित्यिक, सांस्कृतिक, भाषिक एवं कलात्मक विशेषताओ का उद्‌भावन किया गया है। 'लोक-साहित्य : भारतीय भाषाओं के दर्पण मे' शीर्षक तृतीय खण्ड मे विभिन्न अधीती लेखकों द्वारा दक्षिण और उत्तर भारत की कतिपय प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं की लोकतात्त्विक महत्ता को इगित किया गया है।

और फिर, 'लोक-साहित्य : कुछ प्रश्न कुछ उत्तर' शीर्षक चतुर्थ खण्ड में प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रबुद्ध सम्पादकों—**डॉ० जवाहरलाल हण्डू** एवं **डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल** द्वारा, लोक-साहित्य के प्रति सामान्य अवधारणा; साहित्यिक रचनाओ पर लोक-साहित्य, सस्कृति, कला और चेतना का प्रभाव, आधुनिक उच्च साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के सन्दर्भ मे लोक-साहित्य की भावनात्मक भूमिका एवं आधुनिक अभिव्यक्ति में बोलियों का सामर्थ्य, इन चार बिन्दुओं पर पूछे गये प्रश्नो के शास्त्रसिक्त उत्तर सकलित है। उत्तरकर्त्ता है हिन्दी के कूटस्थ विद्वान् सर्वश्री **जैनेन्द्रकुमार, डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन', अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क** और **ए० रमेश चौधरी आरिगपूडि**। 'प्राक्कथन'-लेखक **श्रीदेवीप्रसन्न पट्टनायक** के शब्दों में यह ग्रन्थ केवल **डॉ० सत्येन्द्र** के प्रेमियो को ही प्रसन्न नहीं करेगा, वरन् लोक-साहित्य के विद्वानों को भी प्रोत्साहित करता रहेगा।

कुल मिलाकर, श्रम की श्लाघ्यता के साथ सम्पादित, कुल पच्चीस रुपये में प्राप्य, चार सौ दस पृष्ठों का यह स्वतोविशिष्ट अभिनन्दन-ग्रन्थ लोक-साहित्य के विधा-वैविध्य के अध्ययन-अन्वेषण की दृष्टि से सन्दर्भ-ग्रन्थ की तुल्यता आयत्त करता है। इस अपूर्व प्रकाशन के लिए संस्थान के कार्यदक्ष प्रभारी **डॉ० फ्रांसेस एक्का** तथा **श्री एच्० एन्० भारती** एवं सम्पादक-मण्डल और परामर्श-समिति के प्रत्येक कृतधी सदस्य समग्र हिन्दी-संसार की हार्दिक बधाई के पात्र है!

△ **सूरिदेव**

परिषद के प्रगतिशील चरण : मनीषियों के आशंसन

- परिषद् राष्ट्रभाषा के स्तरीय प्रकाशन के क्षेत्र में, शासकीय सीमा में अग्रणी रही है। उसी की देखादेखी उत्तरप्रदेश में 'हिन्दी-समिति' की स्थापना हुई और परिनिष्ठित ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ। मैं सर्वतोभावेन परिषद् की सफलता का अभिलाषी हूँ।

  ☐ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

- भारतीय भाषा, साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थो से मैं पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ। सभी भारतीय साहित्यिक शोध-संस्थानो में परिषद् अग्रगण्य है।

  ☐ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

- परिषद् ने विगत पच्चीस वर्षो में हिन्दी-जगत् की और उसके माध्यम से समस्त भारतीय वाङमय तथा भारतीय संस्कृति, दर्शन आदि की जो सेवा की है, उसे शब्दों में आँकना बहुत कठिन है। **भाई शिवपूजन सहायजी** ऐसा स्वप्न बराबर देखते थे। परिषद् ने इस स्वप्न को साकार किया और एक-से-एक अमूल्य ग्रन्थ विद्वत्समाज को भेंट किये। वह परम्परा उज्ज्वल हो रही है और परिषद् का भविष्य स्वर्णिम है।

  ☐ श्रीरायकृष्णदास

- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-साहित्य को अनेक मूल्यवान् ग्रन्थों से समृद्ध किया है। हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करनेवाली संस्थाओं में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। अनेक रूपों में हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार इससे सम्बद्ध रहे है **स्व० आचार्य शिवपूजन सहायजी** जैसे मनीषी ने बड़ी सावधानी से इस पौधे को लगाया था। उनका आशीर्वाद सदा इसके साथ रहा है।

  ☐ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

- परिषद् ने जो अबतक राष्ट्रभाषा की उत्तरोत्तर प्रगति मे उल्लेखनीय योगदान किया है, वह किसी से छिपा नही है और इसकी सभी सराहना करते है।

  ☐ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

- मेरी तो धारणा है, समस्त भारत में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का महत्त्व सर्वोपरि है; क्योंकि इसके द्वारा जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्य का प्रकाशन हुआ है, वैसा अन्य किसी परिषद् द्वारा सम्भव नही हो सका। मैं इसे देश की सर्वोत्कृष्ट शोध-संस्था मानता हूँ।

  ☐ डॉ० रामकुमार वर्मा

- 'एक राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, एक हृदय हो भारतजननी'—इस उक्ति को सार्थक बनाये रखने का, भारत की सरकारी एवं स्वायत्त संस्थाएँ प्रयत्न कर रही है। इस प्रयत्न मे बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्तुत्य सेवा सर्वाधिक है।

  ☐ श्री टी० के० कृष्णस्वामी

प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-४
मुद्रक : रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, लंगरटोली, पटना-८००००४